(मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद)

PART - 2



गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

शिव और विष्णुके बीचमें पाशधारी यमदूतकी (स्वर्णादिमयी) मूर्तियाँ स्थापित करके यमदूतके सिरका छेदन करे; फिर उस मूर्तिमण्डलका ब्राह्मणको दान कर दे। ऐसा करनेसे दाता तो स्वर्गलोकका भागी होता है, किंतु इस 'त्रिमुख' नामक दानको ग्रहण करके द्विज पापका भागी होता है। चाँदीका चक्र बनवाकर, उसे जलमें रखकर उसके निमित्तसे होम करे। पश्चात् वह चक्र ब्राह्मणको दान कर दे। यह महान् 'कालचक्रदान' माना गया है॥ १७—२१॥

जो अपने वजनके बराबर लोहेका दान करता है, वह नरकमें नहीं गिरता। जो पचास पलका लौहदण्ड वस्त्रसे ढककर ब्राह्मणको दान करता है, उसे यमदण्डसे भय नहीं होता। दीर्घायुकी इच्छा रखनेवाला मृत्युञ्जयके उद्देश्यसे फल, मूल एवं द्रव्यको एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् दान करे। कृष्णतिलका पुरुष निर्मित करे। उसके चाँदीके दाँत और सोनेकी आँखें हों। वह मालाधारी दीर्घाकार पुरुष दाहिने हाथमें खड्ग उठाये हुए हो। लाल रंगके वस्त्र धारण किये जपापुष्पोंसे अलंकृत एवं शङ्खकी मालासे विभूषित हो। उसके दोनों चरणोंमें पादुकाएँ हों और पार्श्वभागमें काला कम्बल हो। वह कालपुरुष बायें हाथमें मांस-पिण्ड लिये हो। इस प्रकार कालपुरुषका निर्माण कर गन्धादि द्रव्योंसे उसकी पूजा करके ब्राह्मणको दान करे। इससे दाता मानव मृत्यु और व्याधिसे रहित होकर राजराजेश्वर होता है। ब्राह्मणको दो बैलोंका दान देकर मनुष्य भोग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है॥ २२—२८ $\frac{१}{२}$ ॥

जो मनुष्य सुवर्णदान करता है, वह सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है। सुवर्णके दानमें उसकी प्रतिष्ठाके लिये चाँदीकी दक्षिणा विहित है। अन्य दानोंकी प्रतिष्ठाके लिये सुवर्णकी दक्षिणा प्रशस्त मानी गयी है। सुवर्णके सिवा, रजत, ताम्र, तण्डुल और धान्य भी दक्षिणाके लिये विहित हैं। नित्य श्राद्ध और नित्य देवपूजन—इन सबमें दक्षिणाकी आवश्यकता नहीं है। पितृकार्यमें रजतकी दक्षिणा धर्म, काम और अर्थको सिद्ध करनेवाली है। भूमिका दान देनेवाला महाबुद्धिमान् मनुष्य सुवर्ण, रजत, ताम्र, मणि और मुक्ता—इन सबका दान कर लेता है, अर्थात् इन सभी दानोंका पुण्यफल पा लेता है। जो पृथ्वीदान करता है, वह शान्त अन्तःकरणवाला पुरुष पितृलोकमें स्थित पितरोंको और देवलोकमें निवास करनेवाले देवताओंको पूर्णरूपसे तृप्त कर देता है। शस्यशाली खर्वट, ग्राम और खेटक (छोटा गाँव), सौ निवर्तनसे अधिक या उसके आधे विस्तारमें बने हुए गृह आदि अथवा गोचर्म (दस निवर्तन)-के मापकी भूमिका दान करके मनुष्य सब कुछ पा लेता है। जिस प्रकार तैल-बिन्दु जल या भूमिपर गिरकर फैल जाता है, उसी प्रकार सभी दानोंका फल एक जन्मतक रहता है। स्वर्ण, भूमि और गौरी कन्याके दानका फल सात जन्मोंतक स्थिर रहता है। कन्यादान करनेवाला अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका नरकसे उद्धार करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।* दक्षिणासहित हाथीका दान करनेवाला निष्पाप होकर स्वर्गलोकमें जाता है। अश्वका दान देकर मनुष्य दीर्घ आयु, आरोग्य, सौभाग्य और स्वर्गको प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठ ब्राह्मणको दासीदान करनेवाला अप्सराओंके लोकमें जाकर सुखोपभोग करता है। जो पाँच सौ पल ताँबेकी थाली या ढाई सौ पल, सवा सौ पल अथवा उसके भी आधे (६२ $\frac{१}{२}$) पलोंकी बनी थाली देता है, वह भोग तथा मोक्षका भागी होता है॥ २९—३९ $\frac{१}{२}$ ॥

बैलोंसे युक्त शकटदान करनेसे मनुष्य विमानद्वारा

* त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य कन्यादो ब्रह्मलोकभाक्॥ (२११। ३७)

स्वर्गलोकको जाता है। वस्त्रदानसे आयु, आरोग्य और अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है। धान, गेहूँ, अगहनीका चावल और जौ आदिका दान करनेवाला स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। आसन, धातुनिर्मित पात्र, लवण, सुगन्धियुक्त चन्दन, धूप-दीप, ताम्बूल, लोहा, चाँदी, रत्न और विविध दिव्य पदार्थोंका दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष भी प्राप्त करता है। तिल और तिलपात्रका दान देकर मनुष्य स्वर्ग-सुखका भागी होता है। अन्नदानसे बढ़कर कोई दान न तो है, न था और न होगा ही। हाथी, अश्व, रथ, दास-दासी और गृहादिके दान—ये सब अन्नदानकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं हैं। जो पहले बड़ा-से-बड़ा पाप करके फिर अन्नदान कर देता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर अक्षय लोकोंको पा लेता है। जल और प्याऊका दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष—दोनोंको सिद्ध कर लेता है। (शीतकालमें) मार्ग आदिमें अग्नि और काष्ठका दान करनेसे मनुष्य तेजोयुक्त होता है और स्वर्गलोकमें देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओंद्वारा विमानमें सेवित होता है॥ ४०—४७॥

घृत, तैल और लवणका दान देनेसे सब कुछ मिल जाता है। छत्र, पादुका और काष्ठ आदिका दान करके स्वर्गमें सुखपूर्वक निवास करता है। प्रतिपदा आदि पुण्यमयी तिथियोंमें, विष्कुम्भ आदि योगोंमें, चैत्र आदि मासोंमें, संवत्सरारम्भमें और अश्विनी आदि नक्षत्रोंमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा लोकपाल आदिकी अर्चना करके दिया गया दान महान् फलप्रद है। वृक्ष, उद्यान, भोजन, वाहन आदि तथा पैरोंमें मालिशके लिये तेल आदि देकर मनुष्य भोग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है॥ ४८—५०॥

इस लोकमें गौ, पृथ्वी और विद्याका दान—ये तीनों समान फल देनेवाले हैं। वेद-विद्याका दान देकर मनुष्य पापरहित हो ब्रह्मलोकमें प्रवेश करता है। जो (योग्य शिष्यको) ब्रह्मज्ञान प्रदान करता है, उसने तो मानो सप्तद्वीपवती पृथ्वीका दान कर दिया। जो समस्त प्राणियोंको अभयदान देता है, वह मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। पुराण, महाभारत अथवा रामायणका लेखन करके उस पुस्तकका दान करनेसे मनुष्य भोग और मोक्षकी प्राप्ति कर लेता है। जो वेद आदि शास्त्र और नृत्य-गीतका अध्यापन करता है, वह स्वर्गगामी होता है। जो उपाध्यायको वृत्ति और छात्रोंको भोजन आदि देता है, उस धर्म एवं कामादि पुरुषार्थोंके रहस्यदर्शी मनुष्यने क्या नहीं दे दिया[१]॥ ५१—५५॥

सहस्र वाजपेय यज्ञोंमें विधिपूर्वक दान देनेसे जो फल होता है, विद्यादानसे मनुष्य वह सम्पूर्ण फल प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो शिवालय, विष्णुमन्दिर तथा सूर्यमन्दिरमें ग्रन्थवाचन करता है, वह सभी दानोंका फल प्राप्त करता है[२]। त्रैलोक्यमें जो ब्राह्मणादि चार वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चार आश्रम हैं, वे तथा ब्रह्मा आदि समस्त देवगण विद्यादानमें प्रतिष्ठित हैं। विद्या कामधेनु है और विद्या उत्तम नेत्र है। गान्धर्व आदि उपवेदोंका दान करनेसे मनुष्य गन्धर्वोंके साथ प्रमुदित होता है, वेदाङ्गोंके दानसे स्वर्गलोकको प्राप्त करता है और धर्मशास्त्रके दानसे धर्मके सांनिध्यको प्राप्त होकर दाता प्रमुदित होता है। सिद्धान्तोंके दानसे मनुष्य निस्संदेह मोक्ष प्राप्त करता है। पुस्तक-प्रदानसे विद्यादानके फलकी प्राप्ति होती है। इसलिये शास्त्रों और पुराणोंका दान करनेवाला सब

१. वृत्तिं दद्यादुपाध्याये छात्राणां भोजनादिकम्। किमदत्तं भवेत्तेन धर्मकामादिदर्शिना॥ (२११।५५)
२. शिवालये विष्णुगृहे सूर्यस्य भवने तथा। सर्वदानप्रदः स स्यात् पुस्तकं वाचयेत्तु यः॥ (२११।५७)

कुछ प्राप्त कर लेता है। जो शिष्योंको शिक्षादान करता है, वह पुण्डरीकयागका फल प्राप्त करता है॥ ५६—६२॥

जीविका-दानके तो फलका अन्त ही नहीं है। जो अपने पितरोंको अक्षय लोकोंकी प्राप्ति कराना चाहें, उन्हें इस लोकके सर्वश्रेष्ठ एवं अपनेको प्रिय लगनेवाले समस्त पदार्थोंका पितरोंके उद्देश्यसे दान करना चाहिये। जो विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवी और गणेश आदि देवताओंकी पूजा करके पूजा-द्रव्यका ब्राह्मणको दान करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है। देवमन्दिर एवं देवप्रतिमाका निर्माण करानेवाला समस्त अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करता है। मन्दिरमें झाड़ू-बुहारी और प्रक्षालन करनेवाला पुरुष पापरहित हो जाता है। देवप्रतिमाके सम्मुख विविध मण्डलोंका निर्माण करनेवाला मण्डलाधिपति होता है। देवताको गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा, घण्टा, ध्वजा, चँदोवा और वस्त्र आदि समर्पित करनेसे एवं उनके दर्शन और उनके सम्मुख गाने-बजानेसे मनुष्य भोग और मोक्ष—दोनोंको प्राप्त करता है। भगवान्‌को कस्तूरी, सिंहलदेशीय चन्दन, अगुरु, कपूर तथा मुस्त आदि सुगन्धि-द्रव्य और विजयगुग्गुल समर्पित करे और संक्रान्ति आदिके दिन एक प्रस्थ घृतसे स्नान कराके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। 'स्नान' सौ पलका और पच्चीस पलका 'अभ्यङ्ग' मानना चाहिये। 'महास्नान' हजार पलका कहा गया है। भगवान्‌को जलस्नान करानेसे दस अपराध, दुग्धस्नान करानेसे सौ अपराध, दुग्ध एवं दधि दोनोंसे स्नान करानेसे सहस्र अपराध और घृतस्नान करानेसे दस हजार अपराध विनष्ट हो जाते हैं। देवताके उद्देश्यसे दास-दासी, अलंकार, गौ, भूमि, हाथी-घोड़े और सौभाग्य-द्रव्य देकर मनुष्य धन और दीर्घायुसे युक्त होकर स्वर्गलोकको प्राप्त होता है॥ ६३—७२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाना प्रकारके दानोंकी महिमाका वर्णन' नामक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २११॥

दो सौ बारहवाँ अध्याय

विविध काम्य-दान एवं मेरुदानोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं आपके सम्मुख काम्य-दानोंका वर्णन करता हूँ, जो समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। प्रत्येक मासमें प्रतिदिन पूजन करते हुए एक दिन विशेषरूपसे पूजन किया जाता है। इसे 'काम्य-पूजन' कहते हैं। वर्षके समाप्त होनेपर गुरुपूजन एवं महापूजनके साथ व्रतका विसर्जन किया जाता है॥ १$\frac{1}{2}$॥

जो मार्गशीर्षमासमें शिवका पूजन करके पिष्ट (आटा) निर्मित अश्व एवं कमलका दान करता है, वह चिरकालतक सूर्यलोकमें निवास करता है। पौषमासमें पिष्टमय हाथीका दान देकर मनुष्य अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। माघमें पिष्टमय अश्वयुक्त रथका दान देनेवाला नरकमें नहीं जाता। फाल्गुनमें पिष्टनिर्मित बैलका दान देकर मनुष्य स्वर्गको प्राप्त होता है तथा दूसरे जन्ममें राज्य प्राप्त करता है। चैत्रमासमें दास-दासियोंसे युक्त एवं ईख (गुड़)-से भरा हुआ घर देकर मनुष्य चिरकालतक स्वर्गलोकमें निवास करता है और उसके बाद राजा होता है। वैशाखमें सप्तधान्यका दान देकर मनुष्य शिवके सायुज्यको प्राप्त कर लेता है। ज्येष्ठ तथा आषाढ़में अन्नकी बलि देनेवाला शिवस्वरूप हो जाता है। श्रावणमें पुष्परथका दान देकर मनुष्य स्वर्गके

सुखोंका उपभोग करनेके पश्चात् दूसरे जन्ममें राज्यलाभ करता है और दो सौ फलोंका दान देनेवाला अपने सम्पूर्ण कुलका उद्धार करके राजपदको प्राप्त होता है। भाद्रपदमें धूपदान करनेवाला स्वर्गको प्राप्त होकर दूसरे जन्ममें राज्यका उपभोग करता है। आश्विनमें दुग्ध और घृतसे परिपूर्ण पात्रका दान स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। कार्तिकमें गुड़, शक्कर और घृतका दान देकर मनुष्य स्वर्गलोकमें निवास करता है और दूसरे जन्ममें राजा होता है॥ २—८ $\frac{1}{2}$ ॥

अब मैं बारह प्रकारके मेरुदानोंके विषयमें कहूँगा, जो भोग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले हैं। कार्तिककी पूर्णिमाको मेरुव्रत करके ब्राह्मणको 'रत्नमेरु'का दान करना चाहिये। अब क्रमशः सब मेरुओंका प्रमाण सुनिये। हीरे, माणिक्य, नीलमणि, वैदूर्यमणि, स्फटिकमणि, पुखराज, मरकतमणि और मोती—इनका एक प्रस्थका मेरु उत्तम माना गया है। इससे आधे परिमाणका मेरु मध्यम और मध्यमसे आधा निकृष्ट होता है। रत्नमेरुका दान करनेवाला धनकी कंजूसीका परित्याग कर दे। द्वादशदल कमलका निर्माण करके उसकी कर्णिकापर मेरुकी स्थापना करे। इसके ब्रह्मा, विष्णु और शिव देवता हैं। मेरुसे पूर्व दिशामें तीन दल हैं, उनमें क्रमशः माल्यवान्, भद्राश्व तथा ऋक्ष पर्वतोंका पूजन करे। मेरुसे दक्षिणवाले दलोंमें निषध, हेमकूट और हिमवान्की पूजा करे। मेरुसे उत्तरवाले तीन दलोंमें क्रमशः नील, श्वेत और शृङ्गीका पूजन करे तथा पश्चिमवाले दलोंमें गन्धमादन, वैकङ्क एवं केतुमालकी पूजा करे। इस प्रकार बारह पर्वतोंसे युक्त मेरु पर्वतका पूजन करना चाहिये॥ ९—१४ $\frac{1}{2}$ ॥

उपवासपूर्वक रहकर स्नानके पश्चात् भगवान् विष्णु अथवा शिवका पूजन करे। भगवान्के सम्मुख मेरुका पूजन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उसका ब्राह्मणको दान कर दे॥ १५ $\frac{1}{2}$ ॥

दानका संकल्प करते समय देश-कालके उच्चारणके पश्चात् कहे—'मैं इस द्रव्यनिर्मित उत्तम मेरु पर्वतका, जिसके देवता भगवान् विष्णु हैं, अमुक गोत्रवाले ब्राह्मणको दान करता हूँ। इस दानसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय और मुझे उत्तम भोग एवं मोक्षकी प्राप्ति हो'॥ १६ $\frac{1}{2}$ ॥

इस प्रकार दान करनेवाला मनुष्य अपने समस्त कुलका उद्धार करके देवताओंद्वारा सम्मानित हो विमानपर बैठकर इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक तथा श्रीवैकुण्ठधाममें क्रीडा करता है। संक्रान्ति आदि अन्य पुण्यकालोंमें मेरुका दान करना-कराना चाहिये॥ १७-१८॥

एक सहस्र पल सुवर्णके द्वारा महामेरुका निर्माण करावे। वह तीन शिखरोंसे युक्त होना चाहिये और उन शिखरोंपर ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी स्थापना करनी चाहिये। मेरुके साथवाला प्रत्येक पर्वत सौ-सौ पल सुवर्णका बनवाये। मेरुको लेकर उसके सहवर्ती पर्वत तेरह माने गये हैं। उत्तरायण अथवा दक्षिणायनकी संक्रान्तिमें या सूर्य-चन्द्रके ग्रहणकालमें विष्णुकी प्रतिमाके सम्मुख 'स्वर्णमेरु'की स्थापना करे। तदनन्तर श्रीहरि और स्वर्णमेरुकी पूजा कर उसे ब्राह्मणको समर्पित करे। ऐसा करनेसे मनुष्य चिरकालतक विष्णुलोकमें निवास करता है। जो बारह पर्वतोंसे युक्त 'रजतमेरु'का संकल्पपूर्वक दान करता है, वह उतने वर्षोंतक राज्यका उपभोग करता है, जितने कि इस पृथ्वीपर परमाणु हैं। इसके सिवा वह पूर्वोक्त फलको भी प्राप्त कर लेता है। 'भूमिमेरु'का दान विष्णु एवं ब्राह्मणकी पूजा करके करना चाहिये। एक नगर, जनपद अथवा ग्रामके आठवें अंशसे 'भूमिमेरु'की कल्पना करके अवशिष्ट अंशसे शेष बारह अंशोंकी कल्पना करनी चाहिये। भूमिमेरुके दानका भी

फल पूर्ववत् होता है॥ १९—२३ १/२ ॥

बारह पर्वतोंसे युक्त मेरुका हाथियोंद्वारा निर्माण करके तीन पुरुषोंसहित उस 'हस्तिमेरु'का दान करे। वह दान देकर मनुष्य अक्षय फलका भागी होता है॥ २४ १/२ ॥

पंद्रह अश्वोंका 'अश्वमेरु' होता है। इसके साथ बारह पर्वतोंके स्थान बारह घोड़े होने चाहिये। श्रीविष्णु आदि देवताओंके पूजनपूर्वक अश्वमेरुका दान करनेवाला इस जन्ममें विविध भोगोंका उपभोग करके दूसरे जन्ममें राजा होता है। 'गोमेरु'का भी अश्वमेरुकी संख्याके परिमाण एवं विधिसे दान करना चाहिये। एक भार रेशमी वस्त्रोंका 'वस्त्रमेरु' होता है। उसे मध्यमें रखकर अन्य बारह पर्वतोंके स्थानपर बारह वस्त्र रखे। इसका दान करके मनुष्य अक्षय फलकी प्राप्ति करता है। पाँच हजार पल घृतका 'आज्य-पर्वत' माना गया है। इसका सहवर्ती प्रत्येक पर्वत पाँच सौ पल घृतका होना चाहिये। इस आज्य-पर्वतपर श्रीहरिका यजन करे। फिर श्रीविष्णुके सम्मुख इसे ब्राह्मणको दानकर मनुष्य इस लोकमें सर्वस्व पाकर श्रीहरिके परमधामको प्राप्त होता है। उसी प्रकार 'खण्ड (खाँड) मेरु'का निर्माण एवं दान करके मनुष्य पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति कर लेता है॥ २५—२९ ॥

पाँच खारी धान्यका 'धान्यमेरु' होता है। इसके साथ अन्य बारह पर्वत एक-एक खारी धान्यके बनाने चाहिये। उन सबके तीन-तीन स्वर्णमय शिखर होने चाहिये। सबपर ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनोंका पूजन करना चाहिये। श्रीविष्णुका विशेषरूपसे पूजन करना चाहिये। इससे अक्षय फलकी प्राप्ति होती है॥ ३० १/२ ॥

इसी प्रमाणके अनुसार 'तिलमेरु'का निर्माण करके दशांशके प्रमाणसे अन्य पर्वतोंका निर्माण करे। उसके एवं अन्य पर्वतोंके भी पूर्वोक्त प्रकारसे शिखर बनाने चाहिये। इस तिलमेरुका दान करके मनुष्य बन्धु-बान्धवोंके साथ विष्णुलोकको प्राप्त होता है॥ ३१-३२ ॥

(तिलमेरुका दान करते समय निम्नलिखित मन्त्रको पढ़े—) "विष्णुस्वरूप तिलमेरुको नमस्कार है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिसके शिखर हैं, जो पृथ्वीकी नाभिपर स्थित है, जो सहवर्ती बारहों पर्वतोंका प्रभु, समस्त पापोंका अपहरण करनेवाला, शान्तिमय, विष्णुभक्त है, उस तिलमेरुको नमस्कार है। वह मेरी सर्वथा रक्षा करे। मैं निष्पाप होकर पितरोंके साथ श्रीविष्णुको प्राप्त होता हूँ। '**ॐ नमः**' तुम विष्णुस्वरूप हो, विष्णुके सम्मुख मैं विष्णुस्वरूप दाता विष्णुस्वरूप ब्राह्मणका भक्तिपूर्वक भोग एवं मोक्षकी प्राप्तिके हेतु तुम्हारा दान करता हूँ"॥ ३३—३५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मेरुदानका वर्णन' नामक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१२॥

दो सौ तेरहवाँ अध्याय

पृथ्वीदान तथा गोदानकी महिमा

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'पृथ्वीदान'के विषयमें कहता हूँ। 'पृथ्वी' तीन प्रकारकी मानी गयी है। सौ करोड़ योजन विस्तारवाली सप्तद्वीपवती समुद्रोंसहित जम्बूद्वीपपर्यन्त पृथ्वी उत्तम मानी गयी है। उत्तम पृथ्वीकी पाँच भार सुवर्णसे रचना करे। उसके आधेमें कूर्म एवं कमल बनवाये। यह 'उत्तम पृथ्वी' बतलायी गयी है। इसके आधेमें 'मध्यम पृथ्वी' मानी जाती है। इसके तीसरे भागमें निर्मित पृथ्वी 'कनिष्ठ' मानी गयी है। इसके साथ पृथ्वीके

तीसरे भागमें कूर्म और कमलका निर्माण करना चाहिये॥ १—३ $\frac{1}{2}$ ॥

एक हजार पल सुवर्णसे मूल, दण्ड, पत्ते, फल, पुष्प और पाँच स्कन्धोंसे युक्त कल्पवृक्षकी कल्पना करे। विद्वान् ब्राह्मण यजमानके द्वारा संकल्प कराके पाँच ब्राह्मणोंको इसका दान करावे। इसका दान करनेवाला ब्रह्मलोकमें पितृगणोंके साथ चिरकालतक आनन्दका उपभोग करता है। पाँच सौ पल सुवर्णसे कामधेनुका निर्माण कराके विष्णुके सम्मुख दान करे। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि समस्त देवता गौमें प्रतिष्ठित हैं। धेनुदान करनेसे अपने-आप समस्त दान हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको सिद्ध करनेवाला एवं ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला है। श्रीविष्णुके सम्मुख कपिला गौका दान करनेवाला अपने सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर देता है। कन्याको अलंकृत करके दान करनेसे अश्वमेध-यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है। जिसमें सभी प्रकारके सस्य (अनाजोंके पौधे) उपज सकें, ऐसी भूमिका दान देकर मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। ग्राम, नगर अथवा खेटक (छोटे गाँव)-का दान देनेवाला सुखी होता है। कार्तिककी पूर्णिमा आदिमें वृषोत्सर्ग करनेवाला अपने कुलका उद्धार कर देता है॥ ४—१०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पृथ्वीदानका वर्णन' नामक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१३॥

दो सौ चौदहवाँ अध्याय

नाड़ीचक्रका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं नाड़ीचक्रके विषयमें कहता हूँ, जिसके जाननेसे श्रीहरिका ज्ञान हो जाता है। नाभिके अधोभागमें कन्द (मूलाधार) है, उससे अङ्कुरोंकी भाँति नाड़ियाँ निकली हुई हैं। नाभिके मध्यमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ स्थित हैं। इन नाड़ियोंने शरीरको ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब ओरसे व्याप्त कर रखा है और ये चक्राकार होकर स्थित हैं। इनमें प्रधान दस नाड़ियाँ हैं—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पृथा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और दसवीं शङ्खिनी। ये दस प्राणोंका वहन करनेवाली प्रमुख नाड़ियाँ बतलायी गयीं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दस 'प्राणवायु' हैं। इनमें प्रथम वायु प्राण दसोंका स्वामी है। यह प्राण—रिक्तताकी पूर्ति प्रति प्राणोंको प्राणयन (प्रेरण) करता है और सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित रहकर अपान-वायुद्वारा मल-मूत्रादिके त्यागसे होनेवाली रिक्तताको नित्य पूर्ण करता है। जीवमें आश्रित यह प्राण श्वासोच्छ्वास और कास आदिद्वारा प्रयाण (गमनागमन) करता है, इसलिये इसे 'प्राण' कहा गया है। अपानवायु मनुष्योंके आहारको नीचेकी ओर ले जाता है और मूत्र एवं शुक्र आदिका भी नीचेकी ओर वहन करता है, इस अपानयनके कारण इसे 'अपान' कहा जाता है। समानवायु मनुष्योंके खाये-पीये और सूँघे हुए पदार्थोंको एवं रक्त, पित्त, कफ तथा वातको सारे अङ्गोंमें समानभावसे ले जाता है, इस कारण उसे 'समान' कहा गया है। उदान नामक वायु मुख और अधरोंको स्पन्दित करता है, नेत्रोंकी अरुणिमाको बढ़ाता है और मर्मस्थानोंको उद्विग्न करता है, इसीलिये उसका नाम 'उदान' है।

'व्यान' अङ्गोंको पीड़ित करता है। यही व्याधिको कुपित करता है और कण्ठको अवरुद्ध कर देता है। व्यापनशील होनेसे इसे 'व्यान' कहा गया है। 'नागवायु' उद्‌गार (डकार-वमन आदि)-में और 'कूर्मवायु' नयनोंके उन्मीलन (खोलने)-में प्रवृत्त होता है। 'कृकर' भक्षणमें और 'देवदत्त' वायु जँभाईमें अधिष्ठित है। 'धनंजय' पवनका स्थान घोष है। यह मृत शरीरका भी परित्याग नहीं करता। इन दसोंद्वारा जीव प्रयाण करता है, इसलिये प्राणभेदसे नाड़ीचक्रके भी दस भेद हैं॥ १—१४॥

संक्रान्ति, विषुव, दिन, रात, अयन, अधिमास, ऋण, ऊनरात्र एवं धन—ये सूर्यकी गतिसे होनेवाली दस दशाएँ शरीरमें भी होती हैं। इस शरीरमें हिक्का (हिचकी) ऊनरात्र, विजृम्भिका (जँभाई) अधिमास, कास (खाँसी) ऋण और निःश्वास 'धन' कहा जाता है। शरीरगत वामनाड़ी 'उत्तरायण' और दक्षिणनाड़ी 'दक्षिणायन' है। दोनोंके मध्यमें नासिकाके दोनों छिद्रोंसे निर्गत होनेवाली श्वासवायु 'विषुव' कहलाती है। इस विषुववायुका ही अपने स्थानसे चलकर दूसरे स्थानसे युक्त होना 'संक्रान्ति' है। द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ! शरीरके मध्यभागमें 'सुषुम्णा' स्थित है, वामभागमें 'इड़ा' और दक्षिणभागमें 'पिङ्गला' है। ऊर्ध्वगतिवाला प्राण 'दिन' माना गया है और अधोगामी अपानको 'रात्रि' कहा गया है। एक प्राणवायु ही दस वायुके रूपमें विभाजित है। देहके भीतर जो प्राणवायुका आयाम (बढ़ना) है, उसे 'चन्द्रग्रहण' कहते हैं। वही जब देहसे ऊपरतक बढ़ जाता है, तब उसे 'सूर्यग्रहण' मानते हैं॥ १५—२०॥

साधक अपने उदरमें जितनी वायु भरी जा सके, भर ले। यह देहको पूर्ण करनेवाला, 'पूरक' प्राणायाम है। श्वास निकलनेके सभी द्वारोंको रोककर, श्वासोच्छ्वासकी क्रियासे शून्य हो परिपूर्ण कुम्भकी भाँति स्थित हो जाय—इसे 'कुम्भक' प्राणायाम कहा जाता है। तदनन्तर मन्त्रवेत्ता साधक ऊपरकी ओर एक ही नासारन्ध्रसे वायुको निकाले। इस प्रकार उच्छ्वासयोगसे युक्त हो वायुका ऊपरकी ओर विरेचन (निःसारण) करे (यह 'रेचक' प्राणायाम है)। यह श्वासोच्छ्वासकी क्रियाद्वारा अपने शरीरमें विराजमान शिवस्वरूप ब्रह्मका ही ('सोऽहं' 'हंसः'के रूपमें) उच्चारण होता है, अतः तत्त्ववेत्ताओंके मतमें वही 'जप' कहा गया है। इस प्रकार एक तत्त्ववेत्ता योगीन्द्र श्वास-प्रश्वासद्वारा दिन-रातमें इक्कीस हजार छः सौकी संख्यामें मन्त्र-जप करता है। यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाली 'अजपा' नामक गायत्री है। जो इस अजपाका जप करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। चन्द्रमा, अग्नि तथा सूर्यसे युक्त मूलाधार-निवासिनी आद्या कुण्डलिनी-शक्ति हृदयप्रदेशमें अंकुरके आकारमें स्थित है। सात्त्विक पुरुषोंमें उत्तम वह योगी सृष्टिक्रमका अवलम्बन करके सृष्टिन्यास करे तथा ब्रह्मरन्ध्रवर्ती शिवसे कुण्डलिनीके मुखभागमें झरते हुए अमृतका चिन्तन करे। शिवके दो रूप हैं—सकल और निष्कल। सगुण साकार देहमें विराजित शिवको 'सकल' जानना चाहिये और जो देहसे रहित हैं, वे 'निष्कल' कहे गये हैं। वे 'हंस-हंस'का जप करते हैं। 'हंस' नाम है—'सदाशिव'का। जैसे तिलोंमें तेल और पुष्पोंमें गन्धकी स्थिति है, उसी प्रकार अन्तर्यामी पुरुष (जीवात्मा)-में बाहर और भीतर भी सदाशिवका निवास है। ब्रह्माका स्थान हृदयमें है, भगवान् विष्णु कण्ठमें अधिष्ठित हैं, तालुके मध्यभागमें रुद्र, ललाटमें महेश्वर और प्राणोंके अग्रभागमें सदाशिवका स्थान है। उनके अन्तमें परात्पर ब्रह्म विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव—इन पाँच रूपोंमें 'सकल' (साकार या सगुण) परमात्माका वर्णन किया गया है। इसके विपरीत परमात्मा,

जो निर्गुण निराकाररूप है, उसे 'निष्कल' कहा गया है॥ २१—३२॥

जो योगी अनाहत नादको प्रासादतक उठाकर अनवरत जप करता है, वह छः महीनोंमें ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। गमनागमनके ज्ञानसे समस्त पापोंका क्षय होता है और योगी अणिमा आदि सिद्धियों, गुणों और ऐश्वर्यको छः महीनोंमें ही प्राप्त कर लेता है। मैंने स्थूल, सूक्ष्म और परके भेदसे तीन प्रकारके प्रासादका वर्णन किया है। प्रासादको ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीन रूपोंमें लक्षित करे। 'ह्रस्व' पापोंको दग्ध कर देता है, 'दीर्घ' मोक्षप्रद होता है और 'प्लुत' आप्यायन (तृप्तिप्रदान) करनेमें समर्थ है। यह मस्तकपर बिन्दु (अनुस्वार)-से विभूषित होता है। ह्रस्व-प्रासाद-मन्त्रके आदि और अन्तमें 'फट्' लगाकर जप किया जाय तो यह मारण कर्ममें हितकारक होता है। यदि उसके आदि-अन्तमें 'नमः' पद जोड़कर जपा जाय तो वह आकर्षण-साधक बताया गया है। महादेवजीके दक्षिणामूर्तिरूप-सम्बन्धी मन्त्रका खड़े होकर यदि पाँच लाख जप किया जाय तथा जपके अन्तमें घीका दस हजार होम कर दिया जाय तो वह मन्त्र आप्यायित (सिद्ध) हो जाता है। फिर उससे वशीकरण, उच्चाटन आदि कार्य कर सकते हैं॥ ३३—३८½॥

जो ऊपर शून्य, नीचे शून्य और मध्यमें भी शून्य है, उस त्रिशून्य निरामय मन्त्रको जो जानता है, वह द्विज निश्चय ही मुक्त हो जाता है। पाँच मन्त्रोंके मेलसे महाकलेवरधारी अड़तीस कलाओंसे युक्त प्रासादमन्त्रको जो नहीं जानता है, वह आचार्य नहीं कहलाता है। जो ओंकार, गायत्री तथा रुद्रादि मन्त्रोंको जानता है, वही गुरु है॥ ३९—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाड़ीचक्रकथन' नामक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१४॥

दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय

संध्या-विधि

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! जो पुरुष ॐकारको जानता है, वह योगी और विष्णुस्वरूप है। इसलिये सम्पूर्ण मन्त्रोंके सारस्वरूप और सब कुछ देनेवाले ॐकारका अभ्यास करना चाहिये। समस्त मन्त्रोंके प्रयोगमें ॐकारका सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है। जो कर्म उससे युक्त है, वही पूर्ण है। उससे विहीन कर्म पूर्ण नहीं है। आदिमें ॐकारसे युक्त (**'भूः भुवः स्वः'**—ये) तीन शाश्वत महाव्याहृतियों एवं (**'तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्'** इस) तीन पदोंसे युक्त गायत्रीको ब्रह्मका (वेद अथवा ब्रह्माका) मुख जानना चाहिये। जो मनुष्य नित्य तीन वर्षोंतक आलस्यरहित होकर गायत्रीका जप करता है, वह वायुभूत और आकाशस्वरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है। एकाक्षर ॐकार ही परब्रह्म है और प्राणायाम ही परम तप है। गायत्री-मन्त्रसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मौन रहनेसे सत्यभाषण करना ही श्रेष्ठ है*॥ १—५॥

गायत्रीकी सात आवृत्ति पापोंका हरण करनेवाली है, दस आवृत्तियोंसे वह जपकर्ताको स्वर्गकी प्राप्ति कराती है और बीस आवृत्ति करनेपर तो स्वयं सावित्री देवी जप करनेवालेको ईश्वरलोकमें ले जाती है। साधक गायत्रीका एक सौ आठ बार जप करके संसार-सागरसे तर जाता है।

* एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः। सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते॥ (२१५।५)

रुद्र-मन्त्रोंके जप तथा कूष्माण्ड-मन्त्रोंके जपसे गायत्री-मन्त्रका जप श्रेष्ठ है। गायत्रीसे श्रेष्ठ कोई भी जप करनेयोग्य मन्त्र नहीं है तथा व्याहृति-होमके समान कोई होम नहीं है। गायत्रीके एक चरण, आधा चरण, सम्पूर्ण ऋचा अथवा आधी ऋचाका भी जप करनेमात्रसे गायत्री देवी साधकको ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णकी चोरी एवं गुरुपत्नी-गमन आदि महापातकोंसे मुक्त कर देती है॥ ६—९॥

कोई भी पाप करनेपर उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तिलोंका हवन और गायत्रीका जप बताया गया है। उपवासपूर्वक एक सहस्र गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाला अपने पापोंको नष्ट कर देता है। गो-वध, पितृवध, मातृवध, ब्रह्महत्या अथवा गुरुपत्नीगमन करनेवाला, ब्राह्मणकी जीविकाका अपहरण करनेवाला, सुवर्णकी चोरी करनेवाला और सुरापान करनेवाला महापातकी भी गायत्रीका एक लाख जप करनेसे शुद्ध हो जाता है। अथवा स्नान करके जलके भीतर गायत्रीका सौ बार जप करे। तदनन्तर गायत्रीसे अभिमन्त्रित जलके सौ आचमन करे। इससे भी मनुष्य पापरहित हो जाता है। गायत्रीका सौ बार जप करनेपर वह समस्त पापोंका उपशमन करनेवाली मानी गयी है और एक सहस्र जप करनेपर उपपातकोंका भी नाश करती है। एक करोड़ जप करनेपर गायत्री देवी अभीष्ट फल प्रदान करती है। जपकर्ता देवत्व और देवराजत्वको भी प्राप्त कर लेता है॥ १०—१३ $\frac{1}{2}$॥

आदिमें ॐकार, तदनन्तर '**भूर्भुवः स्वः**' का उच्चारण करना चाहिये। उसके बाद गायत्री-मन्त्रका एवं अन्तमें पुनः ॐकारका प्रयोग करना चाहिये। जपमें मन्त्रका यही स्वरूप बताया गया है[1]। गायत्री-मन्त्रके विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द और सविता देवता हैं। उपनयन, जप एवं होममें इनका विनियोग करना चाहिये[2]। गायत्री-मन्त्रके चौबीस अक्षरोंके अधिष्ठातृदेवता क्रमशः ये हैं— अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, यम, जलपति, गुरु, पर्जन्य, इन्द्र, गन्धर्व, पूषा, मित्र, वरुण, त्वष्टा, वसुगण, मरुद्गण, चन्द्रमा, अङ्गिरा, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, प्रजापतिसहित समस्त देवगण, रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु। गायत्री-जपके समय उपर्युक्त देवताओंका उच्चारण किया जाय तो वे जपकर्ताके पापोंका विनाश करते हैं॥ १४—१८ $\frac{1}{2}$॥

गायत्री-मन्त्रके एक-एक अक्षरका अपने निम्नलिखित अङ्गोंमें क्रमशः न्यास करे। पैरोंके दोनों अङ्गुष्ठ, गुल्फद्वय, नलक (दोनों पिण्डलियाँ), घुटने, दोनों जाँघें, उपस्थ, वृषण, कटिभाग, नाभि, उदर, स्तनमण्डल, हृदय, ग्रीवा, मुख (अधरोष्ठ), तालु, नासिका, नेत्रद्वय, भ्रूमध्य, ललाट, पूर्व आनन (उत्तरोष्ठ), दक्षिण पार्श्व, उत्तर पार्श्व, सिर और सम्पूर्ण मुखमण्डल। गायत्रीके चौबीस अक्षरोंके वर्ण क्रमशः इस प्रकार हैं—पीत, श्याम, कपिल, मरकतमणिसदृश, अग्नितुल्य, रुक्मसदृश, विद्युत्प्रभ, धूम्र, कृष्ण, रक्त, गौर, इन्द्रनीलमणिसदृश, स्फटिकमणितुल्य, स्वर्णिम, पाण्डु, पुखराजतुल्य, अखिलद्युति, हेमाभधूम्र, रक्तनील, रक्तकृष्ण, सुवर्णाभ, शुक्ल, कृष्ण और पलाशवर्ण। गायत्री ध्यान करनेपर पापोंका अपहरण करती और हवन करनेपर सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको प्रदान करती है। गायत्री-मन्त्रसे तिलोंका होम सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला है। शान्तिकी इच्छा रखनेवाला जौका और दीर्घायु चाहनेवाला घृतका हवन

१. ॐकारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्तथैव च॥
गायत्रीं प्रणवश्चान्ते जपे चैव मुदाहृतम्। (२१५।१४-१५)
—इसके अनुसार जपनीय मन्त्रका पाठ यों होगा—'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ।

२. गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्री छन्दः सविता देवताग्निर्मुखमुपनयने जपे होमे वा विनियोगः।

करे। कर्मकी सिद्धिके लिये सरसोंका, ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये दुग्धका, पुत्रकी कामना करनेवाला दधिका और अधिक धान्य चाहनेवाला अगहनीके चावलका हवन करे। ग्रहपीड़ाकी शान्तिके लिये खैर वृक्षकी समिधाओंका, धनकी कामना करनेवाला बिल्वपत्रोंका, लक्ष्मी चाहनेवाला कमल-पुष्पोंका, आरोग्यका इच्छुक और महान् उत्पातसे आतङ्कित मनुष्य दूर्वाका, सौभाग्याभिलाषी गुग्गुलका और विद्याकामी खीरका हवन करे। दस हजार आहुतियोंसे उपर्युक्त कामनाओंकी सिद्धि होती है और एक लाख आहुतियोंसे साधक मनोऽभिलषित वस्तुको प्राप्त करता है। एक करोड़ आहुतियोंसे होता ब्रह्महत्याके महापातकसे मुक्त हो अपने कुलका उद्धार करके श्रीहरिस्वरूप हो जाता है। ग्रह-यज्ञ-प्रधान होम हो, अर्थात् ग्रहोंकी शान्तिके लिये हवन किया जा रहा हो तो उसमें भी गायत्री-मन्त्रसे दस हजार आहुतियाँ देनेपर अभीष्ट फलकी सिद्धि होती है॥ १९—३०॥

संध्या-विधि

गायत्रीका आवाहन करके ॐकारका उच्चारण करना चाहिये। गायत्री मन्त्रसहित ॐकारका उच्चारण करके शिखा बाँधे। फिर आचमन करके हृदय, नाभि और दोनों कंधोंका स्पर्श करे। प्रणवके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, अग्नि अथवा परमात्मा देवता हैं। इसका सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भमें प्रयोग होता है[1]। निम्नलिखित मन्त्रसे गायत्री देवीका ध्यान करे—

शुक्ला चाग्निमुखी दिव्या कात्यायनसगोत्रजा।
त्रैलोक्यवरणा दिव्या पृथिव्याधारसंयुता॥
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा॥

तदनन्तर निम्नाङ्कित मन्त्रसे गायत्री देवीका आवाहन करे—

'ॐ तेजोऽसि महोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामाऽसि। विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुः ओम् अभि भूः।'

आगच्छ वरदे देवि जपे मे संनिधौ भव।
गायन्तं त्रायसे यस्माद् गायत्री त्वं ततः स्मृता॥

समस्त व्याहृतियोंके ऋषि प्रजापति ही हैं; वे सब—व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपोंसे परब्रह्मस्वरूप एकाक्षर ॐकारमें स्थित हैं।

सप्तव्याहृतियोंके क्रमशः ये ऋषि हैं—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ तथा कश्यप। उनके देवता क्रमशः ये हैं—अग्नि, वायु, सूर्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्वदेव। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये क्रमशः सात व्याहृतियोंके छन्द हैं। इन व्याहृतियोंका प्राणायाम और होममें विनियोग होता है[2]।

ॐ आपो हि ष्ठा मयो भुवः, ॐ ता न ऊर्जे दधातन, ॐ महेरणाय चक्षसे, ॐ यो वः शिवतमो रसः, ॐ तस्य भाजयतेह नः, ॐ उशतीरिव मातरः, ॐ तस्मा अरं गमाम वः, ॐ यस्य क्षयाय: जिन्वथ, ॐ आपो जनयथा च नः।

इन तीन ऋचाओंका तथा **'ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः।'** इस मन्त्रका **'हिरण्यवर्णाः शुचयः'** इत्यादि पावमानी ऋचाओंका उच्चारण करके (पवित्रों अथवा दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंद्वारा) जलके आठ छींटे ऊपर उछाले। इससे जीवनभरके पाप नष्ट हो जाते हैं॥ ३१—४१॥

---

१. ॐकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो वर्णः सर्वकर्मारम्भे विनियोगः।

२. सप्तव्याहृतीनां विश्वामित्रजमदग्निभरद्वाजगोतमात्रिवसिष्ठकश्यपा ऋषयो गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांस्यग्नि-वाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवता अनादिष्टप्रायश्चित्ते प्राणायामे विनियोगः।

जलके भीतर '**ऋतं च०**'—इस अघमर्षण-मन्त्रका तीन बार जप करे[१]।

'**आपो हि ष्ठा**' आदि तीन ऋचाओंके सिन्धुद्वीप ऋषि, गायत्री छन्द और जल देवता माने गये हैं। ब्राह्मस्नानके लिये मार्जनमें इसका विनियोग किया जाता है[२]।

(अघमर्षण-मन्त्रका विनियोग इस प्रकार करना चाहिये—) इस अघमर्षण-सूक्तके अघमर्षण ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और भाववृत्त देवता हैं। पापनि:सारणके कर्ममें इसका प्रयोग किया जाता है[३]।

'**ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।**' यह गायत्री-मन्त्रका शिरोभाग है। इसके प्रजापति ऋषि हैं। यह छन्दरहित यजुर्मन्त्र है; क्योंकि यजुर्वेदके मन्त्र किसी नियत अक्षरवाले छन्दमें आबद्ध नहीं हैं। शिरोमन्त्रके ब्रह्मा, अग्नि, वायु और सूर्य देवता माने गये हैं[४]। प्राणायामसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जलकी उत्पत्ति होती है तथा उसी जलसे शुद्धि होती है। इसलिये जलका आचमन निम्नलिखित मन्त्रसे करे—

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु। तपो यज्ञो वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्[५]॥

'**उदुत्यं जातवेदसं०**'—इस मन्त्रके प्रस्कण्व ऋषि कहे गये हैं। इसका गायत्री छन्द और सूर्य देवता हैं। इसका अतिरात्र और अग्निष्टोम-यागमें विनियोग होता है (परंतु संध्योपासनामें इसका सूर्योपस्थान-कर्ममें विनियोग किया जाता है[६])।

'**चित्रं देवानां०**'—इस ऋचाके कौत्स ऋषि कहे गये हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् और देवता सूर्य माने गये हैं। यहाँ इसका भी विनियोग सूर्योपस्थानमें ही है[७]॥ ४२—५०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'संध्याविधिका वर्णन' नामक दो सौ पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१५॥

दो सौ सोलहवाँ अध्याय

गायत्री-मन्त्रके तात्पर्यार्थका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! इस प्रकार संध्याका विधान करके गायत्रीका जप और स्मरण करे। यह अपना गान करनेवाले साधकोंके शरीर और प्राणोंका त्राण करती है, इसलिये इसे 'गायत्री' कहा गया है। सविता (सूर्य)-से इसका प्रकाशन—प्राकट्य हुआ है, इसलिये यह 'सावित्री' कहलाती है। वाक्स्वरूपा होनेसे 'सरस्वती' नामसे भी प्रसिद्ध है॥ १-२॥

'तत्' पदसे ज्योति:स्वरूप परब्रह्म परमात्मा अभिहित है। 'भर्गः' पद तेजका वाचक है; क्योंकि 'भा' धातु दीप्त्यर्थक है और उसीसे 'भर्ग' शब्द सिद्ध है। 'भातीति भर्गः'—इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति है। अथवा 'भ्रस्ज पाके'—इस धातुसूत्रके अनुसार पाकार्थक 'भ्रस्ज' धातुसे

१. ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

२. आपो हिष्ठेत्यादि तृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः, गायत्री छन्दः, आपो देवता ब्राह्मस्नानाय मार्जने विनियोगः।

३. अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षण ऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाववृत्तो देवता अघमर्षणे विनियोगः।

४. शिरसः प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिपदा गायत्री छन्दो ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवता यजुःप्राणायामे विनियोगः।

५. इसका पाठ आजकलकी संध्याप्रतियोंमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—
ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्॥

६. उदुत्यमिति प्रस्कण्व ऋषिर्गायत्री छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

७. चित्रमित्यस्य कौत्स ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः।

भी 'भर्ग' शब्द निष्पन्न होता है; क्योंकि सूर्यदेवका तेज ओषधि आदिको पकाता है। 'भ्राजृ' धातु भी दीप्त्यर्थक होता है। 'भ्राजते इति भर्गः'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'भ्राज' धातुसे भी 'भर्ग' शब्द बनता है। 'बहुलं छन्दसि'—इस वैदिक व्याकरणसूत्रके अनुसार उक्त सभी धातुओंसे आवश्यक प्रत्यय, आगम एवं विकारकी ऊहा करनेसे 'भर्ग' शब्द बन सकता है। 'वरेण्य'का अर्थ है—'सम्पूर्ण तेजोंसे श्रेष्ठ परमपदस्वरूप'। अथवा स्वर्ग एवं मोक्षकी कामना करनेवालोंके द्वारा सदा ही वरणीय होनेके कारण भी वह 'वरेण्य' कहलाता है; क्योंकि 'वृञ्' धातु वरणार्थक है। 'धीमहि' पदका यह अभिप्राय है कि 'हम जाग्रत् और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंसे अतीत नित्य शुद्ध, बुद्ध, एकमात्र सत्य एवं ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरका मुक्तिके लिये ध्यान करते हैं'॥ ३—६$\frac{१}{२}$॥

जगत्की सृष्टि आदिके कारण भगवान् श्रीविष्णु ही वह ज्योति हैं। कुछ लोग शिवको वह ज्योति मानते हैं, कुछ लोग शक्तिको मानते हैं और कोई सूर्यको तथा कुछ अग्निहोत्री वेदज्ञ अग्निको वह ज्योति मानते हैं। वस्तुतः अग्नि आदि रूपोंमें स्थित विष्णु ही वेद-वेदाङ्गोंमें 'ब्रह्म' माने गये हैं। इसलिये 'देवस्य सवितुः'—अर्थात् जगत्के उत्पादक श्रीविष्णुदेवका ही वह परमपद माना गया है; क्योंकि वे स्वयं ज्योतिःस्वरूप भगवान् श्रीहरि महत्तत्त्व आदिका प्रसव (उत्पत्ति) करते हैं। वे ही पर्जन्य, वायु, आदित्य एवं शीत-ग्रीष्म आदि ऋतुओंद्वारा अन्नका पोषण करते हैं। अग्निमें विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाओंकी उत्पत्ति होती है। 'धीमहि' पद धारणार्थक 'डुधाञ्' धातुसे भी सिद्ध होता है। इसलिये हम उस तेजका मनसे धारण-चिन्तन करते हैं—यह भी अर्थ होगा। (यः) परमात्मा श्रीविष्णुका वह तेज (नः) हम सब प्राणियोंकी (धियः) बुद्धि-वृत्तियोंको (प्रचोदयात्) प्रेरित करे। वे ईश्वर ही कर्मफलका भोग करनेवाले समस्त प्राणियोंके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणामोंसे युक्त समस्त कर्मोंमें विष्णु, सूर्य और अग्निरूपसे स्थित हैं। यह प्राणी ईश्वरकी प्रेरणासे ही शुभाशुभ कर्मानुसार स्वर्ग अथवा नरकको प्राप्त होता है। श्रीहरि द्वारा महत्तत्त्व आदि रूपसे निर्मित यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरका आवासस्थान है। वे सर्वसमर्थ हंसस्वरूप परम पुरुष स्वर्गादि लोकोंसे क्रीड़ा करते हैं, इसलिये वे 'देव*' कहलाते हैं। आदित्यमें जो 'भर्ग' नामसे प्रसिद्ध दिव्य तेज है, वह उन्हींका स्वरूप है। मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको जन्म-मरणके कष्टसे और दैहिक, दैविक तथा भौतिक त्रिविध दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये ध्यानस्थ होकर इन परमपुरुषका सूर्यमण्डलमें दर्शन करना चाहिये। वे ही 'तत्त्वमसि' आदि औपनिषद महावाक्योंद्वारा प्रतिपादित सच्चित्स्वरूप परब्रह्म हैं। सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले सविता देवताका जो सबके लिये वरणीय भर्ग है, वह विष्णुका परमपद है और वही गायत्रीका ब्रह्मरूप 'चतुर्थ पाद' है। 'धीमहि' पदसे यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये कि देहादिकी जाग्रत्-अवस्थामें सामान्य जीवसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त मैं ही ब्रह्म हूँ और आदित्यमण्डलमें जो पुरुष है, वह भी मैं ही हूँ—मैं अनन्त सर्वतः परिपूर्ण ओम् (सच्चिदानन्द) हूँ। 'प्रचोदयात्' पदके कर्तारूपसे उन परमेश्वरको ग्रहण करना चाहिये, जो सदा यज्ञ आदि शुभ कर्मोंके प्रवर्तक हैं॥ ७—१८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गायत्री-मन्त्रके तात्पर्यका वर्णन' नामक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१६॥

---

* 'देव' शब्द क्रीडार्थक 'दिवु' धातुसे बनता है।

दो सौ सत्रहवाँ अध्याय

गायत्रीसे निर्वाणकी प्राप्ति

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! किसी अन्य वसिष्ठने गायत्री-जपपूर्वक लिङ्गमूर्ति शिवकी स्तुति करके भगवान् शंकरसे निर्वाणस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्ति की॥ १॥

(वसिष्ठने कहा—) कनकलिङ्गको नमस्कार, वेदलिङ्गको नमस्कार, परमलिङ्गको नमस्कार और आकाशलिङ्गको नमस्कार है। मैं सहस्रलिङ्ग, वह्निलिङ्ग, पुराणलिङ्ग और वेदलिङ्ग शिवको बारंबार नमस्कार करता हूँ। पातालिङ्ग, ब्रह्मलिङ्ग, सप्तद्वीपोर्ध्वलिङ्गको बारंबार नमस्कार है। मैं सर्वात्मलिङ्ग, सर्वलोकाङ्गलिङ्ग, अव्यक्तलिङ्ग, बुद्धिलिङ्ग, अहंकारलिङ्ग, भूतलिङ्ग, इन्द्रियलिङ्ग, तन्मात्रलिङ्ग, पुरुषलिङ्ग, भावलिङ्ग, रजोर्ध्वलिङ्ग, सत्त्वलिङ्ग, भवलिङ्ग, त्रैगुण्यलिङ्ग, अनागतलिङ्ग, तेजोलिङ्ग, वायूर्ध्वलिङ्ग, श्रुतिलिङ्ग, अथर्वलिङ्ग, समलिङ्ग, यज्ञाङ्गलिङ्ग, यज्ञलिङ्ग, तत्त्वलिङ्ग और देवानुगतलिङ्गरूप आप शंकरको बारंबार नमस्कार करता हूँ। प्रभो! आप मुझे परमयोगका उपदेश कीजिये और मेरे समान पुत्र प्रदान कीजिये। भगवन्! मुझे अविनाशी परब्रह्म एवं परमशान्तिकी प्राप्ति कराइये। मेरा वंश कभी क्षीण न हो और मेरी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहे॥ २—१२॥

अग्निदेव कहते हैं— प्राचीनकालमें श्रीशैलपर वसिष्ठके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये और वसिष्ठको वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गायत्री-निर्वाणका कथन' नामक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१७॥

दो सौ अठारहवाँ अध्याय

राजाके अभिषेककी विधि

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! पूर्वकालमें परशुरामजीके पूछनेपर पुष्करने उनसे जिस प्रकार राजधर्मका वर्णन किया था, वही मैं तुमसे बतला रहा हूँ॥ १॥

पुष्करने कहा— राम! मैं सम्पूर्ण राजधर्मोंसे संगृहीत करके राजाके धर्मका वर्णन करूँगा। राजाको प्रजाका रक्षक, शत्रुओंका नाशक और दण्डका उचित उपयोग करनेवाला होना चाहिये। वह प्रजाजनोंसे कहे कि 'धर्म-मार्गपर स्थित रहनेवाले आप सब लोगोंकी मैं रक्षा करूँगा' और अपनी इस प्रतिज्ञाका सदा पालन करे। राजाको वर्षफल बतानेवाले एक ज्यौतिषी तथा ब्राह्मण पुरोहितका वरण कर लेना चाहिये। साथ ही सम्पूर्ण राजशास्त्रीय विषयों तथा आत्माका ज्ञान रखनेवाले मन्त्रियोंका और धार्मिक लक्षणोंसे सम्पन्न राजमहिषीका भी वरण करना उचित है। राज्यभार ग्रहण करनेके एक वर्ष बाद राजाको सब सामग्री एकत्रित करके अच्छे समयमें विशेष समारोहके साथ अपना अभिषेक कराना चाहिये। पहलेवाले राजाकी मृत्यु होनेपर शीघ्र ही राजासन ग्रहण करना उचित है; ऐसे समयमें कालका कोई नियम नहीं है। ज्यौतिषी और पुरोहितके द्वारा तिल, सर्षप आदि सामग्रियोंका उपयोग करते हुए राजा स्नान करे तथा भद्रासनपर विराजमान होकर समूचे राज्यमें राजाकी विजय घोषित करे। फिर अभयकी घोषणा कराकर राज्यके

समस्त कैदियोंको बन्धनसे मुक्त कर दे। पुरोहितके द्वारा अभिषेक होनेसे पहले इन्द्र देवताकी शान्ति करानी चाहिये। अभिषेकके दिन राजा उपवास करके वेदीपर स्थापित की हुई अग्निमें मन्त्रपाठपूर्वक हवन करे। विष्णु, इन्द्र, सविता, विश्वेदेव और सोम-देवतासम्बन्धी वैदिक ऋचाओंका तथा स्वस्त्ययन, शान्ति, आयुष्य तथा अभय देनवाले मन्त्रोंका पाठ करे॥ २—८॥

तत्पश्चात् अग्निके दक्षिण किनारे अपराजिता देवी तथा सुवर्णमय कलशकी, जिसमें जल गिरानेके लिये अनेकों छिद्र बने हुए हों, स्थापना करके चन्दन और फूलोंके द्वारा उनका पूजन करे। यदि अग्निकी शिखा दक्षिणावर्त हो, तपाये हुए सोनेके समान उसकी उत्तम कान्ति हो, रथ और मेघके समान उससे ध्वनि निकलती हो, धुआँ बिलकुल नहीं दिखायी देता हो, अग्निदेव अनुकूल होकर हविष्य ग्रहण करते हों, होमाग्निसे उत्तम गन्ध फैल रही हो, अग्निसे स्वस्तिकके आकारकी लपटें निकलती हों, उसकी शिखा स्वच्छ हो और ऊँचेतक उठती हो तथा उसके भीतरसे चिनगारियाँ नहीं छूटती हों तो ऐसी अग्नि-ज्वाला श्रेष्ठ एवं हितकर मानी गयी है॥ ९—११॥

राजा और आगके मध्यसे बिल्ली, मृग तथा पक्षी नहीं जाने चाहिये। राजा पहले पर्वतशिखरकी मृत्तिकासे अपने मस्तककी शुद्धि करे। फिर बाँबीकी मिट्टीसे दोनों कान, भगवान् विष्णुके मन्दिरकी धूलिसे मुख, इन्द्रके मन्दिरकी मिट्टीसे ग्रीवा, राजाके आँगनकी मृत्तिकासे हृदय, हाथीके दाँतोंद्वारा खोदी हुई मिट्टीसे दाहिनी बाँह, बैलके सींगसे उठायी हुई मृत्तिकाद्वारा बायीं भुजा, पोखरेकी मिट्टीसे पीठ, दो नदियोंके संगमकी मृत्तिकासे पेट तथा नदीके दोनों किनारोंकी मिट्टीसे अपनी दोनों पसलियोंका शोधन करे। वेश्याके दरवाजेकी मिट्‌टीसे राजाके कटिभागकी शुद्धि की जाती है, यज्ञशालाकी मृत्तिकासे वह दोनों ऊरु, गोशालाकी मिट्टीसे दोनों घुटनों, घुड़सारकी मिट्टीसे दोनों जाँघ तथा रथके पहियेकी मृत्तिकासे दोनों चरणोंकी शुद्धि करे। इसके बाद पञ्चगव्यके द्वारा राजाके मस्तककी शुद्धि करनी चाहिये। तदनन्तर चार अमात्य भद्रासनपर बैठे हुए राजाका कलशोंद्वारा अभिषेक करें। ब्राह्मणजातीय सचिव पूर्व दिशाकी ओरसे घृतपूर्ण सुवर्णकलशद्वारा अभिषेक आरम्भ करे। क्षत्रिय दक्षिणकी ओर खड़ा होकर दूधसे भरे हुए चाँदीके कलशसे, वैश्य पश्चिम दिशामें स्थित हो ताम्र कलश एवं दहीसे तथा शूद्र उत्तरकी ओरसे मिट्टीके घड़ेके जलसे राजाका अभिषेक करे॥ १२—१९॥

तदनन्तर बह्वृचों (ऋग्वेदी विद्वानों)-में श्रेष्ठ ब्राह्मण मधुसे और 'छन्दोग' अर्थात् सामवेदी विप्र कुशके जलसे नरपतिका अभिषेक करे। इसके बाद पुरोहित जल गिरानेके अनेकों छिद्रोंसे युक्त (सुवर्णमय) कलशके पास जा, सदस्योंके बीच विधिवत् अग्निरक्षाका कार्य सम्पादन करके, राज्याभिषेकके लिये जो मन्त्र बताये गये हैं, उनके द्वारा अभिषेक करे। उस समय ब्राह्मणोंको वेद-मन्त्रोच्चारण करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् पुरोहित वेदीके निकट जाय और सुवर्णके बने हुए सौ छिद्रोंवाले कलशसे अभिषेक आरम्भ करे। **'या ओषधीः०'**— इत्यादि मन्त्रसे ओषधियोंद्वारा, **'अथेत्युक्त्वाः०'**— इत्यादि मन्त्रोंसे गन्धोंद्वारा, **'पुष्पवतीः०'**— आदि मन्त्रसे फूलोंद्वारा, **'ब्राह्मणः०'**— इत्यादि मन्त्रसे बीजोंद्वारा, **'आशुः शिशानः०'** आदि मन्त्रसे रत्नोंद्वारा तथा **'ये देवाः०'**— इत्यादि मन्त्रसे कुशयुक्त जलोंद्वारा अभिषेक करे। यजुर्वेदी और अथर्ववेदी ब्राह्मण **'गन्धद्वारां दुराधर्षां'**— इत्यादि मन्त्रसे गोरोचनद्वारा मस्तक तथा कण्ठमें तिलक करे। इसके बाद अन्यान्य ब्राह्मण सब तीर्थोंके जलसे अभिषेक

करें॥ २०—२६॥

उस समय कुछ लोग गीत और बाजे आदिके शब्दोंके साथ चँवर और व्यजन धारण करें। राजाके सामने सर्वौषधियुक्त कलश लेकर खड़े हों। राजा पहले उस कलशको देखें, फिर दर्पण तथा घृत आदि माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन करें। इसके बाद विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओं तथा ग्रहपतियोंका पूजन करके राजा व्याघ्रचर्मयुक्त आसनपर बैठे। उस समय पुरोहित मधुपर्क आदि देकर राजाके मस्तकपर मुकुट बाँधे। पाँच प्रकारके चमड़ोंके आसनपर बैठकर राजाको मुकुट बँधाना चाहिये। '**ध्रुवाद्यैः०**'—इत्यादि मन्त्रके द्वारा उन आसनोंपर बैठे। वृष, वृषभांश, वृक, व्याघ्र और सिंह—इन्हीं पाँचोंके चर्मका उस समय आसनके लिये उपयोग किया जाता है। अभिषेकके बाद प्रतीहार अमात्य और सचिव आदिको दिखाये—प्रजाजनोंसे उनका परिचय दे। तदनन्तर राजा गौ, बकरी, भेड़ तथा गृह आदि दान करके सांवत्सर (ज्यौतिषी) और पुरोहितका पूजन करे। फिर पृथ्वी, गौ तथा अन्न आदि देकर अन्यान्य ब्राह्मणोंकी भी पूजा करे। तत्पश्चात् अग्निकी प्रदक्षिणा करके गुरु (पुरोहित)-को प्रणाम करे। फिर बैलकी पीठका स्पर्श करके, गौ और बछड़ेकी पूजाके अनन्तर अभिमन्त्रित अश्वपर आरूढ़ होवे। उससे उतरकर हाथीकी पूजा करके, उसके ऊपर सवार हो और सेना साथ लेकर प्रदक्षिण-क्रमसे सड़कपर कुछ दूरतक यात्रा करे। इसके बाद दान आदिके द्वारा सबको सम्मानित करके विदा कर दे और स्वयं राजधानीमें प्रवेश करे॥ २७—३५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राज्याभिषेकका कथन' नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१८॥

दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय

राजाके अभिषेकके समय पढ़नेयोग्य मन्त्र

पुष्करने कहा—अब मैं राजा और देवता आदिके अभिषेक-सम्बन्धी मन्त्रोंका वर्णन करूँगा, जो सम्पूर्ण पापोंको दूर करनेवाले हैं। कलशसे कुशयुक्त जलद्वारा राजाका अभिषेक करे; इससे सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है॥ १॥

(उस समय निम्नाङ्कित मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये—) "राजन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सम्पूर्ण देवता तुम्हारा अभिषेक करें। भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इन्द्र आदि दस दिक्पाल, रुद्र, धर्म, मनु, दक्ष, रुचि तथा श्रद्धा—ये सभी सदा तुम्हें विजय प्रदान करनेवाले हों। भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरीचि और कश्यप आदि ऋषि-महर्षि प्रजाका शासन करनेवाले भूपतिकी रक्षा करें। अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले 'बर्हिषद्' और 'अग्निष्वात्त' नामवाले पितर तुम्हारा पालन करें। क्रव्याद (राक्षस), आवाहन किये हुए आज्यपा (घृतपान करनेवाले देवता और पितर), सुकाली (सुकाल लानेवाले देवता) तथा धर्मप्रिया लक्ष्मी आदि देवियाँ प्रवृद्ध अग्नियोंके साथ तुम्हारा अभिषेक करें। अनेकों पुत्रोंवाले प्रजापति, कश्यपके आदित्य आदि प्रिय पुत्रगण, अग्निनन्दन कृशाश्व तथा अरिष्टनेमिकी पत्नियाँ भी तुम्हारा अभिषेक करें। चन्द्रमाकी अश्विनी आदि भार्याएँ, पुलहकी प्रिय पत्नियाँ और भूता, कपिशा, दंष्ट्री, सुरसा, सरमा, दनु, श्येनी, भाषी, क्रौञ्ची, धृतराष्ट्री तथा शुकी आदि देवियाँ एवं सूर्यके सारथि अरुण—ये सब

तुम्हारे अभिषेकका कार्य सम्पन्न करें। आयति, नियति, रात्रि, निद्रा, लोकरक्षामें तत्पर रहनेवाली उमा, मेना और शची आदि देवियाँ, धूमा, ऊर्णा, नैर्ऋती, जया, गौरी, शिवा, ऋद्धि, वेला, नड्वला, असिक्नी, ज्योत्स्ना, देवाङ्गनाएँ तथा वनस्पति—ये सब तुम्हारा पालन करें॥ २—११॥

"महाकल्प, कल्प, मन्वन्तर, युग, संवत्सर, वर्ष, दोनों अयन, ऋतु, मास, पक्ष, रात-दिन, संध्या, तिथि, मुहूर्त तथा कालके विभिन्न अवयव (छोटे-छोटे भेद) तुम्हारी रक्षा करें। सूर्य आदि ग्रह और स्वायम्भुव आदि मनु तुम्हारी रक्षा करें। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, ब्रह्मपुत्र, धर्मपुत्र, रुद्रपुत्र, दक्षपुत्र, रौच्य तथा भौत्य—ये चौदह मनु तुम्हारे रक्षक हों। विश्वभुक्, विपश्चित्, शिखी, विभु, मनोजव, ओजस्वी, बलि, अद्भुत शान्तियाँ, वृष, ऋतधामा, दिव:स्पृक्, कवि, इन्द्र, रैवन्त, कुमार कार्तिकेय, वत्सविनायक, वीरभद्र, नन्दी, विश्वकर्मा, पुरोजव, देववैद्य अश्विनीकुमार तथा ध्रुव आदि आठ वसु—ये सभी प्रधान देवता यहाँ पदार्पण करके तुम्हारे अभिषेकका कार्य सम्पन्न करें। अङ्गिराके कुलमें उत्पन्न दस देवता और चारों वेद सिद्धिके लिये तुम्हारा अभिषेक करें। आत्मा, आयु, मन, दक्ष, मद, प्राण, हविष्मान्, गरिष्ठ, ऋत और सत्य—ये तुम्हारी रक्षा करें तथा क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काल, काम और धुरि—ये तुम्हें विजय प्रदान करें। पुरूरवा, आर्द्रवा, विश्वेदेव, रोचन, अङ्गारक (मङ्गल) आदि ग्रह, सूर्य, निर्ऋति तथा यम—ये सब तुम्हारी रक्षा करें। अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, धूमकेतु, रुद्रके पुत्र, भरत, मृत्यु, कापालि, किंकणि, भवन, भावन, स्वजन्य, स्वजन, क्रतुश्रवा, मूर्धा, याजन और उशना—ये तुम्हारी रक्षा करें। प्रसव, अव्यय, दक्ष, भृगुवंशी ऋषि, देवता, मनु, अनुमन्ता, प्राण, नव, बलवान् अपान वायु, वीतिहोत्र, नय, साध्य, हंस, विभु, प्रभु और नारायण—संसारके हितमें लगे रहनेवाले ये श्रेष्ठ देवता तुम्हारा पालन करें। धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, भास्कर और विष्णु—ये बारह सूर्य तुम्हारी रक्षा करें। एकज्योति, द्विज्योति, त्रिज्योति, चतुर्ज्योति, एकशक्र, द्विशक्र, महाबली त्रिशक्र, इन्द्र, पतिकृत्, मित, सम्मित, महाबली अमित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, अतिमित्र, अनुमित्र, पुरुमित्र, अपराजित, ऋत, ऋतवाक्, धाता, विधाता, धारण, ध्रुव, इन्द्रके परम मित्र महातेजस्वी विधारण, इदृक्ष, अदृक्ष, एतादृक्, अमिताशन, क्रीडित, सदृक्ष, सरभ, महातपा, धर्ता, धुर्य्य, धुरि, भीम, अभिमुक्त, अक्षपात, सह, धृति, वसु, अनाधृष्य, राम, काम, जय और विराट्—ये उन्चास मरुत् नामक देवता तुम्हारा अभिषेक करें तथा तुम्हें लक्ष्मी प्रदान करें। चित्राङ्गद, चित्ररथ, चित्रसेन, कलि, ऊर्णायु, उग्रसेन, धृतराष्ट्र, नन्दक, हाहा, हूहू, नारद, विश्वावसु और तुम्बुरु—ये गन्धर्व तुम्हारे अभिषेकका कार्य सम्पन्न करें और तुम्हें विजयी बनावें। प्रधान-प्रधान मुनि तथा अनवद्या, सुकेशी, मेनका, सहजन्या, क्रतुस्थला, घृताची, विश्वाची, पुञ्जिकस्थला, प्रम्लोचा, उर्वशी, रम्भा, पञ्चचूड़ा, तिलोत्तमा, चित्रलेखा, लक्ष्मणा, पुण्डरीका और वारुणी—ये दिव्य अप्सराएँ तुम्हारी रक्षा करें॥ १२—३८॥

"प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाण और उसका पुत्र—ये तथा दूसरे-दूसरे दानव और राक्षस तुम्हारे अभिषेकका कार्य सिद्ध करें। हेति, प्रहेति, विद्युत्, स्फूर्जथु, अग्रक, यक्ष, सिद्ध, मणिभद्र और नन्दन—ये सब तुम्हारी रक्षा करें। पिङ्गाक्ष, द्युतिमान्, पुष्पवन्त, जयावह, शङ्ख, पद्म, मकर और कच्छप—ये निधियाँ तुम्हें

विजय प्रदान करें। ऊर्ध्वकेश आदि पिशाच, भूमि आदिके निवासी भूत और माताएँ, महाकाल एवं नृसिंहको आगे करके तुम्हारा पालन करें। गुह, स्कन्द, विशाख, नैगमेय—ये तुम्हारा अभिषेक करें। भूतल एवं आकाशमें विचरनेवाली डाकिनी तथा योगिनियाँ, गरुड, अरुण तथा सम्पाति आदि पक्षी तुम्हारा पालन करें। अनन्त आदि बड़े-बड़े नाग, शेष, वासुकि, तक्षक, ऐरावत, महापद्म, कम्बल, अश्वतर, शङ्ख, कर्कोटक, धृतराष्ट्र, धनंजय, कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक तथा अञ्जन नामक नाग सदा और सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें। ब्रह्माजीका वाहन हंस, भगवान् शंकरका वृषभ, भगवती दुर्गाका सिंह और यमराजका भैंसा—ये सभी वाहन तुम्हारा पालन करें। अश्वराज उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि वैद्य, कौस्तुभ-मणि, शङ्खराज पाञ्चजन्य, वज्र, शूल, चक्र और नन्दक खड्ग आदि अस्त्र तुम्हारी रक्षा करें। दृढ़ निश्चय रखनेवाले धर्म, चित्रगुप्त, दण्ड, पिङ्गल, मृत्यु, काल, वालखिल्य आदि मुनि, व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि, पृथु, दिलीप, भरत, दुष्यन्त, अत्यन्त बलवान् शत्रुजित्, मनु, ककुत्स्थ, अनेना, युवनाश्व, जयद्रथ, मान्धाता, मुचुकुन्द और पृथ्वीपति पुरूरवा—ये सब राजा तुम्हारे रक्षक हों। वास्तुदेवता और पच्चीस तत्त्व तुम्हारी विजयके साधक हों। रुक्मभौम, शिलाभौम, पाताल, नीलमूर्ति, पीतरक्त, क्षिति, श्वेतभौम, रसातल, भूर्लोक, भुवर् आदि लोक तथा जम्बू-द्वीप आदि द्वीप तुम्हें राज्यलक्ष्मी प्रदान करें। उत्तरकुरु, रम्य, हिरण्यक, भद्राश्व, केतुमाल, बलाहक, हरिवर्ष, किंपुरुष, इन्द्रद्वीप, कशेरुमान्, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्यक, गान्धर्व, वारुण और नवम आदि वर्ष तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हें राज्य प्रदान करनेवाले हों। हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, शृङ्गवान्, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन, महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान् गिरि, विन्ध्य और पारियात्र—ये सभी पर्वत तुम्हें शान्ति प्रदान करें। ऋक् आदि चारों वेद, छहों अङ्ग, इतिहास, पुराण, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद और धनुर्वेद आदि उपवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द—ये छः अङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ तुम्हारी रक्षा करें॥ ३९—६०॥

"सांख्य, योग, पाशुपत, वेद, पाञ्चरात्र—ये 'सिद्धान्तपञ्चक' कहलाते हैं। इन पाँचोंके अतिरिक्त गायत्री, शिवा, दुर्गा, विद्या तथा गान्धारी नामवाली देवियाँ तुम्हारी रक्षा करें और लवण, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध तथा जलसे भरे हुए समुद्र तुम्हें शान्ति प्रदान करें। चारों समुद्र और नाना प्रकारके तीर्थ तुम्हारी रक्षा करें। पुष्कर, प्रयाग, प्रभास, नैमिषारण्य, गयाशीर्ष, ब्रह्मशिरतीर्थ, उत्तरमानस, कालोदक, नन्दिकुण्ड, पञ्चनदतीर्थ, भृगुतीर्थ, अमरकण्टक, जम्बूमार्ग, विमल, कपिलाश्रम, गङ्गाद्वार, कुशावर्त, विन्ध्य, नीलगिरि, वराह पर्वत, कनखल तीर्थ, कालञ्जर, केदार, रुद्रकोटि, महातीर्थ वाराणसी, बदरिकाश्रम, द्वारका, श्रीशैल, पुरुषोत्तमतीर्थ, शालग्राम, वाराह, सिंधु और समुद्रके संगमका तीर्थ, फल्गुतीर्थ, विन्दुसर, करवीराश्रम, गङ्गानदी, सरस्वती, शतद्रु, गण्डकी, अच्छोदा, विपाशा, वितस्ता, देविका नदी, कावेरी, वरुणा, निश्चिरा, गोमती नदी, पारा, चर्मण्वती, रूपा, महानदी, मन्दाकिनी, तापी, पयोष्णी, वेणा, वैतरणी, गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, अरणी, चन्द्रभागा, शिवा तथा गौरी आदि पवित्र नदियाँ तुम्हारा अभिषेक और पालन करें"॥ ६१—७२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अभिषेक-सम्बन्धी मन्त्रोंका वर्णन' नामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१९॥

दो सौ बीसवाँ अध्याय

राजाके द्वारा अपने सहायकोंकी नियुक्ति और उनसे काम लेनेका ढंग

पुष्कर कहते हैं— अभिषेक हो जानेपर उत्तम राजाके लिये यह उचित है कि वह मन्त्रीको साथ लेकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे। उसे ब्राह्मण या क्षत्रियको, जो कुलीन और नीतिशास्त्रका ज्ञाता हो, अपना सेनापति बनाना चाहिये। द्वारपाल भी नीतिज्ञ होना चाहिये। इसी प्रकार दूतको भी मृदुभाषी, अत्यन्त बलवान् और सामर्थ्यवान् होना उचित है॥ १-२॥

राजाको पान देनेवाला सेवक, स्त्री या पुरुष कोई भी हो सकता है। इतना अवश्य है कि उसे राजभक्त, क्लेश-सहिष्णु और स्वामीका प्रिय होना चाहिये। सांधिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव*) उसे बनाना चाहिये, जो संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छहों गुणोंका समय और अवसरके अनुसार उपयोग करनेमें निपुण हो। राजाकी रक्षा करनेवाला प्रहरी हमेशा हाथमें तलवार लिये रहे। सारथि सेना आदिके विषयमें पूरी जानकारी रखे। रसोइयोंके अध्यक्षको राजाका हितैषी और चतुर होनेके साथ ही सदा रसोईघरमें उपस्थित रहना चाहिये। राजसभाके सदस्य धर्मके ज्ञाता हों। लिखनेका काम करनेवाला पुरुष कई प्रकारके अक्षरोंका ज्ञाता तथा हितैषी हो। द्वार-रक्षामें नियुक्त पुरुष ऐसे होने चाहिये, जो स्वामीके हितमें संलग्न हों और इस बातकी अच्छी तरह जानकारी रखें कि महाराज कब-कब उन्हें अपने पास बुलाते हैं। धनाध्यक्ष ऐसा मनुष्य हो, जो रत्न आदिकी परख कर सके और धन बढ़ानेके साधनोंमें तत्पर रहे। राजवैद्यको आयुर्वेदका पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। इसी प्रकार गजाध्यक्षको भी गजविद्यासे परिचित होना आवश्यक है। हाथी-सवार परिश्रमसे थकनेवाला न हो। घोड़ोंका अध्यक्ष अश्वविद्याका विद्वान् होना चाहिये। दुर्गके अध्यक्षको भी हितैषी एवं बुद्धिमान् होना आवश्यक है। शिल्पी अथवा कारीगर वास्तुविद्याका ज्ञाता हो। जो मशीनसे हथियार चलाने, हाथसे शस्त्रोंका प्रयोग करने, शस्त्रको न छोड़ने, छोड़े हुए शस्त्रको रोकने या निवारण करनेमें तथा युद्धकी कलामें कुशल और राजाका हित चाहनेवाला हो, उसे ही अस्त्राचार्यके पदपर नियुक्त करना चाहिये। रनिवासका अध्यक्ष वृद्ध पुरुषको बनाना चाहिये। पचास वर्षकी स्त्रियाँ और सत्तर वर्षके बूढ़े पुरुष अन्त:पुरके सभी कार्योंमें लगाये जा सकते हैं। शस्त्रागारमें ऐसे पुरुषको रखना चाहिये, जो सदा सजग रहकर पहरा देता रहे। भृत्योंके कार्योंको समझकर उनके लिये तदनुकूल जीविकाका प्रबन्ध करना उचित है। राजाको चाहिये कि वह उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कार्योंका विचार करके उनमें ऐसे ही पुरुषोंको नियुक्त करे। पृथ्वीपर विजय चाहनेवाला भूपाल हितैषी सहायकोंका संग्रह करे। धर्मके कार्योंमें धर्मात्मा पुरुषोंको, युद्धमें शूरवीरोंको और धनोपार्जनके कार्योंमें अर्थकुशल व्यक्तियोंको लगावे। इस बातका ध्यान रखे कि सभी कार्योंमें नियुक्त हुए पुरुष शुद्ध आचार-विचार रखनेवाले हों॥ ३—१२॥

स्त्रियोंकी देख-भालमें नपुंसकोंको नियुक्त करे। कठोर कर्मोंमें तीखे स्वभाववाले पुरुषोंको लगावे। तात्पर्य यह कि राजा धर्म-अर्थ अथवा कामके साधनमें जिस पुरुषको जहाँके लिये शुद्ध एवं उपयोगी समझे, उसकी वहीं नियुक्ति करे। निकृष्ट श्रेणीके कामोंमें वैसे ही पुरुषोंको लगावे।

* वह मन्त्री, जिसको दूसरे देशके राजाओंसे सुलहकी बातचीत करने या युद्ध छेड़नेका अधिकार दिया गया हो।

राजाके लिये उचित है कि वह तरह-तरहके उपायोंसे मनुष्योंकी परीक्षा करके उन्हें यथायोग्य कार्योंमें नियोजित करे। मन्त्रीसे सलाह ले, कुछ व्यक्तियोंको यथोचित वृत्ति देकर हाथियोंके जंगलमें तैनात करे तथा उनका पता लगाते रहनेके लिये कई उत्साही अध्यक्षोंको नियुक्त करे। जिसको जिस काममें निपुण देखे, उसको उसीमें लगावे और बाप-दादोंके समयसे चले आते हुए भृत्योंको सभी तरहके कार्योंमें नियुक्त करे। केवल उत्तराधिकारीके कार्योंमें उनकी नियुक्ति नहीं करे; क्योंकि वहाँ वे सब-के-सब एक समान हैं। जो लोग दूसरे राजाके आश्रयसे हटकर अपने पास शरण लेनेकी इच्छासे आवें, वे दुष्ट हों या साधु, उन्हें यत्नपूर्वक आश्रय दे। दुष्ट साबित होनेपर उनका विश्वास न करे और उनकी जीविकावृत्तिको अपने ही अधीन रखे। जो लोग दूसरे देशोंसे अपने पास आये हों, उनके विषयमें गुप्तचरोंद्वारा सभी बातें जानकर उनका यथावत् सत्कार करे। शत्रु, अग्नि, विष, साँप और तलवार एक ओर तथा दुष्ट स्वभाववाले भृत्य दूसरी ओर, इनमें दुष्ट भृत्योंको ही अधिक भयंकर समझना चाहिये। राजाको चारचक्षु होना उचित है। अर्थात् उसे गुप्तचरोंद्वारा सभी बातें देखनी—उनकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। इसलिये वह हमेशा सबकी देख-भालके लिये गुप्तचर तैनात किये रहे। गुप्तचर ऐसे हों, जिन्हें दूसरे लोग पहचानते न हों, जिनका स्वभाव शान्त एवं कोमल हो तथा जो परस्पर एक-दूसरेसे भी अपरिचित हों। उनमें कोई वैश्यके रूपमें हो, कोई मन्त्र-तन्त्रमें कुशल, कोई ज्यौतिषी, कोई वैद्य, कोई संन्यास-वेषधारी और कोई बलाबलका विचार करनेवाले व्यक्तिके रूपमें हो। राजाको चाहिये कि किसी एक गुप्तचरकी बातपर विश्वास न करे। जब बहुतोंके मुखसे एक तरहकी बात सुने, तभी उसे विश्वसनीय समझे। भृत्योंके हृदयमें राजाके प्रति अनुराग है या विरक्ति, किस मनुष्यमें कौन-से गुण तथा अवगुण हैं, कौन शुभचिन्तक हैं और कौन अशुभ चाहनेवाले—अपने भृत्यवर्गको वशमें रखनेके लिये राजाको ये सभी बातें जाननी चाहिये। वह ऐसा कर्म करे, जो प्रजाका अनुराग बढ़ानेवाला हो। जिससे लोगोंके मनमें विरक्ति हो, ऐसा कोई काम न करे। प्रजाका अनुराग बढ़ानेवाली लक्ष्मीसे युक्त राजा ही वास्तवमें राजा है। वह सब लोगोंका रञ्जन करने—उनकी प्रसन्नता बढ़ानेके कारण ही 'राजा' कहलाता है॥ १३—२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजाकी सहायसम्पत्तिका वर्णन' नामक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२०॥

दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय

अनुजीवियोंका राजाके प्रति कर्तव्यका वर्णन

पुष्कर कहते हैं— भृत्यको राजाकी आज्ञाका उसी प्रकार पालन करना चाहिये, जैसे शिष्य गुरुकी और साध्वी स्त्रियाँ अपने पतिकी आज्ञाका पालन करती हैं। राजाकी बातपर कभी आक्षेप न करे, सदा ही उसके अनुकूल और प्रिय वचन बोले। यदि कोई हितकी बात बतानी हो और वह सुननेमें अप्रिय हो तो उसे एकान्तमें राजासे कहना चाहिये। किसी आयके काममें नियुक्त होनेपर राजकीय धनका अपहरण न करे; राजाके सम्मानकी उपेक्षा न करे। उसकी वेश-भूषा और बोल-चालकी नकल करना उचित नहीं है। अन्तःपुरके सेवकोंके अध्यक्षका कर्त्तव्य है कि

वह ऐसे पुरुषोंके साथ न बैठे, जिनका राजाके साथ वैर हो तथा जो राजदरबारसे अपमानपूर्वक निकाले गये हों। भृत्यको राजाकी गुप्त बातोंको दूसरोंपर प्रकट नहीं करना चाहिये। अपनी कोई कुशलता दिखाकर राजाको विशेष सम्मानित एवं प्रसन्न करना चाहिये। यदि राजा कोई गुप्त बात सुनावें तो उसे लोगोंमें प्रकाशित न करे। यदि वे दूसरेको किसी कामके लिये आज्ञा दे रहे हों तो स्वयं ही उठकर कहे—'महाराज! मुझे आदेश दिया जाय, कौन-सा काम करना है, मैं उसे करूँगा।' राजाके दिये हुए वस्त्र-आभूषण तथा रत्न आदिको सदा धारण किये रहे। बिना आज्ञाके दरवाजेपर अथवा और किसी अयोग्य स्थानपर, जहाँ राजाकी दृष्टि पड़ती हो, न बैठे। जँभाई लेना, थूकना, खाँसना, क्रोध प्रकट करना, खाटपर बैठना, भौंहें टेढ़ी करना, अधोवायु छोड़ना तथा डकार लेना आदि कार्य राजाके निकट रहनेपर न करे। उनके सामने अपना गुण प्रकट करनेके लिये दूसरोंको ही युक्तिपूर्वक नियुक्त करे। शठता, लोलुपता, चुगली, नास्तिकता, नीचता तथा चपलता—इन दोषोंका राजसेवकोंको सदा त्याग करना चाहिये। पहले स्वयं प्रयत्न करके अपनेमें वेदविद्या एवं शिल्पकलाकी योग्यताका सम्पादन करे। उसके बाद अपना धन बढ़ानेकी चेष्टा करनेवाले पुरुषको अभ्युदयके लिये राजाकी सेवामें प्रवृत्त होना चाहिये। उनके प्रिय पुत्र एवं मन्त्रियोंको सदा नमस्कार करना उचित है। केवल मन्त्रियोंके साथ रहनेसे राजाका अपने ऊपर विश्वास नहीं होता; अतः उनके हार्दिक अभिप्रायके अनुकूल सदा प्रिय कार्य करे। राजाके स्वभावको समझनेवाले पुरुषके लिये उचित है कि वह विरक्त राजाको त्याग दे और अनुरक्त राजासे ही आजीविका प्राप्त करनेकी चेष्टा करे। बिना पूछे राजाके सामने कोई बात न कहे; किंतु आपत्तिके समय ऐसा करनेमें कोई हर्ज नहीं है। राजा प्रसन्न हो तो वह सेवकके विनययुक्त वचनको मानता है, उसकी प्रार्थनाको स्वीकार करता है। प्रेमी सेवकको किसी रहस्य-स्थान (अन्तःपुर) आदिमें देख ले तो भी उसपर शङ्का-संदेह नहीं करता है। वह दरबारमें आये तो राजा उसकी कुशल पूछता है, उसे बैठनेके लिये आसन देता है। उसकी चर्चा सुनकर वह प्रसन्न होता है। वह कोई अप्रिय बात भी कह दे तो वह बुरा नहीं मानता, उलटे प्रसन्न होता है। उसकी दी हुई छोटी-मोटी वस्तु भी राजा बड़े आदरसे ले लेता है और बातचीतमें उसे याद रखता है। उक्त लक्षणोंसे राजा अनुरक्त है या विरक्त यह जानकर अनुरक्त राजाकी सेवा करे। इसके विपरीत जो विरक्त है, उसका साथ छोड़ दे॥ १—१४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अनुजीविवृत्त-कथन' नामक दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२१॥

दो सौ बाईसवाँ अध्याय

राजाके दुर्ग, कर्तव्य तथा साध्वी स्त्रीके धर्मका वर्णन

पुष्कर कहते हैं— अब मैं दुर्ग बनानेके विषयमें कहूँगा। राजाको दुर्गदेश (दुर्गम प्रदेश अथवा सुदृढ़ एवं विशाल किले)-में निवास करना चाहिये। साथ रहनेवाले मनुष्योंमें वैश्यों और शूद्रोंकी संख्या अधिक होनी चाहिये। दुर्ग ऐसे स्थानमें रहे, जहाँ शत्रुओंका जोर न चल सके। दुर्गमें थोड़े-से ब्राह्मणोंका भी रहना आवश्यक है। राजाके रहनेके लिये वही देश श्रेष्ठ माना गया

है, जहाँ बहुत-से काम करनेवाले लोग (किसान-मजदूर) रहते हों, जहाँ पानीके लिये वर्षाकी राह नहीं देखनी पड़ती हो, नदी-तालाब आदिसे ही पर्याप्त जल प्राप्त होता रहता हो। जहाँ शत्रु पीड़ा न दे सकें, जो फल-फूल और धन-धान्यसे सम्पन्न हो, जहाँ शत्रु-सेनाकी गति न हो सके और सर्प तथा लुटेरोंका भी भय न हो। बलवान् राजाको निम्नाङ्कित छः प्रकारके दुर्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर निवास करना चाहिये। भृगुनन्दन! धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग और पर्वतदुर्ग—ये ही छः[1] प्रकारके दुर्ग हैं। इनमें पर्वतदुर्ग सबसे उत्तम है। वह शत्रुओंके लिये अभेद्य तथा रिपुवर्गका भेदन करनेवाला है। दुर्ग ही राजाका पुर या नगर है। वहाँ हाट-बाजार तथा देवमन्दिर आदिका होना आवश्यक है। जिसके चारों ओर यन्त्र लगे हों, जो अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हो, जहाँ जलका सुपास हो तथा जिसके सब ओर पानीसे भरी खाइयाँ हों, वह दुर्ग उत्तम माना गया है॥ १—६॥

अब मैं राजाकी रक्षाके विषयमें कुछ निवेदन करूँगा—राजा पृथ्वीका पालन करनेवाला है, अतः विष आदिसे उसकी रक्षा करनी चाहिये। शिरीष वृक्षकी जड़, छाल, पत्ता, फूल और फल—इन पाँचों अङ्गोंको गोमूत्रमें पीसकर सेवन करनेसे विषका निवारण होता है। शतावरी, गुडुचि और चौंराई विषका नाश करनेवाली है। कोषातकी (कड़वी तरोई), कह्लारी (करियारी), ब्राह्मी, चित्रपटोलिका (कड़वी परोरी), मण्डूकपर्णी (ब्राह्मीका एक भेद), वाराहीकन्द, आँवला, आनन्दक, भाँग और सोमराजी (बकुची)—ये दवाएँ विष दूर करनेवाली हैं। विषनाशक माणिक्य और मोती आदि रत्न भी विषका निवारण करनेवाले हैं[2]॥ ७—१०॥

राजाको वास्तुके लक्षणोंसे युक्त दुर्गमें रहकर देवताओंका पूजन, प्रजाका पालन, दुष्टोंका दमन तथा दान करना चाहिये। देवताके धन आदिका अपहरण करनेसे राजाको एक कल्पतक नरकमें रहना पड़ता है। उसे देवपूजामें तत्पर रहकर देवमन्दिरोंका निर्माण कराना चाहिये। देवालयोंकी रक्षा और देवताओंकी स्थापना भी राजाका कर्तव्य है। देवविग्रह मिट्टीका भी बनाया जाता है। मिट्टीसे काठका, काठसे ईंटका, ईंटसे पत्थरका और पत्थरसे सोने तथा रत्नका बना हुआ विग्रह पवित्र माना गया है। प्रसन्नतापूर्वक देवमन्दिर बनवानेवाले पुरुषको भोग और मोक्षकी प्राप्ति होती है। देवमन्दिरमें चित्र बनवावे, गाने-बजाने

१. बालूसे भरी हुई मरुभूमिको 'धन्वदुर्ग' कहते हैं। ग्रीष्मकालमें वह शत्रुओंके लिये दुर्गम होता है। जमीनके अन्दर जो निवास करनेयोग्य स्थान बनवाया जाता है, उसे 'महीदुर्ग' कहते हैं। अपने निवास-स्थानके चारों ओर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित भारी सेनाका होना 'नरदुर्ग' कहा गया है। दूरतक घने वृक्षों और पानीसे घिरे हुए प्रदेशों अथवा दुर्गम पर्वतमालाओंसे घिरे हुए स्थानको क्रमशः 'वृक्षदुर्ग', 'जलदुर्ग' एवं 'पर्वतदुर्ग' कहा जाता है।

२. यहाँ लिखी हुई दवाओंका प्रयोग किसी अच्छे वैद्यकी सलाह लिये बिना नहीं करना चाहिये; क्योंकि यहाँ संक्षेपमें औषधोंका नाममात्र बताया गया है। सेवन-विधि आयुर्वेदके अन्य ग्रन्थोंमें देखनी चाहिये। उपर्युक्त दवाओंमें शतावरीकी जड़, गुरुचिकी लत्ती और चौराईकी जड़का विषनिवारणके लिये उपयोग किया जाता है। कोषातकी या कड़वी तरोईका फल, बीज इस कार्यके लिये उपयोगी है। एक वैद्यका कहना है कि कड़वी तरोईका दो बीज पावभर दूधमें अच्छी तरह निचोड़े और उसे छानकर पी ले तो वमन और विरेचन—दोनों होते हैं और तबतक होते रहते हैं, जबतक कि पेटके अंदरका दोष पूर्णरूपसे निकल नहीं जाता। करियारी भी एक प्रकारका विष है और 'विषस्य विषमौषधम्'के अनुसार उपयोगमें लाया जाता है। ब्राह्मीकी गुणकारिता तो प्रसिद्ध ही है। कड़वी परोरीको भी 'त्रिदोषगरनाशनम्' बताया गया है। इस कार्यमें इसका मूल ही ग्राह्य है। वाराहीकन्द संजीवनकारी औषधोंमें गिना गया है। यह अष्टवर्गमें प्रतिनिधि ओषधिके रूपमें गृहीत है। श्री और वृद्धि नामक दवाके स्थानपर इसका उपयोग किया जाता है। विष-निवारणके कार्यमें इसका मूल ग्राह्य है। इसी प्रकार आँवलेका फल, भाँगकी पत्ती और बकुचीके फल विष दूर करनेके लिये उपयोगी होते हैं। विषनाशक रसोंमें मोती और माणिक्य आदिका ग्रहण है। आयुर्वेदोक्त रीतिसे तैयार किया हुआ इनका भस्म विधिपूर्वक सेवन करनेसे लाभकारी होता है।

आदिका प्रबन्ध करे, दर्शनीय वस्तुओंका दान दे तथा तेल, घी, मधु और दूध आदिसे देवताको नहलावे तो मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है। ब्राह्मणोंका पालन और सम्मान करे; उनका धन न छीने। यदि राजा ब्राह्मणका एक सोना, एक गौ अथवा एक अंगुल जमीन भी छीन ले, तो उसे महाप्रलय होनेतक नरकमें डूबे रहना पड़ता है। ब्राह्मण सब प्रकारके पापोंमें प्रवृत्त तथा दुराचारी हो तो भी उससे द्वेष नहीं करना चाहिये। ब्राह्मणकी हत्यासे बढ़कर भारी पाप दूसरा कोई नहीं है। महाभाग ब्राह्मण चाहें तो जो देवता नहीं हैं, उन्हें भी देवता बना दें और देवताको भी देवपदसे नीचे उतार दें; अतः सदा ही उनको नमस्कार करना चाहिये॥ ११—१७ $\frac{१}{२}$ ॥

यदि राजाके अत्याचारसे ब्राह्मणीको रुलाई आ जाय तो वह उसके कुल, राज्य तथा प्रजा—सबका नाश कर डालती है। इसलिये धर्मपरायण राजाको उचित है कि वह साध्वी स्त्रियोंका पालन करे। स्त्रीको घरके काम-काजमें चतुर और प्रसन्न होना चाहिये। वह घरके प्रत्येक सामानको साफ-सुथरा रखे; खर्च करनेमें खुले हाथवाली न हो। कन्याको उसका पिता जिसे दान कर दे, वही उसका पति है। अपने पतिकी उसे सदा सेवा करनी चाहिये। स्वामीकी मृत्यु हो जानेपर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाली स्त्री स्वर्गलोकमें जाती है। वह दूसरेके घरमें रहना पसंद न करे और लड़ाई-झगड़ेसे दूर रहे। जिसका पति परदेशमें हो, वह स्त्री शृङ्गार न करे, सदा अपने स्वामीके हितचिन्तनमें लगी रहकर देवताओंकी आराधना करे। केवल मङ्गलके लिये सौभाग्यचिह्नके रूपमें दो-एक आभूषण धारण किये रहे। जो स्त्री स्वामीके मरनेपर उसके साथ ही चिताकी आगमें प्रवेश कर जाती है, उसे भी स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है। लक्ष्मीकी पूजा और घरकी सफाई आदि रखना गृहिणीका मुख्य कार्य है। कार्तिककी द्वादशीको विष्णुकी पूजा करके बछड़ेसहित गौका दान करना चाहिये। सावित्रीने अपने सदाचार और व्रतके प्रभावसे पतिकी मृत्युसे रक्षा की थी। मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमीको सूर्यकी पूजा करनेसे स्त्रीको पुत्रोंकी प्राप्ति होती है; इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥ १८—२६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दुर्ग-सम्पत्ति-वर्णन तथा नारीधर्मका कथन' नामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२२॥

दो सौ तेईसवाँ अध्याय

राष्ट्रकी रक्षा तथा प्रजासे कर लेने आदिके विषयमें विचार

पुष्कर कहते हैं— (राज्यका प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिये—) राजाको प्रत्येक गाँवका एक-एक अधिपति नियुक्त करना चाहिये। फिर दस-दस गाँवोंका तथा सौ-सौ गाँवोंका अध्यक्ष नियुक्त करे। सबके ऊपर एक ऐसे पुरुषको नियुक्त करे, जो समूचे राष्ट्रका शासन कर सके। उन सबके कार्योंके अनुसार उनके लिये पृथक्-पृथक् भोग (भरण-पोषणके लिये वेतन आदि)-का विभाजन करना चाहिये तथा प्रतिदिन गुप्तचरोंके द्वारा उनके कार्योंकी देख-भाल एवं परीक्षण करते रहना चाहिये। यदि गाँवमें कोई दोष उत्पन्न हो—कोई मामला खड़ा हो तो ग्रामाधिपतिको उसे शान्त करना चाहिये। यदि वह उस दोषको दूर करनेमें असमर्थ हो जाय तो दस गाँवोंके अधिपतिके पास जाकर उनसे सब बातें बतावे। पूरी रिपोर्ट सुनकर वह दस गाँवका स्वामी उस

दोषको मिटानेका उपाय करे॥ १—३ $\frac{1}{2}$ ॥

जब राष्ट्र भलीभाँति सुरक्षित होता है, तभी राजाको उससे धन आदिकी प्राप्ति होती है। धनवान् धर्मका उपार्जन करता है, धनवान् ही कामसुखका उपभोग करता है। जैसे गर्मीमें नदीका पानी सूख जाता है, उसी प्रकार धनके बिना सब कार्य चौपट हो जाते हैं। संसारमें पतित और निर्धन मनुष्योंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। लोग पतित मनुष्यके हाथसे कोई वस्तु नहीं लेते और दरिद्र अपने अभावके कारण स्वयं ही नहीं दे पाता। धनहीनकी स्त्री भी उसकी आज्ञाके अधीन नहीं रहती; अतः राष्ट्रको पीड़ा पहुँचानेवाला—उसे कंगाल बनानेवाला राजा अधिक कालतक नरकमें निवास करता है। जैसे गर्भवती पत्नी अपने सुखका खयाल छोड़कर गर्भके बच्चेको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करती है, उसी प्रकार राजाको भी सदा प्रजाकी रक्षाका ध्यान रखना चाहिये। जिसकी प्रजा सुरक्षित नहीं है, उस राजाके यज्ञ और तपसे क्या लाभ? जिसने प्रजाकी भलीभाँति रक्षा की है, उसके लिये स्वर्गलोक अपने घरके समान हो जाता है। जिसकी प्रजा अरक्षित-अवस्थामें कष्ट उठाती है, उस राजाका निवासस्थान है—नरक। राजा अपनी प्रजाके पुण्य और पापमेंसे भी छठा भाग ग्रहण करता है। रक्षा करनेसे उसको प्रजाके धर्मका अंश प्राप्त होता है और रक्षा न करनेसे वह लोगोंके पापका भागी होता है। जैसे परस्त्रीलम्पट दुराचारी पुरुषोंसे डरी हुई पतिव्रता स्त्रीकी रक्षा करना धर्म है, उसी प्रकार राजाके प्रिय व्यक्तियों, चोरों और विशेषतः राजकीय कर्मचारियोंके द्वारा चूसी जाती हुई प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये। उनके भयसे रक्षित होनेपर प्रजा राजाके काम आती है। यदि उसकी रक्षा नहीं की गयी तो वह पूर्वोक्त मनुष्योंका ही ग्रास बन जाती है। इसलिये राजा दुष्टोंका दमन करे और शास्त्रमें बताये अनुसार प्रजासे कर ले। राज्यकी आधी आय सदा खजानेमें रख दिया करे और आधा ब्राह्मणको दे दे। श्रेष्ठ ब्राह्मण उस निधिको पाकर सब-का-सब अपने हाथमें ले ले और उसमेंसे चौथा, आठवाँ तथा सोलहवाँ भाग निकालकर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दे। धनको धर्मके अनुसार सुपात्रके हाथमें ही देना चाहिये। झूठ बोलनेवाले मनुष्यको दण्ड देना उचित है। राजा उसके धनका आठवाँ भाग दण्डके रूपमें ले ले। जिस धनका स्वामी लापता हो, उसे राजा तीन वर्षोंतक अपने अधिकारमें रखे। तीन वर्षके पहले यदि धनका स्वामी आ जाय तो वह उसे ले सकता है। उससे अधिक समय बीत जानेपर राजा स्वयं ही उस धनको ले ले। जो मनुष्य (नियत समयके भीतर आकर) 'यह मेरा धन है'—ऐसा कहकर उसका अपनेसे सम्बन्ध बतलाता है, वह विधिपूर्वक (राजाके सामने जाकर) उस धनका रूप और उसकी संख्या बतलावे। इस प्रकार अपनेको स्वामी सिद्ध कर देनेपर वह उस धनको पानेका अधिकारी होता है। जो धन छोटे बालकके हिस्सेका हो, उसकी राजा तबतक रक्षा करता रहे, जबतक कि उसका समावर्तन-संस्कार न हो जाय, अथवा जबतक उसकी बाल्यावस्था न निवृत्त हो जाय। इसी प्रकार जिनके कुलमें कोई न हो और उनके बच्चे छोटे हों, ऐसी स्त्रियोंकी भी रक्षा आवश्यक है॥ ४—१९॥

पतिव्रता स्त्रियाँ भी यदि विधवा तथा रोगिणी हों तो उनकी रक्षा भी इसी प्रकार करनी चाहिये। यदि उनके जीते-जी कोई बन्धु-बान्धव उनके धनका अपहरण करें तो धर्मात्मा राजाको उचित है कि उन बान्धवोंको चोरका दण्ड दे। यदि साधारण चोरोंने प्रजाका धन चुराया हो तो राजा स्वयं उतना धन प्रजाको दे तथा जिन्हें

चोरोंसे रक्षा करनेका काम सौंपा गया हो, उनसे चुराया हुआ धन राजा वसूल करे। जो मनुष्य चोरी न होनेपर भी अपने धनको चुराया हुआ बताता हो, वह दण्डनीय है; उसे राज्यसे बाहर निकाल देना चाहिये। यदि घरका धन घरवालोंने ही चुराया हो तो राजा अपने पाससे उसको न दे। अपने राज्यके भीतर जितनी दूकानें हों, उनसे उनकी आयका बीसवाँ हिस्सा राजाको टैक्सके रूपमें लेना चाहिये। परदेशसे माल मँगानेमें जो खर्च और नुकसान बैठता हो, उसका ब्यौरा बतानेवाला बीजक देखकर तथा मालपर दिये जानेवाले टैक्सका विचार करके प्रत्येक व्यापारीपर कर लगाना चाहिये, जिससे उसको लाभ होता रहे—वह घाटेमें न पड़े। आयका बीसवाँ भाग ही राजाको लेना चाहिये। यदि कोई राजकर्मचारी इससे अधिक वसूल करता हो तो उसे दण्ड देना उचित है। स्त्रियों और साधु-संन्यासियोंसे नावकी उतराई (सेवा) नहीं लेनी चाहिये। यदि मल्लाहोंकी गलतीसे नावपर कोई चीज नुकसान हो जाय तो वह मल्लाहोंसे ही दिलानी चाहिये। राजा शूकधान्यका[1] छठा भाग और शिम्बिधान्यका[2] आठवाँ भाग करके रूपमें ग्रहण करे। इसी प्रकार जंगली फल-मूल आदिमेंसे देश-कालके अनुरूप उचित कर लेना चाहिये। पशुओंका पाँचवाँ और सुवर्णका छठा भाग राजाके लिये ग्राह्य है। गन्ध, ओषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, बाँस, वेणु, चर्म, बाँसको चीरकर बनाये हुए टोकरे तथा पत्थरके बर्तनोंपर और मधु, मांस एवं घीपर भी आमदनीका छठा भाग ही कर लेना उचित है॥ २०—२९॥

ब्राह्मणोंसे कोई प्रिय वस्तु अथवा कर नहीं लेना चाहिये। जिस राजाके राज्यमें श्रोत्रिय ब्राह्मण भूखसे कष्ट पाता है, उसका राज्य बीमारी, अकाल और लुटेरोंसे पीड़ित होता रहता है। अत: ब्राह्मणकी विद्या और आचरणको जानकर उसके लिये अनुकूल जीविकाका प्रबन्ध करे तथा जैसे पिता अपने औरस पुत्रका पालन करता है, उसी प्रकार राजा विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणकी सर्वथा रक्षा करे। जो राजासे सुरक्षित होकर प्रतिदिन धर्मका अनुष्ठान करता है, उस ब्राह्मणके धर्मसे राजाकी आयु बढ़ती है तथा उसके राष्ट्र एवं खजानेकी भी उन्नति होती है। शिल्पकारोंको चाहिये कि महीनेमें एक दिन बिना पारिश्रमिक लिये केवल भोजन स्वीकार करके राजाका काम करें। इसी प्रकार दूसरे लोगोंको भी, जो राज्यमें रहकर अपने शरीरके परिश्रमसे जीविका चलाते हैं, महीनेमें एक दिन राजाका काम करना चाहिये॥ ३०—३४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मका कथन' नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२३॥

दो सौ चौबीसवाँ अध्याय

अन्त:पुरके सम्बन्धमें राजाके कर्त्तव्य; स्त्रीकी विरक्ति और अनुरक्तिकी परीक्षा तथा सुगन्धित पदार्थोंके सेवनका प्रकार

पुष्कर कहते हैं— अब मैं अन्त:पुरके विषयमें विचार करूँगा। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन पुरुषार्थ 'त्रिवर्ग' कहलाते हैं। इनकी एक-दूसरेके द्वारा रक्षा करते हुए स्त्रीसहित राजाओंको इनका

१. 'शूकधान्य' वह अन्न है, जिसके दाने बालों या सीकोंसे लगते हैं—जैसे गेहूँ, जौ आदि।

२. वह अन्न, जिसके पौधेमें फली (छीमी) लगती हो—जैसे चना, मटर आदि।

सेवन करना चाहिये। 'त्रिवर्ग' एक महान् वृक्षके समान है। 'धर्म' उसकी जड़, 'अर्थ' उसकी शाखाएँ और 'काम' उसका फल है। मूलसहित उस वृक्षकी रक्षा करनेसे ही राजा फलका भागी हो सकता है। राम! स्त्रियाँ कामके अधीन होती हैं, उन्हींके लिये रत्नोंका संग्रह होता है। विषयसुखकी इच्छा रखनेवाले राजाको स्त्रियोंका सेवन करना चाहिये, परंतु अधिक मात्रामें नहीं। आहार, मैथुन और निद्रा—इनका अधिक सेवन निषिद्ध है; क्योंकि इनसे रोग उत्पन्न होता है। उन्हीं स्त्रियोंका सेवन करे अथवा पलंगपर बैठावे, जो अपनेमें अनुराग रखनेवाली हों। परंतु जिस स्त्रीका आचरण दुष्ट हो, जो अपने स्वामीकी चर्चा भी पसंद नहीं करती, बल्कि उनके शत्रुओंसे एकता स्थापित करती है, उद्दण्डतापूर्वक गर्व धारण किये रहती है, चुम्बन करनेपर अपना मुँह पोंछती या धोती है, स्वामीकी दी हुई वस्तुका अधिक आदर नहीं करती, पतिके पहले सोती है, पहले सोकर भी उनके जागनेके बाद ही जागती है, जो स्पर्श करनेपर अपने शरीरको कँपाने लगती है, एक-एक अङ्गपर अवरोध उपस्थित करती है, उनके प्रिय वचनको भी बहुत कम सुनती है और सदा उनसे पराङ्मुख रहती है, सामने जाकर कोई वस्तु दी जाय, तो उसपर दृष्टि नहीं डालती, अपने जघन (कटिके अग्रभाग)-को अत्यन्त छिपाने—पतिके स्पर्शसे बचानेकी चेष्टा करती है, स्वामीको देखते ही जिसका मुँह उतर जाता है, जो उनके मित्रोंसे भी विमुख रहती है, वे जिन-जिन स्त्रियोंके प्रति अनुराग रखते हैं, उन सबकी ओरसे जो मध्यस्थ (न अनुरक्त न विरक्त) दिखायी देती है तथा जो शृङ्गारका समय उपस्थित जानकर भी शृङ्गार-धारण नहीं करती, वह स्त्री 'विरक्त' है। उसका परित्याग करके अनुरागिणी स्त्रीका सेवन करना चाहिये। अनुरागवती स्त्री स्वामीको देखते ही प्रसन्नतासे खिल उठती है, दूसरी ओर मुख किये होनेपर भी कनखियोंसे उनकी ओर देखा करती है, स्वामीको निहारते देख अपनी चञ्चल दृष्टि अन्यत्र हटा ले जाती है, परंतु पूरी तरह हटा नहीं पाती तथा भृगुनन्दन! अपने गुप्त अङ्गोंको भी वह कभी-कभी व्यक्त कर देती है और शरीरका जो अंश सुन्दर नहीं है, उसे प्रयत्नपूर्वक छिपाया करती है, स्वामीके देखते-देखते छोटे बच्चेका आलिङ्गन और चुम्बन करने लगती है, बातचीतमें भाग लेती और सत्य बोलती है, स्वामीका स्पर्श पाकर जिसके अंगोंमें रोमाञ्च और स्वेद प्रकट हो जाते हैं, जो उनसे अत्यन्त सुलभ वस्तु ही माँगती है और स्वामीसे थोड़ा पाकर भी अधिक प्रसन्नता प्रकट करती है, उनका नाम लेते ही आनन्दविभोर हो जाती तथा विशेष आदर करती है, स्वामीके पास अपनी अंगुलियोंके चिह्नसे युक्त फल भेजा करती है तथा स्वामीकी भेजी हुई कोई वस्तु पाकर उसे आदरपूर्वक छातीसे लगा लेती है, अपने आलिंगनोंद्वारा मानो स्वामीके शरीरपर अमृतका लेप कर देती है, स्वामीके सो जानेपर सोती और पहले ही जग जाती है तथा स्वामीके ऊरुओंका स्पर्श करके उन्हें सोतेसे जगाती है॥ १—१७ $\frac{१}{२}$ ॥

राम! दहीकी मलाईके साथ थोड़ा-सा कपित्थ (कैथ)-का चूर्ण मिला देनेसे जो घी तैयार होता है, उसकी गन्ध उत्तम होती है। घी, दूध आदिके साथ जौ, गेहूँ आदिके आटेका मेल होनेसे उत्तम खाद्य-पदार्थ तैयार होता है। अब भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें गन्ध छोड़नेका प्रकार दिखलाया जाता है। शौच, आचमन, विरेचन, भावना, पाक, बोधन, धूपन और वासन—ये आठ प्रकारके कर्म बतलाये गये हैं। कपित्थ, बिल्व, जामुन, आम और करवीरके पल्लवोंसे जलको शुद्ध करके उसके द्वारा जो किसी द्रव्यको धोकर या अभिषिक्त करके पवित्र किया जाता है, वह उस द्रव्यका 'शौचन' (शोधन अथवा पवित्रीकरण) कहलाता

है। इन पल्लवोंके अभावमें कस्तूरीमिश्रित जलके द्वारा द्रव्योंकी शुद्धि होती है। नख, कूट, घन (नागरमोथा), जटामांसी, स्पृक्क, शैलेयज (शिलाजीत), जल, कुमकुम (केसर), लाक्षा (लाह), चन्दन, अगुरु, नीरद, सरल, देवदारु, कपूर, कान्ता, वाल (सुगन्धबाला), कुन्दुरुक, गुग्गुल, श्रीनिवास और करायल—ये धूपके इक्कीस द्रव्य हैं। इन इक्कीस धूप-द्रव्योंमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार दो-दो द्रव्य लेकर उनमें करायल मिलावे। फिर सबमें नख (एक प्रकारका सुगन्धद्रव्य), पिण्याक (तिलकी खली) और मलय-चन्दनका चूर्ण मिलाकर सबको मधुसे युक्त करे। इस प्रकार अपने इच्छानुसार विधिवत् तैयार किये हुए धूपयोग होते हैं। त्वचा (छाल), नाड़ी (डंठल), फल, तिलका तेल, केसर, ग्रन्थिपर्वा, शैलेय, तगर, विष्णुक्रान्ता, चोल, कर्पूर, जटामांसी, मुरा, कूट—ये सब स्नानके लिये उपयोगी द्रव्य हैं। इन द्रव्योंमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार तीन द्रव्य लेकर उनमें कस्तूरी मिला दे। इन सबसे मिश्रित जलके द्वारा यदि स्नान करे तो वह कामदेवको बढ़ानेवाला होता है। त्वचा, मुरा, नलद—इन सबको समान मात्रामें लेकर इनमें आधा सुगन्धबाला मिला दे। फिर इनके द्वारा स्नान करनेपर शरीरसे कमलकी-सी गन्ध उत्पन्न होती है। इनके ऊपर यदि तेल लगाकर स्नान करे तो शरीरका रंग कुमकुमके समान हो जाता है। यदि उपर्युक्त द्रव्योंमें आधा तगर मिला दिया जाय तो शरीरसे चमेलीके फूलकी भाँति सुगन्ध आती है। उनमें द्व्यामक नामवाली औषध मिला देनेसे मौलसिरीके फूलोंकी-सी मनोहारिणी सुगन्ध प्रकट होती है। तिलके तेलमें मंजिष्ठ, तगर, चोल, त्वचा, व्याघ्रनख, नख और गन्धपत्र छोड़ देनेसे बहुत ही सुन्दर और सुगन्धित तेल तैयार हो जाता है। यदि तिलोंको सुगन्धित फूलोंसे वासित करके उनका तेल पेरा जाय तो निश्चय ही वह तेल फूलके समान ही सुगन्धित होता है। इलायची, लवंग, काकोल (कबाबचीनी), जायफल और कर्पूर—ये स्वतन्त्ररूपसे एक-एक भी यदि जायफलकी पत्तीके साथ खाये जायँ तो मुँहको सुगन्धित रखनेवाले होते हैं। कर्पूर, केसर, कान्ता, कस्तूरी, मेउड़का फल, कबाबचीनी, इलायची, लवंग, जायफल, सुपारी, त्वक्पत्र, त्रुटि (छोटी इलायची), मोथा, लता, कस्तूरी, लवंगके काँटे, जायफलके फल और पत्ते, कटुकफल—इन सबको एक-एक पैसेभर एकत्रित करके इनका चूर्ण बना ले और उसमें चौथाई भाग वासित किया हुआ खैरसार मिलावे। फिर आमके रसमें घोटकर इनकी सुन्दर-सुन्दर गोलियाँ बना ले। वे सुगन्धित गोलियाँ मुँहमें रखनेपर मुख-सम्बन्धी रोगोंका विनाश करनेवाली होती है। पूर्वोक्त पाँच पल्लवोंके जलसे धोयी हुई सुपारीको यथाशक्ति ऊपर बतायी हुई गोलीके द्रव्योंसे वासित कर दिया जाय तो वह मुँहको सुगन्धित रखनेवाली होती है। कटुक और दाँतनको यदि तीन दिनतक गोमूत्रमें भिगोकर रखा जाय तो वे सुपारीकी ही भाँति मुँहमें सुगन्ध उत्पन्न करनेवाले होते हैं। त्वचा और जंगी हर्रेको बराबर मात्रामें लेकर उनमें आधा भाग कर्पूर मिला दे तो वे मुँहमें डालनेपर पानके समान मनोहर गन्ध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार राजा अपने सुगन्ध आदि गुणोंसे स्त्रियोंको वशीभूत करके सदा उनकी रक्षा करे। कभी उनपर विश्वास न करे। विशेषतः पुत्रकी मातापर तो बिलकुल विश्वास न करे। सारी रात स्त्रीके घरमें न सोवे; क्योंकि उनका दिलाया हुआ विश्वास बनावटी होता है॥ १८—४२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मका कथन' नामक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२४॥

दो सौ पचीसवाँ अध्याय

राज-धर्म—राजपुत्र-रक्षण आदि

पुष्कर कहते हैं—राजाको अपने पुत्रकी रक्षा करनी चाहिये तथा उसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और धनुर्वेदकी शिक्षा देनी चाहिये। साथ ही अनेक प्रकारके शिल्पोंकी शिक्षा देनी भी आवश्यक है। शिक्षक विश्वसनीय और प्रिय वचन बोलनेवाले होने चाहिये। राजकुमारकी शरीर-रक्षाके लिये कुछ रक्षकोंको नियुक्त करना भी आवश्यक है। क्रोधी, लोभी तथा अपमानित पुरुषोंके संगसे उसको दूर रखना चाहिये। गुणोंका आधान करना सहज नहीं होता, अतः इसके लिये राजकुमारको सुखोंसे बाँधना चाहिये। जब पुत्र शिक्षित हो जाय तो उसे सभी अधिकारोंमें नियुक्त करे। मृगया, मद्यपान और जुआ—ये राज्यका नाश करनेवाले दोष हैं। राजा इनका परित्याग करे॥ १—४॥

दिनका सोना, व्यर्थ घूमना और कटुभाषण करना छोड़ दे। परायी निन्दा, कठोर दण्ड और अर्थदूषणका भी परित्याग करे। सुवर्ण आदिकी खानोंका विनाश और दुर्ग आदिकी मरम्मत न कराना—ये अर्थके दूषण कहे गये हैं। धनको थोड़ा-थोड़ा करके अनेकों स्थानोंपर रखना, अयोग्य देश और अयोग्य कालमें अपात्रको दान देना तथा बुरे कामोंमें धन लगाना—यह सब भी अर्थका दूषण (धनका दुरुपयोग) है। काम, क्रोध, मद, मान, लोभ और दर्पका त्याग करे। तत्पश्चात् भृत्योंको जीतकर नगर और देशके लोगोंको वशमें करे। इसके बाद बाह्यशत्रुओंको जीतनेका प्रयत्न करे। बाह्यशत्रु भी तीन प्रकारके होते हैं—एक तो वे हैं, जिनके साथ पुस्तैनी दुश्मनी हो; दूसरे प्रकारके शत्रु हैं—अपने राज्यकी सीमापर रहनेवाले सामन्त तथा तीसरे हैं—कृत्रिम—अपने बनाये हुए शत्रु। इनमें पूर्व-पूर्व शत्रु गुरु (भारी या अधिक भयानक) हैं। महाभाग! मित्र भी तीन प्रकारके बतलाये जाते हैं—बाप-दादोंके समयके मित्र, शत्रुके सामन्त तथा कृत्रिम॥ ५—१०॥

धर्मज्ञ परशुरामजी! राजा, मन्त्री, जनपद, दुर्ग, दण्ड (सेना), कोष और मित्र—ये राज्यके सात अंग कहलाते हैं। राज्यकी जड़ है—स्वामी (राजा), अतः उसकी विशेषरूपसे रक्षा होनी चाहिये। राज्याङ्गके विद्रोहीको मार डालना उचित है। राजाको समयानुसार कठोर भी होना चाहिये और कोमल भी। ऐसा करनेसे राजाके दोनों लोक सुधरते हैं। राजा अपने भृत्योंके साथ हँसी-परिहास न करे; क्योंकि सबके साथ हँस-हँसकर बातें करनेवाले राजाको उसके सेवक अपमानित कर बैठते हैं। लोगोंको मिलाये रखनेके लिये राजाको बनावटी व्यसन भी रखना चाहिये। वह मुसकाकर बोले और ऐसा बर्ताव करे, जिससे सब लोग प्रसन्न रहें। दीर्घसूत्री (कार्यारम्भमें विलम्ब करनेवाले) राजाके कार्यकी अवश्य हानि होती है, परंतु राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापकर्म तथा अप्रिय भाषणमें दीर्घसूत्री (विलम्ब लगानेवाले) राजाकी प्रशंसा होती है। राजाको अपनी मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिये। उसके गुप्त रहनेसे राजापर कोई आपत्ति नहीं आती॥ ११—१६॥

राजाका राज्य-सम्बन्धी कोई कार्य पूरा हो जानेपर ही दूसरोंको मालूम होना चाहिये। उसका प्रारम्भ कोई भी जानने न पावे। मनुष्यके आकार, इशारे, चाल-ढाल, चेष्टा, बातचीत तथा नेत्र और मुखके विकारोंसे उसके भीतरकी बात पकड़में आ जाती है। राजा न तो अकेले ही किसी गुप्त विषयपर विचार करे और न अधिक मनुष्योंको ही साथ रखे। बहुतोंसे सलाह अवश्य ले, किंतु अलग-अलग। (सबको एक साथ

बुलाकर नहीं।) मन्त्रीको चाहिये कि राजाके गुप्त विचारको दूसरे मन्त्रियोंपर भी न प्रकट करे। मनुष्योंका सदा कहीं, किसी एकपर ही विश्वास जमता है, इसलिये एक ही विद्वान् मन्त्रीके साथ बैठकर राजाको गुप्त मन्त्रका निश्चय करना चाहिये। विनयका त्याग करनेसे राजाका नाश हो जाता है और विनयकी रक्षासे उसे राज्यकी प्राप्ति होती है। तीनों वेदोंके विद्वानोंसे त्रयीविद्या, सनातन दण्डनीति, आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) तथा अर्थशास्त्रका ज्ञान प्राप्त करे। साथ ही वार्ता (कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य आदि)-के प्रारम्भ करनेका ज्ञान लोकसे प्राप्त करे। अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला राजा ही प्रजाको अधीन रखनेमें समर्थ होता है। देवताओं और समस्त ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये तथा उन्हें दान भी देना चाहिये। ब्राह्मणको दिया हुआ दान अक्षय निधि है; उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। संग्राममें पीठ न दिखाना, प्रजाका पालन करना और ब्राह्मणोंको दान देना—ये राजाके लिये परम कल्याणकी बातें हैं। दीनों, अनाथों, वृद्धों तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेमका निर्वाह तथा उनके लिये आजीविकाका प्रबन्ध करे। वर्ण और आश्रम-धर्मकी रक्षा तथा तपस्वियोंका सत्कार राजाका कर्त्तव्य है। राजा कहीं भी विश्वास न करे, किंतु तपस्वियोंपर अवश्य विश्वास करे। उसे यथार्थ युक्तियोंके द्वारा दूसरोंपर अपना विश्वास जमा लेना चाहिये। राजा बगुलेकी भाँति अपने स्वार्थका विचार करे और (अवसर पानेपर) सिंहके समान पराक्रम दिखावे। भेड़ियेकी तरह झपटकर शत्रुको विदीर्ण कर डाले, खरगोशकी भाँति छलाँगें भरते हुए अदृश्य हो जाय और सूअरकी भाँति दृढ़तापूर्वक प्रहार करे। राजा मोरकी भाँति विचित्र आकार धारण करे, घोड़ेके समान दृढ़ भक्ति रखनेवाला हो और कोयलकी तरह मीठे वचन बोले। कौएकी तरह सबसे चौकन्ना रहे; रातमें ऐसे स्थानपर रहे, जो दूसरोंको मालूम न हो; जाँच या परख किये बिना भोजन और शय्याको ग्रहण न करे। अपरिचित स्त्रीके साथ समागम न करे; बेजान-पहचानकी नावपर न चढ़े। अपने राष्ट्रकी प्रजाको चूसनेवाला राजा राज्य और जीवन—दोनोंसे हाथ धो बैठता है। महाभाग! जैसे पाला हुआ बछड़ा बलवान् होनेपर काम करनेके योग्य होता है, उसी प्रकार सुरक्षित राष्ट्र राजाके काम आता है। यह सारा कर्म दैव और पुरुषार्थके अधीन है। इनमें दैव तो अचिन्त्य है, किंतु पुरुषार्थमें कार्य करनेकी शक्ति है। राजाके राज्य, पृथ्वी तथा लक्ष्मीकी उत्पत्तिका एकमात्र कारण है—प्रजाका अनुराग। (अतः राजाको चाहिये कि वह सदा प्रजाको संतुष्ट रखे।) ॥ १७—३३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मका कथन' नामक
दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२५॥

दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय

पुरुषार्थकी प्रशंसा; साम आदि उपायोंका प्रयोग तथा राजाकी विविध देवरूपताका प्रतिपादन

पुष्कर कहते हैं— परशुरामजी! दूसरे शरीरसे उपार्जित किये हुए अपने ही कर्मका नाम 'दैव' समझिये। इसलिये मेधावी पुरुष पुरुषार्थको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। दैव प्रतिकूल हो तो उसका पुरुषार्थसे निवारण किया जा सकता है तथा पहलेके सात्त्विक कर्मसे पुरुषार्थके बिना भी

सिद्धि प्राप्त हो सकती है। भृगुनन्दन! पुरुषार्थ ही दैवकी सहायतासे समयपर फल देता है। दैव और पुरुषार्थ—ये दोनों मनुष्यको फल देनेवाले हैं। पुरुषार्थद्वारा की हुई कृषिसे वर्षाका योग प्राप्त होनेपर समयानुसार फलकी प्राप्ति होती है। अत: धर्मानुष्ठानपूर्वक पुरुषार्थ करे; आलसी न बने और दैवका भरोसा करके बैठा न रहे॥ १—४॥

साम आदि उपायोंसे आरम्भ किये हुए सभी कार्य सिद्ध होते हैं। साम, दान, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल—ये सात उपाय बतलाये गये हैं। इनका परिचय सुनिये। तथ्य और अतथ्य—दो प्रकारका 'साम' कहा गया है। उनमें 'अतथ्य साम' साधु पुरुषोंके लिये कलंकका ही कारण होता है। अच्छे कुलमें उत्पन्न, सरल, धर्मपरायण और जितेन्द्रिय पुरुष सामसे ही वशमें होते हैं। अतथ्य सामके द्वारा तो राक्षस भी वशीभूत हो जाते हैं। उनके किये हुए उपकारोंका वर्णन भी उन्हें वशमें करनेका अच्छा उपाय है। जो लोग आपसमें द्वेष रखनेवाले तथा कुपित, भयभीत एवं अपमानित हैं, उनमें भेदनीतिका प्रयोग करे और उन्हें अत्यन्त भय दिखावे। अपनी ओरसे उन्हें आशा दिखावे तथा जिस दोषसे वे दूसरे लोग डरते हों, उसीको प्रकट करके उनमें भेद डाले। शत्रुके कुटुम्बमें भेद डालनेवाले पुरुषकी रक्षा करनी चाहिये। सामन्तका क्रोध बाहरी कोप है तथा मन्त्री, अमात्य और पुत्र आदिका क्रोध भीतरी क्रोधके अन्तर्गत है; अत: पहले भीतरी कोपको शान्त करके सामन्त आदि शत्रुओंके बाह्य कोपको जीतनेका प्रयत्न करे॥ ५—११॥

सभी उपायोंमें 'दान' श्रेष्ठ माना गया है। दानसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सफलता प्राप्त होती है। ऐसा कोई भी नहीं है, जो दानसे वशमें न हो जाता हो। दानी मनुष्य ही परस्पर सुसंगठित रहनेवाले लोगोंमें भी भेद डाल सकता है। साम, दान और भेद—इन तीनोंसे जो कार्य न सिद्ध हो सके, उसे 'दण्ड'के द्वारा सिद्ध करना चाहिये। दण्डमें सब कुछ स्थित है। दण्डका अनुचित प्रयोग अपना ही नाश कर डालता है। जो दण्डके योग्य नहीं हैं, उनको दण्ड देनेवाला, तथा जो दण्डनीय हैं, उनको दण्ड न देनेवाला राजा नष्ट हो जाता है। यदि राजा दण्डके द्वारा सबकी रक्षा न करे तो देवता, दैत्य, नाग, मनुष्य, सिद्ध, भूत और पक्षी—ये सभी अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर जायँ। चूँकि यह उद्दण्ड पुरुषोंका दमन करता और अदण्डनीय पुरुषोंको दण्ड देता है, इसलिये दमन और दण्डके कारण विद्वान् पुरुष इसे 'दण्ड' कहते हैं॥ १२—१६॥

जब राजा अपने तेजसे इस प्रकार तप रहा हो कि उसकी ओर देखना कठिन हो जाय, तब वह 'सूर्यवत्' होता है। जब वह दर्शन देनेमात्रसे जगत्को प्रसन्न करता है, तब 'चन्द्रतुल्य' माना जाता है। राजा अपने गुप्तचरोंके द्वारा समस्त संसारमें व्याप्त रहता है, इसलिये वह 'वायुरूप' है तथा दोष देखकर दण्ड देनेके कारण 'सर्वसमर्थ यमराज' के समान माना गया है। जिस समय वह खोटी बुद्धिवाले दुष्टजनको अपने कोपसे दग्ध करता है, उस समय साक्षात् 'अग्निदेव'का रूप होता है तथा जब ब्राह्मणोंको दान देता है, उस समय उस दानके कारण वह धनाध्यक्ष 'कुबेर-तुल्य' हो जाता है। देवता आदिके निमित्त घृत आदि हविष्यकी घनी धारा बरसानेके कारण वह 'वरुण' माना गया है। भूपाल अपने 'क्षमा' नामक गुणसे जब सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है, उस समय 'पृथ्वीका स्वरूप' जान पड़ता है तथा उत्साह, मन्त्र और प्रभुशक्ति आदिके द्वारा वह सबका पालन करता है, इसलिये साक्षात् 'भगवान् विष्णु'का स्वरूप है॥ १७—२०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सामादि उपायोंका कथन' नामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२६॥

दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय

अपराधोंके अनुसार दण्डके प्रयोग

पुष्कर कहते हैं— राम! अब मैं दण्डनीतिका प्रयोग बतलाऊँगा, जिससे राजाको उत्तम गति प्राप्त होती है। तीन जौका एक 'कृष्णल' समझना चाहिये, पाँच कृष्णलका एक 'माष' होता है, साठ कृष्णल (अथवा बारह माष) 'आधे कर्ष'के बराबर बताये गये हैं। सोलह माषका एक 'सुवर्ण' माना गया है। चार सुवर्णका एक 'निष्क' और दस निष्कका एक 'धरण' होता है। यह ताँबे, चाँदी और सोनेका मान बताया गया है॥ १—३॥

परशुरामजी! ताँबेका जो 'कर्ष' होता है, उसे विद्वानोंने 'कार्षिक' और 'कार्षापण' नाम दिया है। ढाई सौ पण (पैसे) 'प्रथम साहस' दण्ड माना गया है, पाँच सौ पण 'मध्यम साहस' और एक हजार पण 'उत्तम साहस' दण्ड बताया गया है। चोरोंके द्वारा जिसके धनकी चोरी नहीं हुई है तो भी जो चोरीका धन वापस देनेवाले राजाके पास जाकर झूठ ही यह कहता है कि 'मेरा इतना धन चुराया गया है', उसके कथनकी असत्यता सिद्ध होनेपर उससे उतना ही धन दण्डके रूपमें वसूल करना चाहिये। जो मनुष्य चोरीमें गये हुए धनके विपरीत जितना धन बतलाता है, अथवा जो जितना झूठ बोलता है—उन दोनोंसे राजाको दण्डके रूपमें दूना धन वसूल करना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही धर्मको नहीं जानते। झूठी गवाही देनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंको कठोर दण्ड देना चाहिये; किंतु ब्राह्मणको केवल राज्यसे बाहर कर देना उचित है। उसके लिये दूसरे किसी दण्डका विधान नहीं है। धर्मज्ञ! जिसने धरोहर हड़प ली हो, उसपर धरोहरके रूपमें रखे हुए वस्त्र आदिकी कीमतके बराबर दण्ड लगाना चाहिये; ऐसा करनेसे धर्मकी हानि नहीं होती। जो धरोहरको नष्ट करा देता है, अथवा जो धरोहर रखे बिना ही किसीसे कोई वस्तु माँगता है—उन दोनोंको चोरके समान दण्ड देना चाहिये; या उनसे दूना जुर्माना वसूल करना चाहिये। यदि कोई पुरुष अनजानमें दूसरेका धन बेच देता है तो वह (भूल स्वीकार करनेपर) निर्दोष माना गया है; परंतु जो जान-बूझकर अपना बताते हुए दूसरेका सामान बेचता है, वह चोरके समान दण्ड पानेका अधिकारी है। जो अग्रिम मूल्य लेकर भी अपने हाथका काम बनाकर न दे, वह भी दण्ड देनेके ही योग्य है। जो देनेकी प्रतिज्ञा करके न दे, उसपर राजाको सुवर्ण (सोलह माष)-का दण्ड लगाना चाहिये। जो मजदूरी लेकर काम न करे, उसपर आठ कृष्णल जुर्माना लगाना चाहिये। जो असमयमें भृत्यका त्याग करता है, उसपर भी उतना ही दण्ड लगाना चाहिये। कोई वस्तु खरीदने या बेचनेके बाद जिसको कुछ पश्चात्ताप हो, वह धनका स्वामी दस दिनके भीतर दाम लौटाकर माल ले सकता है। (अथवा खरीददारको ही यदि माल पसंद न आवे तो वह दस दिनके भीतर उसे लौटाकर दाम ले सकता है।) दस दिनसे अधिक हो जानेपर यह आदान-प्रदान नहीं हो सकता। अनुचित आदान-प्रदान करनेवालेपर राजाको छः सौका दण्ड लगाना चाहिये॥ ४—१४ $\frac{१}{२}$॥

जो वरके दोषोंको न बताकर किसी कन्याका वरण करता है, उसको वचनद्वारा दी हुई कन्या भी नहीं दी हुईके ही समान है। राजाको चाहिये कि उस व्यक्तिपर दो सौका दण्ड लगावे। जो एकको कन्या देनेकी बात कहकर फिर दूसरेको दे डालता है, उसपर राजाको उत्तम साहस (एक

हजार पण)-का दण्ड लगाना चाहिये। वाणीद्वारा कहकर उसे कार्य-रूपमें सत्य करनेसे निस्संदेह पुण्यकी प्राप्ति होती है। जो किसी वस्तुको एक जगह देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे लोभवश दूसरेके हाथ बेच देता है, उसपर छः सौका दण्ड लगाना चाहिये। जो ग्वाला मालिकसे भोजन-खर्च और वेतन लेकर भी उसकी गाय उसे नहीं लौटाता, अथवा अच्छी तरह उसका पालन-पोषण नहीं करता, उसपर राजा सौ सुवर्णका दण्ड लगावे। गाँवके चारों ओर सौ धनुषके घेरेमें तथा नगरके चारों ओर दो सौ या तीन सौ धनुषके घेरेमें खेती करनी चाहिये, जिसे खड़ा हुआ ऊँट न देख सके। जो खेत चारों ओरसे घेरा न गया हो, उसकी फसलको किसीके द्वारा नुकसान पहुँचनेपर दण्ड नहीं दिया जा सकता। जो भय दिखाकर दूसरोंके घर, पोखरे, बगीचे अथवा खेतको हड़पनेकी चेष्टा करता है, उसके ऊपर राजाको पाँच सौका दण्ड लगाना चाहिये। यदि उसने अनजानमें ऐसा किया हो तो दो सौका ही दण्ड लगाना उचित है। सीमाका भेदन करनेवाले सभी लोगोंको प्रथम श्रेणीके साहस (ढाई सौ पण)-का दण्ड देना चाहिये॥ १५—२२॥

परशुरामजी! ब्राह्मणको नीचा दिखानेवाले क्षत्रियपर सौका दण्ड लगाना उचित है। इसी अपराधके लिये वैश्यसे दो सौ जुर्माना वसूल करे और शूद्रको कैदमें डाल दे। क्षत्रियको कलंकित करनेपर ब्राह्मणको पचासका दण्ड, वैश्यपर दोषारोपण करनेसे पचीसका और शूद्रको कलंक लगानेपर उसे बारहका दण्ड देना उचित है। यदि वैश्य क्षत्रियका अपमान करे तो उसपर प्रथम साहस (ढाई सौ पण)-का दण्ड लगाना चाहिये और शूद्र यदि क्षत्रियको गाली दे तो उसकी जीभको सजा देनी चाहिये। ब्राह्मणोंको उपदेश करनेवाला शूद्र भी दण्डका भागी होता है। जो अपने शास्त्रज्ञान और देश आदिका झूठा परिचय दे, उसे दूने साहसका दण्ड देना उचित है। जो श्रेष्ठ पुरुषोंको पापाचारी कहकर उनके ऊपर आक्षेप करे, वह उत्तम साहसका दण्ड पानेके योग्य है। यदि वह यह कहकर कि 'मेरे मुँहसे प्रमादवश ऐसी बात निकल गयी है', अपना प्रेम प्रकट करे तो उसके लिये दण्ड घटाकर आधा कर देना चाहिये। माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, श्वशुर तथा गुरुपर आक्षेप करनेवाला और गुरुजनोंको रास्ता न देनेवाला पुरुष भी सौका दण्ड पानेके योग्य है। जो मनुष्य अपने जिस अंगसे दूसरे ऊँचे लोगोंका अपराध करे, उसके उसी अंगको बिना विचारे शीघ्र ही काट डालना चाहिये। जो घमंडमें आकर किसी उच्च पुरुषकी ओर थूके, राजाको उसके ओठ काट लेना उचित है। इसी प्रकार यदि वह उसकी ओर मुँह करके पेशाब करे तो उसका लिङ्ग और उधर पीठ करके अपशब्द करे तो उसकी गुदा काट लेनेके योग्य है। इतना ही नहीं, यदि वह ऊँचे आसनपर बैठा हो तो उस नीचके शरीरके निचले भागको दण्ड देना उचित है। जो मनुष्य दूसरेके जिस-किसी अंगको घायल करे, उसके भी उसी अंगको कुतर डालना चाहिये। गौ, हाथी, घोड़े और ऊँटको हानि पहुँचानेवाले मनुष्योंके आधे हाथ और पैर काट लेने चाहिये। जो किसी (पराये) वृक्षके फल तोड़े, उसपर सुवर्णका दण्ड लगाना उचित है। जो रास्ता, खेतकी सीमा अथवा जलाशय आदिको काटकर नष्ट करे, उससे नुकसानका दूना दण्ड दिलाना चाहिये। जो जान-बूझकर या अनजानमें जिसके धनका अपहरण करे, वह पहले उसके धनको लौटाकर उसे संतुष्ट करे। उसके बाद राजाको भी

जुर्माना दे। जो कुएँपरसे दूसरेकी रस्सी और घड़ा चुरा लेता तथा पौंसले नष्ट कर देता है, उसे एक मासतक कैदकी सजा देनी चाहिये। प्राणियोंको मारनेपर भी यही दण्ड देना उचित है। जो दस घड़ेसे अधिक अनाजकी चोरी करता है, वह प्राणदण्ड देनेके योग्य है। बाकीमें भी अर्थात् दस घड़ेसे कम अनाजकी चोरी करनेपर भी, जितने घड़े अन्नकी चोरी करे, उससे ग्यारह गुना अधिक उस चोरपर दण्ड लगाना चाहिये। सोने-चाँदी आदि द्रव्यों, पुरुषों तथा स्त्रियोंका अपहरण करनेपर अपराधीको वधका दण्ड देना चाहिये। चोर जिस-जिस अंगसे जिस प्रकार मनुष्योंके प्रतिकूल चेष्टा करता है, उसके उसी-उसी अंगको वैसी ही निष्ठुरताके साथ कटवा डालना राजाका कर्तव्य है। इससे चोरोंको चेतावनी मिलती है। यदि ब्राह्मण बहुत थोड़ी मात्रामें शाक और धान्य आदि ग्रहण करता है तो वह दोषका भागी नहीं होता। गो-सेवा तथा देव-पूजाके लिये भी कोई वस्तु लेनेवाला ब्राह्मण दण्डके योग्य नहीं है। जो दुष्ट पुरुष किसीका प्राण लेनेके लिये उद्यत हो, उसका वध कर डालना चाहिये। दूसरोंके घर और क्षेत्रका अपहरण करनेवाले, परस्त्रीके साथ व्यभिचार करनेवाले, आग लगानेवाले, जहर देनेवाले तथा हथियार उठाकर मारनेको उद्यत हुए पुरुषको प्राणदण्ड देना ही उचित है॥ २३—३९॥

राजा गौओंको मारनेवाले तथा आततायी पुरुषोंका वध करे। परायी स्त्रीसे बातचीत न करे और मना करनेपर किसीके घरमें न घुसे। स्वेच्छासे पतिका वरण करनेवाली स्त्री राजाके द्वारा दण्ड पानेके योग्य नहीं है, किंतु यदि नीच वर्णका पुरुष ऊँचे वर्णकी स्त्रीके साथ समागम करे तो वह वधके योग्य है। जो स्त्री अपने स्वामीका उल्लंघन (करके दूसरेके साथ व्यभिचार) करे, उसको कुत्तोंसे नोचवा देना चाहिये। जो सजातीय परपुरुषके सम्पर्कसे दूषित हो चुकी हो, उसे (सम्पत्तिके अधिकारसे वञ्चित करके) शरीर-निर्वाहमात्रके लिये अन्न देना चाहिये। पतिके ज्येष्ठ भ्रातासे व्यभिचार करके दूषित हुई नारीके मस्तकका बाल मुँडवा देना चाहिये। यदि ब्राह्मण वैश्यजातिकी स्त्रीसे और क्षत्रिय नीच जातिकी स्त्रीके साथ समागम करें तो उनके लिये भी यही दण्ड है। शूद्राके साथ व्यभिचार करनेवाले क्षत्रिय और वैश्यको प्रथम साहस (ढाई सौ पण)-का दण्ड देना उचित है। यदि वेश्या एक पुरुषसे वेतन लेकर लोभवश दूसरेके पास चली जाय तो वह दूना वेतन वापस करे और दण्ड भी दूना दे। स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य तथा सहोदर भाई यदि अपराध करें तो उन्हें रस्सी अथवा बाँसकी छड़ीसे पीट देना चाहिये। प्रहार पीठपर ही करना उचित है, मस्तकपर नहीं। मस्तकपर प्रहार करनेवालेको चोरका दण्ड मिलता है॥ ४०—४६॥

जो रक्षाके कामपर नियुक्त होकर प्रजासे रुपये ऐंठते हों, उनका सर्वस्व छीनकर राजा उन्हें अपने राज्यसे बाहर कर दे। जो लोग किसी कार्यार्थीके द्वारा उसके निजी कार्यमें नियुक्त होकर वह कार्य चौपट कर डालते हैं, राजाको उचित है कि उन क्रूर और निर्दयी पुरुषोंका सारा धन छीन ले। यदि कोई मन्त्री अथवा प्राड्विवाक (न्यायाधीश) विपरीत कार्य करे तो राजा उसका सर्वस्व लेकर उसे अपने राज्यसे बाहर निकाल दे। गुरुपत्नीगामीके शरीरपर भगका चिह्न अंकित करा दे। सुरापान करनेवाले महापातकीके ऊपर शराबखानेके झंडेका चिह्न दगवा दे। चोरी करनेवालेपर कुत्तेका नाखून गोदवा दे और ब्रह्महत्या करनेवालेके भालपर नरमुण्डका चिह्न अंकित कराना चाहिये। पापाचारी

नीचोंको राजा मरवा डाले और ब्राह्मणोंको देश-निकाला दे दे तथा महापातकी पुरुषोंका धन वरुण देवताके अर्पण कर दे (जलमें डाल दे)। गाँवमें भी जो लोग चोरोंको भोजन देते हों तथा चोरीका माल रखनेके लिये घर और खजानेका प्रबन्ध करते हों, उन सबका भी वध करा देना उचित है। अपने राज्यके भीतर अधिकारके कार्यपर नियुक्त हुए सामन्त नरेश भी यदि पापमें प्रवृत्त हों तो उनका अधिकार छीन लेना चाहिये। जो चोर रातमें सेंध लगाकर चोरी करते हैं, राजाको उचित है कि उनके दोनों हाथ काटकर उन्हें तीखी शूलीपर चढ़ा दे। इसी प्रकार पोखरा तथा देवमन्दिर नष्ट करनेवाले पुरुषोंको भी प्राणदण्ड दे। जो बिना किसी आपत्तिके सड़कपर पेशाब, पाखाना आदि अपवित्र वस्तु छोड़ता है, उसपर कार्षापणोंका दण्ड लगाना चाहिये तथा उसीसे वह अपवित्र वस्तु फेंकवाकर वह जगह साफ करानी चाहिये। प्रतिमा तथा सीढ़ीको तोड़नेवाले मनुष्योंपर पाँच सौ कर्षका दण्ड लगाना चाहिये। जो अपने प्रति समान बर्ताव करनेवालोंके साथ विषमताका बर्ताव करता है, अथवा किसी वस्तुकी कीमत लगानेमें बेईमानी करता है, उसपर मध्यम साहस (पाँच सौ कर्ष)-का दण्ड लगाना चाहिये। जो लोग बनियोंसे बहुमूल्य पदार्थ लेकर उसकी कीमत रोक लें, राजा उनपर पृथक्-पृथक् उत्तम साहस (एक हजार कर्ष)-का दण्ड लगावे। जो वैश्य अपने सामानोंको खराब करके, अर्थात् बढ़िया चीजोंमें घटिया चीजें मिलाकर उन्हें मनमाने दामपर बेचे, वह मध्यम साहस (पाँच सौ कर्ष)-का दण्ड पानेके योग्य है। जालसाजको उत्तम साहस (एक हजार कर्ष)-का और कलहपूर्वक अपकार करनेवालेको उससे दूना दण्ड देना उचित है। अभक्ष्य-भक्षण करनेवाले ब्राह्मण अथवा शूद्रपर कृष्णलका दण्ड लगाना चाहिये। जो तराजूपर शासन करता है, अर्थात् डंडी मारकर कम तौल देता है, जालसाजी करता है तथा ग्राहकोंको हानि पहुँचाता है—इन सबको—और जो इनके साथ व्यवहार करता है, उसको भी उत्तम साहसका दण्ड दिलाना चाहिये। जो स्त्री जहर देनेवाली, आग लगानेवाली तथा पति, गुरु, ब्राह्मण और संतानकी हत्या करनेवाली हो, उसके हाथ, कान, नाक और ओठ कटवाकर, बैलकी पीठपर चढ़ाकर उसे राज्यसे बाहर निकाल देना चाहिये। खेत, घर, गाँव और जंगल नष्ट करनेवाले तथा राजाकी पत्नीसे समागम करनेवाले मनुष्य घास-फूसकी आगमें जला देने योग्य हैं। जो राजाकी आज्ञाको घटा-बढ़ाकर लिखता है तथा परस्त्रीगामी पुरुषों और चोरोंको बिना दण्ड दिये ही छोड़ देता है, वह उत्तम साहसके दण्डका अधिकारी है। राजाकी सवारी और आसनपर बैठनेवालेको भी उत्तम साहसका ही दण्ड देना चाहिये। जो न्यायानुसार पराजित होकर भी अपनेको अपराजित मानता है, उसे सामने आनेपर फिर जीते और उसपर दूना दण्ड लगावे। जो आमन्त्रित नहीं है, उसको बुलाकर लानेवाला पुरुष वधके योग्य है। जो अपराधी दण्ड देनेवाले पुरुषके हाथसे छूटकर भाग जाता है, वह पुरुषार्थसे हीन है। दण्डकर्ताको उचित है कि ऐसे भीरु मनुष्यको शारीरिक दण्ड न देकर उसपर धनका दण्ड लगावे॥ ४७—६७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दण्ड-प्रणयनका कथन' नामक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२७॥

दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय

युद्ध-यात्राके सम्बन्धमें विचार

पुष्कर कहते हैं— जब राजा यह समझ ले कि किसी बलवान् आक्रन्द[१] (राजा)-के द्वारा मेरा पार्ष्णिग्राह[२] राजा पराजित कर दिया गया है तो वह सेनाको युद्धके लिये यात्रा करनेकी आज्ञा दे। पहले इस बातको समझ ले कि मेरे सैनिक खूब हृष्ट-पुष्ट हैं, भृत्योंका भलीभाँति भरण-पोषण हुआ है, मेरे पास अधिक सेना मौजूद है तथा मैं मूलकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ हूँ; इसके बाद सैनिकोंसे घिरकर शिविरमें जाय। जिस समय शत्रुपर कोई संकट पड़ा हो, दैवी और मानुषी आदि बाधाओंसे उसका नगर पीड़ित हो, तब युद्धके लिये यात्रा करनी चाहिये। जिस दिशामें भूकम्प आया हो, जिसे केतुने अपने प्रभावसे दूषित किया हो, उसी ओर आक्रमण करे। जब सेनामें शत्रुको नष्ट करनेका उत्साह हो, योद्धाओंके मनमें विपक्षियोंके प्रति क्रोधका भाव प्रकट हुआ हो, शुभसूचक अंग फड़क रहे हों, अच्छे स्वप्न दिखायी देते हों तथा उत्तम निमित्त और शकुन हो रहे हों, तब शत्रुके नगरपर चढ़ाई करनी चाहिये। यदि वर्षाकालमें यात्रा करनी हो तो जिसमें पैदल और हाथियोंकी संख्या अधिक हो, ऐसी सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दे। हेमन्त और शिशिर-ऋतुमें ऐसी सेना ले जाय, जिसमें रथ और घोड़ोंकी संख्या अधिक हो। वसन्त और शरद्के आरम्भमें चतुरंगिणी सेनाको युद्धके लिये नियुक्त करे। जिसमें पैदलोंकी संख्या अधिक हो, वही सेना सदा शत्रुओंपर विजय पाती है। यदि शरीरके दाहिने भागमें कोई अंग फड़क रहा हो तो उत्तम है। बायें अंग, पीठ तथा हृदयका फड़कना अच्छा नहीं है। इस प्रकार शरीरके चिह्नों, फोड़े-फुंसियों तथा फड़कने

१-२. अग्निपुराणके दो सौ तैंतीसवें और दो सौ चालीसवें अध्यायोंमें, महाभारत-शान्तिपर्वमें तथा 'कामन्दक-नीतिसार'के आठवें सर्गमें द्वादश राजमण्डलका वर्णन आया है। उसमें 'विजिगीषु'को बीचमें रखकर उसके सम्मुखकी दिशामें पाँच राजमण्डलोंका और पीछेकी दिशामें चार राजमण्डलोंका विचार किया गया है। अगल-बगलके दो बड़े राज्य, 'मध्यम' और 'उदासीन मण्डल' कहे गये हैं। यथा—

		अरिमित्रमित्र ६		
		मित्रमित्र ५		
		अरिमित्र ४		
उदासीन १२		मित्र ३		उदासीन १२
	मध्यम ११	अरि २	मध्यम ११	
		विजिगीषु १		
		पार्ष्णिग्राह ७		
		आक्रन्द ८		
		९ पार्ष्णिग्राहासार		
		१० आक्रन्दासार		

इस चित्रमें विजिगीषुके पीछेवाला पार्ष्णिग्राह राजाका मण्डल है, जो विजिगीषुका शत्रुराज्य है। आक्रन्द विजिगीषुका मित्र होता है। पुष्कर कहते हैं—जब कोई बलवान् आक्रन्द (मित्र) पार्ष्णिग्राह (शत्रु)-को उसके राज्यपर चढ़ाई करके दबा दे तो उस शत्रुके दुर्बल पड़ जानेपर विजिगीषु अपने मित्रोंके सहयोगसे तथा अपनी प्रबल सेनाद्वारा अपने सामनेवाले शत्रु-राज्यपर चढ़ाई कर सकता है।

आदिके शुभाशुभ फलोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। स्त्रियोंके लिये इसके विपरीत फल बताया गया है। उनके बायें अंगका फड़कना शुभ होता है॥ १—८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'युद्धयात्राका वर्णन' नामक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२८॥

दो सौ उनतीसवाँ अध्याय

अशुभ और शुभ स्वप्नोंका विचार

पुष्कर कहते हैं— अब मैं शुभाशुभ स्वप्नोंका वर्णन करूँगा तथा दुःस्वप्न-नाशके उपाय भी बतलाऊँगा। नाभिके सिवा शरीरके अन्य अंगोंमें तृण और वृक्षोंका उगना, काँसके बर्तनोंका मस्तकपर रखकर फोड़ा जाना, माथा मुँड़ाना, नग्न होना, मैले कपड़े पहनना, तेल लगना, कीचड़ लपेटना, ऊँचेसे गिरना, विवाह होना, गीत सुनना, वीणा आदिके बाजे सुनकर मन बहलाना, हिंडोलेपर चढ़ना, पद्म और लोहोंका उपार्जन, सर्पोंको मारना, लाल फूलसे भरे हुए वृक्षों तथा चाण्डालको देखना, सूअर, कुत्ते, गदहे और ऊँटोंपर चढ़ना, चिड़ियोंके मांसका भक्षण करना, तेल पीना, खिचड़ी खाना, माताके गर्भमें प्रवेश करना, चितापर चढ़ना, इन्द्रके उपलक्ष्यमें खड़ी की हुई ध्वजाका टूट पड़ना, सूर्य और चन्द्रमाका गिरना, दिव्य, अन्तरिक्ष और भूलोकमें होनेवाले उत्पातोंका दिखायी देना, देवता, ब्राह्मण, राजा और गुरुओंका कोप होना, नाचना, हँसना, व्याह करना, गीत गाना, वीणाके सिवा अन्य प्रकारके बाजोंका स्वयं बजाना, नदीमें डूबकर नीचे जाना, गोबर, कीचड़ तथा स्याही मिलाये हुए जलसे स्नान करना, कुमारी कन्याओंका आलिंगन, पुरुषोंका एक-दूसरेके साथ मैथुन, अपने अंगोंकी हानि, वमन और विरेचन करना, दक्षिण दिशाकी ओर जाना, रोगसे पीड़ित होना, फलोंकी हानि, धातुओंका भेदन, घरोंका गिरना, घरोंमें झाड़ू देना, पिशाचों, राक्षसों, वानरों तथा चाण्डाल आदिके साथ खेलना, शत्रुसे अपमानित होना, उसकी ओरसे संकटका प्राप्त होना, गेरुआ वस्त्र धारण करना, गेरुए वस्त्रोंसे खेलना, तेल पीना या उसमें नहाना, लाल फूलोंकी माला पहनना और लाल ही चन्दन लगाना—ये सब बुरे स्वप्न हैं। इन्हें दूसरोंपर प्रकट न करना अच्छा है। ऐसे स्वप्न देखकर फिरसे सो जाना चाहिये। इसी प्रकार स्वप्नदोषकी शान्तिके लिये स्नान, ब्राह्मणोंका पूजन, तिलोंका हवन, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्यके गणोंकी पूजा, स्तुतिका पाठ तथा पुरुषसूक्त आदिका जप करना उचित है। रातके पहले प्रहरमें देखे हुए स्वप्न एक वर्षतक फल देनेवाले होते हैं, दूसरे प्रहरके स्वप्न छः महीनेमें, तीसरे प्रहरके तीन महीनेमें, चौथे प्रहरके पंद्रह दिनोंमें और अरुणोदयकी वेलामें देखे हुए स्वप्न दस ही दिनोंमें अपना फल प्रकट करते हैं॥ १—१७॥

यदि एक ही रातमें शुभ और अशुभ—दोनों ही प्रकारके स्वप्न दिखायी पड़ें तो उनमें जिसका पीछे दर्शन होता है, उसीका फल बतलाना चाहिये। अतः शुभ स्वप्न देखनेके पश्चात् सोना अच्छा नहीं माना जाता है। स्वप्नमें पर्वत, महल, हाथी, घोड़े और बैलपर चढ़ना हितकर होता है। परशुरामजी! यदि पृथ्वीपर या आकाशमें सफेद फूलोंसे भरे हुए वृक्षोंका दर्शन हो, अपनी नाभिसे वृक्ष अथवा तिनका उत्पन्न हो, अपनी भुजाएँ और मस्तक अधिक दिखायी दें, सिरके बाल पक जायँ तो उसका फल उत्तम होता है। सफेद फूलोंकी माला और श्वेत वस्त्र धारण करना, चन्द्रमा, सूर्य और ताराओंको पकड़ना, परिमार्जन करना, इन्द्रकी ध्वजाका आलिंगन करना, ध्वजाको ऊँचे उठाना, पृथ्वीपर

पड़ती हुई जलकी धाराको अपने ऊपर रोकना, शत्रुओंकी बुरी दशा देखना, वाद-विवाद, जूआ तथा संग्राममें अपनी विजय देखना, खीर खाना, रक्तका देखना, खूनसे नहाना, सुरा, मद्य अथवा दूध पीना, अस्त्रोंसे घायल होकर धरतीपर छटपटाना, आकाशका स्वच्छ होना तथा गाय, भैंस, सिंहिनी, हथिनी और घोड़ीको मुँहसे दुहना—ये सब उत्तम स्वप्न हैं। देवता, ब्राह्मण और गुरुओंकी प्रसन्नता, गौओंके सींग अथवा चन्द्रमासे गिरे हुए जलके द्वारा अपना अभिषेक होना—ये स्वप्न राज्य प्रदान करनेवाले हैं, ऐसा समझना चाहिये। परशुरामजी! अपना राज्याभिषेक होना, अपने मस्तकका काटा जाना, मरना, आगमें पड़ना, गृह आदिमें लगी हुई आगके भीतर जलना, राजचिह्नोंका प्राप्त होना, अपने हाथसे वीणा बजाना—ऐसे स्वप्न भी उत्तम एवं राज्य प्रदान करनेवाले हैं। जो स्वप्नके अन्तिम भागमें राजा, हाथी, घोड़ा, सुवर्ण, बैल तथा गायको देखता है, उसका कुटुम्ब बढ़ता है। बैल, हाथी, महलकी छत, पर्वत-शिखर तथा वृक्षपर चढ़ना, रोना, शरीरमें घी और विष्ठाका लग जाना तथा अगम्या स्त्रीके साथ समागम करना—ये सब शुभ स्वप्न हैं॥ १८—३१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शुभाशुभ स्वप्न एवं दुःस्वप्न-निवारण' नामक दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२९ ॥

दो सौ तीसवाँ अध्याय

अशुभ और शुभ शकुन

पुष्कर कहते हैं— परशुरामजी! श्वेत वस्त्र, स्वच्छ जल, फलसे भरा हुआ वृक्ष, निर्मल आकाश, खेतमें लगे हुए अन्न और काला धान्य—इनका यात्राके समय दिखायी देना अशुभ है। रुई, तृणमिश्रित सूखा गोबर (कंडा), धन, अङ्गार, गृह, करायल, मूँड़ मुड़ाकर तेल लगाया हुआ नग्न साधु, लोहा, कीचड़, चमड़ा, बाल, पागल मनुष्य, हिंजड़ा, चाण्डाल, श्वपच आदि, बन्धनकी रक्षा करनेवाले मनुष्य, गर्भिणी स्त्री, विधवा, तिलकी खली, मृत्यु, भूसी, राख, खोपड़ी, हड्डी और फूटा हुआ बर्तन—युद्धयात्राके समय इनका दिखायी देना अशुभ माना जाता है। बाजोंका वह शब्द, जिसमें फूटे हुए झाँझकी भयंकर ध्वनि सुनायी पड़ती हो, अच्छा नहीं माना गया है। 'चले आओ'—यह शब्द यदि सामनेकी ओरसे सुनायी पड़े तो उत्तम है, किंतु पीछेकी ओरसे शब्द हो तो अशुभ माना गया है। 'जाओ'—यह शब्द यदि पीछेकी ओरसे हो तो उत्तम है; किंतु आगेकी ओरसे हो तो निन्दित होता है। 'कहाँ जाते हो? ठहरो, न जाओ; वहाँ जानेसे तुम्हें क्या लाभ है?'—ऐसे शब्द अनिष्टकी सूचना देनेवाले हैं। यदि ध्वजा आदिके ऊपर चील आदि मांसाहारी पक्षी बैठ जायँ, घोड़े, हाथी आदि वाहन लड़खड़ाकर गिर पड़ें, हथियार टूट जायँ, हार आदिके द्वारा मस्तकपर चोट लगे तथा छत्र और वस्त्र आदिको कोई गिरा दे तो ये सब अपशकुन मृत्युका कारण बनते हैं। भगवान् विष्णुकी पूजा और स्तुति करनेसे अमंगलका नाश होता है। यदि दूसरी बार इन अपशकुनोंका दर्शन हो तो घर लौट जाय॥ १—८ $\frac{१}{२}$ ॥

यात्राके समय श्वेत पुष्पोंका दर्शन श्रेष्ठ माना गया है। भरे हुए घड़ेका दिखायी देना तो बहुत ही उत्तम है। मांस, मछली, दूरका कोलाहल, अकेला वृद्ध पुरुष, पशुओंमें बकरे, गौ, घोड़े तथा हाथी, देवप्रतिमा, प्रज्वलित अग्नि, दूर्वा, ताजा गोबर, वेश्या, सोना, चाँदी, रत्न, बच, सरसों आदि ओषधियाँ, मूँग, आयुधोंमें तलवार, छाता, पीढ़ा, राजचिह्न, जिसके पास कोई रोता न हो ऐसा शव, फल, घी, दही, दूध, अक्षत, दर्पण, मधु, शंख, ईख, शुभसूचक वचन, भक्त पुरुषोंका गाना-

बजाना, मेघकी गम्भीर गर्जना, बिजलीकी चमक तथा मनका संतोष—ये सब शुभ शकुन हैं। एक ओर सब प्रकारके शुभ शकुन और दूसरी ओर मनकी प्रसन्नता—ये दोनों बराबर हैं॥ ९—१३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शकुन-वर्णन' नामक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३०॥

दो सौ इकतीसवाँ अध्याय

शकुनके भेद तथा विभिन्न जीवोंके दर्शनसे होनेवाले शुभाशुभ फलका वर्णन

पुष्कर कहते हैं— राजाके ठहरने, जाने अथवा प्रश्न करनेके समय होनेवाले शकुन उसके देश और नगरके लिये शुभ और अशुभ फलकी सूचना देते हैं। शकुन दो प्रकारके होते हैं—'दीप्त' और 'शान्त'। दैवका विचार करनेवाले ज्यौतिषियोंने सम्पूर्ण दीप्त शकुनोंका फल अशुभ तथा शान्त शकुनोंका फल शुभ बतलाया है। वेलादीप्त, दिग्दीप्त, देशदीप्त, क्रियादीप्त, रुतदीप्त और जातिदीप्तके भेदसे दीप्त शकुन छः प्रकारके बताये गये हैं। उनमें पूर्व-पूर्वको अधिक प्रबल समझना चाहिये। दिनमें विचरनेवाले प्राणी रात्रिमें और रात्रिमें चलनेवाले प्राणी दिनमें विचरते दिखायी दें तो उसे 'वेलादीप्त' जानना चाहिये। इसी प्रकार जिस समय नक्षत्र, लग्न और ग्रह आदि क्रूर अवस्थाको प्राप्त हो जायँ, वह भी 'वेलादीप्त'के ही अन्तर्गत है। सूर्य जिस दिशाको जानेवाले हों, वह 'धूमिता', जिसमें मौजूद हों, वह 'ज्वलिता' तथा जिसे छोड़ आये हों, वह 'अंगारिणी' मानी गयी है। ये तीन दिशाएँ 'दीप्त' और शेष पाँच दिशाएँ 'शान्त' कहलाती हैं। दीप्त दिशामें जो शकुन हो, उसे 'दिग्दीप्त' कहा गया है। यदि गाँवमें जंगली और जंगलमें ग्रामीण पशु-पक्षी आदि मौजूद हों तो वह निन्दित देश है। इसी प्रकार जहाँ निन्दित वृक्ष हों, वह स्थान भी निन्द्य एवं अशुभ माना गया है॥ १—७॥

विप्रवर! अशुभ देशमें जो शकुन होता है, उसे 'देशदीप्त' समझना चाहिये। अपने वर्णधर्मके विपरीत अनुचित कर्म करनेवाला पुरुष 'क्रियादीप्त' बतलाया गया है। (उसका दिखायी देना 'क्रियादीप्त' शकुनके अन्तर्गत है।) फटी हुई भयंकर आवाजका सुनायी पड़ना 'रुतदीप्त' कहलाता है। केवल मांसभोजन करनेवाले प्राणीको 'जातिदीप्त' समझना चाहिये। (उसका दर्शन भी 'जातिदीप्त' शकुन है।) दीप्त अवस्थाके विपरीत जो शकुन हो, वह 'शान्त' बतलाया गया है। उसमें भी उपर्युक्त सभी भेद यत्नपूर्वक जानने चाहिये। यदि शान्त और दीप्तके भेद मिले हुए हों तो उसे 'मिश्र शकुन' कहते हैं। इस प्रकार विचारकर उसका फलाफल बतलाना चाहिये॥ ८—१०॥

गौ, घोड़े, ऊँट, गदहे, कुत्ते, सारिका (मैना), गृहगोधिका (गिरगिट), चटक (गौरैया), भास (चील या मुर्गा) और कछुए आदि प्राणी 'ग्रामवासी' कहे गये हैं। बकरा, भेड़ा, तोता, गजराज, सूअर, भैंसा और कौआ—ये ग्रामीण भी होते हैं और जंगली भी। इनके अतिरिक्त और सभी जीव जंगली कहे गये हैं। बिल्ली और मुर्ग भी ग्रामीण तथा जंगली होते हैं; उनके रूपमें भेद होता है, इसीसे वे सदा पहचाने जाते हैं। गोकर्ण (खच्चर), मोर, चक्रवाक, गदहे, हारीत, कौए, कुलाह, कुक्कुभ, बाज, गीदड़, खञ्जरीट, वानर, शतघ्न, चटक, कोयल, नीलकण्ठ (श्येन), कपिञ्जल (चातक), तीतर, शतपत्र, कबूतर, खञ्जन, दात्यूह (जलकाक), शुक, राजीव, मुर्गा, भरदूल और सारंग—ये दिनमें चलनेवाले प्राणी हैं। वागुरी, उल्लू, शरभ, क्रौञ्च, खरगोश, कछुआ, लोमासिका और पिंगलिका—ये रात्रिमें चलनेवाले प्राणी

बताये गये हैं। हंस, मृग, बिलाव, नेवला, रीछ, सर्प, वृकारि, सिंह, व्याघ्र, ऊँट, ग्रामीण सूअर, मनुष्य, श्वाविद, वृषभ, गोमायु, वृक, कोयल, सारस, घोड़े, गोधा और कौपीनधारी पुरुष—ये दिन और रात दोनोंमें चलनेवाले हैं॥ ११—१९॥

युद्ध और युद्धकी यात्राके समय यदि ये सभी जीव झुंड बाँधकर सामने आवें तो विजय दिलानेवाले बताये गये हैं; किंतु यदि पीछेसे आवें तो मृत्युकारक माने गये हैं। यदि नीलकण्ठ अपने घोंसलेसे निकलकर आवाज देता हुआ सामने स्थित हो जाय तो वह राजाको अपमानकी सूचना देता है और जब वह वामभागमें आ जाय तो कलहकारक एवं भोजनमें बाधा डालनेवाला होता है। यात्राके समय उसका दर्शन उत्तम माना गया है; उसके बायें अंगका अवलोकन भी उत्तम है। यदि यात्राके समय मोर जोर-जोरसे आवाज दे तो चोरोंके द्वारा अपने धनकी चोरी होनेका संदेश देता है॥ २०—२२॥

परशुरामजी! प्रस्थानकालमें यदि मृग आगे-आगे चले तो वह प्राण लेनेवाला होता है। रीछ, चूहा, सियार, बाघ, सिंह, बिलाव, गदहे—ये यदि प्रतिकूल दिशामें जाते हों, गदहा जोर-जोरसे रेंकता हो और कपिञ्जल पक्षी बायीं अथवा दाहिनी ओर स्थित हो तो ये सभी उत्तम माने गये हैं। किंतु कपिञ्जल पक्षी यदि पीछेकी ओर हो तो उसका फल निन्दित है। यात्राकालमें तीतरका दिखायी देना अच्छा नहीं है। मृग, सूअर और चितकबरे हिरन-ये यदि बायें होकर फिर दाहिने हो जायँ तो सदा कार्यसाधक होते हैं। इसके विपरीत यदि दाहिनेसे बायें चले जायँ तो निन्दित माने गये हैं। बैल, घोड़े, गीदड़, बाघ, सिंह, बिलाव और गदहे यदि दाहिनेसे बायें जायँ तो ये मनोवाञ्छित वस्तुकी सिद्धि करनेवाले होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। शृगाल, श्याममुख, छुच्छू (छछूँदर), पिंगला, गृहगोधिका, शूकरी, कोयल तथा पुँल्लिङ्ग नाम धारण करनेवाले जीव यदि वाम-भागमें हों तथा स्त्रीलिंग नामवाले जीव, भास, कारुष, बंदर, श्रीकर्ण, छित्त्वर, कपि, पिप्पीक, रुरु और श्येन—ये दक्षिण दिशामें हों तो शुभ हैं। यात्राकालमें जातिक, सर्प, खरगोश, सूअर तथा गोधाका नाम लेना भी शुभ माना गया है॥ २३—२९॥

रीछ और वानरोंका विपरीत दिशामें दिखायी देना अनिष्टकारक होता है। प्रस्थान करनेपर जो कार्यसाधक बलवान् शकुन प्रतिदिन दिखायी देता हो, उसका फल विद्वान् पुरुषोंको उसी दिनके लिये बतलाना चाहिये, अर्थात् जिस-जिस दिन शकुन दिखायी देता है, उसी-उसी दिन उसका फल होता है। परशुरामजी! पागल, भोजनार्थी बालक तथा वैरी पुरुष यदि गाँव या नगरकी सीमाके भीतर दिखायी दें तो इनके दर्शनका कोई फल नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये। यदि सियारिन एक, दो, तीन या चार बार आवाज लगावे तो वह शुभ मानी गयी है। इसी प्रकार पाँच और छः बार बोलनेपर वह अशुभ और सात बार बोलनेपर शुभ बतायी गयी है। सात बारसे अधिक बोले तो उसका कोई फल नहीं होता। यदि रास्तेमें सूर्यकी ओर उठती हुई कोई ऐसी ज्वाला दिखायी दे, जिसपर दृष्टि पड़ते ही मनुष्योंके रोंगटे खड़े हो जायँ और सेनाके वाहन भयभीत हो उठें, तो वह भय बढ़ानेवाली—महान् भयकी सूचना देनेवाली होती है, ऐसा समझना चाहिये। यदि पहले किसी उत्तम देशमें सारंगका दर्शन हो तो वह मनुष्यके लिये एक वर्षतक शुभकी सूचना देता है। उसे देखनेसे अशुभमें भी शुभ होता है। अतः यात्राके प्रथम दिन मनुष्य ऐसे गुणवाले किसी सारंगका दर्शन करे तथा अपने लिये एक वर्षतक उपर्युक्त रूपसे शुभ फलकी प्राप्ति होनेवाली समझे॥ ३०—३६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शकुन-वर्णन' नामक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३१॥

दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय

कौए, कुत्ते, गौ, घोड़े और हाथी आदिके द्वारा होनेवाले शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—जिस मार्गसे बहुतेरे कौए शत्रुके नगरमें प्रवेश करें, उसी मार्गसे घेरा डालनेपर उस नगरके ऊपर अपना अधिकार प्राप्त होता है। यदि किसी सेना या समुदायमें बायीं ओरसे भयभीत कौआ रोता हुआ प्रवेश करे तो वह आनेवाले अपार भयकी सूचना देता है। छाया (तम्बू, रावटी आदि), अङ्ग, वाहन, उपानह, छत्र और वस्त्र आदिके द्वारा कौएको कुचल डालनेपर अपने लिये मृत्युकी सूचना मिलती है। उसकी पूजा करनेपर अपनी भी पूजा होती है तथा अन्न आदिके द्वारा उसका इष्ट करनेपर अपना भी शुभ होता है। यदि कौआ दरवाजेपर बारंबार आया-जाया करे तो वह उस घरके किसी परदेशी व्यक्तिके आनेकी सूचना देता है तथा यदि वह कोई लाल या जली हुई वस्तु मकानके ऊपर डाल देता है तो उससे आग लगनेकी सूचना मिलती है॥ १—४॥

भृगुनन्दन! यदि वह मनुष्यके आगे कोई लाल वस्तु डाल देता है तो उसके कैद होनेकी बात बतलाता है और यदि कोई पीले रंगका द्रव्य सामने गिराता है तो उससे सोने-चाँदीकी प्राप्ति सूचित होती है। सारांश यह कि वह जिस द्रव्यको अपने पास ला देता है, उसकी प्राप्ति और जिस द्रव्यको अपने यहाँसे उठा ले जाता है, उसकी हानिकी ओर संकेत करता है। यदि वह अपने आगे कच्चा मांस लाकर डाल दे तो धनकी, मिट्टी गिरावे तो पृथ्वीकी और कोई रत्न डाल दे तो महान् साम्राज्यकी प्राप्ति होती है। यदि यात्रा करनेवालेकी अनुकूल दिशा (सामने)-की ओर कौआ जाय तो वह कल्याणकारी और कार्यसाधक होता है, परंतु यदि प्रतिकूल दिशाकी ओर जाय तो उसे कार्यमें बाधा डालनेवाला तथा भयंकर जानना चाहिये। यदि कौआ सामने काँव-काँव करता हुआ आ जाय तो वह यात्राका विघातक होता है। कौएका वामभागमें होना शुभ माना गया है और दाहिने भागमें होनेपर वह कार्यका नाश करता है। वामभागमें होकर कौआ यदि अनुकूल दिशाकी ओर चले तो 'श्रेष्ठ' और दाहिने होकर अनुकूल दिशाकी ओर चले तो 'मध्यम' माना जाता है; किंतु वामभागमें होकर यदि वह विपरीत दिशाकी ओर जाय तो यात्राका निषेध करता है। यात्राकालमें घरपर कौआ आ जाय तो वह अभीष्ट कार्यकी सिद्धि सूचित करता है। यदि वह एक पैर उठाकर एक आँखसे सूर्यकी ओर देखे तो भय देनेवाला होता है। यदि कौआ किसी वृक्षके खोखलेमें बैठकर आवाज दे तो वह महान् अनर्थका कारण है। ऊसर भूमिमें बैठा हो तो भी अशुभ होता है, किंतु यदि वह कीचड़में लिपटा हुआ हो तो उत्तम माना गया है। परशुरामजी! जिसकी चोंचमें मल आदि अपवित्र वस्तुएँ लगी हों, वह कौआ दीख जाय तो सभी कार्योंका साधक होता है। कौएकी भाँति अन्य पक्षियोंका भी फल जानना चाहिये॥ ५—१३॥

यदि सेनाकी छावनीके दाहिने भागमें कुत्ते आ जायँ तो वे ब्राह्मणोंके विनाशकी सूचना देते हैं। इन्द्रध्वजके स्थानमें हों तो राजाका और गोपुर (नगरद्वार) पर हों तो नगराधीशकी मृत्यु सूचित करते हैं। घरके भीतर भूँकता हुआ कुत्ता आवे तो गृहस्वामीकी मृत्युका कारण होता है। वह जिसके बायें अङ्गको सूँघता है, उसके कार्यकी सिद्धि होती है। यदि दाहिने अङ्ग और बायीं भुजाको सूँघे तो भय उपस्थित होता है। यात्रीके

सामनेकी ओरसे आवे तो यात्रामें विघ्न डालनेवाला होता है। भृगुनन्दन! यदि कुत्ता राह रोककर खड़ा हो तो मार्गमें चोरोंका भय सूचित करता है; मुँहमें हड्डी लिये हो तो उसे देखकर यात्रा करनेपर कोई लाभ नहीं होता तथा रस्सी या चिथड़ा मुखमें रखनेवाला कुत्ता भी अशुभसूचक होता है। जिसके मुँहमें जूता या मांस हो, ऐसा कुत्ता सामने हो तो शुभ होता है। यदि उसके मुँहमें कोई अमाङ्गलिक वस्तु तथा केश आदि हो तो उससे अशुभकी सूचना मिलती है। कुत्ता जिसके आगे पेशाब करके चला जाता है, उसके ऊपर भय आता है; किन्तु मूत्र त्यागकर यदि वह किसी शुभ स्थान, शुभ वृक्ष तथा माङ्गलिक वस्तुके समीप चला जाय तो वह उस पुरुषके कार्यका साधक होता है। परशुरामजी! कुत्तेकी ही भाँति गीदड़ आदि भी समझने चाहिये॥ १४—२०॥

यदि गौएँ अकारण ही डकराने लगें तो समझना चाहिये कि स्वामीके ऊपर भय आनेवाला है। रातमें उनके बोलनेसे चोरोंका भय सूचित होता है और यदि वे विकृत स्वरमें क्रन्दन करें तो मृत्युकी सूचना मिलती है। यदि रातमें बैल गर्जना करे तो स्वामीका कल्याण होता है और साँड आवाज दे तो राजाको विजय प्रदान करता है। यदि अपनी दी हुई तथा अपने घरपर मौजूद रहनेवाली गौएँ अभक्ष्य-भक्षण करें और अपने बछड़ोंपर भी स्नेह करना छोड़ दें तो गर्भक्षयकी सूचना देनेवाली मानी गयी हैं। पैरोंसे भूमि खोदनेवाली, दीन तथा भयभीत गौएँ भय लानेवाली होती हैं। जिनका शरीर भीगा हो, रोम-रोम प्रसन्नतासे खिला हो और सींगोंमें मिट्टी लगी हुई हो, वे गौएँ शुभ होती हैं। विज्ञ पुरुषको भैंस आदिके सम्बन्धमें भी यही सब शकुन बताना चाहिये॥ २१—२४ $\frac{1}{2}$ ॥

जीन कसे हुए अपने घोड़ेपर दूसरेका चढ़ना, उस घोड़ेका जलमें बैठना और भूमिपर एक ही जगह चक्कर लगाना अनिष्टका सूचक है। बिना किसी कारणके घोड़ेका सो जाना विपत्तिमें डालनेवाला होता है। यदि अकस्मात् जई और गुड़की ओरसे घोड़ेको अरुचि हो जाय, उसके मुँहसे खून गिरने लगे तथा उसका सारा बदन काँपने लगे तो ये सब अच्छे लक्षण नहीं हैं; इनसे अशुभकी सूचना मिलती है। यदि घोड़ा बगुलों, कबूतरों और सारिकाओंसे खिलवाड़ करे तो मृत्युका संदेश देता है। उसके नेत्रोंसे आँसू बहे तथा वह जीभसे अपना पैर चाटने लगे तो विनाशका सूचक होता है। यदि वह बायें टापसे धरती खोदे, बायीं करवटसे सोये अथवा दिनमें नींद ले तो शुभकारक नहीं माना जाता। जो घोड़ा एक बार मूत्र करनेवाला हो, अर्थात् जिसका मूत्र एक बार थोड़ा-सा निकलकर फिर रुक जाय तथा निद्राके कारण जिसका मुँह मलिन हो रहा हो, वह भय उपस्थित करनेवाला होता है। यदि वह चढ़ने न दे अथवा चढ़ते समय उलटे घरमें चला जाय या सवारकी बायीं पसलीका स्पर्श करने लगे तो वह यात्रामें विघ्न पड़नेकी सूचना देता है। यदि शत्रु-योद्धाको देखकर हींसने लगे और स्वामीके चरणोंका स्पर्श करे तो वह विजय दिलानेवाला होता है॥ २५—३१॥

यदि हाथी गाँवमें मैथुन करे तो उस देशके लिये हानिकारक होता है। हथिनी गाँवमें बच्चा दे या पागल हो जाय तो राजाके विनाशकी सूचना देती है। यदि हाथी चढ़ने न दे, उलटे हथिसारमें चला जाय या मदकी धारा बहाने लगे तो वह राजाका घातक होता है। यदि दाहिने पैरको बायेंपर रखे और सूँड़से दाहिने दाँतका मार्जन करे तो वह शुभ होता है॥ ३२—३४॥

अपना बैल, घोड़ा अथवा हाथी शत्रुकी सेनामें चला जाय तो अशुभ होता है। यदि थोड़ी ही दूरमें बादल घिरकर अधिक वर्षा करे तो सेनाका

नाश होता है। यात्राके समय अथवा युद्धकालमें ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हों, सामनेसे हवा आ रही हो और छत्र आदि गिर जायँ तो भय उपस्थित होता है। लड़नेवाले योद्धा हर्ष और उत्साहमें भरे हों और ग्रह अनुकूल हों तो यह विजयका लक्षण है। यदि कौए और मांसाहारी जीव-जन्तु योद्धाओंका तिरस्कार करें तो मण्डलका नाश होता है। पूर्व, पश्चिम एवं ईशान दिशा प्रसन्न तथा शान्त हों तो प्रिय और शुभ फलकी प्राप्ति करानेवाली होती हैं॥ ३५—३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शकुन-वर्णन' नामक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३२॥

दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय

यात्राके मुहूर्त और द्वादश राजमण्डलका विचार

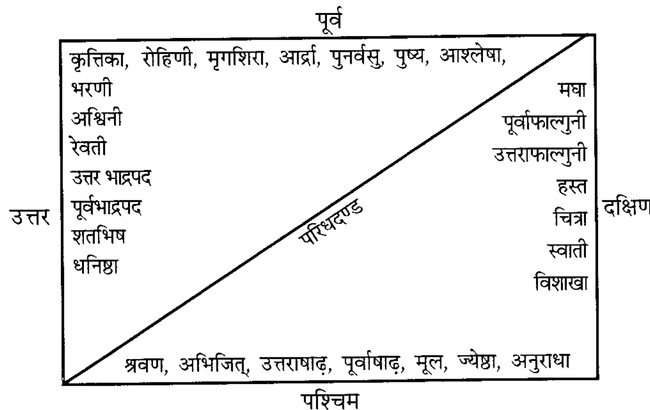
पुष्कर कहते हैं— अब मैं राजधर्मका आश्रय लेकर सबकी यात्राके विषयमें बताऊँगा। जब शुक्र अस्त हों अथवा नीच स्थानमें स्थित हों, विकलाङ्ग (अन्ध) हों, शत्रु-राशिपर विद्यमान हों अथवा वे प्रतिकूल स्थानमें स्थित या विध्वस्त हों तो यात्रा नहीं करनी चाहिये। बुध प्रतिकूल स्थानमें स्थित हों तथा दिशाका स्वामी ग्रह भी प्रतिकूल हो तो यात्रा नहीं करनी चाहिये। वैधृति, व्यतीपात, नाग, शकुनि, चतुष्पाद तथा किंस्तुघ्नयोगमें भी यात्राका परित्याग कर देना चाहिये। विपत्, मृत्यु, प्रत्यरि और जन्म—इन ताराओंमें, गण्डयोगमें तथा रिक्ता तिथिमें भी यात्रा न करे॥ १—४॥

उत्तर और पूर्व—इन दोनों दिशाओंकी एकता कही गयी है। इसी तरह पश्चिम और दक्षिण—इन दोनों दिशाओंकी भी एकता मानी गयी है। वायव्यकोणसे लेकर अग्निकोणतक जो परिघ-दण्ड रहता है, उसका उल्लङ्घन करके यात्रा नहीं करनी चाहिये। रवि, सोम और शनैश्चर—ये दिन यात्राके लिये अच्छे नहीं माने गये हैं॥ ५-६॥

कृत्तिकासे लेकर सात नक्षत्रसमूह पूर्व दिशामें रहते हैं। मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिण दिशामें रहते हैं, अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम दिशामें रहते हैं तथा धनिष्ठा आदि सात नक्षत्र उत्तर दिशामें रहते हैं। (अग्निकोणसे वायुकोणतक परिघ-दण्ड रहा करता है; अतः इस प्रकार यात्रा करनी चाहिये, जिससे परिघ-दण्डका उल्लङ्घन न हो।)* पूर्वोक्त नक्षत्र उन-उन दिशाओंके द्वार हैं; सभी द्वार उन-उन दिशाओंके लिये उत्तम हैं। अब मैं तुम्हें छायाका मान बताता हूँ॥ ७ $\frac{1}{2}$॥

रविवारको बीस, सोमवारको सोलह,

* पूर्व नक्षत्रमें पश्चिम या दक्षिण जानेसे परिघदण्डका लङ्घन होगा।



मङ्गलवारको पंद्रह, बुधको चौदह, बृहस्पतिको तेरह, शुक्रको बारह तथा शनिवारको ग्यारह अङ्गुल 'छायामान' कहा गया है, जो सभी कर्मोंके लिये विहित है। जन्म-लग्नमें तथा सामने इन्द्रधनुष उदित हुआ हो तो मनुष्य यात्रा न करे। शुभ शकुन आदि होनेपर श्रीहरिका स्मरण करते हुए विजययात्रा करनी चाहिये॥ ८—१० $\frac{1}{2}$ ॥

परशुरामजी! अब मैं आपसे मण्डलका विचार बतलाऊँगा; राजाकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये। राजा, मन्त्री, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र और जनपद—ये राज्यके सात अङ्ग बतलाये जाते हैं। इन सात अङ्गोंसे युक्त राज्यमें विघ्न डालनेवाले पुरुषोंका विनाश करना चाहिये। राजाको उचित है कि अपने सभी मण्डलोंमें वृद्धि करे। अपना मण्डल ही यहाँ सबसे पहला मण्डल है। सामन्त-नरेशोंको ही उस मण्डलका शत्रु जानना चाहिये। 'विजिगीषु' राजाके सामनेका सीमावर्ती सामन्त उसका शत्रु है। उस शत्रु-राज्यसे जिसकी सीमा लगी है, वह उक्त शत्रुका शत्रु होनेसे विजिगीषुका मित्र है। इस प्रकार शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र—ये पाँच मण्डलके आगे रहनेवाले हैं। इनका वर्णन किया गया; अब पीछे रहनेवालोंको बताता हूँ; सुनिये॥ ११—१५ $\frac{1}{2}$ ॥

पीछे रहनेवालोंमें पहला 'पार्ष्णिग्राह' है और उसके पीछे रहनेवाला 'आक्रन्द' कहलाता है। तदनन्तर इन दोनोंके पीछे रहनेवाले 'आसार' होते हैं, जिन्हें क्रमशः 'पार्ष्णिग्राहासार' और 'आक्रन्दासार' कहते हैं। नरश्रेष्ठ! विजयकी इच्छा रखनेवाला राजा, शत्रुके आक्रमणसे युक्त हो अथवा उससे मुक्त, उसकी विजयके सम्बन्धमें कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। विजिगीषु तथा शत्रु दोनोंके असंगठित रहनेपर उनका निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ तटस्थ राजा 'मध्यस्थ' कहलाता है। जो बलवान् नरेश इन तीनोंके निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ हो, उसे 'उदासीन' कहते हैं। कोई भी किसीका शत्रु या मित्र नहीं है; सभी कारणवश ही एक-दूसरेके शत्रु और मित्र होते हैं। इस प्रकार मैंने आपसे यह बारह राजाओंके मण्डलका वर्णन किया है॥ १६—२०॥

शत्रुओंके तीन भेद जानने चाहिये—कुल्य, अनन्तर और कृत्रिम। इनमें पूर्व-पूर्व शत्रु भारी होता है। अर्थात् 'कृत्रिम'की अपेक्षा 'अनन्तर' और उसकी अपेक्षा 'कुल्य' शत्रु बड़ा माना गया है; उसको दबाना बहुत कठिन होता है। 'अनन्तर' (सीमाप्रान्तवर्ती) शत्रु भी मेरी समझमें 'कृत्रिम' ही है। पार्ष्णिग्राह राजा शत्रुका मित्र होता है; तथापि प्रयत्नसे वह शत्रुका शत्रु भी हो सकता है। इसलिये नाना प्रकारके उपायोंद्वारा अपने पार्ष्णिग्राहको शान्त रखे—उसे अपने वशमें किये रहे। प्राचीन नीतिज्ञ पुरुष मित्रके द्वारा शत्रुको नष्ट करा डालनेकी प्रशंसा करते हैं। सामन्त (सीमा-निवासी) होनेके कारण मित्र भी आगे चलकर शत्रु हो जाता है; अतः विजय चाहनेवाले राजाको उचित है कि यदि अपनेमें शक्ति हो तो स्वयं ही शत्रुका विनाश करे; (मित्रकी सहायता न ले) क्योंकि मित्रका प्रताप बढ़ जानेपर उससे भी भय प्राप्त होता है और प्रतापहीन शत्रुसे भी भय नहीं होता। विजिगीषु राजाको धर्मविजयी होना चाहिये तथा वह लोगोंको इस प्रकार अपने वशमें करे, जिससे किसीको उद्वेग न हो और सबका उसपर विश्वास बना रहे॥ २१—२६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यात्रामण्डलचिन्ता आदिका कथन' नामक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३३॥

दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय

दण्ड, उपेक्षा, माया और साम आदि नीतियोंका उपयोग

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! साम, भेद, दान और दण्डकी चर्चा हो चुकी है और अपने राज्यमें दण्डका प्रयोग कैसे करना चाहिये?—यह बात भी बतलायी जा चुकी है। अब शत्रुके देशमें इन चारों उपायोंके उपयोगका प्रकार बतला रहा हूँ॥ १॥

'गुप्त' और 'प्रकाश'—दो प्रकारका दण्ड कहा गया है। लूटना, गाँवको गर्दमें मिला देना, खेती नष्ट कर डालना और आग लगा देना—ये 'प्रकाश दण्ड' हैं। जहर देना, चुपकेसे आग लगाना, नाना प्रकारके मनुष्योंके द्वारा किसीका वध करा देना, सत्पुरुषोंपर दोष लगाना और पानीको दूषित करना—ये 'गुप्त दण्ड' हैं॥ २-३॥

भृगुनन्दन! यह दण्डका प्रयोग बताया गया; अब 'उपेक्षा'की बात सुनिये—जब राजा ऐसा समझे कि युद्धमें मेरा किसीके साथ वैर-विरोध नहीं है, व्यर्थका लगाव अनर्थका ही कारण होगा; संधिका परिणाम भी ऐसा ही (अनर्थकारी) होनेवाला है; सामका प्रयोग यहाँ किया गया, किंतु लाभ न हुआ; दानकी नीतिसे भी केवल धनका क्षय ही होगा तथा भेद और दण्डके सम्बन्धसे भी कोई लाभ नहीं है; उस दशामें 'उपेक्षा'का आश्रय ले (अर्थात् संधि-विग्रहसे अलग हो जाय)। जब ऐसा जान पड़े कि अमुक व्यक्ति शत्रु हो जानेपर भी मेरी कोई हानि नहीं कर सकता तथा मैं भी इस समय इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उस समय 'उपेक्षा' कर जाय। उस अवस्थामें राजाको उचित है कि वह अपने शत्रुको अवज्ञा (उपेक्षा)-से ही उपहत करे॥ ४—७॥

अब मायामय (कपटपूर्ण) उपायोंका वर्णन करूँगा। राजा झूठे उत्पातोंका प्रदर्शन करके शत्रुको उद्वेगमें डाले। शत्रुकी छावनीमें रहनेवाले स्थूल पक्षीको पकड़कर उसकी पूँछमें जलता हुआ लूक बाँध दे; वह लूक बहुत बड़ा होना चाहिये। उसे बाँधकर पक्षीको उड़ा दे और इस प्रकार यह दिखावे कि 'शत्रुकी छावनीपर उल्कापात हो रहा है।' इसी प्रकार और भी बहुत-से उत्पात दिखाने चाहिये। भाँति-भाँतिकी माया प्रकट करनेवाले मदारियोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुओंको उद्विग्न करे। ज्यौतिषी और तपस्वी जाकर शत्रुसे कहें कि 'तुम्हारे नाशका योग आया हुआ है।' इस तरह पृथ्वीपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले राजाको उचित है कि अनेकों उपायोंसे शत्रुको भयभीत करे। शत्रुओंपर यह भी प्रकट करा दे कि 'मुझपर देवताओंकी कृपा है—मुझे उनसे वरदान मिल चुका है।' युद्ध छिड़ जाय तो अपने सैनिकोंसे कहे—'वीरो! निर्भय होकर प्रहार करो, मेरे मित्रोंकी सेनाएँ आ पहुँचीं; अब शत्रुओंके पाँव उखड़ गये हैं—वे भाग रहे हैं'—यों कहकर गर्जना करे, किलकारियाँ भरे और योद्धाओंसे कहे—'मेरा शत्रु मारा गया।' देवताओंके आदेशसे वृद्धिको प्राप्त हुआ राजा कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धमें पदार्पण करे॥ ८—१३ $\frac{१}{२}$॥

अब 'इन्द्रजाल'के विषयमें कहता हूँ। राजा समयानुसार इन्द्रकी मायाका प्रदर्शन करे। शत्रुओंको दिखावे कि 'मेरी सहायताके लिये देवताओंकी चतुरङ्गिणी सेना आ गयी।' फिर शत्रु-सेनापर रक्तकी वर्षा करे और मायाद्वारा यह प्रयत्न करे कि महलके ऊपर शत्रुओंके कटे हुए मस्तक दिखायी दें॥ १४-१५ $\frac{१}{२}$॥

अब मैं छः गुणोंका वर्णन करूँगा; इनमें 'संधि' और 'विग्रह' प्रधान हैं। संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—ये छः गुण कहे गये हैं। किसी शर्तपर शत्रुके साथ मेल

करना 'संधि' कहलाता है। युद्ध आदिके द्वारा उसे हानि पहुँचाना 'विग्रह' है। विजयाभिलाषी राजा जो शत्रुके ऊपर चढ़ाई करता है, उसीका नाम 'यात्रा' अथवा 'यान' है। विग्रह छेड़कर अपने ही देशमें स्थित रहना 'आसन' कहलाता है। (आधी सेनाको किलेमें छिपाकर) आधी सेनाके साथ युद्धकी यात्रा करना 'द्वैधीभाव' कहा गया है। उदासीन अथवा मध्यम राजाकी शरण लेनेका नाम 'संश्रय' है॥ १६—१९ $\frac{१}{२}$ ॥

जो अपनेसे हीन न होकर बराबर या अधिक प्रबल हो, उसीके साथ संधिका विचार करना चाहिये। यदि राजा स्वयं बलवान् हो और शत्रु अपनेसे हीन—निर्बल जान पड़े, तो उसके साथ विग्रह करना ही उचित है। हीनावस्थामें भी यदि अपना पार्ष्णिग्राह विशुद्ध स्वभावका हो, तभी बलिष्ठ राजाका आश्रय लेना चाहिये। यदि युद्धके लिये यात्रा न करके बैठे रहनेपर भी राजा अपने शत्रुके कार्यका नाश कर सके तो पार्ष्णिग्राहका स्वभाव शुद्ध न होनेपर भी वह विग्रह ठानकर चुपचाप बैठा रहे। अथवा पार्ष्णिग्राहका स्वभाव शुद्ध न होनेपर राजा द्वैधीभाव-नीतिका आश्रय ले। जो निस्संदेह बलवान् राजाके विग्रहका शिकार हो जाय, उसीके लिये संश्रय-नीतिका अवलम्बन उचित माना गया है। यह 'संश्रय' साम आदि सभी गुणोंमें अधम है। संश्रयके योग्य अवस्थामें पड़े हुए राजा यदि युद्धकी यात्रा करें तो वह उनके जन और धनका नाश करनेवाली बतायी गयी है। यदि किसीकी शरण लेनेसे पीछे अधिक लाभकी सम्भावना हो तो राजा संश्रयका अवलम्बन करे। सब प्रकारकी शक्तिका नाश हो जानेपर ही दूसरेकी शरण लेनी चाहिये॥ २०—२५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'षाड्गुण्यका वर्णन' नामक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३४॥

दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय

राजाकी नित्यचर्या

पुष्कर कहते हैं— परशुरामजी! अब निरन्तर किये जाने योग्य कर्मका वर्णन करता हूँ, जिसका प्रतिदिन आचरण करना उचित है। जब दो घड़ी रात बाकी रहे तो राजा नाना प्रकारके वाद्यों, बन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुतियों तथा मङ्गल-गीतोंकी ध्वनि सुनकर निद्राका परित्याग करे। तत्पश्चात् गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों)-से मिले। वे गुप्तचर ऐसे हों, जिन्हें कोई भी यह न जान सके कि ये राजाके ही कर्मचारी हैं। इसके बाद विधिपूर्वक आय और व्ययका हिसाब सुने। फिर शौच आदिसे निवृत्त होकर राजा स्नानगृहमें प्रवेश करे। वहाँ नरेशको पहले दन्तधावन (दाँतुन) करके फिर स्नान करना चाहिये। तत्पश्चात् संध्योपासना करके भगवान् वासुदेवका पूजन करना उचित है। तदनन्तर राजा पवित्रतापूर्वक अग्निमें आहुति दे; फिर जल लेकर पितरोंका तर्पण करे। इसके बाद ब्राह्मणोंका आशीर्वाद सुनते हुए उन्हें सुवर्णसहित दूध देनेवाली गौ दान दे॥ १—५॥

इन सब कार्योंसे अवकाश पाकर चन्दन और आभूषण धारण करे तथा दर्पणमें अपना मुँह देखे। साथ ही सुवर्णयुक्त घृतमें भी मुँह देखे। फिर दैनिक-कथा आदिका श्रवण करे। तदनन्तर वैद्यकी बतायी हुई दवाका सेवन करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करे। फिर गुरुके पास जाकर उनका दर्शन करे और उनका आशीर्वाद लेकर राजसभामें प्रवेश करे॥ ६-७॥

महाभाग! सभामें विराजमान होकर राजा ब्राह्मणों, अमात्यों तथा मन्त्रियोंसे मिले। साथ ही द्वारपालने जिनके आनेकी सूचना दी हो, उन प्रजाओंको भी बुलाकर उन्हें दर्शन दे; उनसे मिले। फिर इतिहासका श्रवण करके राज्यका कार्य देखे। नाना प्रकारके कार्योंमें जो कार्य अत्यन्त आवश्यक हो, उसका निश्चय करे। तत्पश्चात् प्रजाके मामले-मुकद्दमोंको देखे और मन्त्रियोंके साथ गुप्त परामर्श करे। मन्त्रणा न तो एकके साथ करे, न अधिक मनुष्योंके साथ; न मूर्खोंके साथ और न अविश्वसनीय पुरुषोंके साथ ही करे। उसे सदा गुप्तरूपसे ही करे; दूसरोंपर प्रकट न होने दे। मन्त्रणाको अच्छी तरह छिपाकर रखे, जिससे राज्यमें कोई बाधा न पहुँचे। यदि राजा अपनी आकृतिको परिवर्तित न होने दे—सदा एक रूपमें रहे तो यह गुप्त मन्त्रणाकी रक्षाका सबसे बड़ा उपाय माना गया है; क्योंकि बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष आकार और चेष्टाएँ देखकर ही गुप्तमन्त्रणाका पता लगा लेते हैं। राजाको उचित है कि वह ज्यौतिषियों, वैद्यों और मन्त्रियोंकी बात माने। इससे वह ऐश्वर्यको प्राप्त करता है; क्योंकि ये लोग राजाको अनुचित कार्योंसे रोकते और हितकर कामोंमें लगाते हैं॥ ८—१२ $\frac{1}{2}$ ॥

मन्त्रणा करनेके पश्चात् राजाको रथ आदि वाहनोंके हाँकने और शस्त्र चलानेका अभ्यास करते हुए कुछ कालतक व्यायाम करना चाहिये। युद्ध आदिके अवसरोंपर वह स्नान करके भलीभाँति पूजित हुए भगवान् विष्णुका, हवनके पश्चात् प्रज्वलित हुए अग्निदेवका तथा दान-मान आदिसे सत्कृत ब्राह्मणोंका दर्शन करे। दान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर राजा भलीभाँति जाँचे-बूझे हुए अन्नका भोजन करे। भोजनके अनन्तर पान खाकर बायीं करवटसे थोड़ी देरतक लेटे। प्रतिदिन शास्त्रोंका चिन्तन और योद्धाओं, अन्न-भण्डार तथा शस्त्रागारका निरीक्षण करे। दिनके अन्तमें सायं-संध्या करके अन्य कार्योंका विचार करे और आवश्यक कामोंपर गुप्तचरोंको भेजकर रात्रिमें भोजनके पश्चात् अन्तःपुरमें जाकर रहे। वहाँ संगीत और वाद्योंसे मनोरञ्जन करके सो जाय तथा दूसरोंके द्वारा आत्मरक्षाका पूरा प्रबन्ध रखे। राजाको प्रतिदिन ऐसा ही करना चाहिये॥ १३—१७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'प्रात्यहिक राजकर्मका कथन' नामक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३५॥

दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय

संग्राम-दीक्षा—युद्धके समय पालन करनेयोग्य नियमोंका वर्णन

पुष्कर कहते हैं—परशुरामजी! अब मैं रणयात्राकी विधि बतलाते हुए संग्रामकालके लिये उचित कर्तव्योंका वर्णन करूँगा। जब राजाकी युद्धयात्रा एक सप्ताहमें होनेवाली हो, उस समय पहले दिन भगवान् विष्णु और शंकरजीकी पूजा करनी चाहिये। साथ ही मोदक (मिठाई) आदिके द्वारा गणेशजीका पूजन करना उचित है। दूसरे दिन दिक्पालोंकी पूजा करके राजा शयन करे। शय्यापर बैठकर अथवा उसके पहले देवताओंकी पूजा करके निम्नाङ्कित (भाववाले) मन्त्रका स्मरण करे—'भगवान् शिव! आप तीन नेत्रोंसे विभूषित, 'रुद्र' के नामसे प्रसिद्ध, वरदायक, वामन, विकटरूपधारी और स्वप्नके अधिष्ठाता देवता हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। भगवन्! आप देवाधिदेवोंके भी स्वामी, त्रिशूलधारी और वृषभपर सवारी करनेवाले हैं। सनातन परमेश्वर! मेरे सो जानेपर स्वप्नमें आप मुझे यह बता दें कि 'इस युद्धसे मेरा इष्ट होनेवाला है या अनिष्ट?' उस समय

पुरोहितको **'यज्जाग्रतो दूरमुदैति०'** (यजु०३४।१)— इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। तीसरे दिन दिशाओंकी रक्षा करनेवाले रुद्रों तथा दिशाओंके अधिपतियोंकी पूजा करे; चौथे दिन ग्रहों और पाँचवें दिन अश्विनीकुमारोंका यजन करे। मार्गमें जो देवी, देवता तथा नदी आदि पड़ें, उनका भी पूजन करना चाहिये। द्युलोकमें, अन्तरिक्षमें तथा भूमिपर निवास करनेवाले देवताओंको बलि अर्पण करे। रातमें भूतगणोंको भी बलि दे। भगवान् वासुदेव आदि देवताओं तथा भद्रकाली और लक्ष्मी आदि देवियोंकी भी पूजा करे। इसके बाद सम्पूर्ण देवताओंसे प्रार्थना करे॥ १—८॥

'वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, नरसिंह, वराह, शिव, ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात, सूर्य, सोम, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, गणेश, कार्तिकेय, चण्डिका, उमा, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, ब्रह्माणी आदि गण, रुद्र, इन्द्रादि देव, अग्नि, नाग, गरुड तथा द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं भूमिपर निवास करनेवाले अन्यान्य देवता मेरी विजयके साधक हों। मेरी दी हुई यह भेंट और पूजा स्वीकार करके सब देवता युद्धमें मेरे शत्रुओंका मर्दन करें। देवगण! मैं माता, पुत्र और भृत्योंसहित आपकी शरणमें आया हूँ। आपलोग शत्रु-सेनाके पीछे जाकर उनका नाश करनेवाले हैं, आपको हमारा नमस्कार है। युद्धमें विजय पाकर यदि लौटूँगा तो आपलोगोंको इस समय जो पूजा और भेंट दी है, उससे भी अधिक मात्रामें पूजा चढ़ाऊँगा'॥ ९—१४॥

छठे दिन राज्याभिषेककी भाँति विजय-स्नान करना चाहिये तथा यात्राके सातवें दिन भगवान् त्रिविक्रम (वामन)-का पूजन करना आवश्यक है। नीराजनके लिये बताये हुए मन्त्रोंद्वारा अपने आयुध और वाहनकी भी पूजा करे। साथ ही ब्राह्मणोंके मुखसे 'पुण्याह' और 'जय' शब्दके साथ निम्नाङ्कित भाववाले मन्त्रका श्रवण करे— 'राजन्! द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमिपर निवास करनेवाले देवता तुम्हें दीर्घायु प्रदान करें। तुम देवताओंके समान सिद्धि प्राप्त करो। तुम्हारी यह यात्रा देवताओंकी यात्रा हो तथा सम्पूर्ण देवता तुम्हारी रक्षा करें।' यह आशीर्वाद सुनकर राजा आगे यात्रा करे। **'धन्वना गा०'** (यजु० २।३९) इत्यादि मन्त्रद्वारा धनुष-बाण हाथमें लेकर **'तद्विष्णोः०'** (यजु० ६।५) इस मन्त्रका जप करते हुए शत्रुके सामने दाहिना पैर बढ़ाकर बत्तीस पग आगे जाय; फिर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तरमें जानेके लिये क्रमशः हाथी, रथ, घोड़े तथा भार ढोनेमें समर्थ जानवरपर सवार होवे और जुझाऊ बाजोंके साथ आगेकी यात्रा करे; पीछे फिरकर न देखे॥ १५—२०॥

एक कोस जानेके बाद ठहर जाय और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करे। पीछे आती हुई अपनी सेनाकी रक्षा करते हुए ही राजाको दूसरेके देशमें यात्रा करनी चाहिये। विदेशमें जानेपर भी अपने देशके आचारका पालन करना राजाका कर्तव्य है। वह प्रतिदिन देवताओंका पूजन करे, किसीकी आय नष्ट न होने दे और उस देशके मनुष्योंका कभी अपमान न करे। विजय पाकर पुनः अपने नगरमें लौट आनेपर राजा देवताओंकी पूजा करे और दान दे। जब दूसरे दिन संग्राम छिड़नेवाला हो तो पहले दिन हाथी, घोड़े आदि वाहनोंको नहलावे तथा भगवान् नृसिंहका पूजन करे। रात्रिमें छत्र आदि राजचिह्नों, अस्त्र-शस्त्रों तथा भूतगणोंकी अर्चना करके सबेरे पुनः भगवान् नृसिंहकी एवं सम्पूर्ण वाहन आदिकी पूजा करे। पुरोहितके द्वारा हवन किये हुए अग्निदेवका दर्शन करके स्वयं भी उसमें आहुति डाले और ब्राह्मणोंका सत्कार करके धनुष-बाण ले, हाथी आदिपर

सवार हो युद्धके लिये जाय। शत्रुके देशमें अदृश्य रहकर प्रकृति-कल्पना (मोर्चाबंदी) करे। यदि अपने पास थोड़े-से सैनिक हों तो उन्हें एक जगह संगठित रखकर युद्धमें प्रवृत्त करे और यदि योद्धाओंकी संख्या अधिक हो तो उन्हें इच्छानुसार फैला दे (अर्थात् उन्हें बहुत दूरमें खड़ा करके युद्धमें लगावे)॥ २१—२७॥

थोड़े-से सैनिकोंका अधिक संख्यावाले योद्धाओंके साथ युद्ध करनेके लिये 'सूचीमुख' नामक व्यूह उपयोगी होता है। व्यूह दो प्रकारके बताये गये हैं—प्राणियोंके शरीरकी भाँति और द्रव्यस्वरूप। गरुडव्यूह, मकरव्यूह, चक्रव्यूह, श्येनव्यूह, अर्धचन्द्रव्यूह, वज्रव्यूह, शकटव्यूह, सर्वतोभद्रमण्डलव्यूह और सूचीव्यूह—ये नौ व्यूह प्रसिद्ध हैं। सभी व्यूहोंके सैनिकोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया जाता है। दो पक्ष, दो अनुपक्ष और एक पाँचवाँ भाग भी अवश्य रखना चाहिये। योद्धाओंके एक या दो भागोंसे युद्ध करे और तीन भागोंको उनकी रक्षाके लिये रखे। स्वयं राजाको कभी व्यूहमें नियुक्त नहीं करना चाहिये; क्योंकि राजा ही सबकी जड़ है, उस जड़के कट जानेपर सारे राज्यका विनाश हो जाता है; अतः स्वयं राजा युद्धमें प्रवृत्त न हो। वह सेनाके पीछे एक कोसकी दूरीपर रहे। वहाँ रहते हुए राजाका यह कार्य बताया गया है कि वह युद्धसे भागे हुए सिपाहियोंको उत्साहित करके धैर्य बँधावे। सेनाके प्रधान (अर्थात् सेनापति)-के भागने या मारे जानेपर सेना नहीं ठहर पाती। व्यूहमें योद्धाओंको न तो एक-दूसरेसे सटाकर खड़ा करे और न बहुत दूर-दूरपर ही; उनके बीचमें इतनी ही दूरी रहनी चाहिये, जिससे एक-दूसरेके हथियार आपसमें टकराने न पावें॥ २८—३५॥

जो शत्रु-सेनाकी मोर्चाबंदी तोड़ना चाहता हो, वह अपने संगठित योद्धाओंके द्वारा ही उसे तोड़नेका प्रयत्न करे तथा शत्रुके द्वारा भी यदि अपनी सेनाके व्यूह-भेदनके लिये प्रयत्न हो रहा हो तो उसकी रक्षाके लिये संगठित वीरोंको ही नियुक्त करना चाहिये। अपनी इच्छाके अनुसार सेनाका ऐसा व्यूह बनावे, जो शत्रुके व्यूहमें घुसकर उसका भेदन कर सके। हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये चार रथ नियुक्त करे। रथकी रक्षाके लिये चार घुड़सवार, उनकी रक्षाके लिये उतने ही ढाल लेकर युद्ध करनेवाले सिपाही तथा ढालवालोंके बराबर ही धनुर्धर वीरोंको तैनात करे। युद्धमें सबसे आगे ढाल लेनेवाले योद्धाओंको स्थापित करे। उनके पीछे धनुर्धर योद्धा, धनुर्धरोंके पीछे घुड़सवार, घुड़सवारोंके पीछे रथ और रथोंके पीछे राजाको हाथियोंकी सेना नियुक्त करनी चाहिये॥ ३६—३९॥

पैदल, हाथीसवार और घुड़सवारोंको प्रयत्नपूर्वक धर्मानुकूल युद्धमें संलग्न रहना चाहिये। युद्धके मुहानेपर शूरवीरोंको ही तैनात करे, डरपोक स्वभाववाले सैनिकोंको वहाँ कदापि न खड़ा होने दे। शूरवीरोंको आगे खड़ा करके ऐसा प्रबन्ध करे, जिससे वीर स्वभाववाले योद्धाओंको केवल शत्रुओंका जत्थामात्र दिखायी दे (उनके भयंकर पराक्रमपर उनकी दृष्टि न पड़े); तभी वे शत्रुओंको भगानेवाला पुरुषार्थ कर सकते हैं। भीरु पुरुष आगे रहें तो वे भागकर सेनाका व्यूह स्वयं ही तोड़ डालते हैं; अतः उन्हें आगे न रखे। शूरवीर आगे रहनेपर भीरु पुरुषोंको युद्धके लिये सदा उत्साह ही प्रदान करते रहते हैं। जिनका कद ऊँचा, नासिका तोतेके समान नुकीली, दृष्टि सौम्य तथा दोनों भौंहें मिली हुई हों, जो क्रोधी, कलहप्रिय, सदा हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले तथा कामपरायण हों, उन्हें शूरवीर समझना चाहिये॥ ४०—४३ $\frac{१}{२}$॥

संगठित वीरोंमेंसे जो मारे जायँ अथवा घायल

हों, उनको युद्धभूमिसे दूर हटाना, युद्धके भीतर जाकर हाथियोंको पानी पिलाना तथा हथियार पहुँचाना—ये सब पैदल सिपाहियोंके कार्य हैं। अपनी सेनाका भेदन करनेकी इच्छा रखनेवाले शत्रुओंसे उसकी रक्षा करना और संगठित होकर युद्ध करनेवाले शत्रु-वीरोंका व्यूह तोड़ डालना—यह ढाल लेकर युद्ध करनेवाले योद्धाओंका कार्य बताया गया है। युद्धमें विपक्षी योद्धाओंको मार भगाना धनुर्धर वीरोंका काम है। अत्यन्त घायल हुए योद्धाको युद्धभूमिसे दूर ले जाना, फिर युद्धमें आना तथा शत्रुकी सेनामें त्रास उत्पन्न करना—यह सब रथी वीरोंका कार्य बतलाया जाता है। संगठित व्यूहको तोड़ना, टूटे हुएको जोड़ना तथा चहारदीवारी, तोरण (सदर दरवाजा), अट्टालिका और वृक्षोंको भङ्ग कर डालना—यह अच्छे हाथीका पराक्रम है। ऊँची-नीची भूमिको पैदल सेनाके लिये उपयोगी जानना चाहिये, रथ और घोड़ोंके लिये समतल भूमि उत्तम है तथा कीचड़से भरी हुई युद्धभूमि हाथियोंके लिये उपयोगी बतायी गयी है॥ ४४—४९ $\frac{१}{२}$ ॥

इस प्रकार व्यूह-रचना करके जब सूर्य पीठकी ओर हों तथा शुक्र, शनैश्चर और दिक्पाल अपने अनुकूल हों, सामनेसे मन्द-मन्द हवा आ रही हो, उस समय उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा नाम एवं गोत्रकी प्रशंसा करते हुए सम्पूर्ण योद्धाओंमें उत्तेजना भरता रहे। साथ ही यह बात भी बताये कि 'युद्धमें विजय होनेपर उत्तम-उत्तम भोगोंकी प्राप्ति होगी और मृत्यु हो जानेपर स्वर्गका सुख मिलेगा।' वीर पुरुष शत्रुओंको जीतकर मनोवाञ्छित भोग प्राप्त करता है और युद्धमें प्राणत्याग करनेपर उसे परमगति मिलती है। इसके सिवा वह जो स्वामीका अन्न खाये रहता है, उसके ऋणसे छुटकारा पा जाता है; अतः युद्धके समान श्रेष्ठ गति दूसरी कोई नहीं है। शूरवीरोंके शरीरसे जब रक्त निकलता है, तब वे पापमुक्त हो जाते हैं। युद्धमें जो शस्त्र-प्रहार आदिका कष्ट सहना पड़ता है, वह बहुत बड़ी तपस्या है। रणमें प्राणत्याग करनेवाले शूरवीरके साथ हजारों सुन्दरी अप्सराएँ चलती हैं। जो सैनिक हतोत्साह होकर युद्धसे पीठ दिखाते हैं, उनका सारा पुण्य मालिकको मिल जाता है और स्वयं उन्हें पग-पगपर एक-एक ब्रह्महत्याके पापका फल प्राप्त होता है। जो अपने सहायकोंको छोड़कर चल देता है, देवता उसका विनाश कर डालते हैं। जो युद्धसे पीछे पैर नहीं हटाते, उन बहादुरोंके लिये अश्वमेध-यज्ञका फल बताया गया है॥ ५०—५६ ॥

यदि राजा धर्मपर दृढ़ रहे तो उसकी विजय होती है। योद्धाओंको अपने समान योद्धाओंके साथ ही युद्ध करना चाहिये। हाथीसवार आदि सैनिक हाथीसवार आदिके ही साथ युद्ध करें। भागनेवालोंको न मारें। जो लोग केवल युद्ध देखनेके लिये आये हों, अथवा युद्धमें सम्मिलित होनेपर भी जो शस्त्रहीन एवं भूमिपर गिरे हुए हों, उनको भी नहीं मारना चाहिये। जो योद्धा शान्त हो या थक गया हो, नींदमें पड़ा हो तथा नदी या जंगलके बीचमें उतरा हो, उसपर भी प्रहार न करे। दुर्दिनमें शत्रुके नाशके लिये कूटयुद्ध (कपटपूर्ण संग्राम) करे। दोनों बाहें ऊपर उठाकर जोर-जोरसे पुकारकर कहे—'यह देखो, हमारे शत्रु भाग चले, भाग चले। इधर हमारी ओर मित्रोंकी बहुत बड़ी सेना आ पहुँची; शत्रुओंकी सेनाका संचालन करनेवाला मार गिराया गया। यह सेनापति भी मौतके घाट उतर गया। साथ ही शत्रुपक्षके राजाने भी प्राणत्याग कर दिया'॥ ५७—६० ॥

भागते हुए विपक्षी योद्धाओंको अनायास ही मारा जा सकता है। धर्मके जाननेवाले परशुरामजी! शत्रुओंको मोहित करनेके लिये कृत्रिम धूपकी

सुगन्ध भी फैलानी चाहिये। विजयकी पताकाएँ दिखानी चाहिये, बाजोंका भयंकर समारोह करना चाहिये। इस प्रकार जब युद्धमें विजय प्राप्त हो जाय तो देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। अमात्यके द्वारा किये हुए युद्धमें जो रत्न आदि उपलब्ध हों, वे राजाको ही अर्पण करने चाहिये। शत्रुकी स्त्रियोंपर किसीका भी अधिकार नहीं होता। स्त्री शत्रुकी हो तो भी उसकी रक्षा ही करनी चाहिये। संग्राममें सहायकोंसे रहित शत्रुको पाकर उसका पुत्रकी भाँति पालन करना चाहिये। उसके साथ पुनः युद्ध करना उचित नहीं है। उसके प्रति देशोचित आचारादिका पालन करना कर्तव्य है॥ ६१—६४॥

युद्धमें विजय पानेके पश्चात् अपने नगरमें जाकर 'ध्रुव' संज्ञक नक्षत्र (तीनों उत्तरा और रोहिणी)-में राजमहलके भीतर प्रवेश करे। इसके बाद देवताओंका पूजन और सैनिकोंके परिवारके भरण-पोषणका प्रबन्ध करना चाहिये। शत्रुके यहाँसे मिले हुए धनका कुछ भाग भृत्योंको भी बाँट दे। इस प्रकार यह रणकी दीक्षा बतायी गयी है; इसके अनुसार कार्य करनेसे राजाको निश्चय ही विजयकी प्राप्ति होती है॥ ६५-६६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रणदीक्षा-वर्णन' नामक
दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३६॥

दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय

लक्ष्मीस्तोत्र और उसका फल

पुष्कर कहते हैं— परशुरामजी! पूर्वकालमें इन्द्रने राज्यलक्ष्मीकी स्थिरताके लिये जिस प्रकार भगवती लक्ष्मीकी स्तुति की थी, उसी प्रकार राजा भी अपनी विजयके लिये उनका स्तवन करे॥ १॥

इन्द्र बोले— जो सम्पूर्ण लोकोंकी जननी हैं, समुद्रसे जिनका आविर्भाव हुआ है, जिनके नेत्र खिले हुए कमलके समान शोभायमान हैं तथा जो भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें विराजमान हैं, उन लक्ष्मीदेवीको मैं प्रणाम करता हूँ। जगत्को पवित्र करनेवाली देवि! तुम्हीं सिद्धि हो और तुम्हीं स्वधा, स्वाहा, सुधा, संध्या, रात्रि, प्रभा, भूति, मेधा, श्रद्धा और सरस्वती हो। शोभामयी देवि! तुम्हीं यज्ञविद्या, महाविद्या, गुह्यविद्या तथा मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाली आत्मविद्या हो। आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र), त्रयी (ऋक्, साम, यजु), वार्ता (जीविका-प्रधान कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य कर्म) तथा दण्डनीति भी तुम्हीं हो। देवि! तुम स्वयं सौम्यस्वरूपवाली (सुन्दरी) हो; अतः तुमसे व्याप्त होनेके कारण इस जगत्का रूप भी सौम्य—मनोहर दिखायी देता है। भगवति! तुम्हारे सिवा दूसरी कौन स्त्री है, जो कौमोदकी गदा धारण करनेवाले देवाधिदेव भगवान् विष्णुके अखिल यज्ञमय विग्रहको, जिसका योगीलोग चिन्तन करते हैं, अपना निवासस्थान बना सके। देवि! तुम्हारे त्याग देनेसे समस्त त्रिलोकी नष्टप्राय हो गयी थी; किंतु इस समय पुनः तुम्हारा ही सहारा पाकर यह समृद्धिपूर्ण दिखायी देती है। महाभागे! तुम्हारी कृपादृष्टिसे ही मनुष्योंको सदा स्त्री, पुत्र, गृह, मित्र और धन-धान्य आदिकी प्राप्ति होती है। देवि! जिन पुरुषोंपर आपकी दयादृष्टि पड़ जाती है, उन्हें शरीरकी नीरोगता, ऐश्वर्य, शत्रुपक्षकी हानि और सब प्रकारके सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं। मातः! तुम सम्पूर्ण भूतोंकी जननी और देवाधिदेव विष्णु सबके पिता हैं। तुमने और भगवान् विष्णुने इस चराचर जगत्को व्याप्त कर रखा है। सबको पवित्र करनेवाली देवि! तुम मेरी मान-प्रतिष्ठा, खजाना, अन्न-भण्डार, गृह,

साज-सामान, शरीर और स्त्री—किसीका भी त्याग न करो। भगवान् विष्णुके वक्ष:स्थलमें वास करनेवाली लक्ष्मी! मेरे पुत्र, मित्रवर्ग, पशु तथा आभूषणोंको भी न त्यागो। विमलस्वरूपा देवि! जिन मनुष्योंको तुम त्याग देती हो, उन्हें सत्य, समता, शौच तथा शील आदि सद्गुण भी तत्काल ही छोड़ देते हैं। तुम्हारी कृपादृष्टि पड़नेपर गुणहीन मनुष्य भी तुरंत ही शील आदि सम्पूर्ण उत्तम गुणों तथा पीढ़ियोंतक बने रहनेवाले ऐश्वर्यसे युक्त हो जाते हैं। देवि! जिसको तुमने अपनी दयादृष्टिसे एक बार देख लिया, वही श्लाघ्य (प्रशंसनीय), गुणवान्, धन्यवादका पात्र, कुलीन, बुद्धिमान्, शूर और पराक्रमी हो जाता है। विष्णुप्रिये! तुम जगत्की माता हो। जिसकी ओरसे तुम मुँह फेर लेती हो, उसके शील आदि सभी गुण तत्काल दुर्गुणके रूपमें बदल जाते हैं। कमलके समान नेत्रोंवाली देवि! ब्रह्माजीकी जिह्वा भी तुम्हारे गुणोंका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। मुझपर प्रसन्न हो जाओ तथा कभी भी मेरा परित्याग न करो॥ २—१७॥

पुष्कर कहते हैं—इन्द्रके इस प्रकार स्तवन करनेपर भगवती लक्ष्मीने उन्हें राज्यकी स्थिरता और संग्राममें विजय आदिका अभीष्ट वरदान दिया। साथ ही अपने स्तोत्रका पाठ या श्रवण करनेवाले पुरुषोंके लिये भी उन्होंने भोग तथा मोक्ष मिलनेके लिये वर प्रदान किया। अत: मनुष्यको चाहिये कि सदा ही लक्ष्मीके इस स्तोत्रका पाठ और श्रवण करे*॥ १८-१९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'श्रीस्तोत्रका वर्णन' नामक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३७॥

---

* पुष्कर उवाच—

राज्यलक्ष्मीस्थिरत्वाय यथेन्द्रेण पुरा श्रिय:। स्तुति: कृता तथा राजा जयार्थं स्तुतिमाचरेत्॥

इन्द्र उवाच—

नमस्ये सर्वलोकानां जननीमब्धिसम्भवाम्। श्रियमुन्निद्रपद्माक्षीं विष्णुवक्ष:स्थलस्थिताम्॥
त्वं सिद्धिस्त्वं स्वधा स्वाहा सुधा त्वं लोकपावनि। संध्या रात्रि: प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती॥
यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने। आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्त्वमेव च। सौम्या सौम्यं जगद्रूपं त्वयैतद्देवि पूरितम्॥
का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमयं वपु:। अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्यं गदाभृत:॥
त्वया देवि परित्यक्तं सकलं भुवनत्रयम्। विनष्टप्रायमभवत् त्वयेदानीं समेधितम्॥
दारा: पुत्रास्तथागारं सुहृद्धान्यधनादिकम्। भवत्येतन्महाभागे नित्यं त्वद्वीक्षणान्नृणाम्॥
शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षय: सुखम्। देवि त्वद्दृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम्॥
त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरि: पिता। त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्॥
मानं कोषं तथा कोष्ठं मा गृहं मा परिच्छदम्। मा शरीरं कलत्रं च त्यजेथा: सर्वपावनि॥
मा पुत्रान् मा सुहृद्वर्गान् मा पशून् मा विभूषणम्। त्यजेथा मम देवस्य विष्णोर्वक्ष:स्थलालये॥
सत्येन समशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणै:। त्यज्यन्ते ते नरा: सद्य: संत्यक्ता ये त्वयामले॥
त्वयावलोकिता: सद्य: शीलाद्यैरखिलैर्गुणै:। कुलैश्वर्यैश्च युज्यन्ते पुरुषा निर्गुणा अपि॥
स श्लाघ्य: स गुणी धन्य: स कुलीन: स बुद्धिमान्। स शूर: स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षित:॥
सद्यो वैगुण्यमायान्ति शीलाद्या: सकला गुणा:। पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णुवल्लभे॥
न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वापि वेधस:। प्रसीद देवि पद्माक्षि मास्मांस्त्याक्षी: कदाचन॥

पुष्कर उवाच

एवं स्तुता ददौ श्रीश्च वरमिन्द्राय चेप्सितम्। सुस्थिरत्वं च राज्यस्य संग्रामविजयादिकम्॥
स्वस्तोत्रपाठश्रवणकर्तृणां भुक्तिमुक्तिदम्। श्रीस्तोत्रं सततं तस्मात् पठेच्च श्रृणुयान्नर:॥

(अग्निपुराण २३७। १—१९)

दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय

श्रीरामके द्वारा उपदिष्ट राजनीति

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! मैंने तुमसे पुष्करकी कही हुई नीतिका वर्णन किया है। अब तुम लक्ष्मणके प्रति श्रीरामचन्द्रद्वारा कही गयी विजयदायिनी नीतिका निरूपण सुनो। यह धर्म आदिको बढ़ानेवाली है॥ १॥

श्रीराम कहते हैं— लक्ष्मण! न्याय (धान्यका छठा भाग लेने आदि)-के द्वारा धनका अर्जन करना, अर्जित किये हुए धनको व्यापार आदि द्वारा बढ़ाना, उसकी स्वजनों और परजनोंसे रक्षा करना तथा उसका सत्पात्रमें नियोजन करना (यज्ञादिमें तथा प्रजापालनमें लगाना एवं गुणवान् पुत्रको सौंपना)— ये राजाके चार प्रकारके व्यवहार बताये गये हैं। (राजा नय और पराक्रमसे सम्पन्न एवं भलीभाँति उद्योगशील होकर स्वमण्डल एवं परमण्डलकी लक्ष्मीका चिन्तन करे।) नयका मूल है विनय और विनयकी प्राप्ति होती है, शास्त्रके निश्चयसे। इन्द्रिय-जयका ही नाम विनय है जो उस विनयसे युक्त होता है, वही शास्त्रोंको प्राप्त करता है। (जो शास्त्रमें निष्ठा रखता है, उसीके हृदयमें शास्त्रके अर्थ (तत्त्व) स्पष्टतया प्रकाशित होते हैं। ऐसा होनेसे स्वमण्डल और परमण्डलकी 'श्री' प्रसन्न (निष्कण्टकरूपसे प्राप्त) होती है—उसके लिये लक्ष्मी अपना द्वार खोल देती हैं)॥ २-३॥

शास्त्रज्ञान, आठ[1] गुणोंसे युक्त बुद्धि, धृति (उद्वेगका अभाव), दक्षता (आलस्यका अभाव), प्रगल्भता (सभामें बोलने या कार्य करनेमें भय अथवा संकोचका न होना), धारणशीलता (जानी-सुनी बातको भूलने न देना), उत्साह (शौर्यादि गुण[2]), प्रवचन-शक्ति, दृढ़ता (आपत्तिकालमें क्लेश सहन करनेकी क्षमता), प्रभाव (प्रभु-शक्ति), शुचिता (विविध उपायोंद्वारा परीक्षा लेनेसे सिद्ध हुई आचार-विचारकी शुद्धि), मैत्री (दूसरोंको अपने प्रति आकृष्ट कर लेनेका गुण), त्याग (सत्पात्रको दान देना), सत्य (प्रतिज्ञापालन), कृतज्ञता (उपकारको न भूलना), कुल (कुलीनता), शील (अच्छा स्वभाव) और दम (इन्द्रियनिग्रह तथा क्लेशसहनकी क्षमता)—ये सम्पत्तिके हेतुभूत गुण हैं[3]॥ ४-५॥

विस्तृत विषयरूपी वनमें दौड़ते हुए तथा निरङ्कुश होनेके कारण विप्रमाथी (विनाशकारी) इन्द्रियरूपी हाथीको ज्ञानमय अङ्कुशसे वशमें करे। काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद— ये 'षड्वर्ग' कहे गये हैं। राजा इनका सर्वथा त्याग कर दे। इन सबका त्याग हो जानेपर वह सुखी होता है॥ ६-७॥

राजाको चाहिये कि वह विनय-गुणसे सम्पन्न हो आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या एवं तर्कविद्या), वेदत्रयी, वार्ता (कृषि, वाणिज्य और पशुपालन) तथा दण्डनीति—इन चार विद्याओंका उनके विद्वानों तथा उन विद्याओंके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले कर्मठ पुरुषोंके साथ बैठकर चिन्तन करे (जिससे लोकमें इनका सम्यक् प्रचार और प्रसार हो)।

---

१. बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, धारण करना (याद रखना), अर्थ-विज्ञान (विविध साध्य-साधनोंके स्वरूपका विवेक), ऊह (वितर्क), अपोह (अयुक्त-युक्तिका त्याग) तथा तत्त्वज्ञान (वस्तुके स्वभावका निर्णय)। जैसा कि कौटिल्यने कहा है—

'शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः' (कौटि० अर्थ० ६।१।९६)

२. उत्साहके सूचक चार गुण हैं—दक्षता (आलस्यका अभाव), शीघ्रकारिता, अमर्ष (अपमानको न सह सकना) तथा शौर्य।

३. यहाँ धारणशीलता बुद्धिसे और दक्षता उत्साहसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण हैं; अतः इनका वहीं अन्तर्भाव हो सकता था; तथापि इनका जो पृथक् उपादान हुआ है, वह इन गुणोंकी प्रधानता सूचित करनेके लिये है।

'आन्वीक्षिकी'से आत्मज्ञान एवं वस्तुके यथार्थ स्वभावका बोध होता है। धर्म और अधर्मका ज्ञान 'वेदत्रयी'पर अवलम्बित है, अर्थ और अनर्थ 'वार्ता'के सम्यक् उपयोगपर निर्भर हैं तथा न्याय और अन्याय 'दण्डनीति'के समुचित प्रयोग और अप्रयोगपर आधारित हैं॥ ८-९॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—कष्ट न पहुँचाना, मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण करना, बाहर और भीतरसे पवित्र रहना एवं शौचाचारका पालन करना, दीनोंके प्रति दयाभाव रखना तथा क्षमा (निन्दा आदिको सह लेना)—ये चारों वर्णों तथा आश्रमोंके सामान्य धर्म कहे गये हैं। राजाको चाहिये कि वह प्रजापर अनुग्रह करे और सदाचारके पालनमें संलग्न रहे। मधुर वाणी, दीनोंपर दया, देश-कालकी अपेक्षासे सत्पात्रको दान, दीनों और शरणागतोंकी रक्षा* तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग—ये सत्पुरुषोंके आचार हैं। यह आचार प्रजासंग्रहका उपाय है, जो लोकमें प्रशंसित होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा भविष्यमें भी अभ्युदयरूप फल देनेवाला होनेके कारण हितकारक है। यह शरीर मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे घिरा हुआ है। आज या कल इसका विनाश निश्चित है। ऐसी दशामें इसके लिये कौन राजा धर्मके विपरीत आचरण करेगा?॥ १०—१२ $\frac{1}{2}$॥

राजाको चाहिये कि वह अपने लिये सुखकी इच्छा रखकर दीन-दुखी लोगोंको पीड़ा न दे; क्योंकि सताया जानेवाला दीन-दुखी मनुष्य दु:खजनित क्रोधके द्वारा अत्याचारी राजाका विनाश कर डालता है। अपने पूजनीय पुरुषको जिस तरह सादर हाथ जोड़ा जाता है, कल्याणकामी राजा दुष्टजनको उससे भी अधिक आदर देते हुए हाथ जोड़े। (तात्पर्य यह है कि दुष्टको सामनीतिसे ही वशमें किया जा सकता है।) साधु सुहृदों तथा दुष्ट शत्रुओंके प्रति भी सदा प्रिय वचन ही बोलना चाहिये। प्रियवादी 'देवता' कहे गये हैं और कटुवादी 'पशु'॥ १३—१५ $\frac{1}{2}$॥

बाहर और भीतरसे शुद्ध रहकर राजा आस्तिकता (ईश्वर तथा परलोकपर विश्वास)-द्वारा अन्त:करणको पवित्र बनाये और सदा देवताओंका पूजन करे। गुरुजनोंका देवताओंके समान ही सम्मान करे तथा सुहृदोंको अपने तुल्य मानकर उनका भलीभाँति सत्कार करे। वह अपने ऐश्वर्यकी रक्षा एवं वृद्धिके लिये गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणामद्वारा अनुकूल बनाये। अनूचान (साङ्गवेदके अध्येता) की-सी चेष्टाओंद्वारा विद्यावृद्ध सत्पुरुषोंका साम्मुख्य प्राप्त करे। सुकृतकर्म (यज्ञादि पुण्यकर्म तथा गन्ध-पुष्पादि-समर्पण)-द्वारा देवताओंको अपने अनुकूल करे। सद्भाव (विश्वास)-द्वारा मित्रका हृदय जीते, सम्भ्रम (विशेष आदर)-से बान्धवों (पिता और माताके कुलोंके बड़े-बूढ़ों)-को अनुकूल बनाये। स्त्रीको प्रेमसे तथा भृत्यवर्गको दानसे वशमें करे। इनके अतिरिक्त जो बाहरी लोग हैं, उनके प्रति अनुकूलता दिखाकर उनका हृदय जीते॥ १६—१८ $\frac{1}{2}$॥

दूसरे लोगोंके कृत्योंकी निन्दा या आलोचना न करना, अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुरूप धर्मका निरन्तर पालन, दीनोंके प्रति दया, सभी लोक-व्यवहारोंमें सबके प्रति मीठे वचन बोलना, अपने अनन्य मित्रका प्राण देकर भी उपकार करनेके लिये उद्यत रहना, घरपर आये हुए मित्र या अन्य सज्जनोंको भी हृदयसे लगाना—उनके प्रति अत्यन्त स्नेह एवं आदर प्रकट करना, आवश्यकता हो तो उनके लिये यथाशक्ति धन देना, लोगोंके कटु व्यवहार एवं कठोर वचनको

* यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'शरणागतोंकी रक्षा तो दयाका ही कार्य है, अत: दयासे ही वह सिद्ध है, फिर उसका अलग कथन क्यों किया गया?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि दयाके दो भेद हैं—'उत्कृष्टा' और 'अनुत्कृष्टा।' इनमें जो उत्कृष्टा दया है, उसके द्वारा दीनोंका उद्धार होता है और अनुत्कृष्टा दयासे उपगत या शरणागतकी रक्षा की जाती है—यही सूचित करनेके लिये उसका अलग प्रतिपादन किया गया है।

भी सहन करना, अपनी समृद्धिके अवसरोंपर निर्विकार रहना (हर्ष या दर्पके वशीभूत न होना), दूसरोंके अभ्युदयपर मनमें ईर्ष्या या जलन न होना, दूसरोंको ताप देनेवाली बात न बोलना, मौनव्रतका आचरण (अधिक वाचाल न होना), बन्धुजनोंके साथ अटूट सम्बन्ध बनाये रखना, सज्जनोंके प्रति चतुरश्रता (अवक्र—सरलभावसे उनका समाराधन), उनकी हार्दिक सम्मतिके अनुसार कार्य करना—ये महात्माओंके आचार हैं॥ १९—२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रामोक्तनीतिका वर्णन' नामक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३८॥

दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय

श्रीरामकी राजनीति

श्रीराम कहते हैं—लक्ष्मण! स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री), राष्ट्र (जनपद), दुर्ग (किला), कोष (खजाना), बल (सेना) और सुहृत् (मित्रादि)—ये राज्यके परस्पर उपकार करनेवाले सात अङ्ग कहे गये हैं। राज्यके अङ्गोंमें राजा और मन्त्रीके बाद राष्ट्र प्रधान एवं अर्थका साधन है, अतः उसका सदा पालन करना चाहिये। (इन अङ्गोंमें पूर्व-पूर्व अङ्ग परकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।)॥ १ $\frac{1}{2}$॥

कुलीनता, सत्त्व (व्यसन और अभ्युदयमें भी निर्विकार रहना), युवावस्था, शील (अच्छा स्वभाव), दाक्षिण्य (सबके अनुकूल रहना या उदारता), शीघ्रकारिता (दीर्घसूत्रताका अभाव), अविसंवादिता (वाक्छलका आश्रय लेकर परस्पर विरोधी बातें न करना), सत्य (मिथ्याभाषण न करना), वृद्धसेवा (विद्यावृद्धोंकी सेवामें रहना और उनकी बातोंको मानना), कृतज्ञता (किसीके उपकारको न भुलाकर प्रत्युपकारके लिये उद्यत रहना), दैवसम्पन्नता (प्रबल पुरुषार्थसे दैवको भी अनुकूल बना लेना), बुद्धि (शुश्रूषा आदि आठ गुणोंसे युक्त प्रज्ञा), अक्षुद्रपरिवारता (दुष्ट परिजनोंसे युक्त न होना), शक्यसामन्तता (आसपासके माण्डलिक राजाओंको वशमें किये रहना), दृढ़भक्तिता (सुदृढ़ अनुराग), दीर्घदर्शिता (दीर्घकालमें घटित होनेवाली बातोंका अनुमान कर लेना), उत्साह, शुद्धचित्तता, स्थूललक्षता (अत्यन्त मनस्वी होना), विनीतता (जितेन्द्रियता) और धार्मिकता—ये अच्छे आभिगामिक[1] गुण हैं॥ २—४ $\frac{1}{2}$॥

जो सुप्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न, क्रूरतारहित, गुणवान् पुरुषोंका संग्रह करनेवाले तथा पवित्र (शुद्ध) हों, ऐसे लोगोंको आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाला राजा अपना परिवार बनाये॥ ५ $\frac{1}{2}$॥

वाग्मी (उत्तम वक्ता—ललित, मधुर एवं अल्पाक्षरोंद्वारा ही बहुत-से अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाला), प्रगल्भ (सभामें सबको निगृहीत करके निर्भय बोलनेवाला), स्मृतिमान्[2] (स्वभावतः किसी बातको न भूलनेवाला), उदग्र (ऊँचे कदवाला), बलवान् (शारीरिक बलसे सम्पन्न एवं युद्ध आदिमें समर्थ), वशी (जितेन्द्रिय), दण्डनेता (चतुरङ्गिणी सेनाका समुचित रीतिसे संचालन करनेमें समर्थ), निपुण (व्यवहारकुशल), कृतविद्य (शास्त्रीयविद्यासे सम्पन्न), स्ववग्रह (प्रमादसे अनुचित कर्ममें प्रवृत्त होनेपर वहाँसे

१. इन गुणोंसे युक्त राजा सबके लिये अभिगम्य—मिलने योग्य होता है।

२. स्मृति बुद्धिका गुण है, जिसकी गणना आभिगामिक गुणोंमें हो चुकी है। उसका पुनः यहाँ ग्रहण उसकी श्रेष्ठता और अनिवार्यता सूचित करनेके लिये है।

सुखपूर्वक निवृत्त किये जाने योग्य), पराभियोगप्रसह (शत्रुओंद्वारा छेड़े गये युद्धादिके कष्टको दृढ़तापूर्वक सहन करनेमें समर्थ—सहसा आत्मसमर्पण न करनेवाला), सर्वदृष्टप्रतिक्रिय (सब प्रकारके संकटोंके निवारणके अमोघ उपायको तत्काल जान लेनेवाला), परच्छिद्रान्ववेक्षी (गुप्तचर आदिके द्वारा शत्रुओंके छिद्रोंके अन्वेषणमें प्रयत्नशील), संधिविग्रहतत्त्ववित् (अपनी तथा शत्रुकी अवस्थाके बलाबल-भेदको जानकर संधि-विग्रह आदि छहों गुणोंके प्रयोगके ढंग और अवसरको ठीक-ठीक जाननेवाला), गूढमन्त्रप्रचार (मन्त्रणा और उसके प्रयोगको सर्वथा गुप्त रखनेवाला), देशकालविभागवित् (किस प्रकारकी सेना किस देश और किस कालमें विजयिनी होगी—इत्यादि बातोंको विभागपूर्वक जाननेवाला), **आदाता सम्यगर्थानाम्** (प्रजा आदिसे न्यायपूर्वक धन लेनेवाला), विनियोक्ता (धनको उचित एवं उत्तम कार्यमें लगानेवाला), पात्रवित् (सत्पात्रका ज्ञान रखनेवाला), क्रोध, लोभ, भय, द्रोह, स्तम्भ (मान) और चपलता (बिना विचारे कार्य कर बैठना)—इन दोषोंसे दूर रहनेवाला, परोपताप (दूसरोंको पीड़ा देना), पैशुन्य (चुगली करके मित्रोंमें परस्पर फूट डालना), मात्सर्य (डाह), ईर्ष्या (दूसरोंके उत्कर्षको न सह सकना) और अनृत[1] (असत्यभाषण)—इन दुर्गुणोंको लाँघ जानेवाला, वृद्धजनोंके उपदेशको मानकर चलनेवाला, श्लक्ष्ण (मधुरभाषी), मधुरदर्शन (आकृतिसे सुन्दर एवं सौम्य दिखायी देनेवाला), गुणानुरागी (गुणवानोंके गुणोंपर रीझनेवाला) तथा मितभाषी (नपी-तुली बात कहनेवाला) राजा श्रेष्ठ है। इस प्रकार यहाँ राजाके आत्मसम्पत्ति-सम्बन्धी गुण (उसके स्वरूपके उपपादक गुण) बताये गये हैं। ६—१० $\frac{१}{२}$ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न, बाहर-भीतरसे शुद्ध, शौर्य-सम्पन्न, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंको जाननेवाले, स्वामिभक्त तथा दण्डनीतिका समुचित प्रयोग जाननेवाले लोग राजाके सचिव (अमात्य[2]) होने चाहिये॥ ११ $\frac{१}{२}$ ॥

जिसे अन्यायसे हटाना कठिन न हो, जिसका जन्म उसी जनपदमें हुआ हो, जो कुलीन (ब्राह्मण आदि), सुशील, शारीरिक बलसे सम्पन्न, उत्तम वक्ता, सभामें निर्भीक होकर बोलनेवाला, शास्त्ररूपी नेत्रसे युक्त, उत्साहवान् (उत्साहसम्बन्धी त्रिविध[3] गुण—शौर्य, अमर्ष एवं दक्षतासे सम्पन्न), प्रतिपत्तिमान् (प्रतिभाशाली, भय आदिके अवसरोंपर उनका तत्काल प्रतिकार करनेवाला), स्तब्धता (मान) और चपलतासे रहित, मैत्र (मित्रोंके अर्जन एवं संग्रहमें कुशल), शीत-उष्ण आदि क्लेशोंको सहन करनेमें समर्थ, शुचि (उपधाद्वारा परीक्षासे प्रमाणित हुई शुद्धिसे सम्पन्न), सत्य (झूठ न बोलना), सत्त्व (व्यसन और अभ्युदयमें भी निर्विकार रहना), धैर्य, स्थिरता, प्रभाव तथा आरोग्य आदि गुणोंसे सम्पन्न, कृतशिल्प (सम्पूर्ण कलाओंके अभ्याससे सम्पन्न), दक्ष (शीघ्रतापूर्वक कार्यसम्पादनमें कुशल), प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्), धारणान्वित (अविस्मरणशील), दृढ़भक्ति (स्वामीके प्रति अविचल अनुराग रखनेवाला) तथा किसीसे वैर न रखनेवाला और दूसरोंद्वारा किये गये विरोधको शान्त कर देनेवाला पुरुष राजाका बुद्धिसचिव एवं कर्मसचिव होना चाहिये॥ १२—१४ $\frac{१}{२}$ ॥

स्मृति (अनेक वर्षोंकी बीती बातोंको भी न भूलना), अर्थ-तत्परता (दुर्गादिकी रक्षा एवं संधि

---

१. आभिगामिक गुणोंमें 'सत्य' आ चुका है, यहाँ भी अनृत-त्याग कहकर जो पुनः उसका ग्रहण किया गया है, यह दोनों जगह उसकी अङ्गता प्रदर्शित करनेके लिये है।

२. कौटिल्यने भी ऐसा ही कहा है—'अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तान् अमात्यान् कुर्वीत।' (कौटि० अर्थ० १।८।४)

३. कौटिल्यने भी ऐसा ही कहा है—'शौर्यममर्षो दाक्ष्यं चोत्साहगुणाः।'(कौटि० अर्थ० ६।१।१६)

आदिमें सदैव तत्पर रहना), वितर्क (विचार), ज्ञाननिश्चय (यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है—इस प्रकारका निश्चय), दृढ़ता तथा मन्त्रगुप्ति (कार्यसिद्धि होनेतक मन्त्रणाको अत्यन्त गुप्त रखना)—ये **'मन्त्रिसम्पत्'** के गुण कहे गये हैं॥ १५$\frac{1}{2}$॥

पुरोहितको तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तथा दण्डनीतिके ज्ञानमें भी कुशल होना चाहिये; वह सदा अथर्ववेदोक्त विधिसे राजाके लिये शान्तिकर्म एवं पुष्टिकर्मका सम्पादन करे[1]॥ १६$\frac{1}{2}$॥

बुद्धिमान् राजा तत्तद् विद्याके विद्वानोंद्वारा उन अमात्योंके शास्त्रज्ञान तथा शिल्पकर्म—इन दो गुणोंकी परीक्षा करे[2]। यह परोक्ष या आगम प्रमाणद्वारा परीक्षण है॥ १७$\frac{1}{2}$॥

कुलीनता, जन्मस्थान तथा अवग्रह (उसे नियन्त्रित रखनेवाले बन्धुजन)—इन तीन बातोंकी जानकारी उसके आत्मीयजनोंके द्वारा प्राप्त करे। (यहाँ भी आगम या परोक्ष प्रमाणका ही आश्रय लिया गया है।) परिकर्म (दुर्गादि-निर्माण)-में दक्षता (आलस्य न करना), विज्ञान (बुद्धिसे अपूर्व बातको जानकर बताना) और धारयिष्णुता (कौन कार्य हुआ और कौन-सा कर्म शेष रहा इत्यादि बातोंको सदा स्मरण रखना)—इन तीन गुणोंकी भी परीक्षा करे। प्रगल्भता (सभा आदिमें निर्भीकता), प्रतिभा (प्रत्युत्पन्नमतिता), वाग्मिता (प्रवचनकौशल) तथा सत्यवादिता—इन चार गुणोंको बातचीतके प्रसङ्गोंमें स्वयं अपने अनुभवसे जाने॥ १८-१९$\frac{1}{2}$॥

उत्साह (शौर्यादि), प्रभाव, क्लेश सहन करनेकी क्षमता, धैर्य, स्वामिविषयक अनुराग और स्थिरता—इन गुणोंकी परीक्षा आपत्तिकालमें करे। राजाके प्रति दृढ़भक्ति, मैत्री तथा आचार-विचारकी शुद्धि—इन गुणोंको व्यवहारसे जाने॥ २०-२१॥

आसपास एवं पड़ोसके लोगोंसे बल, सत्त्व (सम्पत्ति और विपत्तिमें भी निर्विकार रहनेका स्वभाव), आरोग्य, शील, अस्तब्धता (मान और दर्पका अभाव) तथा अचापल्य (चपलताका अभाव एवं गम्भीरता)—इन गुणोंको जाने। वैर न करनेका स्वभाव, भद्रता (भलमनसाहत) तथा क्षुद्रता (नीचता)-को प्रत्यक्ष देखकर जाने। जिनके गुण और बर्ताव प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनके कार्योंसे सर्वत्र उनके गुणोंका अनुमान करना चाहिये॥ २२-२३॥

जहाँ खेतीकी उपज अधिक हो, विभिन्न वस्तुओंकी खानें हों, जहाँ विक्रयके योग्य तथा खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हों, जो गौओंके लिये हितकारिणी (घास आदिसे युक्त) हो, जहाँ पानीकी बहुतायत हो, जो पवित्र जनपदोंसे घिरी हुई हो, जो सुरम्य हो, जहाँके जंगलोंमें हाथी रहते हों, जहाँ जलमार्ग (पुल आदि) तथा स्थलमार्ग (सड़कें) हों, जहाँकी सिंचाई वर्षापर निर्भर न हो अर्थात् जहाँ सिंचाईके लिये प्रचुर मात्रामें जल उपलब्ध हो, ऐसी भूमि ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये प्रशस्त मानी गयी है॥ २४-२५॥

('जो भूमि कँकरीली और पथरीली हो, जहाँ जंगल-ही-जंगल हों, जो सदा चोरों और लुटेरोंके भयसे आक्रान्त हो, जो रूक्ष (ऊसर) हो, जहाँके जंगलोंमें काँटेदार वृक्ष हों तथा जो हिंसक जन्तुओंसे भरी हो, वह भूमि नहींके बराबर है।')

(जहाँ सुखपूर्वक आजीविका चल सके, जो पूर्वोक्त उत्तम भूमिके गुणोंसे सम्पन्न हो) जहाँ जलकी अधिकता हो, जिसे किसी पर्वतका सहारा

---

१. यही अभिप्राय लेकर कौटिल्यने कहा है—

'पुरोहितम् उदितोदितकुलशीलं साङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणाम् आथर्वभिरुपायैः प्रतिकर्तारं प्रकुर्वीत।' (कौटि० अर्थ० १।९।५०)

२. राजाओंके लिये तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान। जैसा कि कौटिल्यका कथन है—

'प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः।' इनमें स्वयं देखा हुआ 'प्रत्यक्ष', दूसरोंके द्वारा कथित 'परोक्ष' तथा किये गये कर्मसे अकृत कर्मका अवेक्षण 'अनुमान' है।

प्राप्त हो, जहाँ शूद्रों, कारीगरों और वैश्योंकी बस्ती अधिक हो, जहाँके किसान विशेष उद्योगशील एवं बड़े-बड़े कार्योंका आयोजन करनेवाले हों, जो राजाके प्रति अनुरक्त, उनके शत्रुओंसे द्वेष रखनेवाला और पीड़ा तथा करका भार सहन करनेमें समर्थ हो, हृष्ट-पुष्ट एवं सुविस्तृत हो, जहाँ अनेक देशोंके लोग आकर रहते हों, जो धार्मिक, पशु-सम्पत्तिसे भरा-पूरा तथा धनी हो और जहाँके नायक (गाँवोंके मुखिया) मूर्ख और व्यसनग्रस्त हों, ऐसा जनपद राजाके लिये प्रशस्त कहा गया है। (मुखिया मूर्ख और व्यसनी हो तो वह राजाके विरुद्ध आन्दोलन नहीं कर सकता)॥ २६-२७॥

जिसकी सीमा बहुत बड़ी एवं विस्तृत हो, जिसके चारों ओर विशाल खाइयाँ बनी हों, जिसके प्राकार (परकोटे) और गोपुर (फाटक) बहुत ऊँचे हों, जो पर्वत, नदी, मरुभूमि अथवा जंगलका आश्रय लेकर बना हो, ऐसे पुर (दुर्ग)-में राजाको निवास करना चाहिये। जहाँ जल, धान्य और धन प्रचुरमात्रामें विद्यमान हों, वह दुर्ग दीर्घकालतक शत्रुके आक्रमणका सामना करनेमें समर्थ होता है। जलमय, पर्वतमय, वृक्षमय, ऐरिण (उजाड़ या वीरान स्थानपर बना हुआ) तथा धान्वन (मरुभूमि या बालुकामय प्रदेशमें स्थित)— ये पाँच प्रकारके दुर्ग हैं। (दुर्गका विचार करनेवाले उत्तम बुद्धिमान् पुरुषोंने इन सभी दुर्गोंको प्रशस्त बतलाया है)॥ २८-२९॥

[जिसमें आय अधिक हो और खर्च कम, अर्थात् जिसमें जमा अधिक होता हो और जिसमेंसे धनको कम निकाला जाता हो, जिसकी ख्याति खूब हो तथा जिसमें धनसम्बन्धी देवता (लक्ष्मी, कुबेर आदि)-का सदा पूजन किया जाता हो, जो मनोवाञ्छित द्रव्योंसे भरा-पूरा हो, मनोरम हो और] विश्वस्त जनोंकी देख-रेखमें हो, जिसका अर्जन धर्म एवं न्यायपूर्वक किया गया हो तथा जो महान् व्ययको भी सह लेनेमें समर्थ हो— ऐसा कोष श्रेष्ठ माना गया है। कोषका उपयोग धर्मादिकी वृद्धि तथा मूल्योंके भरण-पोषण आदिके लिये होना चाहिये॥ ३०॥

जो बाप-दादोंके समयसे ही सैनिक सेवा करते आ रहे हों, वशमें रहते (अनुशासन मानते) हों, संगठित हों, जिनका वेतन चुका दिया जाता हो—बाकी न रहता हो, जिनके पुरुषार्थकी प्रसिद्धि हो, जो राजाके अपने ही जनपदमें जन्मे हों, युद्धकुशल हों और कुशल सैनिकोंके साथ रहते हों, नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हों, जिन्हें नाना प्रकारके युद्धोंमें विशेष कुशलता प्राप्त हो तथा जिनके दलमें बहुत-से योद्धा भरे हों, जिन सैनिकोंद्वारा अपनी सेनाके घोड़े और हाथियोंकी आरती उतारी जाती हो, जो परदेश-निवास, युद्धसम्बन्धी आयास तथा नाना प्रकारके क्लेश सहन करनेके अभ्यासी हों तथा जिन्होंने युद्धमें बहुत श्रम किया हो, जिनके मनमें दुविधा न हो तथा जिनमें अधिकांश क्षत्रिय जातिके लोग हों, ऐसी सेना या सैनिक दण्डनीतिवेत्ताओंके मतमें श्रेष्ठ है॥ ३१—३३॥

जो त्याग (अलोभ एवं दूसरोंके लिये सब कुछ उत्सर्ग करनेका स्वभाव), विज्ञान (सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीणता) तथा सत्त्व (विकारशून्यता)— इन गुणोंसे सम्पन्न, महापक्ष (महान् आश्रय एवं बहुसंख्यक बन्धु आदिके वर्गसे सम्पन्न), प्रियंवद (मधुर एवं हितकर वचन बोलनेवाला), आयतिक्षम (सुस्थिर स्वभाव होनेके कारण भविष्यकालमें भी साथ देनेवाला), अद्वैध (दुविधामें न रहनेवाला) तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हो—ऐसे पुरुषको अपना मित्र बनाये। मित्रके आनेपर दूरसे ही अगवानीमें जाना, स्पष्ट एवं प्रिय वचन बोलना तथा सत्कारपूर्वक मनोवाञ्छित वस्तु देना—ये मित्रसंग्रहके तीन प्रकार हैं। धर्म, काम और अर्थकी प्राप्ति—ये मित्रसे मिलनेवाले तीन प्रकारके फल हैं। चार प्रकारके मित्र जानने चाहिये—औरस (माता-पिताके सम्बन्धसे

युक्त), मित्रताके सम्बन्धसे बँधा हुआ, कुलक्रमागत तथा संकटसे बचाया हुआ। सत्यता (झूठ न बोलना), अनुराग और दुःख-सुखमें समानरूपसे भाग लेना—ये मित्रके गुण हैं॥ ३४—३७॥

अब मैं अनुजीवी (राजसेवक) जनोंके बर्तावका वर्णन करूँगा। सेवकोचित गुणोंसे सम्पन्न पुरुष राजाका सेवन करे। दक्षता (कौशल तथा शीघ्रकारिता), भद्रता (भलमनसाहत या लोकप्रियता), दृढ़ता (सुस्थिर स्नेह एवं कर्मोंमें दृढ़तापूर्वक लगे रहना), क्षमा (निन्दा आदिको सहन करना), क्लेशसहिष्णुता (भूख-प्यास आदिके क्लेशको सहन करनेकी क्षमता), संतोष, शील और उत्साह—ये गुण अनुजीवीको अलंकृत करते हैं॥ ३८ $\frac{१}{२}$ ॥

सेवक यथासमय न्यायपूर्वक राजाकी सेवा करे; दूसरेके स्थानपर जाना, क्रूरता, उद्दण्डता या असभ्यता और ईर्ष्या—इन दोषोंको वह त्याग दे। जो पद या अधिकारमें अपनेसे बड़ा हो, उसका विरोध करके या उसकी बात काटकर राजसभामें न बोले। राजाके गुप्त कर्मों तथा मन्त्रणाको कहीं प्रकाशित न करे। सेवकको चाहिये कि वह अपने प्रति स्नेह रखनेवाले स्वामीसे ही जीविका प्राप्त करनेकी चेष्टा करे; जो राजा विरक्त हो—सेवकसे घृणा करता हो, उसे सेवक त्याग दे॥ ३९—४१॥

यदि राजा अनुचित कार्यमें प्रवृत्त हो तो उसे मना करना और यदि न्याययुक्त कर्ममें संलग्न हो तो उसमें उसका साथ देना—यह थोड़ेमें बन्धु, मित्र और सेवकोंका श्रेष्ठ आचार बताया गया है॥ ४२॥

राजा मेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको आजीविका प्रदान करनेवाला हो। उसके यहाँ आयके जितने द्वार (साधन) हों, उन सबपर वह विश्वस्त एवं जाँचे-परखे हुए लोगोंको नियुक्त करे। (जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जल लेता है, उसी प्रकार राजा उन आयुक्त पुरुषोंद्वारा धन ग्रहण करे)॥ ४३॥

(जिन्हें उन-उन कर्मोंके करनेका अभ्यास तथा यथार्थ ज्ञान हो, जो उपधाद्वारा शुद्ध प्रमाणित हुए हों तथा जिनके ऊपर जाने-समझे हुए गणक आदि करणवर्गकी नियुक्ति कर दी गयी हो तथा) जो उद्योगसे सम्पन्न हों, ऐसे ही लोगोंको सम्पूर्ण कर्मोंमें अध्यक्ष बनाये। खेती, व्यापारियोंके उपयोगमें आनेवाले स्थल और जलके मार्ग, पर्वत आदि दुर्ग, सेतुबन्ध (नहर एवं बाँध आदि), कुञ्जरबन्धन (हाथी आदिके पकड़नेके स्थान), सोने-चाँदी आदिकी खानें, वनमें उत्पन्न सार-दारु आदि (साखू, शीशम आदि)-की निकासीके स्थान तथा शून्य स्थानोंको बसाना—आयके इन आठ द्वारोंको 'अष्टवर्ग' कहते हैं। अच्छे आचार-व्यवहारवाला राजा इस अष्टवर्गकी निरन्तर रक्षा करे॥ ४४-४५॥

आयुक्तक (रक्षाधिकारी राजकर्मचारी), चोर, शत्रु, राजाके प्रिय सम्बन्धी तथा राजाके लोभ—इन पाँचोंसे प्रजाजनोंको पाँच प्रकारका भय प्राप्त होता है। इस भयका निवारण करके राजा उचित समयपर प्रजासे कर ग्रहण करे। राज्यके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। राजाका अपना शरीर ही 'आभ्यन्तर राज्य' है तथा राष्ट्र या जनपदको 'बाह्य राज्य' कहा गया है। राजा इन दोनोंकी रक्षा करे॥ ४६-४७॥

जो पापी राजाके प्रिय होनेपर भी राज्यको हानि पहुँचा रहे हों, वे दण्डनीय हैं। राजा उन सबको दण्ड दे तथा विष आदिसे अपनी रक्षा करे। स्त्रियोंपर, पुत्रोंपर तथा शत्रुओंपर कभी विश्वास न करे॥ ४८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजधर्मकथन' नामक
दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३९॥

दो सौ चालीसवाँ अध्याय

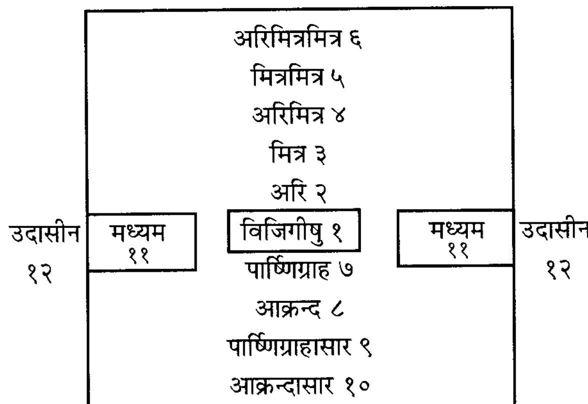
द्वादशराजमण्डल-चिन्तन *

श्रीराम कहते हैं— राजाको चाहिये कि वह मुख्य द्वादश राजमण्डलका चिन्तन करे। १. अरि, २. मित्र, ३. अरिमित्र, तत्पश्चात् ४. मित्रमित्र तथा ५. अरिमित्रमित्र—ये क्रमशः विजिगीषुके सामनेवाले राजा कहे गये हैं। विजिगीषुके पीछे क्रमशः चार राजा होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. पार्ष्णिग्राह, उसके बाद २. आक्रन्द, तदनन्तर इन दोनोंके आसार अर्थात् ३. पार्ष्णिग्राहासार एवं ४. आक्रन्दासार। अरि और विजिगीषु—दोनोंके राज्यसे जिसकी सीमा मिलती है, वह राजा 'मध्यम' कहा गया है। अरि और विजिगीषु—ये दोनों यदि परस्पर मिले हों—संगठित हो गये हों तो मध्यम राजा कोष और सेना आदिकी सहायता देकर इन दोनोंपर अनुग्रह करनेमें समर्थ होता है और यदि ये परस्पर संगठित न हों तो वह मध्यम राजा पृथक्-पृथक् या बारी-बारीसे इन दोनोंका वध करनेमें समर्थ होता है। इन सबके मण्डलसे बाहर जो अधिक बलशाली या अधिक सैनिकशक्तिसे सम्पन्न राजा है, उसकी 'उदासीन' संज्ञा है। विजिगीषु, अरि और मध्यम—ये परस्पर संगठित हों तो उदासीन राजा इनपर अनुग्रहमात्र कर सकता है और यदि ये संगठित न होकर पृथक्-पृथक् हों तो वह 'उदासीन' इन सबका वध कर डालनेमें समर्थ हो जाता है॥ १—४ $\frac{1}{2}$ ॥

लक्ष्मण! अब मैं तुम्हें संधि, विग्रह, यान और आसन आदिके विषयमें बता रहा हूँ। किसी बलवान् राजाके साथ युद्ध ठन जानेपर यदि

* यदि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको नौ हजार योजनके क्षेत्रफलवाले चक्रवर्ति-क्षेत्रपर विजय प्राप्त करना हो, तो उसे अपने आगेके पाँच तथा पीछेके चार राजाओंकी ओर ध्यान देना होगा। इसी तरह अगल-बगलके उस राज्यपर भी विचार करना होगा, जिसकी सीमा अपने राज्यसे तथा शत्रुके राज्यसे भी मिलती होगी; ऐसे राज्यकी 'मध्यम' संज्ञा है। इस सम्पूर्ण मण्डलसे बाहर जो प्रबल राज्य या राजा है—उसकी संज्ञा 'उदासीन' है। विजिगीषुके सामनेके जो पाँच राज्य हैं, उनके नामोंका क्रमशः इस प्रकार व्यवहार होगा—(१) शत्रु-राज्य, (२) मित्र-राज्य, (३) शत्रुके मित्रका राज्य, (४) मित्रके मित्रका राज्य तथा (५) शत्रुके मित्रके मित्रका राज्य। विजिगीषुके पीछेके जो चार राज्य हैं, वे क्रमशः—१. पार्ष्णिग्राह, २. आक्रन्द, ३. पार्ष्णिग्राहासार, ४. आक्रन्दासार—इन नामोंसे व्यवहृत होंगे। विजिगीषुसहित इन सबकी संख्या बारह होती है। सम्भावनात्मक संख्या दी गयी है। यदि विजिगीषु इससे अधिकके क्षेत्रको अपनी विजयका लक्ष्य बनाता है तो इसी ढंगसे अन्य राज्य भी इसी मण्डलमें परिगणित होंगे और द्वादशकी जगह अधिक राजमण्डल भी हो सकते हैं। नीचे द्वादशात्मक राजमण्डलका एक परिचयात्मक क्रम दिया जाता है—

द्वादश राजमण्डल



अपने पक्षकी अवस्था शोचनीय हो तो अपने कल्याणके लिये संधि कर लेनी चाहिये। १. कपाल, २. उपहार, ३. संतान, ४. संगत, ५. उपन्यास, ६. प्रतीकार, ७. संयोग, ८. पुरुषान्तर, ९. अदृष्टनर, १०. आदिष्ट, ११. आत्मामिष, १२. उपग्रह, १३. परिक्रय, १४. उच्छिन्न, १५. परदूषण तथा १६. स्कन्धोपनेय—ये संधिके सोलह भेद बतलाये गये हैं।* जिसके साथ संधि की जाती

* इन सोलह संधियोंका परिचय इस प्रकार है—

१. समान शक्ति तथा साधनवाले दो राजाओंमें जो बिना किसी शर्तके संधि की जाती है, उसे 'समसंधि' या 'कपालसंधि' कहते हैं। 'कपालसंधि' उसका नाम इसलिये हुआ कि वह दो कपालोंको जोड़नेके समान है। दो कपालोंके योगसे घड़ा बनता है। यदि एक कपाल फूट जाय और उसके स्थानपर दूसरा कपाल जोड़ा जाय तो वह बाहरसे जुड़ा हुआ दीखनेपर भी भीतरसे पूरा-पूरा नहीं जुड़ता। इसी तरह जो संधि समान शक्तिशाली पुरुषोंमें स्थापित होती है, वह कुछ कालके लिये कामचलाऊ ही होती है। हृदयका मेल न होनेके कारण वह टिक नहीं पाती।

२. संधेयकी इच्छाके अनुसार पहले ही द्रव्य आदिका उपहार देनेके बाद जो उसके साथ संधि की जाती है, वह उपहार-संधि कही गयी है।

३. कन्यादान देकर जो संधि की जाती है, वह संतानहेतुक होनेके कारण संतानसंधि कहलाती है।

४. चौथी संगतसंधि कही गयी है, जो सत्पुरुषोंके साथ मैत्रीपूर्वक स्थापित होती है। इसमें देने-लेनेकी कोई शर्त नहीं होती। उसमें दोनों पक्षोंके अर्थ (कोष) और प्रयोजन (कार्य) समान होते हैं। परस्पर अत्यन्त विश्वासके साथ दोनोंके हृदय एक हो जाते हैं। उस दशामें दोनों अपना खजाना एक-दूसरेके लिये खोल देते हैं और दोनों एक-दूसरेके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समानरूपसे प्रयत्नशील होते हैं। यह संधि जीवनपर्यन्त सुस्थिर रहती है। सब संधियोंमें इसीका स्थान ऊँचा है। जैसे टूटे हुए सुवर्णके टुकड़ोंको गलाकर जोड़ा जाय तो वे पूर्णरूपसे जुड़ जाते हैं, उसी तरह संगतसंधिमें दोनों पक्षोंकी संगति अटूट हो जाती है। इसीलिये इसे सुवर्णसंधि या काञ्चनसंधि भी कहते हैं। यह सम्पत्ति और विपत्तिमें भी, कैसे ही कारण क्यों न हों, उनके द्वारा अभेद्य रहती है।

५. भविष्यमें कल्याण करनेवाली एकार्थसिद्धिके उद्देश्यसे जो संधि की जाय, अर्थात् अमुक शत्रु हम दोनोंको हानि पहुँचानेवाला है, अत: हम दोनों मिलकर उसका उच्छेद करें, इससे हम दोनोंको समानरूपसे लाभ होगा—ऐसा उपन्यास (उल्लेख) करके जो संधि की जाय, उसे उपन्यास कहा गया है।

६. मैंने पहले इसका उपकार किया है, संकटकालमें इसे सहायता दी है, अब यह ऐसे ही अवसरपर मेरी भी सहायता करके उस उपकारका बदला चुकायेगा—इस उद्देश्यसे जो संधि की जाती है, अथवा मैं इसका उपकार करता हूँ, यह मेरा भी उपकार करेगा—इस अभिप्रायसे जो संधि स्थापित की जाती है, उसका नाम प्रतीकारसंधि है—जैसे श्रीराम और सुग्रीवकी संधि।

७. एकपर ही चढ़ाई करनेके लिये जब शत्रु और विजिगीषु दोनों जाते हैं, उस समय यात्राकालमें जो उन दोनोंमें संगठन या साँठ-गाँठ हो जाती है, ऐसी संधिको संयोग कहते हैं।

८. जहाँ दो राजाओंमें एक नतमस्तक हो जाता है और दूसरा यह शर्त रखता है कि मेरे और तुम्हारे दोनों सेनापति मिलकर मेरा अमुक कार्य सिद्ध करें, तो उस शर्तपर होनेवाली संधि पुरुषान्तर कही जाती है।

९. अकेले तुम मेरा अमुक कार्य सिद्ध करो, उसमें मैं अथवा मेरी सेनाका कोई योद्धा साथ नहीं रहेगा—जहाँ शत्रु ऐसी शर्त सामने रखे, वहाँ उस शर्तपर की जानेवाली संधि 'अदृष्ट-पुरुष' कही जाती है। उसमें एक पक्षका कोई भी पुरुष देखनेमें नहीं आता, अतएव उसका नाम अदृष्टपुरुष है।

१०. जहाँ अपनी भूमिका एक भाग देकर शेषकी रक्षाके लिये बलवान् शत्रुके साथ संधि की जाती है, उसे आदिष्ट कहा गया है।

११. जहाँ अपनी सेना देकर संधि की जाती है, वहाँ अपने-आपको ही आमिष (भोग्य) बना देनेके कारण उस संधिका नाम आत्मामिष है।

१२. जहाँ प्राणरक्षाके लिये सर्वस्व अर्पण कर दिया जाता है, वह संधि उपग्रह कही गयी है।

१३. जहाँ कोषका एक भाग, कुप्य (वस्त्र, कम्बल आदि) अथवा सारा ही खजाना देकर शेष प्रकृति (अमात्य, राष्ट्र आदि)-की रक्षा की जाती है, वहाँ मानो उस धनसे उन शेष प्रकृतियोंका क्रय किया जाता है; अतएव उस संधिको परिक्रय कहते हैं।

१४. जहाँ सारभूत भूमि (कोष आदिकी अधिक वृद्धि करानेवाले भूभाग)-को देकर संधि की जाती है, वह अपना उच्छेद करनेके समान होनेसे उच्छिन्न कहलाती है।

१५. अपनी सम्पूर्ण भूमिसे जो भी फल या लाभ प्राप्त होता है, उसको कुछ अधिक मिलाकर देनेके बाद जो संधि होती है, वह परदूषण कही गयी है।

१६. जहाँ परिगणित फल (लाभ) खण्ड-खण्ड करके अर्थात् कई किश्तोंमें बाँटकर पहुँचाये जाते हैं, वैसी संधि स्कन्धोपनेय कही गयी है।

है, वह 'संधेय' कहलाता है। उसके दो भेद हैं—अभियोक्ता और अनभियोक्ता। उक्त संधियोंमेंसे उपन्यास, प्रतीकार और संयोग—ये तीन संधियाँ अनभियोक्ता (अनाक्रमणकारी)-के प्रति करनी चाहिये। शेष सभी अभियोक्ता (आक्रमणकारी)-के प्रति कर्तव्य हैं॥ ५—८॥

परस्परोपकार, मैत्र, सम्बन्धज तथा उपहार—ये ही चार संधिके भेद जानने चाहिये—ऐसा अन्य लोगोंका मत है[1]॥ ९॥

बालक, वृद्ध, चिरकालका रोगी, भाई-बन्धुओंसे बहिष्कृत, डरपोक, भीरु सैनिकोंवाला, लोभी-लालची सेवकोंसे घिरा हुआ, अमात्य आदि प्रकृतियोंके अनुरागसे वञ्चित, अत्यन्त विषयासक्त, अस्थिरचित्त और अनेक लोगोंके सामने मन्त्र प्रकट करनेवाला, देवताओं और ब्राह्मणोंका निन्दक, दैवका मारा हुआ, दैवको ही सम्पत्ति और विपत्तिका कारण मानकर स्वयं उद्योग न करनेवाला, जिसके ऊपर दुर्भिक्षका संकट आया हो वह, जिसकी सेना कैद कर ली गयी हो अथवा शत्रुओंसे घिर गयी हो वह, अयोग्य देशमें स्थित (अपनी सेनाकी पहुँचसे बाहरके स्थानमें विद्यमान), बहुत-से शत्रुओंसे युक्त, जिसने अपनी सेनाको युद्धके योग्य कालमें नहीं नियुक्त किया है वह, तथा सत्य और धर्मसे भ्रष्ट—ये बीस पुरुष ऐसे हैं जिनके साथ संधि न करे, केवल विग्रह करे॥ १०—१३$\frac{1}{2}$॥

एक-दूसरेके अपकारसे मनुष्योंमें विग्रह (कलह या युद्ध) होता है। राजा अपने अभ्युदयकी इच्छासे अथवा शत्रुसे पीड़ित होनेपर यदि देश-कालकी अनुकूलता और सैनिक-शक्तिसे सम्पन्न हो तो विग्रह प्रारम्भ करे॥ १४-१५॥

सप्ताङ्ग राज्य, स्त्री (सीता आदि-जैसी असाधारण देवी), जनपदके स्थानविशेष, राष्ट्रके एक भाग, ज्ञानदाता उपाध्याय आदि और सेना—इनमेंसे किसीका भी अपहरण विग्रहका कारण है (इस प्रकार छः हेतु बताये गये)। इनके सिवा मद (राजा दम्भोद्भव आदिकी भाँति शौर्यादिजनित दर्प), मान (रावण आदिकी भाँति अहंकार), जनपदकी पीड़ा (जनपद-निवासियोंका सताया जाना), ज्ञानविघात (शिक्षा-संस्थाओं अथवा ज्ञानदाता गुरुओंका विनाश), अर्थविघात (भूमि, हिरण्य आदिको क्षति पहुँचाना), शक्तिविघात (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्तियोंका अपक्षय), धर्मविघात, दैव (प्रारब्धजनित दुरवस्था), सुग्रीव आदि-जैसे मित्रोंके प्रयोजनकी सिद्धि, माननीय जनोंका अपमान, बन्धुवर्गका विनाश, भूतानुग्रहविच्छेद (प्राणियोंको दिये गये अभयदानका खण्डन—जैसे एकने किसी वनमें वहाँके जन्तुओंको अभय देनेके लिये मृगयाकी मनाही कर दी, किंतु दूसरा उस नियमको तोड़कर शिकार खेलने आ गया—यही 'भूतानुग्रहविच्छेद' है), मण्डलदूषण (द्वादशराजमण्डलमेंसे किसीको विजिगीषुके विरुद्ध उभाड़ना), एकार्थाभिनिवेशित्व (जो भूमि या स्त्री आदि अर्थ एकको अभीष्ट है, उसीको लेनेके लिये दूसरेका भी दुराग्रह)—ये बीस विग्रहके कारण हैं॥ १६—१८॥

सापत्न (रावण और विभीषणकी भाँति सौतेले भाइयोंका वैमनस्य), वास्तुज (भूमि, सुवर्ण आदिके हरणसे होनेवाला अमर्ष), स्त्रीके अपहरणसे होनेवाला रोष, कटुवचनजनित क्रोध तथा अपराधजनित प्रतिशोधकी भावना—ये पाँच प्रकारके वैर अन्य विद्वानोंने बताये हैं[2]॥ १९॥

(१) जिस विग्रहसे बहुत कम लाभ होनेवाला

१. 'परस्परोपकार' ही प्रतीकार है; 'मैत्र'का ही नाम 'संगत' संधि है। सम्बन्धजको ही 'संतान' कहा गया है और 'उपहार' तो पूर्वकथित 'उपहार' है ही। इन्हींमें अन्य सबका समावेश है।

२. सापत्न-वैरमें पूर्वोक्त एकार्थाभिनिवेशका अन्तर्भाव हो जाता है, स्त्री और वास्तुके अपहरणजनित वैरमें पूर्वकथित स्त्रीस्थानापहारज वैरका अन्तर्भाव है। वाग्जात वैरमें पूर्वोक्त ज्ञानापहारज और अपमानजनित वैर अन्तर्भूत होते हैं और अपराधजनित वैरमें पूर्वोक्तशेष १४ कारणोंका समावेश हो जाता है।

हो, (२) जो निष्फल हो, (३) जिससे फलप्राप्तिमें संदेह हो, (४) जो तत्काल दोषजनक (विग्रहके समय मित्रादिके साथ विरोध पैदा करनेवाला), (५) भविष्यकालमें भी निष्फल, (६) वर्तमान और भविष्यमें भी दोषजनक हो, (७) जो अज्ञात बल-पराक्रमवाले शत्रुके साथ किया जाय एवं (८) दूसरोंके द्वारा उभाड़ा गया हो, (९) जो दूसरोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये किंवा, (१०) किसी साधारण स्त्रीको पानेके लिये किया जा रहा हो, (११) जिसके दीर्घकालतक चलते रहनेकी सम्भावना हो, (१२) जो श्रेष्ठ द्विजोंके साथ छेड़ा गया हो, (१३) जो वरदान आदि पाकर अकस्मात् दैवबलसे सम्पन्न हुए पुरुषके साथ छिड़नेवाला हो, (१४) जिसके अधिक बलशाली मित्र हों, ऐसे पुरुषके साथ जो छिड़नेवाला हो, (१५) जो वर्तमान कालमें फलद, किंतु भविष्यमें निष्फल हो तथा (१६) जो भविष्यमें फलद किंतु वर्तमानमें निष्फल हो—इन सोलह प्रकारके विग्रहोंमें कभी हाथ न डाले। जो वर्तमान और भविष्यमें परिशुद्ध—पूर्णतः लाभदायक हो, वही विग्रह राजाको छेड़ना चाहिये॥ २०—२४॥

राजा जब अच्छी तरह समझ ले कि मेरी सेना हृष्ट-पुष्ट अर्थात् उत्साह और शक्तिसे सम्पन्न है तथा शत्रुकी अवस्था इसके विपरीत है, तब वह उसका निग्रह करनेके लिये विग्रह आरम्भ करे। जब मित्र, आक्रन्द तथा आक्रन्दासार—इन तीनोंकी राजाके प्रति दृढ़भक्ति हो तथा शत्रुके मित्र आदि विपरीत स्थितिमें हों अर्थात् उसके प्रति भक्तिभाव न रखते हों, तब उसके साथ विग्रह आरम्भ करे॥ २५ $\frac{1}{2}$ ॥

(जिसके बल एवं पराक्रम उच्च कोटिके हों, जो विजिगीषुके गुणोंसे सम्पन्न हो और विजयकी अभिलाषा रखता हो तथा जिसकी अमात्यादि प्रकृति उसके सद्गुणोंसे उसमें अनुरक्त हो, ऐसे राजाका युद्धके लिये यात्रा करना 'यान' कहलाता है।) विगृह्यगमन, संधायगमन, सम्भूयगमन, प्रसङ्गतः गमन तथा उपेक्षापूर्वक गमन—ये नीतिज्ञ पुरुषोंद्वारा यानके पाँच भेद कहे गये हैं*॥ २६ $\frac{1}{2}$ ॥

* बलवान् राजा जब समस्त शत्रुओंके साथ विग्रह आरम्भ करके युद्धके लिये यात्रा करता है, तब उसकी उस यात्राको नीतिशास्त्रके विद्वान् 'विगृह्यगमन' कहते हैं; अथवा शत्रुके समस्त मित्रोंको अर्थात् उसके आगे और पीछेके शुभचिन्तकोंको अपने सामने और पीछेवाले मित्रोंद्वारा छेड़े गये विग्रहमें फँसाकर शत्रुपर जो चढ़ाई की जाती है, उसे 'विगृह्यगमन' या 'विगृह्ययान' कहते हैं। जब अपनी चेष्टामें अवरोध उत्पन्न करनेवाले सभी प्रकारके शत्रुओंके साथ संधि करके जो एकमात्र किसी अन्य शत्रुपर आक्रमण किया जाता है, वह 'संधायगमन' कहा जाता है। अथवा अपने पार्ष्णिग्राह संज्ञावाले पृष्ठवर्ती शत्रुके साथ संधि करके जो अन्यत्र—अपने सामनेवाले शत्रुपर आक्रमणके लिये यात्रा की जाती है, विजिगीषुकी उस यात्राको भी 'संधायगमन' कहते हैं। सामूहिक लाभमें समानरूपसे भागी होनेवाले सामन्तोंके साथ, जो शक्ति और शुद्धभावसे युक्त हों, एकीभूत होकर—मिलकर जो किसी एक ही शत्रुपर चढ़ाई की जाती है, उसका नाम 'सम्भूयगमन' है। अथवा जो विजिगीषु और उसके शत्रु दोनोंकी प्रकृतियोंका विनाश करनेके कारण दोनोंका शत्रु हो, उसके प्रति विजिगीषु तथा शत्रु दोनोंका मिलकर युद्धके लिये यात्रा करना 'सम्भूयगमन' है। इसके उदाहरण हैं—सूर्य और हनुमान्। हनुमान् बाल्यावस्थामें लोहित सूर्यमण्डलको उदित हुआ देख, 'यह क्या है'—इस बातको जाननेके लिये बालोचित चपलतावश उछलकर उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़े। निकट पहुँचनेपर उन्होंने देखा कि भानुको ग्रहण करनेके लिये स्वर्भानु (राहु) आया है। फिर तो उसे ही अपना प्रतिद्वन्द्वी जान हनुमान्‌जी उसपर टूट पड़े। उस समय सूर्यने भी अपने प्रमुख शत्रु राहुको दबानेके लिये अपने भोले-भाले शत्रु हनुमान्‌जीका ही साथ दिया। एकपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थित हुआ राजा यदि प्रसङ्गवश उसके विरोधी दूसरे पक्षको अपने आक्रमणका लक्ष्य बना लेता है तो उसकी उस यात्राको 'प्रसङ्गतःगमन' या 'प्रसङ्गयान' कहते हैं। इसके दृष्टान्त हैं राजा शल्य। वे दुर्योधनपर पाण्डवपक्षसे आक्रमणके लिये चले थे, किंतु मार्गमें दुर्योधनके अति सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर माँगनेके लिये कहकर उसकी प्रार्थनासे उसीके सेनापति हो गये और अपने भानजे युधिष्ठिरको ही अपने आक्रमणका लक्ष्य बनाया। शत्रुके प्रति आक्रमण करनेवाले विजिगीषुको रोकनेके लिये यदि उस शत्रुके बलवान् मित्र आ पहुँचें तो उस शत्रुकी उपेक्षा करके उसके उन मित्रोंपर ही चढ़ाई करना 'उपेक्षायान' कहलाता है—जैसे इन्द्रकी आज्ञासे निवातकवचोंका वध करनेके लिये प्रस्थित हुए अर्जुनको रोकनेके निमित्त जब हिरण्यपुरवासी 'कालकंज' नामक असुर आ पहुँचे, तब अर्जुन उन निवातकवचोंकी उपेक्षा करके कालकंजोंपर ही टूट पड़े और उनको परास्त करनेके बाद ही उन्होंने निवातकवचोंका वध किया।

जब विजिगीषु और शत्रु—दोनों एक-दूसरेकी शक्तिका विघात न कर सकनेके कारण आक्रमण न करके बैठ रहें तो इसे 'आसन' कहा जाता है; इसके भी 'यान'की ही भाँति पाँच भेद होते हैं—१. विगृह्य आसन, २. संधाय आसन, ३. सम्भूय आसन, ४. प्रसङ्गासन तथा ५. उपेक्षासन* ॥ २७$\frac{1}{2}$ ॥

दो बलवान् शत्रुओंके बीचमें पड़कर वाणीद्वारा दोनोंको ही आत्मसमर्पण करे—'मैं और मेरा! राज्य दोनोंके ही हैं', यह संदेश दोनोंके ही पास गुप्तरूपसे भेजे और स्वयं दुर्गमें छिपा रहे। यह 'द्वैधीभाव'की नीति है। जब उक्त दोनों शत्रु पहलेसे ही संगठित होकर आक्रमण करते हों, तब जो उनमें अधिक बलशाली हो, उसकी शरण ले। यदि वे दोनों शत्रु परस्पर मन्त्रणा करके उसके साथ किसी भी शर्तपर संधि न करना चाहते हों, तब विजिगीषु उन दोनोंके ही किसी शत्रुका आश्रय ले अथवा किसी भी अधिक शक्तिशाली राजाकी शरण लेकर आत्मरक्षा करे॥ २८—३०॥

यदि विजिगीषुपर किसी बलवान् शत्रुका आक्रमण हो और वह उच्छिन्न होने लगे तथा किसी उपायसे उस संकटका निवारण करना उसके लिये असम्भव हो जाय, तब वह किसी कुलीन, सत्यवादी, सदाचारी तथा शत्रुकी अपेक्षा अधिक बलशाली राजाकी शरण ले। उस आश्रयदाताके दर्शनके लिये उसकी आराधना करना, सदा उसके अभिप्रायके अनुकूल चलना, उसीके लिये कार्य करना और सदा उसके प्रति आदरका भाव रखना—यह आश्रय लेनेवालेका व्यवहार बतलाया गया है॥ ३१-३२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'षाड्गुण्यकथन' नामक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४०॥

---

* जब शत्रु और विजिगीषु परस्पर आक्रमण करके कारणवशात् युद्ध बंद करके बैठ जायँ तो इसे 'विगृह्यासन' कहते हैं। यह एक प्रकार है। विजिगीषु शत्रुके किसी प्रदेशको क्षति पहुँचाकर जब स्वतः युद्धसे विरत होकर बैठ जाता है, तब यह भी 'विगृह्यासन' कहलाता है।

यदि शत्रु दुर्गके भीतर स्थित होनेके कारण पकड़ा न जा सके, तो उसके आसार (मित्रवर्ग) तथा बीज (अनाजकी फसल आदि)-को नष्ट करके उसके साथ विग्रह छोड़कर बैठ रहे। दीर्घकालतक ऐसा करनेसे प्रजा आदि प्रकृतियाँ उस शत्रु राजासे विरक्त हो जाती हैं। अतः समयानुसार वह वशीभूत हो जाता है। शत्रु और विजिगीषु समान बलशाली होनेके कारण युद्ध छिड़नेपर जब समानरूपसे क्षीण होने लगें, तब परस्पर संधि करके बैठ जायँ। यह 'संधाय आसन' कहलाता है। पूर्वकालमें निवातकवचोंके साथ जब दिग्विजयी रावणका युद्ध होने लगा, तब दोनों पक्ष ब्रह्माजीके वरदानसे शक्तिशाली होनेके कारण एक-दूसरेको परास्त न कर सके। उस दशामें ब्रह्माजीको ही बीचमें डालकर रावण संधि करके बैठ रहा। यह 'संधाय आसन'का उदाहरण है।

विजिगीषु और उसके शत्रुको उदासीन और मध्यमसे आक्रमणकी समानरूपसे शङ्का हो, तब उन दोनोंको मिल जाना चाहिये। इस प्रकार मिलकर बैठना 'सम्भूय आसन' कहलाता है। जब मध्यम और उदासीनमेंसे कोई-सा भी विजिगीषु और उसके शत्रु—दोनोंका विनाश करना चाहता हो, तब वह उन दोनोंका शत्रु समझा जाता है; उस दशामें विजिगीषु अपने शत्रुके साथ मिलकर दोनोंके ही अधिक बलवान् शत्रुभूत उस मध्यम या उदासीनका सामना करें। यही 'सम्भूय आसन' है।

यदि विजिगीषु किसी अन्य शत्रुपर आक्रमणकी इच्छा रखता हो; किंतु कार्यान्तर (अर्थलाभ या अनर्थ-प्रतिकार)-के प्रसङ्गसे अन्यत्र बैठे रहे तो इसे 'प्रसङ्गासन' कहते हैं।

अधिक शक्तिशाली शत्रुकी उपेक्षा करके अपने स्थानपर बैठे रहना 'उपेक्षासन' कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्णने जब पारिजातहरण किया था, उस समय उन्हें अधिक शक्तिशाली जानकर इन्द्रदेव उपेक्षा करके बैठ रहे, यह उपेक्षासनका उदाहरण है। इसका एक दूसरा उदाहरण रुक्मी है। महाभारत-युद्धमें वह क्रथ और कैशिकोंकी सेना लेकर बारी-बारीसे कौरवों और पाण्डवोंके पास गया और बोला, 'यदि तुम डरे हुए हो तो हम तुम्हारी सहायता करके तुम्हें विजय दिलायें।' उसकी इस बातपर दोनोंने उसकी उपेक्षा कर दी। अतः वह किसी ओरसे युद्ध न करके अपने घरपर ही बैठा रहा।

दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय

मन्त्रविकल्प

श्रीराम कहते हैं— 'लक्ष्मण! प्रभावशक्ति और उत्साह-शक्तिसे मन्त्रशक्ति श्रेष्ठ बतायी गयी है। प्रभाव और उत्साहसे सम्पन्न शुक्राचार्यको देवपुरोहित बृहस्पतिने मन्त्र-बलसे जीत लिया॥ १॥

जो विश्वसनीय होनेके साथ-ही-साथ नीतिशास्त्रका विद्वान् हो, उसीके साथ राजा अपने कर्तव्यके विषयमें मन्त्रणा करे। (जो विश्वसनीय होनेपर भी मूर्ख हो तथा विद्वान् होनेपर भी अविश्वसनीय हो, ऐसे मन्त्रीको त्याग दे। कौन कार्य किया जा सकता है और कौन अशक्य है, इसका स्वच्छ बुद्धिसे विवेचन करे।) जो अशक्य कार्यका आरम्भ करते हैं, उन्हें क्लेश उठानेके सिवा कोई फल कैसे प्राप्त हो सकता है?॥ २-३॥

अविज्ञात (परोक्ष)-का ज्ञान, विज्ञातका निश्चय, कर्तव्यके विषयमें दुविधा उत्पन्न होनेपर संशयका उच्छेद (समाधान) तथा शेष (अन्तिम निश्चित कर्तव्य)-की उपलब्धि—ये सब मन्त्रियोंके ही अधीन हैं। सहायक, कार्यसाधनके उपाय, देश और कालका विभाग, विपत्तिका निवारण तथा कर्तव्यकी सिद्धि—ये मन्त्रियोंकी मन्त्रणाके पाँच अङ्ग हैं॥ ४॥

मनकी प्रसन्नता, श्रद्धा (कार्यसिद्धिके विषयमें दृढ़ विश्वास), ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंकी स्वविषयक व्यापारमें क्षमता, सहाय-सम्पत्ति (सहायकोंका बाहुल्य अथवा सत्त्वादि गुणोंका योग) तथा उत्थान-सम्पत्ति (शीघ्रतापूर्वक उत्थान करनेका स्वभाव)—ये मन्त्रद्वारा निश्चित करके आरम्भ किये जानेवाले कर्मोंकी सिद्धिके लक्षण हैं॥ ५॥

मद (मदिरा आदिका नशा), प्रमाद (कार्यान्तरके प्रसङ्गसे असावधानी), काम (कामभावनासे प्रेरित होकर स्त्रियोंपर विश्वास), स्वप्नावस्थामें किये गये प्रलाप, खंभे आदिकी ओटमें लुके-छिपे लोग, पार्श्ववर्तिनी कामिनियाँ तथा उपेक्षित प्राणी (तोता, मैना, बालक, बहरे आदि)—ये मन्त्रका भेदन करनेमें कारण बनते हैं॥ ६॥

सभामें निर्भीक बोलनेवाला, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, प्रवचन-कुशल, शस्त्र और शास्त्रमें परिनिष्ठित तथा दूतोचित कर्मके अभ्याससे सम्पन्न पुरुष राजदूत होनेके योग्य होता है। निसृष्टार्थ (जिसपर संधि-विग्रह आदि कार्यको इच्छानुसार करनेका पूरा भार सौंपा गया हो, वह), मितार्थ (जिसे परिमित कार्य-भार दिया गया हो, यथा—इतना ही करना या इतना ही बोलना चाहिये), तथा शासनहारक (लिखित आदेशको पहुँचानेवाला)—ये दूतके तीन भेद कहे गये हैं॥ ७-८॥

दूत अपने आगमनकी सूचना दिये बिना शत्रुके दुर्ग तथा संसद्में प्रवेश न करे (अन्यथा वह संदेहका पात्र बन जाता है)। वह कार्यसिद्धिके लिये समयकी प्रतीक्षा करे तथा शत्रु राजाकी आज्ञा लेकर वहाँसे विदा हो। उसे शत्रुके छिद्र (दुर्बलता)-की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। उसके कोष, मित्र और सेनाके विषयमें भी वह जाने तथा शत्रुकी दृष्टि एवं शरीरकी चेष्टाओंसे अपने प्रति राग और विरक्तिका भी अनुमान कर लेना चाहिये॥ ९-१०॥

वह उभय पक्षोंके कुलकी (यथा—'आप उदितोदित कुलके रत्न हैं' आदि), नामकी (यथा—'आपका नाम दिग्दिगन्तमें विख्यात है' इत्यादि), द्रव्यकी (यथा—'आपका द्रव्य परोपकारमें लगता है' इत्यादि) तथा श्रेष्ठ कर्मकी (यथा—'आपके सत्कर्मकी श्रेष्ठ लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं' आदि कहकर) बड़ाई करे। इस तरह चतुर्विध स्तुति करनी चाहिये। तपस्वीके वेषमें रहनेवाले

अपने चरोंके साथ संवाद करे। अर्थात् उनसे बात करके यथार्थ स्थितिको जाननेकी चेष्टा करे॥ ११॥

चर दो प्रकारके होते हैं—प्रकाश (प्रकट) और अप्रकाश (गुप्त)। इनमें जो प्रकाश है, उसकी 'दूत' संज्ञा है और अप्रकाश 'चर' कहा गया है। वणिक् (वैदेहक), किसान (गृहपति), लिङ्गी (मुण्डित या जटाधारी तपस्वी), भिक्षुक (उदास्थित), अध्यापक (छात्रवृत्तिसे रहनेवाला—कार्पटिक)—इन चारोंकी स्थितिके लिये संस्थाएँ हैं। इनके लिये वृत्ति (जीविका)-की व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे ये सुखसे रह सकें[1]॥ १२॥

जब दूतकी चेष्टा विफल हो जाय तथा शत्रु व्यसनग्रस्त हो, तब उसपर चढ़ाई करे॥ १२ $\frac{१}{२}$॥

जिससे अपनी प्रकृतियाँ व्यसनग्रस्त हो गयी हों, उस कारणको शान्त करके विजिगीषु शत्रुपर चढ़ाई करे। व्यसन दो प्रकारके होते हैं—मानुष और दैव। अनय और अपनय दोनोंके संयोगसे प्रकृति-व्यसन प्राप्त होता है। अथवा केवल दैवसे भी उसकी प्राप्ति होती है। वह श्रेय (अभीष्ट अर्थ)-को व्यस्त (क्षिप्त या नष्ट) कर देता है, इसलिये 'व्यसन' कहलाता है। अग्नि (आग लगना), जल (अतिवृष्टि या बाढ़), रोग, दुर्भिक्ष (अकाल पड़ना) और मरक (महामारी)—ये पाँच प्रकारके 'दैव-व्यसन' हैं। शेष 'मानुष-व्यसन' हैं। पुरुषार्थ अथवा अथर्ववेदोक्त शान्तिकर्मसे दैव-व्यसनका निवारण करे। उत्थान-शीलता (दुर्गादि-निर्माणविषयक चेष्टा) अथवा नीति—संधि या साम आदिके प्रयोगके द्वारा मानुष-व्यसनकी शान्ति करे॥ १३—१५ $\frac{१}{२}$॥

मन्त्र (कार्यका निश्चय), मन्त्रफलकी प्राप्ति, कार्यका अनुष्ठान, भावी उन्नतिका सम्पादन, आय-व्यय, दण्डनीति, शत्रुका निवारण तथा व्यसनको टालनेका उपाय, राजा एवं राज्यकी रक्षा—ये सब अमात्यके कर्म हैं। यदि अमात्य व्यसनग्रस्त हो तो वह इन सब कर्मोंको नष्ट कर देता है[2]॥ १६-१७ $\frac{१}{२}$॥

सुवर्ण, धान्य, वस्त्र, वाहन तथा अन्यान्य द्रव्योंका संग्रह जनपदवासिनी प्रजाके कर्म हैं। यदि प्रजा व्यसनग्रस्त हो तो वह उपर्युक्त सब कार्योंका नाश कर डालती है॥ १८ $\frac{१}{२}$॥

आपत्तिकालमें प्रजाजनोंकी रक्षा, कोष और सेनाकी रक्षा, गुप्त या आकस्मिक युद्ध, आपत्तिग्रस्त जनोंकी रक्षा, संकटमें पड़े हुए मित्रों और अमित्रोंका संग्रह तथा सामन्तों और वनवासियोंसे प्राप्त होनेवाली बाधाओंका निवारण भी दुर्गका आश्रय लेनेसे होता है। नगरके नागरिक भी शरण लेनेके लिये दुर्गपतियोंका कोष आदिके द्वारा उपकार करते हैं। (यदि दुर्ग विपत्तिग्रस्त हो जाय तो ये सब कार्य विपन्न हो जाते हैं।)॥ १९-२० $\frac{१}{२}$॥

भृत्यों (सैनिक आदि)-का भरण-पोषण, दानकर्म, भूषण, हाथी-घोड़े आदिका खरीदना, स्थिरता, शत्रुपक्षकी लुब्ध प्रकृतियोंमें धन देकर फूट डालना, दुर्गका संस्कार (मरम्मत और सजावट), सेतुबन्ध (खेतीके लिये जलसंचय करनेके निमित्त बाँध आदिका निर्माण), वाणिज्य, प्रजा और मित्रोंका संग्रह, धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धि—ये सब कार्य कोषसे सम्पादित होते हैं। कोषसम्बन्धी व्यसनसे राजा इन सबका नाश कर देता है; क्योंकि राजाका मूल है—कोष॥ २१-२२॥

मित्र, अमित्र (अपकारकी इच्छावाले शत्रु),

१. यहाँ कोष्ठमें दिये गये 'वैदेहक' आदि शब्द 'वणिक्' आदि संस्थाओंके चरोंके नामान्तर हैं।

२. इन कर्मोंमें मन्त्र या कार्यका निश्चय मन्त्रीके अधीन है, शत्रुओंको दूरसे ही भगाकर मन्त्रसाध्य फलकी प्राप्ति दूतके अधीन है, कार्यका अनुष्ठान (दुर्गादिकर्मकी प्रवृत्ति) अध्यक्षके अधीन है, आयति अथवा भावी उन्नतिका सम्पादन अमात्योंके अधीन है, आय और व्यय अक्षपटलिक (अर्थमन्त्री)-के अधीन हैं, दण्डनीति धर्मस्थ (न्यायाधिकारी)-के हाथमें है तथा शत्रुओंका निवारण मित्र-साध्य कर्म है—ऐसा विभाग जयमङ्गलाकारने किया है।

सुवर्ण और भूमिको अपने वशमें करना, शत्रुओंको कुचल डालना, दूरके कार्यको शीघ्र पूरा करा लेना इत्यादि कार्य दण्ड (सेना)-द्वारा साध्य हैं। उसपर संकट आनेसे ये सब कार्य बिगड़ जाते हैं॥ २३॥

'मित्र' विजिगीषुके विचलित होनेवाले मित्रोंको रोकता है—उनमें सुस्थिर स्नेह पैदा करता है, उसके शत्रुओंका नाश करता है तथा धन आदिसे विजिगीषुका उपकार करता है। ये सब मित्रसे सिद्ध होनेवाले कार्य हैं। मित्रके व्यसनग्रस्त होनेपर ये कार्य नष्ट होते हैं॥ २४॥

यदि राजा व्यसनी हो तो समस्त राजकार्योंको नष्ट कर देता है। कठोर वचन बोलकर दूसरोंको दुःख पहुँचाना, अत्यन्त कठोर दण्ड देना, अर्थदूषण (वाणीद्वारा पहलेकी दी हुई वस्तुको न देना, दी हुईको छीन लेना, चोरी आदिके द्वारा धनका नाश होना तथा प्राप्त हुए धनको त्याग देना),* मदिरापान, स्त्रीविषयक आसक्ति, शिकार खेलनेमें अधिक तत्पर रहना और जूआ खेलना—ये राजाके व्यसन हैं॥ २५ $\frac{1}{2}$॥

आलस्य (उद्योगशून्यता), स्तब्धता (बड़ोंके सामने उद्दण्डता या मान-प्रदर्शन), दर्प (शौर्यादिका अहंकार), प्रमाद (असावधानता), बिना कारण वैर बाँधना—ये तथा पूर्वोक्त कठोर वचन बोलना आदि राजव्यसन सचिवके लिये दुर्व्यसन बताये गये हैं॥ २६ $\frac{1}{2}$॥

अनावृष्टि (और अतिवृष्टि) तथा रोगजनित पीड़ा आदि राष्ट्रके लिये व्यसन कहे गये हैं। यन्त्र (शतघ्नी आदि), प्राकार (चहारदीवारी) तथा परिखा (खाईं)-का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना, अस्त्र-शस्त्रोंका अभाव हो जाना तथा घास, ईंधन एवं अन्नका क्षीण हो जाना दुर्गके लिये व्यसन बताया गया है॥ २७-२८॥

असद्व्यय किंवा अपव्ययके द्वारा जिसे खर्च कर दिया गया हो, जिसे मण्डलके अनेक स्थानोंमें थोड़ा-थोड़ा करके बाँट दिया गया हो, रक्षक आदिने जिसका भक्षण कर लिया हो, जिसे संचय करके रखा नहीं गया हो, जिसे चोर आदिने चुरा लिया हो तथा जो दूरवर्ती स्थानमें रखा गया हो, ऐसा कोष व्यसनग्रस्त बताया जाता है॥ २९॥

जो चारों ओरसे अवरुद्ध कर दी गयी हो, जिसपर घेरा पड़ गया हो, जिसका अनादर या असम्मान हुआ हो, जिसका ठीक-ठीक भरण-पोषण नहीं किया गया हो, जिसके अधिकांश सैनिक रोगी, थके-माँदे, चलकर दूरसे आये हुए तथा नवागत हों, जो सर्वथा क्षीण और प्रतिहत हो चली हो, जिसके आगे बढ़नेका वेग कुण्ठित कर दिया गया हो, जिसके अधिकांश लोग आशाजनित निर्वेद (खेद एवं विरक्ति)-से भरे हों, जो अयोग्य भूमिमें स्थित, अनृतप्राप्त (अविश्वस्त) हो गयी हो, जिसके भीतर स्त्रियाँ अथवा स्त्रैण हों, जिसके हृदयमें कुछ काँटा-सा चुभ रहा हो तथा जिस सेनाके पीछे दुष्ट पार्ष्णिग्राह (शत्रु)-की सेना लगी हुई हो, उस सेनाकी इस दुरवस्थाको 'बलव्यसन' कहा जाता है॥ ३०—३३॥

जो दैवसे पीड़ित, शत्रुसेनासे आक्रान्त तथा पूर्वोक्त काम, क्रोध आदिसे संयुक्त हो, उस मित्रको व्यसनग्रस्त बताया गया है। उसे उत्साह एवं सहायता दी जाय तो वह शत्रुओंसे युद्धके लिये उद्यत एवं विजयी हो सकता है॥ ३४॥

अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता तथा दण्डविषयक अत्यन्त क्रूरता—ये तीन क्रोधज व्यसन हैं। मृगया, जूआ, मद्यपान तथा स्त्रीसङ्ग—ये चार प्रकारके कामज व्यसन हैं॥ ३५॥

वाणीकी कठोरता लोकमें अत्यन्त उद्वेग पैदा

* पूर्वप्रवृत्त अर्थका उच्छेद होनेसे 'अदान', उसका पण्यागार आदिसे आकर्षण 'आदान', स्वयं उपार्जित धनका अग्नि आदिसे विध्वंस 'विनाश' तथा कहींसे प्राप्त धनके विघातपूर्वक उसका त्याग 'परित्याग' नामक अर्थदूषण है। (जयमङ्गला)

करनेवाली और अनर्थकारिणी होती है। अर्थहरण, ताड़न और वध—यह तीन प्रकारका दण्ड असिद्ध अर्थका साधक होनेसे सत्पुरुषोंद्वारा 'शासन' कहा गया है। उसको युक्तिसे ही प्राप्त कराये। जो राजा युक्त (उचित) दण्ड देता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। जो क्रोधवश कठोर दण्ड देता है, वह राजा प्राणियोंमें उद्वेग पैदा करता है। उस दण्डसे उद्विग्न हुए मनुष्य विजिगीषुके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, उनसे वृद्धिको प्राप्त हुए शत्रु उक्त राजाके विनाशमें कारण होते हैं॥ ३६-३७ १/२ ॥

दूषणीय मनुष्यके दूषण (अपकार)-के लिये उससे प्राप्त होनेवाले किसी महान् अर्थका विघातपूर्वक परित्याग नीति-तत्त्वज्ञ विद्वानोंद्वारा 'अर्थदूषण' कहा जाता है॥ ३८ १/२ ॥

दौड़ते हुए यान (अश्व आदि)-से गिरना, भूख-प्यासका कष्ट उठाना आदि दोष मृगयासे प्राप्त होते हैं। किसी छिपे हुए शत्रुसे मारे जानेकी भी सम्भावना रहती है। श्रम या थकावटपर विजय पानेके लिये किसी सुरक्षित वनमें राजा शिकार खेले॥ ३९ १/२ ॥

जूएमें धर्म, अर्थ और प्राणोंके नाश आदि दोष होते हैं; उसमें कलह आदिकी भी सम्भावना रहती है। स्त्रीसम्बन्धी व्यसनसे प्रत्येक कर्तव्य-कार्यके करनेमें बहुत अधिक विलम्ब होता है—ठीक समयसे कोई काम नहीं हो पाता तथा धर्म और अर्थको भी हानि पहुँचती है। मद्यपानके व्यसनसे प्राणोंका नाशतक हो जाता है, नशेके कारण कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय नहीं हो पाता॥ ४०-४१ ॥

सेनाकी छावनी कहाँ और कैसे पड़नी चाहिये, इस बातको जो जानता है तथा भले-बुरे निमित्त (शकुन)-का ज्ञान रखता है, वह शत्रुपर विजय पा सकता है। स्कन्धावार (सेनाकी छावनी)-के मध्यभागमें खजानासहित राजाके ठहरनेका स्थान होना चाहिये। राजभवनको चारों ओरसे घेरकर क्रमशः मौल (पिता-पितामहके कालसे चली आती हुई मौलिक सेना), भृत (भोजन और वेतन देकर रखी हुई सेना), श्रेणि (जनपदनिवासियोंका दल अथवा कुविन्द आदिकी सेना), मित्रसेना, द्विषद्बल (राजाकी दण्डशक्तिसे वशीभूत हुए सामन्तोंकी सेना) तथा आटविक (वन्य-प्रदेशके अधिपतिकी सेना)—इन सेनाओंकी छावनी डाले॥ ४२-४३ ॥

(राजा और उसके अन्तःपुरकी रक्षाकी सुव्यवस्था करनेके पश्चात्) सेनाका एक चौथाई भाग युद्धसज्जासे सुसज्जित हो सेनापतिको आगे करके प्रयत्नपूर्वक छावनीके बाहर रातभर चक्कर लगाये। वायुके समान वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए घुड़सवार दूर सीमान्तपर विचरते हुए शत्रुकी गतिविधिका पता लगायें। जो भी छावनीके भीतर प्रवेश करें या बाहर निकलें, सब राजाकी आज्ञा प्राप्त करके ही वैसा करें॥ ४४-४५ ॥

साम, दान, दण्ड, भेद, उपेक्षा, इन्द्रजाल और माया—ये सात उपाय हैं; इनका शत्रुके प्रति प्रयोग करना चाहिये। इन उपायोंसे शत्रु वशीभूत होता है॥ ४६ ॥

सामके पाँच भेद बताये गये हैं—१. दूसरेके उपकारका वर्णन, २. आपसके सम्बन्धको प्रकट करना (जैसे 'आपकी माता मेरी मौसी हैं' इत्यादि), ३. मधुरवाणीमें गुण-कीर्तन करते हुए बोलना, ४. भावी उन्नतिका प्रकाशन (यथा—'ऐसा होनेपर आगे चलकर हम दोनोंका बड़ा लाभ होगा' इत्यादि) तथा ५. मैं आपका हूँ—यों कहकर आत्मसमर्पण करना॥ ४७ १/२ ॥

किसीसे उत्तम (सार), अधम (असार) तथा मध्यम (सारासार) भेदसे जो द्रव्य-सम्पत्ति प्राप्त हुई हो, उसको उसी रूपमें लौटा देना—यह दानका प्रथम भेद है। २. बिना दिये ही जो धन किसीके द्वारा ले लिया गया हो, उसका अनुमोदन

करना (यथा—'आपने अच्छा किया जो ले लिया। मैंने पहलेसे ही आपको देनेका विचार कर लिया था')—यह दानका दूसरा भेद है। ३. अपूर्व द्रव्यदान (भाण्डागारसे निकालकर दिया गया नूतन दान), ४. स्वयंग्राहप्रवर्तन (किसी दूसरेसे स्वयं ही धन ले लेनेके लिये प्रेरित करना। यथा—'अमुक व्यक्तिसे अमुक द्रव्य ले लो, वह तुम्हारा ही हो जायगा') तथा ५. दातव्य ऋण आदिको छोड़ देना या न लेना—इस प्रकार ये दानके पाँच भेद कहे गये हैं॥ ४८-४९ $\frac{1}{2}$ ॥

स्नेह और अनुरागको दूर कर देना, परस्पर संघर्ष (कलह) पैदा करना तथा धमकी देना—भेदज्ञ पुरुषोंने भेदके ये तीन प्रकार बताये हैं॥ ५० $\frac{1}{2}$ ॥

वध, धनका अपहरण और बन्धन एवं ताड़न आदिके द्वारा क्लेश पहुँचाना—ये दण्डके तीन भेद हैं। वधके दो प्रकार हैं—(१) प्रकाश (प्रकट) और (२) अप्रकाश (गुप्त)। जो सब लोगोंके द्वेषपात्र हों, ऐसे दुष्टोंका प्रकटरूपमें वध करना चाहिये; किंतु जिनके मारे जानेसे लोग उद्विग्न हो उठें, जो राजाके प्रिय हों तथा अधिक बलशाली हों, वे यदि राजाके हितमें बाधा पहुँचाते हैं तो उनका गुप्तरूपसे वध करना उत्तम कहा गया है। गुप्तरूपसे वधका प्रयोग यों करना चाहिये—विष देकर, एकान्तमें आग आदि लगाकर, गुप्त मनुष्योंद्वारा शस्त्रका प्रयोग कराकर अथवा शरीरमें फोड़ा पैदा करनेवाले उबटन लगवाकर राज्यके शत्रुको नष्ट करे। जो जातिमात्रसे भी ब्राह्मण हो, उसे प्राणदण्ड न दे। उसपर सामनीतिका प्रयोग करके उसे वशमें लानेकी चेष्टा करे॥ ५१—५३ ॥

प्रिय वचन बोलना 'साम' कहलाता है। उसका प्रयोग इस तरह करे, जिससे चित्तमें अमृतका-सा लेप होने लगे। अर्थात् वह हृदयमें स्थान बना ले। ऐसी स्निग्ध दृष्टिसे देखे, मानो वह सामनेवालेको प्रेमसे पी जाना चाहता हो तथा इस तरह बात करे, मानो उसके मुखसे अमृतकी वर्षा हो रही हो॥ ५४॥

जिसपर झूठा ही कलङ्क लगाया गया हो, जो धनका इच्छुक हो, जिसे अपने पास बुलाकर अपमानित किया गया हो, जो राजाका द्वेषी हो, जिसपर भारी कर लगाया गया हो, जो विद्या और कुल आदिकी दृष्टिसे अपनेको सबसे बड़ा मानता हो, जिसके धर्म, काम और अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये हों, जो कुपित, मानी और अनादृत हो, जिसे अकारण राज्यसे निर्वासित कर दिया गया हो, जो पूजा एवं सत्कारके योग्य होनेपर भी असत्कृत हुआ हो, जिसके धन तथा स्त्रीका हरण कर लिया गया हो, जो मनमें वैर रखते हुए भी ऊपरसे सामनीतिके प्रयोगसे शान्त रहता हो, ऐसे लोगोंमें, तथा जो सदा शङ्कित रहते हों, उनमें, यदि वे शत्रुपक्षके हों तो फूट डाले और अपने पक्षमें इस तरहके लोग हों तो उन्हें यत्नपूर्वक शान्त करे। यदि शत्रुपक्षसे फूटकर ऐसे लोग अपने पक्षमें आयें तो उनका सत्कार करे॥ ५५—५७ $\frac{1}{2}$ ॥

समान तृष्णाका अनुसन्धान (उभयपक्षको समानरूपसे लाभ होनेकी आशाका प्रदर्शन), अत्यन्त उग्रभय (मृत्यु आदिकी विभीषिका) दिखाना तथा उच्चकोटिका दान और मान—ये भेदके उपाय कहे गये हैं॥ ५८ $\frac{1}{2}$ ॥

शत्रुकी सेनामें जब भेदनीतिद्वारा फूट डाल दी जाती है, तब वह घुन लगे हुए काष्ठकी भाँति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो जाती है। प्रभाव, उत्साह तथा मन्त्रशक्तिसे सम्पन्न एवं देश-कालका ज्ञान रखनेवाला राजा दण्डके द्वारा शत्रुओंका अन्त कर दे। जिसमें मैत्रीभाव प्रधान है तथा जिसका विचार कल्याणमय है, ऐसे पुरुषको सामनीतिके द्वारा वशमें करे॥ ५९-६०॥

जो लोभी हो और आर्थिक दृष्टिसे क्षीण हो चला हो, उसको दानद्वारा सत्कारपूर्वक वशमें

करे। परस्पर शङ्कासे जिनमें फूट पड़ गयी हो तथा जो दुष्ट हों, उन सबको दण्डका भय दिखाकर वशमें ले आये। पुत्र और भाई आदि बन्धुजनोंको सामनीतिद्वारा एवं धन देकर वशीभूत करे। सेनापतियों, सैनिकों तथा जनपदके लोगोंको दान और भेदनीतिके द्वारा अपने अधीन करे। सामन्तों (सीमावर्ती नरेशों), आटविकों (वन्य-प्रदेशके शासकों) तथा यथासम्भव दूसरे लोगोंको भी भेद और दण्डनीतिसे वशमें करे॥ ६१-६२॥

देवताओंकी प्रतिमाओं तथा जिनमें देवताओंकी मूर्ति खुदी हो, ऐसे खंभोंके बड़े-बड़े छिद्रोंमें छिपकर खड़े हुए मनुष्य 'मानुषी माया' हैं।[1] स्त्रीके कपड़ोंसे ढँका हुआ अथवा रात्रिमें अद्भुतरूपसे दर्शन देनेवाला पुरुष भी 'मानुषी माया' है। वेताल, मुखसे आग उगलनेवाले पिशाच तथा देवताओंके समान रूप धारण करना इत्यादि 'मानुषी माया' है। इच्छानुसार रूप धारण करना, शस्त्र, अग्नि, पत्थर और जलकी वर्षा करना तथा अन्धकार, आँधी, पर्वत और मेघोंकी सृष्टि कर देना—यह 'अमानुषी माया' है। पूर्वकल्पकी चतुर्युगीमें जो द्वापर आया था, उसमें पाण्डुवंशी भीमसेनने स्त्रीके समान रूप धारण करके अपने शत्रु कीचकको मारा था॥ ६३—६५॥

अन्याय (अदण्ड्यदण्डन आदि), व्यसन (मृगया आदि) तथा बड़ेके साथ युद्धमें प्रवृत्त हुए आत्मीय जनको न रोकना 'उपेक्षा' है। पूर्वकल्पवर्ती भीमसेनके साथ युद्धमें प्रवृत्त हुए अपने भाई हिडिम्बको हिडिम्बाने मना नहीं किया, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये उसकी उपेक्षा कर दी॥ ६६॥

मेघ, अन्धकार, वर्षा, अग्नि, पर्वत तथा अन्य अद्भुत वस्तुओंको दिखाना, दूर खड़ी हुई ध्वजशालिनी सेनाओंका दर्शन कराना, शत्रुपक्षके सैनिकोंको कटे, फाड़े तथा विदीर्ण किये गये और अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए दिखाना—यह सब 'इन्द्रजाल' है। शत्रुओंको डरानेके लिये इस इन्द्रजालकी कल्पना करनी चाहिये॥ ६७-६८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'साम आदि उपायोंका कथन' नामक
दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४१॥

दो सौ बयालीसवाँ अध्याय

सेनाके छः भेद, इनका बलाबल तथा छः अङ्ग

श्रीराम कहते हैं— छः प्रकारकी सेनाको कवच आदिसे संनद्ध एवं व्यूहबद्ध करके इष्ट देवताओंकी तथा संग्रामसम्बन्धी दुर्गा आदि देवियोंकी पूजा करनेके पश्चात् शत्रुपर चढ़ाई करे। मौल, भृत, श्रेणि, सुहृद्, शत्रु तथा आटविक— ये छः प्रकारके सैन्य हैं।[2] इनमें परकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व सेना श्रेष्ठ कही गयी है। इनका व्यसन भी इसी क्रमसे गरिष्ठ माना गया है। पैदल,

१. वहाँ छिपे हुए मनुष्य यथासमय निकलकर शत्रुपर टूट पड़ते हैं या वहींसे शत्रुके विनाशकी सूचना देते हैं। शत्रुपर यह प्रभाव डालते हैं कि विजिगीषुकी सेवासे प्रसन्न होकर हम देवता ही उसकी सहायता कर रहे हैं।

२. मूलभूत पुरुषके सम्बन्धोंसे चली आनेवाली वंशपरम्परागत सेना 'मौल' कही गयी है। आजीविका देकर जिसका भरण-पोषण किया गया हो, वह 'भृत' बल है। जनपदके अन्तर्गत जो व्यवसायियों तथा कारीगरोंका संघ है, उनकी सेना 'श्रेणिबल' है। सहायताके लिये आये हुए मित्रकी सेना 'सुहृद्बल' है। अपनी दण्डशक्तिसे वशमें की गयी सेना 'शत्रुबल' है तथा स्वमण्डलके अन्तर्गत अटवी (जंगल)-का उपभोग करनेवालोंको 'आटविक' कहते हैं। उनकी सेना 'आटविक बल' है।

घुड़सवार, रथी और हाथीसवार—ये सेनाके चार अङ्ग हैं; किंतु मन्त्र और कोष—इन दो अङ्गोंके साथ मिलकर सेनाके छः अङ्ग हो जाते हैं॥ १-२॥

नदी-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग तथा वन-दुर्ग—इनमें जहाँ-जहाँ (सामन्त तथा आटविक आदिसे) भय प्राप्त हो, वहाँ-वहाँ सेनापति संनद्ध एवं व्यूहबद्ध सेनाओंके साथ जाय। एक सेनानायक उत्कृष्ट वीर योद्धाओंके साथ आगे जाय (और मार्ग एवं सेनाके लिये आवास-स्थानका शोध करे)। विजिगीषु राजा और उसका अन्तःपुर सेनाके मध्यभागमें रहकर यात्रा करे। खजाना तथा फल्गु (असार एवं बेगार करनेवालोंकी) सेना भी बीचमें ही रहकर चले। स्वामीके अगल-बगलमें घुड़सवारोंकी सेना रहे। घुड़सवार सेनाके उभय पार्श्वोंमें रथसेना रहे। रथसेनाके दोनों तरफ हाथियोंकी सेना रहनी चाहिये। उसके दोनों बगल आटविकों (जंगली लोगों)-की सेना रहे। यात्राकालमें प्रधान एवं कुशल सेनापति स्वयं स्वामीके पीछे रहकर सबको आगे करके चले। थके-माँदे (हतोत्साह) सैनिकोंको धीरे-धीरे आश्वासन देता रहे। उसके साथकी सारी सेना कमर कसकर युद्धके लिये तैयार रहे। यदि आगेकी ओरसे शत्रुके आक्रमणका भय सम्भावित हो तो महान् मकरव्यूहकी[1] रचना करके आगे बढ़े। (यदि तिर्यग् दिशासे भयकी सम्भावना हो तो) खुले या फैले पंखवाले श्येन पक्षीके आकारकी व्यूह-रचना करके चले। (यदि एक आदमीके ही चलनेयोग्य पगडंडी-मार्गसे यात्रा करते समय सामनेसे भय हो तो) सूची-व्यूहकी रचना करके चले तथा उसके मुखभागमें वीर योद्धाओंको खड़ा करे। पीछेसे भय हो तो शकटव्यूहकी,[2] पार्श्वभागसे भय हो तो वज्रव्यूहकी[3] तथा सब ओरसे भय होनेपर 'सर्वतोभद्र'[4] नामक व्यूहकी रचना करे॥ ३—८॥

जो सेना पर्वतकी कन्दरा, पर्वतीय दुर्गम स्थान एवं गहन वनमें, नदी एवं घने वनसे संकीर्ण पथपर फँसी हो, जो विशाल मार्गपर चलनेसे थकी हो, भूख-प्याससे पीड़ित हो, रोग, दुर्भिक्ष (अकाल) एवं महामारीसे कष्ट पा रही हो, लुटेरोंद्वारा भगायी गयी हो, कीचड़, धूल तथा पानीमें फँस गयी हो, विक्षिप्त हो, एक-एक व्यक्तिके ही चलनेका मार्ग होनेसे जो आगे न बढ़कर एक ही स्थानपर एकत्र हो गयी हो, सोयी हो, खाने-पीनेमें लगी हो, अयोग्य भूमिपर स्थित हो, बैठी हो, चोर तथा अग्निके भयसे डरी हो, वर्षा और आँधीकी चपेटमें आ गयी हो तथा इसी तरहके अन्यान्य संकटोंमें फँस गयी हो, ऐसी अपनी सेनाकी तो सब ओरसे रक्षा करे तथा शत्रुसेनाको घातक प्रहारका निशाना बनाये॥ ९—११ $\frac{1}{2}$॥

जब आक्रमणके लक्ष्यभूत शत्रुकी अपेक्षा विजिगीषु राजा देश-कालकी अनुकूलताकी दृष्टिसे बढ़ा-चढ़ा हो तथा शत्रुकी प्रकृतिमें फूट डाल दी गयी हो और अपना बल अधिक हो तो शत्रुके साथ प्रकाश-युद्ध (घोषित या प्रकट संग्राम) छेड़ दे। यदि विपरीत स्थिति हो तो कूट-युद्ध (छिपी लड़ाई) करे। जब शत्रुकी सेना पूर्वोक्त बलव्यसन (सैन्य-संकट)-के अवसरों या स्थानोंमें फँसकर व्याकुल हो तथा युद्धके अयोग्य भूमिमें स्थित हो और सेनासहित विजिगीषु अपने अनुकूल भूमिपर स्थित हो, तब वह शत्रुपर आक्रमण

१. उसका मुख विस्तृत होनेसे वह पीछेकी समस्त सेनाकी रक्षा करता है।
२. शकट-व्यूह पीछेकी ओरसे विस्तृत होता है।
३. वज्रव्यूहमें दोनों ओर विस्तृत मुख होते हैं।
४. सर्वतोभद्रमें सभी दिशाओंकी ओर सेनाका मुख होता है।

करके उसे मार गिराये। यदि शत्रु-सैन्य अपने लिये अनुकूल भूमिमें स्थित हो तो उसकी प्रकृतियोंमें भेदनीतिद्वारा फूट डलवाकर, अवसर देख शत्रुका विनाश कर डाले॥ १२-१३ $\frac{1}{2}$ ॥

जो युद्धसे भागकर या पीछे हटकर शत्रुको उसकी भूमिसे बाहर खींच लाते हैं, ऐसे वनचरों (आटविकों) तथा अमित्र सैनिकोंने पाशभूत होकर जिसे प्रकृतिप्रगहसे (स्वभूमि या मण्डलसे) दूर—परकीय भूमिमें आकृष्ट कर लिया है, उस शत्रुको प्रकृष्ट वीर योद्धाओंद्वारा मरवा डाले। कुछ थोड़े-से सैनिकोंको सामनेकी ओरसे युद्धके लिये उद्यत दिखा दे और जब शत्रुके सैनिक उन्हींको अपना लक्ष्य बनानेका निश्चय कर लें, तब पीछेसे वेगशाली उत्कृष्ट वीरोंकी सेनाके साथ पहुँचकर उन शत्रुओंका विनाश करे। अथवा पीछेकी ओर ही सेना एकत्र करके दिखाये और जब शत्रु-सैनिकोंका ध्यान उधर ही खिंच जाय, तब सामनेकी ओरसे शूरवीर बलवान् सेनाद्वारा आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दे। सामने तथा पीछेकी ओरसे किये जानेवाले इन दो आक्रमणोंद्वारा अगल-बगलसे किये जानेवाले आक्रमणोंकी भी व्याख्या हो गयी अर्थात् बायीं ओर कुछ सेना दिखाकर दाहिनी ओरसे और दाहिनी ओर सेना दिखाकर बायीं ओरसे गुप्तरूपसे आक्रमण करे। कूटयुद्धमें ऐसा ही करना चाहिये। पहले दूष्यबल, अमित्रबल तथा आटविकबल—इन सबके साथ शत्रुसेनाको लड़ाकर थका दे। जब शत्रुबल श्रान्त, मन्द (हतोत्साह) और निराक्रन्द (मित्ररहित एवं निराश) हो जाय और अपनी सेनाके वाहन थके न हों, उस दशामें आक्रमण करके शत्रुवर्गको मार गिराये। अथवा दूष्य एवं अमित्र सेनाको युद्धसे पीछे हटने या भागनेका आदेश दे दे और जब शत्रुको यह विश्वास हो जाय कि मेरी जीत हो गयी, अतः वह ढीला पड़ जाय, तब मन्त्रबलका आश्रय ले प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करके उसे मार डाले। स्कन्धावार (सेनाके पड़ाव), पुर, ग्राम, सस्यसमूह तथा गौओंके व्रज (गोष्ठ)—इन सबको लूटनेका लोभ शत्रु-सैनिकोंके मनमें उत्पन्न करा दे और जब उनका ध्यान बँट जाय, तब स्वयं सावधान रहकर उन सबका संहार कर डाले। अथवा शत्रु राजाकी गायोंका अपहरण करके उन्हें दूसरी ओर (गायोंको छुड़ानेवालोंकी ओर) खींचे और जब शत्रुसेना उस लक्ष्यकी ओर बढ़े, तब उसे मार्गमें ही रोककर मार डाले। अथवा अपने ही ऊपर आक्रमणके भयसे रातभर जागनेके श्रमसे दिनमें सोयी हुई शत्रुसेनाके सैनिक जब नींदसे व्याकुल हों, उस समय उनपर धावा बोलकर मार डाले। अथवा रातमें ही निश्चिन्त सोये हुए सैनिकोंको तलवार हाथमें लिये हुए पुरुषोंद्वारा मरवा दे॥ १४—२२ $\frac{1}{2}$ ॥

जब सेना कूच कर चुकी हो तथा शत्रुने मार्गमें ही घेरा डाल दिया हो तो उसके उस घेरे या अवरोधको नष्ट करनेके लिये हाथियोंको ही आगे-आगे ले चलना चाहिये। वन-दुर्गमें, जहाँ घोड़े भी प्रवेश न कर सकें, वहाँ हाथियोंकी ही सहायतासे सेनाका प्रवेश होता है—वे आगेके वृक्ष आदिको तोड़कर सैनिकोंके प्रवेशके लिये मार्ग बना देते हैं। जहाँ सैनिकोंकी पंक्ति ठोस हो, वहाँ उसे तोड़ देना हाथियोंका ही काम है तथा जहाँ व्यूह टूटनेसे सैनिकपंक्तिमें दरार पड़ गयी हो, वहाँ हाथियोंके खड़े होनेसे छिद्र या दरार बंद हो जाती है। शत्रुओंमें भय उत्पन्न करना, शत्रुके दुर्गके द्वारको माथेकी टक्कर देकर तोड़ गिराना, खजानेको सेनाके साथ ले चलना तथा किसी उपस्थित भयसे सेनाकी रक्षा करना—ये सब हाथियोंद्वारा सिद्ध होनेवाले कर्म हैं॥ २३-२४॥

अभिन्न सेनाका भेदन और भिन्न सेनाका संधान—ये दोनों कार्य (गजसेनाकी ही भाँति) रथसेनाके द्वारा भी साध्य हैं। वनमें कहाँ उपद्रव

है, कहाँ नहीं है—इसका पता लगाना, दिशाओंका शोध करना (दिशाका ठीक ज्ञान रखते हुए सेनाको यथार्थ दिशाकी ओर ले चलना) तथा मार्गका पता लगाना—यह अश्वसेनाका कार्य है। अपने पक्षके वीवध[1] और आसारकी[2] रक्षा, भागती हुई शत्रुसेनाका शीघ्रतापूर्वक पीछा करना, संकटकालमें शीघ्रतापूर्वक भाग निकलना, जल्दीसे कार्य सिद्ध करना, अपनी सेनाकी जहाँ दयनीय दशा हो, वहाँ उसके पास पहुँचकर सहायता करना, शत्रुसेनाके अग्रभागपर आघात करना और तत्काल ही घूमकर उसके पिछले भागपर भी प्रहार करना—ये अश्वसेनाके कार्य हैं। सर्वदा शस्त्र धारण किये रहना (तथा शस्त्रोंको पहुँचाना)—ये पैदल सेनाके कार्य हैं। सेनाकी छावनी डालनेके योग्य स्थान तथा मार्ग आदिकी खोज करना विष्टि (बेगार) करनेवाले लोगोंका काम है॥ २५—२७॥

जहाँ मोटे-मोटे ठूँठ, बाँबियाँ, वृक्ष और झाड़ियाँ हों, जहाँ काँटेदार वृक्ष न हों, किंतु भाग निकलनेके लिये मार्ग हों तथा जो अधिक ऊँची-नीची न हो, ऐसी भूमि पैदल सेनाके संचार योग्य बतायी गयी है। जहाँ वृक्ष और प्रस्तरखण्ड बहुत कम हों, जहाँकी दरारें शीघ्र लाँघने योग्य हों, जो भूमि मुलायम न होकर सख्त हो, जहाँ कंकड़ और कीचड़ न हो तथा जहाँसे निकलनेके लिये मार्ग हो, वह भूमि अश्वसंचारके योग्य होती है। जहाँ ठूँठ वृक्ष और खेत न हों तथा जहाँ पङ्कका सर्वथा अभाव हो—ऐसी भूमि रथसंचारके योग्य मानी गयी है। जहाँ पैरोंसे रौंद डालनेयोग्य वृक्ष और काट देनेयोग्य लताएँ हों, कीचड़ न हो, गर्त या दरार न हो, जहाँके पर्वत हाथियोंके लिये गम्य हों, ऐसी भूमि ऊँची-नीची होनेपर भी गजसेनाके योग्य कही गयी है॥ २८—३० $\frac{1}{2}$॥

जो सैन्य अश्व आदि सेनाओंमें भेद (दरार या छिद्र) पड़ जानेपर उन्हें ग्रहण करता—सहायताद्वारा अनुगृहीत बनाता है, उसे 'प्रतिग्रह' कहा गया है। उसे अवश्य संघटित करना चाहिये; क्योंकि वह भारको वहन या सहन करनेमें समर्थ होता है। प्रतिग्रहसे शून्य व्यूह भिन्न-सा दीखता है॥ ३१-३२॥

विजयकी इच्छा रखनेवाला बुद्धिमान् राजा प्रतिग्रहसेनाके बिना युद्ध न करे। जहाँ राजा रहे, वहीं कोष रहना चाहिये; क्योंकि राजत्व कोषके ही अधीन होता है। विजयी योद्धाओंको उसीसे पुरस्कार देना चाहिये। भला ऐसा कौन है, जो दाताके हितके लिये युद्ध न करेगा? शत्रुपक्षके राजाका वध करनेपर योद्धाको एक लाख मुद्राएँ पुरस्कारमें देनी चाहिये। राजकुमारका वध होनेपर इससे आधा पुरस्कार देनेकी व्यवस्था रहनी चाहिये। सेनापतिके मारे जानेपर भी उतना ही पुरस्कार देना उचित है। हाथी तथा रथ आदिका नाश करनेपर भी उचित पुरस्कार देना आवश्यक है॥ ३३-३४ $\frac{1}{2}$॥

पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवार—ये सब सैनिक इस तरहसे (अर्थात् एक-दूसरेसे इतना अन्तर रखकर) युद्ध करें, जिससे उनके व्यायाम (अङ्गोंके फैलाव) तथा विनिवर्तन (विश्रामके लिये पीछे हटने)-में किसी तरहकी बाधा या रुकावट न हो। समस्त योद्धा पृथक्-पृथक् रहकर युद्ध करें। घोल-मेल होकर जूझना संकुलावह (घमासान एवं रोमाञ्चकारी) होता है। यदि महासंकुल (घमासान) युद्ध छिड़ जाय तो पैदल आदि असहाय सैनिक बड़े-बड़े हाथियोंका आश्रय लें॥ ३५-३६ $\frac{1}{2}$॥

एक-एक घुड़सवार योद्धाके सामने तीन-

१. आगे जाती हुई सेनाको पीछेसे बराबर वेतन और भोजन पहुँचाते रहनेकी जो व्यवस्था है, उसका नाम 'वीवध' है।
२. मित्रसेनाको 'आसार' कहते हैं।

तीन पैदल पुरुषोंको प्रतियोद्धा अर्थात् अग्रगामी योद्धा बनाकर खड़ा करे। इसी रीतिसे पाँच-पाँच अश्व एक-एक हाथीके अग्रभागमें प्रतियोद्धा बनाये। इनके सिवा हाथीके पादरक्षक भी उतने ही हों, अर्थात् पाँच अश्व और पंद्रह पैदल। प्रतियोद्धा तो हाथीके आगे रहते हैं और पादरक्षक हाथीके चरणोंके निकट खड़े होते हैं। यह एक हाथीके लिये व्यूह-विधान कहा गया है। ऐसा ही विधान रथव्यूहके लिये भी समझना चाहिये[1]'॥ ३७-३८ $\frac{1}{2}$ ॥

एक गजव्यूहके लिये जो विधि कही गयी है, उसीके अनुसार नौ हाथियोंका व्यूह बनाये। उसे 'अनीक' जानना चाहिये। (इस प्रकार एक अनीकमें पैंतालीस अश्व तथा एक सौ पैंतीस पैदल सैनिक प्रतियोद्धा होते हैं और इतने ही अश्व तथा पैदल—पादरक्षक हुआ करते हैं।) एक अनीकसे दूसरे अनीककी दूरी पाँच धनुष बतायी गयी है। इस प्रकार अनीक-विभागके द्वारा व्यूह-सम्पत्ति स्थापित करे॥ ३९-४० ॥

व्यूहके मुख्यत: पाँच अङ्ग हैं। १. 'उरस्य', २. 'कक्ष', ३. 'पक्ष'—इन तीनोंको एक समान बताया जाता है। अर्थात् मध्यभागमें पूर्वोक्त रीतिसे नौ हाथियोंद्वारा कल्पित एक अनीक सेनाको 'उरस्य' कहा गया है। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें एक-एक अनीककी दो सेनाएँ 'कक्ष' कहलाती हैं। कक्षके बाह्यभागमें दोनों ओर जो एक-एक अनीककी दो सेनाएँ हैं, वे 'पक्ष' कही जाती हैं। इस प्रकार इस पाँच अनीक सेनाके व्यूहमें ४५ हाथी, २२५ अश्व, ६७५ पैदल सैनिक प्रतियोद्धा और इतने ही पादरक्षक होते हैं। इसी तरह उरस्य, कक्ष, पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह तथा कोटि—इन सात अङ्गोंको लेकर व्यूहशास्त्रके विद्वानोंने व्यूहको सात अङ्गोंसे युक्त कहा है[2]॥ ४१ $\frac{1}{2}$ ॥

उरस्य, कक्ष, पक्ष तथा प्रतिग्रह आदिसे युक्त यह व्यूहविभाग बृहस्पतिके मतके अनुसार है। शुक्रके मतमें यह व्यूहविभाग कक्ष और प्रकक्षसे रहित है। अर्थात् उनके मतमें व्यूहके पाँच ही अङ्ग हैं॥ ४२ $\frac{1}{2}$ ॥

सेनापतिगण उत्कृष्ट वीर योद्धाओंसे घिरे रहकर युद्धके मैदानमें खड़े हों। वे अभिन्नभावसे संघटित रहकर युद्ध करें और एक-दूसरेकी रक्षा करते रहें॥ ४३ $\frac{1}{2}$ ॥

सारहीन सेनाको व्यूहके मध्यभागमें स्थापित करना चाहिये। युद्धसम्बन्धी यन्त्र, आयुध और औषध आदि उपकरणोंको सेनाके पृष्ठभागमें रखना उचित है। युद्धका प्राण है नायक—राजा या विजिगीषु। नायकके न रहने या मारे जानेपर युद्धरत सेना मारी जाती है॥ ४४ $\frac{1}{2}$ ॥

हृदयस्थान (मध्यभाग)-में प्रचण्ड हाथियोंको खड़ा करे। कक्षस्थानोंमें रथ तथा पक्षस्थानोंमें घोड़े स्थापित करे। यह 'मध्यभेदी' व्यूह कहा गया है॥ ४५ $\frac{1}{2}$ ॥

मध्यदेश (वक्ष:स्थान)-में घोड़ोंकी, कक्षभागोंमें रथोंकी तथा दोनों पक्षोंके स्थानमें हाथियोंकी सेना खड़ी करे। यह 'अन्तभेदी' व्यूह बताया गया है। रथकी जगह (अर्थात् कक्षोंमें) घोड़े दे दे तथा घोड़ोंकी जगह (मध्यदेशमें) पैदलोंको खड़ा कर दे। यह अन्य प्रकारका 'अन्तभेदी' व्यूह है। रथके अभावमें व्यूहके भीतर सर्वत्र हाथियोंकी ही नियुक्ति करे (यह व्यामिश्र या घोल-मेल युद्धके लिये उपयुक्त नीति है)॥ ४६-४७ $\frac{1}{2}$ ॥

(रथ, पैदल, अश्व और हाथी—इन सबका

१. व्यूह दो प्रकारके होते हैं—'शुद्ध' और 'व्यामिश्र'। शुद्धके भी दो भेद हैं—गजव्यूह तथा रथव्यूह। मूलमें जो विधान गजव्यूहके लिये कहा गया है, उसीका अतिदेश रथव्यूहके लिये भी समझना चाहिये। व्यामिश्र आगे बतलायेंगे।

२. उरस्य, कक्ष, पक्ष, प्रोरस्य, प्रकक्ष, प्रपक्ष तथा प्रतिग्रह—ये सप्ताङ्ग व्यूहवादियोंके मतमें व्यूहके सात अङ्गोंके नाम हैं।

विभाग करके व्यूहमें नियोजन करे।) यदि सेनाका बाहुल्य हो तो वह व्यूह 'आवाप' कहलाता है। मण्डल, असंहत, भोग तथा दण्ड—ये चार प्रकारके व्यूह 'प्रकृतिव्यूह' कहलाते हैं। पृथ्वीपर रखे हुए डंडेकी भाँति बायेंसे दायें या दायेंसे बायेंतक लंबी जो व्यूह-रचना की जाती हो, उसका नाम 'दण्ड' है। भोग (सर्प-शरीर)-के समान यदि सेनाकी मोर्चेबंदी की गयी हो तो वह 'भोग' नामक व्यूह है। इसमें सैनिकोंका अन्वावर्तन होता है। गोलाकार खड़ी हुई सेना, जिसका सब ओर मुख हो, अर्थात् जो सब ओर प्रहार कर सके, 'मण्डल' नामक व्यूहसे बद्ध कही गयी है। जिसमें अनीकोंको बहुत दूर-दूर खड़ा किया गया हो, वह 'असंहत' नामक व्यूह है॥ ४८-४९ $\frac{1}{2}$ ॥

'दण्डव्यूह'के सत्रह भेद हैं—प्रदर, दृढक, असह्य, चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ, श्येन, विजय, संजय, विशालविजय, सूची, स्थूणाकर्ण, चमूमुख, झषास्य, वलय तथा सुदुर्जय। जिसके पक्ष, कक्ष तथा उरस्य—तीनों स्थानोंके सैनिक सम स्थितिमें हों, वह तो 'दण्डप्रकृति' है; परंतु यदि कक्षभागके सैनिक कुछ आगेकी ओर निकले हों और शेष दो स्थानोंके सैनिक भीतरकी ओर दबे हों तो वह व्यूह शत्रुका प्रदरण (विदारण) करनेके कारण 'प्रदर' कहलाता है। यदि पूर्वोक्त दण्डके कक्ष और पक्ष दोनों भीतरकी ओर प्रविष्ट हों और केवल उरस्य भाग ही बाहरकी ओर निकला हो तो वह 'दृढक' कहा गया है। यदि दण्डके दोनों पक्षमात्र ही निकले हों तो उसका नाम 'असह्य' होता है। प्रदर, दृढक और असह्यको क्रमशः विपरीत स्थितिमें कर दिया जाय, अर्थात् उनमें जिस भागको अतिक्रान्त (निर्गत) किया गया हो, उसे 'प्रतिक्रान्त' (अन्तःप्रविष्ट) कर दिया जाय तो तीन अन्य व्यूह—'चाप', 'चापकुक्षि' तथा 'प्रतिष्ठ' नामक हो जाते हैं। यदि दोनों पंख निकले हों तथा उरस्य भीतरकी ओर प्रविष्ट हो तो 'सुप्रतिष्ठित' नामक व्यूह होता है। इसीको विपरीत स्थितिमें कर देनेपर 'श्येन' व्यूह बन जाता है॥ ५०—५३॥

आगे बताये जानेवाले स्थूणाकर्ण ही जिस खड़े डंडेके आकारवाले दण्डव्यूहके दोनों पक्ष हों, उसका नाम 'विजय' है। (यह साढ़े तीन व्यूहोंका संघ है। इसमें १७ 'अनीक' सेनाएँ उपयोगमें आती हैं।) दो चाप-व्यूह ही जिसके दोनों पक्ष हों, वह ढाई व्यूहोंका संघ एवं तेरह अनीक सेनासे युक्त व्यूह 'संजय' कहलाता है। एकके ऊपर एकके क्रमसे स्थापित दो स्थूणाकर्णोंको 'विशाल विजय' कहते हैं। ऊपर-ऊपर स्थापित पक्ष, कक्ष आदिके क्रमसे जो दण्ड ऊर्ध्वगामी (सीधा खड़ा) होता है, वैसे लक्षणवाले व्यूहका नाम 'सूची' है। जिसके दोनों पक्ष द्विगुणित हों, उस दण्डव्यूहको 'स्थूणाकर्ण' कहा गया है। जिसके तीन-तीन पक्ष निकले हों, वह चतुर्गुण पक्षवाला ग्यारह अनीकसे युक्त व्यूह 'चमूमुख' नामवाला है। इसके विपरीत लक्षणवाला अर्थात् जिसके तीन-तीन पक्ष प्रतिक्रान्त (भीतरकी ओर प्रविष्ट) हों, वह व्यूह 'झषास्य' नाम धारण करता है। इसमें भी ग्यारह अनीक सेनाएँ नियुक्त होती हैं। दो दण्डव्यूह मिलकर दस अनीक सेनाओंका एक 'वलय' नामक व्यूह बनाते हैं। चार दण्डव्यूहोंके मेलसे बीस अनीकोंका एक 'दुर्जय' नामक व्यूह बनता है। इस प्रकार क्रमशः इनके लक्षण कहे गये हैं॥ ५४ $\frac{1}{2}$ ॥

गोमूत्रिका, अहिसंचारी, शकट, मकर तथा परिपतन्तिक—ये भोगके पाँच भेद कहे गये हैं। मार्गमें चलते समय गायके मूत्र करनेसे जो रेखा-बनती है, उसकी आकृतिमें सेनाको खड़ी करना—'गोमूत्रिका' व्यूह है। सर्पके संचरण-स्थानकी रेखा- जैसी आकृतिवाला व्यूह 'अहिसंचारी' कहा गया है। जिसके कक्ष और पक्ष आगे-पीछेके क्रमसे दण्डव्यूहकी भाँति ही स्थित हो, किंतु

उरस्यकी संख्या दुगुनी हो, वह 'शकट-व्यूह' है। इसके विपरीत स्थितिमें स्थित व्यूह 'मकर' कहलाता है। इन दोनों व्यूहोंमेंसे किसीके भी मध्यभागमें हाथी और घोड़े आदि आवाप मिला दिये जायँ तो वह 'परिपतन्तिक' नामक व्यूह होता है॥ ५५-५६ $\frac{1}{2}$ ॥

मण्डल-व्यूहके दो ही भेद हैं—सर्वतोभद्र तथा दुर्जय। जिस मण्डलाकार व्यूहका सब ओर मुख हो, उसे 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। इसमें पाँच अनीक सेना होती है। इसीमें आवश्यकतावश उरस्य तथा दोनों कक्षोंमें एक-एक अनीक बढ़ा देनेपर आठ अनीकका 'दुर्जय' नामक व्यूह बन जाता है। अर्धचन्द्र, उद्धान तथा वज्र—ये 'असंहत'के भेद हैं। इसी तरह कर्कटशृङ्गी, काकपादी और गोधिका भी असंहतके ही भेद हैं। अर्धचन्द्र तथा कर्कटशृङ्गी—ये तीन अनीकोंके व्यूह हैं, उद्धान और काकपादी—ये चार अनीक सेनाओंसे बननेवाले व्यूह हैं तथा वज्र एवं गोधिका—ये दो व्यूह पाँच अनीक सेनाओंके संघटनसे सिद्ध होते हैं। अनीककी दृष्टिसे तीन ही भेद होनेपर भी आकृतिमें भेद होनेके कारण ये छः बताये गये हैं। दण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले १७, मण्डलके २, असंहतके ६ और भोगके समराङ्गणमें ५ भेद कहे गये हैं॥ ५७—६०॥

पक्ष आदि अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गकी सेनाद्वारा शत्रुके व्यूहका भेदन करके शेष अनीकोंद्वारा उसे घेर ले अथवा उरस्यगत अनीकसे शत्रुके व्यूहपर आघात करके दोनों कोटियों (प्रपक्षों)-द्वारा घेरे। शत्रुसेनाकी दोनों कोटियों (प्रपक्षों)-पर अपने व्यूहके पक्षोंद्वारा आक्रमण करके शत्रुके जघन (प्रोरस्य) भागको अपने प्रतिग्रह तथा दोनों कोटियोंद्वारा नष्ट करे। साथ ही, उरस्यगत सेनाद्वारा शत्रुपक्षको पीड़ा दे। व्यूहके जिस भागमें सारहीन सैनिक हों, जहाँ सेनामें फूट या दरार पड़ गयी हो तथा जिस भागमें दूष्य (क्रुद्ध, लुब्ध आदि) सैनिक विद्यमान हों, वहीं-वहीं शत्रुसेनाका संहार करे और अपने पक्षके वैसे स्थानोंको सबल बनाये। बलिष्ठ सेनाको उससे भी अत्यन्त बलिष्ठ सेनाद्वारा पीड़ित करे। निर्बल सैन्यदलको सबल सैन्यद्वारा दबाये। यदि शत्रुसेना संघटितभावसे स्थित हो तो प्रचण्ड गजसेनाद्वारा उस शत्रुवाहिनीका विदारण करे॥ ६१—६४॥

पक्ष, कक्ष और उरस्य—ये सम स्थितिमें वर्तमान हों तो 'दण्डव्यूह' होता है। दण्डका प्रयोग और स्थान व्यूहके चतुर्थ अङ्गद्वारा प्रदर्शित करे। दण्डके समान ही दोनों पक्ष यदि आगेकी ओर निकले हों तो 'प्रदर' या 'प्रदारक' व्यूह बनता है। वही यदि पक्ष-कक्षद्वारा अतिक्रान्त (आगेकी ओर निकला) हो तो 'दृढ़' नामक व्यूह होता है। यदि दोनों पक्षमात्र आगेकी ओर निकले हों तो वह व्यूह 'असह्य' नाम धारण करता है। कक्ष और पक्षको नीचे स्थापित करके उरस्यद्वारा निर्गत व्यूह 'चाप' कहलाता है। दो दण्ड मिलकर एक 'वलय-व्यूह' बनाते हैं। यह व्यूह शत्रुको विदीर्ण करनेवाला होता है। चार वलय-व्यूहोंके योगसे एक 'दुर्जय' व्यूह बनता है, जो शत्रुवाहिनीका मर्दन करनेवाला होता है। कक्ष, पक्ष तथा उरस्य जब विषमभावसे स्थित हों तो 'भोग' नामक व्यूह होता है। इसके पाँच भेद हैं—सर्पचारी, गोमूत्रिका, शकट, मकर और परिपतन्तिक। सर्प-संचरणकी आकृतिसे सर्पचारी, गोमूत्रके आकारसे गोमूत्रिका, शकटकी-सी आकृतिसे शकट तथा इसके विपरीत स्थितिसे मकर-व्यूहका सम्पादन होता है। यह भेदोंसहित 'भोग-व्यूह' सम्पूर्ण शत्रुओंका मर्दन करनेवाला है। चक्रव्यूह तथा पद्मव्यूह आदि मण्डलके भेद-प्रभेद हैं। इसी प्रकार सर्वतोभद्र, वज्र, अक्षवर, काक, अर्धचन्द्र, शृङ्गार और अचल आदि व्यूह भी हैं। इनकी आकृतिके ही अनुसार ये नाम रखे गये हैं। अपनी

मौजके अनुसार व्यूह बनाने चाहिये। व्यूह शत्रुसेनाकी प्रगतिको रोकनेवाले होते हैं॥ ६५—७२॥

अग्निदेव कहते हैं— ब्रह्मन्! श्रीरामने रावणका वध करके अयोध्याका राज्य प्राप्त किया। श्रीरामकी बतायी हुई उक्त नीतिसे ही पूर्वकालमें लक्ष्मणने इन्द्रजित्का वध किया था॥ ७३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजनीति-कथन' नामक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४२॥

दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय

पुरुष-लक्षण-वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! मैंने श्रीरामके प्रति वर्णित राजनीतिका प्रतिपादन किया। अब मैं स्त्री-पुरुषोंके लक्षण बतलाता हूँ, जिसका पूर्वकालमें भगवान् समुद्रने गर्ग मुनिको उपदेश दिया था॥ १॥

समुद्रने कहा— उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले गर्ग! मैं स्त्री-पुरुषोंके लक्षण एवं उनके शुभाशुभ फलका वर्णन करता हूँ। एकाधिक, द्विशुक्ल, त्रिगम्भीर, त्रित्रिक, त्रिप्रलम्ब, त्रिकव्यापी, त्रिवलीयुक्त, त्रिविनत, त्रिकालज्ञ एवं त्रिविपुल पुरुष शुभ लक्षणोंसे समन्वित माना जाता है। इसी प्रकार चतुर्लेख, चतुस्सम, चतुष्किष्कु, चतुर्दंष्ट्र, चतुष्कृष्ण, चतुर्गन्ध, चतुर्ह्रस्व, पञ्चसूक्ष्म, पञ्चदीर्घ, षडुन्नत, अष्टवंश, सप्तस्नेह, नवामल, दशपद्म, दशव्यूह, न्यग्रोधपरिमण्डल, चतुर्दशसमद्वन्द्व एवं षोडशाक्ष पुरुष प्रशस्त है॥ २—६ $\frac{1}{2}$ ॥

धर्म, अर्थ तथा कामसे संयुक्त धर्म 'एकाधिक' माना गया है। तारकाहीन नेत्र एवं उज्ज्वल दन्तपङ्क्तिसे सुशोभित पुरुष 'द्विशुक्ल' कहलाता है। जिसके स्वर, नाभि एवं सत्त्व—तीनों गम्भीर हों, वह 'त्रिगम्भीर' होता है। निर्मत्सरता, दया, क्षमा, सदाचरण, शौच, स्पृहा, औदार्य, अनायास (अथक श्रम) तथा शूरता—इनसे विभूषित पुरुष 'त्रित्रिक' माना गया है। जिस मनुष्यके वृषण (लिङ्ग) एवं भुजयुगल लंबे हों, वह 'त्रिप्रलम्ब' कहा जाता है। जो अपने तेज, यश एवं कान्तिसे देश, जाति, वर्ग एवं दसों दिशाओंको व्याप्त कर लेता है, उसको 'त्रिकव्यापी' कहते हैं। जिसके उदरमें तीन रेखाएँ हों, वह 'त्रिवलीमान्' होता है। अब 'त्रिविनत' पुरुषका लक्षण सुनो। वह देवता, ब्राह्मण तथा गुरुजनोंके प्रति विनीत होता है। धर्म, अर्थ एवं कामके समयका ज्ञाता 'त्रिकालज्ञ' कहा जाता है। जिसका वक्षःस्थल, ललाट एवं मुख विस्तारयुक्त हो, वह 'त्रिविपुल' तथा जिसके हस्तयुगल एवं चरणयुगल ध्वज-छत्रादिसे चिह्नित हों, वह पुरुष 'चतुर्लेख' होता है। अङ्गुलि, हृदय, पृष्ठ एवं कटि—ये चारों अङ्ग समान होनेसे प्रशस्त होते हैं। ऐसा पुरुष 'चतुस्सम' कहा गया है। जिसकी ऊँचाई छानबे अङ्गुलकी हो, वह 'चतुष्किष्कु' प्रमाणवाला एवं जिसकी चारों दंष्ट्राएँ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हों, वह 'चतुर्दंष्ट्र' होता है। अब मैं तुमको 'चतुष्कृष्ण' पुरुषके विषयमें कहता हूँ। उसके नयनतारक, भ्रू-युगल, श्मश्रु एवं केश कृष्ण होते हैं। नासिका, मुख एवं कक्षयुग्ममें उत्तम गन्धसे युक्त मनुष्य 'चतुर्गन्ध' कहलाता है। लिङ्ग, ग्रीवा तथा जङ्घा-युगलके ह्रस्व होनेसे पुरुष 'चतुर्ह्रस्व' होता है। अङ्गुलिपर्व, नख, केश, दन्त तथा त्वचा सूक्ष्म होनेपर पुरुष 'पञ्चसूक्ष्म' एवं हनु, नेत्र, ललाट, नासिका एवं वक्षःस्थलके विशाल होनेसे 'पञ्चदीर्घ' माना जाता है। वक्षःस्थल, कक्ष, नख, नासिका, मुख एवं कृकाटिका (गर्दनकी घंटी)—ये छः अङ्ग उन्नत एवं त्वचा, केश, दन्त, रोम, दृष्टि, नख एवं वाणी—ये सात स्निग्ध होनेपर शुभ होते हैं। जानुद्वय, ऊरुद्वय, पृष्ठ, हस्तद्वय एवं नासिकाको मिलाकर कुल 'आठ वंश' होते हैं। नेत्रद्वय, नासिकाद्वय, कर्णयुगल,

शिश्न, गुदा एवं मुख—ये स्थान निर्मल होनेसे पुरुष 'नवामल' होता है। जिह्वा, ओष्ठ, तालु, नेत्र, हाथ, पैर, नख, शिश्नाग्र एवं मुख—ये दस अङ्ग पद्मके समान कान्तिसे युक्त होनेपर प्रशस्त माने गये हैं। हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, कर्ण, हृदय, सिर, ललाट, उदर एवं पृष्ठ—ये दस बृहदाकार होनेपर सम्मानित होते हैं। जिस पुरुषकी ऊँचाई भुजाओंके फैलानेपर दोनों मध्यमा अङ्गुलियोंके मध्यमान्तरके समान हो, वह 'न्यग्रोधपरिमण्डल' कहलाता है। जिसके चरण, गुल्फ, नितम्ब, पार्श्व, वङ्क्षण, वृषण, स्तन, कर्ण, ओष्ठ, ओष्ठान्त, जङ्घा, हस्त, बाहु एवं नेत्र—ये अङ्ग-युग्म समान हों, वह पुरुष 'चतुर्दशसमद्वन्द्व' होता है। जो अपने दोनों नेत्रोंसे चौदह विद्याओंका अवलोकन करता है, वह 'षोडशाक्ष' कहा जाता है। दुर्गन्धयुक्त, मांसहीन, रुक्ष एवं शिराओंसे व्याप्त शरीर अशुभ माना गया है। इसके विपरीत गुणोंसे सम्पन्न एवं उत्फुल्ल नेत्रोंसे सुशोभित शरीर प्रशस्त होता है। धन्य पुरुषकी वाणी मधुर एवं चाल मतवाले हाथीके समान होती है। प्रतिरोमकूपसे एक-एक रोम ही निर्गत होता है। ऐसे पुरुषकी बार-बार भयसे रक्षा होती है॥ ७—२६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुरुष-लक्षण-वर्णन' नामक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४३॥

दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय

स्त्रीके लक्षण

समुद्र कहते हैं— गर्गजी! शरीरसे उत्तम श्रेणीकी स्त्री वह है, जिसके सम्पूर्ण अङ्ग मनोहर हों, जो मतवाले गजराजकी भाँति मन्दगतिसे चलती हो, जिसके ऊरु और जघन (नितम्बदेश) भारी हों तथा नेत्र उन्मत्त पारावतके समान मदभरे हों, जिसके केश सुन्दर नीलवर्णके, शरीर पतला और अङ्ग लोमरहित हों, जो देखनेपर मनको मोह लेनेवाली हो, जिसके दोनों पैर समतल भूमिका पूर्णरूपसे स्पर्श करते हों और दोनों स्तन परस्पर सटे हुए हों, नाभि दक्षिणावर्त हो, योनि पीपलके पत्तेकी-सी आकारवाली हो, दोनों गुल्फ भीतर छिपे हुए हों—मांसल होनेके कारण वे उभड़े हुए न दिखायी देते हों, नाभि अँगूठेके बराबर हो तथा पेट लंबा या लटकता हुआ न हो। रोमावलियोंसे रुक्ष शरीरवाली रमणी अच्छी नहीं मानी गयी है। नक्षत्रों, वृक्षों और नदियोंके नामपर जिनके नाम रखे गये हों तथा जिसे कलह सदा प्रिय लगता हो, वह स्त्री भी अच्छी नहीं है। जो लोलुप न हो, कटुवचन न बोलती हो, वह नारी देवता आदिसे पूजित 'शुभलक्षणा' कही गयी है। जिसके कपोल मधूक-पुष्पोंके समान गोरे हों, वह नारी शुभ है। जिसके शरीरकी नस-नाड़ियाँ दिखायी देती हों और जिसके अङ्ग अधिक रोमावलियोंसे भरे हों, वह स्त्री अच्छी नहीं मानी गयी है। जिसकी कुटिल भौंहें परस्पर सट गयी हों, वह नारी भी अच्छी श्रेणीमें नहीं गिनी जाती। जिसके प्राण पतिमें ही बसते हों तथा जो पतिको प्रिय हो, वह नारी लक्षणोंसे रहित होनेपर भी शुभलक्षणोंसे सम्पन्न कही गयी है। जहाँ सुन्दर आकृति है, वहाँ शुभ गुण हैं। जिसके पैरकी कनिष्ठिका अँगुली धरतीका स्पर्श न करे, वह नारी मृत्युरूपा ही है॥ १—६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'स्त्रीके लक्षणोंका वर्णन' नामक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४४॥

दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय

चामर, धनुष, बाण तथा खड्गके लक्षण

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! सुवर्णदण्डभूषित चामर उत्तम होता है। राजाके लिये हंसपक्ष, मयूरपक्ष या शुकपक्षसे निर्मित छत्र प्रशस्त माना गया है। वकपक्षसे निर्मित छत्र भी प्रयोगमें लाया जा सकता है, किंतु मिश्रित पक्षोंका छत्र नहीं बनवाना चाहिये। तीन, चार, पाँच, छः, सात या आठ पर्वोंसे युक्त दण्ड प्रशस्त है॥ १-२ $\frac{१}{२}$ ॥

भद्रासन पचास अङ्गुल ऊँचा एवं क्षीरकाष्ठसे निर्मित हो। वह सुवर्णचित्रित एवं तीन हाथ विस्तृत होना चाहिये। द्विजश्रेष्ठ! धनुषके निर्माणके लिये लौह, शृङ्ग या काष्ठ—इन तीन द्रव्योंका प्रयोग करे। प्रत्यञ्चाके लिये तीन वस्तु उपयुक्त हैं—वंश, भङ्ग एवं चर्म॥ ३-४ $\frac{१}{२}$ ॥

दारुनिर्मित श्रेष्ठ धनुषका प्रमाण चार हाथ माना गया है। उसीमें क्रमशः एक-एक हाथ कम मध्यम तथा अधम होता है। मुष्टिग्राहके निमित्त धनुषके मध्यभागमें द्रव्य निर्मित करावे॥ ५-६ ॥

धनुषकी कोटि कामिनीकी भ्रूलताके समान आकारवाली एवं अत्यन्त संयत बनवानी चाहिये। लौह या शृङ्गके धनुष पृथक्-पृथक् एक ही द्रव्यके या मिश्रित भी बनवाये जा सकते हैं। शृङ्गनिर्मित धनुषको अत्यन्त उपयुक्त तथा सुवर्ण-बिन्दुओंसे अलंकृत करे। कुटिल, स्फुटित या छिद्रयुक्त धनुष निन्दित होता है। धातुओंमें सुवर्ण, रजत, ताम्र एवं कृष्ण लौहका धनुषके निर्माणमें प्रयोग करे। शार्ङ्गधनुषोंमें—महिष, शरभ एवं रोहिण मृगके शृङ्गोंसे निर्मित चाप शुभ माना गया है। चन्दन, वेतस, साल, धव तथा अर्जुन वृक्षके काष्ठसे बना हुआ दारुमय शरासन उत्तम होता है। इनमें भी शरद् ऋतुमें काटकर लिये गये पके बाँसोंसे निर्मित धनुष सर्वोत्तम माना जाता है। धनुष एवं खड्गकी भी त्रैलोक्यमोहन-मन्त्रोंसे पूजा करे॥ ७—११ ॥

लोहे, बाँस, सरकंडे अथवा उससे भिन्न किसी और वस्तुके बने हुए बाण सीधे, स्वर्णाभ, स्नायुश्लिष्ट, सुवर्णपुङ्खभूषित, तैलधौत, सुनहले एवं उत्तम पङ्खयुक्त होने चाहिये। राजा यात्रा एवं अभिषेकमें धनुष-बाण आदि अस्त्रों तथा पताका, अस्त्रसंग्रह एवं दैवज्ञका भी पूजन करे॥ १२-१३ $\frac{१}{२}$ ॥

एक समय भगवान् ब्रह्माने सुमेरु पर्वतके शिखरपर आकाशगङ्गाके किनारे एक यज्ञ किया था। उन्होंने उस यज्ञमें उपस्थित हुए लौहदैत्यको देखा। उसे देखकर वे इस चिन्तामें डूब गये कि 'यह मेरे यज्ञमें विघ्नरूप न हो जाय।' उनके चिन्तन करते ही अग्निसे एक महाबलवान् पुरुष प्रकट हुआ और उसने भगवान् ब्रह्माकी वन्दना की। तदनन्तर देवताओंने प्रसन्न होकर उसका अभिनन्दन किया। इस अभिनन्दनके कारण ही वह 'नन्दक' कहलाया और खड्गरूप हो गया। देवताओंके अनुरोध करनेपर भगवान् श्रीहरिने उस नन्दक खड्गको निजी आयुधके रूपमें ग्रहण किया। उन देवाधिदेवने उस खड्गको उसके गलेमें हाथ डालकर पकड़ा, इससे वह खड्ग म्यानके बाहर हो गया। उस खड्गकी कान्ति नीली थी, उसकी मुष्टि रत्नमयी थी। तदनन्तर वह बढ़कर सौ हाथका हो गया। लौहदैत्यने गदाके प्रहारसे देवताओंको युद्धभूमिसे भगाना आरम्भ किया। भगवान् विष्णुने उस लौहदैत्यके सारे अङ्ग उक्त खड्गसे काट डाले। नन्दकके स्पर्शमात्रसे छिन्न-भिन्न होकर उस दैत्यके सारे लौहमय अङ्ग भूतलपर गिर पड़े। इस प्रकार लोहासुरका वध करके भगवान् श्रीहरिने उसे वर दिया कि 'तुम्हारा पवित्र अङ्ग (लोह) भूतलपर आयुधके निर्माणके काम आयेगा।' फिर श्रीविष्णुके कृपा-प्रसादसे ब्रह्माजीने भी उन सर्वसमर्थ श्रीहरिका यज्ञके द्वारा निर्विघ्न पूजन किया। अब मैं खड्गके लक्षण बतलाता हूँ॥ १४—२० $\frac{१}{२}$ ॥

खटीखट्टर देशमें निर्मित खड्ग दर्शनीय माने गये हैं। ऋषीक देशके खड्ग शरीरको चीर डालनेवाले तथा शूर्पारकदेशीय खड्ग अत्यन्त दृढ़ होते हैं।

बङ्गदेशके खड्ग तीखे एवं आघातको सहन करनेवाले तथा अङ्गदेशीय खड्ग तीक्ष्ण कहे जाते हैं। पचास अङ्गुलका खड्ग श्रेष्ठ माना गया है। इससे अर्ध-परिमाणका मध्यम होता है। इससे हीन परिमाणका खड्ग धारण न करे॥ २१—२३॥

द्विजोत्तम! जिस खड्गका शब्द दीर्घ एवं किंकिणीकी ध्वनिके समान होता है, उसको धारण करना श्रेष्ठ कहा जाता है। जिस खड्गका अग्रभाग पद्मपत्र, मण्डल या करवीर-पत्रके समान हो तथा जो घृत-गन्धसे युक्त एवं आकाशकी-सी कान्तिवाला हो वह प्रशस्त होता है। खड्गमें समाङ्गुलपर स्थित लिङ्गके समान व्रण (चिह्न) प्रशंसित है। यदि वे काक या उलूकके समान वर्ण या प्रभासे युक्त एवं विषम हों, तो मङ्गलजनक नहीं माने जाते। खड्गमें अपना मुख न देखे। जूँठे हाथोंसे उसका स्पर्श न करे। खड्गकी जाति एवं मूल्य भी किसीको न बतलाये तथा रात्रिके समय उसको सिरहाने रखकर न सोवे॥ २४—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'चामर आदिके लक्षणोंका कथन' नामक
दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४५॥

दो सौ छियालीसवाँ अध्याय

रत्न-परीक्षण

अग्निदेव कहते हैं— द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ! अब मैं रत्नोंके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ। राजाओंको ये रत्न धारण करने चाहिये—वज्र (हीरा), मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धसस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, शुभसौगन्धिक, गञ्ज, शङ्ख, ब्रह्ममय, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, मरकत, तुष्यक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजङ्गमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, भ्रामर और उत्पल। श्री एवं विजयकी प्राप्तिके लिये पूर्वोक्त रत्नोंको सुवर्णमण्डित कराके धारण करना चाहिये। जो अन्तर्भागमें प्रभायुक्त, निर्मल एवं सुसंस्थान हों, उन रत्नोंको ही धारण करना चाहिये। प्रभाहीन, मलिन, खण्डित और किरकिरीसे युक्त रत्नोंको धारण न करे। सभी रत्नोंमें हीरा धारण करना श्रेष्ठ है। जो हीरा जलमें तैर सके, अभेद्य हो, षट्कोण हो, इन्द्रधनुषके समान निर्मल प्रभासे युक्त हो, हल्का तथा सूर्यके समान तेजस्वी हो अथवा तोतेके पङ्खोंके समान वर्णवाला हो, स्निग्ध, कान्तिमान् तथा विभक्त हो, वह शुभ माना गया है। मरकतमणि सुवर्ण-चूर्णके समान सूक्ष्म बिन्दुओंसे विभूषित होनेपर श्रेष्ठ बतलायी गयी है। स्फटिक और पद्मराग अरुणिमासे युक्त तथा अत्यन्त निर्मल होनेपर उत्तम कहे जाते हैं। मोती शुक्तिसे उत्पन्न होते हैं, किंतु शङ्खसे बने मोती उनकी अपेक्षा निर्मल एवं उत्कृष्ट होते हैं। ऋषिप्रवर! हाथीके दाँत और कुम्भस्थलसे उत्पन्न, सूकर, मत्स्य और वेणुनागसे उत्पन्न एवं मेघोंद्वारा उत्पन्न मोती अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं। मौक्तिकमें वृत्तत्व (गोलाई), शुक्लता, स्वच्छता एवं महत्ता—ये गुण होते हैं। उत्तम इन्द्रनीलमणि दुग्धमें रखनेपर अत्यधिक प्रकाशित एवं सुशोभित होती है। जो रत्न अपने प्रभावसे सबको रञ्जित करता है, उसे अमूल्य समझे। नील एवं रक्त आभावाला वैदूर्य श्रेष्ठ होता है। यह हारमें पिरोने योग्य है॥ १—१५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रत्न-परीक्षा-कथन' नामक
दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४६॥

दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय

गृहके योग्य भूमि; चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डल और वृक्षारोपणका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं वास्तुके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ। वास्तुशास्त्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं काले रंगकी भूमि निवास करनेयोग्य है। जिस भूमिमें घृतके समान गन्ध हो वह ब्राह्मणोंके, रक्तके समान गन्ध हो वह क्षत्रियोंके, अन्नकी-सी गन्ध हो वह वैश्योंके और मद्यतुल्य गन्ध हो वह शूद्रोंके वास करनेयोग्य मानी गयी है। इसी प्रकार रसमें ब्राह्मण आदिके लिये क्रमशः मधुर, कषाय और अम्ल आदि स्वादसे युक्त भूमि होनी चाहिये। चारों वर्णोंको क्रमशः कुश, सरपत, कास तथा दूर्वासे संयुक्त भूमिमें घर बनाना चाहिये। पहले ब्राह्मणोंका पूजन करके शल्यरहित भूमिमें खात (कुण्ड) बनावे॥ १—३॥

फिर चौंसठ पदोंसे समन्वित वास्तुमण्डलका निर्माण करे। उसके मध्यभागमें चार पदोंमें ब्रह्माकी स्थापना करे। उन चारों पदोंके पूर्वमें गृहस्वामी 'अर्यमा' बतलाये गये हैं। दक्षिणमें विवस्वान्, पश्चिममें मित्र और उत्तर दिशामें महीधरको अङ्कित करे। ईशानकोणमें आप तथा आपवत्सको, अग्निकोणमें सावित्र एवं सविताको, पश्चिमके समीपवर्ती नैर्ऋत्यकोणमें जय और इन्द्रको और वायव्यकोणमें रुद्र तथा व्याधिको लिखे। पूर्व आदि दिशाओंमें कोणवर्ती देवताओंसे पृथक् निम्नाङ्कित देवताओंका लेखन करे—पूर्वमें महेन्द्र, रवि, सत्य तथा भृश आदिको, दक्षिणमें गृहक्षत, यम, भृङ्ग तथा गन्धर्व आदिको, पश्चिममें पुष्पदन्त, असुर, वरुण और पापयक्ष्मा आदिको, उत्तर दिशामें भल्लाट, सोम, अदिति एवं धनदको तथा ईशानकोणमें नाग और करग्रहको अङ्कित करे। प्रत्येक दिशाके आठ देवता माने गये हैं। उनमें प्रथम और अन्तिम देवता वास्तुमण्डलके गृहस्वामी कहे गये हैं। पूर्व दिशाके प्रथम देवता पर्जन्य हैं, दूसरे करग्रह (जयन्त), महेन्द्र, रवि, सत्य, भृश, गगन तथा पवन हैं। कुछ लोग आग्नेयकोणमें गगन एवं पवनके स्थानपर अन्तरिक्ष और अग्निको मानते हैं। नैर्ऋत्यकोणमें मृग और सुग्रीव—इन दोनों देवताओंको, वायव्यकोणमें रोग एवं मुख्यको, दक्षिणमें पूषा, वितथ, गृहक्षत, यम, भृङ्ग, गन्धर्व, मृग एवं पितरको स्थापित करे। वास्तुमण्डलके पश्चिम भागमें दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, असुर, वरुण, पापयक्ष्मा और शेष स्थित हैं। उत्तर दिशामें नागराज, मुख्य, भल्लाट, सोम, अदिति, कुबेर, नाग और अग्नि (करग्रह) सुशोभित होते हैं। पूर्व दिशामें सूर्य और इन्द्र श्रेष्ठ हैं। दक्षिण दिशामें गृहक्षत पुण्यमय हैं, पश्चिम दिशामें सुग्रीव उत्तम और उत्तरद्वारपर पुष्पदन्त कल्याणप्रद है। भल्लाटको ही पुष्पदन्त कहा गया है॥ ४—१५॥

इन वास्तुदेवताओंका मन्त्रोंसे पूजन करके आधारशिलाका न्यास करे। तदनन्तर निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे नन्दा आदि देवियोंका पूजन करे— 'वसिष्ठनन्दिनी नन्दे! मुझे धन एवं पुत्र-पौत्रोंसे संयुक्त करके आनन्दित करो। भार्गवपुत्रि जये! आपके प्रजाभूत हमलोगोंको विजय प्रदान करो। अङ्गिरसतनये पूर्णे! मेरी कामनाओंको पूर्ण करो। कश्यपात्मजे भद्रे! मुझे कल्याणमयी बुद्धि दो। वसिष्ठपुत्रि नन्दे! सब प्रकारके बीजोंसे युक्त एवं सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न इस मनोरम नन्दनवनमें विहार करो। प्रजापतिपुत्रि! देवि भद्रे! तुम उत्तम लक्षणों एवं श्रेष्ठ व्रतको धारण करनेवाली हो; कश्यपनन्दिनि! इस भूमिमय चतुष्कोणभवनमें निवास करो। भार्गवतनये देवि! तुम सम्पूर्ण विश्वको ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली हो; श्रेष्ठ आचार्योंद्वारा पूजित एवं गन्ध और मालाओंसे अलंकृत मेरे

गृहमें निवास करो। अङ्गिरा ऋषिकी पुत्रि पूर्णे! तुम भी सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त तथा क्षतिरहित मेरे घरमें रमण करो। इष्टके! मैं गृहप्रतिष्ठा करा रहा हूँ, तुम मुझे अभिलषित भोग प्रदान करो। देशस्वामी, नगरस्वामी और गृहस्वामीके संचयमें मनुष्य, धन, हाथी-घोड़े और पशुओंकी वृद्धि करो'॥ १६—२२ $\frac{१}{२}$ ॥

गृहप्रवेशके समय भी इसी प्रकार शिलान्यास करना चाहिये। घरके उत्तरमें प्लक्ष (पाकड़) तथा पूर्वमें वटवृक्ष शुभ होता है। दक्षिणमें गूलर और पश्चिममें पीपलका वृक्ष उत्तम माना जाता है। घरके वामपार्श्वमें उद्यान बनावे। ऐसे घरमें निवास करना शुभ होता है। लगाये हुए वृक्षोंको ग्रीष्मकालमें प्रातः-सायं, शीतऋतुमें मध्याह्नके समय तथा वर्षाकालमें भूमिके सूख जानेपर सींचना चाहिये। वृक्षोंको बायविडंग और घृतमिश्रित शीतल जलसे सींचे। जिन वृक्षोंके फल लगने बंद हो गये हों, उनको कुलथी, उड़द, मूँग, तिल और जौ मिले हुए जलसे सींचना चाहिये। घृतयुक्त शीतल दुग्धके सेचनसे वृक्ष सदा फल-पुष्पसे युक्त रहते हैं। मत्स्यवाले जलके सेचनसे वृक्षोंकी वृद्धि होती है। भेड़ और बकरीकी लेंड़ीका चूर्ण, जौका चूर्ण, तिल, अन्य गोबर आदि खाद एवं जल—इन सबको सात दिनतक ढककर रखे। इसका सेचन सभी प्रकारके वृक्षोंके फल-पुष्प आदिकी वृद्धि करनेवाला है। आम्रवृक्षोंका शीतल जलसे सेचन उत्तम माना गया है। अशोक वृक्षके विकासके लिये कामिनियोंके चरणका प्रहार प्रशस्त है। खजूर और नारियल आदि वृक्ष लवणयुक्त जलसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। बायविडंग तथा जलके द्वारा सेचन सभी वृक्षोंके लिये उत्तम दोहद है॥ २३—३१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वास्तुलक्षण-कथन' नामक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४७॥

दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय

विष्णु आदिके पूजनमें उपयोगी पुष्पोंका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! पुष्पोंसे पूजन करनेपर भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण कार्योंमें सिद्धि प्रदान करते हैं। मालती, मल्लिका, यूथिका, गुलाब, कनेर, पावन्ती, अतिमुक्तक, कर्णिकार, कुरण्टक, कुब्जक, तगर, नीप (कदम्ब), बाण, वनमल्लिका, अशोक, तिलक, कुन्द और तमाल—इनके पुष्प पूजाके लिये उपयोगी माने गये हैं। बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्गराजके पत्र, तुलसी, कृष्णतुलसी तथा वासक (अडूसा)-के पत्र पूजनमें ग्राह्य माने गये हैं। केतकीके पत्र और पुष्प, पद्म एवं रक्तकमल—ये भी पूजामें ग्रहण किये जाते हैं। मदार, धत्तूर, गुञ्जा, पर्वतीय मल्लिका, कुटज, शाल्मलि और कटेरीके फूलोंका पूजामें प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रस्थमात्र घृतसे भगवान् विष्णुका अभिषेक करनेपर करोड़ गौओंके दान करनेका फल मिलता है। एक आढ़क घृतसे अभिषेक करनेवाला राज्य तथा घृतमिश्रित दुग्धसे अभिषेक करनेवाला स्वर्गको प्राप्त करता है॥ १—६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुष्पादिसे पूजनके फलका कथन' नामक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४८॥

दो सौ उनचासवाँ अध्याय

धनुर्वेदका[१] वर्णन—युद्ध और अस्त्रके भेद, आठ प्रकारके स्थान, धनुष, बाणको ग्रहण करने और छोड़नेकी विधि आदिका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं चार[२] पादोंसे युक्त धनुर्वेदका वर्णन करता हूँ। धनुर्वेद पाँच प्रकारका होता है। रथ, हाथी, घोड़े और पैदल-सम्बन्धी योद्धाओंका आश्रय लेकर इसका वर्णन किया गया है। यन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तसंधारित, अमुक्त और बाहुयुद्ध—ये ही धनुर्वेदके पाँच[३] प्रकार कहे गये हैं। उसमें भी शस्त्र-सम्पत्ति और अस्त्र-सम्पत्तिके भेदसे युद्ध दो प्रकारका बताया गया है। ऋजुयुद्ध और मायायुद्धके भेदसे उसके पुनः दो भेद हो जाते

---

१. 'धनुर्वेद' यजुर्वेदका उपवेद है। प्राचीनकालमें प्रायः सभी सभ्य देशोंमें इस विद्याका प्रचार था। भारतवर्षमें इस विद्याके बड़े-बड़े ग्रन्थ थे, जिन्हें क्षत्रियकुमार अभ्यासपूर्वक पढ़ते थे। आजकल वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं। कुछ थोड़े-से ग्रन्थोंमें इस विद्याका संक्षिप्त वर्णन मिलता है। जैसे शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार, अग्निपुराण, वीरचिन्तामणि, वृद्ध शार्ङ्गधर, युद्धजयार्णव, युक्तिकल्पतरु तथा नीतिमयूख आदि। 'धनुर्वेद-संहिता' नामक एक अलग भी पुस्तक मिलती है। नेपाल (काठमाण्डू) गोरखनाथ मठके महन्थ योगी नरहरिनाथने भी धनुर्वेदकी एक प्राचीन पुस्तक उपलब्ध की है। कुछ विद्वान् ब्रह्मा और महेश्वरसे इस उपवेदका प्रादुर्भाव मानते हैं, परन्तु मधुसूदन सरस्वतीका कथन है कि 'विश्वामित्रने जिस धनुर्वेदका प्रकाश किया था, यजुर्वेदका उपवेद वही है।' 'वीरचिन्तामणि'में धनुर्वेदकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। 'धनुर्वेद-संहिता'में लिखा है कि 'दुष्टों, दस्युओं और चोर आदिसे साधुपुरुषोंका संरक्षण और धर्मानुसार प्रजापालन 'धनुर्वेद'का प्रयोजन है'। अग्निपुराणके इन चार अध्यायोंमें धनुर्वेद-विषयक महत्त्वपूर्ण बातोंपर संक्षेपसे ही प्रकाश डाला गया है। धनुर्वेदपर इस समय जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनसे अग्निपुराणगत धनुर्वेदका पाठ नहीं मिलता। विश्वकोषमें 'धनुर्वेद' शब्दपर अग्निपुराणके ये ही चार अध्याय उद्धृत किये गये हैं। कतिपय हस्तलिखित प्रतियोंके अनुसार जो पाठ-भेद उपलब्ध हुए हैं, उन्हें दृष्टिमें रखते हुए इन अध्यायोंका अविकल अनुवाद करनेकी चेष्टा की गयी है। साङ्गवेद विद्यालय, काशीके नैयायिक विद्वान् श्रीहेबूबर शास्त्री काश्मीर-पुस्तकालयसे अग्निपुराणके धनुर्वेद-प्रकरणपर कुछ पाठभेद संग्रह करके लाये थे, उससे भी इस प्रकरणको लगानेमें सहयोग मिला है। तथापि कुछ शब्द अस्पष्ट रह गये हैं। माननीय विद्वानोंको धनुर्वेदके विषयमें विशेष ध्यान देकर अनुसंधान करना-कराना चाहिये, जिससे भारतकी इस प्राचीन विद्याका पुनरुद्धार हो सके। (अनुवादक)

२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २२०, श्लोक ७२ में लिखा है कि 'शत्रुदमन बालक अभिमन्युने वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुनसे चार पादों और दशविध अङ्गोंसे युक्त दिव्य एवं मानुष—सब प्रकारके धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया।' इन चार पादोंको स्पष्ट करते हुए आचार्य नीलकण्ठने 'मन्त्रमुक्त', 'पाणिमुक्त', 'मुक्तामुक्त' और 'अमुक्त'—इन चार नामोंका निर्देश किया है। परंतु मधुसूदन सरस्वतीने अपने 'प्रस्थानभेद'में धनुर्वेदका जो संक्षिप्त विवरण दिया है, उसमें चार पादोंका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—दीक्षापाद, संग्रहपाद, सिद्धिपाद और प्रयोगपाद। पूर्वोक्त मन्त्रमुक्त आदि भेद आयुधोंके हैं, वे पादोंके नाम नहीं हैं। अग्निपुराणमें चार पादोंके नामका निर्देश नहीं है। 'मन्त्रमुक्त'के स्थानपर वहाँ 'यन्त्रमुक्त' पाठ है और 'मुक्तामुक्त'के स्थानपर 'मुक्तसंधारित'। इन चारोंके साथ बाहुयुद्धको भी जोड़कर अग्निपुराणमें धनुर्वेद, अस्त्र या युद्धके पाँच प्रकार ही निर्दिष्ट किये गये हैं। अतः धनुर्वेदके चार पाद उपर्युक्त दीक्षा आदि ही ठीक जान पड़ते हैं।

३. महाभारतमें 'चतुष्पादं दशविधम्' कहकर धनुर्वेदके दस प्रकार कहे गये हैं। परंतु अग्निपुराणसे उसका कोई विरोध नहीं है। अग्निपुराणमें अस्त्र या युद्धके पाँच प्रकारोंको दृष्टिमें रखकर ही वे भेद निर्दिष्ट हुए हैं। किंतु महाभारतमें धनुर्वेदके दस अङ्गोंको लेकर ही दस भेदोंका कथन हुआ है। उन दस अङ्गोंके नाम नीलकण्ठने इस प्रकार लिखे हैं—आदान, संधान, मोक्षण, निवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल तथा रहस्य। इन सबका परिचय इस प्रकार है—तरकससे बाणको निकालना 'आदान' है। उसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर रखना 'संधान' है। लक्ष्यपर छोड़ना 'मोक्षण' कहा गया है। यदि बाण छोड़ देनेके बाद यह मालूम हो जाय कि हमारा विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है, तो वीर पुरुष मन्त्रशक्तिसे उस बाणको लौटा लेते हैं। इस प्रकार छोड़े हुए अस्त्रको लौटा लेना 'निवर्तन' कहलाता है। धनुष या उसकी प्रत्यञ्चाके धारण अथवा शरसंधानकालमें धनुष और प्रत्यञ्चाके मध्यदेशको 'स्थान' कहा गया है। तीन या चार अँगुलियोंका सहयोग ही 'मुष्टि' है। तर्जनी और मध्यमा अँगुलीसे अथवा मध्यमा और अङ्गुष्ठसे बाणका संधान करना 'प्रयोग' कहलाता है। स्वतः या दूसरेसे प्राप्त होनेवाले ज्याघात (प्रत्यञ्चाके आघात) और बाणके आघातको रोकनेके लिये जो दस्ताने आदिका प्रयोग किया जाता है, उसका नाम 'प्रायश्चित्त' है। चक्राकार घूमते हुए रथके साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्यका वेध 'मण्डल' कहलाता है। शब्दके आधारपर लक्ष्य बींधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्योंको बींध डालना—ये सब 'रहस्य'के अन्तर्गत हैं।

हैं। क्षेपणी (गोफन आदि), धनुष एवं यन्त्र आदिके द्वारा जो अस्त्र फेंका जाता है, उसे 'यन्त्रमुक्त' कहते हैं। (यन्त्रमुक्त अस्त्रका जहाँ अधिक प्रयोग हो, वह युद्ध भी 'यन्त्रमुक्त' ही कहलाता है।) प्रस्तरखण्ड और तोमर-यन्त्र आदिको 'पाणिमुक्त' कहा गया है। भाला आदि जो अस्त्र शत्रुपर छोड़ा जाय और फिर उसे हाथमें ले लिया जाय, उसे 'मुक्तसंधारित' समझना चाहिये। खड्ग (तलवार आदि)-को 'अमुक्त' कहते हैं और जिसमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग न करके मल्लोंकी भाँति लड़ा जाय, उस युद्धको 'नियुद्ध' या 'बाहुयुद्ध' कहते हैं॥ १—५॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाला पुरुष श्रमको जीते और योग्य पात्रोंका संग्रह करे। जिनमें धनुष-बाणका प्रयोग हो, वे युद्ध श्रेष्ठ कहे गये हैं; जिनमें भालोंकी मार हो, वे मध्यम कोटिके हैं। जिनमें खड्गोंसे प्रहार किया जाय, वे निम्नश्रेणीके युद्ध हैं और बाहुयुद्ध सबसे निकृष्ट कोटिके अन्तर्गत हैं। धनुर्वेदमें क्षत्रिय और वैश्य—इन दो वर्णोंका भी गुरु[1] ब्राह्मण ही बताया गया है। आपत्तिकालमें स्वयं शिक्षा लेकर शूद्रको भी युद्धका अधिकार प्राप्त है। देश या राष्ट्रमें रहनेवाले वर्णसंकरोंको भी युद्धमें राजाकी सहायता करनी चाहिये[2]॥ ६—८॥

स्थान-वर्णन— अङ्गुष्ठ, गुल्फ, पार्ष्णिभाग और पैर—ये एक साथ रहकर परस्पर सटे हुए हों तो लक्षणके अनुसार इसे 'समपद' नामक स्थान[3] कहते हैं। दोनों पैर बाह्य अङ्गुलियोंके बलपर स्थित हों, दोनों घुटने स्तब्ध हों तथा दोनों पैरोंके बीचका फैसला तीन बित्ता हो, तो यह 'वैशाख'नामक स्थान कहलाता है। जिसमें दोनों घुटने हंसपंक्तिके आकारकी भाँति दिखायी देते हों और दोनोंमें चार बित्तेका अन्तर हो, वह 'मण्डल' स्थान माना गया है। जिसमें दाहिनी जाँघ और घुटना स्तब्ध (तना हुआ) हो और दोनों पैरोंके बीचका विस्तार पाँच बित्तेका हो, उसे 'आलीढ़'नामक स्थान कहा गया है। इसके विपरीत जहाँ बायीं जाँघ और घुटना स्तब्ध हों तथा दोनों पैरोंके बीचका विस्तार पाँच बित्ता हो, वह 'प्रत्यालीढ़'नामक स्थान है। जहाँ बायाँ पैर टेढ़ा और दाहिना सीधा हो तथा दोनों गुल्फ और पार्ष्णिभाग पाँच अङ्गुलके अन्तरपर स्थित हों तो यह बारह अङ्गुल बड़ा 'स्थानक' कहा गया है। यदि बायें पैरका घुटना सीधा हो और दाहिना पैर भलीभाँति फैलाया गया हो अथवा दाहिना घुटना कुब्जाकार एवं निश्चल हो या घुटनेके साथ ही दायाँ चरण दण्डाकार विशाल दिखायी दे तो ऐसी स्थितिमें 'विकट'नामक स्थान कहा गया है। इसमें दोनों पैरोंका अन्तर दो हाथ बड़ा होता है। जिसमें दोनों घुटने दुहरे

---

१. 'गुरु' शब्दका अर्थ है—धनुर्वेदकी शिक्षा देनेवाला आचार्य। 'धनुर्वेदसंहिता'में सात प्रकारके युद्धोंका उल्लेख करके उन सातोंके ज्ञाताको 'आचार्य' कहा गया है—'आचार्यः सप्तयुद्धः स्यात्।' धनुष, चक्र, कुन्त, खड्ग, क्षुरिका, गदा और बाहु—इन सातोंसे किये जानेवाले युद्धको ही 'सात प्रकारका युद्ध' कहते हैं।

२. 'वीरचिन्तामणि'के ६-७ श्लोकोंमें कहा गया है कि 'आचार्य ब्राह्मण शिष्यको धनुष, क्षत्रियको खड्ग, वैश्यको कुन्त (भाला) और शूद्रको गदाकी शिक्षा प्रदान करे।' इससे भी सूचित होता है कि अस्त्र-विद्या और युद्धकी शिक्षा सभी वर्णके लोगोंको दी जाती थी। अग्निपुराणके अनुसार वर्णसंकर भी इसकी शिक्षा पाते थे और युद्धमें राष्ट्रकी रक्षाके लिये राजाकी सहायता करते थे।

३. 'वीरचिन्तामणि' आदि ग्रन्थोंमें आठ प्रकारके 'स्थानों', पाँच प्रकारकी 'मुष्टियों' तथा पाँच तरहके 'व्याम' का वर्णन उपलब्ध होता है। अग्निपुराणमें 'मुष्टि' और 'व्याम'के भेद नहीं हैं। अगले अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'सिंहकर्ण' नामक मुष्टिकी चर्चा अवश्य की गयी है। परंतु स्थानके आठों भेदोंका लक्षणसहित वर्णन उपलब्ध होता है। इस वर्णनको देखते हुए 'स्थान' शब्दका अभिप्राय योद्धाओंके युद्धस्थलमें खड़े होनेका ढंग जान पड़ता है। योद्धाओंको किस-किस ढंगसे खड़ा होना चाहिये और कौन-सा ढंग कब उपयोगी होता है—इसीकी ओर इस प्रसङ्गमें संकेत किया गया है।

और दोनों पैर उत्तान हो जायँ, इस विधानके योगसे जो 'स्थान' बनता है, उसका नाम 'सम्पुट' है। जहाँ कुछ घूमे हुए दोनों पैर समभावसे दण्डके समान विशाल एवं स्थिर दिखायी दें, वहाँ दोनोंके बीचकी लंबाई सोलह अङ्गुलकी ही देखी गयी है। यह स्थानका यथोचित स्वरूप है॥ ९—१८॥

ब्रह्मन्! योद्धाओंको चाहिये कि पहले बायें हाथमें धनुष और दायें हाथमें बाण लेकर उसे चलायें और उन छोड़े हुए बाणोंको स्वस्तिकाकार करके उनके द्वारा गुरुजनोंको प्रणाम करें। धनुषका प्रेमी योद्धा 'वैशाख' स्थानके सिद्ध हो जानेपर 'स्थिति' (वर्तमान) या 'आयति' (भविष्य)-में जब आवश्यकता हो, धनुषपर डोरीको फैलाकर धनुषकी निचली कोटि और बाणके फलदेशको धरतीपर टिकाकर रखे और उसी अवस्थामें मुड़ी हुई दोनों भुजाओं एवं कलाइयोंद्वारा नापे। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वसिष्ठ! उस योद्धाके बाणसे धनुष सर्वथा बड़ा होना चाहिये और मुष्टिके सामने बाणके पुङ्ख तथा धनुषके डंडेमें बारह अङ्गुलका अन्तर होना चाहिये। ऐसी स्थिति हो तो धनुर्दण्डको प्रत्यञ्चासे संयुक्त कर देना चाहिये। वह अधिक छोटा या बड़ा नहीं होना चाहिये॥ १९—२३॥

धनुषको नाभिस्थानमें और बाण-संचयको नितम्बपर रखकर उठे हुए हाथको आँख और कानके बीचमें कर ले तथा उस अवस्थामें बाणको फेंके। पहले बाणको मुट्ठीमें पकड़े और उसे दाहिने स्तनाग्रकी सीधमें रखे। तदनन्तर उसे प्रत्यञ्चापर ले जाकर उस मौर्वी (डोरी या प्रत्यञ्चा)-को खींचकर पूर्णरूपसे फैलावे। प्रत्यञ्चा न तो भीतर हो न बाहर, न ऊँची हो न नीची, न कुबड़ी हो न उत्तान, न चञ्चल हो न अत्यन्त आवेष्टित। वह सम, स्थिरतासे युक्त और दण्डकी भाँति सीधी होनी चाहिये। इस प्रकार पहले इस मुष्टिके द्वारा लक्ष्यको आच्छादित करके बाणको छोड़ना चाहिये॥ २४—२७॥

धनुर्धर योद्धाको यत्नपूर्वक अपनी छाती ऊँची रखनी चाहिये और इस तरह झुककर खड़ा होना चाहिये, जिससे शरीर त्रिकोणाकार जान पड़े। कंधा ढीला, ग्रीवा निश्चल और मस्तक मयूरकी भाँति शोभित हो। ललाट, नासिका, मुख, बाहुमूल और कोहनी—ये सम अवस्थामें रहें। ठोढ़ी और कंधेमें तीन अङ्गुलका अन्तर समझना चाहिये। पहली बार तीन अङ्गुल, दूसरी बार दो अङ्गुल और तीसरी बार ठोढ़ी तथा कंधेका अन्तर एक ही अङ्गुलका बताया गया है॥ २८—३०॥

बाणको पुङ्खकी ओरसे तर्जनी एवं अँगूठेसे पकड़े। फिर मध्यमा एवं अनामिकासे भी पकड़ ले और तबतक वेगपूर्वक खींचता रहे, जबतक पूरा-पूरा बाण धनुषपर न आ जाय। ऐसा उपक्रम करके विधिपूर्वक बाणको छोड़ना चाहिये॥ ३१-३२॥

सुव्रत! पहले दृष्टि और मुष्टिसे आहत हुए लक्ष्यको ही बाणसे विदीर्ण करे। बाणको छोड़कर पिछला हाथ बड़े वेगसे पीठकी ओर ले जाय; क्योंकि ब्रह्मन्! यह ज्ञात होना चाहिये कि शत्रु इस हाथको काट डालनेकी इच्छा करते हैं। अतः धनुर्धर पुरुषको चाहिये, धनुषको खींचकर कोहनीके नीचे कर ले और बाण छोड़ते समय उसके ऊपर करे। धनुःशास्त्र-विशारद पुरुषोंको यह विशेष-रूपसे जानना चाहिये। कोहनीका आँखसे सटाना मध्यम श्रेणीका बचाव है और शत्रुके लक्ष्यसे दूर रखना उत्तम है॥ ३३—३५॥

उत्तम श्रेणीका बाण बारह मुष्टियोंके मापका होना चाहिये। ग्यारह मुष्टियोंका 'मध्यम' और दस मुष्टियोंका 'कनिष्ठ' माना गया है। धनुष चार हाथ लंबा हो तो 'उत्तम', साढ़े तीन हाथका हो तो 'मध्यम' और तीन हाथका हो तो 'कनिष्ठ' कहा गया है। पैदल योद्धाके लिये

सदा तीन हाथके ही धनुषको ग्रहण करनेका विधान है। घोड़े, रथ और हाथीपर श्रेष्ठ धनुषका ही प्रयोग करनेका विधान किया गया है॥ ३६-३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका वर्णन' नामक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४९॥

दो सौ पचासवाँ अध्याय

लक्ष्यवेधके लिये धनुष-बाण लेने और उनके समुचित प्रयोग करनेकी शिक्षा तथा वेध्यके विविध भेदोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— ब्रह्मन्! द्विजको चाहिये कि पूरी लम्बाईवाले धनुषका निर्माण कराकर, उसे अच्छी तरह धो-पोंछकर यज्ञभूमिमें स्थापित करे तथा गदा आदि आयुधोंको भलीभाँति साफ करके रखे॥ १॥

तत्पश्चात् बाणोंका संग्रह करके, कवच-धारणपूर्वक एकाग्रचित्त हो, तूणीर ले, उसे पीठकी ओर दाहिनी काँखके पास दृढ़ताके साथ बाँधे। ऐसा करनेसे विलक्ष्य बाण भी उस तूणीरमें सुस्थिर रहता है। फिर दाहिने हाथसे तूणीरके भीतरसे बाणको निकाले। उसके साथ ही बायें हाथसे धनुषको वहाँसे उठा ले और उसके मध्यभागमें बाणका संधान[1] करे॥ २—४॥

चित्तमें विषादको न आने दे—उत्साह-सम्पन्न हो, धनुषकी डोरीपर बाणका पुङ्खभाग रखे, फिर 'सिंहकर्ण'[2] नामक मुष्टिद्वारा डोरीको पुङ्खके साथ ही दृढ़तापूर्वक दबाकर समभावसे संधान करे और बाणको लक्ष्यकी ओर छोड़े। यदि बायें हाथसे बाणको चलाना हो तो बायें हाथमें बाण ले और दाहिने हाथसे धनुषकी मुट्ठी पकड़े। फिर प्रत्यञ्चापर बाणको इस तरह रखे कि खींचनेपर उसका फल या पुङ्ख बायें कानके समीप आ जाय। उस समय बाणको बायें हाथकी (तर्जनी और अङ्गुष्ठके अतिरिक्त) मध्यमा अङ्गुलीसे भी धारण किये रहे। बाण चलानेकी विधिको जाननेवाला पुरुष उपर्युक्त मुष्टिके द्वारा धनुषको दृढ़तापूर्वक पकड़कर, मनको दृष्टिके साथ ही लक्ष्यगत करके बाणको शरीरके दाहिने भागकी ओर रखते हुए लक्ष्यकी ओर छोड़े॥ ५—७॥

धनुषका दण्ड इतना बड़ा हो कि भूमिपर खड़ा करनेपर उसकी ऊँचाई ललाटतक आ जाय। उसपर लक्ष्यवेधके लिये सोलह अङ्गुल लंबे चन्द्रक (बाणविशेष)-का संधान करे और उसे भलीभाँति खींचकर लक्ष्यपर प्रहार करे। इस तरह एक बाणका प्रहार करके फिर तत्काल ही तूणीरसे अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी अङ्गुलिद्वारा बारंबार बाण निकाले। उसे मध्यमा अङ्गुलिसे भी दबाकर काबूमें करे और शीघ्र ही दृष्टिगत लक्ष्यकी ओर चलावे। चारों ओर तथा दक्षिण ओर लक्ष्यवेधका क्रम जारी रखे। योद्धा पहलेसे ही चारों ओर बाण

१. 'वासिष्ठ-धनुर्वेद'के अनुसार 'संधान' तीन प्रकारके हैं—अध, ऊर्ध्व और सम। इनका क्रमशः तीन कार्योंमें ही उपयोग करना चाहिये। दूरके लक्ष्यको मार गिराना हो तो 'अध:संधान' उपयोगी होता है। लक्ष्य निश्चल हो तो 'समसंधान'से उसका वेध करना चाहिये तथा चञ्चल लक्ष्यका वेध करनेके लिये 'ऊर्ध्वसंधान'से काम लेना चाहिये।

२. महर्षि वसिष्ठकृत 'धनुर्वेद-संहिता'में 'मुष्टि'के पाँच भेद बताये गये हैं—पताका, वज्रमुष्टि, सिंहकर्ण, मत्सरी तथा काकतुण्डी। वहीं 'सिंहकर्ण'नामक मुष्टिका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'अङ्गुष्ठमध्यदेशे तु तर्जन्यग्रं शुभं स्थितम्। सिंहकर्णः स विज्ञेयो दृढलक्ष्यस्य वेधने॥' अर्थात् ''धनुष पकड़ते समय अङ्गुष्ठके मध्यदेशमें तर्जनीके अग्रभागको भलीभाँति टिकाकर जो मुष्टि बाँधी जाती है, उसका नाम 'सिंहकर्ण' जानना चाहिये। वह दृढ़लक्ष्यके वेधके लिये उपयोगी है।''

मारकर सब ओरके लक्ष्यको वेधनेका अभ्यास करे॥ ८—१०॥

तदनन्तर वह तीक्ष्ण, परावृत्त, गत, निम्न, उन्नत तथा क्षिप्र वेधका अभ्यास बढ़ावे।[१] वेध्य लक्ष्यके ये जो उपर्युक्त स्थान हैं, इनमें सत्त्व (बल एवं धैर्य)-का पुट देते हुए विचित्र एवं दुस्तर रीतिसे सैकड़ों बार हाथसे बाणोंके निकालने एवं छोड़नेकी क्रियाद्वारा धनुषका तर्जन करे—उसपर टङ्कार[२] दे॥ ११-१२॥

विप्रवर! उक्त वेध्यके अनेक भेद हैं। पहले तो दृढ़, दुष्कर तथा चित्र दुष्कर—ये वेध्यके तीन भेद हैं। ये तीनों ही भेद दो-दो प्रकारके होते हैं। 'नतनिम्न' और 'तीक्ष्ण'—ये 'दृढ़वेध्य'के दो भेद हैं। 'दुष्करवेध्य'के भी 'निम्न' और 'ऊर्ध्वगत'—ये दो भेद कहे गये हैं तथा 'चित्रदुष्कर' वेध्यके 'मस्तकपन' और 'मध्य'—ये दो भेद बताये गये हैं॥ १३-१४ $\frac{1}{2}$॥

इस प्रकार इन वेध्यगणोंको सिद्ध करके वीर पुरुष पहले दायें अथवा बायें पार्श्वसे शत्रुसेनापर चढ़ाई करे। इससे मनुष्यको अपने लक्ष्यपर विजय प्राप्त होती है। प्रयोक्ता पुरुषोंने वेध्यके विषयमें यही विधि देखी और बतायी है॥ १५-१६॥

योद्धाके लिये उस वेध्यकी अपेक्षा भ्रमणको अधिक उत्तम बताया गया है। वह लक्ष्यको अपने बाणके पुङ्खभागसे आच्छादित करके उसकी ओर दृढ़तापूर्वक शर-संधान करे। जो लक्ष्य भ्रमणशील, अत्यन्त चञ्चल और सुस्थिर हो, उसपर सब ओरसे प्रहार करे। उसका भेदन और छेदन करे तथा उसे सर्वथा पीड़ा पहुँचाये॥ १७-१८॥

कर्मयोगके विधानका ज्ञाता पुरुष इस प्रकार समझ-बूझकर उचित विधिका आचरण (अनुष्ठान) करे। जिसने मन, नेत्र और दृष्टिके द्वारा लक्ष्यके साथ एकता-स्थापनकी कला सीख ली है, वह योद्धा यमराजको भी जीत सकता है। (पाठान्तरके अनुसार वह श्रमको जीत लेता है—युद्ध करते-करते थकता नहीं।)॥ १९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका कथन' नामक
दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५०॥

---

१. 'वासिष्ठ-धनुर्वेद'में 'वेध' तीन प्रकारका बताया गया है—पुष्पवेध, मत्स्यवेध और मांसवेध। फलरहित बाणसे फूलको वेधना 'पुष्पवेध' है। फलयुक्त बाणसे मत्स्यका भेदन करना 'मत्स्यवेध' है। तदनन्तर मांसके प्रति लक्ष्यका स्थिरीकरण 'मांसवेध' कहलाता है। इन वेधोंके सिद्ध हो जानेपर मनुष्योंके बाण उनके लिये सर्वसाधक होते हैं—'एतैर्वेधैः कृतैः पुंसां शराः स्युः सर्वसाधकाः।'

२. 'वीरचिन्तामणि'में 'श्रमकरण' (धनुष चलानेके परिश्रमपूर्वक अभ्यास)-के प्रकरणमें इस तरहकी बातें लिखी हैं। यथा—पहले धनुषको चढ़ाकर शिखा बाँध ले, पूर्वोक्त स्थानभेदमेंसे किसी एकका आश्रय ले, खड़ा हो, बाणके ऊपर हाथ रखे। धनुषके तोलनपूर्वक उसे बायें हाथमें ले। तदनन्तर बाणका आदान करके संधान करे। एक बार धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचकर भूमिवेधन करे। पहले भगवान् शंकर, विघ्नराज गणेश, गुरुदेव तथा धनुष-बाणको नमस्कार करे। फिर बाण खींचनेके लिये गुरुसे आज्ञा माँगे। प्राणवायुके प्रयत्न (पूरक प्राणायाम)-के साथ बाणसे धनुषको पूरित करे। कुम्भक प्राणायामके द्वारा उसे स्थिर करके रेचक प्राणायाम एवं हुंकारके साथ वायु एवं बाणका विसर्जन करे। सिद्धिकी इच्छावाले धनुर्धर योद्धाको यह अभ्यास-क्रिया अवश्य करनी चाहिये। छः मासमें 'मुष्टि' सिद्ध होती है और एक वर्षमें 'बाण'। 'नाराच' तो उसीके सिद्ध होते हैं, जिसपर भगवान् महेश्वरकी कृपा हो जाय। अपनी सिद्धि चाहनेवाला योद्धा बाणको फूलकी भाँति धारण करे। फिर धनुषको सर्पकी भाँति दबावे तथा लक्ष्यका बहुमूल्य धनकी भाँति चिन्तन करे, इत्यादि।

दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय

पाशके निर्माण और प्रयोगकी विधि तथा तलवार और लाठीको अपने पास रखने एवं शत्रुपर चलानेकी उपयुक्त पद्धतिका निर्देश

अग्निदेव कहते हैं— ब्रह्मन्! जिसने हाथ, मन और दृष्टिको जीत लिया है, ऐसा लक्ष्यसाधक नियत सिद्धिको पाकर युद्धके लिये वाहनपर आरूढ़ हो। 'पाश' दस हाथ बड़ा, गोलाकार और हाथके लिये सुखद होना चाहिये। इसके लिये अच्छी मूँज, हरिणकी ताँत अथवा आकके छिलकोंकी डोरी तैयार करानी चाहिये। इनके सिवा अन्य सुदृढ़ (पट्टसूत्र आदि) वस्तुओंका भी सुन्दर पाश बनाया जा सकता है। उक्त सूत्रों या रस्सियोंको कई आवृत्ति लपेटकर खूब बट ले। विज्ञ पुरुष तीस आवृत्ति करके बटे हुए सूत्र या रस्सीसे ही पाशका निर्माण करे॥ १—३॥

शिक्षकोंको पाशकी शिक्षा देनेके लिये कक्षाओंमें स्थान बनाना चाहिये। पाशको बायें हाथमें लेकर दाहिने हाथसे उधेड़े। उसे कुण्डलाकार बना, सब ओर घुमाकर शत्रुके मस्तकके ऊपर फेंकना चाहिये। पहले तिनकेके बने और चमड़ेसे मढ़े हुए पुरुषपर उसका प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् उछलते-कूदते और जोर-जोरसे चलते हुए मनुष्योंपर सम्यक्रूपसे विधिवत् प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर लेनेपर ही पाशका प्रयोग करे। सुशिक्षित योद्धाको पाशद्वारा यथोचित रीतिसे जीत लेनेपर ही शत्रुके प्रति पाश-बन्धनकी क्रिया करनी चाहिये॥ ४—६ $\frac{१}{२}$॥

तदनन्तर कमरमें म्यानसहित तलवार बाँधकर उसे बायीं ओर लटका ले और उसकी म्यानको बायें हाथसे दृढ़ताके साथ पकड़कर दायें हाथसे तलवारको बाहर निकाले। उस तलवारकी चौड़ाई छः अङ्गुल और लंबाई या ऊँचाई सात हाथकी हो॥ ७-८॥

लोहेकी बनी हुई कई शलाकाएँ और नाना प्रकारके कवच अपने आधे या समूचे हाथमें लगा ले; अगल-बगलमें और ऊपर-नीचे भी शरीरकी रक्षाके लिये इन सब वस्तुओंको विधिवत् धारण करे॥ ९॥

युद्धमें विजयके लिये जिस विधिसे जैसी योजना बनानी चाहिये, वह बताता हूँ, सुनो। तूणीरके चमड़ेसे मढ़ी हुई एक नयी और मजबूत लाठी अपने पास रख ले। उस लाठीको दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे उठाकर वह जिसके ऊपर जोरसे आघात करेगा, उस शत्रुका अवश्य नाश हो जायगा। इस क्रियामें सिद्धि मिलनेपर वह दोनों हाथोंसे लाठीको शत्रुके ऊपर गिरावे। इससे अनायास ही वह उसका वध कर सकता है। इस तरह युद्धमें सिद्धिकी बात बतायी गयी। रणभूमिमें भलीभाँति संचरणके लिये अपने वाहनोंसे श्रम कराते रहना चाहिये, यह बात तुम्हें पहले बतायी गयी है॥ १०—१२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका कथन' नामक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५१॥

दो सौ बावनवाँ अध्याय

तलवारके बत्तीस हाथ, पाश, चक्र, शूल, तोमर, गदा, परशु, मुद्गर,भिन्दिपाल, वज्र, कृपाण, क्षेपणी, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्धके दाँव और पैंतरोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— ब्रह्मन्! भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, विप्लुत, प्लुत (या सृत), सम्पात, समुदीर्ण, श्येनपात, आकुल, उद्धूत, अवधूत, सव्य, दक्षिण, अनालक्षित, विस्फोट, करालेन्द्र, महासख, विकराल, निपात, विभीषण, भयानक, समग्र, अर्ध, तृतीयांश, पाद, पादार्ध, वारिज, प्रत्यालीढ़, आलीढ़, वराह और लुलित—ये रणभूमिमें दिखाये जानेवाले ढाल-तलवारके बत्तीस हाथ (या चलानेके ढंग) हैं; इन्हें जानना चाहिये॥ १—४॥

परावृत्त, अपावृत्त, गृहीत, लघु, ऊर्ध्वक्षिप्त, अध:क्षिप्त, संधारित, विधारित, श्येनपात, गजपात और ग्राह-ग्राह्य—ये युद्धमें 'पाश' फेंकनेके ग्यारह प्रकार हैं॥ ५-६॥

ऋजु, आयत, विशाल, तिर्यक् और भ्रामित—ये पाँच कर्म 'व्यस्तपाश' के लिये महात्माओंने बताये हैं॥ ७॥

छेदन, भेदन, पात, भ्रमण, शमन, विकर्तन तथा कर्तन—ये सात कर्म 'चक्र'के हैं॥ ८॥

आस्फोट, क्ष्वेडन, भेद, त्रास, आन्दोलितक और आघात—ये छ: 'शूल'के कर्म जानो॥ ९॥

द्विजोत्तम! दृष्टिघात, भुजाघात, पार्श्वघात, ऋजुपात, पक्षपात और इषुपात—ये 'तोमर'के कार्य कहे गये हैं॥ १०॥

विप्रवर! आहत, विहृत, प्रभूत, कमलासन, ततोर्ध्वगात्र, नमित, वामदक्षिण, आवृत्त, परावृत्त, पादोद्धूत, अवप्लुत, हंसमर्द (या हंसमार्ग) तथा विमर्द—ये 'गदा-सम्बन्धी' कर्म कहे गये हैं॥ ११-१२॥

कराल, अवघात, दंशोपप्लुत, क्षिप्तहस्त, स्थित और शून्य—ये 'फरसे'के कर्म समझने चाहिये॥ १३॥

विप्रवर! ताड़न, छेदन, चूर्णन, प्लवन तथा घातन—ये 'मुद्गर'के कर्म हैं॥ १४॥

संश्रान्त, विश्रान्त, गोविसर्ग तथा सुदुर्धर—ये 'भिन्दिपाल'के कर्म हैं और 'लगुड'के भी वे ही कर्म बताये गये हैं॥ १५॥

द्विजोत्तम! अन्त्य, मध्य, परावृत्त तथा निदेशान्त—ये 'वज्र' और 'पट्टिश'के कर्म हैं॥ १६॥

हरण, छेदन, घात, भेदन, रक्षण, पातन तथा स्फोटन—ये 'कृपाण'के कर्म कहे गये हैं॥ १७॥

त्रासन, रक्षण, घात, बलोद्धरण और आयत—ये 'क्षेपणी' (गोफन)-के कार्य कहे गये हैं। ये ही 'यन्त्र'के भी कर्म हैं॥ १८॥

संत्याग, अवदंश, वराहोद्धूतक, हस्तावहस्त, आलीन, एकहस्त, अवहस्तक, द्विहस्त, बाहुपाश, कटिरेचितक, उद्गत, उरोघात, ललाटघात, भुजाविधमन, करोद्धूत, विमान, पादाहति, विपादिक, गात्रसंश्लेषण, शान्त, गात्रविपर्यय, ऊर्ध्वप्रहार, घात, गोमूत्र, सव्य, दक्षिण, पारक, तारक, दण्ड (गण्ड), कबरीबन्ध, आकुल, तिर्यग्बन्ध, अपामार्ग, भीमवेग, सुदर्शन, सिंहाक्रान्त, गजाक्रान्त और गर्दभाक्रान्त—ये 'गदायुद्ध'के हाथ जानने चाहिये। अब 'मल्लयुद्ध'के दाव-पेंच बताये जाते हैं॥ १९—२३ $\frac{१}{२}$॥

आकर्षण, विकर्षण, बाहुमूल, ग्रीवाविपरिवर्त, सुदारुण, पृष्ठभङ्ग, पर्यासन, विपर्यास, पशुमार, अजाविक, पादप्रहार, आस्फोट, कटिरेचितक, गात्राश्लेष, स्कन्धगत, महीव्याजन, उरोललाटघात, विस्पष्टकरण, उद्धूत, अवधूत, तिर्यङ्मार्गगत, गजस्कन्ध, अवक्षेप, अपराङ्मुख, देवमार्ग, अधोमार्ग, अमार्गगमनाकुल, यष्टिघात, अवक्षेप, वसुधादारण,

जानुबन्ध, भुजाबन्ध, सुदारुण, गात्रबन्ध, विपृष्ठ, सोदक, श्वभ्र तथा भुजावेष्टित॥ २४—२९ १/२ ॥

युद्धमें कवच धारण करके, अस्त्र-शस्त्रसे सम्पन्न हो, हाथी आदि वाहनोंपर चढ़कर उपस्थित होना चाहिये। हाथीपर उत्तम अङ्कुश धारण किये दो महावत या चालक रहने चाहिये। उनमेंसे एक तो हाथीकी गर्दनपर सवार हो और दूसरा उसके कंधेपर। इनके अतिरिक्त सवारोंमें दो धनुर्धर होने चाहिये और दो खड्गधारी॥ ३०-३१ ॥

प्रत्येक रथ और हाथीकी रक्षाके लिये तीन-तीन घुड़सवार सैनिक रहें तथा घोड़ेकी रक्षाके लिये तीन-तीन धनुर्धर पैदल-सैनिक रहने चाहिये। धनुर्धरकी रक्षाके लिये चर्म या ढाल लिये रहनेवाले योद्धाकी नियुक्ति करनी चाहिये॥ ३२ ॥

जो प्रत्येक शस्त्रका उसके अपने मन्त्रोंसे पूजन करके 'त्रैलोक्यमोहन-कवच'का पाठ करनेके अनन्तर युद्धमें जाता है, वह शत्रुओंपर विजय पाता और भूतलकी रक्षा करता है। (पाठान्तरके अनुसार शत्रुओंपर विजय पाता और उन्हें निश्चय ही मार गिराता है।)॥ ३३ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धनुर्वेदका कथन' नामक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५२॥

दो सौ तिरपनवाँ अध्याय

व्यवहारशास्त्र तथा विविध व्यवहारोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं व्यवहारका वर्णन करता हूँ, जो नय और अनयका विवेक प्रदान करनेवाला है। उसके चार चरण, चार स्थान और चार साधन बतलाये गये हैं। वह चारका हितकारी, चारमें व्याप्त और चारका कर्ता कहा जाता है। वह आठ अङ्ग, अठारह पद, सौ शाखा, तीन योनि, दो अभियोग, दो द्वार और दो गतियोंसे युक्त है॥ १-२ १/२ ॥

धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन—ये व्यवहारदर्शनके चार चरण हैं। इनमें उत्तरोत्तर पाद पूर्व-पूर्व पादके साधक हैं। इन सबमें 'धर्म'का आधार सत्य है, 'व्यवहार'का आधार साक्षी (गवाह) है, 'चरित्र' पुरुषोंके संग्रहपर आधारित है और 'शासन' राजाकी आज्ञापर अवलम्बित है। साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार उपायोंसे साध्य होनेके कारण वह 'चार साधनोंवाला' है। चारों आश्रमोंकी रक्षा करनेसे वह 'चतुर्हित' है। अभियोक्ता, साक्षी, सभासद और राजा—इनमें एक-एक चरणसे उसकी स्थिति है—इसलिये उसे 'चतुर्व्यापी' माना गया है। वह धर्म, अर्थ, यश और लोकप्रियता—इन चारोंकी वृद्धि करनेवाला होनेसे 'चतुष्कारी' कहा जाता है। राजपुरुष, सभासद, शास्त्र, गणक, लेखक, सुवर्ण, अग्नि और जल—इन आठ अङ्गोंसे युक्त होनेके कारण वह 'अष्टाङ्ग' है। काम, क्रोध और लोभ—इन तीन कारणोंसे मनुष्यकी इसमें प्रवृत्ति होती है, इसीलिये व्यवहारको 'त्रियोनि' कहा जाता है; क्योंकि ये तीनों ही विवाद करानेवाले हैं। अभियोगके दो भेद हैं—(१) शङ्काभियोग और (२) तत्त्वाभियोग। इसी दृष्टिसे वह दो अभियोगवाला है। 'शङ्का' असत् पुरुषोंके संसर्गसे होती है और 'तत्त्वाभियोग' होढा (चिह्न या प्रमाण) देखनेसे होता है। यह दो पक्षोंसे सम्बन्धित होनेके कारण 'दो द्वारोंवाला' कहा जाता है। इनमें पूर्ववाद[१] 'पक्ष' और उत्तरवाद[२]

---

१. अभियोगका उपस्थापक या 'मुद्दई'।

२. अभियोगका प्रतिवादी या 'मुद्दालेह'।

'प्रतिपक्ष' कहलाता है। 'भूत' और 'छल'— इनका अनुसरण करनेसे यह दो गतियोंसे युक्त माना जाता है॥ ३—१२॥

कैसा ऋण देय है, कैसा ऋण अदेय है— कौन दे, किस समय दे, किस प्रकारसे दे, ऋण देनेकी विधि या पद्धति क्या है तथा उसे लेने या वसूल करनेका विधान क्या है? इन सब बातोंका विचार[१] '**ऋणादान**' कहा गया है। जब कोई मनुष्य किसीपर विश्वास करके शङ्कारहित होकर उसके पास अपना कोई द्रव्य धरोहरके तौरपर देता है, तब उसे विद्वान् लोग '**निक्षेप**' नामक व्यवहारपद कहते हैं। जब वणिक् आदि अनेक मनुष्य मिलकर सहकारिता या साझेदारीके तौरपर कोई कार्य करते हैं तो उसको '**सम्भूयसमुत्थान**' संज्ञक विवादपद बतलाते हैं। यदि कोई मनुष्य पहले विधिपूर्वक किसी द्रव्यका दान देकर पुन: उसे रख लेनेकी इच्छा करे, तो वह '**दत्ताप्रदानिक**' नामक विवादपद कहा जाता है। जो सेवा स्वीकार करके भी उसका सम्पादन नहीं करता या उपस्थित नहीं होता, उसका यह व्यवहार '**अभ्युपेत्य अशुश्रूषा**' नामक विवादपद होता है। भृत्योंको वेतन देने-न-देनेसे सम्बन्ध रखनेवाला विवाद '**वेतनानपाक्रम**' माना गया है। धरोहरमें रखे हुए या खोये हुए पराये द्रव्यको पाकर अथवा चुराकर स्वामीके परोक्षमें बेचा जाय तो यह '**अस्वामिविक्रय**' नामक विवादपद है। यदि कोई व्यापारी किसी पण्य-द्रव्यका मूल्य लेकर विक्रय कर देनेके बाद भी खरीददारको वह द्रव्य नहीं देता है तो उसको '**विक्रीयासम्प्रदान**' नामक विवादपद कहा जाता है। यदि ग्राहक किसी वस्तुका मूल्य देकर खरीदनेके बाद उस वस्तुको ठीक नहीं समझता, तो उसका यह आचरण '**क्रीतानुशय**' नामक विवादपद कहलाता है। यदि ग्राहक या खरीददार मूल्य देकर वस्तुको खरीद लेनेके बाद यह समझता है कि यह खरीददारी ठीक नहीं है, (अत: वह वस्तु लौटाकर दाम वापस लेना चाहता है) तो उसी दिन यदि वह लौटा दे तो विक्रेता उसका मूल्य पूरा-पूरा लौटा दे, उसमें काट-छाट न करे[२]॥ १३—२१॥

पाखण्डी और नैगम आदिकी स्थितिको '**समय**' कहते हैं। इससे सम्बद्ध विवादपदको '**समयानपा-कर्म**' कहा जाता है। (याज्ञवल्क्यने इसे '**संविद्-व्यतिक्रम**' नाम दिया है।) क्षेत्रके अधिकारको लेकर सेतु, केदार (मेड़) और क्षेत्र

१. ऋणादानके सात प्रकार हैं— १-अमुक प्रकारका ऋण 'देय' है, २-अमुक प्रकारका ऋण 'अदेय' है, ३-अमुक अधिकारीको ऋण देनेका अधिकार है, ४-अमुक समयमें ऋण देना चाहिये, ५-इस प्रकारसे ऋण दिया जाना चाहिये—ये पाँच अधमर्ण (ऋण लेनेवाले) व्यक्तिको लक्ष्य करके विचारणीय हैं और शेष दो बातें साहूकारके लिये विचारणीय हैं—६-साहूकार किस विधानसे ऋण दे तथा ७-किस विधानसे उसको वसूल करे। इन्हीं सातों बातोंको इस श्लोकमें स्पष्ट किया गया है। 'नारद-स्मृति' में भी इसका इसी रूपमें उल्लेख हुआ है। इन सब बातोंके विचारपूर्वक जो ऋणका आदान-प्रदान होता है, उसे 'ऋणादान' नामक व्यवहारपद समझना चाहिये।

२. 'नारदस्मृति'में भी इन श्लोकोंका ठीक ऐसा ही पाठ है। वहाँ इस विषयमें कुछ अधिक बातें बतायी गयी हैं, जो इस प्रकार हैं—

द्वितीयेऽह्नि ददत् क्रेता मूल्यात् त्रिंशांशमाहरेत्। द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परत: क्रेतुरेव तत्॥

'यदि ग्राहक नापसंद माल (पहले ही दिन न लौटाकर) दूसरे दिन लौटावे तो वह वस्तुके पूरे मूल्यका $\frac{1}{3}$ अर्थात् ३ $\frac{1}{3}$ प्रतिशत हरजानाके तौरपर विक्रेताको दे। यदि वह तीसरे दिन लौटाये तो इससे दूनी रकम हर्जानेके तौरपर दे। इसके बाद 'अनुशय'का अधिकार समाप्त हो जाता है। फिर तो ग्राहकको माल लेना ही पड़ेगा।'

याज्ञवल्क्य और मिताक्षराकारकी दृष्टिमें यह नियम बीज आदिसे भिन्न वस्तुओंपर लागू होता है। बीज, लोहा, बैल-घोड़े आदि वाहन, मोती-मूँगा आदि रत्न, दासी, दूध देनेवाली भैंस आदि तथा दास—इनके परीक्षणका काल अधिक है। यथा—बीजके परीक्षणका समय दस दिन, लोहेके एक दिन, बैल आदिके पाँच दिन, रत्नके एक सप्ताह, दासीके एक मास, दूध देनेवाली भैंस आदिके तीन दिन तथा दासके परीक्षणका समय पंद्रह दिनतक है। इस समयके भीतर ही ये ठीक न जँचें तो इनको लौटाया जा सकता है; अन्यथा नहीं। मनुने गृह, क्षेत्र आदि वस्तुओंको दस दिनके अंदर ही लौटानेका आदेश दिया है। इसके बाद लौटानेका अधिकार नहीं रह जाता है।

सीमाके घटने-बढ़नेके विषयमें जो विवाद होता है, वह '**क्षेत्रज**' कहा गया है। जो स्त्री और पुरुषके विवाहादिसे सम्बन्धित विवादपद है, उसे '**स्त्री-पुंस योग**' कहते हैं। पुत्रगण पैतृक धनका जो विभाजन करते हैं, विद्वानोंने उसको '**दायभाग**' नामक व्यवहारपद माना है। बलके अभिमानसे जो कर्म सहसा किया जाता है, उसे '**साहस**' नामक विवादपद बतलाया गया है। किसीके देश, जाति एवं कुल आदिपर दोषारोपण करके प्रतिकूल अर्थसे युक्त व्यंग्यपूर्ण वचन कहना '**वाक्-पारुष्य**' माना गया है। दूसरेके शरीरपर हाथ-पैर या आयुधसे प्रहार अथवा अग्नि आदिसे आघात करना '**दण्ड-पारुष्य**' कहलाता है। पासे, वध्र (चमड़ेकी पट्टी) और शलाका (हाथीदाँतकी गोटियों)-से जो क्रीडा होती है, उसको '**द्यूत**' कहा जाता है। (घोड़े आदि) पशुओं और (बटेर आदि) पक्षियोंसे होनेवाली क्रीडाको '**प्राणिद्यूत**' समझना चाहिये। राजाकी आज्ञाका उल्लङ्घन और उसका कार्य न करना यह '**प्रकीर्णक**' नामक व्यवहारपद जानना चाहिये। यह विवादपद राजापर आश्रित है। इस प्रकार व्यवहार अठारह पदोंसे युक्त है। इनके भी सौ भेद माने गये हैं। मनुष्योंकी क्रियाके भेदसे यह सौ शाखाओंवाला कहा जाता है॥ २२—३१॥

राजा क्रोधरहित होकर ज्ञान-सम्पन्न ब्राह्मणोंके साथ व्यवहारका विचार करे और ऐसे मनुष्योंको सभासद बनाये, जो वेदवेत्ता, लोभरहित और शत्रु एवं मित्रको समान दृष्टिसे देखनेवाले हों। यदि राजा कार्यवश स्वयं व्यवहारका विचार न कर सके तो सभासदोंके साथ विद्वान् ब्राह्मणको नियुक्त करे। यदि सभासद राग, लोभ या भयसे धर्मशास्त्र एवं आचारके विरुद्ध कार्य करे, तो राजा प्रत्येक सभासदपर अलग-अलग विवादसे दुगुना अर्थदण्ड करे। यदि कोई मनुष्य दूसरोंके द्वारा धर्मशास्त्र और समयाचारके विरुद्ध मार्गसे धर्षित किया गया हो और वह राजाके समीप आवेदन करे तो उसको '**व्यवहार**' (पद[1]) कहते हैं। वादीने जो निवेदन किया हो, राजा उसको वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदिसे चिह्नित करके प्रतिवादीके सामने लिख ले। (वादीके आवेदन या बयानको '**भाषा**', '**प्रतिज्ञा**' अथवा '**पक्ष**' कहते हैं।) प्रतिवादी वादीका आवेदन सुनकर उसके सामने ही उसका उत्तर[2] लिखावे। तब वादी उसी समय अपने निवेदनका प्रमाण लिखावे। निवेदनके प्रमाणित हो जानेपर वादी जीतता है, अन्यथा पराजित हो जाता है॥ ३२—३७॥

इस प्रकार विवादमें चार पाद (अंश[3])-से युक्त व्यवहार दिखाया गया है। जबतक अभियुक्तके वर्तमान अभियोगका निर्णय (फैसला) न हो जाय, तबतक उसके ऊपर दूसरे अपराधका मामला न चलाये। जिसपर किसी दूसरेने अभियोग कर दिया हो, उसपर भी कोई वादी दूसरा अभियोग न चलावे। आवेदनके समय जो कुछ कहा गया हो, अपने उस कथनके विपरीत (विरुद्ध) कुछ न कहे। (हिंसा आदि)-का अपराध बन जाय तो पूर्व अभियोगका फैसला होनेके पहले ही मामला चलाया जा सकता है॥ ३८-३९॥

सभासदोंसहित सभापति या प्राड्विवाकको चाहिये कि वह वादी और प्रतिवादी दोनोंके सभी विवादोंमें जो निर्णयका कार्य है, उसके सम्पादनमें समर्थ पुरुषको 'प्रतिभू' बनावे।[4] अर्थीके

१. मिताक्षराकारने व्यवहारके सात अङ्ग बताये हैं। यथा—प्रतिज्ञा, उत्तर, संशय, हेतु-परामर्श, प्रमाण, निर्णय एवं प्रयोजन।

२. उत्तरके चार भेद हैं—'सम्प्रतिपत्ति', 'मिथ्या', 'प्रत्यवस्कन्दन' तथा 'प्राङ्न्याय'। उत्तर वह अच्छा माना गया है, जो पक्षके खण्डनमें समर्थ, न्यायसंगत, संदेहरहित, पूर्वापर-विरोधसे वर्जित तथा सुबोध हो—उसे समझनेके लिये व्याख्या अथवा टीका-टिप्पणी न करनी पड़े।

३. १-भाषापाद, २-उत्तरपाद, ३-क्रियापाद और ४-साध्य-सिद्धिपाद।

४. प्रतिभूके अभावमें वेतन देकर रक्षक-पुरुषोंकी नियुक्ति करनी चाहिये। जैसा कि कात्यायनका कथन है—

अथ चेत् प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोगस्तु वादिनः। स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद् भृत्याय वेतनम्॥

द्वारा लगाये गये अभियोगको यदि प्रत्यर्थीने अस्वीकार कर दिया और अर्थीने गवाही आदि देकर अपने दावेको पुनः उससे स्वीकार करा लिया, तब प्रत्यर्थी अर्थीको अभियुक्त धन दे और दण्डस्वरूप उतना ही धन राजाको भी दे। यदि अर्थी अपने दावेको सिद्ध न कर सका तो स्वयं मिथ्याभियोगी (झूठा मुकदमा चलानेवाला) हो गया; उस दशामें वही अभियुक्त धनराशिसे दूना धन राजाको अर्पित करे॥ ४० $\frac{१}{२}$ ॥

हत्या या डकैती-चोरी, वाक्पारुष्य (गाली-गलौज), दण्डपारुष्य (निर्दयतापूर्वक की हुई मारपीट), दूध देनेवाली गायके अपहरण, अभिशाप (पातकका अभियोग), अत्यय (प्राणघात) एवं धनातिपात तथा स्त्रियोंके चरित्र-सम्बन्धी विवाद प्राप्त होनेपर तत्काल अपराधीसे उत्तर माँगे, विलम्ब न करे। अन्य प्रकारके विवादोंमें उत्तरदानका समय वादी, प्रतिवादी, सभासद् तथा प्राड्विवाककी इच्छाके अनुसार रखा जा सकता है॥ ४१$\frac{१}{२}$ ॥

(दुष्टोंकी पहचान इस प्रकार करे—) अभियोगके विषयमें बयान या गवाही देते समय जो एक जगहसे दूसरी जगह जाता-आता है, स्थिर नहीं रह पाता, दोनों गलफर चाटता है, जिसके भाल-देशमें पसीना हुआ करता है, चेहरेका रंग फीका पड़ जाता है, गला सूखनेसे वाणी अटकने लगती है, जो बहुत तथा पूर्वापर-विरुद्ध बातें कहा करता है, जो दूसरेकी बातका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाता और किसीसे दृष्टि नहीं मिला पाता है, जो ओठ टेढ़े-मेढ़े किया करता है, इस प्रकार जो स्वभावसे ही मन, वाणी, शरीर तथा क्रिया-सम्बन्धी विकारको प्राप्त होता है, वह 'दुष्ट' कहा गया है॥ ४२-४३ $\frac{१}{२}$ ॥

जो संदिग्ध अर्थको, जिसे अधमर्णने अस्वीकार कर दिया है, बिना किसी साधनके मनमाने ढंगसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है तथा जो राजाके बुलानेपर उसके समक्ष कुछ भी नहीं कह पाता है, वह भी हीन और दण्डनीय माना गया है॥ ४४ $\frac{१}{२}$ ॥

दोनों वादियोंके पक्षोंके साधक साक्षी मिलने सम्भव हो तो पूर्ववादीके साक्षियोंसे ही पूछे, अर्थात् उन्हींकी गवाही ले। जो वादीके उत्तरमें यह कहे कि 'मैंने बहुत पहले इस क्षेत्रको दानमें पाया था और तभीसे यह हमारे उपयोगमें है', वही यहाँ पूर्ववादी है; जिसने पहले अभियोग दाखिल किया है, वह नहीं। यदि कोई यह कहे कि 'ठीक है कि यह सम्पत्ति इसे दानमें मिली थी और इसने इसका उपयोग भी किया है, तथापि इसके यहाँसे अमुकने वह क्षेत्र-सम्पत्ति खरीद ली और उसने पुनः इसे मुझको दे दिया' तब पूर्वपक्ष असाध्य होनेके कारण दुर्बल पड़ जाता है। ऐसा होनेपर उत्तरवादीके साक्षी ही प्रष्टव्य हैं; उन्हींकी गवाही ली जानी चाहिये॥ ४५ $\frac{१}{२}$ ॥

यदि विवाद किसी शर्तके साथ किया गया हो, अर्थात् यदि किसीने कहा हो कि 'यदि मैं अपना पक्ष सिद्ध न कर सकूँ तो पाँच सौ पण अधिक दण्ड दूँगा, तब यदि वह पराजित हो जाय तो उसके पूर्वकृत पणरूपी दण्डका धन राजाको दिलवावे। परंतु जो अर्थी धनी है, उसे राजा विवादका आस्पदभूत धन ही दिलवावे'॥ ४६$\frac{१}{२}$ ॥

राजा छल छोड़कर वास्तविकताका आश्रय ले व्यवहारोंका अन्तिम निर्णय करे। यथार्थ वस्तु भी यदि लेखबद्ध न हुई हो तो व्यवहारमें वह पराजयका कारण बनती है। सुवर्ण, रजत और वस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ अर्थीके द्वारा अभियोग-पत्रमें लिखा दी गयी हैं, परंतु प्रत्यर्थी उन सबको अस्वीकार कर देता है, उस दशामें यदि साक्षी आदिके प्रमाणसे एक वस्तुको भी प्रत्यर्थीने स्वीकार कर लिया, तब राजा उससे अभियोग-पत्रमें लिखित सारी वस्तुएँ दिलवाये। यदि कोई वस्तु पहले नहीं लिखायी गयी और बादमें उसकी भी वस्तुसूचीमें चर्चा की गयी हो

तो उसको राजा नहीं दिलवावे। यदि दो स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्र-वचनोंमें परस्पर विरोधकी प्रतीति होती हो तो उस विरोधको दूर करनेके लिये विषय-व्यवस्थापना आदिमें उत्सर्गापवाद-लक्षण न्यायको बलवान् समझना चाहिये। एक वाक्य उत्सर्ग या सामान्य है और दूसरा अपवाद अथवा विशेष है, अतः अपवाद उत्सर्गका बाधक हो जाता है। उस न्यायकी प्रतीति कैसे होगी? व्यवहारसे। अन्वय-व्यतिरेक-लक्षण जो वृद्धव्यवहार है, उससे उक्त न्यायका अवगमन हो जायगा। इस कथनका भी अपवाद है। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रके वचनोंमें विरोध होनेपर अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र ही बलवान् है; यह ऋषि-मुनियोंकी बाँधी मर्यादा है॥ ४७—४९ $\frac{1}{2}$ ॥

(अर्थी या वादी पुरुष सप्रमाण अभियोग-पत्र उपस्थित करे, यह बात पहले कही गयी है। प्रमाण दो प्रकारका होता है—'मानुष-प्रमाण' और 'दैविक-प्रमाण'। 'मानुष-प्रमाण' तीन प्रकारका होता है, वही यहाँ बताया जाता है—) लिखित, भुक्ति और साक्षी—ये तीन 'मानुष-प्रमाण' कहे गये हैं। (लिखितके दो भेद हैं—'शासन' और 'चीरक'। 'शासन'का लक्षण पहले कहा गया है और 'चीरक'का आगे बताया जायगा।) 'भुक्ति'का अर्थ है—उपभोग (कब्जा)। (साक्षियोंके स्वरूप-प्रकार आगे बताये जायँगे।) यदि मानुष-प्रमाणके इन तीनों भेदोंमेंसे एककी भी उपलब्धि न हो तो आगे बताये जानेवाले दिव्य प्रमाणोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करना आवश्यक बताया जाता है॥ ५० $\frac{1}{2}$ ॥

ऋण आदि समस्त विवादोंमें उत्तर क्रिया बलवती मानी गयी है। यदि उत्तर क्रिया सिद्ध कर दी गयी तो उत्तरवादी विजयी होता है और पूर्ववादी अपना पक्ष सिद्ध कर चुका हो तो भी वह हार जाता है। जैसे किसीने सिद्ध कर दिया कि 'अमुकने मुझसे सौ रुपये लिये हैं; अतः वह उतने रुपयोंका देनदार है'; तथापि लेनेवाला यदि यह जवाब लगा दे कि 'मैंने लिया अवश्य था, किंतु अमुक तिथिको सारे रुपये लौटा दिये थे' और यदि उत्तरदाता प्रमाणसे अपना यह कथन सिद्ध कर दे, तो अर्थी या पूर्ववादी पराजित हो जाता है; परंतु 'आधि' (किसी वस्तुको गिरवी रखने), प्रतिग्रह लेने अथवा खरीदनेमें पूर्वक्रिया ही प्रबल होती है। जैसे किसी खेतको उसके मालिकने किसी धनीके यहाँ गिरवी रखकर उससे कुछ रुपये ले लिये। फिर उसी खेतको दूसरेसे भी रुपये लेकर उसने उसके यहाँ गिरवी रख दिया, ऐसे मामलोंमें जहाँ पहले खेतको गिरवी रखा है, उसीका स्वत्व प्रबल माना जायगा, दूसरेका नहीं॥ ५१ $\frac{1}{2}$ ॥

यदि भूमिस्वामीके देखते हुए कोई दूसरा उसकी भूमिका उपभोग करता है और वह कुछ नहीं बोलता तो बीस वर्षोंतक ऐसा होनेपर वह भूमि उसके हाथसे निकल जाती है। इसी प्रकार हाथी, घोड़े आदि धनका कोई दस वर्षतक उपभोग करे और स्वामी कुछ न बोले तो वह उपभोक्ता ही उस धनका स्वामी हो जाता है, पहलेके स्वामीको उस धनसे हाथ धोना पड़ता है॥ ५२ $\frac{1}{2}$ ॥

आधि, सीमा और निक्षेप-सम्बन्धी धनको, जड और बालकोंके धनको तथा उपनिधि, राजा, स्त्री एवं श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके धनको छोड़कर ही पूर्वोक्त नियम लागू होता है, अर्थात् इनके धनका उपभोग करनेपर भी कोई उस धनका स्वामी नहीं हो सकता। आधिसे लेकर श्रोत्रिय-पर्यन्त धनका चिरकालसे उपभोगके बलपर अपहरण करनेवाले पुरुषसे उस विवादास्पद धनको लेकर राजा धनके असली स्वामीको दिलवा दे और अपहरण करनेवालेसे उस धनके बराबर ही दण्डस्वरूप धन राजाको दिलवाया जाय। अथवा अपहरणकर्ताकी शक्तिके अनुसार अधिक या कम

धन भी दण्डके रूपमें लिया जाय। स्वत्वका हेतुभूत जो प्रतिग्रह और क्रय आदि है, उसको 'आगम' कहते हैं। वह 'आगम' भोगकी अपेक्षा भी अधिक प्रबल माना गया है। स्वत्वका बोध करानेके लिये आगमसापेक्ष भोग ही प्रमाण है। परंतु पिता, पितामह आदिके क्रमसे जिस धनका उपभोग चला आ रहा है, उसको छोड़कर अन्य प्रकारके उपभोगमें ही आगमकी प्रबलता है; पूर्व-परम्परा-प्राप्त भोग तो आगमसे भी प्रबल है; परंतु जहाँ थोड़ा-सा भी उपभोग नहीं है, उस आगममें भी कोई बल नहीं है॥ ५३—५५ $\frac{१}{२}$ ॥

विशुद्ध आगमसे भोग प्रमाणित होता है। जहाँ विशुद्ध आगम नहीं है, वह भोग प्रमाणभूत नहीं होता है। जिस पुरुषने भूमि आदिका आगम (अर्जन) किया है, वही 'कहाँसे तुम्हें क्षेत्र आदिकी प्राप्ति हुई'—यह पूछे जानेपर लिखितादि प्रमाणोंद्वारा आगम (प्रतिग्रह आदि जनित अर्जन)-का उद्धार (साधन) करे। (अन्यथा वह दण्डका भागी होता है।) उसके पुत्र अथवा पौत्रको आगमके उद्धारकी आवश्यकता नहीं है। वह केवल भोग प्रमाणित करे। उसके स्वत्वकी सिद्धिके लिये परम्परागत भोग ही प्रमाण है॥ ५६-५७ $\frac{१}{२}$ ॥

जो अभियुक्त व्यवहारका निर्णय होनेसे पहले ही परलोकवासी हो जाय, उसके धनके उत्तराधिकारी पुत्र आदि ही लिखितादि प्रमाणोंद्वारा उसके धनागमका उद्धार (साधन) करें; क्योंकि उस व्यवहार (मामले)-में आगमके बिना केवल भोग प्रमाण नहीं हो सकता॥ ५८ $\frac{१}{२}$ ॥

जो मामले बलात्कारसे अथवा भय आदि उपाधिके कारण चलाये गये हों, उन्हें लौटा दे। इसी प्रकार जिसे केवल स्त्रीने चलाया हो, जो रातमें प्रस्तुत किया गया हो, घरके भीतर घटित घटनासे सम्बद्ध हो अथवा गाँव आदिके बाहर निर्जन स्थानमें किया गया हो तथा किसी शत्रुने अपने द्वेषपात्रपर कोई अभियोग लगाया हो—इस तरहके व्यवहारोंको न्यायालयमें विचारके लिये न ले—लौटा दे॥ ५९ $\frac{१}{२}$ ॥

(अब यह बताते हैं कि किनका चलाया हुआ अभियोग सिद्ध नहीं होता—)जो मादक द्रव्य पीकर मत्त हो गया हो, वात, पित्त, कफ, सन्निपात अथवा ग्रहावेशके कारण उन्मत्त हो, रोग आदिसे पीड़ित हो, इष्टके वियोग अथवा अनिष्टकी प्राप्तिसे दुःखमग्र हो, नाबालिग हो और शत्रु आदिसे डरा हुआ हो, ऐसे लोगोंद्वारा चलाया हुआ व्यवहार 'असिद्ध' माना गया है। जिनका अभियुक्त-वस्तुसे कोई सम्बन्ध न हो, ऐसे लोगोंका चलाया हुआ व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता (विचारणीय नहीं समझा जाता)॥ ६० $\frac{१}{२}$ ॥

यदि किसीका चोरोंद्वारा अपहृत सुवर्ण आदि धन शौल्किक (टैक्स लेनेवाले) तथा स्थानपाल आदि राजकर्मचारियोंको प्राप्त हो जाय और राजाको समर्पित किया जाय तो राजा उसके स्वामी—धनाधिकारीको वह धन लौटा दे। यह तभी करना चाहिये, जब धनका स्वामी खोयी हुई वस्तुके रूप, रंग और संख्या आदि चिह्न बताकर उसपर अपना स्वत्व सिद्ध कर सके। यदि वह चिह्नोंद्वारा उस धनको अपना सिद्ध न कर सके तो मिथ्यावादी होनेके कारण उससे उतना ही धन दण्डके रूपमें वसूल करना चाहिये॥ ६१ $\frac{१}{२}$ ॥

राजाको चाहिये कि वह चोरोंद्वारा चुराया हुआ द्रव्य उसके अधिकारी राज्यके नागरिकको लौटा दे। यदि वह नहीं लौटाता है तो जिसका वह धन है, उसका सारा पाप राजा अपने ऊपर ले लेता है॥ ६२॥

(अब ऋणादान-सम्बन्धी व्यवहारपर विचार करते हैं—) यदि कोई वस्तु बन्धक रखकर ऋण लिया जाय तो ऋणमें लिये हुए धनका $\frac{१}{८०}$ भाग प्रतिमास ब्याज धर्मसंगत होता है; अन्यथा

बन्धकरहित ऋण देनेपर ब्राह्मणादि वर्णोंके क्रमसे प्रतिशत कुछ-कुछ अधिक ब्याज लेना भी धर्मसम्मत है। अर्थात् ब्राह्मणसे जितना ले क्षत्रियसे, वैश्यसे और शूद्रसे क्रमश: उससे कुछ-कुछ अधिक प्रतिशत सूद या वृद्धिकी रकम ली जा सकती है॥ ६३॥

ऋणके रूपमें प्रयुक्त मादा पशुओंके लिये वृद्धिके रूपमें उसकी संतति ही ग्राह्य है। तेल, घी आदि रसद्रव्य किसीके यहाँ चिरकालतक रह गया और बीचमें यदि उसकी वृद्धि (सूद—वृद्धिकी रकम) नहीं ली गयी तो वह बढ़ते-बढ़ते आठगुनातक हो सकती है। इससे आगे उसपर वृद्धि नहीं लगायी जाती। इसी प्रकार वस्त्र, धान्य तथा सुवर्ण—इनकी क्रमश: चौगुनी, तिगुनी और दुगुनीतक वृद्धि हो सकती है, इससे आगे नहीं॥ ६४॥

व्यापारके लिये दुर्गम वनप्रदेशको लाँघकर यात्रा करनेवाले लोग ऋणदाताको दस प्रतिशत ब्याज दें और जो समुद्रकी यात्रा करनेवाले हैं, वे बीस प्रतिशत वृद्धि प्रदान करें। अथवा सभी वर्णके लोग अबन्धक या सबन्धक ऋणमें अपने लिये धनके स्वामीद्वारा नियत की हुई वृद्धि सभी जातियोंके लिये दें॥ ६५॥

ऋण लेनेवाले पुरुषने पहले जो धन लिया है और जो साक्षी आदिके द्वारा प्रमाणित है, उसको वसूल करनेवाला धनी राजाके लिये वाच्य (निवारणीय) नहीं होता; अर्थात् राजा उस न्यायसंगत धनको वसूल करनेसे उस ऋणदाताको न रोके। (यदि वह अप्रमाणित या अदत्त धनकी वसूली करता है तो वह अवश्य राजाके द्वारा निवारणीय है।) जो पूर्वोक्त रूपसे न्यायसंगत धनकी वसूली करनेपर भी ऋणदाताके विरुद्ध शिकायत लेकर राजाके पास जाय, वह राजाके द्वारा दण्ड पानेके योग्य है। राजा उससे वह धन अवश्य दिलवावे॥ ६६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'व्यवहारकथन' नामक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५३॥

दो सौ चौवनवाँ अध्याय

ऋणादान तथा उपनिधि-सम्बन्धी विचार

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यदि ऋण लेनेवाले पुरुषके अनेक ऋणदाता साहु हों और वे सब-के-सब एक ही जातिके हों तो राजा उन्हें ग्रहणक्रमके अनुसार ऋण लेनेवालेसे धन दिलवावे। अर्थात् जिस धनीने पहले ऋण दिया हो, उसे पहले और जिसने बादमें दिया हो, उसे बादमें ऋणग्राही पुरुष ऋण लौटाये। यदि ऋणदाता धनी अनेक जातिके हों तो ऋणग्राही पुरुष सबसे पहले ब्राह्मण-धनीको धन देकर उसके बाद क्षत्रिय आदिको देय-धन अर्पित करे। राजाको चाहिये कि वह ऋण लेनेवालेसे उसके द्वारा गृहीत धनके प्रमाणद्वारा सिद्ध हो जानेपर दस प्रतिशत धन दण्डके रूपमें वसूल करे तथा जिसने अपना धन वसूल कर लिया है, उस ऋणदाता पुरुषसे पाँच प्रतिशत धन ग्रहण कर ले और उस धनको न्यायालयके कर्मचारियोंके भरण-पोषणमें लगावे॥ १-२॥

यदि ऋण लेनेवाला पुरुष ऋणदाताकी अपेक्षा हीन जातिका हो और निर्धन होनेके कारण ऋणकी अदायगी न कर सके, तब ऋणदाता उससे उसके अनुरूप कोई काम करा ले और इस प्रकार उस ऋणका भुगतान कर ले। यदि ऋण लेनेवाला ब्राह्मण हो और वह भी निर्धन हो गया हो तो उससे कोई काम न लेकर उसे अवसर देना चाहिये और धीरे-धीरे जैसे-जैसे

उसके पास आय हो, वैसे-वैसे (उसके कुटुम्बको कष्ट दिये बिना) ऋणकी वसूली करे। जो वृद्धिके लिये ऋणके रूपमें दिये हुए अपने धनको लोभवश ऋणग्राहीके लौटानेपर भी नहीं लेता है, उसके देय-धनको यदि किसी मध्यस्थके यहाँ रख दिया जाय तो उस दिनसे उसपर वृद्धि नहीं होती— ब्याज नहीं बढ़ता; परन्तु उस रखे हुए धनको भी ऋणदाताके माँगनेपर न दिया जाय तो उसपर पूर्ववत् ब्याज बढ़ता ही रहता है॥ ३-४॥

दूसरेका द्रव्य जब खरीद आदिके बिना ही अपने अधिकारमें आता है तो उसे 'रिक्थ' कहते हैं। विभागद्वारा जो उस रिक्थको ग्रहण करता है, वह 'रिक्थग्राह' कहलाता है। जो जिसके द्रव्यको रिक्थके रूपमें ग्रहण करता है, उसीसे उसके ऋणको भी दिलवाया जाना चाहिये। उसी तरह जो जिसकी स्त्रीको ग्रहण करता है, वही उसका ऋण भी दे। रिक्थ-धनका स्वामी यदि पुत्रहीन है तो उसका ऋण वह कृत्रिम पुत्र चुकावे, जो एकमात्र उसीके धनपर जीवन-निर्वाह करता है। संयुक्त परिवारमें समूचे कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये एक साथ रहनेवाले बहुत-से लोगोंने या उस कुटुम्बके एक-एक व्यक्तिने जो ऋण लिया हो, उसे उस कुटुम्बका मालिक दे। यदि वह मर गया या परदेश चला गया तो उसके धनके भागीदार सभी लोग मिलकर वह ऋण चुकावें। पतिके किये हुए ऋणको स्त्री न दे, पुत्रके किये हुए ऋणको माता न दे, पिता भी न दे तथा स्त्रीके द्वारा किये गये ऋणको पति न दे; किंतु यह नियम समूचे कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये किये गये ऋणपर लागू नहीं होता है। ग्वाले, शराब बनानेवाले, नट, धोबी तथा व्याधकी स्त्रियोंने जो ऋण लिया हो, उसे उनके पति अवश्य दें; क्योंकि उनकी वृत्ति (जीविका) उन स्त्रियोंके ही अधीन होती है। यदि पति मुमूर्षु हो या परदेश जानेवाला हो, उसके द्वारा नियुक्त स्त्रीने जो ऋण लिया हो, वह भी यद्यपि पतिका ही किया हुआ ऋण है, तथापि उसे पत्नीको चुकाना होगा; अथवा पतिके साथ रहकर भार्याने जो ऋण किया हो, वह भी पति और पुत्रके अभावमें उस भार्याको ही चुकाना होगा; जो ऋण स्त्रीने स्वयं किया हो, उसकी देनदार तो वह है ही। इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारके पतिकृत ऋणको चुकानेका भार स्त्रीपर नहीं है॥ ५—९॥

यदि पिता ऋण करके बहुत दूर परदेशमें चला गया, मर गया अथवा किसी बड़े भारी संकटमें फँस गया तो उसके ऋणको पुत्र और पौत्र चुकावें। (पिताके अभावमें पुत्र और पुत्रके अभावमें पौत्र उस ऋणकी अदायगी करे।) यदि वे अस्वीकार करें तो अर्थी न्यायालयमें अभियोग उपस्थित करके साक्षी आदिके द्वारा उस ऋणकी यथार्थता प्रमाणित कर दे। उस दशामें तो पुत्र-पौत्रोंको वह ऋण देना ही पड़ेगा। जो ऋण शराब पीनेके लिये लिया गया हो, परस्त्री-लम्पटताके कारण कामभोगके लिये किया गया हो, जूएमें हारनेपर जो ऋण लिया गया हो, जो धन दण्ड और शुल्कका शेष रह गया हो तथा जो व्यर्थका दान हो, अर्थात् धूर्तों और नट आदिको देनेके लिये किया गया हो, इस तरहके पैतृक ऋणको पुत्र कदापि न दे। भाइयोंके, पति-पत्नीके तथा पिता-पुत्रके अविभक्त धनमें 'प्रातिभाव्य' ऋण और साक्ष्य नहीं माना गया है॥ १०—१२॥

विश्वासके लिये किसी दूसरे पुरुषके साथ जो समय—शर्त या मर्यादा निश्चित की जाती है, उसका नाम है—'प्रातिभाव्य'। वह विषय-भेदसे तीन प्रकारका होता है। जैसे—(१) दर्शनविषयक प्रातिभाव्य। अर्थात् कोई दूसरा पुरुष यह उत्तरदायित्व ले कि जब-जब आवश्यकता होगी, तब-तब इस व्यक्तिको मैं न्यायालयके सामने उपस्थित कर दूँगा अर्थात् दिखाऊँगा—हाजिर कर दूँगा।

('दर्शन-प्रतिभू' को आजकलकी भाषामें 'हाजिर-जामिन' कहते हैं।) (२) प्रत्ययविषयक प्रातिभाव्य। 'प्रत्यय' कहते हैं विश्वासको 'विश्वास-प्रतिभू' को 'विश्वास-जामिन' कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि 'आप मेरे विश्वासपर इसको धन दीजिये, यह आपको ठगेगा नहीं; क्योंकि यह अमुकका बेटा है। इसके पास उपजाऊ भूमि है और इसके अधिकारमें एक बड़ा-सा गाँव भी है' इत्यादि। (३) दानविषयक प्रातिभाव्य। 'दान-प्रतिभू' को 'माल-जामिन' कहते हैं। 'दान-प्रतिभू' यह जिम्मेदारी लेता है कि 'यदि यह लिया हुआ धन नहीं देगा तो मैं स्वयं ही अपने पाससे दूँगा'— इत्यादि। इस प्रकार दर्शन (उपस्थिति), प्रत्यय (विश्वास) तथा दान (वसूली)- के लिये प्रातिभाव्य किया जाता है—जामिन देनेकी आवश्यकता पड़ती है। इनमेंसे प्रथम दो, अर्थात् 'दर्शन-प्रतिभू' और 'विश्वास-प्रतिभू'—इनकी बात झूठी होनेपर, स्वयं धनी ऋण चुकानेके लिये विवश है, अर्थात् राजा उनसे धनीको वह धन अवश्य दिलवावे; परंतु जो तीसरा 'दान-प्रतिभू' है, उसकी बात झूठी होनेपर वह स्वयं तो उस धनको लौटानेका अधिकारी है ही, किंतु यदि वह बिना लौटाये ही विलुप्त हो जाय तो उसके पुत्रोंसे भी उस धनकी वसूली की जा सकती है। जहाँ 'दर्शन-प्रतिभू' अथवा 'विश्वास-प्रतिभू' परलोकवासी हो जायँ, वहाँ उनके पुत्र उनके दिलाये हुए ऋणको न दें; परंतु जो स्वयं लौटा देनेके लिये जिम्मेदारी ले चुका है, वह 'दान-प्रतिभू' यदि मर जाय तो उसके पुत्र अवश्य उसके दिलाये हुए ऋणको दें। यदि एक ही धनको दिलानेके लिये बहुत-से प्रतिभू (जामिनदार) बन गये हों, तो उस धनके न मिलनेपर वे सभी उस ऋणको बाँटकर अपने-अपने अंशसे चुकावें। यदि सभी प्रतिभू एक-से ही हों, अर्थात् जैसे ऋणग्राही सम्पूर्ण धन लौटानेको उद्यत रहा है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रतिभू यदि सम्पूर्ण धन लौटानेके लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो तो धनी पुरुष अपनी रुचिके अनुसार उनमेंसे किसी एकसे ही अपना सारा धन वसूल कर सकता है। ऋण देनेवाले धनीके द्वारा दबाये जानेपर प्रतिभू राजाके आदेशसे सबके सामने उस धनीको जो धन देता है, उससे दूना धन ऋण लेनेवाले लोग उस प्रतिभूको लौटावें॥ १३—१६॥

मादा पशुओंको यदि ऋणके रूपमें दिया गया हो तो उस धनकी वृद्धिके रूपमें केवल उनकी संतति ली जा सकती है। धान्यकी अधिक-से-अधिक वृद्धि तीनगुनेतक मानी गयी है। वस्त्र वृद्धिके क्रमसे बढ़ता हुआ चौगुना तथा रस (घी, तेल आदि) अधिक-से-अधिक आठगुनातक हो सकता है। यदि कोई वस्तु बन्धक रखकर ऋण लिया गया हो और उस ऋणकी रकम ब्याजके द्वारा बढ़ते-बढ़ते दूनी हो गयी हो, उस दशामें भी ऋणग्राही यदि सारा धन लौटाकर उस वस्तुको छुड़ा नहीं लेता है, तो वह वस्तु नष्ट हो जाती है—उसके हाथसे निकलकर ऋणदाताकी अपनी वस्तु हो जाती है। जो धन समय-विशेषपर लौटानेकी शर्तपर लिया जाता है और उसके लिये कोई जेवर आदि बन्धक रखा जाता है, वह समय बीत जानेपर वह बन्धक नष्ट हो जाता है, फिर वापस नहीं मिलता। परंतु जिसका फलमात्र भोगनेके योग्य होता है, वह बगीचा या खेत आदि बन्धकके रूपमें रखा गया हो तो वह कभी नष्ट नहीं होता; उसपर मालिकका स्वत्व बना ही रहता है॥ १७-१८॥

यदि कोई गोपनीय आधि (बन्धकमें रखी हुई वस्तु—ताँबेकी कराही आदि) ऋणदाताके उपभोगमें आये तो उसपर दिये हुए धनके लिये ब्याज नहीं लगाया जा सकता। यदि बन्धकमें

कोई उपकारी प्राणी (बैल आदि) रखा गया हो और उसके काम लेकर उसकी शक्ति क्षीण कर दी गयी हो तो उसपर दिये गये ऋणके ऊपर वृद्धि नहीं जोड़ी जा सकती। यदि बन्धककी वस्तु नष्ट हो जाय—टूट-फूट जाय तो उसे ठीक कराकर लौटाना चाहिये और यदि वह सर्वथा विलुप्त (नष्ट) हो जाय तो उसके लिये भी उचित मूल्य आदि देना चाहिये। यदि दैव अथवा राजाके प्रकोपसे वह वस्तु नष्ट हुई हो तो उसपर उक्त नियम लागू नहीं होता। उस दशामें ऋणग्राही धनीको वृद्धिसहित धन लौटाये अथवा वृद्धि रोकनेके लिये दूसरी कोई वस्तु बन्धक रखे। 'आधि' चाहे गोप्य हो या भोग्य, उसके स्वीकार (उपभोग)-मात्रसे आधि-ग्रहणकी सिद्धि हो जाती है। उस आधिकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनेपर भी यदि वह कालवश निस्सार हो जाय—वृद्धिसहित मूलधनके लिये पर्याप्त न रह जाय तो ऋणग्राहीको दूसरी कोई वस्तु आधिके रूपमें रखनी चाहिये अथवा धनीको उसका धन लौटा देना चाहिये॥ १९-२०॥

सदाचारको ही बन्धक मानकर उसके द्वारा जो द्रव्य अपने या दूसरेके अधीन किया जाता है, उसको 'चरित्र-बन्धककृत' धन कहते हैं*। ऐसे धनको ऋणग्राही वृद्धिसहित धनीको लौटावे या राजा ऋणग्राहीसे धनीको वृद्धिसहित वह धन दिलवाये। यदि 'सत्यङ्कारकृत' द्रव्य बन्धक रखा गया हो तो धनीको द्विगुण धन लौटाना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि बन्धक रखते समय ही यह बात कह दी गयी हो कि 'ऋणकी रकम बढ़ते-बढ़ते दूनी हो जाय तो भी मैं दूना द्रव्य ही दूँगा। मेरी बन्धक रखी हुई वस्तुपर धनीका अधिकार नहीं होगा'—इस शर्तके साथ जो ऋण लिया गया हो वह 'सत्यङ्कारकृत' द्रव्य कहलाता है। इसका एक दूसरा स्वरूप भी है। क्रय-विक्रय आदिकी व्यवस्था (मर्यादा)-के निर्वाहके लिये जो दूसरेके हाथमें कोई आभूषण इस शर्तके साथ समर्पित किया जाता है कि व्यवस्था-भङ्ग करनेपर दुगुना धन देना होगा, उस दशामें जिसने वह भूषण अर्पित किया है, यदि वही व्यवस्था भङ्ग करे तो उसे वह भूषण सदाके लिये छोड़ देना पड़ेगा। यदि दूसरी ओरसे व्यवस्था भङ्ग की गयी तो उसे उस भूषणको द्विगुण करके लौटाना होगा। यह भी 'सत्यङ्कारकृत' ही द्रव्य है। यदि धन देकर बन्धक छुड़ानेके लिये ऋणग्राही उपस्थित हो तो धनदाताको चाहिये कि वह उसका बन्धक लौटा दे। यदि सूदके लोभसे वह बन्धक लौटानेमें आनाकानी करता या विलम्ब लगाता है तो वह चोरकी भाँति दण्डनीय है। यदि धन देनेवाला कहीं दूर चला गया हो तो उसके कुलके किसी विश्वसनीय व्यक्तिके हाथमें वृद्धिसहित मूलधन रखकर ऋणग्राही अपना बन्धक वापस ले सकता है। अथवा उस समयतक उस बन्धकको छुड़ानेका जो मूल्य हो, वह निश्चित करके उस बन्धकको धनीके लौटनेतक उसीके यहाँ रहने दे, उस दशामें उस धनपर आगे कोई वृद्धि नहीं लगायी जा सकती। यदि ऋणग्राही दूर चला गया हो और नियत समयतक न लौटे तो धनी ऋणग्राहीके विश्वसनीय पुरुषों और गवाहोंके साथ उस बन्धकको बेचकर अपना प्राप्तव्य धन ले ले (यदि पहले बताये अनुसार ऋण लेते समय ही केवल द्रव्य लौटानेकी शर्त हो गयी हो, तब बन्धकको नहीं बेचा या नष्ट किया जा सकता है)। जब किया

* जैसे धनीके सदाचारसे प्रभावित हो ऋणग्राही बहुत अधिक मूल्यकी वस्तु उसके यहाँ बन्धक रखकर स्वल्प ही ऋण लेता है, उसे यह विश्वास है कि धनी मेरी बहुमूल्य वस्तु नष्ट नहीं करेगा; इसी प्रकार ऋणग्राहीके सद्भावपर विश्वास रखकर धनी स्वल्प मूल्यकी वस्तु बन्धकके तौरपर लेकर अधिक धन ऋणमें दे देता है, अथवा कुछ भी बन्धक न रखकर पर्याप्त ऋण दे देता है, ये सब 'चरित्रबन्धककृत' धनकी श्रेणीमें आते हैं।

हुआ ऋण अपनी वृद्धिके क्रमसे दूना होकर आधिपर चढ़ जाय और धनिकको आधिसे दूना धन प्राप्त हो गया हो तो वह आधिको छोड़ दे। (ऋणग्राहीको लौटा दे)॥ २१—२४॥

'उपनिधि-प्रकरण'—यदि निक्षेप-द्रव्यके आधारभूत वासन या पेटी आदिमें धरोहरकी वस्तु रखकर उसे सील-मोहरसहित बन्द करके वस्तुका स्वरूप या संख्या बताये बिना ही विश्वास करके किसी दूसरेके हाथमें रक्षाके लिये उसे दिया जाता है तो उसे 'उपनिधि-द्रव्य' कहते हैं। उसे स्थापकके माँगनेपर ज्यों-का-त्यों लौटा देना चाहिये[१]। यदि उपनिधिकी वस्तु राजाने बलपूर्वक ले ली हो या दैवी बाधा (आग लगने आदि)-से नष्ट हुई हो, अथवा उसे चोर चुरा ले गये हों तो जिसके यहाँ वह वस्तु रखी गयी थी, उसको वह वस्तु देने या लौटानेके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि स्वामीने उस वस्तुको माँगा हो और धरोहर रखनेवालेने नहीं दिया हो, उस दशामें यदि राजा आदिकी बाधासे उस वस्तुका नाश हुआ हो तो रखनेवाला उस वस्तुके अनुरूप मूल्य मालधनीको देनेके लिये विवश किया जा सकता है और राजाको उससे उतना ही दण्ड दिलाया जाय। जो मालधनीकी अनुमति लिये बिना स्वेच्छासे उपनिधिकी वस्तुको भोगता या उससे व्यापार करता है, वह दण्डनीय है। यदि उसने उस वस्तुका उपभोग किया है तो वह सूदसहित उस वस्तुको लौटाये और यदि व्यापारमें लगाकर लाभ उठाया है तो लाभसहित वह वस्तु मालधनीको लौटाये और उतना ही दण्ड राजाको दे। याचित[२], अन्वाहित[३], न्यास[४] और निक्षेप[५] आदिमें यह उपनिधि-सम्बन्धी विधान ही लागू होता है॥ २५—२८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'व्यवहारका कथन' नामक दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५४॥

दो सौ पचपनवाँ अध्याय

साक्षी, लेखा तथा दिव्यप्रमाणोंके विषयमें विवेचन

'साक्षी-प्रकरण'

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! तपस्वी, कुलीन, दानशील, सत्यवादी, कोमलहृदय, धर्मात्मा, पुत्रयुक्त, धनी, पञ्चयज्ञ आदि वैदिक क्रियाओंसे युक्त अपनी जाति और वर्गके पाँच या तीन साक्षी होने चाहिये। अथवा सभी मनुष्य सबके साक्षी हो सकते हैं; किंतु स्त्री, बालक, वृद्ध, जुआरी, मत्त (शराब आदि पीकर मतवाला), उन्मत्त (भूत या ग्रहके आवेशसे युक्त), अभिशस्त (पातकी), रंगमञ्चपर उतरनेवाला चारण, पाखण्डी, कूटकारी (जालसाज), विकलेन्द्रिय (अंधा, बहरा आदि), पतित, आप्त (मित्र या सगे-सम्बन्धी), अर्थ-

१. जो वस्तु बिना गिनती या स्वरूप बताये सील-मोहर करके धरोहर रखी जाती है, उसे 'उपनिधि' समझे और जो गिनकर, दिखाकर रखी जाती है, उसे 'निक्षेप' माना जाता है। जैसा कि नारदका वचन है—

'असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते। तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः॥'

२. विवाह आदि उत्सवोंमें मँगनीके तौरपर माँगकर लाये हुए वस्त्र और आभूषण आदिको 'याचित' कहते हैं।

३. एकके हाथमें रखी हुई वस्तुको वहाँसे लेकर दूसरेके हाथमें रखी जाय तो उसे 'अन्वाहित' कहते हैं।

४. घरके मालिकके परोक्षमें ही घरवालोंके हाथमें जो धरोहरकी वस्तु यह कहकर दी जाती है कि गृहस्वामीके आनेपर उन्हें यह वस्तु दे दी जाय तो उसको 'न्यास' कहते हैं।

५. सबके सामने गिनकर, दिखाकर जो वस्तु धरोहर रखी जाती है, उसका नाम 'निक्षेप' है।

सम्बन्धी (विवादास्पद अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला), सहायक, शत्रु, चोर, साहसी (दुस्साहसपूर्ण कार्य करनेवाला), दृष्टदोष (जिसका पूर्वापर-विरुद्ध बोलनेका स्वभाव देखा गया हो, वह) तथा निर्धूत (भाई-बन्धुओंसे परित्यक्त) आदि साक्षी बनानेयोग्य नहीं हैं। वादी और प्रतिवादी—दोनोंके मान लेनेपर एक भी धर्मवेत्ता पुरुष साक्षी हो सकता है। किसी स्त्रीको बलपूर्वक पकड़ लेना, चोरी करना, किसीको कटुवचन सुनाना या कठोर दण्ड देना तथा हत्या आदि दुःसाहसपूर्ण कार्य करना—इन अपराधोंमें सभी साक्षी बनाये जा सकते हैं॥ १—५॥

जो मनुष्य साक्षी होना स्वीकार करके तीन पक्षके भीतर गवाही नहीं देता है, राजा छियालीसवें दिन उससे सारा ऋण सूदसहित वादीको दिलावे और अपना दशांश भाग भी उससे वसूल करे। जो नराधम जानते हुए भी साक्षी नहीं होता, वह कूटसाक्षी (झूठी गवाही देनेवालों)-के समान दण्ड और पापका भागी होता है। न्यायाधिकारी वादी एवं प्रतिवादीके समीप-स्थित साक्षियोंको यह वचन सुनावे—'पातकियों और महापातकियोंको तथा आग लगानेवालों और स्त्री एवं बालकोंकी हत्या करनेवालोंको जो लोक (नरक) प्राप्त होते हैं, झूठी गवाही देनेवाला मनुष्य उन सभी लोकों (नरकों)-को प्राप्त होता है। तुमने सैकड़ों जन्मोंमें जो कुछ भी पुण्य अर्जित किया है, वह सब उसीको प्राप्त हुआ समझो, जिसे तुम असत्यभाषणसे पराजित करोगे।' साक्षियोंकी बातोंमें द्विविधा (परस्पर विरुद्धभाव) हो तो उनमेंसे बहुसंख्यक साक्षियोंका वचन ग्राह्य होता है। यदि समान संख्यावाले साक्षियोंकी बातोंमें विरोध हो, अर्थात् जहाँ दो एक तरहकी बात कहते हों और दो दूसरे तरहकी बात, वहाँ गुणवानोंकी बातको प्रमाण मानना चाहिये। यदि गुणवानोंकी बातोंमें भी विरोध उपस्थित हो तो उनमें जो सबसे अधिक गुणवान् हो, उसकी बातको विश्वसनीय एवं ग्राह्य माने। साक्षी जिसकी प्रतिज्ञा (दावा)-को सत्य बतायें, वह विजयी होता है। वे जिसके दावेको मिथ्या बतलायें, उसकी पराजय निश्चित है॥ ६—११ $\frac{1}{2}$॥

साक्षियोंके साक्ष्य देनेपर भी यदि गुणोंमें इनसे श्रेष्ठ अन्य पुरुष अथवा पूर्वसाक्षियोंसे दुगुने साक्षी उनके साक्ष्यको असत्य बतलावें तो पूर्वसाक्षी कूट (झूठे) माने जाते हैं। उन लोगोंको, जो कि धनका प्रलोभन देकर गवाहोंको झूठी गवाही देनेके लिये तैयार करते हैं तथा जो उनके कहनेसे झूठी गवाही देते हैं, उनको भी पृथक्-पृथक् दण्ड दे। विवादमें पराजित होनेपर जो दण्ड बताया गया है, उससे दूना दण्ड झूठी गवाही दिलानेवाले और देनेवालेसे वसूल करना चाहिये। यदि दण्डका भागी ब्राह्मण हो तो उसे देशसे निकाल देना चाहिये। जो अन्य गवाहोंके साथ गवाही देना स्वीकार करके, उसका अवसर आनेपर रागादि दोषोंसे आक्रान्त हो अपने साक्षीपनको दूसरे साक्षियोंसे अस्वीकार करता है, अर्थात् यह कह देता है कि 'मैं इस मामलेमें साक्षी नहीं हूँ', वह विवादमें पराजय प्राप्त होनेपर जो नियत दण्ड है, उससे आठगुना दण्ड देनेका अधिकारी है। उससे उतना दण्ड वसूल करना चाहिये। परंतु जो ब्राह्मण उतना दण्ड देनेमें असमर्थ हो, उसको देशसे निर्वासित कर देना चाहिये। जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रके वधकी सम्भावना हो, वहाँ (उनके रक्षार्थ) साक्षी झूठ बोले (कदापि सत्य न कहे। यदि किसी हत्यारेके विरुद्ध गवाही देनी हो तो सत्य ही कहना चाहिये)॥ १२—१५॥

लेखा-प्रकरण

धनी और अधमर्ण (साहु और खदुका)-के बीच जो सुवर्ण आदि द्रव्य परस्पर अपनी ही रुचिसे इस शर्तके साथ कि 'इतने समयमें इतना

देना है और प्रतिमास इतनी वृद्धि चुकानी है', व्यवस्थापूर्वक रखा जाता है, उस अर्थको लेकर कालान्तरमें कोई मतभेद या विवाद उपस्थित हो जाय तो उसमें वास्तविक तत्त्वका निर्णय करनेके लिये कोई लेखापत्र तैयार कर लेना चाहिये। उसमें पूर्वोक्त योग्यतावाले साक्षी रहें और धनी (साहु)-का नाम भी पहले लिखा गया हो। लेखामें संवत्, मास, पक्ष, दिन, तिथि, साहु और खदुकाके नाम, जाति तथा गोत्रके उल्लेखके साथ-साथ शाखा-प्रयुक्त गौण नाम (बह्वृच, कठ आदि) तथा धनी और ऋणीके अपने-अपने पिताके नाम आदि लिखे रहने चाहिये। लेखामें वाञ्छनीय विषयका उल्लेख पूर्ण हो जानेपर ऋण लेनेवाला अपने हाथसे लेखापर यह लिख दे कि 'अमुकका पुत्र मैं अमुक इस लेखामें जो लिखा गया है, उससे सहमत हूँ।' तदनन्तर साक्षी भी अपने हाथसे यह लिखे कि 'आज मैं अमुकका पुत्र अमुक इस लेखाका साक्षी होता हूँ।' साक्षी सदा समसंख्या (दो या चार)-में होने चाहिये। लिपिज्ञानशून्य ऋणी अपनी सम्मति किसी दूसरे व्यक्तिसे लिखवा ले और अपढ़ साक्षी अपना मत सब साक्षियोंके समीप दूसरे साक्षीसे लिखवाये। अन्तमें लेखक (कातिब) यह लिख दे कि 'आज अमुक धनी और अमुक ऋणीके कहनेपर अमुकके पुत्र मुझ अमुकने यह लेखा लिखा।' साक्षियोंके न होनेपर भी ऋणीके हाथका लिखा हुआ लेखा पूर्ण प्रमाण माना जाता है, किंतु वह लेखा बल अथवा छलके प्रयोगसे लिखवाया गया न हो। लेखा लिखकर लिया हुआ ऋण तीन पीढ़ियोंतक ही देय होता है, परंतु बन्धककी वस्तु तबतक धनीके उपभोगमें आती है, जबतक कि लिया हुआ ऋण चुका नहीं दिया जाता है। यदि लेखापत्र देशान्तरमें हो, उसकी लिखावट दोषपूर्ण अथवा संदिग्ध हो, नष्ट हो गया हो, घिस गया हो, अपहृत हो गया हो, छिन्न-भिन्न अथवा दग्ध हो गया हो, तब धनी ऋणीकी अनुमतिसे दूसरा लेखा तैयार करवावे। संदिग्ध लेखकी शुद्धि स्वहस्तलिखित आदिसे होती है, अर्थात् लेखक अपने हाथसे दूसरा लेखा लिखकर दिखावे। जब दोनोंके अक्षर समान हों, तब संदेह दूर हो जाता है। 'आदि' पदसे यह सूचित किया गया है कि साक्षी और लेखकसे दूसरा कुछ लिखवाकर यह देखा जाय कि दोनों लेखोंके अक्षर मिलते हैं या नहीं। यदि मिलते हों तो पूर्वलेखाके शुद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता है। युक्तिप्राप्ति[१], क्रिया[२], चिह्न[३], सम्बन्ध[४] और आगम[५]—इन हेतुओंसे भी लेखाकी शुद्धि होती है। ऋणी जब-जब ऋणका धन धनीको दे, तब-तब लेखापत्रकी पीठपर लिख दिया करे। अथवा धनी जब-जब जितना धन पावे, तब-तब अपने हाथसे लेखाकी पीठपर उसको लिखकर अङ्कित कर दे। ऋणी जब ऋण चुका दे तो लेखाको फाड़ डाले, अथवा (लेखा किसी दुर्गम स्थानमें हो या नष्ट हो गया, तो) ऋणशुद्धिके लिये धनीसे भरपाई लिखवा ले। यदि लेखापत्रमें साक्षियोंका उल्लेख हो तो उनके सामने ऋण चुकावे॥ १६—२७॥

दिव्य-प्रकरण

तुला, अग्नि, जल, विष तथा कोष—ये पाँच दिव्य प्रमाण धर्मशास्त्रमें कहे गये हैं, जो संदिग्ध अर्थके निर्णय अथवा संदेहकी निवृत्तिके लिये देने चाहिये। जब अभियोग बहुत बड़े हों और अभियोक्ता परले सिरेपर, अर्थात् व्यवहारके जय-

१. इस देशमें इस कालमें इस पुरुषके पास इतने द्रव्यका होना सम्भव है—इसे 'युक्तिप्राप्ति' कहते हैं।
२. साक्षियोंका उल्लेख 'क्रिया' है।
३. असाधारण लिङ्ग—जैसे 'श्री', 'ओम्' आदिका उल्लेख 'चिह्न' कहलाता है।
४. अर्थी और प्रत्यर्थी—दोनोंमें पहले भी परस्पर विश्वासपूर्वक देन-लेनका व्यवहार होना 'सम्बन्ध' है।
५. इस व्यक्तिको इतने धनकी प्राप्तिका उपाय सम्भावनासे परे नहीं है, यह निर्णय 'आगम' कहलाता है।

पराजय-लक्षण चतुर्थपादमें पहुँच गया हो, तभी इन दिव्य-प्रमाणोंका आश्रय लेना चाहिये। वादी और प्रतिवादी—दोनोंमेंसे कोई एक परस्पर बातचीत करके, स्वीकृति देकर अपनी रुचिके अनुसार दिव्य-प्रमाणके लिये प्रस्तुत हो और दूसरा सम्भावित शारीरिक या आर्थिक दण्डके लिये तैयार रहे। राजद्रोह या महापातकका संदेह होनेपर शीर्षक स्थितिमें आये बिना भी तुला आदि दिव्य-प्रमाणोंको स्वीकार करे। एक हजार पणसे कमके अभियोगमें अग्नि, विष और तुला—इन दिव्य प्रमाणोंको ग्रहण न करावे; किंतु राजद्रोह और महापातकके अभियोगमें सत्पुरुष सदा इन्हीं प्रमाणोंका वहन करे। सहस्र पणके अभियोगमें तुला आदि तीन दिव्य-प्रमाणोंको प्रस्तुत करे, किंतु अल्प अभियोगमें भी कोश कराये। शपथ ग्रहण करनेवालेके शुद्ध प्रमाणित होनेपर उसे वादीसे पचास पण दिलावे और दोषी प्रमाणित होनेपर उसे दण्ड दे। न्यायाधिकारी दिव्य-प्रमाणके लिये प्रस्तुत मनुष्यको पहले दिन उपवास करवाये तथा दूसरे दिन सूर्योदयके समय वस्त्रसहित स्नान कर लेनेपर बुलाये। फिर राजा और ब्राह्मणोंके सम्मुख उससे सभी दिव्य-प्रमाण ग्रहण करावे। किसी भी जाति अथवा वयकी स्त्री, किसी भी जातिका सोलह वर्षकी अवस्थासे कमका बालक, कम-से-कम अस्सी वर्षकी अवस्थाका बूढ़ा, अन्ध (नेत्रहीन), पङ्गु (पादरहित), जातिमात्रका ब्राह्मण तथा रोगी—इन सबकी शुद्धिके लिये, अर्थात् इनपर लगे हुए अपराधविषयक संदेहका निवारण करनेके लिये 'तुला' नामक दिव्य-प्रमाण ही ग्राह्य है। क्षत्रियके लिये अग्नि (गरम किया हुआ फाल और तपाया हुआ माष), वैश्यके लिये जलमात्र तथा शूद्रके लिये सात जौ विष—इनकी शुद्धिके लिये आवश्यक बताये गये हैं॥ २८—३३॥

तुला-दिव्यप्रमाण

जो तराजू उठाना या तौलना जानते हों, ऐसे लोगोंसे अभियुक्तको तुलाके एक पलड़ेमें बैठाकर दूसरे पलड़ेमें कोई मिट्टी या प्रस्तरका उतने ही वजनका टुकड़ा रखकर उससे उसको ठीक-ठीक तौले। फिर जिस संनिवेशमें वह बराबर तौला गया है, उसमें सफेद खड़ियासे रेखा करके उस व्यक्तिको उतार लिया जाय। उतरनेपर वह निम्नाङ्कित प्रार्थना-वाक्य पढ़कर तुलाको अभिमन्त्रित करे—'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों संध्याकाल और धर्म—ये सब मनुष्यके वृत्तान्तको जानते हैं। तुले! तुम सत्यका धाम (स्थान) हो, पूर्वकालमें देवताओंने तुम्हारा निर्माण किया है। अतः कल्याणि! तुम सत्यको प्रकट करो और मुझे संशयसे मुक्त कर दो। मातः! यदि मैं पापी या अपराधी हूँ तो मेरा पलड़ा नीचे कर दो और यदि मैं दोषरहित हूँ तो मुझे ऊपर उठा दो'॥ ३४—३७॥

अग्नि-दिव्यप्रमाण

अग्निका दिव्य ग्रहण करनेवालेके हाथोंमें धान मसलकर, हाथोंके काले तिल आदि चिह्नोंको देखकर उन्हें महावर आदिसे रँग दे। फिर उसके हाथोंकी अञ्जलिमें पीपलके सात पत्ते रखे। हाथसहित उन पत्तोंको धागेसे आवेष्टित कर दे। इसके बाद दिव्य ग्रहण करनेवाला अग्निकी प्रार्थना करे—'अग्निदेव! आप सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरते हैं। आप सबको पवित्र करनेवाले और सब कुछ जाननेवाले हैं। आप साक्षीकी भाँति मेरे पुण्य और पापका निरीक्षण करके सत्यको प्रकट कीजिये'॥ ३८-३९॥

शपथ ग्रहण करनेवालेके ऐसा कहनेपर उसके दोनों हाथोंमें पचास पलका जलता हुआ लौहपिण्ड रख दे। दिव्य ग्रहण करनेवाला मनुष्य उसे लेकर धीरे-धीरे सात मण्डलोंतक चले। मण्डलकी लम्बाई और चौड़ाई सोलह-सोलह अङ्गुलकी हो तथा एक मण्डलसे दूसरे मण्डलकी दूरी भी उतनी ही हो। तदनन्तर शपथ करनेवाला अग्निपिण्डको गिराकर हाथोंमें पुनः धान मसले। यदि हाथ न जले हों तो शपथ करनेवाला मनुष्य शुद्ध माना

जाता है। यदि लौहपिण्ड बीचमें ही गिर पड़े या कोई संदेह हो तो शपथकर्ता पूर्ववत् लौहपिण्ड लेकर चले॥ ४०—४२॥

जल-दिव्य

जलका दिव्य ग्रहण करनेवालेको निम्नाङ्कित रूपसे वरुणदेवकी प्रार्थना करनी चाहिये—'वरुण! आप पवित्रोंमें भी पवित्र हैं और सबको पवित्र करनेवाले हैं। मैं शुद्धिके योग्य हूँ। मेरी शुद्धि कीजिये। सत्यके बलसे मेरी रक्षा कीजिये।'—इस प्रार्थना-मन्त्रसे जलको अभिमन्त्रित करके वह मनुष्य नाभिपर्यन्त जलमें खड़े हुए पुरुषकी जङ्घा पकड़कर जलमें डूबे। उसी समय कोई व्यक्ति बाण चलावे। जबतक एक वेगवान् मनुष्य उस छूटे हुए बाणको ले आवे, तबतक यदि शपथकर्ता जलमें डूबा रहे तो वह शुद्ध होता है*॥ ४३-४४ $\frac{१}{२}$॥

विष-दिव्य

विषका दिव्य-प्रमाण ग्रहण करनेवाला इस प्रकार विषकी प्रार्थना करे—'विष! तुम ब्रह्माके पुत्र हो और सत्यधर्ममें अधिष्ठित हो; इस कलङ्कसे मेरी रक्षा एवं सत्यके प्रभावसे मेरे लिये अमृतरूप हो जाओ।'—ऐसा कहकर शपथकर्ता हिमालयपर उत्पन्न शार्ङ्ग विषका भक्षण करे। यदि विष बिना वेगके पच जाय, तो न्यायाधिकारी उसकी शुद्धिका निर्देश करें॥ ४५-४६ $\frac{१}{२}$॥

कोश-दिव्य

कोश-दिव्य लेनेवालेके लिये न्यायाधिकारी उग्र देवताओंका पूजन करके उनके अभिषेकका जल ले आवे। फिर शपथकर्ताको यह बतलाकर उसमेंसे तीन पसर जल पिला दे। यदि चौदहवें दिनतक राजा अथवा देवतासे घोर पीडा न प्राप्त हो, तो वह निःसंदेह शुद्ध होता है॥ ४७-४८ $\frac{१}{२}$॥

अल्प मूल्यवाली वस्तुके अभियोगमें संदेह उपस्थित होनेपर सत्य, वाहन, शस्त्र, गौ, बीज, सुवर्ण, देवता, गुरुचरण एवं इष्टापूर्त आदि पुण्यकर्म इनकी सहजसाध्य शपथ विहित है॥ ४९-५०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दिव्य-प्रमाण-कथन' नामक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५५॥

दो सौ छप्पनवाँ अध्याय

पैतृक धनके अधिकारी; पत्नियोंका धनाधिकार; पितामहके धनके अधिकारी; विभाज्य और अविभाज्य धन; वर्णक्रमसे पुत्रोंके धनाधिकार; बारह प्रकारके पुत्र और उनके अधिकार; पत्नी-पुत्री आदिके, संसृष्टीके धनका विभाग; क्लीब आदिका अनधिकार; स्त्रीधन तथा उसका विभाग

दाय-विभाग-प्रकरण

('दाय' शब्दसे वह धन समझना चाहिये, जिसपर स्वामीके साथ सम्बन्धके कारण दूसरोंका स्वत्व हो जाता है। 'दाय'के दो भेद हैं—'अप्रतिबन्ध' और 'सप्रतिबन्ध'। पुत्रों और पौत्रोंका पुत्रत्व और पौत्रत्वके कारण पिता और पितामहके

---

* मिताक्षरामें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तीन बाण छोड़नेपर एक वेगवान् मनुष्य मध्यम बाणके गिरनेके स्थानपर जाकर उसे लेकर वहीं खड़ा हो जाता है। दूसरा वेगवान् पुरुष जहाँसे बाण छोड़ा गया है, उस मूलस्थानपर खड़ा हो जाता है। इस प्रकार उन दोनोंके स्थित हो जानेपर तीन बार ताली बजती है। तीसरी तालीके बजते ही जिसकी शुद्धि अपेक्षित है, वह पुरुष पानीमें डूबता है। उसी समय मूलस्थानपर खड़ा हुआ पुरुष बड़े वेगसे दौड़कर मध्यम शरपातस्थानतक जाता है। उसके वहाँ पहुँचते ही जो बाण लेकर पहलेसे खड़ा है, वह बड़े वेगसे दौड़कर मूलस्थानपर आ जाता है। वहाँ पहुँचकर वह डूबे हुए मनुष्यकी ओर देखता है। यदि उसके अङ्ग डूबे हुए ही रहें, दृष्टिमें न आवें तो उसकी शुद्धि मानी जाती है।

धनपर अनायास ही स्वत्व होता है, इसलिये वह 'अप्रतिबन्ध दाय' है। चाचा और भाई आदिको पुत्र और स्वामीके अभावमें धनपर अधिकार प्राप्त होता है, इसलिये वह 'सप्रतिबन्ध दाय' है। इसी प्रकार उनके पुत्र आदिके लिये भी समझ लेना चाहिये। जिसके अनेक स्वामी हैं, ऐसे धनको बाँटकर एक-एकके अंशको पृथक्-पृथक् व्यवस्थित कर देना 'विभाग' कहलाता है। इस अध्यायमें दाय-विभाग और स्वत्वपर विचार किया गया है, जो धर्मशास्त्रकारों एवं महर्षियोंको अभिमत है।)

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यदि पिता अपने जीवनमें सब पुत्रोंमें धनका विभाजन करे तो वह इच्छानुसार ज्येष्ठ पुत्रको श्रेष्ठ भाग दे या सब पुत्रोंको समांश भागी बनाये।[1] यदि पिता सब पुत्रोंको समान भाग दे, तो अपनी उन स्त्रियोंको भी समान भाग दे, जिनको पति अथवा श्वशुरकी ओरसे स्त्रीधन न मिला हो। जो पुत्र धनोपार्जनमें समर्थ होनेके कारण पैतृक धनकी इच्छा न रखता हो, उसे भी थोड़ा-बहुत धन देकर विभाजनका कार्य पूर्ण करना चाहिये। पिताके द्वारा दिया हुआ न्यूनाधिक भाग, यदि धर्मसम्मत है, तो वह पितृकृत होनेसे निवृत्त नहीं हो सकता, ऐसा स्मृतिकारोंका मत है। माता-पिताकी मृत्युके पश्चात् पुत्र पिताके धन और ऋणको बराबर-बराबर बाँट लें[2]। माताद्वारा लिये गये ऋणको चुकानेके बाद बचा हुआ मातृधन पुत्रियाँ आपसमें बाँट लें[3]। उनके अभावमें पुत्र आदि उस धनका विभाग कर लें। पैतृक धनको हानि न पहुँचाकर जो धन स्वयं उपार्जित किया गया हो, मित्रसे मिला हो और विवाहमें प्राप्त हुआ हो, भाई आदि दायाद उसके अधिकारी नहीं होते। यदि सब भाइयोंने सम्मिलित रहकर धनकी वृद्धि की हो तो उस धनमें सबका समान भाग माना जाता है॥ १—५ $\frac{१}{२}$ ॥

(यहाँतक पैतृक सम्पत्तिमें पुत्रोंका विभाग किस प्रकार हो, यह बतलाया गया। अब पितामहके धनमें पौत्रोंका विभाग कैसे हो, इस विषयमें विशेष बात बताते हैं—) यद्यपि पितामहके धनमें पौत्रोंका पुत्रोंके समान जन्मसे ही स्वत्व है, तथापि यदि वे पौत्र अनेक पितावाले हैं तो उनके पिताओंको द्वार बनाकर ही पितामहके द्रव्यका विभाजन होगा। सारांश यह कि यदि संयुक्त परिवारमें रहते हुए ही अनेक भाई अनेक पुत्रोंको उत्पन्न करके परलोकवासी हो गये और उनमेंसे एकके दो, दूसरेके तीन और तीसरेके चार पुत्र हों, तो उन पौत्रोंकी संख्याके अनुसार पितामहकी सम्पत्तिका बँटवारा नहीं होगा, अपितु उन पौत्रोंके पिताओंकी संख्याके अनुसार होगा। जिसके दो पुत्र हैं, उसे अपने पिताका एक अंश प्राप्त है, जिसके तीन पुत्र हैं, उसे भी अपने पिताका एक अंश प्राप्त होगा और जिसे चार हैं, उसे भी अपने पिताका एक ही अंश मिलेगा। पितामहद्वारा अर्जित भूमि, निबन्ध और द्रव्यमें पिता और पुत्र दोनोंका समान स्वामित्व है। धनका विभाग होनेके बाद भी सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न हुआ पुत्र विभागका अधिकारी होता है। अथवा आय और व्ययका संतुलन करनेके बाद दृश्य धनमें उसका विभाग होता है। पिता-पितामह आदिके क्रमसे आया हुआ जो द्रव्य दूसरोंने हर लिया हो और

१. पिताके द्वारा स्वयं उपार्जित किया हुआ जो धन है, उसका बँटवारा वह अपनी रुचिके अनुसार कर सकता है। जिस पुत्रपर अधिक संतुष्ट हो, उसे वह अधिक दे सकता है और जिसके व्यवहारसे उसको संतोष न हो, उसे कम भी दे सकता है। परंतु जो पिता-पितामहोंकी परम्परासे आया हुआ धन है, उसमें विषम विभाजन नहीं चल सकता। उसमें वह सब पुत्रोंको समांशभागी ही बनावे।

२. यद्यपि शास्त्रोंमें पैतृकधनका विषम-विभाजन भी मिलता है, तथापि वह ईर्ष्या और कलहका मूल होनेके कारण लोकविद्विष्ट है; अत: व्यवहारमें लानेयोग्य नहीं है; इसलिये सम-विभाजन ही सर्वसम्मत है।

३. माताका ऋण भी पुत्र ही मातृधनसे चुका दें, पत्नियाँ नहीं। ऋण चुकानेसे अवशिष्ट धन पुत्रियोंमें बँट जाना चाहिये।

असमर्थतावश पिता आदिने उसका उद्धार नहीं किया हो, उसे पुत्रोंमेंसे एक कोई भी पुत्र अन्य बन्धुओंकी अनुमति लेकर यदि अपने प्रयाससे प्राप्त कर ले तो वह उस धनको स्वयं ले ले, अन्य दायादोंको न बाँटे। परंतु खेतका उद्धार करनेपर उद्धारकर्ता उसका चौथाई अंश स्वयं ले, शेष भाग सब भाइयोंको बराबर-बराबर बाँट दे। इसी तरह विद्यासे (शास्त्रोंको पढ़ने-पढ़ाने या उसकी व्याख्या करनेसे) जो धन प्राप्त हो, उसको भी दायादोंमें न बाँटे। माता-पिता अपनी जो वस्तु जिसे दे दें, वह उसीका धन होगा। यदि पिताके मरनेपर पुत्रगण पैतृक धनका विभाजन करें तो माता भी पुत्रोंके समान भागकी अधिकारिणी होती है। विभाजनके समय जिन भाइयोंके विवाह आदि संस्कार न हुए हों, उनके संस्कार वे भाई, जिनके संस्कार पहले हो चुके हैं, संयुक्त धनसे करें। अविवाहिता बहिनोंके भी विवाह-संस्कार सब भाई अपने भागका चतुर्थांश देकर करें। ब्राह्मणसे ब्राह्मणी आदि विभिन्न वर्णोंकी स्त्रियोंमें उत्पन्न हुए पुत्र वर्णक्रमसे चार, तीन, दो और एक भाग प्राप्त करें। इसी प्रकार क्षत्रियसे क्षत्रिया आदिमें उत्पन्न तीन, दो एवं एक भाग और वैश्यसे वैश्यजातीय एवं शूद्रजातीय स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र क्रमशः दो और एक अंशके अधिकारी होते हैं। धनविभागके पश्चात् जो धन भाइयोंद्वारा एक-दूसरेसे अपहृत किया गया दृष्टिगोचर हो, उसे सब भाई पुनः समान अंशोंमें विभाजित कर लें, यह शास्त्रीय मर्यादा है। पुत्रहीन पुरुषके द्वारा दूसरेके क्षेत्रमें नियोगकी विधिसे उत्पन्न पुत्र धर्मके अनुसार दोनों पिताओंके धन और पिण्डदानका अधिकारी है॥ ६—१४॥

अपने समान वर्णकी स्त्री जब धर्मविवाहके अनुसार ब्याहकर लायी जाती है तो उसे 'धर्मपत्नी' कहते हैं। अपनी धर्मपत्नीसे स्वकीय वीर्यद्वारा उत्पादित पुत्र 'औरस' कहलाता है। यह सब पुत्रोंमें मुख्य है। दूसरा 'पुत्रिकापुत्र' है। यह भी औरसके ही समान है। अपनी स्त्रीके गर्भसे किसी सगोत्र या सपिण्ड पुरुषके द्वारा अथवा देवरके द्वारा उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है। पतिके घरमें छिपे तौरपर जो सजातीय पुरुषसे उत्पन्न होता है, वह 'गूढ़ज' माना गया है। अविवाहिता कन्यासे उत्पन्न पुत्र 'कानीन' कहलाता है। वह नानाका पुत्र माना गया है। जो अक्षतयोनि अथवा क्षतयोनिकी विधवासे सजातीय पुरुषद्वारा उत्पन्न पुत्र है, उसको 'पौनर्भव' कहते हैं। जिसे माता अथवा पिता किसीको गोद दे दें, वह 'दत्तक' पुत्र कहा गया है। जिसे किसी माता-पिताने खरीदा और दूसरे माता-पिताने बेचा हो, वह 'क्रीतपुत्र माना गया है। किसीको स्वयं धन आदिका लोभ देकर पुत्र बनाया गया हो तो वह 'कृत्रिम' कहा गया है। जो माता-पितासे रहित बालक 'मुझे अपना पुत्र बना लें'—ऐसा कहकर स्वयं आत्मसमर्पण करता है, वह 'दत्तात्मा' पुत्र है। जो विवाहसे पूर्व ही गर्भमें आ गया और गर्भवतीके विवाह होनेपर उसके साथ परिणीत हो गया, वह 'सहोढज' पुत्र माना गया है। जिसे माता-पिताने त्याग दिया हो, वह समान वर्णका पुत्र यदि किसीने ले लिया तो वह उसका 'अपविद्ध पुत्र' माना गया है। ये जो पूर्वकथित बारह पुत्र हैं, इनमेंसे पूर्व-पूर्वके अभावमें उत्तर-उत्तर पिण्डदाता और धनांशभागी होता है। मैंने सजातीय पुत्रोंमें धन-विभागकी यह विधि बतलायी है॥ १५—१९$\frac{१}{२}$॥

शूद्रके धनविभागकी विशेष विधि—

शूद्रद्वारा दासीमें उत्पन्न पुत्र भी पिताकी इच्छासे धनमें भाग प्राप्त करेगा। पिताकी मृत्युके पश्चात् शूद्रकी विवाहिता पत्नीसे उत्पन्न पुत्र अपने पिताके दासीपुत्रको भी भाईकी हैसियतसे आधा भाग दे।

यदि शूद्रकी परिणीतासे कोई पुत्र न हो तो वह भ्रातृहीन दासीपुत्र पूरे धनपर अधिकार कर ले; (परंतु यह तभी सम्भव है, जब उसकी परिणीताकी पुत्रियोंके पुत्र न हों। उनके होनेपर तो वह आधा भाग ही पा सकता है।) जिसके पूर्वोक्त बारह प्रकारके पुत्रोंमेंसे कोई नहीं है, ऐसा पुत्रहीन पुरुष यदि स्वर्गवासी हो जाय तो उसके धनके भागी क्रमशः पत्नी, पुत्रियाँ, माता-पिता, सहोदर भाई, असहोदर भाई, भ्रातृपुत्र, गोत्रज (सपिण्ड या समानोदक) पुरुष, बन्धु-बान्धव[1] (आचार्य), शिष्य तथा सजातीय सहपाठी होते हैं—इनमें पूर्व-पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तर धनके भागी होते हैं। सब वर्णोंके लिये धनके विभाजनकी यही विधि शास्त्रविहित है॥ २०—२३॥

वानप्रस्थ, संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके धनके अधिकारी क्रमशः एक आश्रममें रहनेवाला धर्मभ्राता, श्रेष्ठ शिष्य और आचार्य[2] होते हैं। बँटे हुए धनको फिर मिला दिया जाय तो वह 'संसृष्ट' कहलाता है। ऐसा संसृष्ट धन जिन लोगोंके पास है, वे सभी 'संसृष्टी' कहे गये हैं। 'संसृष्टत्व-सम्बन्ध' जिस किसीके साथ नहीं हो सकता, किंतु पिता, भाई अथवा पितृव्य (चाचा)-के साथ ही हो सकता है। यदि कोई संसृष्टी मर जाय तो उसके हिस्सेका धन दूसरा संसृष्टी पुरुष मृत-संसृष्टीकी मृत्युके बाद उसकी भार्यासे उत्पन्न हुए पुत्रको दे दे। पुत्र न हो तो वह संसृष्टी स्वयं ही ले ले। पत्नी आदिको वह धन नहीं मिल सकता। यदि सहोदर संसृष्टी मर जाय तो दूसरा सहोदर संसृष्टी उसकी मृत्युके पश्चात् पैदा हुए पुत्रको उसका अंश दे दे। यदि पुत्र न हो तो वह स्वयं ही उस संसृष्टीके अंशको ले ले; असहोदर भाई संसृष्टी होनेपर भी उसे नहीं ले सकता। अन्य माताके पेटसे पैदा हुआ सौतेला भाई भी यदि संसृष्टी हो तो वह संसृष्टी भ्राताके धनको ले सकता है। यदि वह असंसृष्टी है तो उस धनको नहीं ले सकता। अथवा असंसृष्टी भी उस संसृष्टीके धनको ले सकता है, जबकि वह संसृष्टी उस असंसृष्टीका सहोदर भाई रहा हो॥ २४—२६॥

नपुंसक, पतित, उसका पुत्र, पङ्गु, उन्मत्त, जड, अन्ध, असाध्य रोगसे ग्रस्त और आश्रमान्तरमें गये हुए पुरुष केवल भरण-पोषण पानेके योग्य हैं। इन्हें हिस्सा बँटानेका अधिकार नहीं है। इन लोगोंके औरस एवं क्षेत्रज पुत्र क्लीबत्व आदि दोषोंसे रहित होनेपर भाग लेनेके अधिकारी होंगे। इनकी पुत्रियोंका भी तबतक भरण-पोषण करना चाहिये, जबतक कि वे पतिके अधीन न कर दी जायँ। इन क्लीब, पतित आदिकी पुत्रहीन सदाचारिणी स्त्रियोंका भी भरण-पोषण करना चाहिये। यदि वे व्यभिचारिणी या प्रतिकूल आचरण करनेवाली हों तो उनको घरसे निर्वासित कर देना चाहिये॥ २७—२९॥

स्त्रीधन

जो पिता-माता, पति और भाईने दिया हो, जो विवाहकालमें अग्निके समीप मामा आदिकी ओरसे मिला हो तथा जो आधिवेदनिक[3] आदि धन हो, वह 'स्त्रीधन' कहा गया है। जिसे

---

१. बन्धु-बान्धव तीन प्रकारके हैं—अपने बन्धु-बान्धव, पिताके बन्धु-बान्धव तथा माताके बन्धु-बान्धव। इनमें यही क्रम अभीष्ट है। अर्थात् पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तर धनके भागी होते हैं।

२. यहाँ श्लोकमें आचार्य, शिष्य और धर्मभ्राता—इस क्रमसे उल्लेख है, परंतु मिताक्षराकारने यह निर्णय दिया है कि यहाँ विलोम-क्रम लेना चाहिये।

३. जिसके विवाहके बाद पति दूसरा विवाह करे, वह स्त्री 'अधिविन्ना' कहलाती है। ऐसे विवाहके लिये उससे आज्ञा ली जाती है और इस आज्ञाके निमित्त उसको जो धन दिया जाता है, वह 'अधिवेदन-निमित्तक' होनेके कारण 'आधिवेदनिक' कहा गया है।

कन्याकी माताके बन्धु-बान्धवोंने दिया हो, जिसे पिताके बन्धु-बान्धवोंने दिया हो तथा जो वर-पक्षकी ओरसे कन्याके लिये शुल्करूपमें मिला हो एवं विवाहके पश्चात् पतिकुलसे जो वधूको भेंट मिला हो, वह सब 'स्त्रीधन' कहा गया है। यदि स्त्री संतानहीना हो—जिसके बेटी, दौहित्री, दौहित्र, पुत्र और पौत्र कोई भी न हों, ऐसी स्त्री यदि दिवंगत हो जाय तो उसके पति आदि बान्धवजन उसका धन ले सकते हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—इन चार प्रकारके विवाहोंकी विधिसे विवाहित स्त्रियोंके निस्संतान मर जानेपर उनका धन पतिको प्राप्त होता है। यदि वे संतानवती रही हों तो उनका धन उनकी पुत्रियोंको प्राप्त होता है और शेष चार गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाहकी विधिसे विवाहित होकर मरी हुई संतानहीना स्त्रियोंका धन उनके पिताको प्राप्त होता है॥ ३०—३२॥

जो कन्याका वाग्दान करके कन्यादान नहीं करता, वह राजाके द्वारा दण्डनीय होता है तथा वाग्दानके निमित्त वरने अपने सम्बन्धियों और कन्या-सम्बन्धियोंके स्वागत-सत्कारमें जो धन खर्च किया हो, वह सब सूदसहित कन्यादाता वरको लौटावे। यदि वाग्दत्ता कन्याकी मृत्यु हो जाय, तो वर अपने और कन्यापक्ष दोनोंके व्ययका परिशोधन करके जो अवशिष्ट व्यय हो, वही कन्यादातासे ले। दुर्भिक्षमें, धर्मकार्यमें, रोग या बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये यदि पति दूसरा कोई धन प्राप्त न होनेपर स्त्रीधनको ग्रहण करे, तो पुनः उसे लौटानेको बाध्य नहीं है। जिस स्त्रीको श्वशुर अथवा पतिसे स्त्रीधन न प्राप्त हुआ हो, उस स्त्रीके रहते हुए दूसरा विवाह करनेपर पति 'आधिवेदनिक'के समान धन दे। अर्थात् 'अधिवेदन' (द्वितीय विवाह)-में जितना धन खर्च होता हो, उतना ही धन उसे भी दिया जाय। यदि उसे पति और श्वशुरकी ओरसे स्त्रीधन प्राप्त हुआ हो, तब आधिवेदनिक धनका आधा भाग ही दिया जाय। विभागका अपलाप होनेपर यदि संदेह उपस्थित हो तो कुटुम्बीजनों, पिताके बन्धु-बान्धवों, माताके बन्धु-बान्धवों, पूर्वोक्त लक्षणवाले साक्षियों तथा अभिलेख—विभागपत्रके सहयोगसे विभागका निर्णय जानना चाहिये। इसी प्रकार यौतक (दहेजमें मिले हुए धन) तथा पृथक् किये गये गृह और क्षेत्र आदिके आधारपर भी विभागका निर्णय जाना जा सकता है॥ ३३—३६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दाय-विभागका कथन' नामक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५६॥

दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय

सीमा-विवाद, स्वामिपाल-विवाद, अस्वामिविक्रय, दत्ताप्रदानिक, क्रीतानुशय, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, संविद्व्यतिक्रम, वेतनादान तथा द्यूतसमाह्वयका विचार

सीमा-विवाद

दो गाँवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले खेतकी सीमाके विषयमें विवाद उपस्थित होनेपर तथा एक ग्रामके अन्तर्वर्ती खेतकी सीमाका झगड़ा खड़ा होनेपर सामन्त (सब ओर उस खेतसे सटकर रहनेवाले), स्थविर (वृद्ध) आदि, गोप (गायके चरवाहे), सीमावर्ती किसान तथा समस्त वनचारी मनुष्य—ये सब लोग पूर्वकृत स्थल (ऊँची भूमि)

कोयले, धानकी भूसी तथा बरगद आदिके वृक्षोंद्वारा सीमाका निश्चय[१] करें। वह सीमा कैसी हो, इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—वह सीमा सेतु (पुल), वल्मीक (बाँबी), चैत्य (पत्थरके चबूतरे या देवस्थान), बाँस और बालू आदिसे उपलक्षित होनी चाहिये[२]॥ १-२॥

सामन्त अथवा निकटवर्ती ग्रामवाले चार, आठ अथवा दस मनुष्य लाल फूलोंकी माला और लाल वस्त्र धारण करके, सिरपर मिट्टी रखकर सीमाका निर्णय करें। सीमा-विवादमें सामन्तोंके असत्य-भाषण करनेपर राजा सबको अलग-अलग मध्यम साहसका दण्ड दे। सीमाका ज्ञान करानेवाले चिह्नोंके अभावमें राजा ही सीमाका प्रवर्तक होता है। आराम (बाग), आयतन (मन्दिर या खलिहान), ग्राम, वापी या कूप, उद्यान (क्रीडावन), गृह और वर्षाके जलको प्रवाहित करनेवाले नाले आदिकी सीमाके निर्णयमें भी यही विधि जाननी चाहिये। मर्यादाका भेदन, सीमाका उल्लङ्घन एवं क्षेत्रका अपहरण करनेपर राजा क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम साहसका दण्ड दे। यदि सार्वजनिक सेतु (पुल या बाँध) और छोटे क्षेत्रमें अधिक जलवाला कुआँ बनाया जा रहा हो तथा वह दूसरेकी कुछ भूमि अपनी सीमामें ले रहा हो, परंतु उससे हानि तो बहुत कम हो और बहुत-से लोगोंकी अधिक भलाई हो रही हो तो उसके निर्माणमें रुकावट नहीं डालनी चाहिये। जो क्षेत्रके स्वामीको सूचना दिये बिना उसके क्षेत्रमें सेतुका निर्माण करता है, वह उस सेतुसे प्राप्त फलका उपभोग स्वयं नहीं कर सकता, क्षेत्रका स्वामी ही उसके फलका भोगी-भागी होगा और उसके अभावमें राजाका उसपर अधिकार होगा। जो कृषक किसीके खेतमें एक बार हल चलाकर भी उसमें स्वयं खेती न करे और दूसरेसे भी न कराये, राजा उससे क्षेत्रस्वामीको कृषिका सम्भावित फल दिलाये और खेतको दूसरे किसानसे जुतवाये॥ ३—९॥

स्वामिपाल-विवाद

(अब गाय-भैंस या भेड़-बकरी चरानेवाले चरवाहे जब किसीके खेत चरा दें तो उन्हें किस

१. 'सीमा' कहते हैं—क्षेत्र आदिकी मर्यादाको। वह चार प्रकारकी होती है—जनपद-सीमा, ग्राम-सीमा, क्षेत्र-सीमा और गृह-सीमा। वह यथासम्भव पाँच लक्षणोंसे युक्त होती है, जैसा कि नारदजीने बताया है—'ध्वजिनी', 'मत्स्यिनी', 'नैधानी', 'भयवर्जिता' तथा 'राजशासननीता'। इनमेंसे जो सीमा वृक्ष आदिसे लक्षित या प्रकाशित हो, वह 'ध्वजिनी' कही गयी है। 'मत्स्य' शब्द जलका उपलक्षण है। अतः 'मत्स्यिनी'का अर्थ है—जलवती। वहाँ जलसे वह सीमा उपलक्षित होती है। 'नैधानी' कहते हैं—धानकी भूसी या कोयले आदि गाड़कर निश्चित की हुई सीमाको। 'भयवर्जिता' वह सीमा है, जिसे अर्थी और प्रत्यर्थी दोनोंने मिलकर अपनी स्वीकृतिसे निर्धारित किया हो। जहाँ सीमाका ज्ञापक कोई चिह्न न हो, वहाँ राजाकी इच्छासे जो सीमा निर्मित होती है, उसको 'राजशासननीता' कहते हैं। भूमि-सम्बन्धी विवादके छः हेतु हैं। आधिक्य, न्यूनता, अंशका होना, न होना, अभोगभुक्ति तथा मर्यादा—ये भूमि-विवादके छः कारण हैं, ऐसा कात्यायनका मत है। जैसे एक कहता है कि 'मेरी भूमि यहाँ पाँच हाथसे अधिक है' तो दूसरा कहता है, 'अधिक नहीं है'—यह 'आधिक्य'को लेकर विवाद हुआ। इसी तरह यदि एक कहे, 'मेरी भूमि यहाँ तीन हाथ है' और दूसरा कहे कि 'नहीं, तीन हाथसे कम है', तो यह 'न्यूनता'को लेकर विवाद हुआ। एक कहता है, 'मेरे हिस्सेमें इतनी भूमि है' और दूसरा कहता है, 'यहाँ तुम्हारा हिस्सा ही नहीं है' तो यह अंशविषयक 'अस्तित्व' और 'नास्तित्व'को लेकर विवाद हुआ। एकका आरोप है कि 'यह मेरी भूमि है, पहले तुम्हारे उपभोगमें कभी नहीं रही। इस समय तुम बलपूर्वक इसे अपने उपभोगमें ला रहे हो'। दूसरा कहता है, 'नहीं, सदासे या चिरकालसे यह भूमि मेरे अधिकारमें है'—यह 'अभोगभुक्ति' विषयक विवाद हुआ। एक कहता है, 'यह सीमा है' और दूसरा कहता है, 'नहीं, यह है' तो वह 'सीमाविषयक' विवाद हुआ।

२. सीमाके परिचायक चिह्न दो प्रकारके होने चाहिये—'प्रकाश' और 'अप्रकाश'। बरगद, पीपल, पलाश, सेमल, साखू, ताड़, दूधवाले वृक्ष, गुल्म, वेणु, शमी और लताबेलोंसे युक्त स्थल—ये सब 'प्रकाश चिह्न' हैं। पोखरे, कुआँ, बावड़ी, झरने और देवमन्दिर आदि भी प्रकाश-चिह्नके ही अन्तर्गत हैं। सीमाज्ञानके लिये कुछ छिपे हुए चिह्न भी होने चाहिये। जैसे—पत्थर, हड्डी, गौके बाल, धानकी भूसी, राख, खोपड़ी, कर्सी, ईंटा, कोयला, कंकड़ और बालू—भूमिमें गाड़ दिये जायँ।

प्रकार दण्ड देना चाहिये—इसका विचार किया जाता है—) राजा दूसरेके खेतकी फसलको नष्ट करनेवाली भैंसपर आठ माष (पणका बीसवाँ भाग) दण्ड लगावे। गौपर उससे आधा और भेड़-बकरीपर उससे भी आधा दण्ड लगावे। यदि भैंस आदि पशु खेत चरकर वहीं बैठ जायँ, तो उनपर पूर्वकथितसे दूना दण्ड लगाना चाहिये। जिसमें अधिक मात्रामें तृण और काष्ठ उपजता है, ऐसा भूप्रदेश जब स्वामीसे लेकर उसे सुरक्षित रखा जाता है तो उसे 'विवीत' (रक्षित या रखांतु) कहते हैं। उस रखांतुको भी हानि पहुँचानेपर इन भैंस आदि पशुओंपर अन्य खेतोंके समान ही दण्ड समझे। इसी अपराधमें गदहे और ऊँटोंपर भी भैंसके समान ही दण्ड लगाना चाहिये। जिस खेतमें जितनी फसल पशुओंके द्वारा नष्ट की जाय, उसका सामन्त आदिके द्वारा अनुमानित फल गो-स्वामीको क्षेत्रस्वामीके लिये दण्डके रूपमें देना चाहिये और चरवाहोंको तो केवल शारीरिक दण्ड देना (कुछ पीट देना चाहिये)। यदि गो-स्वामीने स्वयं चराया हो तो उससे पूर्वोक्त दण्ड ही वसूल करना चाहिये, ताड़ना नहीं देनी चाहिये। यदि खेत रास्तेपर हो, गाँवके समीप हो अथवा ग्रामके 'विवीत' (सुरक्षित) भूमिके निकट हो और वहाँ चरवाहे अथवा गो-स्वामीकी इच्छा न होनेपर भी अनजानेमें पशुओंने चर लिया अथवा फसलको हानि पहुँचा दी तो उसमें गो-स्वामी तथा चरवाहा—दोनोंमेंसे किसीका दोष नहीं माना जाता, अर्थात् उसके लिये दण्ड नहीं लगाना चाहिये; किंतु यदि स्वेच्छासे जान-बूझकर खेत चराया जाय तो चरानेवाला और गो-स्वामी दोनों चोरकी भाँति दण्ड पानेके अधिकारी हैं। साँड़, वृषोत्सर्गकी विधिसे या देवी-देवताको चढ़ाकर छोड़े गये पशु, दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई गाय तथा अपने यूथसे बिछुड़कर दूसरे स्थानपर आया हुआ पशु—ये दूसरेकी फसल चर लें तो भी दण्डनीय नहीं हैं, छोड़ देने योग्य हैं। जिसका कोई चरवाहा न हो, ऐसे देवोपहत तथा राजोपहत पशु भी छोड़ ही देने योग्य हैं। गोप (चरवाहा) प्रातःकाल गौओंके स्वामीके सँभलाये हुए पशु सायंकाल उसी प्रकार लाकर स्वामीको सौंप दे। वेतनभोगी ग्वालेके प्रमादसे मृत अथवा खोये हुए पशु राजा उससे पशु-स्वामीको दिलाये। गोपालकके दोषसे पशुओंका विनाश होनेपर उसके ऊपर साढ़े तेरह पण दण्ड लगाया जाय और वह स्वामीको नष्ट हुए पशुका मूल्य भी दे। ग्रामवासियोंकी इच्छासे अथवा राजाकी आज्ञाके अनुसार गोचारणके लिये भूमि छोड़ दे; उसे जोते-बोये नहीं। ब्राह्मण सदा, सभी स्थानोंसे तृण, काष्ठ और पुष्प ग्रहण कर सकता है। ग्राम और क्षेत्रका अन्तर सौ धनुषके प्रमाणका हो, अर्थात् गाँवके चारों ओर सौ-सौ धनुष भूमि परती छोड़ दी जाय और उसके बादकी भूमिपर ही खेती की जाय। खर्वट (बड़े गाँव) और क्षेत्रका अन्तर दो सौ धनुष एवं नगर तथा क्षेत्रका अन्तर चार सौ धनुष होना चाहिये॥ १०—१८॥

अस्वामिविक्रय

(अब अस्वामिविक्रय नामक व्यवहारपदपर विचार आरम्भ करते हैं—नारदजीने 'अस्वामिविक्रय' का लक्षण इस प्रकार बताया है—

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा।
विक्रीयतेऽसमक्षं यत् स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः॥

अर्थात् धरोहरके तौरपर रखे हुए पराये द्रव्यको खोया हुआ पाकर अथवा स्वयं चुराकर जो स्वामीके परोक्षमें बेच दिया जाता है, वह 'अस्वामिविक्रय' कहलाता है।' द्रव्यका स्वामी अपनी वस्तु दूसरेके द्वारा बेची हुई यदि किसी खरीददारके पास देखे तो उसे अवश्य पकड़े—अपने अधिकारमें ले ले। यहाँ 'विक्रीत' शब्द 'दत्त' और 'आहित'का भी उपलक्षण है। अर्थात् यदि कोई दूसरेकी रखी हुई वस्तु उसे बताये

बिना दूसरेके यहाँ रख दे या दूसरेको दे दे तो उसपर यदि स्वामीकी दृष्टि पड़ जाय तो स्वामी उस वस्तुको हठात् ले ले या अपने अधिकारमें कर ले; क्योंकि उस वस्तुसे उसका स्वामित्व निवृत्त नहीं हुआ। यदि खरीददार उस वस्तुको खरीदकर छिपाये रखे, किसीपर प्रकट न करे तो उसका अपराध माना जाता है। तथा जो हीन पुरुष है, अर्थात् उस द्रव्यकी प्राप्तिके उपायसे रहित है, उससे एकान्तमें कम मूल्यमें और असमयमें (रात्रि आदिमें) उस वस्तुको खरीदनेवाला मनुष्य चोर होता है, अर्थात् चोरके समान दण्डनीय होता है। अपनी खोयी हुई या चोरीमें गयी हुई वस्तु जिसके पास देखे, उसे स्थानपाल आदि राजकर्मचारीसे पकड़वा दे। यदि उस स्थान अथवा समयमें राजकर्मचारी न मिले तो चोरको स्वयं पकड़कर राजकर्मचारीको सौंप दे। यदि खरीददार यह कहे कि 'मैंने चोरी नहीं की है, अमुकसे खरीदी है', तो वह बेचनेवालेको पकड़वा देनेपर शुद्ध (अभियोगसे मुक्त) हो जाता है। जो नष्ट या अपहत वस्तुका विक्रेता है, उसके पाससे द्रव्यका स्वामी द्रव्य, राजा अर्थदण्ड और खरीदनेवाला अपना दिया हुआ मूल्य पाता है। वस्तुका स्वामी लेख्य आदि आगम या उपभोगका प्रमाण देकर खोयी हुई वस्तुको अपनी सिद्ध करे। सिद्ध न करनेपर राजा उससे वस्तुका पञ्चमांश दण्डके रूपमें ग्रहण करे। जो मनुष्य अपनी खोयी हुई अथवा चुरायी गयी वस्तुको राजाको बिना बतलाये दूसरेसे ले ले, राजा उसपर छानबे पणका अर्थदण्ड लगावे। शौल्किक (शुल्कके अधिकारी) या स्थानपाल (स्थानरक्षक) जिस खोये अथवा चुराये गये द्रव्यको राजाके पास लायें, उस द्रव्यको एक वर्षके पूर्व ही वस्तुका स्वामी प्रमाण देकर प्राप्त कर ले; एक वर्षके बाद राजा स्वयं उसे ले ले। घोड़े आदि एक खुरवाले पशु खोनेके बाद मिलें, तो स्वामी उनकी रक्षाके निमित्त चार पण राजाको दे; मनुष्यजातीय द्रव्यके मिलनेपर पाँच पण; भैंस, ऊँट और गौके प्राप्त होनेपर दो-दो पण तथा भेड़-बकरीके मिलनेपर पणका चतुर्थांश राजाको अर्पित करे॥ १९—२५॥

दत्ताप्रदानिक

['दत्ताप्रदानिक'का स्वरूप नारदने इस प्रकार बताया है—"जो असम्यग्रूपसे (अयोग्य मार्गका आश्रय लेकर) कोई द्रव्य देनेके पश्चात् फिर उसे लेना चाहता है, उसे 'दत्ताप्रदानिक' नामक व्यवहारपद कहा जाता है।" इस प्रकरणमें इसीपर विचार किया जाता है।]

जीविकाका उपरोध न करते हुए ही अपनी वस्तुका दान करे; अर्थात् कुटुम्बके भरण-पोषणसे बचा हुआ धन ही देनेयोग्य है। स्त्री और पुत्र किसीको न दे। अपना वंश होनेपर किसीको सर्वस्वका दान न करे। जिस वस्तुको दूसरेके लिये देनेकी प्रतिज्ञा कर ली गयी हो, वह वस्तु उसीको दे, दूसरेको न दे। प्रतिग्रह प्रकटरूपमें ग्रहण करे। विशेषतः स्थावर भूमि, वृक्ष आदिका प्रतिग्रह तो सबके सामने ही ग्रहण करना चाहिये। जो वस्तु जिसे धर्मार्थ देनेकी प्रतिज्ञा की गयी हो, वह उसे अवश्य दे दे और दी हुई वस्तुका कदापि फिर अपहरण न करे—उसे वापस न ले॥ २६-२७॥

क्रीतानुशय

(अब 'क्रीतानुशय' बताया जाता है। इसका स्वरूप नारदजीने इस प्रकार कहा है—"जो खरीददार मूल्य देकर किसी पण्य वस्तुको खरीदनेके बाद उसे अधिक महत्त्वकी वस्तु नहीं मानता है, अतः उसे लौटाना चाहता है तो यह मामला 'क्रीतानुशय' नामक विवादपद कहलाता है। ऐसी वस्तुको जिस दिन खरीदा जाय, उसी दिन अविकृतरूपसे मालधनीको लौटा दिया जाय। यदि दूसरे दिन लौटावे तो क्रेता मूल्यसे $\frac{1}{30}$ वाँ भाग छोड़ दे।

यदि तीसरे दिन लौटावे तो $\frac{१}{१५}$ वाँ भाग छोड़ दे। इसके बाद वह वस्तु खरीददारकी ही हो जाती है, वह उसे लौटा नहीं सकता।") अब बीज आदिके विषयमें बताते हैं— ॥ २७ $\frac{१}{२}$ ॥

बीजकी दस दिन, लोहेकी एक दिन, वाहनकी पाँच दिन, रत्नोंकी सात दिन, दासीकी एक मास, दूध देनेवाले पशुकी तीन दिन और दासकी एक पक्षतक परीक्षा होती है। सुवर्ण अग्निमें डालनेपर क्षीण नहीं होता; परंतु चाँदी प्रतिशत दो पल, राँगे और सीसेमें प्रतिशत आठ पल, ताँबेमें पाँच पल और लोहेमें दस पल कमी होती है। ऊन और रूईके स्थूल सूतसे बुने हुए कपड़ेमें सौ पलमें दस पलकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार मध्यम सूतमें पाँच पल और सूक्ष्म सूतमें तीन पलकी वृद्धि जाननी चाहिये। कार्मिक (अनेक रङ्गके चित्रोंसे युक्त) और रोमबद्ध (किनारेपर गुच्छोंसे युक्त) वस्त्रमें तीसवाँ भाग क्षय होता है। रेशम और वल्कलके बुने हुए वस्त्रमें न तो क्षय होता है और न वृद्धि ही। उपर्युक्त द्रव्योंके नष्ट होनेपर द्रव्य-ज्ञानकुशल व्यक्ति देश, काल, उपयोग और नष्ट हुए वस्तुके सारासारकी परीक्षा करके जितनी हानिका निर्णय कर दें, राजा उस हानिकी शिल्पियोंसे अवश्य पूर्ति कराये॥ २८—३२॥

अभ्युपेत्याशुश्रूषा

(सेवा स्वीकार करके जो उसे नहीं करता है, उसका यह बर्ताव 'अभ्युपेत्याशुश्रूषा' नामक व्यवहारपद है।) जो बलपूर्वक दास बनाया गया है और जो चोरोंके द्वारा चुराकर किसीके हाथ बेचा गया है—ये दोनों दासभावसे मुक्त हो सकते हैं। यदि स्वामी इन्हें न छोड़े तो राजा अपनी शक्तिसे इन्हें दासभावसे छुटकारा दिलाये। जो स्वामीको प्राणसंकटसे बचा दे, वह भी दासभावसे मुक्त कर देनेयोग्य है। जो स्वामीसे भरण-पोषण पाकर उसका दास्य स्वीकार करके कार्य कर रहा है, वह भरण-पोषणमें स्वामीका जितना धन खर्च करा चुका है, उतना धन वापस कर दे तो दास-भावसे छुटकारा पा जाता है। जितना धन लेकर स्वामीने किसीको किसी धनीके पास बन्धक रख दिया है, अथवा जितना धन देकर किसी धनीने किसी ऋणग्राहीको ऋणदातासे छुड़ाया है, उतना धन सूदसहित वापस कर देनेपर आहित दास भी दासत्वसे छुटकारा पा सकता है। प्रव्रज्यावसित (संन्यासभ्रष्ट अथवा आरूढ़पतित) मनुष्य यदि इसका प्रायश्चित्त न कर ले तो मरणपर्यन्त राजाका दास होता है। चारों वर्ण अनुलोमक्रमसे ही दास हो सकते हैं, प्रतिलोमक्रमसे नहीं। विद्यार्थी विद्याग्रहणके पश्चात् गुरुके घरमें आयुर्वेदादि शिल्प-शिक्षाके लिये यदि रहना चाहे तो समय निश्चित करके रहे। यदि निश्चित समयसे पहले वह शिल्प-शिक्षा प्राप्त कर ले तो भी उतने समयतक वहाँ अवश्य निवास करे। उन दिनों वह गुरुके घर भोजन करे और उस शिल्पसे उपार्जित धन गुरुको ही समर्पित करे॥ ३३—३५॥

संविद्-व्यतिक्रम

(नियत की हुई व्यवस्थाका नाम 'समय' या 'संविद्' है। उसका उल्लङ्घन 'संविद्-व्यतिक्रम' कहलाता है। यह विवादका पद है।)

राजा अपने नगरमें भवन-निर्माण कराकर उनमें वेदविद्या-सम्पन्न ब्राह्मणोंको जीविका देकर बसावे और उनसे प्रार्थना करे कि 'आप यहाँ रहकर अपने धर्मका अनुष्ठान कीजिये।' ब्राह्मणोंको अपने धर्ममें बाधा न डालते हुए जो सामयिक और राजाद्वारा निर्धारित धर्म हो, उसका भी यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। जो मनुष्य समूह या संस्थाका द्रव्यग्रहण और मर्यादाका उल्लङ्घन करता हो, राजा उसका सर्वस्व छीनकर उसे राज्यसे निर्वासित कर दे। अपने समाजके हितैषी

मनुष्योंके कथनानुसार ही सब मनुष्योंको कार्य करना चाहिये। जो मनुष्य समाजके विपरीत आचरण करे, राजा उसे प्रथम साहसका दण्ड* दे। समूहके कार्यकी सिद्धिके लिये राजाके पास भेजा हुआ मनुष्य राजासे जो कुछ भी मिले, वह समाजके श्रेष्ठ व्यक्तियोंको बुलाकर समर्पित कर दे। यदि वह स्वयं लाकर नहीं देता तो राजा उससे ग्यारहगुना धन दिलावे। जो वेदज्ञान-सम्पन्न, पवित्र अन्त:करणवाले, लोभशून्य तथा कार्यका विचार करनेमें कुशल हों, उन समूहके हितैषी मनुष्योंका वचन सबके लिये पालनीय है। 'श्रेणी' (एक व्यापारसे जीविका चलानेवाले), 'नैगम' (वेदोक्त धर्मका आचरण करनेवाले), 'पाखण्डी' (वेदविरुद्ध आचरणवाले) और 'गण' (अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले)—इन सब लोगोंके लिये भी यही विधि है। राजा इनके धर्मभेद और पूर्ववृत्तिका संरक्षण करे॥ ३६—४२॥

वेतनादान

जो भृत्य वेतन लेकर काम छोड़ दे, वह स्वामीको उस वेतनसे दुगुना धन लौटाये। वेतन न लिया हो तो वेतनके समान धन उससे ले। भृत्य सदा खेती आदिके सामानकी रक्षा करे। जो वेतनका निश्चय किये बिना भृत्यसे काम लेता है, राजा उसके वाणिज्य, पशु और शस्यकी आयका दशांश भृत्यको दिलाये। जो भृत्य देश-कालका अतिक्रमण करके लाभको अन्यथा (औसतसे भी कम) कर देता है, उसे स्वामी अपने इच्छानुसार वेतन दे। परंतु औसतसे अधिक लाभ प्राप्त करानेपर भृत्यको वेतनसे अधिक दे। वेतन निश्चित करके दो मनुष्योंसे एक ही काम कराया जाय और यदि वह काम उनसे समाप्त न हो सके तो जिसने जितना काम किया हो, उसको उतना वेतन दे और यदि कार्य सिद्ध हो गया हो तो पूर्वनिश्चित वेतन दे। यदि भारवाहकसे राजा और देवता-सम्बन्धी पात्रके सिवा दूसरेका पात्र फूट जाय तो राजा भारवाहकसे पात्र दिलाये। यात्रामें विघ्न करनेवाले भृत्यपर वेतनसे दुगुना अर्थदण्ड करे। जो भृत्य यात्रारम्भके समय काम छोड़ दे, उससे वेतनका सातवाँ भाग, कुछ दूर चलकर काम छोड़ दे, उससे चतुर्थ भाग और जो मार्गके मध्यमें काम छोड़ दे, उससे पूरा वेतन राजा स्वामीको दिलावे। इसी प्रकार भृत्यका त्याग करनेवाले स्वामीसे राजा भृत्यको दिलाये॥ ४३—४८॥

द्यूत-समाह्वय

(जूएमें छलसे काम लेना 'द्यूतसमाह्वय' है। प्राणिभिन्न पदार्थ—सोना, चाँदी आदिसे खेला जानेवाला जूआ 'द्यूत' कहलाता है। किंतु प्राणियोंको घुड़दौड़ आदिमें दाँवपर लगाकर खेला जाय तो उसको 'समाह्वय' कहा जाता है।) परस्परकी स्वीकृतिसे जुआरियोंद्वारा कल्पित पण (शर्त)-को 'ग्लह' कहते हैं। जो जुआरियोंको खेलनेके लिये सभा-भवन प्रदान करता है, वह 'सभिक' कहलाता है। 'ग्लह' या दाँवमें सौ या इससे अधिक वृद्धि (लाभ) प्राप्त करनेवाले धूर्त जुआरीसे 'सभिक' प्रतिशत पाँच पण अपने भरण-पोषणके लिये ले। फिर दूसरी बार उतनी ही वृद्धि प्राप्त करनेवाले अन्य जुआरीसे प्रतिशत दस पण ग्रहण करे। राजाके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित द्यूतका अधिकारी सभिक राजाका निश्चित भाग उसे दे। जीता हुआ धन जीतनेवालेको दिलाये और क्षमा-परायण होकर सत्य-भाषण करे। जब द्यूतका सभिक और प्रख्यात जुआरियोंका समूह राजाके समीप आये तथा राजाको उनका भाग दे दिया

* 'नारदस्मृति' में कहा है कि 'प्रथम' साहसका दण्ड सौ पण, 'मध्यम' साहसका दण्ड पाँच सौ पण और 'उत्तम' साहसका दण्ड एक हजार पण है।

गया हो तो राजा जीतनेवालेको जीतका धन दिला दे, अन्यथा न दिलाये। द्यूत-व्यवहारको देखनेवाले सभासदके पदपर राजा उन जुआरियोंको ही नियुक्त करे तथा साक्षी भी द्यूतकारोंको ही बनाये। कृत्रिम पाशोंसे छलपूर्वक जूआ खेलनेवाले मनुष्योंके ललाटमें चिह्न करके राजा उन्हें देशसे निर्वासित कर दे। चोरोंको पहचाननेके लिये द्यूतमें एक ही किसीको प्रधान बनावे, यही विधि 'प्राणि-द्यूत-समाह्वय' (घुड़दौड़) आदिमें भी जाननी चाहिये॥ ४९—५३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सीमा-विवादादिके कथनका निर्णय' नामक दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५७॥

दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय

व्यवहारके वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, विक्रियासम्प्रदान, सम्भूय-समुत्थान, स्तेय, स्त्री-संग्रहण तथा प्रकीर्णक—इन विवादास्पद विषयोंपर विचार

वाक्पारुष्य

[अब 'वाक्पारुष्य' (कठोर गाली देने आदि)-के विषयमें विचार किया जाता है। इसका लक्षण नारदजीने इस प्रकार बताया है—"देश, जाति और कुल आदिको कोसते हुए उनके सम्बन्धमें जो अश्लील और प्रतिकूल अर्थवाली बात कही जाती है, उसको 'वाक्पारुष्य' कहते हैं।" प्रतिकूल अर्थवालीसे तात्पर्य है—उद्वेगजनक वाक्यसे। जैसे कोई कहे—'गौडदेशवाले बड़े झगड़ालू होते हैं' तो यह देशपर आक्षेप हुआ। 'ब्राह्मण बड़े लालची होते हैं'—यह जातिपर आक्षेप हुआ, तथा 'विश्वामित्रगोत्रीय बड़े क्रूर चरित्रवाले होते हैं'—यह कुलपर आक्षेप हुआ। यह 'वाक्पारुष्य' तीन प्रकारका होता है—'निष्ठुर', 'अश्लील' और 'तीव्र'। इनका दण्ड भी उत्तरोत्तर भारी होता है। आक्षेपयुक्त वचनको 'निष्ठुर' कहते हैं, जिसमें अभद्र बात कही जाय, वह 'अश्लील' है और जिससे किसीपर पातकी होनेका आरोप हो, वह वाक्य 'तीव्र' है। जैसे किसीने कहा—'तू मूर्ख है, मौगड़ है, तुझे धिक्कार है'—यह साक्षेप वचन 'निष्ठुर'की कोटिमें आता है, किसीकी माँ-बहिनके लिये गाली निकालना 'अश्लील' है और किसीको यह कहना कि 'तू शराबी है, गुरुपत्नीगामी है'—ऐसा कटुवचन 'तीव्र' कहा गया है। इस तरह वाक्पारुष्यके अपराधोंपर दण्डविधान कैसे किया जाता है, इसीका यहाँ विचार है—]

जो न्यूनाङ्ग (लँगड़े-लूले आदि) हैं, न्यूनेन्द्रिय (अन्धे-बहरे आदि) हैं तथा जो रोगी (दूषित चर्मवाले, कोढ़ी आदि) हैं, उनपर सत्यवचन, असत्यवचन अथवा अन्यथा-स्तुतिके द्वारा कोई आक्षेप करे तो राजा उसपर साढ़े बारह पण दण्ड लगाये। ("इन महोदयकी दोनों आँखें नहीं हैं, इसलिये लोग इन्हें 'अंधा' कहते हैं"—यह सत्यवचनद्वारा आक्षेप हुआ। "इनकी आँखें तो सही-सलामत हैं, फिर भी लोग इन्हें 'अंधा' कहते हैं"—यह असत्यवचनद्वारा आक्षेप हुआ। 'तुम विकृताकार होनेसे ही दर्शनीय हो गये हो' यह 'अन्यथास्तुति' है।)॥ १॥

जो मनुष्य किसीपर आक्षेप करते हुए इस प्रकार कहे कि 'मैं तेरी बहिनसे, तेरी माँसे समागम करूँगा' तो राजा उसपर पचीस पणका अर्थदण्ड लगाये। यदि गाली देनेवालेकी अपेक्षा गाली पानेवाला अधम* है तो उसको गाली

* गुण और आचरणकी दृष्टिसे गिरा हुआ।

देनेके अपराधमें श्रेष्ठ पुरुषपर उक्त दण्डका आधा लगेगा तथा परायी स्त्री एवं उच्चजातिवालेको अधमके द्वारा गाली दी गयी हो तो उसके ऊपर पूर्वोक्त दण्ड दुगुना लगाया जाय। वर्ण और जातिकी लघुता और श्रेष्ठताको देखकर राजा दण्डकी व्यवस्था करे। वर्णोंके 'प्रातिलोम्यापवाद'में अर्थात् निम्नवर्णके पुरुषद्वारा उच्चवर्णके पुरुषपर आक्षेप किये जानेपर दुगुने और तिगुने दण्डका विधान है। जैसे ब्राह्मणको कटुवचन सुनानेवाले क्षत्रियपर पूर्वोक्त द्विगुण दण्ड, पचास पणसे दुगुने दण्ड सौ पण, लगाये जाने चाहिये तथा वही अपराध करनेवाले वैश्यपर तिगुने, अर्थात् डेढ़ सौ पण दण्ड लगने चाहिये। इसी तरह 'आनुलोम्यापवाद'में, अर्थात् उच्चवर्णद्वारा हीनवर्णके मनुष्यपर आक्षेप किये जानेपर क्रमशः आधे-आधे दण्डकी कमी हो जाती है। अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियपर आक्रोश करे तो पचास पण दण्ड दे, वैश्यपर करे तो पच्चीस पण और यदि शूद्रपर करे तो साढ़े बारह पण दण्ड दे। यदि कोई मनुष्य वाणीद्वारा दूसरोंको इस प्रकार धमकावे कि 'मैं तुम्हारी बाँह उखाड़ लूँगा, गर्दन मरोड़ दूँगा, आँखें फोड़ दूँगा और जाँघ तोड़ डालूँगा' तो राजा उसपर सौ पणका दण्ड लगावे और जो पैर, नाक, कान और हाथ आदि तोड़नेको कहे, उसपर पचास पणका अर्थदण्ड लागू करे। यदि असमर्थ मनुष्य ऐसा कहे, तो राजा उसपर दस पण दण्ड लगावे और समर्थ मनुष्य असमर्थको ऐसा कहे, तो उससे पूर्वोक्त सौ पण दण्ड वसूल करे। साथ ही असमर्थ मनुष्यकी रक्षाके लिये उससे कोई 'प्रतिभू' (जमानतदार) भी माँगे। किसीको पतित सिद्ध करनेके लिये आक्षेप करनेवाले मनुष्यको मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये तथा उपपातकका मिथ्या आरोप करनेवालेपर प्रथम साहसका दण्ड लगाना चाहिये। वेदविद्या-सम्पन्न ब्राह्मण, राजा अथवा देवताकी निन्दा करनेवालोंको उत्तम साहस, जातियोंके सङ्घकी निन्दा करनेवालेको मध्यम साहस और ग्राम या देशकी निन्दा करनेवालेको प्रथम साहसका दण्ड देना चाहिये॥ २—८॥

दण्डपारुष्य

[अब 'दण्डपारुष्य' प्रस्तुत किया जाता है। नारदजीके कथनानुसार उसका स्वरूप इस प्रकार है—"दूसरोंके शरीरपर, अथवा उसकी स्थावर-जङ्गम वस्तुओंपर हाथ, पैर, अस्त्र-शस्त्र तथा पत्थर आदिसे जो चोट पहुँचायी जाती है तथा राख, धूल और मल-मूत्र आदि फेंककर उसके मनमें दुःख उत्पन्न किया जाता है, यह दोनों ही प्रकारका व्यवहार 'दण्डपारुष्य' कहलाता है।" उसके तीन कारण बताये जाते हैं—'अवगोरण' (मारनेके लिये उद्योग), 'निःसङ्गपातन' (निष्ठुरतापूर्वक नीचे गिरा देना) और 'क्षतदर्शन' (रक्त निकाल देना)। इन तीनोंके द्वारा हीन द्रव्यपर, मध्यम द्रव्यपर और उत्तम द्रव्यपर जो आक्रमण होता है, उसको दृष्टिमें रखकर 'दण्डपारुष्य'के तीन भेद किये जाते हैं। 'दण्डपारुष्य'का निर्णय करके उसके लिये अपराधीको दण्ड दिया जाता है। उसके स्वरूपमें संदेह होनेपर निर्णयके कारण बता रहे हैं—]

यदि कोई मनुष्य राजाके पास आकर इस आशयका अभियोगपत्र दे कि 'अमुक व्यक्तिने एकान्त स्थानमें मुझे मारा है', तो राजा इस कार्यमें चिह्नोंसे, युक्तियोंसे, आशय (जनप्रवादसे) तथा दिव्य-प्रमाणसे निश्चय करे। 'अभियोग लगानेवालेने अपने शरीरपर घावका कपटपूर्वक चिह्न तो नहीं बना लिया है', इस संदेहके कारण उसका परीक्षण (छानबीन) आवश्यक है। दूसरेके ऊपर राख, कीचड़ या धूल फेंकनेवालेपर दस पण और अपवित्र वस्तु या थूक डालनेवाले, अथवा अपने पैरकी एड़ी छुआ देनेवालेपर राजा बीस पण दण्ड लगाये। यह दण्ड समान वर्णवालोंके

प्रति ऐसा अपराध करनेवालोंके लिये ही बताया गया है। परायी स्त्रियों और अपनेसे उत्तम वर्णवाले पुरुषोंके प्रति पूर्वोक्त व्यवहार करनेपर मनुष्य दुगुने दण्डका भागी होता है और अपनेसे हीन वर्णवालोंके प्रति ऐसा व्यवहार करनेपर मनुष्य आधा दण्ड पानेका अधिकारी होता है। यदि कोई मोह एवं मदके वशीभूत (नशेमें) होकर ऐसा अपराध कर बैठे तो उसे दण्ड नहीं देना चाहिये॥ ९—११॥

ब्राह्मणेतर मनुष्य अपने जिस अङ्गसे ब्राह्मणको पीड़ा दे—मारे-पीटे, उसका वह अङ्ग छेदन कर देने योग्य है। ब्राह्मणके वधके लिये शस्त्र उठा लेनेपर उस पुरुषको प्रथम साहसका दण्ड मिलना चाहिये। यदि उसने मारनेकी इच्छासे शस्त्र आदिका स्पर्शमात्र किया हो तो उसे प्रथम साहसके आधे दण्डसे दण्डित करना चाहिये। अपने समान जातिवाले मनुष्यको मारनेके लिये हाथ उठानेवालेको दस पण, लात उठानेवालेको बीस पण और एक-दूसरेके वधके लिये शस्त्र उठानेपर सभी वर्णके लोगोंको मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये। किसीके पैर, केश, वस्त्र और हाथ—इनमेंसे कोई-सा भी पकड़कर खींचने या झटका देनेपर अपराधीको दस पणका दण्ड लगावे। इसी तरह दूसरेको कपड़ेमें लपेटकर जोर-जोरसे दबाने, घसीटने और पैरोंसे आघात करनेपर आक्रामकसे सौ पण वसूल करे। जो किसीपर लाठी आदिसे ऐसा प्रहार करे कि उसे दु:ख तो हो, किंतु शरीरसे रक्त न निकले, तो उस मनुष्यपर बत्तीस पण दण्ड लगावे। यदि उस प्रहारसे रक्त निकल आवे तो अपराधीपर इससे दूना, चौंसठ पण दण्ड लगाया जाना चाहिये। किसीके हाथ-पाँव अथवा दाँत तोड़नेवाले, नाक-कान काटनेवाले, घावको कुचल देनेवाले या मारकर मृतकतुल्य बना देनेवालेपर मध्यम साहस—पाँच सौ पणका दण्ड लगाया जाय। किसीकी चेष्टा, भोजन या वाणीको रोकनेवाले आँख, जिह्वा आदिको फोड़ने या छेदनेवाले या कंधा, भुजा और जाँघ तोड़नेवालेको भी मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये। यदि बहुत-से मनुष्य मिलकर एक मनुष्यका अङ्ग-भङ्ग करें तो जिस-जिस अपराधके लिये जो-जो दण्ड बताया गया है, उससे दूना दण्ड प्रत्येकको दे। परस्पर कलह होते समय जिसने जिसकी जो वस्तु हड़प ली हो, राजाकी आज्ञासे उसे उसकी वह वस्तु लौटा देनी होगी और अपहरणके अपराधमें उस अपहृत वस्तुके मूल्यसे दूना दण्ड राजाके लिये देना होगा। जो मनुष्य किसीपर प्रहार करके उसे घायल कर दे, वह उसके घाव भरने और स्वस्थ होनेतक औषध, पथ्य एवं चिकित्सामें जितना व्यय हो, उसका भार वहन करे। साथ ही जिस कलहके लिये जो दण्ड बताया गया है, उतना अर्थदण्ड भी चुकाये। नावसे लोगोंको पार उतारनेवाला नाविक यदि स्थलमार्गका शुल्क ग्रहण करता है तो उसपर दस पण दण्ड लगाना चाहिये। यदि यजमानके पास वैभव हो और पड़ोसमें विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण बसते हों तो श्राद्ध आदिमें उनको निमन्त्रण न देनेपर उस यजमानपर भी वही दण्ड लगाना चाहिये। किसीकी दीवारपर मुद्‌गर आदिसे आघात करनेवालेपर पाँच पण, उसे विदीर्ण करनेवालेपर दस पण तथा उसको फोड़ने या दो टूक करनेवालेपर बीस पण दण्ड लगाया जाय और वह दीवार गिरा देनेवालेसे पैंतीस पण दण्ड वसूल किया जाय। साथ ही उस दीवारके मालिकको नये सिरेसे दीवार बनानेका व्यय उससे दिलाया जाय। किसीके घरमें दु:खोत्पादक वस्तु—कण्टक आदि फेंकनेवालेपर सोलह पण और शीघ्र प्राण हरण करनेवाली वस्तु—विषधर सर्प आदि फेंकनेपर मध्यम साहस—पाँच सौ पण दण्ड देनेका विधान है। क्षुद्र पशुको पीड़ा पहुँचानेवालेपर दो पण, उसके शरीरसे रुधिर निकाल देनेवालेपर चार

पण, सींग तोड़नेवालेपर छः पण तथा अङ्ग-भङ्ग करनेवालेपर आठ पण दण्ड लगावे। क्षुद्र पशुका लिङ्ग-छेदन करने या उसको मार डालनेपर मध्यम साहसका दण्ड दे और अपराधीसे स्वामीको उस पशुका मूल्य दिलाये। महान् पशु—हाथी-घोड़े आदिके प्रति दुःखोत्पादन आदि पूर्वोक्त अपराध करनेपर क्षुद्र पशुओंकी अपेक्षा दूना दण्ड जानना चाहिये। जिनकी डालियाँ काटकर अन्यत्र लगा दी जानेपर अङ्कुरित हो जाती हैं, वे बरगद आदि वृक्ष 'प्ररोहिशाखी' कहलाते हैं। ऐसे प्ररोही वृक्षोंकी तथा जिनकी डालियाँ अङ्कुरित नहीं होतीं, परंतु जो जीविका चलानेके साधन बनते हैं, उन आम आदि वृक्षोंकी शाखा, स्कन्ध तथा मूलसहित समूचे वृक्षका छेदन करनेपर क्रमशः बीस पण, चालीस पण और अस्सी पण दण्ड लगानेका विधान है॥ १२—२५॥

साहस-प्रकरण

(अब 'साहस' नामक विवादपदका विवेचन करनेके लिये पहले उसका लक्षण बताते हैं—) सामान्य द्रव्य अथवा परकीय द्रव्यका बलपूर्वक अपहरण 'साहस' कहलाता है। (यहाँ यह कहा गया कि राजदण्डका उल्लङ्घन करके, जनसाधारणके आक्रोशकी कोई परवा किये बिना राजकीय पुरुषोंसे भिन्न लोगोंके सामने जो मारण, अपहरण तथा परस्त्रीके प्रति बलात्कार आदि किया जाता है, वह सब 'साहस'की कोटिमें आता है।) जो दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करता है, उसके ऊपर उस अपहृत द्रव्यके मूल्यसे दूना दण्ड लगाना चाहिये। जो 'साहस' (लूट-पाट, डकैती आदि) कर्म करके उसे स्वीकार नहीं करता—'मैंने नहीं किया है'—ऐसा उत्तर देता है, उसके ऊपर वस्तुके मूल्यसे चौगुना दण्ड लगाना उचित है॥ २६॥

जो मनुष्य दूसरेसे डकैती आदि 'साहस' करवाता है, उससे उस साहसके लिये कथित दण्डसे दूना दण्ड लेना चाहिये। जो ऐसा कहकर कि "मैं तुम्हें धन दूँगा, तुम 'साहस' (डकैती आदि) करो", दूसरेसे 'साहस'का काम कराता है, उससे साहसिकके लिये नियत दण्डकी अपेक्षा चौगुना दण्ड वसूल करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष (आचार्य आदि)-की निन्दा या आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले, भ्रातृपत्नी (भौजाई या भयहु)-पर प्रहार करनेवाले, प्रतिज्ञा करके न देनेवाले, किसीके बंद घरका ताला तोड़कर खोलनेवाले तथा पड़ोसी और कुटुम्बीजनोंका अपकार करनेवालेपर राजा पचास पणका दण्ड लगावे, यह शास्त्रका निर्णय है॥ २७-२८॥

(बिना नियोगके) स्वेच्छाचारपूर्वक विधवासे गमन करनेवाले, संकटग्रस्त मनुष्यके पुकारनेपर उसकी रक्षाके लिये दौड़कर न जानेवाले, अकारण ही लोगोंको रक्षाके लिये पुकारनेवाले, चाण्डाल होकर श्रेष्ठ जातिवालोंका स्पर्श करनेवाले, दैव एवं पितृकार्यमें संन्यासीको भोजन करानेवाले, शूद्र, अनुचित शपथ करनेवाले, अयोग्य (अनधिकारी) होनेपर भी योग्य (अधिकारी)-के कर्म (वेदाध्ययनादि) करनेवाले, बैल एवं क्षुद्र पशु—बकरे आदिको बधिया करनेवाले, साधारण वस्तुमें भी ठगी करनेवाले तथा दासीका गर्भ गिरानेवालेपर एवं पिता-पुत्र, बहिन-भाई, पति-पत्नी तथा आचार्य-शिष्य—ये पतित न होते हुए भी यदि एक-दूसरेका त्याग करते हों तो इनके ऊपर भी सौ पण दण्ड लगावे। यदि धोबी दूसरोंके वस्त्र पहने तो तीन पण और यदि बेचे, भाड़ेपर दे, बन्धक रखे या मँगनी दे, तो दस पण

* उपर्युक्त अपराधोंके लिये जो राजदण्ड है, वही मूलमें बताया गया है; परंतु जो वस्त्र उसने गायब कर दिया हो, उसका मूल्य वह वस्त्र-स्वामीको अलगसे दे। मनुजीने यह व्यवस्था दी है कि 'यदि वस्त्र एक बारका धुला है तो धोबी उसके मूल्यका अष्टमांश कम करके शेष मूल्य स्वामीको चुकावे। इसी तरह कई बारके धुले हुए वस्त्रका पादांश, तृतीयांश इत्यादि कम करके वह लौटावे।'

अर्थदण्डके योग्य होता है*। तोलनदण्ड, शासन, मान (प्रस्थ, द्रोण आदि) तथा नाणक (मुद्रा आदिसे चिह्नित निष्क आदि)—इनमें जो कूटकारी (मानके वजनमें कमी-बेशी तथा सुवर्णमें ताँबे आदिकी मिलावट करनेवाला) हो तथा उससे कूट-तुला आदि व्यवहार करता हो, उन दोनोंको पृथक्-पृथक् उत्तम साहसके दण्डसे दण्डित करना चाहिये। सिक्कोंकी परीक्षा करते समय यदि पारखी असली सिक्केको नकली या नकली सिक्केको असली बतावे तो राजा उससे भी प्रथम साहसका दण्ड वसूल करे। जो वैद्य आयुर्वेदको न जाननेपर भी पशुओं, मनुष्यों और राजकर्मचारियोंकी मिथ्या चिकित्सा करे, उसे क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम साहसके दण्डसे दण्डित करे। जो राजपुरुष कैद न करनेयोग्य (निरपराध) मनुष्योंको राजाकी आज्ञाके बिना कैद करता है और बन्धनके योग्य बन्दीको उसके अभियोगका निर्णय होनेके पहले ही छोड़ देता है, उसे उत्तम साहसका दण्ड देना चाहिये। जो व्यापारी कूटमान अथवा तुलासे धान-कपास आदि पण्यद्रव्यका अष्टमांश हरण करता है, वह दो सौ पणके दण्डसे दण्डनीय होता है। अपहृत द्रव्य यदि अष्टमांशसे अधिक या कम हो तो दण्डमें भी वृद्धि और कमी करनी चाहिये। ओषधि, घृत, तेल, लवण, गन्धद्रव्य, धान्य और गुड़ आदि पण्यवस्तुओंमें जो निस्सार वस्तुका मिश्रण कर देता है, राजा उसपर सोलह पण दण्ड लगावे॥ २९—३९॥

यदि व्यापारीलोग संगठित होकर राजाके द्वारा निश्चित किये हुए भावको जानते हुए भी लोभवश कारु और शिल्पियोंको पीड़ा देनेवाले मूल्यकी वृद्धि या कमी करें तो राजा उनपर एक हजार पणका दण्ड लागू करे। राजा निकटवर्ती हो तो उनके द्वारा जिस वस्तुका जो मूल्य निर्धारित कर दिया गया हो, व्यापारीगण प्रतिदिन उसी भावसे क्रय-विक्रय करें; उसमें जो बचत हो, वही बनियोंके लिये लाभकारक मानी गयी है। व्यापारी देशज वस्तुपर पाँच प्रतिशत लाभ रखे और विदेशी द्रव्यको यदि शीघ्र ही क्रय-विक्रय कर ले तो उसपर दस प्रतिशत लाभ ले। राजा दूकानका खर्च पण्यवस्तुपर रखकर उसका भाव इस प्रकार निश्चित करे, जिससे क्रेता और विक्रेताको लाभ हो॥ ४०—४३॥

विक्रीयासम्प्रदान

(प्रसङ्गप्राप्त 'साहस' का प्रकरण समाप्त करके अब 'विक्रीयासम्प्रदान' आरम्भ करते हैं। नारदजीके वचनानुसार 'विक्रीयासम्प्रदान' का स्वरूप इस प्रकार है—"मूल्य लेकर पण्यवस्तुका विक्रय करके जब खरीददारको वह वस्तु नहीं दी जाती है, तब वह 'विक्रीयासम्प्रदान' (बेचकर भी वस्तुको न देना) नामक विवादास्पद कहलाता है।" विक्रेय वस्तु 'चल' और 'अचल' के भेदसे दो प्रकारकी होती है। फिर उसके छः भेद किये गये हैं—गणित, तुलित, मेय, क्रियोपलक्षित, रूपोपलक्षित और दीप्तिसे उपलक्षित। सुपारीके फल आदि 'गणित' हैं; क्योंकि वे गिनकर बेचे जाते हैं। सोना, कस्तूरी और केसर आदि 'तुलित' हैं; क्योंकि वे तौलकर बेचे जाते हैं। शाली (अगहनी धान) आदि 'मेय' हैं; क्योंकि वे पात्रविशेषसे माप कर दिये जाते हैं। 'क्रियोपलक्षित' वस्तुमें घोड़े, भैंस आदिकी गणना है; क्योंकि उनकी चाल और दोहन आदिकी क्रियाको दृष्टिमें रखकर ही उनका क्रय-विक्रय होता है। 'रूपोपलक्षित' वस्तुमें पण्यस्त्री (वेश्या) आदिकी गणना है; क्योंकि उनके रूपके अनुसार ही उनका मूल्य होता है। 'दीप्तिसे उपलक्षित' वस्तुओंमें हीरा, मोती, मरकत और पद्मराग आदिकी गणना है। इन छहों प्रकारकी पण्यवस्तुको बेचकर, मूल्य लेकर भी यदि क्रेताको वह वस्तु नहीं दी जाती

तो विक्रेताको किस प्रकार दण्डित करना चाहिये, यह बताते हैं—)

जो व्यापारी मूल्य लेकर भी ग्राहकको माल न दे, उससे वृद्धिसहित वह माल ग्राहकको दिलाया जाय। यदि ग्राहक परदेशका हो तो उसके देशमें ले जाकर बेचनेसे जो लाभ होता है, उस लाभसहित वह वस्तु राजा व्यापारीसे ग्राहकको दिलावे। यदि पहला ग्राहक मालमें किसी प्रकार संदेह होनेपर वस्तुको न लेना चाहे तो व्यापारी उस बेची हुई वस्तुको भी दूसरेके हाथ बेच सकता है। यदि विक्रेताके देनेपर भी ग्राहक न ले और वह पण्यवस्तु राजा या दैवकी बाधासे नष्ट हो जाय तो वह हानि क्रेताके ही दोषसे होनेके कारण वही उस हानिको सहन करेगा, बेचनेवाला नहीं। यदि ग्राहकके माँगनेपर भी उस बेची हुई पण्यवस्तुको बेचनेवाला नहीं दे और वह पण्यद्रव्य राजा या दैवके कोपसे उपहत हो जाय तो वह हानि विक्रेताकी होगी॥ ४४—४६॥

जो व्यापारी किसीको बेची हुई वस्तु दूसरेके हाथ बेचता है, अथवा दूषित वस्तुको दोषरहित बतलाकर बेचता है, राजा उसपर वस्तुके मूल्यसे दुगुना अर्थदण्ड लगावे। जान-बूझकर खरीदे हुए पण्यद्रव्योंका मूल्य खरीदनेके बाद यदि बढ़ गया या घट गया तो उससे होनेवाले लाभ या हानिको जो ग्राहक नहीं जानता, उसे 'अनुशय' (माल लेनेमें आनाकानी) नहीं करनी चाहिये। विक्रेता भी यदि बढ़े हुए दामके कारण अपनेको लगे हुए घाटेको नहीं जान पाया है तो उसे भी माल देनेमें आनाकानी नहीं करनी चाहिये। इससे यह बात स्वत: स्पष्ट हो जाती है कि खरीद-बिक्रीके पश्चात् यदि ग्राहकको घाटा दिखायी दे तो वह माल लेनेमें आपत्ति कर सकता है। इसी तरह विक्रेता उस भावपर माल देनेमें यदि हानि देखे तो वह उस मालको रोक सकता है। यदि अनुशय न करनेकी स्थितिमें क्रेता या विक्रेता अनुशय करें तो उनपर पण्यवस्तुके मूल्यका छठा अंश दण्ड लगाना चाहिये॥ ४७-४८॥

सम्भूयसमुत्थान

जो व्यापारी सम्मिलित होकर लाभके लिये व्यापार करते हैं, वे अपने नियोजित धनके अनुसार अथवा पहलेके समझौतेके अनुसार लाभ-हानिमें भाग ग्रहण करें। यदि उनमें कोई अपने साझीदारोंके मना करनेपर या उनके अनुमति न देनेपर, अथवा प्रमादवश किसी वस्तुमें हानि करेगा, तो क्षतिपूर्ति उसे ही करनी होगी। यदि उनमेंसे कोई पण्यद्रव्यकी विप्लवोंसे रक्षा करेगा तो वह दशमांश लाभका भागी होगा॥ ४९-५०॥

पण्यद्रव्योंका मूल्य निश्चित करनेके कारण राजा मूल्यका बीसवाँ भाग अपने शुल्कके रूपमें ग्रहण करे। यदि कोई व्यापारी राजाके द्वारा निषिद्ध एवं राजोपयोगी वस्तुको लाभके लोभसे किसी दूसरेके हाथ बेचता है तो राजा उससे वह वस्तु बिना मूल्य दिये ले सकता है। जो मनुष्य शुल्कस्थानमें वस्तुका मिथ्या परिमाण बतलाता है, अथवा वहाँसे खिसक जानेकी चेष्टा करता है तथा जो कोई बहाना बनाकर किसी विवादास्पद वस्तुका क्रय-विक्रय करता है—इन सबपर पण्यवस्तुके मूल्यसे आठगुना दण्ड लगाना चाहिये। यदि संघबद्ध होकर काम करनेवालोंमेंसे कोई देशान्तरमें जाकर मृत्युको प्राप्त हो जाय तो उसके हिस्सेके द्रव्यको दायाद (पुत्र आदि), बान्धव (मातुल आदि) अथवा ज्ञाति (सजातीय-सपिण्ड) आकर ले लें। उनके न होनेपर उस धनको राजा ग्रहण करे। संघबद्ध होकर काम करनेवालोंमें जो कुटिल या वञ्चक हो, उसे किसी तरहका लाभ दिये बिना ही संघसे बाहर कर दे। उनमेंसे जो अपना कार्य स्वयं करनेमें असमर्थ हो, वह दूसरेसे करावे। होता आदि

ऋत्विजों, किसानों तथा शिल्पकर्मोपजीवी नट, नर्तकादिकोंके लिये भी रहन-सहनका ढंग उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट कर दिया गया॥ ५१—५४॥

स्तेय-प्रकरण

(अब 'स्तेय' अथवा चोरीके विषयमें बताया जाता है। मनुजीने 'साहस' और 'चोरी'में अन्तर बताते हुए लिखा है—''जो द्रव्य-रक्षकोंके समक्ष बलात् पराये धनको लूटा जाता है, वह 'साहस' या 'डकैती' है। तथा जो पराया धन स्वामीकी दृष्टिसे बचकर या किसीको चकमा देकर हड़प लिया जाता है, तथा 'मैंने यह कर्म किया है'— यह बात भयके कारण छिपायी जाती है, किसीपर प्रकट नहीं होने दी जाती, वह सब 'स्तेय' (चोरी) कर्म है।'' चोरको कैसे पकड़ना चाहिये, यह बात बता रहे हैं—)

किसीके यहाँ चोरी होनेपर ग्राहक—राजकीय कर्मचारी या आरक्षा-विभागका सिपाही ऐसे व्यक्तिको पकड़े, जो लोगोंमें चोरीके लिये विख्यात हो—जिसे सब लोग चोर कहते हैं, अथवा जिसके पास चोरीका चिह्न—चोरी गया हुआ माल मिल जाय, उसे पकड़े। अथवा चोरीके दिनसे ही चोरके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए पता लग जानेपर उस चोरको बंदी बनावे। जो पहले भी चौर्य-कर्मका अपराधी रहा हो तथा जिसका कोई शुद्ध—निश्चित निवासस्थान न हो, ऐसे व्यक्तिको भी संदेहमें कैद करे। जो पूछनेपर अपनी जाति और नाम आदिको छिपावें, जो द्यूतक्रीडा, वेश्यागमन और मद्यपानमें आसक्त हों, चोरीके विषयमें पूछनेपर जिनका मुँह सूख जाय और स्वर विकृत हो जाय, जो दूसरोंके धन और घरके विषयमें पूछते फिरें, जो गुप्तरूपसे विचरण करें, जो आय न होनेपर भी बहुत व्यय करनेवाले हों तथा जो विनष्ट द्रव्यों (फटे-पुराने वस्त्रों और टूटे-फूटे बर्तन आदि)-को बेचते हों—ऐसे अन्य लोगोंको भी चोरीके संदेहमें पकड़ लेना चाहिये। जो मनुष्य चोरीके संदेहमें पकड़ा गया हो, वह यदि अपनी निर्दोषिताको प्रमाणित न कर सके तो राजा उससे चोरीका धन दिलाकर उसे चोरका दण्ड दे। राजा चोरसे चोरीका धन दिलाकर उसे अनेक प्रकारके शारीरिक दण्ड देते हुए मरवा डाले। यह दण्ड बहुमूल्य वस्तुओंकी भारी चोरी होनेपर ही देनेयोग्य है; किंतु यदि चोरी करनेवाला ब्राह्मण हो तो उसके ललाटमें दाग देकर उसको अपने राज्यसे निर्वासित कर दे। यदि गाँवमें मनुष्य आदि किसी प्राणीका वध हो जाय, अथवा धनकी चोरी हो जाय और चोरके गाँवसे बाहर निकल जानेका कोई चिह्न न दिखायी दे तो सारा दोष ग्रामपालपर आता है। वही चोरको पकड़कर राजाके हवाले करे। यदि ऐसा न कर सके तो जिसके घरमें धनकी चोरी हुई है, उस गृहस्वामीको चोरीका सारा धन अपने पाससे दे। यदि चोरके गाँवसे बाहर निकल जानेका कोई चिह्न वह दिखा सके तो जिस भूभागमें चोरका प्रवेश हुआ है, उसका अधिपति ही चोरको पकड़वावे, अथवा चोरीका धन अपने पाससे दे। यदि विवीत-स्थानमें अपहरणकी घटना हुई है तो विवीत-स्वामीका ही सारा दोष है। यदि मार्गमें या विवीत-स्थानसे बाहर दूसरे क्षेत्रमें चोरीका कोई माल मिले या चोरका ही चिह्न लक्षित हो तो चोर पकड़नेके कामपर नियुक्त हुए मार्गपालका अथवा उस दिशाके संरक्षकका दोष होता है। यदि गाँवसे बाहर, किंतु ग्रामकी सीमाके अंदरके क्षेत्रमें चोरी आदिकी घटना घटित हो तो उस ग्रामके निवासी ही क्षतिपूर्ति करें। उनपर यह उत्तरदायित्व तभीतक आता है, जबतक चोरका पदचिह्न सीमाके बाहर गया हुआ नहीं दिखायी देता। यदि सीमाके बाहर गया दिखायी पड़े, तो जिस ग्राम आदिमें उसका

प्रवेश हो, वहींके लोग चोरको पकड़वाने और चोरीका माल वापस देनेके लिये जिम्मेदार हैं। यदि अनेक गाँवोंके बीचमें एक कोसकी सीमासे बाहर हत्या और चोरीकी घटना घटित हुई हो और अधिक जनसमूहकी दौड़-धूपसे चोरका पदचिह्न मिट गया हो तो पाँच गाँवके लोग अथवा दस गाँवके लोग मिलकर चोरको पकड़वाने तथा चोरीका माल वापस देनेका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें। बंदीको गुप्तरूपसे जेलसे छुड़ाकर भगा ले जानेवाले, घोड़ों और हाथियोंकी चोरी करनेवाले तथा बलपूर्वक किसीकी हत्या करनेवाले लोगोंको राजा शूलीपर चढ़वा दे। राजा वस्त्र आदिकी चोरी करनेवाले और गठरी आदि काटनेवाले चोरोंके प्रथम अपराधमें क्रमश: अङ्गुष्ठ और तर्जनी कटवा दे और दूसरी बार वही अपराध करनेपर उन दोनोंको क्रमश: एक हाथ तथा एक पैरसे हीन कर दे। जो मनुष्य जान-बूझकर चोर या हत्यारेको भोजन, रहनेके लिये स्थान, सर्दीमें तापनेके लिये अग्नि, प्यासे हुएको जल, चोरी करनेके तौर-तरीकेकी सलाह, चोरीके साधन और उसी कार्यके लिये परदेश जानेके लिये मार्गव्यय देता है, उसको उत्तम साहसका दण्ड देना चाहिये। दूसरेके शरीरपर घातक शस्त्रसे प्रहार करने तथा गर्भवती स्त्रीके गर्भ गिरानेपर भी उत्तम साहसका ही दण्ड देना उचित है। किसी भी पुरुष या स्त्रीकी हत्या करनेपर उसके शील और आचारको दृष्टिमें रखते हुए उत्तम या अधम साहसका दण्ड देना चाहिये। जो पुरुषकी हत्या करनेवाली तथा दूसरोंको जहर देकर मारनेवाली है, ऐसी स्त्रीके गलेमें पत्थर बाँधकर उसे पानीमें फेंक देना चाहिये; (परंतु यदि वह गर्भवती हो तो उस समय उसे ऐसा दण्ड न दे।) विष देनेवाली, आग लगानेवाली तथा अपने पति, गुरु या संतानको मारनेवाली स्त्रीको कान, हाथ, नाक और ओठ काटकर उसे साँड़ोंसे कुचलवाकर मरवा डाले। खेत, घर, वन, ग्राम, रक्षित भूभाग अथवा खलिहानमें आग लगानेवाले या राजपत्नीसे समागम करनेवाले मनुष्यको सूखे नरकुल या सरकंडों-तिनकोंसे ढककर जला दे॥ ५५—६७॥

स्त्री-संग्रहण

(अब 'स्त्री-संग्रहण' नामक विवादपर विचार किया जाता है। परायी स्त्री और पराये पुरुषका मिथुनीभाव (परस्पर आलिङ्गन) 'स्त्री-संग्रहण' कहलाता है। दण्डनीयताकी दृष्टिसे इसके तीन भेद हैं—प्रथम, मध्यम और उत्तम। अयोग्य देश और कालमें, एकान्त स्थानमें, बिना कुछ बोले-चाले परायी स्त्रीको कटाक्षपूर्वक देखना और हास्य करना 'प्रथम साहस' माना गया है। उसके पास सुगन्धित वस्तु—इत्र-फुलेल आदि, फूलोंके हार, धूप, भूषण और वस्त्र भेजना तथा उन्हें खाने-पीनेका प्रलोभन देना 'मध्यम साहस' कहा गया है। एकान्त स्थानोंमें एक साथ एक आसनपर बैठना, आपसमें सटना, एक-दूसरेके केश पकड़ना आदिको 'उत्तम संग्रहण' या 'उत्तम साहस' माना गया है। संग्रहणके कार्यमें प्रवृत्त पुरुषको बंदी बना लेना चाहिये—यह बात निम्नाङ्कित श्लोकमें बता रहे हैं—)

केशग्रहणपूर्वक परस्त्रीके साथ क्रीड़ा करनेवाले पुरुषको व्यभिचारके अपराधमें पकड़ना चाहिये। सजातीय नारीसे समागम करनेवालेको एक हजार पण, अपनेसे नीच जातिकी स्त्रीसे सम्भोग करनेवालेको पाँच सौ पण एवं उच्चजातिकी नारीसे संगम करनेवालेको वधका दण्ड दे और ऐसा करनेवाली स्त्रीके नाक-कान आदि कटवा डाले। जो पुरुष परस्त्रीकी नीवी (कटिवस्त्र), स्तन, कञ्चुकी, नाभि और केशोंका स्पर्श करता है, अनुचित देशकालमें सम्भाषण करता है, अथवा उसके साथ एक आसनपर बैठता है, उसे भी

व्यभिचारके दोषमें पकड़ना चाहिये। जो स्त्री मना करनेपर भी परपुरुषके साथ सम्भाषण करे, उसको सौ पण और जो पुरुष निषेध करनेपर भी परस्त्रीके साथ सम्भाषण करे तो उसे दो सौ पणका दण्ड देना चाहिये। यदि वे दोनों मना करनेके बाद भी सम्भाषण करते पाये जायँ तो उन्हें व्यभिचारका दण्ड देना चाहिये। पशुके साथ मैथुन करनेवालेपर सौ पण तथा नीचजातिकी स्त्री या गौसे समागम करनेवालेपर पाँच सौ पणका दण्ड करे। किसीकी अवरुद्धा (खरीदी हुई) दासी तथा रखेल स्त्रीके साथ उसके समागमके योग्य होनेपर भी समागम करनेवाले पुरुषपर पचास पणका दण्ड लगाना चाहिये। दासीके साथ बलात्कार करनेवालेके लिये दस पणका विधान है। चाण्डाली या संन्यासिनीसे समागम करनेवाले मनुष्यके ललाटमें 'भग'का चिह्न अङ्कित करके उसे देशसे निर्वासित कर दे॥ ६८—७३॥

प्रकीर्णक-प्रकरण

जो मनुष्य राजाज्ञाको न्यूनाधिक करके लिखता है, अथवा व्यभिचारी या चोरको छोड़ देता है, राजा उसे उत्तम साहसका दण्ड दे। ब्राह्मणको अभक्ष्य पदार्थका भोजन कराके दूषित करनेवाला उत्तम साहसके दण्डका भागी होता है। कृत्रिम स्वर्णका व्यवहार करनेवाले तथा मांस बेचनेवालेको एक हजार पणका दण्ड दे और उसे नाक, कान और हाथ—इन तीन अङ्गोंसे हीन कर दे। यदि पशुओंका स्वामी समर्थ होते हुए भी अपने दाढ़ों और सींगोंवाले पशुओंसे मारे जाते हुए मनुष्यको छुड़ाता नहीं है तो उसको प्रथम साहसका दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि पशुके आक्रमणका शिकार होनेवाला मनुष्य जोर-जोरसे चिल्लाकर पुकारे कि 'अरे! मैं मारा गया। मुझे बचाओ', उस दशामें भी यदि पशुओंका स्वामी उसके प्राण नहीं बचाता तो वह दूने दण्डका भागी होता है। जो अपने कुलमें कलङ्क लगनेके डरसे घरमें घुसे हुए जार (परस्त्रीलम्पट)-को चोर बताता है, अर्थात् 'चोर-चोर' कहकर निकालता है, उसपर पाँच सौ पण दण्ड लगाना चाहिये। जो राजाको प्रिय न लगनेवाली बात बोलता है, राजाकी ही निन्दा करता है तथा राजाकी गुप्त मन्त्रणाका भेदन करता—शत्रुपक्षके कानोंतक पहुँचा देता है, उस मनुष्यकी जीभ काटकर उसे राज्यसे निकाल देना चाहिये। मृतकके अङ्गसे उतारे गये वस्त्र आदिका विक्रय करनेवाले, गुरुकी ताड़ना करनेवाले तथा राजाकी सवारी और आसनपर बैठनेवालेको राजा उत्तम साहसका दण्ड दे। जो क्रोधमें आकर किसीकी दोनों आँखें फोड़ देता है, उस अपराधीको, जो राजाके अनन्य हितचिन्तकोंमें न होते हुए भी राजाके लिये अनिष्टसूचक फलादेश करता है, उस ज्यौतिषीको तथा जो ब्राह्मण बनकर जीविका चला रहा हो, उस शूद्रको आठ सौ पणके दण्डसे दण्डित करना चाहिये। जो मनुष्य न्यायसे पराजित होनेपर भी अपनी पराजय न मानकर पुनः न्यायके लिये उपस्थित होता है, उसको धर्मपूर्वक पुनः जीतकर उसके ऊपर दुगुना दण्ड लगावे। राजाने अन्यायपूर्वक जो अर्थदण्ड लिया हो, उसे तीसगुना करके वरुणदेवताको निवेदन करनेके पश्चात् स्वयं ब्राह्मणोंको बाँट दे। जो राजा धर्मपूर्वक व्यवहारोंको देखता है, उसे धर्म, अर्थ, कीर्ति, लोकपंक्ति, उपग्रह (अर्थसंग्रह), प्रजाओंसे बहुत अधिक सम्मान और स्वर्गलोकमें सनातन स्थान—ये सात गुण प्राप्त होते हैं॥ ७४—८३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वाक्पारुष्यादि प्रकरणोंका कथन' नामक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५८॥

दो सौ उनसठवाँ अध्याय

ऋग्विधान—विविध कामनाओंकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त होनेवाले ऋग्वेदीय मन्त्रोंका निर्देश

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं महर्षि पुष्करके द्वारा परशुरामजीके प्रति वर्णित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका विधान कहता हूँ, जिसके अनुसार मन्त्रोंके जप और होमसे भोग एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है॥ १॥

पुष्कर बोले—परशुराम! अब मैं प्रत्येक वेदके अनुसार तुम्हारे लिये कर्तव्यकर्मोंका वर्णन करता हूँ। पहले तुम भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले 'ऋग्विधान'को सुनो। गायत्री-मन्त्रका विशेषत: प्राणायामपूर्वक जलमें खड़े होकर तथा होमके समय जप करनेवाले पुरुषकी समस्त मनोवाञ्छित कामनाओंको गायत्री देवी पूर्ण कर देती हैं। ब्रह्मन्! जो दिनभर उपवास करके केवल रात्रिमें भोजन करता और उसी दिन अनेक बार स्नान करके गायत्री-मन्त्रका दस सहस्र जप करता है, उसका वह जप समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। जो गायत्रीका एक लाख जप करके हवन करता है, वह मोक्षका अधिकारी होता है। 'प्रणव' परब्रह्म है। उसका जप सभी पापोंका हनन करनेवाला है। नाभिपर्यन्त जलमें स्थित होकर ॐकारका सौ बार जप करके अभिमन्त्रित किये गये जलको जो पीता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। गायत्रीके प्रथम अक्षर प्रणवकी तीन मात्राएँ—अकार, उकार और मकार—ये ही 'ऋक्', 'साम' और 'यजुष्'—तीन वेद हैं, ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनों देवता हैं तथा ये ही गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—तीनों अग्नियाँ हैं। गायत्रीकी जो सात महाव्याहृतियाँ हैं, वे ही सातों लोक हैं। इनके उच्चारणपूर्वक गायत्री-मन्त्रसे किया हुआ होम समस्त पापोंका नाश करनेवाला होता है। सम्पूर्ण गायत्री-मन्त्र तथा महाव्याहृतियाँ—ये सब जप करनेयोग्य एवं उत्कृष्ट मन्त्र हैं। परशुरामजी! अघमर्षण-मन्त्र **'ऋतं च सत्यं च०'** (१०।१९०।१—३) इत्यादि जलके भीतर डुबकी लगाकर जपा जाय तो सर्वपापनाशक होता है। **'अग्निमीळे पुरोहितम्०'** (ऋग्वेद १।१।१)—यह ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र अग्निदेवताका सूक्त है। अर्थात् 'अग्नि' इसके देवता हैं। जो मस्तकपर अग्निका पात्र धारण करके एक वर्षतक इस सूक्तका जप करता है, तीनों काल स्नान करके हवन करता है, गृहस्थोंके घरमें चूल्हेकी आग बुझ जानेपर उनके यहाँसे भिक्षान्न लाकर उससे जीवननिर्वाह करता है तथा उक्त प्रथम सूक्तके अनन्तर जो वायु आदि देवताओंके सात सूक्त (१।१।२ से ८ सूक्त) कहे गये हैं, उनका भी जो प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर जप करता है, वह मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो मेधा (धारण-शक्ति)-को प्राप्त करना चाहे, वह प्रतिदिन **'सदसस्पति०'** (१।१८।६—८) इत्यादि तीन ऋचाओंका जप करे॥ २—११॥

'अम्बयो यन्त्यध्वभि:०' (१।२३।१६—२४) आदि—ये नौ ऋचाएँ अकालमृत्युका नाश करनेवाली कही गयी हैं। कैदमें पड़ा हुआ या अवरुद्ध (नजरबंद) द्विज **'शुन:शेपो यमह्वद्गृभीत:०'** (१।२४।१२—१४) इत्यादि तीन ऋचाओंका जप करे। इसके जपसे पापी समस्त पापोंसे छूट जाता है और रोगी रोगरहित हो जाता है। जो शाश्वत कामनाकी सिद्धि एवं बुद्धिमान् मित्रकी प्राप्ति चाहता हो, वह प्रतिदिन इन्द्रदेवताके **'इन्द्रस्थ०'** आदि सोलह ऋचाओंका जप करे। **'हिरण्यस्तूप:०'** (१०।१४९।५) इत्यादि मन्त्रका

जप करनेवाला शत्रुओंकी गतिविधिमें बाधा पहुँचाता है। **'ये ते पन्थाः०'** (१।३५।११)-का जप करनेसे मनुष्य मार्गमें क्षेमका भागी होता है। जो रुद्रदेवता-सम्बन्धिनी छः ऋचाओंसे प्रतिदिन शिवकी स्तुति करता है, अथवा रुद्रदेवताको चरु अर्पित करता है, उसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो प्रतिदिन **'उद्वयं तमसः०'** (१।५०।१०) तथा **'उदुत्यं जातवेदसम्०'** (१।५०।१)—इन ऋचाओंसे प्रतिदिन उदित होते हुए सूर्यका उपस्थान करता है तथा उनके उद्देश्यसे सात बार जलाञ्जलि देता है, उसके मानसिक दुःखका विनाश हो जाता है। **'द्विषन्तं०'** इत्यादि आधी ऋचासे लेकर **'यद्विप्राः०'** इत्यादि मन्त्रतकका जप और चिन्तन करे। इसके प्रभावसे अपराधी मनुष्य सात ही दिनोंमें दूसरोंके विद्वेषका पात्र हो जाता है॥ १२—१७ १/२ ॥

आरोग्यकी कामना करनेवाला रोगी **'पुरीष्यासोऽग्नयः०'** (३।२२।४)—इस ऋचाका जप करे। इसी ऋचाका आधा भाग शत्रुनाशके लिये उत्तम है। अर्थात् शत्रुकी बाधा दूर करनेके लिये इसका जप करना चाहिये। इसका सूर्योदयके समय जप करनेसे दीर्घ आयु, मध्याह्नमें जप करनेसे अक्षय तेज और सूर्यास्तकी वेलामें जप करनेसे शत्रुनाश होता है। **'नव यः०'** (८।९३।२) आदि सूक्तका जप करनेवाला शत्रुओंका दमन करता है। सुपर्ण-सम्बन्धिनी ग्यारह ऋचाओंका जप सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला है। अध्यात्मका प्रतिपादन करनेवाली **'क०'** आदि ऋचाओंका जप करनेवाला मोक्ष प्राप्त करता है॥ १८—२१ ॥

'आ नो भद्राः०' (१।८९।१)—इस ऋचाके जपसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती है। हाथमें समिधा लिये **'त्वं सोम०'** (९।८६।२४)—इस ऋचासे शुक्लपक्षकी द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन करे। जो हाथमें समिधा लेकर उक्त मन्त्रसे चन्द्रमाका उपस्थान करता है, उसे निस्संदेह वस्त्रोंकी प्राप्ति होती है। दीर्घ आयु चाहनेवाला **'इमं०'** (१।९४) आदि कौत्ससूक्तका सदा जप करे। जो मध्याह्नकालमें **'अप नः शोशुचदघम्०'** (१।९७।१—८) इत्यादि ऋचाके द्वारा सूर्यदेवकी स्तुति करता है, वह अपने पापोंको उसी प्रकार त्याग देता है, जैसे कोई मनुष्य तिनकेसे सींकको अलग कर लेता है। यात्री **'जातवेदसे०'** (१।९९।१)—इस मङ्गलमयी ऋचाका मार्गमें जप करे। ऐसा करके वह समस्त भयोंसे छूट जाता और कुशलपूर्वक घर लौट आता है। प्रभातकालमें इसका जप करनेसे दुःस्वप्नका नाश होता है। **'प्र मन्दिने पितुमदर्चता०'** (१।१०१।१)—इस ऋचाका जप करनेसे प्रसव करनेवाली स्त्री सुखपूर्वक प्रसव करती है। **'इन्द्रम्०'** (१।१०६।१) इत्यादि ऋचाका जप करते हुए सात बार बलिवैश्वदेव-कर्म करके घृतका होम करनेसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूट जाता है। **'इमाम्०'** (१०।८५।४५)—इस ऋचाका सदा जप करनेवाला अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। तीन दिन उपवास करके पवित्रतापूर्वक **'मा नस्तोके०'** (१।११४।८-९) आदि दो ऋचाओंद्वारा गूलरकी घृतयुक्त समिधाओंका हवन करे। ऐसा करनेसे मनुष्य मृत्युके समस्त पाशोंका छेदन करके रोगहीन जीवन बिताता है। दोनों बाँहें ऊपर उठाकर इसी **'मा नस्तोके०'** (१।११४।८) आदि ऋचासे भगवान् शंकरकी स्तुति करके शिखा बाँध लेनेपर मनुष्य सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके लिये अजेय हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जो मनुष्य हाथमें समिधाएँ लेकर **'चित्रं देवानाम्०'** (१।११५।१) इत्यादि मन्त्रसे प्रतिदिन तीनों संध्याओंके समय भगवान् भास्करका उपस्थान करता है, वह मनोवाञ्छित धन प्राप्त कर लेता

है। **'स्वप्नेनाभ्युष्या चुमुरिम्०'** (२।१५।९) आदि ऋचाका प्रातः, मध्याह्न और अपराह्णमें जप करनेसे सम्पूर्ण दुःस्वप्नका नाश होता है एवं उत्तम भोजनकी प्राप्ति होती है। **'उभे पुनामि रोदसी०'** (१।१३३।१)—यह मन्त्र राक्षसोंका विनाशक कहा गया है। **'उभयासो जातवेदः०'** (२।२।१२-१३) आदि ऋचाओंका जप करनेवाला मनोऽभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करता है। **'तमागन्म सोमरयः०'** (८।१९।३२) ऋचाका जप करनेवाला मनुष्य आततायीके भयसे छुटकारा पाता है॥ २२—३४॥

'कया शुभा सवयसः०' (१।१६५।१)—इस ऋचाका जप करनेवाला अपनी जातिमें श्रेष्ठताको प्राप्त करता है। **'इमं नु सोमम्०'** (१।१७९।५)—इस ऋचाका जप करनेसे मनुष्यको समस्त कामनाओंकी प्राप्ति होती है। **'पितुं नु स्तोषं०'** (१।१८७।१) ऋचासे नित्य उपस्थान करनेपर नित्य अन्न उपस्थित होता है। **'अग्ने नय सुपथा०'** (१।१८९।१)—इस सूक्तसे घृतका होम किया जाय तो वह परलोकमें उत्तम मार्ग प्रदान करनेवाला होता है। जो सदा सुश्लोकका जप करता है, वह वीरोंको न्यायके मार्गपर ले जाता है। **'कङ्कतो न कङ्कतो०'** (१।१९१।१)—इस सूक्तका जप सब प्रकारके विघ्नोंका प्रभाव दूर कर देता है। **'यो जात एव प्रथमो०'** (२।१२)—इस सूक्तका जप करनेवाला सभी कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। **'गणानां त्वा०'** (२।२३।१) सूक्तके जपसे उत्तम स्निग्ध पदार्थ प्राप्त होता है। **'यो मे राजन्०'** (२।२८।१०)—यह ऋचा दुःस्वप्नोंका शमन करनेवाली है। मार्गमें प्रस्थित हुआ जो मनुष्य अपने सामने प्रशस्त या अप्रशस्त शत्रुको खड़ा हुआ देखे, वह **'कुविदङ्ग०'** इत्यादि मन्त्रका जप करे, इससे उसकी रक्षा हो जाती है। बाईसवें उत्तम आध्यात्मिक सूक्तका पर्वकालमें जप करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। **'कृणुष्व पाजः०'** (४।४।१)—इस सूक्तका जप करते हुए एकाग्रचित्तसे घीकी आहुति देनेवाला पुरुष शत्रुओंके प्राण ले सकता है तथा राक्षसोंका भी विनाश कर सकता है। जो स्वयं **'परि०'** इत्यादि सूक्तसे प्रतिदिन अग्निका उपस्थान करता है, विश्वतोमुख अग्निदेव स्वयं उसकी सब ओरसे रक्षा करते हैं। **'हंसः शुचिषत्०'** (४।४०।५) इत्यादि मन्त्रका जप करते हुए सूर्यका दर्शन करे। ऐसा करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है॥ ३५—४३॥

कृषिमें संलग्न गृहस्थ मौन रहकर क्षेत्रके मध्यभागमें विधिवत् स्थालीपाक होम करे। ये आहुतियाँ **'इन्द्राय स्वाहा। मरुद्भ्यः स्वाहा। पर्जन्याय स्वाहा। एवं भगाय स्वाहा।'**— कहकर उन-उन देवताओंके निमित्त अग्निमें डाले। फिर जैसे स्त्रीकी योनिमें बीज-वपनके लिये जननेन्द्रियका व्यापार होता है, उसी तरह किसान धान्यका बीज बोनेके लिये हराईके साथ हलका संयोग करे और **'शुनासीराविमां०'** (४।५७।५)—इस ऋचाका जप भी करावे। इसके बाद गन्ध, माल्य और नमस्कारके द्वारा इन सबके अधिष्ठाता देवताओंकी पूजा करे। ऐसा करनेपर बीज बोने, फसल काटने और फसलको खेतसे खलिहानमें लानेके समय किया हुआ सारा कर्म अमोघ होता है, कभी व्यर्थ नहीं जाता। इससे सदैव कृषिकी वृद्धि होती है। **'समुद्रादूर्मिर्मधुमान्०'** (४।५८।१) इस सूक्तके जपसे मनुष्य अग्निदेवसे अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति करता है। जो **'विश्वानि नो दुर्गहा०'** (५।४।९-१०) आदि दो ऋचाओंसे जो अग्निदेवका पूजन करता है, वह सम्पूर्ण विपत्तियोंको पार कर जाता है और अक्षय यशकी प्राप्ति करता है। इतना ही नहीं, वह विपुल लक्ष्मी और उत्तम विजयको भी हस्तगत कर लेता है। **'अग्ने त्वम्०'** (५।२४।१)—इस ऋचासे अग्निकी स्तुति करनेपर मनोवाञ्छित धनकी

प्राप्ति होती है। संतानकी अभिलाषा रखनेवाला वरुणदेवता-सम्बन्धी तीन ऋचाओंका नित्य जप करे॥ ४४—५०॥

'स्वस्ति न इन्द्रो०' (१।८९।६—८) आदि तीन ऋचाओंका सदा प्रातःकाल जप करे। यह महान् स्वस्त्ययन है। **'स्वस्ति पन्थामनु चरेम०'** (५।५१।१५)—इस ऋचाका उच्चारण करके मनुष्य मार्गमें सकुशल यात्रा करता है। **'वि जिहीष्व वनस्पते०'** (५।७८।५)-के जपसे शत्रु रोगग्रस्त हो जाते हैं। इसके जपसे गर्भवेदनासे मूर्च्छित स्त्रीको गर्भके संकटसे भलीभाँति छुटकारा मिल जाता है। वृष्टिकी कामना करनेवाला निराहार रहकर भीगे वस्त्र पहने हुए **'अच्छा वद०'** (५।८३) आदि सूक्तका प्रयोग करे। इससे शीघ्र ही प्रचुर वर्षा होती है। पशुधनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य **'मनसः कामम्०'** (श्रीसूक्त १०) इत्यादि ऋचाका जप करे। संतानाभिलाषी पुरुष पवित्र व्रत ग्रहण करके **'कर्दमेन०'** (श्रीसूक्त ११)—इस मन्त्रसे स्नान करे। राज्यकी कामना रखनेवाला मानव **'अश्वपूर्वां०'** (श्रीसूक्त ३) इत्यादि ऋचाका जप करता हुआ स्नान करे। ब्राह्मण विधिवत् रोहितचर्मपर, क्षत्रिय व्याघ्रचर्मपर एवं वैश्य बकरेके चर्मपर स्नान करे। प्रत्येकके लिये दस-दस सहस्र होम करनेका विधान है। जो सदा अक्षय गोधनकी अभिलाषा रखता हो, वह गोष्ठमें जाकर **'आ गावो अग्मन्नुत भद्रम्०'** (६।२८।१) ऋचाका जप करता हुआ लोकमाता गौको प्रणाम करे और गोचरभूमितक उसके साथ जाय। राजा **'उप०'** आदि तीन ऋचाओंसे अपनी दुन्दुभियोंको अभिमन्त्रित करे। इससे वह तेज और बलकी प्राप्ति करता है और शत्रुपर भी काबू पाता है। दस्युओंसे घिर जानेपर मनुष्य हाथमें तृण लेकर 'रक्षोघ्न-सूक्त' (१०।८७)-का जप करे। **'ये के च ज्मा०'** (६।५२।१५)—इस ऋचाका जप करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। राजा 'जीमूत-सूक्त'से सेनाके सभी अङ्गोंको उसके चिह्नके अनुसार अभिमन्त्रित करे। इससे वह रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करनेमें समर्थ होता है। **'प्राग्नये'** (७।५) आदि तीन सूक्तोंके जपसे मनुष्यको अक्षय धनकी प्राप्ति होती है। **'अमीवहा०'** (७।५५)—इस सूक्तका पाठ करके रात्रिमें भूतोंकी स्थापना करे। फिर संकट, विषम एवं दुर्गम स्थलमें, बन्धनमें या बन्धनमुक्त अवस्थामें, भागते अथवा पकड़े जाते समय सहायताकी इच्छासे इस सूक्तका जप करे। तीन दिन नियमपूर्वक उपवास रखकर खीर और चरु पकावे। फिर **'त्र्यम्बकं यजामहे०'** (७।५९।१२) मन्त्रसे उसकी सौ आहुतियाँ भगवान् महादेवके उद्देश्यसे अग्निमें डाले तथा उसीसे पूर्णाहुति करे। दीर्घकालतक जीवित रहनेकी इच्छावाला पुरुष स्नान करके **'तच्चक्षुर्देवहितम्०'** (७।६६।१६)—इस ऋचासे उदयकालिक एवं मध्याह्नकालिक सूर्यका उपस्थान करे। **'न हि०'** आदि चार ऋचाओंके पाठसे मनुष्य महान् भयसे मुक्त हो जाता है। **'पर ऋणा सावीः०'** (२।२८।९-१०) आदि दो ऋचाओंसे होम करनेपर ऐश्वर्यकी उपलब्धि होती है। **'इन्द्रा सोमा तपतम्०'** (७।१०४)-से प्रारम्भ होनेवाला सूक्त शत्रुओंका विनाश करनेवाला कहा गया है। मोहवश जिसका व्रत भङ्ग हो गया अथवा व्रात्य-संसर्गके कारण जो पतित हो गया है, वह उपवास करके **'त्वमग्ने व्रतपा०'** (८।११।१)—इस ऋचासे घृतका होम करे। **'आदित्य'** और **'सम्राजा'**—इन दोनों ऋचाओंका जप करनेवाला शास्त्रार्थमें विजयी होता है। **'मही०'** आदि चार ऋचाओंके जपसे महान् भयसे मुक्ति मिलती है। **'यदि०'** इत्यादि ऋचाका जप करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। इन्द्रदेवतासम्बन्धिनी बयालीसवीं ऋचाका जप करनेसे शत्रुओंका विनाश होता है। **'वाचं मही०'**—इस ऋचाका जप करके मनुष्य आरोग्यलाभ करता है। प्रयत्नपूर्वक पवित्र

हो **'शं नो भव०'** (८।४८।४-५)—इन दो ऋचाओंके जपपूर्वक भोजन करके हृदयका हाथसे स्पर्श करे। इससे मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता। स्नान करके **'उत्तमेदम्०'**—इस मन्त्रसे हवन करके पुरुष अपने शत्रुओंका विनाश कर डालता है। **'शंनो अग्नि०'** (७।३५)—इस सूक्तसे हवन करनेपर मनुष्य धन पाता है। **'कन्या वाखायती०'** (८।९१)—इस सूक्तका जप करके वह दिग्भ्रमके दोषसे छुटकारा पाता है। सूर्योदयके समय **'यदद्यकच्च०'** (८।९३।४)—इस ऋचाका जप करनेसे सम्पूर्ण जगत् वशीभूत हो जाता है। **'यद्वाग्०'** (८।१००।१०)—इत्यादि ऋचाके जपसे वाणी संस्कारयुक्त होती है। **'वचोविदम्'** (८।१०१।१६) ऋचाका मन-ही-मन जप करनेवाला वाक्-शक्ति प्राप्त करता है। पावमानी ऋचाएँ परम पवित्र मानी गयी हैं। वैखानस-सम्बन्धिनी तीस ऋचाएँ भी परम पवित्र मानी गयी हैं। ऋषिश्रेष्ठ परशुराम! **'परस्य०'** इत्यादि बासठ ऋचाएँ भी पवित्र कही गयी हैं। **'स्वादिष्ठया०'** (९।१—६७) इत्यादि सरसठ सूक्त समस्त पापोंके नाशक, सबको पवित्र करनेवाले तथा कल्याणकारी कहे गये हैं। छः सौ दस पावमानी ऋचाएँ कही गयी हैं। इनका जप और इनसे हवन करनेवाला मनुष्य भयंकर मृत्युभयको जीत लेता है। पाप-भयके विनाशके लिये **'आपो हि ष्ठाः'** (१०।९।१—३) इत्यादि ऋचाका जलमें स्थित होकर जप करे। **'प्र देवत्रा ब्रह्मणे०'** (१०।३०।१)—इस ऋचाका मरुप्रदेशमें मनुष्य प्राणान्तक भयके उपस्थित होनेपर नियमपूर्वक जप करे। उससे शीघ्र भयमुक्त होकर मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। **'प्रा वेपा मा बृहतः०'** (१०।३४।१)—इस एक ऋचाका प्रातःकाल सूर्योदयके समय मानसिक जप करे। इससे द्यूतमें विजयकी प्राप्ति होती है। **'मा प्र गाम०'** (१०।५७।१)—इस ऋचाका जप करनेसे पथभ्रान्त मनुष्य उचित मार्गको पा जाता है। यदि अपने किसी प्रिय सुहृद्की आयु क्षीण हुई जाने तो स्नान करके **'यत्ते यमं०'** (१०।५८।१)—इस मन्त्रका जप करते हुए उसके मस्तकका स्पर्श करे। पाँच दिनतक हजार बार ऐसा करनेसे वह लंबी आयु प्राप्त करता है। विद्वान् पुरुष **'इदमित्त्था रौद्रं गूर्तवचा०'** (१०।६१।१)—इस ऋचासे घृतकी एक हजार आहुतियाँ दे। पशुओंकी इच्छा करनेवालेको गोशालामें और अर्थकामीको चौराहेपर हवन करना चाहिये। **'वयःसुपर्णा०'** (१०।७३।११)—इस ऋचाका जप करनेवाला लक्ष्मीको प्राप्त करता है। **'हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि०'** (१०। ८८।१)—इस मन्त्रका जप करके मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसके रोग नष्ट हो जाते हैं तथा उसकी जठराग्नि प्रबल हो जाती है। **'या ओषधयः०'** यह मन्त्र स्वस्त्ययन (मङ्गलकारक) है। इसके जपसे रोगोंका विनाश हो जाता है। वृष्टिकी कामना करनेवाला **'बृहस्पते अति यदर्यो०'** (२।२३।१५) आदि ऋचाका प्रयोग करे। **'सर्वत्र०'** इत्यादि मन्त्रके जपसे अनुपम पराशान्तिकी प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये। संतानकी कामनावाले पुरुषके लिये 'संकाश्य-सूक्त'का जप सदा हितकर बताया गया है। **'अहं रुद्रेभिर्वसुभिः०'** (१०। १२५।१)—इस ऋचाके जपसे मानव प्रवचनकुशल हो जाता है। **'रात्री व्यख्यदायती०'** (१०।१२७। १)—इस ऋचाका जप करनेवाला विद्वान् पुरुष पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता। रात्रिके समय 'रात्रिसूक्त'का जप करनेवाला मनुष्य रात्रिको कुशलपूर्वक व्यतीत करता है। **'कल्पयन्ती०'**—इस ऋचाका नित्य जप करनेवाला शत्रुओंका विनाश करनेमें समर्थ होता है। 'दाक्षायणसूक्त' महान् आयु एवं तेजकी प्राप्ति कराता है। **'उत देवाः०'** (१०।१३७।१)—यह रोगनाशक मन्त्र है। व्रतधारणपूर्वक इसका जप करना चाहिये। अग्निसे भय होनेपर **'अयमग्ने**

जरिता त्वे॰' (१०। १४२। १) इत्यादि ऋचाका जप करे। जंगलोंमें '**अरण्यान्य-रण्यानि॰**' (१०। १४६। १)—इस मन्त्रका जप करे तो भयका नाश होता है। ब्राह्मीको प्राप्त करके ब्रह्म-सम्बन्धिनी दो ऋचाओंका जप करे और पृथक्-पृथक् जलसे ब्राह्मीलता एवं शतावरीको ग्रहण करे। इससे मेधाशक्ति और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। '**शाश इत्था॰**' (१०। १५२। १)—यह ऋचा शत्रुनाशिनी मानी गयी है। संग्राममें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वीरको इसका जप करना चाहिये। '**ब्रह्मणाग्निः संविदानः॰**' (१०। १६२। १)— यह ऋचा गर्भमृत्युका निवारण करनेवाली है॥ ५१—९१॥

'**अपेहि॰**' (१०। १६४)—इस सूक्तका पवित्र होकर जप करना चाहिये। यह दुःस्वप्नको नाश करनेवाला है। '**येनेदम्॰**' इत्यादि ऋचाका जप करके साधक परम समाधिमें स्थिर होता है। '**मयोभूर्वातः॰**' (१०। १६९। १)—यह ऋचा गौओंके लिये परम मङ्गलकारक है। इसके द्वारा शाम्बरी माया अथवा इन्द्रजालका निवारण करे। '**महि त्रीणामवोऽस्तु॰**' (१०। १८५। १)—इस कल्याणकारी ऋचाका मार्गमें जप करे। द्वेषपात्रके प्रति विद्वेष रखनेवाला पुरुष '**प्राग्नये॰**' (१०। १८७। १) इत्यादि ऋचाका जप करे, इससे शत्रुओंका नाश होता है। '**वास्तोष्पते॰**' आदि चार मन्त्रोंसे गृहदेवताका पूजन करे। यह जपकी विधि बतायी गयी है। अब हवनमें जो विशेष विधि है, वह जाननी चाहिये। होमके अन्तमें दक्षिणा देनी चाहिये। होमसे पापकी शान्ति, अन्नसे होमकी शान्ति और स्वर्णदानसे अन्नकी शान्ति होती है। इससे मिलनेवाले ब्राह्मणोंके आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाते। यजमानको सब ओरसे बाह्य स्नान करना चाहिये। सिद्धार्थक (सरसों), यव, धान्य, दुग्ध, दधि, घृत, क्षीरवृक्षकी समिधाएँ हवनमें प्रयुक्त होनेपर सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाली हैं तथा अभिचारमें कण्टकयुक्त समिधा, राई, रुधिर एवं विषका हवन करे। होमकालमें शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त अन्न, भिक्षान्न, सत्तू, दूध, दही एवं फल-मूलका भोजन करना चाहिये। यह 'ऋग्विधान' कहा गया है॥ ९२—९८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ऋग्विधानका कथन' नामक
दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५९॥

दो सौ साठवाँ अध्याय

यजुर्विधान—यजुर्वेदके विभिन्न मन्त्रोंका विभिन्न कार्योंके लिये प्रयोग

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! अब मैं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले 'यजुर्विधान' का वर्णन करता हूँ, सुनो। ॐकार-संयुक्त महाव्याहृतियाँ समस्त पापोंका विनाश करनेवाली और सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली मानी गयी हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा एक हजार घृताहुतियाँ देकर देवताओंकी आराधना करे। परशुराम! इससे मनोवाञ्छित कामनाकी सिद्धि होती है; क्योंकि यह कर्म अभीष्ट मनोरथ देनेवाला है। शान्तिकी इच्छावाला पुरुष प्रणवयुक्त व्याहृति-मन्त्रसे जौकी आहुति दे और जो पापोंसे मुक्ति चाहता हो, वह उक्त मन्त्रसे तिलोंद्वारा हवन करे। धान्य एवं पीली सरसोंके हवनसे समस्त कामनाओंकी सिद्धि होती है। परधनकी कामनावालेके लिये गूलरकी समिधाओंद्वारा होम प्रशस्त माना गया है। अन्न चाहनेवालेके लिये दधिसे, शान्तिकी इच्छा

करनेवालेके लिये दुग्धसे एवं प्रचुर सुवर्णकी कामना करनेवालेके लिये अपामार्गकी समिधाओंसे हवन करना उत्तम माना गया है। कन्या चाहनेवाला एक सूत्रमें ग्रथित दो-दो जातीपुष्पोंको घीमें डुबोकर उनकी आहुति दे। ग्रामाभिलाषी तिल एवं चावलोंका हवन करे। वशीकरण कर्ममें शाखोट (सिंहोर), वासा (अड़ूसा) और अपामार्ग (चिचिड़ा या ऊँगा)-की समिधाओंका होम करना चाहिये। भृगुनन्दन! रोगका नाश करनेके लिये विष एवं रक्तसे सिक्त समिधाओंका हवन प्रशस्त है। शत्रुओंके वधकी इच्छासे उक्त समिधाओंका क्रोधपूर्वक भलीभाँति हवन करे। द्विज सभी धान्योंसे राजाकी प्रतिमाका निर्माण करे और उसका हजार बार हवन करे। इससे राजा वशमें हो जाता है। वस्त्राभिलाषीको पुष्पोंसे हवन करना चाहिये। दूर्वाका होम व्याधिका विनाश करनेवाला है। ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ वासोग्र्य (उत्तम वस्त्र) अर्पण करनेका विधान है। विद्वेषण-कर्मके लिये प्रत्यङ्गिराप्रोक्त विधिके अनुसार स्थापित अग्निमें धानकी भूसी, कण्टक और भस्मके साथ काक और उलूकके पंखोंका हवन करे। ब्रह्मन्! चन्द्रग्रहणके समय कपिला गायके घीसे गायत्री-मन्त्रद्वारा आहुति देकर उस घीमें वचाका चूर्ण मिलाकर 'सम्पात' नामक आहुति दे और अवशिष्ट वचाको लेकर उसे गायत्री-मन्त्रसे एक सहस्त्र बार अभिमन्त्रित करे। फिर उस वचाको खानेसे मनुष्य मेधावी होता है। लोहे या खदिर काष्ठकी ग्यारह अङ्गुल लंबी कील **'द्विषतो वधोऽसि०'** (१।२८) आदि मन्त्रका जप करते हुए शत्रुके घरमें गाड़ दे। यह मैंने तुमसे शत्रुओंका नाश और उच्चाटन करनेवाला कर्म बतलाया है। **'चक्षुष्पा०'** (२।१६) इत्यादि मन्त्र अथवा चाक्षुषी-जपसे मनुष्य अपनी खोयी हुई नेत्रज्योतिको पुनः पा लेता है। **'उपयुञ्जत०'** इत्यादि अनुवाक अन्नकी प्राप्ति करानेवाला है। **'तनूपा अग्नेऽसि०'** (३।१७) इत्यादि मन्त्रद्वारा दूर्वाका होम करनेसे मनुष्यका संकट दूर हो जाता है। **'भेषजमसि०'** (३।५९) इत्यादि मन्त्रसे दधि एवं घृतका हवन किया जाय तो वह पशुओंपर आनेवाली महामारी रोगोंको दूर कर देता है। **'त्र्यम्बकं यजामहे०'** (३।६०)—इस मन्त्रसे किया हुआ होम सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला है। कन्याका नाम लेकर अथवा कन्याके उद्देश्यसे यदि उक्त मन्त्रका जप और होम किया जाय तो वह कन्याकी प्राप्ति करानेवाला उत्तम साधन है। भय उपस्थित होनेपर **'त्र्यम्बकं०'** (३।६०) मन्त्रका नित्य जप करनेवाला पुरुष सब प्रकारके भयोंसे छुटकारा पा जाता है। परशुराम! घृतसहित धतूरेके फूलकी उक्त मन्त्रसे आहुति देकर साधक अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो **'त्र्यम्बक'** मन्त्रसे गुग्गुलकी आहुति देता है, वह स्वप्नमें भगवान् शंकरका दर्शन पाता है। **'युञ्जते मनः०'** (५।१४)—इस अनुवाकका जप करनेसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती है। **'विष्णो रराटमसि०'** (५।२१) आदि मन्त्र सम्पूर्ण बाधाओंका निवारण करनेवाला है। यह मन्त्र राक्षसोंका नाशक, कीर्तिवर्द्धक एवं विजयप्रद है। **'अयं नो अग्निः०'** (५।३७) इत्यादि मन्त्र संग्राममें विजय दिलानेवाला है। स्नानकालमें **'इदमापः प्रवहत०'** इत्यादि (६।१७) मन्त्रका जप पापनाशक है। दस अङ्गुल लंबी लोहेकी सुईको **'विश्वकर्मन् हविषा०'** (१७।२२)—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके जिस कन्याके द्वारपर गाड़ दे, वह कन्या दूसरे किसीको नहीं दी जा सकती। **'देव सवितः०'** (११।७)—इस मन्त्रसे होम करनेपर मनुष्य प्रचुर अन्न-राशिसे सम्पन्न होता है॥ १—२२॥

धर्मज्ञ जमदग्निनन्दन! बलकी इच्छा रखनेवाला श्रेष्ठ द्विज **'अग्नौ स्वाहा०'** मन्त्रसे तिल, यव, अपामार्ग एवं तण्डुलोंसे युक्त हवन-सामग्रीद्वारा होम करे। विप्रवर! इसी मन्त्रसे गोरोचनको सहस्त्र

बार अभिमन्त्रित करके उसका तिलक करनेसे मनुष्य लोकप्रिय हो जाता है। रुद्र-मन्त्रोंका जप सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला है। उनके द्वारा किया गया होम सम्पूर्ण कर्मोंका साधक और सर्वत्र शान्ति प्रदान करनेवाला है। धर्मज्ञ भृगुनन्दन! बकरी, भेड़, घोड़े, हाथी, गौ, मनुष्य, राजा, बालक, नारी, ग्राम, नगर और देश यदि विविध उपद्रवोंसे पीड़ित एवं रोगग्रस्त हो गये हों, अथवा महामारी या शत्रुओंका भय उपस्थित हो गया हो तो घृतमिश्रित खीरसे रुद्रदेवताके लिये किया गया होम परम शान्तिदायक होता है। रुद्रमन्त्रोंसे कूष्माण्ड एवं घृतका होम सम्पूर्ण पापोंका विनाश करता है। नरश्रेष्ठ! जो मानव केवल रातमें सत्तू, जौकी लप्सी एवं भिक्षान्न भोजन करते हुए एक मासतक बाहर नदी या जलाशयमें स्नान करता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है। **'मधुवाता०'** (१३।२७) इत्यादि मन्त्रसे होम आदिका अनुष्ठान करनेपर सब कुछ मिलता है। **'दधिक्राव्णो०'** (२३।३२)—इस मन्त्रसे हवन करके गृहस्थ पुत्रोंको प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार **'घृतवती भुवनानामभि०'** (३४।४५)—इस मन्त्रसे किया गया घृतका होम आयुको बढ़ानेवाला है। **'स्वस्ति न इन्द्रो०'** (२५।१९)—यह मन्त्र समस्त बाधाओंका निवारण करनेवाला है। **'इह गावः प्रजायध्वम्०'**—यह मन्त्र पुष्टिवर्धक है। इससे घृतकी एक हजार आहुतियाँ देनेपर दरिद्रताका विनाश होता है। **'देवस्य त्वा०'**—इस मन्त्रसे स्रुवाद्वारा अपामार्ग और तण्डुलका हवन करनेपर मनुष्य विकृत अभिचारसे शीघ्र छुटकारा पा जाता है, इसमें संशय नहीं है। **'रुद्र यत्ते०'** (१०।२०) मन्त्रसे पलाशकी समिधाओंका हवन करनेसे सुवर्णकी उपलब्धि होती है। अग्निके उत्पातमें मनुष्य **'शिवो भव०'** (११।४५) मन्त्रसे धान्यकी आहुति दे। **'या सेनाः०'** (११।७७)—इस मन्त्रसे किया गया हवन चोरोंसे प्राप्त होनेवाले भयको दूर करता है। ब्रह्मन्! जो मनुष्य **'यो अस्मभ्यमरातीयात्०'** (११।८०)—इस मन्त्रसे काले तिलोंकी एक हजार आहुति देता है, वह विकृत अभिचारसे मुक्त हो जाता है। **'अन्नपते०'** (११।८३)—इस मन्त्रसे अन्नका हवन करनेसे मनुष्यको प्रचुर अन्न प्राप्त होता है। **'हंसः शुचिषत्०'** (१०।२४) इत्यादि मन्त्रका जलमें किया गया जप समस्त पापोंका नाश करता है। **'चत्वारि शृङ्गा०'** (१७।९१) इत्यादि मन्त्रका जलमें किया गया जप समस्त पापोंका अपहरण करनेवाला है। **'देवा यज्ञमतन्वत०'** (१९।१२) इसका जप करके साधक ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। **'वसन्तो स्यासीद्'** (३१।१४) इत्यादि मन्त्रसे घृतकी आहुति देनेपर भगवान् सूर्यसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति होती है। **'सुपर्णोऽसि०'** (१७।७२) इत्यादि मन्त्रसे साध्यकर्म व्याहृति-मन्त्रोंसे साध्यकर्मके समान ही होता है। **'नमः स्वाहा०'** आदि मन्त्रका तीन बार जप करके मनुष्य बन्धनसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जलके भीतर **'द्रुपदादिव मुमुचानः०'** (२०।२०) इत्यादि मन्त्रकी तीन आवृत्तियाँ करके मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। **'इह गावः प्रजायध्वम्०'**—इस मन्त्रसे घृत, दधि, दुग्ध अथवा खीरका हवन करनेपर बुद्धिकी वृद्धि होती है। **'शं नो देवीः०'** (३६।१२)—इस मन्त्रसे पलाशके फलोंकी आहुति देनेसे मनुष्य आरोग्य, लक्ष्मी और दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। **'ओषधीः प्रतिमोदध्वम्०'** (१२।७७)—इस मन्त्रसे बीज बोने और फसल काटनेके समय होम करनेपर अर्थकी प्राप्ति होती है। **'अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो०'** (३४।४०) मन्त्रसे पायसका होम करनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है। **'तस्मा अरं गमाम०'** (३६।१६) इत्यादि मन्त्रसे होम करनेपर बन्धनग्रस्त

मनुष्य मुक्त हो जाता है। **'युवा सुवासा०'** (तै० ब्रा० ३।६।१३) इत्यादि मन्त्रसे हवन करनेपर उत्तम वस्त्रोंकी प्राप्ति होती है। **'मुञ्चन्तु मा शपथ्यात्०'** (१२।९०) इत्यादि मन्त्रसे हवन करनेपर शाप या शपथ आदि समस्त किल्बिषोंका नाश होता है। **'मा मा हिंसीज्जनिता:०'** (१२।१०२) इत्यादि मन्त्रसे घृतमिश्रित तिलोंका होम शत्रुओंका विनाश करनेवाला होता है। **'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो०'** (१३।६) इत्यादि मन्त्रसे घृतका होम एवं **'कृणुष्व पाज:०'** (१३।९) इत्यादि मन्त्रसे खीरका होम अभिचारका उपसंहार करनेवाला है। **'काण्डात् काण्डात्०'** (१३।२०) इत्यादि मन्त्रसे दूर्वाकाण्डकी दस हजार आहुतियाँ देकर होता ग्राम या जनपदमें फैली हुई महामारीको शान्त करे। इससे रोगपीड़ित मनुष्य रोगसे और दु:खग्रस्त मानव दु:खसे छुटकारा पाता है। परशुराम! **'मधुमान्नो वनस्पति:०'** (१३।२९) इत्यादि मन्त्रसे उदुम्बरकी एक हजार समिधाओंका हवन करके मनुष्य धन प्राप्त करता है तथा महान् सौभाग्य एवं व्यवहारमें विजय लाभ करता है। **'अपां गम्भन्सीद मा त्वा०'** (वा० १३।३०) इत्यादि मन्त्रसे हवन करके मनुष्य निश्चय ही पर्जन्यदेवसे वर्षा करवा सकता है। धर्मज्ञ परशुराम! **'अप: पिवन् वौषधी:०'** (१४।८) इत्यादि मन्त्रसे दधि, घृत एवं मधुका हवन करके यजमान तत्काल महावृष्टि करवाता है। **'नमस्ते रुद्र०'** (१६।१) इत्यादि मन्त्रसे आहुति दी जाय तो यह कर्म समस्त उपद्रवोंका नाशक, सर्वशान्तिदायक तथा महापातकोंका निवारक कहा गया है। **'अध्यवोचदधिवक्ता०'** (१६।५) इत्यादि मन्त्रसे आहुति देनेपर व्याधिग्रस्त मनुष्यकी रक्षा होती है। इस मन्त्रसे किया गया हवन राक्षसोंका नाशक, कीर्तिकारक तथा दीर्घायु एवं पुष्टिका वर्धक है। मार्गमें सफेद सरसों फेंकते हुए इसका जप करनेवाला राहगीर सुखी होता है। धर्मज्ञ भृगुनन्दन! **'असौ यस्ताम्र:०'** (१६।६)—इसका पाठ करते हुए नित्य प्रात:काल एवं सायंकाल आलस्यरहित होकर भगवान् सूर्यका उपस्थान करे। इससे वह अक्षय अन्न एवं दीर्घ आयु प्राप्त करता है। **'प्रमुञ्च धन्वन्०'** (१६।९—१४) इत्यादि छ: मन्त्रोंसे किया गया आयुधोंका अभिमन्त्रण युद्धमें शत्रुओंके लिये भयदायक है, इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। **'मा नो महान्तम्०'** (१६।१५) इत्यादि मन्त्रका जप एवं होम बालकोंके लिये शान्तिकारक होता है। **'नमो हिरण्यबाहवे०'** (१६।१७) इत्यादि सात अनुवाकोंसे कड़ुए तेलमें मिलायी गयी राईकी आहुति दे तो वह शत्रुओंका नाश करनेवाली होती है। **'नमो व: किरिकेभ्यो०'** (१६।४६)—इस अर्धमन्त्रसे एक लाख कमल-पुष्पोंका हवन करके मनुष्य राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है तथा बिल्वफलोंसे उतनी ही आहुतियाँ देनेपर उसे सुवर्णराशिकी उपलब्धि होती है। **'इमा रुद्राय०'** (१६।४८) मन्त्रसे तिलोंका होम करनेपर धनकी प्राप्ति होती है। एवं इसी मन्त्रसे घृतसिक्त दूर्वाका हवन करनेपर मनुष्य समस्त व्याधियोंसे मुक्त होता है। परशुराम! **'आशु: शिशान:०'** (१७।३३)—यह मन्त्र आयुधोंकी रक्षा एवं संग्राममें सम्पूर्ण शत्रुओंका विनाश करनेवाला है। धर्मज्ञ द्विजश्रेष्ठ! **'वाजश्च मे०'** (१८।१५—१९) इत्यादि पाँच मन्त्रोंसे घृतकी एक हजार आहुतियाँ दे। इससे मनुष्य नेत्ररोगसे मुक्त हो जाता है। **'शं नो वनस्पते०'** (१९।३८) इस मन्त्रसे घरमें आहुति देनेपर वास्तुदोषका नाश होता है। **'अग्न आयूंषि०'** (१९।३८) इत्यादि मन्त्रसे घृतका हवन करके मनुष्य किसीका द्वेषपात्र नहीं होता। **'अपां फेनेन०'** (१९।७१) मन्त्रसे लाजाका होम करके योद्धा विजय प्राप्त करता है। **'भद्रा उत प्रशस्तयो०'** (१४।३९) इत्यादि

मन्त्रके जपसे इन्द्रियहीन अथवा दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य समस्त इन्द्रियोंकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। **'अग्निश्च पृथिवी च०'** (२६।१) इत्यादि मन्त्र उत्तम वशीकरण है। **'अध्वना०'** (५।३३) आदि मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य व्यवहार (मुकदमे)-में विजयी होता है। कार्यके आरम्भमें **'ब्रह्म क्षत्रं पवते०'** (१९।५) इत्यादि मन्त्रका जप सिद्धि प्रदान करता है। **'संवत्सरोऽसि०'** (२७।४५) इत्यादि मन्त्रसे घृतकी एक लाख आहुतियाँ देनेवाला रोगमुक्त हो जाता है। **'केतुं कृण्वन्०'** (२९।३७) इत्यादि मन्त्र संग्राममें विजय दिलानेवाला है। **'इन्द्रोऽग्निर्धर्मः०'** मन्त्र युद्धमें धर्मसंगत विजयकी प्राप्ति कराता है। **'धन्वना गा०'** (२९।३९) मन्त्रका धनुष ग्रहण करनेके समय जप करना उत्तम माना गया है। **'यजीत०'**— यह मन्त्र धनुषकी प्रत्यञ्चाको अभिमन्त्रित करनेके लिये है, ऐसा जानना चाहिये। **'अहिरिव भोगैः०'** (२९।५१) मन्त्रका बाणोंको अभिमन्त्रित करनेमें प्रयोग करे। **'वह्नीनां पिता०'** (२९।४२)—यह तूणीरको अभिमन्त्रित करनेका मन्त्र बतलाया गया है। **'युञ्जन्त्यस्य०'** (२३।६) इत्यादि मन्त्र अश्वोंको रथमें जोतनेके लिये उपयोगी बताया गया है। **'आशुः शिशानः०'** (१७।३३)—यह मन्त्र यात्रारम्भके समय मङ्गलके रूपमें पठनीय कहा जाता है। **'विष्णोः क्रमोऽसि०'** (१२।५) मन्त्रका पाठ रथारोहणके समय करना उत्तम है। **'आजङ्घन्ति०'** (२९।५०)—इस मन्त्रसे अश्वको प्रेरित करनेके लिये प्रथम बार चाबुकसे हाँके। **'याः सेना अभित्वरीः०'** (११।७७) इत्यादि मन्त्रका शत्रुसेनाके सम्मुख जप करे। **'दुन्दुभ्यः०'** इत्यादि मन्त्रसे दुन्दुभि या नगारेको पीटे। इन मन्त्रोंसे पहले हवन करके तब उपर्युक्त कर्म करनेपर योद्धाको संग्राममें विजय प्राप्त होती है। विद्वान् पुरुष **'यमेन दत्तं०'** (२९।१३)—इस मन्त्रसे एक करोड़ आहुतियाँ देकर संग्रामके लिये शीघ्र ही विजयप्रद रथ उत्पन्न कर सकता है। **'आकृष्णेन०'** (३४।३१) इत्यादि मन्त्रसे साध्यकर्म व्याहृतियोंके समान ही होता है। **'यज्जाग्रतो०'** (३४।१) इत्यादि शिवसंकल्प-सम्बन्धी सूक्तोंके जपसे साधकका मन एकाग्र होता है। **'पञ्चनद्यः०'** (३४।११) इत्यादि मन्त्रसे पाँच लाख घीकी आहुतियाँ देनेपर लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। **'यदाबध्नन् दाक्षायणाः०'** (३४।५२)—इस मन्त्रसे हजार बार अभिमन्त्रित करके सुवर्णको धारण करे। यह प्रयोग शत्रुओंका निवारण करनेवाला होता है। **'इमं जीवेभ्यः०'** (३५।१५) मन्त्रसे शिला अथवा ढेलेको अभिमन्त्रित करके घरमें चारों ओर फेंक दे। ऐसा करनेवालेको रातमें चोरोंसे भय नहीं होता। **'परीमे गामनेषत्०'** (३५।१८)—यह उत्तम वशीकरण-मन्त्र है। इस मन्त्रके प्रयोगसे मारनेके लिये आया हुआ मनुष्य भी वशमें हो जाता है। धर्मात्मन्! उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित भक्ष्य, ताम्बूल, पुष्प आदि किसीको दे दिया जाय तो वह शीघ्र ही देनेवालेके वशीभूत हो जायगा। **'शं नो मित्रः०'** (३६।९)—यह मन्त्र सदैव सभी स्थानोंपर शान्ति प्रदान करनेवाला है। **'गणानां त्वा गणपतिं०'** (२३।१९)—इस मन्त्रसे चौराहेपर सप्तधान्यका हवन करके होता सम्पूर्ण जगत्को वशीभूत कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। **'हिरण्यवर्णाः शुकयः०'**— इस मन्त्रका अभिषेकमें प्रयोग करना चाहिये। **'शं नो देवीरभीष्टये०'** (३६।१२)—यह मन्त्र परम शान्तिकारक है। **'एकचक्र०'** इत्यादि मन्त्रसे आज्यभागपूर्वक ग्रहोंके लिये घीकी आहुति देनेपर साधकको शान्ति प्राप्त होती है और निस्संदेह उसे ग्रहोंका कृपाप्रसाद सुलभ हो जाता है। **'गाव उपावतावम्०'** (३३।२९) एवं **'भग प्रणेतः०'**

(३४। ३६-३७) इत्यादि दो मन्त्रोंसे घृतका हवन करके मनुष्य गौओंकी प्राप्ति करता है। **'प्रवादां षः सोपत्०'**—इस मन्त्रका ग्रहयज्ञमें प्रयोग होता है। **'देवेभ्यो वनस्पते॰'** इत्यादि मन्त्रका वृक्षयज्ञमें विनियोग होता है। गायत्रीको विष्णुरूपा जाने। समस्त पापोंका प्रशमन एवं समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला विष्णुका परमपद भी वही है॥ २३—८४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यजुर्वेद-विधान-कथन' नामक दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६०॥

दो सौ इकसठवाँ अध्याय

सामविधान—सामवेदोक्त मन्त्रोंका भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये प्रयोग

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! मैंने तुम्हें 'यजुर्विधान' कह सुनाया, अब मैं 'सामविधान' कहूँगा। 'वैष्णवी-संहिता' का जप करके उसका दशांश होम करे। इससे मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका भागी होता है। 'छान्दसी-संहिता' का विधिपूर्वक जप करके मानव भगवान् शंकरको प्रसन्न कर लेता है। 'स्कन्द-संहिता' और 'पितृ-संहिता'का जप करनेसे प्रसन्नताकी प्राप्ति होती है। **'यत इन्द्र भजामहे॰'** (१३२१)—इस मन्त्रका जप हिंसा-दोषका नाश करनेवाला है। **'अग्निस्तिग्मेन॰'** (२२) इत्यादि मन्त्रका जप करनेवाला अवकीर्णी (जिसका ब्रह्मचर्यावस्थामें ही ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया हो, वह) पुरुष भी अपने पाप-दोषसे मुक्त हो जाता है। **'परीतोऽषिञ्चता सुतम्॰'** (५१२) इत्यादि साममन्त्र समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, ऐसा जानना चाहिये। जिसने प्रमादवश निषिद्ध वस्तुका विक्रय कर लिया हो, वह उसके प्रायश्चित्तरूपसे **'घृतवती भुवना॰'** (३७८) इत्यादि मन्त्रका जप करे। **'अद्य नो देव सवितः॰'** (१४१)—यह मन्त्र दुःस्वप्नोंका नाश करनेवाला है। भृगुश्रेष्ठ परशुराम! **'अबोध्यग्निः॰'** (१७४६) इत्यादि मन्त्रसे विधिवत् घृतका हवन करे। फिर शेष घृतसे मेखलाबन्ध (करधनी आदि)-का सेचन करे। वह मेखलाबन्ध ऐसी स्त्रियोंको धारण करावे, जिनके गर्भ गिर जाते रहे हों। तदनन्तर बालकके उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वोक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित मणि पहनावे। **'सोमं राजानम्॰'** (९१) मन्त्रके जपसे रोगी व्याधियोंसे छुटकारा पाता है। सर्प-सामका प्रयोग करनेवालेको कभी सर्पोंसे भय नहीं प्राप्त होता। ब्राह्मण **'मा पापत्वाय नोः॰'** (९१८)—इस मन्त्रसे सहस्र आहुतियाँ देकर शतावरीयुक्त मणि बाँधनेसे शस्त्रभयको नहीं प्राप्त होता। **'दीर्घतमसोऽर्कः॰'**—इस साममन्त्रसे हवन करनेपर प्रचुर अन्नकी प्राप्ति होती है। **'समन्या यन्तिः॰'** (६०७)—इस सामका जप करनेवाला प्याससे नहीं मर सकता। **'त्वमिमा ओषधीः॰'** (६०४)—इस मन्त्रका जप करनेसे मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता। मार्गमें 'देवव्रत-साम'का जप करके मानव भयसे छुटकारा पा जाता है। **'यदिन्द्रो अनुनयत्॰'** (१४८)—यह मन्त्र हवन करनेपर सौभाग्यकी वृद्धि करता है। परशुराम! **'भगो न चित्रो॰'** (४४९)—इस मन्त्रका जप करके नेत्रोंमें लगाया गया अञ्जन हितकारक एवं सौभाग्यवर्द्धक होता है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। **'इन्द्र'**—इस पदसे प्रारम्भ होनेवाले मन्त्रवर्गका जप करे। इससे सौभाग्यकी वृद्धि होती है। **'परि प्रिया दिवः कविः॰'** (४७६)—यह मन्त्र, जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा

हो, उस स्त्रीको सुनावे। परशुराम! ऐसा करनेसे वह स्त्री उसे चाहने लगती है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। 'रथन्तर-साम' एवं 'वामदेव्य-साम' ब्रह्मतेजकी वृद्धि करनेवाले हैं। **'इन्द्रमिद्‌गाथिनो०'** (१९८) इत्यादि मन्त्रका जप करके घृतमें मिलाया हुआ बचा चूर्ण प्रतिदिन बालकको खिलाये। इससे वह श्रुतिधर हो जाता है, अर्थात् एक बार सुननेसे ही उसे शास्त्रकी पंक्तियाँ याद हो जाती हैं। 'रथन्तर-साम' का जप एवं उसके द्वारा होम करके पुरुष निस्संदेह पुत्र प्राप्त कर लेता है। **'मयि श्रीः०' ('मयि वर्चो अथो०')** (६०२)—यह मन्त्र लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाला है। इसका जप करना चाहिये। प्रतिदिन 'वैरूप्याष्टक' (वैरूप्य सामके आठ मन्त्र)-का पाठ करनेवाला लक्ष्मीकी प्राप्ति करता है। 'सप्ताष्टक'का प्रयोग करनेवाला समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल आलस्यरहित होकर **'गव्योषुणो यथा०'** (१८६)—इस मन्त्रसे गौओंका उपस्थान करता है, उसके घरमें गौएँ सदा बनी रहती हैं। **'वात आ वातु भेषजम्०'** (१८४) मन्त्रसे एक द्रोण घृतमिश्रित यवोंका विधिपूर्वक होम करके मनुष्य सारी मायाको नष्ट कर देता है। **'प्र दैवोदासो०'** (५१) आदि सामसे तिलोंका होम करके मनुष्य अभिचारकर्मको शान्त कर देता है। **'अभि त्वा शूर नोनुमो०'** (२३३)—इस सामको अन्तमें वषट्कारसे संयुक्त करके [इससे वासक (अड़ूसा) वृक्षकी एक हजार समिधाओंका होम युद्धमें विजयकी प्राप्ति करानेवाला है।] उसके साथ 'वामदेव्यसाम'का सहस्र बार जप और उसके द्वारा होम किया जाय तो वह युद्धमें विजयदायक होता है। विद्वान् पुरुष सुन्दर पिष्टमय हाथी, घोड़े एवं मनुष्योंका निर्माण करे। फिर शत्रुपक्षके प्रधान-प्रधान वीरोंको लक्ष्यमें रखकर उन पसीजे हुए पिष्टकमय पुरुषोंके छूरेसे टुकड़े-टुकड़े कर डाले। तदनन्तर मन्त्रवेत्ता पुरुष उन्हें सरसोंके तेलमें भिगोकर **'अभि त्वा शूर नोनुमो०'** (२३३)—इस मन्त्रसे उनका क्रोधपूर्वक हवन करे। बुद्धिमान् पुरुष यह अभिचारकर्म करके संग्राममें विजय प्राप्त करता है। गारुड, वामदेव्य, रथन्तर एवं बृहद्रथ-साम निस्संदेह समस्त पापोंका शमन करनेवाले कहे गये हैं॥ १—२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'साम-विधान' नामक दो सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६१॥

दो सौ बासठवाँ अध्याय

अथर्वविधान—अथर्ववेदोक्त मन्त्रोंका विभिन्न कर्मोंमें विनियोग

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! 'सामविधान' कहा गया। अब मैं 'अथर्वविधान'का वर्णन करूँगा। शान्तातीयगणके उद्देश्यसे हवन करके मानव शान्ति प्राप्त करता है। भैषज्यगणके उद्देश्यसे होम करके होता समस्त रोगोंको दूर करता है। त्रिसप्तीयगणके उद्देश्यसे आहुतियाँ देनेवाला सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। अभयगणके उद्देश्यसे होम करनेपर मनुष्य किसी स्थानपर भी भय नहीं प्राप्त करता। परशुराम! अपराजितगणके उद्देश्यसे हवन करनेवाला कभी पराजित नहीं होता। आयुष्यगणके उद्देश्यसे आहुतियाँ देकर मानव दुर्मृत्युको दूर कर देता है। स्वस्त्ययनगणके उद्देश्यसे हवन करनेपर सर्वत्र मङ्गलकी प्राप्ति होती है। शर्मवर्मगणके उद्देश्यसे होम करनेवाला कल्याणका भागी होता है। वास्तोष्पत्यगणके उद्देश्यसे आहुतियाँ देनेपर वास्तुदोषकी शान्ति होती है। रौद्रगणके लिये

हवन करके होता सम्पूर्ण दोषोंका विनाश कर देता है। निम्नाङ्कित अठारह प्रकारकी शान्तियोंमें इन दस गणोंके द्वारा होम करना चाहिये। (वे अठारह शान्तियाँ ये हैं—) वैष्णवी, ऐन्द्री, ब्राह्मी, रौद्री, वायव्या, वारुणी, कौबेरी, भार्गवी, प्राजापत्या, त्वाष्ट्री, कौमारी, आग्नेयी, मारुद्गणी, गान्धर्वी, नैर्ऋतिकी, आङ्गिरसी, याम्या एवं कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पार्थिवी शान्ति॥ १—८$\frac{१}{२}$॥

'यस्त्वां मृत्युः०' इत्यादि आथर्वण-मन्त्रका जप मृत्युका नाश करनेवाला है। **'सुपर्णस्त्वा०'** (४।६।३)—इस मन्त्रसे होम करनेपर मनुष्यको सर्पोंसे बाधा नहीं प्राप्त होती। **'इन्द्रेण दत्तो०'** (२।२९।४)—यह मन्त्र सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाला है। **'इन्द्रेण दत्तो०'** यह मन्त्र समस्त बाधाओंका भी विनाश करनेवाला है। **'इमा या देवी'** (२।१०।४)—यह मन्त्र सभी प्रकारकी शान्तियोंके लिये उत्तम है। **'देवा मरुतः'**—यह मन्त्र समस्त कामनाओंको सिद्ध करनेवाला है। **'यमस्य लोकाद्०'** (१९।५६।१)—यह मन्त्र दुःस्वप्नका नाश करनेमें उत्तम है। **'इन्द्रश्च पञ्च वणिजः०'**—यह मन्त्र परमपुण्यका लाभ करानेवाला है। **'कामो मे वाजी०'** मन्त्रसे हवन करनेपर स्त्रियोंके सौभाग्यकी वृद्धि होती है। **'तुभ्यमेव०'** (२।२८।१) इत्यादि मन्त्रको नित्य दस हजार जप करते हुए उसका दशांश हवन करे एवं **'अग्ने गोभिर्नः०'** मन्त्रसे होम करे तो उत्तम मेधाशक्तिकी वृद्धि होती है। **'ध्रुवं ध्रुवेण०'** (७।८४।१) इत्यादि मन्त्रसे होम किया जाय तो वह स्थानकी प्राप्ति कराता है। **'अलक्तजीवेति शुना०'**—यह मन्त्र कृषि-लाभ करानेका साधन है। **'अहं ते भग्नः'**—यह मन्त्र सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला है। **'ये मे पाशाः०'** मन्त्र बन्धनसे छुटकारा दिलाता है। **'शपत्वहन्०'**—इस मन्त्रका जप एवं होम करनेसे मनुष्य अपने शत्रुओंका विनाश कर सकता है। **'त्वमुत्तमम्०'**—यह मन्त्र यश एवं बुद्धिका विस्तार करनेवाला है। **'यथा मृगाः०'** (५।२१।४)—यह मन्त्र स्त्रियोंके सौभाग्यको बढ़ानेवाला है। **'येन चेह दिशं चैव०'**—यह मन्त्र गर्भकी प्राप्ति करानेवाला है। **'अयं ते योनिः०'** (३।२०।१)—इस मन्त्रके अनुष्ठानसे पुत्रलाभ होता है। **'शिवः शिवाभिः०'** इत्यादि मन्त्र सौभाग्यवर्धक है। **'बृहस्पतिर्नः परि पातु०'** (७।५१।१) इत्यादि मन्त्रका जप मार्गमें मङ्गल करनेवाला है। **'मुञ्चामि त्वा०'** (३।११।१)—यह मन्त्र अपमृत्युका निवारक है। अथर्वशीर्षका पाठ करनेवाला समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह मैंने तुमसे प्रधानतया मन्त्रोंके द्वारा साध्य कुछ कर्म बताये हैं। परशुराम! यज्ञ-सम्बन्धी वृक्षोंकी समिधाएँ सबसे मुख्य हविष्य हैं। इसके सिवा घृत, धान्य, श्वेत सर्षप, अक्षत, तिल, दधि, दुग्ध, कुश, दूर्वा, बिल्व और कमल—ये सभी द्रव्य शान्तिकारक एवं पुष्टिकारक बताये गये हैं। धर्मज्ञ! तेल, कण, राई, रुधिर, विष एवं कण्टकयुक्त समिधाओंका अभिचारकर्ममें प्रयोग करे। जो मन्त्रोंके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगको जानता है, वही उन-उन मन्त्रोंद्वारा कथित कर्मोंका अनुष्ठान करे॥ ९—२५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अथर्वविधान' नामक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६२॥

दो सौ तिरसठवाँ अध्याय

नाना प्रकारके उत्पात और उनकी शान्तिके उपाय

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! प्रत्येक वेदके 'श्रीसूक्त'को जानना चाहिये। वह लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाला है। '**हिरण्यवर्णा हरिणीं**' इत्यादि पंद्रह ऋचाएँ ऋग्वेदीय श्रीसूक्त हैं। '**रथे०**' (२९—४३) '**अक्षराजाय०**', (३०।१८) '**वाजः०**', (१८।३४) एवं '**चतस्रः०**' (१८।३२)—ये चार मन्त्र यजुर्वेदीय श्रीसूक्त हैं। 'श्रावन्तीय-साम' सामवेदीय श्रीसूक्त है तथा '**श्रियं धातर्मयि धेहि**' यह अथर्ववेदका श्रीसूक्त कहा गया है। जो भक्तिपूर्वक श्रीसूक्तका जप एवं होम करता है, उसे निश्चय ही लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। श्रीदेवीकी प्रसन्नताके लिये कमल, बेल, घी अथवा तिलकी आहुति देनी चाहिये॥ १—३ $\frac{1}{2}$ ॥

प्रत्येक वेदमें एक ही 'पुरुषसूक्त' मिलता है, जो सब कुछ देनेवाला है। जो स्नान करके 'पुरुषसूक्त'के एक-एक मन्त्रसे भगवान् श्रीविष्णुको एक-एक जलाञ्जलि और एक-एक फूल समर्पित करता है, वह पापरहित होकर दूसरोंके भी पापका नाश करनेवाला हो जाता है। स्नान करके इस सूक्तके एक-एक मन्त्रके साथ श्रीविष्णुको फल समर्पित करके पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका भागी होता है। 'पुरुषसूक्त'के जपसे महापातकों और उपपातकोंका नाश हो जाता है। कृच्छ्रव्रत करके शुद्ध हुआ मनुष्य स्नानपूर्वक 'पुरुषसूक्त'का जप एवं होम करके सब कुछ पा लेता है॥ ४—६ $\frac{1}{2}$ ॥

अठारह शान्तियोंमें समस्त उत्पातोंका उपसंहार करनेवाली अमृता, अभया और सौम्या—ये तीन शान्तियाँ सर्वोत्तम हैं। 'अमृता शान्ति' सर्वदैवत्या, 'अभया' ब्रह्मदैवत्या एवं 'सौम्या' सर्वदैवत्या है। इनमेंसे प्रत्येक शान्ति सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली है। भृगुश्रेष्ठ! 'अभया' शान्तिके लिये वरुणवृक्षके मूलभागकी मणि बनानी चाहिये। 'अमृता' शान्तिके लिये दूर्वामूलकी मणि एवं 'सौम्या' शान्तिके लिये शङ्खमणि धारण करे। इसके लिये उन-उन शान्तियोंके देवताओंसे सम्बद्ध मन्त्रोंको सिद्ध करके मणि बाँधनी चाहिये। ये शान्तियाँ दिव्य, आन्तरिक्ष एवं भौम उत्पातोंका शमन करनेवाली हैं। 'दिव्य', 'आन्तरिक्ष' और 'भौम'—यह तीन प्रकारका अद्भुत उत्पात बताया जाता है, सुनो। ग्रहों एवं नक्षत्रोंकी विकृतिसे होनेवाले उत्पात 'दिव्य' कहलाते हैं। अब 'आन्तरिक्ष' उत्पातका वर्णन सुनो। उल्कापात, दिग्दाह, परिवेश, सूर्यपर घेरा पड़ना, गन्धर्व नगरका दर्शन एवं विकारयुक्त वृष्टि—ये अन्तरिक्ष-सम्बन्धी उत्पात हैं। भूमिपर एवं जंगम प्राणियोंसे होनेवाले उपद्रव तथा भूकम्प—ये 'भौम' उत्पात हैं। इन त्रिविध उत्पातोंके दीखनेके बाद एक सप्ताहके भीतर यदि वर्षा हो जाय तो वह 'अद्भुत' निष्फल हो जाता है। यदि तीन वर्षतक अद्भुत उत्पातकी शान्ति नहीं की गयी तो वह लोकके लिये भयकारक होता है। जब देवताओंकी प्रतिमाएँ नाचती, काँपती, जलती, शब्द करती, रोती, पसीना बहाती या हँसती हैं, तब प्रतिमाओंके इस विकारकी शान्तिके लिये उनका पूजन एवं प्राजापत्य-होम करना चाहिये। जिस राष्ट्रमें बिना जलाये ही घोर शब्द करती हुई आग जल उठती है और इन्धन डालनेपर भी प्रज्वलित नहीं होती, वह राष्ट्र राजाओंके द्वारा पीड़ित होता है॥ ७—१६ ॥

भृगुनन्दन! अग्नि-सम्बन्धी विकृतिकी शान्तिके लिये अग्निदैवत्य-मन्त्रोंसे हवन बताया गया है। जब वृक्ष असमयमें ही फल देने लगें तथा दूध और रक्त बहावें तो वृक्षजनित भौम-उत्पात होता है। वहाँ शिवका पूजन करके इस उत्पातकी

शान्ति करावे। अतिवृष्टि और अनावृष्टि—दोनों ही दुर्भिक्षाका कारण मानी गयी हैं। वर्षा-ऋतुके सिवा अन्य ऋतुओंमें तीन दिनतक अनवरत वृष्टि होनेपर उसे भयजनक जानना चाहिये। पर्जन्य, चन्द्रमा एवं सूर्यके पूजनसे वृष्टि-सम्बन्धी वैकृत्य (उपद्रव)-का विनाश होता है। जिस नगरसे नदियाँ दूर हट जाती हैं या अत्यधिक समीप चली आती हैं और जिसके सरोवर एवं झरने सूख जाते हैं, वहाँ जलाशयोंके इस विकारको दूर करनेके लिये वरुणदेवता-सम्बन्धी मन्त्रका जप करना चाहिये। जहाँ स्त्रियाँ असमयमें प्रसव करें, समयपर प्रसव न करें, विकृत गर्भको जन्म दें या युग्म-संतान आदि उत्पन्न करें, वहाँ स्त्रियोंके प्रसव-सम्बन्धी वैकृत्यके निवारणार्थ साध्वी स्त्रियों और ब्राह्मण आदिका पूजन करे॥ १७—२२ $\frac{१}{२}$ ॥

जहाँ घोड़ी, हथिनी या गौ एक साथ दो बच्चोंको जनती हैं या विकारयुक्त विजातीय संतानको जन्म देती हैं, छः महीनोंके भीतर प्राणत्याग कर देती हैं अथवा विकृत गर्भका प्रसव करती हैं, उस राष्ट्रको शत्रुमण्डलसे भय होता है। पशुओंके इस प्रसव-सम्बन्धी उत्पातकी शान्तिके उद्देश्यसे होम, जप एवं ब्राह्मणोंका पूजन करना चाहिये। जब अयोग्य पशु सवारीमें आकर जुत जाते हैं, योग्य पशु यानका वहन नहीं करते हैं एवं आकाशमें तूर्यनाद होने लगता है, उस समय महान् भय उपस्थित होता है। जब वन्यपशु एवं पक्षी ग्राममें चले जाते हैं, ग्राम्यपशु वनमें चले जाते हैं, स्थलचर जीव जलमें प्रवेश करते हैं, जलचर जीव स्थलपर चले जाते हैं, राजद्वारपर गीदड़ियाँ आ जाती हैं, मुर्गे प्रदोषकालमें शब्द करें, सूर्योदयके समय गीदड़ियाँ रुदन करें, कबूतर घरमें घुस आवें, मांसभोजी पक्षी सिरपर मँडराने लगें, साधारण मक्खी मधु बनाने लगें, कौए सबकी आँखोंके सामने मैथुनमें प्रवृत्त हो जायँ, दृढ़ प्रासाद, तोरण, उद्यान, द्वार, परकोटा और भवन अकारण ही गिरने लगें, तब राजाकी मृत्यु होती है। जहाँ धूल या धुएँसे दशों दिशाएँ भर जायँ, केतुका उदय, ग्रहण, सूर्य और चन्द्रमामें छिद्र प्रकट होना—ये सब ग्रहों और नक्षत्रोंके विकार हैं। ये विकार जहाँ प्रकट होते हैं, वहाँ भयकी सूचना देते हैं। जहाँ अग्नि प्रदीप्त न हो, जलसे भरे हुए घड़े अकारण ही चूने लगें तो इन उत्पातोंके फल मृत्यु, भय और महामारी आदि होते हैं। ब्राह्मणों और देवताओंकी पूजासे तथा जप एवं होमसे इन उत्पातोंकी शान्ति होती है॥ २३—३३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'उत्पात-शान्तिका कथन' नामक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६३॥

दो सौ चौंसठवाँ अध्याय

देवपूजा तथा वैश्वदेव-बलि आदिका वर्णन

पुष्कर कहते हैं— परशुराम! अब मैं देवपूजा आदि कर्मका वर्णन करूँगा, जो उत्पातोंको शान्त करनेवाला है। मनुष्य स्नान करके **'आपो हि ष्ठा०'** (यजु० ३६। १४—१६) आदि तीन मन्त्रोंसे भगवान् श्रीविष्णुको अर्घ्य समर्पित करे। फिर **'हिरण्यवर्णा०'** (ऋक्०प० ११। ११। १—३) आदि तीन मन्त्रोंसे पाद्य समर्पित करे। **'शं नो आपः०'**—इस मन्त्रसे आचमन एवं **'इदमापः०'** (यजु० ६। १७) मन्त्रसे अभिषेक अर्पण करे। **'रथे०, अक्षेषु०** एवं **चतस्त्रः'**— इन तीन मन्त्रोंसे

भगवान‍्के श्रीअङ्गोंमें चन्दनका अनुलेपन करे। फिर '**युवा सुवासाः०**' (ऋक्० ३।८।४) मन्त्रसे वस्त्र और '**पुष्पवती०**' (अथर्व० ८।७।२७) इत्यादि मन्त्रसे पुष्प एवं '**धूरसि०**' (यजु० १।८) आदि मन्त्रसे धूप समर्पित करे। '**तेजोऽसि शुक्रमसि०**' (यजु० १।३१)—इस मन्त्रसे दीप तथा '**दधिक्राव्णो०**' (यजु० २३।३२) मन्त्रसे मधुपर्क निवेदन करे। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर '**हिरण्यगर्भः०**' आदि आठ ऋचाओंका पाठ करके अन्न एवं सुगन्धित पेय पदार्थका नैवेद्य समर्पित करे। इसके अतिरिक्त भगवान‍्को चामर, व्यजन, पादुका, छत्र, यान एवं आसन आदि जो कुछ भी समर्पित करना हो, वह सावित्र-मन्त्रसे अर्पण करे। फिर 'पुरुषसूक्त' का जप करे और उसीसे आहुति दे। भगवद्विग्रहके अभावमें वेदिकापर स्थित जलपूर्ण कलशमें, अथवा नदीके तटपर, अथवा कमलके पुष्पमें भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे उत्पातोंकी शान्ति होती है॥ १—७॥

(काम्य बलिवैश्वदेव-प्रयोग) भूमिस्थ वेदीका मार्जन एवं प्रोक्षण करके उसके चारों ओर कुशको बिछावे। फिर उसपर अग्निको प्रदीप्त करके उसमें होम करे[1]। महाभाग परशुराम! मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सब प्रकारकी रसोईमेंसे अग्राशन निकालकर गृहस्थ द्विज क्रमशः वासुदेव आदिके लिये आहुतियाँ दे। मन्त्रवाक्य इस प्रकार हैं—

'**प्रभवे अव्ययाय देवाय वासुदेवाय नमः स्वाहा। अग्नये नमः स्वाहा। सोमाय नमः स्वाहा। मित्राय नमः स्वाहा। वरुणाय नमः स्वाहा। इन्द्राय नमः स्वाहा। इन्द्राग्नीभ्यां नमः स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः स्वाहा। प्रजापतये नमः स्वाहा। अनुमत्यै नमः स्वाहा। धन्वन्तरये नमः स्वाहा। वास्तोष्पतये नमः स्वाहा। देव्यै**[2] **नमः स्वाहा।** एवं **अग्नये स्विष्टकृते नमः स्वाहा।**' इन देवताओंको उनका चतुर्थ्यन्त नाम लेकर एक-एक ग्रास अन्नकी आहुति दे। तत्पश्चात् निम्नाङ्कित रीतिसे बलि समर्पित करे॥ ८—१२॥

धर्मज्ञ! पहले अग्निदिशासे आरम्भ करके तक्षा, उपतक्षा, अश्वा, ऊर्णा, निरुन्धी, धूम्रिणीका, अस्वपन्ती तथा मेघपत्नी—इनको बलि अर्पित करे। भृगुनन्दन! ये ही समस्त बलिभागिनी देवियोंके नाम हैं। क्रमशः आग्नेय आदि दिशाओंसे आरम्भ करके इन्हें बलि दे। (बलि-समर्पणके वाक्य इस प्रकार हैं—**तक्षायै नमः आग्नेय्याम्, उपतक्षायै नमः याम्ये, अश्वाभ्यो नमः नैर्ऋत्ये, ऊर्णाभ्यो नमः वारुण्याम्, निरुन्ध्यै नमः वायव्ये, धूम्रिणीकायै नमः उदीच्याम्, अस्वपन्त्यै नमः ऐशान्याम्, मेघपत्न्यै नमः प्राच्याम्।**) भार्गव! तदनन्तर नन्दिनी आदि शक्तियोंको बलि अर्पित करे। यथा—**नन्दिन्यै नमः, सुभगायै नमः** (अथवा **सौभाग्यायै नमः**), **सुमङ्गल्यै नमः, भद्रकाल्यै**[3] **नमः।** इन चारोंके लिये पूर्वादि चारों दिशाओंमें बलि देकर किसी खम्भे या खूँटेपर लक्ष्मी[4] आदिके लिये बलि दे। यथा—**श्रियै नमः, हिरण्यकेश्यै नमः** तथा **वनस्पतये नमः।** द्वारपर

---

१. यहाँ मूलमें संक्षेपसे अग्निस्थापनकी विधि दी गयी है। इसे विशदरूपमें इस प्रकार समझे—पहले भूमिस्थ वेदीपर कुशोंसे सम्मार्जन करके उन कुशोंको ईशान दिशामें फेंक दे; इसके बाद उस वेदीपर शुद्ध जल छिड़के। तदनन्तर स्रुवाके मूलभागसे उस वेदीपर तीन उत्तरोत्तर रेखाएँ अङ्कित करे। इन रेखाओंकी लंबाई प्रादेशमात्र हो। उल्लेखन-क्रमसे रेखाओंके ऊपरसे थोड़ी-थोड़ी मिट्टी अनामिका एवं अङ्गुष्ठद्वारा उठाकर बायें हाथपर रखे और उन सबको एक साथ फेंक दे। तत्पश्चात् गोबर और जलसे उस वेदीको लीपे और उसके ऊपर कांस्यपात्रमें अग्नि मँगाकर स्थापित करे। उस अग्निके ऊपर कुछ काष्ठकी समिधाएँ रखकर अग्निको प्रज्वलित करे। वेदीके चारों ओर कुश बिछा दे। फिर प्रज्वलित अग्निमें होम करे।

२. मनुस्मृतिके अनुसार यह आहुति 'द्यावा-पृथिवी'के लिये दी जाती है। यथा—'द्यावापृथिवीभ्यां नमः स्वाहा।'

३. मनुस्मृतिके अनुसार भद्रकालीको बलि वास्तुपुरुषके चरणकी दिशा—दक्षिण-पश्चिममें देनी चाहिये।

४. लक्ष्मीको वास्तुपुरुषके शिरोभाग उत्तर-पूर्वमें बलि दी जाती है।

दक्षिणभागमें '**धर्ममयाय नमः**', वामभागमें '**अधर्ममयाय नमः**', घरके भीतर '**ध्रुवाय नमः**', घरके बाहर '**मृत्यवे नमः**' तथा जलाशयमें '**वरुणाय नमः**'— इस मन्त्रसे बलि अर्पित करे। फिर घरके बाहर '**भूतेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे भूतबलि दे। घरके भीतर '**धनदाय नमः**' कहकर कुबेरको बलि दे। इसके बाद मनुष्य घरसे पूर्वदिशामें '**इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे इन्द्र और इन्द्रके पार्षदपुरुषोंको बलि अर्पित करे। तत्पश्चात् दक्षिणमें '**यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे, '**वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे पश्चिममें, '**सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे उत्तरमें और '**ब्रह्मणे वास्तोष्पतये नमः, ब्रह्मपुरुषेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे गृहके मध्यभागमें बलि दे। '**विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे घरके आकाशमें ऊपरकी ओर बलि अर्पित करे। '**स्थण्डिलाय नमः**'— इस मन्त्रसे पृथ्वीपर बलि दे। तत्पश्चात् '**दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे दिनमें बलि दे तथा '**रात्रिचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः**'— इस मन्त्रसे रात्रिमें बलि अर्पित करे। घरके बाहर जो बलि दी जाती है, उसे प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल देते रहना चाहिये। यदि दिनमें श्राद्ध-सम्बन्धी पिण्डदान किया जाय तो उस दिन सायंकालमें बलि नहीं देनी चाहिये॥ १३—२२॥

पितृ-श्राद्धमें दक्षिणाग्र कुशोंपर पहले पिताको, फिर पितामहको और उसके बाद प्रपितामहको पिण्ड देना चाहिये। इसी प्रकार पहले माताको, फिर पितामहीको, फिर प्रपितामहीको पिण्ड अथवा जल दे। इस प्रकार 'पितृयाग' करना चाहिये॥ २३ $\frac{1}{2}$॥

बने हुए पाकमेंसे बलिवैश्वदेव करनेके बाद पाँच बलियाँ दी जाती हैं। उनमें सर्वप्रथम 'गो-बलि' है; किंतु यहाँ पहले 'काकबलि'का विधान किया गया है—

काकबलि

इन्द्रवारुणवायव्या याम्या वा नैर्ऋताश्च ये॥
ते काकाः प्रतिगृह्णन्तु इमं पिण्डं मयोद्धृतम्।[1]

'जो इन्द्र, वरुण, वायु, यम एवं निर्ऋति देवताकी दिशामें रहते हैं, वे काक मेरेद्वारा प्रदत्त यह पिण्ड ग्रहण करें।' इस मन्त्रसे काकबलि देकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे कुत्तोंके लिये अन्नका ग्रास दे॥ २४-२५॥

कुक्कुर-बलि

विवस्वतः कुले जातौ द्वौ श्यामशबलौ[2] **शुनौ।**
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि रक्षतां पथि मां सदा॥

'श्याम और शबल (काले और चितकबरे) रंगवाले दो श्वान विवस्वान्‌के कुलमें उत्पन्न हुए हैं। मैं उन दोनोंके लिये पिण्ड प्रदान करता हूँ। वे लोक-परलोकके मार्गमें सदा मेरी रक्षा करें'॥ २६॥

गो-ग्रास

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पापनाशनाः[3]**।**
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

'त्रैलोक्यजननी, सुरभिपुत्री गौएँ सबका हित करनेवाली, पवित्र एवं पापोंका विनाश करनेवाली हैं। वे मेरे द्वारा दिये हुए ग्रासको ग्रहण करें।' इस मन्त्रसे गो-ग्रास देकर स्वस्त्ययन करे। फिर याचकोंको भिक्षा दिलावे। तदनन्तर दीन प्राणियों एवं अतिथियोंका अन्नसे सत्कार करके गृहस्थ स्वयं भोजन करे॥ २७-२८॥

(अनाहिताग्नि पुरुष निम्नलिखित मन्त्रोंसे जलमें अन्नकी आहुतियाँ दे—)

ॐ भूः स्वाहा। ॐ भुवः स्वाहा। ॐ स्वः

१. उत्तरार्धके स्थानमें यह पाठान्तर उपलब्ध होता है—वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयोज्झितम्।

२. कहीं-कहीं—द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ। ताभ्यामन्नं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ॥—ऐसा पाठ मिलता है।

३. पाठान्तर—'पुण्यराशयः।'

स्वाहा। ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा। ॐ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा। यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा। ॐ प्रजापतये स्वाहा।

यह मैंने तुमसे विष्णुपूजन एवं बलिवैश्वदेवका वर्णन किया॥ २९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'देवपूजा और वैश्वदेव-बलिका वर्णन' नामक दो सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६४॥

दो सौ पैंसठवाँ अध्याय

दिक्पालस्नानकी विधिका वर्णन

पुष्कर कहते हैं— परशुराम! अब मैं सम्पूर्ण अर्थोंको सिद्ध करनेवाले शान्तिकारक स्नानका वर्णन करता हूँ, सुनो। बुद्धिमान् पुरुष नदीतटपर भगवान् श्रीविष्णु एवं ग्रहोंको स्नान करावे। ज्वरजनित पीड़ा आदिमें तथा विघ्नराज एवं ग्रहोंके कष्टसे पीड़ित होनेपर उस पीड़ासे छूटनेवाले पुरुषको देवालयमें स्नान करना चाहिये। विद्याप्राप्तिकी अभिलाषा रखनेवाले छात्रको किसी जलाशय अथवा घरमें ही स्नान करना चाहिये तथा विजयकी कामनावाले पुरुषके लिये तीर्थजलमें स्नान करना उचित है। जिस नारीका गर्भ स्खलित हो जाता हो, उसे पुष्करिणीमें स्नान कराये। जिस स्त्रीके नवजात शिशुकी जन्म लेते ही मृत्यु हो जाती हो, वह अशोकवृक्षके समीप स्नान करे। रजोदर्शनकी कामना करनेवाली स्त्री पुष्पोंसे शोभायमान उद्यानमें और पुत्राभिलाषिणी समुद्रमें स्नान करे। सौभाग्यकी कामनावाली स्त्रियोंको घरमें स्नान करना चाहिये। परंतु जो सब कुछ चाहते हों, ऐसे सभी स्त्री-पुरुषोंको भगवान् विष्णुके अर्चाविग्रहोंके समीप स्नान करना उत्तम है। श्रवण, रेवती एवं पुष्य नक्षत्रोंमें सभीके लिये स्नान करना प्रशस्त है॥ १—४ $\frac{1}{2}$॥

काम्यस्नान करनेवाले मनुष्यके लिये एक सप्ताह पूर्वसे ही उबटन लगानेका विधान है। पुनर्नवा (गदहपूर्णा), रोचना, सताङ्ग (तिनिश) एवं अगुरु वृक्षकी छाल, मधूक (महुआ), दो प्रकारकी हल्दी (सोंठहल्दी और दारुहल्दी), तगर, नागकेसर, अम्बरी, मञ्जिष्ठा (मजीठ), जटामाँसी, यासक, कर्दम (दक्ष-कर्दम), प्रियंगु, सर्षप, कुष्ठ (कूट), बला, ब्राह्मी, कुङ्कुम एवं सक्तुमिश्रित पञ्चगव्य—इन सबका उबटन करके स्नान करे॥ ५—७ $\frac{1}{2}$॥

तदनन्तर ताम्रपत्रपर अष्टदल पद्म-मण्डलका निर्माण करके पहले उसकी कर्णिका (-के मध्यभाग)-में श्रीविष्णुका, उनके दक्षिणभागमें ब्रह्माका तथा वामभागमें शिवका अङ्कन और पूजन करे। फिर पूर्व आदि दिशाओंके दलोंमें क्रमशः इन्द्र आदि दिक्पालोंको आयुधों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित अङ्कित करे। तदनन्तर पूर्वादि दिशाओं और अग्नि आदि कोणोंमें भी आठ स्नान-मण्डलोंका निर्माण करे। उन मण्डलोंमें विष्णु, ब्रह्मा, शिव एवं इन्द्र आदि देवताओंका उनके आयुधोंसहित पूजन करके उनके उद्देश्यसे होम करे। प्रत्येक देवताके निमित्त समिधाओं, तिलों या घृतोंकी १०८ (एक सौ आठ) आहुतियाँ दे। फिर भद्र, सुभद्र, सिद्धार्थ, पुष्टिवर्धन, अमोघ, चित्रभानु, पर्जन्य एवं सुदर्शन—इन आठ कलशोंकी स्थापना करे और उनके भीतर अश्विनीकुमार, रुद्र, मरुद्गण, विश्वेदेव, दैत्य, वसुगण तथा मुनिजनों एवं अन्य देवताओंका आवाहन करे। उनसे प्रार्थना

करे कि 'आप सब लोग प्रसन्नतापूर्वक इन कलशोंमें आविष्ट हो जायँ।' इसके बाद उन कलशोंमें जयन्ती, विजया, जया, शतावरी, शतपुष्पा, विष्णुक्रान्ता नामसे प्रसिद्ध अपराजिता, ज्योतिष्मती, अतिबला, उशीर, चन्दन, केसर, कस्तूरी, कपूर, वालक, पत्रक (पत्ते), त्वचा (छाल), जायफल, लवङ्ग आदि ओषधियाँ तथा मृत्तिका और पञ्चगव्य डाले। तत्पश्चात् ब्राह्मण साध्य मनुष्यको भद्रपीठपर बैठाकर इन कलशोंके जलसे बलपूर्वक स्नान करावे। राज्याभिषेकके मन्त्रोंमें उक्त देवताओंके उद्देश्यसे पृथक्-पृथक् होम करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्णाहुति देकर आचार्यको दक्षिणा दे। पूर्वकालमें देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रका इसी प्रकार अभिषेक किया था, जिससे वे दैत्योंका वध करनेमें समर्थ हो सके। यह मैंने संग्राम आदिमें विजय आदि प्रदान करनेवाला 'दिक्पालस्नान' कहा है॥ ८—१८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दिक्पाल-स्नानकी विधिका वर्णन' नामक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६५॥

दो सौ छाछठवाँ अध्याय

विनायक-स्नानविधि

पुष्कर कहते हैं— परशुराम! जो मनुष्य विघ्नराज विनायकद्वारा पीड़ित हैं, उनके लिये सर्व-मनोरथ-साधक स्नानकी विधिका वर्णन करता हूँ। कर्ममें विघ्न और उसकी सिद्धिके लिये विष्णु, शिव और ब्रह्माजीने विनायकको पुष्पदन्त आदि गणोंके अधिपतिपदपर प्रतिष्ठित किया है। विघ्नराज विनायकके द्वारा जो ग्रस्त है, उस पुरुषके लक्षण सुनो। वह स्वप्नमें बहुत अधिक स्नान करता है और वह भी गहरे जलमें। (उस अवस्थामें वह यह भी देखता है कि पानीका स्रोत मुझे बहाये लिये जाता है, अथवा मैं डूब रहा हूँ।) वह मूँड़ मुँड़ाये (और गेरुआँ वस्त्र धारण करनेवाले) मनुष्योंको भी देखता है। कच्चे मांस खानेवाले गीधों एवं व्याघ्र आदि पशुओंकी पीठपर चढ़ता है। (चाण्डालों, गदहों और ऊँटोंके साथ एक स्थानपर बैठता है।) जाग्रत्-अवस्थामें भी जब वह कहीं जाता है तो उसे यह अनुभव होता है कि शत्रु मेरा पीछा कर रहे हैं। उसका चित्त विक्षिप्त रहता है। उसके द्वारा किये हुए प्रत्येक कार्यका आरम्भ निष्फल होता है। वह अकारण ही खिन्न रहता है। विघ्नराजकी सतायी हुई कुमारी कन्याको जल्दी वर ही नहीं मिलता है और विवाहिता स्त्री भी संतान नहीं पाती। श्रोत्रियको आचार्यपद नहीं मिलता। शिष्य अध्ययन नहीं कर पाता। वैश्यको व्यापारमें और किसानको खेतीमें लाभ नहीं होता है। राजाका पुत्र भी राज्यको हस्तगत नहीं कर पाता है। ऐसे पुरुषको (किसी पवित्र दिन एवं शुभ मुहूर्तमें) विधिपूर्वक स्नान कराना चाहिये। हस्त, पुष्य, अश्विनी, मृगशिरा तथा श्रवण नक्षत्रमें किसी भद्रपीठपर स्वस्तिवाचन-पूर्वक बिठाकर उसे स्नान करानेका विधान है। पीली सरसों पीसकर उसे घीसे ढीला करके उबटन बनावे और उसको उस मनुष्यके सम्पूर्ण शरीरमें मले। फिर उसके मस्तकपर सर्वौषधिसहित सब प्रकारके सुगन्धित द्रव्यका लेप करे। चार कलशोंके जलसे उनमें सर्वौषधि छोड़कर स्नान कराये। अश्वशाला, गजशाला, वल्मीक (बाँबी), नदी-संगम तथा जलाशयसे लायी गयी पाँच प्रकारकी मिट्टी, गोरोचन, गन्ध (चन्दन, कुङ्कुम, अगुरु आदि) और गुग्गुल—ये सब वस्तुएँ भी उन कलशोंके जलमें छोड़े। आचार्य पूर्व-दिशावर्ती कलशको लेकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे

यजमानका अभिषेक करे—

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्॥
तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते।

'जो सहस्रों नेत्रों (अनेक प्रकारकी शक्तियों)-से युक्त हैं, जिसकी सैकड़ों धाराएँ (बहुत-से प्रवाह) हैं और जिसे महर्षियोंने पावन बनाया है, उस पवित्र जलसे मैं (विनायकजनित उपद्रवसे ग्रस्त) तुम्हारा (उक्त उपद्रवकी शान्तिके लिये) अभिषेक करता हूँ। यह पावन जल तुम्हें पवित्र करे'॥ १—९ $\frac{१}{२}$॥

(तदनन्तर दक्षिण दिशामें स्थित द्वितीय कलश लेकर नीचे लिखे मन्त्रको पढ़ते हुए अभिषेक करे—)

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः।
भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः॥

'राजा वरुण, सूर्य, बृहस्पति, इन्द्र, वायु तथा सप्तर्षिगणने तुम्हें कल्याण प्रदान किया है'॥ १० $\frac{१}{२}$॥

(फिर तीसरा पश्चिम कलश लेकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे अभिषेक करे—)

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि॥
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तु सर्वदा।

'तुम्हारे केशोंमें, सीमन्तमें, मस्तकपर, ललाटमें, कानोंमें और नेत्रोंमें भी जो दुर्भाग्य (या अकल्याण) है, उसे जलदेवता सदाके लिये शान्त करें'॥ ११ $\frac{१}{२}$॥

(तत्पश्चात् चौथा कलश लेकर पूर्वोक्त तीनों मन्त्र पढ़कर अभिषेक करे।) इस प्रकार स्नान करनेवाले यजमानके मस्तकपर बायें हाथमें लिये हुए कुशोंको रखकर आचार्य उसपर गूलरकी स्रुवासे सरसोंका तेल उठाकर डाले॥ १२-१३॥

(उस समय निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़े—)

'ॐ मिताय स्वाहा। ॐ सम्मिताय स्वाहा। ॐ शालाय स्वाहा। ॐ कण्टकाय स्वाहा। ॐ कूष्माण्डाय स्वाहा। ॐ राजपुत्राय स्वाहा।'

इस प्रकार स्वाहासमन्वित इन मितादि नामोंके द्वारा सरसोंके तैलकी मस्तकपर आहुति दे। मस्तकपर तैल डालना ही हवन है॥ १४-१५॥

(मस्तकपर उक्त होमके पश्चात् लौकिक अग्निमें भी स्थालीपाककी विधिसे चरु तैयार करके उक्त छः मन्त्रोंसे ही उसी अग्निमें हवन करे।) फिर होमशेष चरुद्वारा '**नमः**' पदयुक्त इन्द्रादि नामोंको बलि-मन्त्र बनाकर उनके उच्चारणपूर्वक उन्हें बलि अर्पित करे। तत्पश्चात् सूपमें सब ओर कुश बिछाकर, उसमें कच्चे-पके चावल, पीसे हुए तिलसे मिश्रित भात तथा भाँति-भाँतिके पुष्प, तीन प्रकारकी (गौड़ी, माधवी तथा पैष्टी) सुरा, मूली, पूरी, मालपूआ, पीठेकी मालाएँ, दही-मिश्रित अन्न, खीर, मीठा, लड्डू और गुड़—इन सबको एकत्र रखकर चौराहेपर रख दे और उसे देवता, सुपर्ण, सर्प, ग्रह, असुर, यातुधान, पिशाच, नागमाता, शाकिनी, यक्ष, वेताल, योगिनी और पूतना आदिको अर्पित करे। तदनन्तर विनायकजननी भगवती अम्बिकाको दूर्वादल, सर्षप एवं पुष्पोंसे भरी हुई अर्घ्यरूप अञ्जलि देकर निम्नाङ्कित मन्त्रसे उनका उपस्थान करे—'सौभाग्यवती अम्बिके! मुझे रूप, यश, सौभाग्य, पुत्र एवं धन दीजिये। मेरी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण कीजिये*।' इसके बाद ब्राह्मणोंको भोजन करावे तथा आचार्यको दो वस्त्र दान करे। इस प्रकार विनायक और ग्रहोंका पूजन करके मनुष्य धन और सभी कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है॥ १६—२०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विनायक-स्नानकथन' नामक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६६॥

---

* रूपं देहि यशो देहि सौभाग्यं सुभगे मम। पुत्रं देहि धनं देहि सर्वान् कामांश्च देहि मे॥ (अग्निपु० २६६। १९)

दो सौ सरसठवाँ अध्याय

माहेश्वर-स्नान आदि विविध स्नानोंका वर्णन; भगवान् विष्णुके पूजनसे तथा गायत्रीमन्त्रद्वारा लक्ष-होमादिसे शान्तिकी प्राप्तिका कथन

पुष्कर कहते हैं— अब मैं राजा आदिकी विजयश्रीको बढ़ानेवाले 'माहेश्वर-स्नान'का वर्णन करता हूँ, जिसका पूर्वकालमें शुक्राचार्यने दानवेन्द्र बलिको उपदेश किया था। प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व भद्रपीठपर आचार्य जलपूर्ण कलशोंसे राजाको स्नान करावे॥ १ $\frac{1}{2}$ ॥

(स्नानके समय निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करे)

'ॐ नमो भगवते रुद्राय च बलाय च पाण्डरोचितभस्मानुलिप्तगात्राय (तद्यथा*) **जय-जय सर्वान् शत्रून् मूकयस्व कलहविग्रहविवादेषु भञ्जय भञ्जय। ॐ मथ मथ। सर्वप्रत्यर्थिकान् योऽसौ युगान्तकाले दिधक्षति। इमां पूजां रौद्रमूर्तिः सहस्रांशुः शुक्लः स ते रक्षतु जीवितम्। संवर्तकाग्नितुल्यश्च त्रिपुरान्तकरः शिवः। सर्वदेवमयः सोऽपि तव रक्षतु जीवितम्॥ लिखि लिखि खिलि स्वाहा।'**

'धवल भस्मका अनुलेपन अपने अङ्गोंमें लगाये महाबलशाली भगवान् रुद्रको नमस्कार है। आपकी जय हो, जय हो। समस्त शत्रुओंको गूँगा कर दीजिये। कलह, युद्ध एवं विवादमें भग्न कीजिये, भग्न कीजिये। मथ डालिये, मथ डालिये। जो प्रलयकालमें सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देना चाहते हैं, वे रुद्र समस्त प्रतिपक्षियोंको भस्म कर डालें। इस पूजाको स्वीकार करके वे रौद्रमूर्ति, सहस्र किरणोंसे सुशोभित, शुक्लवर्ण शिव तुम्हारे जीवनकी रक्षा करें। प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी, सर्वदेवमय, त्रिपुरनाशक शिव तुम्हारे जीवनकी रक्षा करें।' इस प्रकार मन्त्रसे स्नान करके तिल एवं तण्डुलका होम करे। फिर त्रिशूलधारी भगवान् शिवको पञ्चामृतसे स्नान कराके उनका पूजन करे॥ २—६ $\frac{1}{2}$ ॥

अब मैं तुम्हारे सम्मुख सदा विजयकी प्राप्ति करानेवाले अन्य स्नानोंका वर्णन करता हूँ। घृत-स्नान आयुकी वृद्धि करनेमें उत्तम है। गोमयसे स्नान करनेपर लक्ष्मीप्राप्ति, गोमूत्रसे स्नान करनेपर पाप-नाश, दुग्धसे स्नान करनेपर बलवृद्धि एवं दधिसे स्नान करनेपर सम्पत्तिकी वृद्धि होती है। कुशोदकसे स्नान करनेपर पापनाश, पञ्चगव्यसे स्नान करनेपर समस्त अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति, शतमूलसे स्नान करनेपर सभी कामनाओंकी सिद्धि तथा गोशृङ्गके जलसे स्नान करनेपर पापोंकी शान्ति होती है। पलाश, बिल्वपत्र, कमल एवं कुशके जलसे स्नान करना सर्वप्रद है। बचा, दो प्रकारकी हल्दी और मोथामिश्रित जलसे किया गया स्नान राक्षसोंके विनाशके लिये उत्तम है। इतना ही नहीं, वह आयु, यश, धर्म और मेधाकी भी वृद्धि करनेवाला है। स्वर्णजलसे किया गया स्नान मङ्गलकारी होता है। रजत और ताम्रजलसे किये गये स्नानका भी यही फल है। रत्नमिश्रित जलसे स्नान करनेपर विजय, सब प्रकारके गन्धोंसे मिश्रित जलद्वारा स्नान करनेपर सौभाग्य, फलोदकसे स्नान करनेपर आरोग्य तथा धात्रीफलके जलसे स्नान करनेपर उत्तम लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। तिल एवं श्वेत सर्षपके जलसे स्नान करनेपर लक्ष्मी, प्रियंगुजलसे स्नान करनेपर सौभाग्य, पद्म, उत्पल तथा कदम्बमिश्रित जलसे स्नान करनेपर लक्ष्मी एवं बला-वृक्षके जलसे स्नान करनेपर बलकी प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीविष्णुके चरणोदकद्वारा

* यद्यपि 'तद्यथा' यह पाठ अग्निपुराणकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, परंतु यह अधिक प्रतीत होता है।

स्नान सब स्नानोंसे श्रेष्ठ है॥ ७—१३ १/२ ॥

एकाकी मनुष्य मनमें एक कामना लेकर विधिपूर्वक एक ही स्नान करे। वह **'आक्रन्दयति०'** आदि सूक्तसे अपने हाथमें मणि (मनका) बाँधे। वह मणि कूट, पाट, वचा, सोंठ, शङ्ख अथवा लोहे आदिकी होनी चाहिये। समस्त कामनाओंके ईश्वर भगवान् श्रीहरि ही हैं, अतः उनके पूजनसे ही मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य घृतमिश्रित दुग्धसे स्नान कराके श्रीविष्णुका पूजन करता है, वह पित्तरोगका नाश कर देता है। उनके उद्देश्यसे पाँच मूँगोंकी बलि देकर मनुष्य अतिसारसे छुटकारा पाता है। भगवान् श्रीहरिको पञ्चगव्यसे स्नान करानेवाला वातरोगका नाश करता है। द्विस्नेह-द्रव्यसे स्नान कराके अतिशय श्रद्धापूर्वक उनका पूजन करनेवाला कफ-सम्बन्धी रोगसे मुक्त हो जाता है। घृत, तैल एवं मधुद्वारा कराया गया स्नान 'त्रिरस-स्नान' माना गया है, घृत और जलसे किया गया स्नान 'द्विस्नेह स्नान' है तथा घृत-तेल-मिश्रित जलका स्नान 'समल-स्नान' है। मधु, ईखका रस और दूध—इन तीनोंसे मिश्रित जलद्वारा किया गया स्नान 'त्रिमधुर-स्नान' है। घृत, इक्षुरस तथा शहद यह 'त्रिरस-स्नान' लक्ष्मीकी प्राप्ति करानेवाला है। कर्पूर, उशीर एवं चन्दनसे किया गया अनुलेप 'त्रिशुक्ल' कहलाता है। चन्दन, अगुरु, कर्पूर, कस्तूरी एवं कुङ्कुम—इन पाँचोंके मिश्रणसे किया गया अनुलेपन यदि विष्णुको अर्पित किया जाय तो वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला है। कर्पूर, चन्दन एवं कुङ्कुम अथवा कस्तूरी, कपूर और चन्दन—यह 'त्रिसुगन्ध' समस्त कामनाओंको प्रदान करनेवाला है। जायफल, कर्पूर और चन्दन—ये 'शीतत्रय' माने गये हैं। पीला, सुग्गापंखी, शुक्ल, कृष्ण एवं लाल—ये पञ्च वर्ण कहे गये हैं॥ १४—२४॥

श्रीहरिके पूजनमें उत्पल, कमल, जातीपुष्प तथा त्रिशीत उपयोगी होते हैं। कुङ्कुम, रक्त कमल और लाल उत्पल ये 'त्रिरक्त' कहे जाते हैं। श्रीविष्णुका धूप-दीप आदिसे पूजन करनेपर मनुष्योंको शान्तिकी प्राप्ति होती है। चार हाथके चौकोर कुण्डमें आठ या सोलह ब्राह्मण तिल, घी और चावलसे लक्षहोम या कोटिहोम करें। ग्रहोंकी पूजा करके गायत्री-मन्त्रसे उक्त होम करनेपर क्रमशः सब प्रकारकी शान्ति सुलभ होती है॥ २५—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'माहेश्वर-स्नान तथा लक्षकोटिहोम आदिका कथन' नामक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६७॥

दो सौ अड़सठवाँ अध्याय

सांवत्सर-कर्म; इन्द्र-शचीकी पूजा एवं प्रार्थना; राजाके द्वारा भद्रकाली तथा अन्यान्य देवताओंके पूजनकी विधि; वाहन आदिका पूजन तथा नीराजना

पुष्कर कहते हैं— अब मैं राजाओंके करनेयोग्य सांवत्सर-कर्मका वर्णन करता हूँ। राजाको अपने जन्मनक्षत्रमें नक्षत्र-देवताका पूजन करना चाहिये। वह प्रत्येक मासमें, संक्रान्तिके समय सूर्य और चन्द्रमा आदि देवताओंकी अर्चना करे। अगस्त्य-ताराका उदय होनेपर अगस्त्यकी एवं चातुर्मास्यमें श्रीहरिका यजन करे। श्रीहरिके शयन और उत्थापनकालमें, अर्थात् हरिशयनी एकादशी और

हरिप्रबोधिनी एकादशीके अवसरपर, पाँच दिनतक उत्सव करे। भाद्रपदके शुक्लपक्षमें, प्रतिपदा तिथिको शिबिरके पूर्वदिग्भागमें इन्द्रपूजाके लिये भवन-निर्माण करावे। उस भवनमें इन्द्रध्वज (पताका)-की स्थापना करके वहाँ प्रतिपदासे लेकर अष्टमीतक शची और इन्द्रकी पूजा करे। अष्टमीको वाद्य-घोषके साथ उस पताकामें ध्वजदण्डका प्रवेश करावे। फिर एकादशीको उपवास रखकर द्वादशीको ध्वजका उत्तोलन करे। फिर एक कलशपर वस्त्रादिसे युक्त देवराज इन्द्र एवं शचीकी स्थापना करके उनका पूजन करे॥ १—५॥

(इन्द्रदेवकी इस प्रकार प्रार्थना करे—)

'शत्रुविजयी वृत्रनाशन पाकशासन! महाभाग देवदेव! आपका अभ्युदय हो। आप कृपापूर्वक इस भूतलपर पधारे हैं। आप सनातन प्रभु, सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, अनन्त तेजसे सम्पन्न, विराट् पुरुष तथा यश एवं विजयकी वृद्धि करनेवाले हैं। आप उत्तम वृष्टि करनेवाले इन्द्र हैं, समस्त देवता आपका तेज बढ़ायें। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, विनायक, आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, भृगुकुलोत्पन्न महर्षि, दिशाएँ, मरुद्गण, लोकपाल, ग्रह, यक्ष, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, श्रीदेवी, भूदेवी, गौरी, चण्डिका एवं सरस्वती—ये सभी आपके तेजको प्रदीप्त करें। शचीपते इन्द्र! आपकी जय हो। आपकी विजयसे मेरा भी सदा शुभ हो। आप नरेशों, ब्राह्मणों एवं सम्पूर्ण प्रजाओंपर प्रसन्न होइये। आपके कृपाप्रसादसे यह पृथ्वी सदा सस्यसम्पन्न हो। सबका विघ्नरहित कल्याण हो तथा ईतियाँ पूर्णतया शान्त हों।' इस अभिप्रायवाले मन्त्रसे इन्द्रकी अर्चना करनेवाला भूपाल पृथ्वीपर विजय प्राप्त करके स्वर्गको प्राप्त होता है॥ ६—१२ $\frac{१}{२}$॥

आश्विन मासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको किसी पटपर भद्रकालीका चित्र अङ्कित करके राजा विजयकी प्राप्तिके लिये उसकी पूजा करे। साथ ही आयुध, धनुष, ध्वज, छत्र, राजचिह्न (मुकुट, छत्र तथा चँवर आदि) तथा अस्त्र-शस्त्र आदिकी पुष्प आदि उपचारोंसे पूजा करे। रात्रिके समय जागरण करके देवीको बलि अर्पित करे। दूसरे दिन पुनः पूजन करे। (पूजाके अन्तमें इस प्रकार प्रार्थना करे—) 'भद्रकालि, महाकालि, दुर्गतिहारिणि दुर्गे, त्रैलोक्यविजयिनि चण्डिके! मुझे सदा शान्ति और विजय प्रदान कीजिये'॥ १३—१५ $\frac{१}{२}$॥

अब मैं 'नीराजन'की विधि कहता हूँ। ईशानकोणमें देवमन्दिरका निर्माण करावे। वहाँ तीन दरवाजे लगाकर मन्दिरके गर्भगृहमें सदा देवताओंकी पूजा करे। जब सूर्य चित्रा नक्षत्रको छोड़कर स्वाती नक्षत्रमें प्रवेश करते हैं, उस समयसे प्रारम्भ करके जबतक स्वातीपर सूर्य स्थित रहें, तबतक देवपूजन करना चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अग्नि, वायु, विनायक, कार्तिकेय, वरुण, विश्रवाके पुत्र कुबेर, यम, विश्वेदेव एवं कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील—इन आठ दिग्गजोंकी गृह आदिमें पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर पुरोहित घृत, समिधा, श्वेत सर्षप एवं तिलोंका होम करे। आठ कलशोंकी पूजा करके उनके जलसे उत्तम हाथियोंको स्नान कराये। तदनन्तर घोड़ोंको स्नान कराये और उन सबके लिये ग्रास दे। पहले हाथियोंको तोरणद्वारसे बाहर निकाले; परंतु गोपुर आदिका उल्लङ्घन न करावे। तदनन्तर सब लोग वहाँसे निकलें और राजचिह्नोंकी पूजा घरमें ही की जाय। शतभिषा नक्षत्रमें वरुणका पूजन करके रात्रिके समय भूतोंको बलि दे। जब सूर्य विशाखा नक्षत्रपर जाय, उस समय राजा आश्रममें निवास करे। उस

दिन वाहनोंको विशेषरूपसे अलंकृत करना चाहिये। राजचिह्नोंकी पूजा करके उन्हें उनके अधिकृत पुरुषोंके हाथोंमें दे। धर्मज्ञ परशुराम! फिर कालज्ञ ज्यौतिषी हाथी, अश्व, छत्र, खड्ग, धनुष, दुन्दुभि, ध्वजा एवं पताका आदि राजचिह्नोंको अभिमन्त्रित करे। फिर उन सबको अभिमन्त्रित करके हाथीकी पीठपर रखे। ज्यौतिषी और पुरोहित भी हाथीपर आरूढ़ हों। इस प्रकार अभिमन्त्रित वाहनोंपर आरूढ़ होकर तोरण-द्वारसे निष्क्रमण करें। इस प्रकार राजद्वारसे बाहर निकलकर राजा हाथीकी पीठपर स्थित रहकर विधिपूर्वक बलि-वितरण करे। फिर नरेश सुस्थिरचित्त होकर चतुरङ्गिणी सेनाके साथ सर्वसैन्यसमूहके द्वारा जयघोष कराते हुए दिग्दिगन्तको प्रकाशित करनेवाले जलते मसालोंके समूहकी तीन बार परिक्रमा करे। इस प्रकार पूजन करके राजा जनसाधारणको विदा करके राजभवनको प्रस्थान करे। मैंने यह समस्त शत्रुओंका विनाश करनेवाली 'नीराजना' नामक शान्ति बतलायी है, जो राजाको अभ्युदय प्रदान करनेवाली है॥ १६—३१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नीराजनाविधिका वर्णन' नामक
दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६८॥

दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय

छत्र, अश्व, ध्वजा, गज, पताका, खड्ग, कवच और दुन्दुभिकी प्रार्थनाके मन्त्र

पुष्कर कहते हैं— परशुराम! अब मैं छत्र आदि राजोपकरणोंके प्रार्थनामन्त्र बतलाता हूँ, जिनसे उनकी पूजा करके नरेशगण विजय आदि प्राप्त करते हैं॥ $\frac{1}{2}$॥

छत्र-प्रार्थना-मन्त्र

'महामते छत्रदेव! तुम हिम, कुन्द एवं चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिसे सुशोभित और पाण्डुर-वर्णकी-सी आभावाले हो। ब्रह्माजीके सत्यवचन तथा चन्द्र, वरुण और सूर्यके प्रभावसे तुम सतत वृद्धिशील होओ। जिस प्रकार मेघ मङ्गलके लिये इस पृथ्वीको आच्छादित करता है, उसी प्रकार तुम विजय एवं आरोग्यकी वृद्धिके लिये राजाको आच्छादित करो'॥ १—३॥

अश्व-प्रार्थना-मन्त्र

'अश्व! तुम गन्धर्वकुलमें उत्पन्न हुए हो, अतः अपने कुलको दूषित करनेवाला न होना। ब्रह्माजीके सत्यवचनसे तथा सोम, वरुण एवं अग्निदेवके प्रभावसे, सूर्यके तेजसे, मुनिवरोंके तपसे, रुद्रके ब्रह्मचर्यसे और वायुके बलसे तुम सदा आगे बढ़ते रहो। याद रखो, तुम अश्वराज उच्चैःश्रवाके पुत्र हो; अपने साथ ही प्रकट हुए कौस्तुभरत्नका स्मरण करो। (तुम्हें भी उसीकी भाँति अपने यशसे प्रकाशित होते रहना चाहिये।) ब्रह्मघाती, पितृघाती, मातृहन्ता, भूमिके लिये मिथ्याभाषण करनेवाला तथा युद्धसे पराङ्मुख क्षत्रिय जितनी शीघ्रतासे अधोगतिको प्राप्त होता है, तुम भी युद्धसे पीठ दिखानेपर उसी दुर्गतिको प्राप्त हो सकते हो; किंतु तुम्हें वैसा पाप या कलङ्क न लगे। तुरंगम! तुम युद्धके पथपर विकारको न प्राप्त होना। समराङ्गणमें शत्रुओंका विनाश करते हुए अपने स्वामीके साथ तुम सुखी होओ'॥ ४—८ $\frac{1}{2}$॥

ध्वजा-प्रार्थना-मन्त्र

'महापराक्रमके प्रतीक इन्द्रध्वज! भगवान् नारायणके ध्वज विनतानन्दन पक्षिराज गरुड तुममें प्रतिष्ठित हैं। वे सर्पशत्रु, विष्णुवाहन, कश्यपनन्दन

तथा देवलोकसे हठात् अमृत छीन लानेवाले हैं। उनका शरीर विशाल और बल एवं वेग महान् है। वे अमृतभोगी हैं। उनकी शक्ति अप्रमेय है। वे युद्धमें दुर्जय रहकर देवशत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। उनकी गति वायुके समान तीव्र है। वे गरुड तुममें प्रतिष्ठित हैं। देवाधिदेव भगवान् विष्णुने इन्द्रके लिये तुममें उन्हें स्थापित किया है, तुम सदा मुझे विजय प्रदान करो। मेरे बलको बढ़ाओ। घोड़े, कवच तथा आयुधोंसहित हमारे योद्धाओंकी रक्षा करो और शत्रुओंको जलाकर भस्म कर दो'॥ ९—१३॥

गज-प्रार्थना-मन्त्र

'कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील—ये आठ देवयोनिमें उत्पन्न गजराज हैं। इनके ही पुत्र और पौत्र आठ वनोंमें निवास करते हैं। भद्र, मन्द, मृग एवं संकीर्णजातीय गज वन-वनमें उत्पन्न हुए हैं। हे महागजराज! तुम अपनी योनिका स्मरण करो। वसुगण, रुद्र, आदित्य एवं मरुद्गण तुम्हारी रक्षा करें। गजेन्द्र! अपने स्वामीकी रक्षा करो और अपनी मर्यादाका पालन करो। ऐरावतपर चढ़े हुए वज्रधारी देवराज इन्द्र तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहे हैं, ये तुम्हारी रक्षा करें। तुम युद्धमें विजय पाओ और सदा स्वस्थ रहकर आगे बढ़ो। तुम्हें युद्धमें ऐरावतके समान बल प्राप्त हो। तुम चन्द्रमासे कान्ति, विष्णुसे बल, सूर्यसे तेज, वायुसे वेग, पर्वतसे स्थिरता, रुद्रसे विजय और देवराज इन्द्रसे यश प्राप्त करो। युद्धमें दिग्गज दिशाओं और दिक्पालोंके साथ तुम्हारी रक्षा करें। गन्धर्वोंके साथ अश्विनीकुमार सब ओरसे तुम्हारा संरक्षण करें। मनु, वसु, रुद्र, वायु, चन्द्रमा, महर्षिगण, नाग, किंनर, यक्ष, भूत, प्रमथ, ग्रह, आदित्य, मातृकाओंसहित भूतेश्वर शिव, इन्द्र, देवसेनापति कार्तिकेय और वरुण तुममें अधिष्ठित हैं। वे हमारे समस्त शत्रुओंको भस्मसात् कर दें और राजा विजय प्राप्त करें'॥ १४—२३॥

पताका-प्रार्थना-मन्त्र

'पताके! शत्रुओंने सब ओर जो घातक प्रयोग किये हों, शत्रुओंके वे प्रयोग तुम्हारे तेजसे अभिहत होकर नष्ट हो जायँ। तुम जिस प्रकार कालनेमिवध एवं त्रिपुरसंहारके युद्धमें, हिरण्यकशिपुके संग्राममें तथा सम्पूर्ण दैत्योंके वधके समय सुशोभित हुई हो, आज उसी प्रकार सुशोभित होओ। अपने प्रणका स्मरण करो। इस नीलोज्ज्वलवर्णकी पताकाको देखकर राजाके शत्रु युद्धमें विविध भयंकर व्याधियों एवं शस्त्रोंसे पराजित होकर शीघ्र नष्ट हो जायँ। तुम पूतना, रेवती, लेखा और कालरात्रि आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो। पताके! हम तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं, हमारे सम्पूर्ण शत्रुओंको दग्ध कर डालो। सर्वमेध महायज्ञमें देवाधिदेव भगवान् रुद्रने जगत्‌के सारतत्त्वसे तुम्हारा निर्माण किया था'॥ २४—२८ $\frac{1}{2}$॥

खड्ग-प्रार्थना-मन्त्र

'शत्रुसूदन खड्ग! तुम इस बातको याद रखो कि नारायणके 'नन्दक' नामक खड्गकी दूसरी मूर्ति हो। तुम नीलकमलदलके समान श्याम एवं कृष्णवर्ण हो। दुःस्वप्नोंका विनाश करनेवाले हो। प्राचीनकालमें स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माने असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल—ये तुम्हारे आठ नाम बतलाये हैं। कृत्तिका तुम्हारा नक्षत्र है, देवाधिदेव महेश्वर तुम्हारे गुरु हैं, सुवर्ण तुम्हारा शरीर है और जनार्दन तुम्हारे देवता हैं। खड्ग! तुम सेना एवं नगरसहित राजाकी रक्षा करो। तुम्हारे पिता देवश्रेष्ठ पितामह हैं। तुम सदा हमलोगोंकी रक्षा करो'॥ २९—३३॥

कवच-प्रार्थना-मन्त्र

'हे वर्म! तुम रणभूमिमें कल्याणप्रद हो। आज मेरी सेनाको यश प्राप्त हो। निष्पाप! मैं तुम्हारे द्वारा रक्षा पानेके योग्य हूँ। मेरी रक्षा करो। तुम्हें नमस्कार है'॥ ३४॥

दुन्दुभि-प्रार्थना-मन्त्र

'दुन्दुभे! तुम अपने घोषसे शत्रुओंका हृदय कम्पित करनेवाली हो; हमारे राजाकी सेनाओंके लिये विजयवर्धक बन जाओ। मोददायक दुन्दुभे! जैसे मेघकी गर्जनासे श्रेष्ठ हाथी हर्षित होते हैं, वैसे ही तुम्हारे शब्दसे हमारा हर्ष बढ़े। जिस प्रकार मेघकी गर्जना सुनकर स्त्रियाँ भयभीत हो जाती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे नादसे युद्धमें उपस्थित हमारे शत्रु त्रस्त हो उठें'॥ ३५—३७॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्रोंसे राजोपकरणोंकी अर्चना करे एवं विजयकार्यमें उनका प्रयोग करे। दैवज्ञ राजपुरोहितको रक्षाबन्धन आदिके द्वारा राजाकी रक्षाका प्रबन्ध करके प्रतिवर्ष विष्णु आदि देवताओं एवं राजाका अभिषेक करना चाहिये॥ ३८-३९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छत्र आदिकी प्रार्थनाके मन्त्रका कथन' नामक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६९॥

दो सौ सत्तरवाँ अध्याय

विष्णुपञ्जरस्तोत्रका कथन

पुष्कर कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ परशुराम! पूर्वकालमें भगवान् ब्रह्माने त्रिपुरसंहारके लिये उद्यत शंकरकी रक्षाके लिये 'विष्णुपञ्जर' नामक स्तोत्रका उपदेश किया था। इसी प्रकार बृहस्पतिने बल दैत्यका वध करनेके लिये जानेवाले इन्द्रकी रक्षाके लिये उक्त स्तोत्रका उपदेश दिया था। मैं विजय प्रदान करनेवाले उस विष्णुपञ्जरका स्वरूप बतलाता हूँ, सुनो॥ १-२॥

'मेरे पूर्वभागमें चक्रधारी विष्णु एवं दक्षिणपार्श्वमें गदाधारी श्रीहरि स्थित हैं। पश्चिमभागमें शार्ङ्गपाणि विष्णु और उत्तरभागमें नन्दक-खड्गधारी जनार्दन विराजमान हैं। भगवान् हृषीकेश दिक्कोणोंमें एवं जनार्दन मध्यवर्ती अवकाशमें मेरी रक्षा कर रहे हैं। वराहरूपधारी श्रीहरि भूमिपर तथा भगवान् नृसिंह आकाशमें प्रतिष्ठित होकर मेरा संरक्षण कर रहे हैं। जिसके किनारेके भागोंमें छुरे जुड़े हुए हैं, वह यह निर्मल 'सुदर्शनचक्र' घूम रहा है। यह जब प्रेतों तथा निशाचरोंको मारनेके लिये चलता है, उस समय इसकी किरणोंकी ओर देखना किसीके लिये भी बहुत कठिन होता है। भगवान् श्रीहरिकी यह 'कौमोदकी' गदा सहस्रों ज्वालाओंसे प्रदीप्त पावकके समान उज्ज्वल है। यह राक्षस, भूत, पिशाच और डाकिनियोंका विनाश करनेवाली है। भगवान् वासुदेवके शार्ङ्गधनुषकी टंकार मेरे शत्रुभूत मनुष्य, कूष्माण्ड, प्रेत आदि और तिर्यग्योनिगत जीवोंका पूर्णतया संहार करे। जो भगवान् श्रीहरिकी खड्गधारामयी उज्ज्वल ज्योत्स्नामें स्नान कर चुके हैं, वे मेरे समस्त शत्रु उसी प्रकार तत्काल शान्त हो जायँ, जैसे गरुडके द्वारा मारे गये सर्प शान्त हो जाते हैं'॥ ३—८॥

'जो कूष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, प्रेत, विनायक, क्रूर मनुष्य, शिकारी पक्षी, सिंह आदि पशु एवं डँसनेवाले सर्प हों, वे सब-के-सब सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णके शङ्खनादसे आहत हो सौम्यभावको प्राप्त हो जायँ। जो मेरी चित्तवृत्ति और स्मरणशक्तिका हरण करते हैं, जो मेरे बल

और तेजका नाश करते हैं तथा जो मेरी कान्ति या तेजको विलुप्त करनेवाले हैं, जो उपभोग-सामग्रीको हर लेनेवाले तथा शुभ लक्षणोंका नाश करनेवाले हैं, वे कूष्माण्डगण श्रीविष्णुके सुदर्शन-चक्रके वेगसे आहत होकर विनष्ट हो जायँ। देवाधिदेव भगवान् वासुदेवके संकीर्तनसे मेरी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको स्वास्थ्यलाभ हो। मेरे आगे-पीछे, दायें-बायें तथा कोणवर्तिनी दिशाओंमें सब जगह जनार्दन श्रीहरिका निवास हो। सबके पूजनीय, मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले अनन्तरूप परमेश्वर जनार्दनके चरणोंमें प्रणत होनेवाला कभी दुखी नहीं होता। जैसे भगवान् श्रीहरि परब्रह्म हैं, उसी प्रकार वे परमात्मा केशव भी जगत्स्वरूप हैं—इस सत्यके प्रभावसे तथा भगवान् अच्युतके नामकीर्तनसे मेरे त्रिविध पापोंका नाश हो जाय'*॥ ९—१५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विष्णुपञ्जरस्तोत्रका कथन' नामक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७०॥

दो सौ एकहत्तरवाँ अध्याय

वेदोंके मन्त्र और शाखा आदिका वर्णन तथा वेदोंकी महिमा

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! वेदमन्त्र सम्पूर्ण विश्वपर अनुग्रह करनेवाले तथा चारों पुरुषार्थोंके साधक हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। इनके मन्त्रोंकी संख्या एक लाख है। ऋग्वेदकी एक शाखा 'सांख्यायन' और दूसरी शाखा 'आश्वलायन' है। इन दो शाखाओंमें एक सहस्र तथा ऋग्वेदीय ब्राह्मणभागमें दो सहस्र मन्त्र हैं। श्रीकृष्णद्वैपायन आदि महर्षियोंने ऋग्वेदको प्रमाण माना है। यजुर्वेदमें उन्नीस सौ मन्त्र हैं। उसके ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें एक हजार मन्त्र

---

* **श्रीविष्णुपञ्जरस्तोत्र**

पुष्कर उवाच—

त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं ब्रह्मणा विष्णुपञ्जरम्। शंकरस्य द्विजश्रेष्ठ रक्षणाय निरूपितम्॥
वागीशेन च शक्रस्य बलं हन्तुं प्रयास्यतः। तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि तत् त्वं शृणु जयादिमत्॥
विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्री हरिर्दक्षिणतो गदी। प्रतीच्यां शार्ङ्गधृग् विष्णुर्जिष्णुः खड्गी ममोत्तरे॥
हृषीकेशो विकोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः। क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नरसिंहोऽम्बरे मम॥
क्षुरान्तममलं चक्रं भ्रमत्येतत् सुदर्शनम्। अस्यांशुमाला दुष्प्रेक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान्॥
गदा चेयं सहस्रार्चिः प्रदीप्तपावकोज्ज्वला। रक्षोभूतपिशाचानां डाकिनीनां च नाशनी॥
शार्ङ्गविस्फूर्जितं चैव वासुदेवस्य मद्रिपून्। तिर्यङ्मनुष्यकूष्माण्डप्रेतादीन् हन्त्वशेषतः॥
खड्गधारोज्ज्वलज्योत्स्नानिर्धूता ये समाहिताः। ते यान्तु शाम्यतां सद्यो गरुडेनेव पन्नगाः॥
ये कूष्माण्डास्तथा यक्षा ये दैत्या ये निशाचराः। प्रेता विनायकाः क्रूरा मनुष्या जम्भगाः खगाः॥
सिंहादयश्च पशवो दंदशूकाश्च पन्नगाः। सर्वे भवन्तु ते सौम्याः कृष्णशङ्खरवाहताः॥
चित्तवृत्तिहरा ये मे ये जनाः स्मृतिहारकाः। बलौजसां च हर्तारश्छायाविभ्रंशकाश्च ये॥
ये चोपभोगहर्तारो ये च लक्षणनाशकाः। कूष्माण्डास्ते प्रणश्यन्तु विष्णुचक्ररवाहताः॥
बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा। ममास्तु देवदेवस्य वासुदेवस्य कीर्तनात्॥
पृष्ठे पुरस्तान्मम दक्षिणोत्तरे विकोणतश्चास्तु जनार्दनो हरिः। तमीड्यमीशानमनन्तमच्युतं जनार्दनं प्रणिपतितो न सीदति॥
यथा परं ब्रह्म हरिस्तथा परो जगत्स्वरूपश्च स एव केशवः। सत्येन तेनाच्युतनामकीर्तनात् प्रणाशयेत्तु त्रिविधं ममाशुभम्॥

(अग्निपु० २७०। १—१५)

हैं और शाखाओंमें एक हजार छियासी। यजुर्वेदमें मुख्यतया काण्वी, माध्यन्दिनी, कठी, माध्यकठी, मैत्रायणी, तैत्तिरीया एवं वैशम्पायनीया—ये शाखाएँ विद्यमान हैं। सामवेदमें कौथुमी और आथर्वणायनी (राणायनीया)—ये दो शाखाएँ मुख्य हैं। इसमें वेद, आरण्यक, उक्था और ऊह—ये चार गान हैं। सामवेदमें नौ हजार चार सौ पचीस मन्त्र हैं। वे ब्रह्मसे सम्बन्धित हैं। यहाँतक सामवेदका मान बताया गया॥ १—७॥

अथर्ववेदमें सुमन्तु, जाजलि, श्लोकायनि, शौनक, पिप्पलाद और मुञ्जकेश आदि शाखाप्रवर्तक ऋषि हैं। इसमें सोलह हजार मन्त्र और सौ उपनिषद् हैं। व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर भगवान् श्रीविष्णुने ही वेदोंकी शाखाओंका विभाग आदि किया है। वेदोंके शाखाभेद आदि इतिहास और पुराण सब विष्णुस्वरूप हैं। भगवान् व्याससे लोमहर्षण सूतने पुराण आदिका उपदेश पाकर उनका प्रवचन किया। उनके सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शिंशपायन, कृतव्रत और सावर्णि—ये छः शिष्य हुए। शिंशपायन आदिने पुराणोंकी संहिताका निर्माण किया। भगवान् श्रीहरि ही 'ब्राह्म' आदि अठारह पुराणों एवं अष्टादश विद्याओंके रूपमें स्थित हैं। वे सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्च तथा मूर्त-अमूर्त स्वरूप धारण करनेवाले विद्यारूपी श्रीविष्णु 'आग्नेय महापुराण'में स्थित हैं। उनको जानकर उनकी अर्चना एवं स्तुति करके मानव भोग और मोक्ष—दोनोंको प्राप्त कर लेता है। भगवान् विष्णु विजयशील, प्रभावसम्पन्न तथा अग्नि-सूर्य आदिके रूपमें स्थित हैं। वे भगवान् विष्णु ही अग्निरूपसे देवता आदिके मुख हैं। वे ही सबकी परमगति हैं। वे वेदों तथा पुराणोंमें 'यज्ञमूर्त्ति'के नामसे गाये जाते हैं। यह 'अग्निपुराण' श्रीविष्णुका ही विराट्‌रूप है। इस अग्नि-आग्नेय पुराणके निर्माता और श्रोता श्रीजनार्दन ही हैं। इसलिये यह महापुराण सर्ववेदमय, सर्वविद्यामय तथा सर्वज्ञानमय है। यह उत्तम एवं पवित्र पुराण पठन और श्रवण करनेवाले मनुष्योंके लिये सर्वात्मा श्रीहरिस्वरूप है। यह 'आग्नेय-महापुराण' विद्यार्थियोंके लिये विद्याप्रद, अर्थार्थियोंके लिये लक्ष्मी और धन-सम्पत्ति देनेवाला, राज्यार्थियोंके लिये राज्यदाता, धर्मार्थियोंके लिये धर्मदाता, स्वर्गार्थियोंके लिये स्वर्गप्रद और पुत्रार्थियोंके लिये पुत्रदायक है। गोधन चाहनेवालेको गोधन और ग्रामाभिलाषियोंको ग्राम देनेवाला है। यह कामार्थी मनुष्योंको काम, सम्पूर्ण सौभाग्य, गुण तथा कीर्त्ति प्रदान करनेवाला है। विजयाभिलाषी पुरुषोंको विजय देता है, सब कुछ चाहनेवालोंको सब कुछ देता है, मोक्षकामियोंको मोक्ष देता है और पापियोंके पापोंका नाश कर देता है॥ ८—२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वेदोंकी शाखा आदिका वर्णन' नामक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७१॥

दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय

विभिन्न पुराणोंके दान तथा महाभारत-श्रवणमें दान-पूजन आदिका माहात्म्य

पुष्कर कहते हैं—परशुराम! पूर्वकालमें लोकपितामह ब्रह्माने मरीचिके सम्मुख जिसका वर्णन किया था, पचीस हजार श्लोकोंसे समन्वित उस 'ब्रह्मपुराण'को लिखकर ब्राह्मणको दान दे। स्वर्गाभिलाषी वैशाखकी पूर्णिमाको जलधेनुके साथ 'ब्रह्मपुराण'का दान करे। 'पद्मपुराण'में जो

पद्मसंहिता (भूमिखण्ड) है, उसमें बारह* हजार श्लोक हैं। ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाको गौके साथ इसका दान करना चाहिये। महर्षि पराशरने वाराह-कल्पके वृत्तान्तको अभिगत करके तेईस हजार श्लोकोंका 'विष्णुपुराण' कहा है। इसे आषाढ़की पूर्णिमाको जलधेनुसहित प्रदान करे। इससे मनुष्य भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है। चौदह हजार श्लोकोंवाला 'वायुपुराण' भगवान् शंकरको अत्यन्त प्रिय है। इसमें वायुदेवने श्वेतकल्पके प्रसङ्गसे धर्मका वर्णन किया है। इस पुराणको लिखकर श्रावणकी पूर्णिमाको गुड़धेनुके साथ ब्राह्मणको दान करे। गायत्री-मन्त्रका आश्रय लेकर निर्मित हुए जिस पुराणमें भागवत-धर्मका विस्तृत वर्णन है, सारस्वतकल्पका प्रसङ्ग कहा गया है तथा जो वृत्रासुर-वधकी कथासे युक्त है—उस पुराणको 'भागवत' कहते हैं। इसमें अठारह हजार श्लोक हैं। इसको सोनेके सिंहासनके साथ भाद्रपदकी पूर्णिमाको दान करे। जिसमें देवर्षि नारदने बृहत्कल्पके वृत्तान्तका आश्रय लेकर धर्मोंकी व्याख्या की है, वह 'नारदपुराण' है। उसमें पचीस हजार श्लोक हैं। आश्विनमासकी पूर्णिमाको धेनुसहित उसका दान करे। इससे आत्यन्तिक सिद्धि प्राप्त होती है। जिसमें पक्षियोंके द्वारा धर्माधर्मका विचार किया गया है, नौ हजार श्लोकोंवाले उस 'मार्कण्डेयपुराण'का कार्तिककी पूर्णिमाको दान करे। अग्निदेवने वसिष्ठ मुनिको जिसका श्रवण कराया है, वह 'अग्निपुराण' है। इस ग्रन्थको लिखकर मार्गशीर्षकी पूर्णिमा तिथिमें ब्राह्मणके हाथमें दे। इस पुराणका दान सब कुछ देनेवाला है। इसमें बारह हजार ही श्लोक हैं और यह पुराण सम्पूर्ण विद्याओंका बोध करानेवाला है। 'भविष्यपुराण' सूर्य-सम्भव है। इसमें सूर्यदेवकी महिमा बतायी गयी है। इसमें चौदह हजार श्लोक हैं। इसे भगवान् शंकरने मनुसे कहा है। गुड़ आदि वस्तुओंके साथ पौषकी पूर्णिमाको इसका दान करना चाहिये। सावर्ण्य-मनुने नारदसे 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'का वर्णन किया है। इसमें रथन्तर-कल्पका वृत्तान्त है और अठारह हजार श्लोक हैं। माघमासकी पूर्णिमाको इसका दान करे। वराहके चरित्रसे युक्त जो 'वाराहपुराण' है, उसका भी माघ मासकी पूर्णिमाको दान करे। ऐसा करनेसे दाता ब्रह्मलोकका भागी होता है। जहाँ अग्निमय लिङ्गमें स्थित भगवान् महेश्वरने आग्नेयकल्पके वृत्तान्तोंसे युक्त धर्मोंका विवेचन किया है, वह ग्यारह हजार श्लोकोंवाला 'लिङ्गपुराण' है। फाल्गुनकी पूर्णिमाको तिलधेनुके साथ उसका दान करके मनुष्य शिवलोकको प्राप्त होता है। 'वाराहपुराण'में भगवान् श्रीविष्णुने भूदेवीके प्रति मानव-जगत्‌की प्रवृत्तिसे लेकर वराह-चरित्र आदि उपाख्यानोंका वर्णन किया है। इसमें चौबीस हजार श्लोक हैं। चैत्रकी पूर्णिमाको 'गरुडपुराण'का सुवर्णके साथ दान करके मनुष्य विष्णुपदको प्राप्त होता है। 'स्कन्दमहापुराण' चौरासी हजार श्लोकोंका है। कुमार स्कन्दने तत्पुरुष-कल्पकी कथा एवं शैवमतका आश्रय लेकर इस महापुराणका प्रवचन किया है। इसका भी चैत्रकी पूर्णिमाको दान करना चाहिये। दस हजार श्लोकोंसे युक्त 'वामनपुराण' धर्मार्थ आदि पुरुषार्थोंका अवबोधक है। इसमें श्रीहरिकी धौमकल्पसे सम्बन्धित कथाका वर्णन है। शरद् पूर्णिमामें विषुव-संक्रान्तिके समय इसका दान करे। 'कूर्मपुराण'में आठ हजार श्लोक हैं। कूर्मावतार श्रीहरिने इन्द्रद्युम्नके प्रसङ्गसे रसातलमें इसको कहा था। इसका सुवर्णमय कच्छपके साथ दान करना चाहिये। मत्स्यरूपी श्रीविष्णुने कल्पके

* द्वादशैव सहस्राणां पद्माख्या या तु संहिता। (पद्मपु०, भूमिखण्ड)

आदिकालमें मनुको तेरह हजार श्लोकोंसे युक्त 'मत्स्यपुराण'का श्रवण कराया था। इसे हेमनिर्मित मत्स्यके साथ प्रदान करे। आठ हजार श्लोकोंवाले 'गरुडपुराण'का भगवान् श्रीविष्णुने तार्क्ष्यकल्पमें प्रवचन किया था। इसमें विश्वाण्डसे गरुड़की उत्पत्तिकी कथा कही गयी है। इसका स्वर्णहंसके साथ दान करे। भगवान् ब्रह्माने ब्रह्माण्डके माहात्म्यका आश्रय लेकर जिसे कहा है, बारह हजार श्लोकोंवाले उस 'ब्रह्माण्डपुराण'को भी लिखकर ब्राह्मणके हाथमें दान करे॥ १—२२ $\frac{१}{२}$ ॥

महाभारत-श्रवणकालमें प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर पहले कथावाचकका वस्त्र, गन्ध, माल्य आदिसे पूजन करे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको खीरका भोजन करावे। प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर गौ, भूमि, ग्राम तथा सुवर्ण आदिका दान करे। महाभारतके पूर्ण होनेपर कथावाचक ब्राह्मण और महाभारत-संहिताकी पुस्तकका पूजन करे। ग्रन्थको पवित्र स्थानपर रेशमी वस्त्रसे आच्छादित करके पूजन करना चाहिये। फिर भगवान् नर-नारायणकी पुष्प आदिसे पूजा करे। गौ, अन्न, भूमि, सुवर्णके दानपूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराकर क्षमा-प्रार्थना करे। श्रोताको विविध रत्नोंका महादान करना चाहिये। प्रत्येक मासमें कथावाचकको दो या तीन माशे सुवर्णका दान करे और अयनके प्रारम्भमें भी पहले उसके लिये सुवर्णके दानका विधान है। द्विजश्रेष्ठ! समस्त श्रोताओंको भी कथावाचकका पूजन करना चाहिये। जो मनुष्य इतिहास एवं पुराणोंका पूजन करके दान करता है, वह आयु, आरोग्य, स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है*॥ २३—२९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पुराणदान आदिके माहात्म्यका कथन' नामक दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७२॥

दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय

सूर्यवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं तुमसे सूर्यवंश तथा राजाओंके वंशका वर्णन करता हूँ। भगवान् विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीके पुत्रका नाम मरीचि है। मरीचिसे कश्यप तथा कश्यपसे विवस्वान् (सूर्य)-का जन्म हुआ है। सूर्यकी तीन स्त्रियाँ हैं—संज्ञा, राज्ञी और प्रभा। इनमेंसे 'राज्ञी' रैवतकी पुत्री हैं। उन्होंने 'रेवन्त' नामवाले पुत्रको जन्म दिया है। सूर्यकी 'प्रभा' नामवाली पत्नीसे 'प्रभात' नामवाला पुत्र हुआ। 'संज्ञा' विश्वकर्माकी पुत्री है। उनके गर्भसे वैवस्वत मनु तथा जुड़वीं संतान यम और यमुनाकी उत्पत्ति हुई है। (संज्ञाकी छायाको भी,

* इस अध्यायमें विभिन्न पुराणोंकी जो श्लोक-संख्याएँ दी गयी हैं, वे अन्य पुराणोंके वर्णनोंसे बहुत अंशमें मेल नहीं खाती हैं तथा उपलब्ध पुराणोंको देखनेसे भी इन वर्णनोंकी प्रायः संगति नहीं बैठती है। पद्मपुराणमें जहाँ छप्पन हजार श्लोक हैं, वहाँ इसमें बारह हजार ही श्लोक बताये गये हैं। सम्भव है, केवल पद्मसंहिता (भूमिखण्ड)-के ही इतने श्लोक कहे गये हों। विष्णुपुराणमें पाँच हजार श्लोक उपलब्ध होते हैं, किंतु इसमें तेईस हजार श्लोक कहे गये हैं। यदि विष्णुधर्मोत्तरपुराणके भी श्लोक इसके साथ सम्मिलित कर लिये जायँ तो उक्त संख्या संगत हो सकती है। वाराहपुराणके चौबीस हजार श्लोक बताये गये हैं, किंतु वर्तमान पुस्तकोंमें उतने श्लोक नहीं मिलते। गरुडपुराणमें आठ हजार श्लोक बताये गये हैं, परंतु उपलब्ध गरुडपुराणमें इससे दूनेसे भी अधिक श्लोक मिलते हैं। यह भी सम्भव है कि भूलसे गरुडपुराणकी जगह वाराहपुराण और वाराहपुराणके स्थानमें गरुडपुराण लिख गया हो।

जो स्त्रीरूपमें प्रतिष्ठित थी, 'छाया-संज्ञा' कहते हैं।) छाया-संज्ञाने सूर्यके अंशसे सावर्णि मनु तथा शनैश्चर नामक पुत्रको और तपती एवं विष्टि नामवाली कन्याओंको जन्म दिया। तदनन्तर (अश्वारूपधारिणी) संज्ञासे दोनों अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्ति हुई॥ १—४॥

वैवस्वत मनुके दस पुत्र हुए, जो उन्हींके समान तेजस्वी थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नृग, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ दिष्ट, करूष और पृषध्र—ये दसों महाबली राजा अयोध्यामें हुए। मनुकी इला नामवाली एक कन्या भी थी, जिसके गर्भसे बुधके अंशसे पुरूरवाका जन्म हुआ। पुरूरवाको उत्पन्न करके इला पुरुषरूपमें परिणत हो गयी। उस समय उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्नसे उत्कल, गय और विनताश्व—इन तीन राजाओंका जन्म हुआ। उत्कलको उत्कलप्रान्त (उड़ीसा)-का राज्य मिला, विनताश्वका पश्चिमदिशापर अधिकार हुआ तथा राजाओंमें श्रेष्ठ गय पूर्वदिशाके राजा हुए, जिनकी राजधानी गयापुरी थी। राजा सुद्युम्न वसिष्ठ ऋषिके आदेशसे प्रतिष्ठानपुरमें[1] आ गये और उसीको अपनी राजधानी बनाया। उन्होंने वहाँका राज्य पाकर उसे पुरूरवाको दे दिया। नरिष्यन्तके पुत्र 'शक' नामसे प्रसिद्ध हुए। नाभागसे परमवैष्णव अम्बरीषका जन्म हुआ। वे प्रजाओंका अच्छी तरह पालन करते थे। राजा धृष्टसे धार्ष्टक-वंशका विस्तार हुआ। सुकन्या और आनर्त—ये दो शर्यातिकी संतानें हुईं। आनर्तसे 'रेव' नामक नरेशकी उत्पत्ति हुई। आनर्तदेशमें उनका राज्य था और कुशस्थली उनकी राजधानी थी। रेवके पुत्र रैवत हुए, जो 'ककुद्मी' नामसे प्रसिद्ध और धर्मात्मा थे। वे अपने पिताके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े थे, अतः कुशस्थलीका राज्य उन्हींको मिला॥ ५—१२ $\frac{१}{२}$ ॥

एक समयकी बात है—वे अपनी कन्या रेवतीको साथ लेकर ब्रह्माजीके पास गये और वहाँ संगीत सुनने लगे। वहाँ ब्रह्माजीके समयसे दो ही घड़ी बीती, किंतु इतनेहीमें मर्त्यलोकके अंदर अनेक युग समाप्त हो गये। संगीत सुनकर वे बड़े वेगसे अपनी पुरीको लौटे, परंतु अब उसपर यदुवंशियोंका अधिकार हो गया था। उन्होंने कुशस्थलीकी जगह द्वारका नामकी पुरी बसायी थी, जो बड़ी मनोरम और अनेक द्वारोंसे सुशोभित थी। भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वासुदेव आदि वीर उसकी रक्षा करते थे। वहाँ जाकर रैवतने अपनी कन्या रेवतीका बलदेवजीसे विवाह कर दिया और संसारकी अनित्यता जानकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर जाकर तपस्या करने लगे। अन्तमें उन्हें विष्णुधामकी प्राप्ति हुई॥ १३—१६॥

नाभागके दो पुत्र हुए, जो वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। वे (अपनी विशेष तपस्याके कारण) ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए। करूषके पुत्र 'कारूष' नामसे प्रसिद्ध क्षत्रिय हुए, जो युद्धमें मतवाले हो उठते थे। पृषध्रने भूलसे अपने गुरुकी गायकी हिंसा कर डाली थी, अतः वे शापवश शूद्र हो गये। मनुपुत्र इक्ष्वाकुके पुत्र विकुक्षि हुए, जो (कुछ कालके लिये) देवताओंके राज्यपर आसीन हुए थे। विकुक्षिके पुत्र ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थका पुत्र सुयोधन नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसके पुत्रका नाम 'पृथु' था। पृथुसे विश्वगश्वका[2] जन्म हुआ। उसका पुत्र आयु और आयुका पुत्र युवनाश्व हुआ। युवनाश्वसे श्रावन्तकी[3] उत्पत्ति हुई, जिन्होंने पूर्वदिशामें श्रावन्तिकी[4] नामकी

१. गङ्गा-यमुनाके संगमके समीप बसा हुआ वर्तमान झूसी ग्राम ही पहलेका 'प्रतिष्ठानपुर' है।
२. विष्णुपुराणमें 'विष्वगश्व' नाम मिलता है और श्रीमद्भागवतमें 'विश्वरन्धि'।
३-४. विष्णुपुराणमें 'शावस्त' तथा 'शावस्ती' नाम मिलते हैं।

पुरी बसायी। श्रावन्तसे बृहदश्व और बृहदश्वसे कुवलाश्व नामक राजाका जन्म हुआ। इन्होंने पूर्वकालमें धुन्धु नामसे प्रसिद्ध दैत्यका वध किया था, अत: उसीके नामपर ये 'धुन्धुमार' कहलाये। धुन्धुमारसे तीन पुत्र हुए। वे तीनों ही राजा थे। उनके नाम थे—दृढाश्व, दण्ड और कपिल। दृढाश्वसे हर्यश्व और प्रमोदकने जन्म ग्रहण किया। हर्यश्वसे निकुम्भ और निकुम्भसे संहताश्वकी उत्पत्ति हुई। संहताश्वके दो पुत्र हुए—अकृशाश्व तथा रणाश्व। रणाश्वके पुत्र युवनाश्व और युवनाश्वके पुत्र राजा मांधाता हुए। मांधाताके भी दो पुत्र हुए, जिनमें एकका नाम पुरुकुत्स था और दूसरेका नाम मुचुकुन्द॥ १७—२४॥

पुरुकुत्ससे त्रसद्दस्युका जन्म हुआ। वे नर्मदाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। उनका दूसरा नाम 'सम्भूत' भी था। सम्भूतके सुधन्वा और सुधन्वाके पुत्र त्रिधन्वा हुए। त्रिधन्वाके तरुण और तरुणके पुत्र सत्यव्रत थे। सत्यव्रतसे सत्यरथ हुए, जिनके पुत्र हरिश्चन्द्र थे। हरिश्चन्द्रसे रोहिताश्वका जन्म हुआ, रोहिताश्वसे वृक हुए, वृकसे बाहु और बाहुसे सगरकी उत्पत्ति हुई। सगरकी प्यारी पत्नी प्रभा थी, जो प्रसन्न हुए और्व मुनिकी कृपासे साठ हजार पुत्रोंकी जननी हुई तथा उनकी दूसरी पत्नी भानुमतीने राजासे एक ही पुत्रको उत्पन्न किया, जिसका नाम असमञ्जस था। सगरके साठ हजार पुत्र पृथ्वी खोदते समय भगवान् कपिलके क्रोधसे भस्म हो गये। असमञ्जसके पुत्र अंशुमान् और अंशुमान्के दिलीप हुए। दिलीपसे भगीरथका जन्म हुआ, जिन्होंने गङ्गाको पृथ्वीपर उतारा था। भगीरथसे नाभाग और नाभागसे अम्बरीष हुए। अम्बरीषके सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीपके पुत्र श्रुतायु हुए। श्रुतायुके ऋतुपर्ण और ऋतुपर्णके पुत्र कल्माषपाद थे। कल्माषपादसे सर्वकर्मा और सर्वकर्मासे अनरण्य हुए। अनरण्यके निघ्न और निघ्नके पुत्र दिलीप हुए। राजा दिलीपके रघु और रघुके पुत्र अज थे। अजसे दशरथका जन्म हुआ। दशरथके चार पुत्र हुए—वे सभी भगवान् नारायणके स्वरूप थे। उन सबमें ज्येष्ठ श्रीरामचन्द्रजी थे। उन्होंने रावणका वध किया था। रघुनाथजी अयोध्याके सर्वश्रेष्ठ राजा हुए। महर्षि वाल्मीकिने नारदजीके मुँहसे उनका प्रभाव सुनकर (रामायणके नामसे) उनके चरित्रका वर्णन किया था। श्रीरामचन्द्रजीके दो पुत्र हुए, जो कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले थे। वे सीताजीके गर्भसे उत्पन्न होकर कुश और लवके नामसे प्रसिद्ध हुए। कुशसे अतिथिका जन्म हुआ। अतिथिके पुत्र निषध हुए। निषधसे नलकी उत्पत्ति हुई (ये सुप्रसिद्ध राजा दमयन्तीपति नलसे भिन्न हैं); नलसे नभ हुए। नभसे पुण्डरीक और पुण्डरीकसे सुधन्वा उत्पन्न हुए। सुधन्वाके पुत्र देवानीक और देवानीकके अहीनाश्व हुए। अहीनाश्वसे सहस्राश्व और सहस्राश्वसे चन्द्रालोक हुए। चन्द्रालोकसे तारापीड, तारापीडसे चन्द्रगिरि और चन्द्रगिरिसे भानुरथका जन्म हुआ। भानुरथका पुत्र श्रुतायु नामसे प्रसिद्ध हुआ। ये इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा सूर्यवंशका विस्तार करनेवाले माने गये हैं॥ २५—३९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सूर्यवंशका वर्णन' नामक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७३॥

दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय

सोमवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं सोमवंशका वर्णन करूँगा, इसका पाठ करनेसे पापका नाश होता है। विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्माके पुत्र महर्षि अत्रि हुए। अत्रिसे सोमकी उत्पत्ति हुई। सोमने राजसूय-यज्ञ किया और उसमें तीनों लोकोंके राज्यका उन्होंने दक्षिणारूपसे दान कर दिया। जब यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान समाप्त हुआ तो उनका रूप देखनेकी इच्छासे नौ देवियाँ चन्द्रमाके पास आयीं और कामबाणसे संतप्त होकर उनकी सेवा करने लगीं। लक्ष्मी (कान्ति) नारायणको छोड़कर चली आयीं। सिनीवाली कर्दमको, द्युति अग्निको और पुष्टि अपने अविनाशी पति धाताको त्यागकर आ गयीं। प्रभा प्रभाकरको और कुहू हविष्मान्‌को छोड़कर स्वयं सोमके पास चली आयीं। कीर्तिने अपने स्वामी जयन्तको छोड़ा और वसुने मरीचिनन्दन कश्यपको तथा धृति भी उस समय अपने पति नन्दिको त्यागकर सोमकी ही सेवामें संलग्न हो गयीं॥ १—५॥

चन्द्रमाने भी उस समय उन देवियोंको अपनी ही पत्नीकी भाँति सकामभावसे अपनाया। सोमके इस प्रकार अत्याचार करनेपर भी उस समय उन देवियोंके पति शाप तथा शस्त्र आदिके द्वारा उनका अनिष्ट करनेमें समर्थ न हो सके; अपितु सोम ही अपनी तपस्याके प्रभावसे 'भू' आदि सातों लोकोंके एकमात्र स्वामी हुए। इस अनीतिसे ग्रस्त होकर चन्द्रमाकी बुद्धि विनयसे भ्रष्ट होकर भ्रान्त हो गयी और उन्होंने अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीका अपमान करके उनकी यशस्विनी पत्नी ताराका बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इसके कारण देवताओं और दानवोंमें संसारका विनाश करनेवाला महान् युद्ध हुआ, जो 'तारकामय संग्राम'के नामसे विख्यात है। अन्तमें ब्रह्माजीने (चन्द्रमाकी ओरसे युद्धमें सहायता पहुँचानेवाले) शुक्राचार्यको रोककर तारा बृहस्पतिजीको दिला दी। देवगुरु बृहस्पतिने ताराको गर्भिणी देखकर कहा—'इस गर्भका त्याग कर दो।' उनकी आज्ञासे ताराने उस गर्भका त्याग किया, जिससे बड़ा तेजस्वी कुमार प्रकट हुआ। उसने पैदा होते ही कहा—'मैं चन्द्रमाका पुत्र हूँ।' इस प्रकार सोमसे बुधका जन्म हुआ। उनके पुत्र पुरूरवा हुए; उर्वशी नामकी अप्सराने स्वर्ग छोड़कर पुरूरवाका वरण किया॥ ६—१२॥

महामुने! राजा पुरूरवाने उर्वशीके साथ उनसठ वर्षोंतक विहार किया। पूर्वकालमें एक ही अग्नि थे। राजा पुरूरवाने ही उन्हें (गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि-भेदसे) तीन रूपोंमें प्रकट किया। राजा योगी थे। अन्तमें उन्हें गन्धर्वलोककी प्राप्ति हुई। उर्वशीने राजा पुरूरवासे आयु, दृढ़ायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, दिविजात और शतायु—इन आठ पुत्रोंको उत्पन्न किया। आयुके नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, दम्भ और विपाप्मा—ये पाँच पुत्र हुए। रजिसे सौ पुत्रोंका जन्म हुआ। वे 'राजेय'के नामसे प्रसिद्ध थे। राजा रजिको भगवान् विष्णुसे वरदान प्राप्त हुआ था। उन्होंने देवासुर-संग्राममें देवताओंकी प्रार्थनासे दैत्योंका वध किया था। इन्द्र राजा रजिके पुत्रभावको प्राप्त हुए। रजि स्वर्गका राज्य इन्द्रको देकर स्वयं दिव्यलोकवासी हो गये। कुछ कालके बाद रजिके पुत्रोंने इन्द्रका राज्य छीन लिया। इससे वे मन-ही-मन बहुत दुखी हुए। तदनन्तर देवगुरु बृहस्पतिने ग्रह-शान्ति आदिकी विधिसे रजिके पुत्रोंको मोहित करके राज्य लेकर इन्द्रको दे दिया। उस समय रजिके पुत्र अपने धर्मसे भ्रष्ट हो गये थे। राजा नहुषके सात

पुत्र हुए। उनके नाम थे—यति, ययाति, उत्तम, उद्भव, पञ्चक, शर्याति और मेघपालक। यति कुमारावस्थामें होनेपर भी भगवान् विष्णुका ध्यान करके उनके स्वरूपको प्राप्त हो गये। उस समय शुक्राचार्यकी कन्या देवयानी तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा—ये दो राजा ययातिकी पत्नियाँ हुईं। राजाके इन दोनों स्त्रियोंसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। देवयानीने यदु और तुर्वसुको जन्म दिया और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। इनमेंसे यदु और पूरु—ये दो ही सोमवंशका विस्तार करनेवाले हुए॥ १३—२३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सोमवंशका वर्णन' नामक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७४॥

दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय

यदुवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यदुके पाँच पुत्र थे—नीलाञ्जिक, रघु, क्रोष्टु, शतजित् और सहस्रजित्। इनमें सहस्रजित् सबसे ज्येष्ठ थे। शतजित्के हैहय, रेणुहय और हय—ये तीन पुत्र हुए। हैहयके धर्मनेत्र और धर्मनेत्रके पुत्र संहत हुए। संहतके पुत्र महिमा तथा महिमाके भद्रसेन थे। भद्रसेनके दुर्गम और दुर्गमसे कनकका जन्म हुआ। कनकसे कृतवीर्य, कृताग्नि, करवीरक और चौथे कृतौजा नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। कृतवीर्यसे अर्जुन हुए। अर्जुनने तपस्या की, इससे प्रसन्न होकर भगवान् दत्तात्रेयने उन्हें सातों द्वीपोंकी पृथ्वीका आधिपत्य, एक हजार भुजाएँ और संग्राममें अजेयताका वरदान दिया। साथ ही यह भी कहा—'अधर्ममें प्रवृत्त होनेपर भगवान् विष्णुके (अवतार श्रीपरशुरामजीके) हाथसे तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।' राजा अर्जुनने दस हजार यज्ञोंका अनुष्ठान किया। उनके स्मरणमात्रसे राष्ट्रमें किसीके धनका नाश नहीं होता था। यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञानके द्वारा कोई भी राजा कृतवीर्यकुमार अर्जुनकी गतिको नहीं पा सकता। कार्तवीर्य अर्जुनके सौ पुत्र थे, उनमें पाँच प्रधान थे। उनके नाम हैं—शूरसेन, शूर, धृष्टोक्त, कृष्ण और जयध्वज। जयध्वज अवन्ती-देशके महाराज थे। जयध्वजसे तालजङ्घका जन्म हुआ और तालजङ्घसे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए, जो तालजङ्घके ही नामसे प्रसिद्ध थे। हैहयवंशी क्षत्रियोंके पाँच कुल हैं—भोज, अवन्ति, वीतिहोत्र, स्वयंजात और शौण्डिकेय। वीतिहोत्रसे अनन्तकी उत्पत्ति हुई और अनन्तसे दुर्जय नामक राजाका जन्म हुआ॥ १—११॥

अब क्रोष्टुके वंशका वर्णन करूँगा, जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णुने अवतार धारण किया था। क्रोष्टुसे वृजिनीवान् और वृजिनीवान्से स्वाहाका जन्म हुआ। स्वाहाके पुत्र रुषद्गु और उनके पुत्र चित्ररथ थे। चित्ररथसे शशबिन्दु उत्पन्न हुए, जो चक्रवर्ती राजा थे। वे सदा भगवान् विष्णुके भजनमें ही लगे रहते थे। शशबिन्दुके दस हजार पुत्र थे। वे सब-के-सब बुद्धिमान्, सुन्दर, अधिक धनवान् और अत्यन्त तेजस्वी थे; उनमें पृथुश्रवा ज्येष्ठ थे। उनके पुत्रका नाम सुयज्ञ था। सुयज्ञके पुत्र उशना और उशनाके तितिक्षु हुए। तितिक्षुसे मरुत्त और मरुत्तसे कम्बलबर्हिष (जिनका दूसरा नाम रुक्मकवच था) हुए। रुक्मकवचसे रुक्मेषु, पृथुरुक्मक, हवि, ज्यामघ और पापघ्न आदि पचास पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें ज्यामघ अपनी

स्त्रीके वशीभूत रहनेवाला था। उससे उसकी पत्नी शैव्याके गर्भसे विदर्भकी उत्पत्ति हुई। विदर्भके कौशिक, लोमपाद और क्रथ नामक पुत्र हुए। इनमें लोमपाद ज्येष्ठ थे। उनसे कृतिका जन्म हुआ। कौशिकके पुत्रका नाम चिदि हुआ। चिदिके वंशज राजा 'चैद्य'के नामसे प्रसिद्ध हुए। विदर्भपुत्र क्रथसे कुन्ति और कुन्तिसे धृष्टकका जन्म हुआ। धृष्टकके पुत्र धृति और धृतिके विदूरथ हुए। ये 'दशार्ह' नामसे भी प्रसिद्ध थे। दशार्हके पुत्र व्योम और व्योमके पुत्र जीमूत कहे जाते हैं। जीमूतके पुत्रका नाम विकल हुआ और उनके पुत्र भीमरथ नामसे प्रसिद्ध हुए। भीमरथसे नवरथ और नवरथसे दृढ़रथ हुए। दृढ़रथसे शकुन्ति तथा शकुन्तिसे करम्भ उत्पन्न हुए। करम्भसे देवरातका जन्म हुआ। देवरातके पुत्र देवक्षेत्र कहलाये। देवक्षेत्रसे मधु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और मधुसे द्रवरसने जन्म ग्रहण किया। द्रवरसके पुरुहूत और पुरुहूतके पुत्र जन्तु थे। जन्तुके पुत्रका नाम सात्वत था। ये यदुवंशियोंमें गुणवान् राजा थे। सात्वतके भजमान, वृष्णि, अन्धक तथा देवावृध—ये चार पुत्र हुए। इन चारोंके वंश विख्यात हैं। भजमानके बाह्य, वृष्टि, कृमि और निमि नामक पुत्र हुए। देवावृधसे बभ्रुका जन्म हुआ। उनके विषयमें इस श्लोकका गान किया जाता है—'हम जैसा दूरसे सुनते हैं, वैसा ही निकटसे देखते भी हैं। बभ्रु मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं और देवावृध देवताओंके समान हैं।' बभ्रुके चार पुत्र हुए। वे सभी भगवान् वासुदेवके भक्त थे। उनके नाम हैं—कुकुर, भजमान, शिनि और कम्बलबर्हिष। कुकुरके धृष्णु नामक पुत्र हुए। धृष्णुसे धृति नामवाले पुत्रकी उत्पत्ति हुई। धृतिसे कपोतरोमा और उनके पुत्र तित्तिरि हुए। तित्तिरिके पुत्र नर और उनके पुत्र आनकदुन्दुभि नामसे विख्यात हुए। आनकदुन्दुभिकी परम्परामें पुनर्वसु और उनके पुत्र आहुक हुए। ये आहुकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। आहुकसे देवक और उग्रसेन हुए। देवकसे देववान्, उपदेव, सहदेव और देवरक्षित—ये चार पुत्र हुए। इनकी सात बहिनें थीं, जिनका देवकने वसुदेवके साथ ब्याह कर दिया। उन सातोंके नाम हैं—देवकी, श्रुतदेवी, मित्रदेवी, यशोधरा, श्रीदेवी, सत्यदेवी और सातवीं सुरापी। उग्रसेनके नौ पुत्र हुए, जिनमें कंस ज्येष्ठ था। शेष आठ पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—न्यग्रोध, सुनामा, कङ्क, राजा शङ्कु, सुतनु, राष्ट्रपाल, युद्धमुष्टि और सुमुष्टिक। भजमानके पुत्र विदूरथ हुए, जो रथियोंमें प्रधान थे। उनके पुत्र राजाधिदेव और शूर नामसे विख्यात हुए। राजाधिदेवके दो पुत्र हुए शोणाश्व और श्वेतवाहन। शोणाश्वके शमी और शत्रुजित् आदि पाँच पुत्र हुए। शमीके पुत्र प्रतिक्षेत्र, प्रतिक्षेत्रके भोज और भोजके हृदिक हुए। हृदिकके दस पुत्र थे, जिनमें कृतवर्मा, शतधन्वा, देवार्ह और भीषण आदि प्रधान हैं। देवार्हसे कम्बलबर्हि और कम्बलबर्हिसे असमौजाका जन्म हुआ। असमौजाके सुदंष्ट्र, सुवास और धृष्ट नामक पुत्र हुए। धृष्टकी दो पत्नियाँ थीं—गान्धारी और माद्री। इनमें गान्धारीसे सुमित्रका जन्म हुआ और माद्रीने युधाजित्को उत्पन्न किया। धृष्टसे अनमित्र और शिनिका भी जन्म हुआ। शिनिसे देवमीढुष उत्पन्न हुए। अनमित्रके पुत्र निघ्न और निघ्नके प्रसेन तथा सत्राजित् हुए। इनमें प्रसेनके भाई सत्राजित्को सूर्यसे स्यमन्तकमणि प्राप्त हुई थी, जिसे लेकर प्रसेन जंगलमें मृगयाके लिये विचर रहे थे। उन्हें एक सिंहने मारकर वह मणि ले ली। तत्पश्चात् जाम्बवान्ने उस सिंहको मार डाला (और मणिको अपने अधिकारमें कर लिया)। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जाम्बवान्को युद्धमें परास्त किया और उनसे जाम्बवती तथा मणिको पाकर वे द्वारकापुरीको लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने वह मणि सत्राजित्को

दे दी, किंतु (मणिके लोभसे) शतधन्वाने सत्राजित्‌को मार डाला। श्रीकृष्णने शतधन्वाको मारकर वह मणि छीन ली और यशके भागी हुए। उन्होंने बलराम और मुख्य यदुवंशियोंके सामने वह मणि अक्रूरको अर्पित कर दी। इससे श्रीकृष्णके मिथ्या कलङ्कका मार्जन हुआ। जो इस प्रसङ्गका पाठ करता है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। सत्राजित्‌को भङ्गकार नामसे प्रसिद्ध पुत्र और सत्यभामा नामकी कन्या हुई, जो भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी हुई थी। अनमित्रसे शिनिका जन्म हुआ। शिनिके पुत्र सत्यक हुए। सत्यकसे सात्यकिकी उत्पत्ति हुई। वे 'युयुधान' नामसे भी प्रसिद्ध थे। उनके धुनि नामक पुत्र हुआ। धुनिका पुत्र युगन्धर हुआ। युधाजित्‌से स्वाह्यका जन्म हुआ। स्वाह्यसे ऋषभ और क्षेत्रककी उत्पत्ति हुई। ऋषभसे श्वफल्क उत्पन्न हुए। श्वफल्कके पुत्रका नाम अक्रूर हुआ और अक्रूरसे सुधन्वकका जन्म हुआ। शूरसे वसुदेव आदि पुत्र तथा पृथा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो महाराज पाण्डुकी प्यारी पत्नी हुई। पाण्डुकी पत्नी कुन्ती (पृथा)-के गर्भ और धर्मके अंशसे युधिष्ठिर हुए, वायुके अंशसे भीमसेन और इन्द्रके अंशसे अर्जुनका जन्म हुआ। (पाण्डुकी दूसरी पत्नी) माद्रीके पेटसे (अश्विनीकुमारोंके अंशसे) नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। वसुदेवसे रोहिणीके गर्भसे बलराम, सारण और दुर्गम—ये तीन पुत्र हुए तथा देवकीके उदरसे पहले सुषेणका जन्म हुआ, फिर कीर्तिमान्, भद्रसेन, जारुख्य, विष्णुदास और भद्रदेह उत्पन्न हुए। इन छहों बच्चोंको कंसने मार डाला। तत्पश्चात् बलराम और कृष्णका प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तमें कल्याणमय वचन बोलनेवाली सुभद्राका जन्म हुआ। भगवान् श्रीकृष्णसे चारुदेष्ण और साम्ब आदि पुत्र उत्पन्न हुए। साम्ब आदि रानी जाम्बवतीके पुत्र थे॥ १२—५१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यदुवंशका वर्णन' नामक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७५ ॥

दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय

श्रीकृष्णकी पत्नियों तथा पुत्रोंके संक्षेपसे नामनिर्देश तथा द्वादश-संग्रामोंका संक्षिप्त परिचय

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! महर्षि कश्यप वसुदेवके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और नारियोंमें श्रेष्ठ अदितिका देवकीके रूपमें आविर्भाव हुआ था। वसुदेव और देवकीसे भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ। वे बड़े तपस्वी थे। धर्मकी रक्षा, अधर्मका नाश, देवता आदिका पालन तथा दैत्य आदिका मर्दन—यही उनके अवतारका उद्देश्य था। रुक्मिणी, सत्यभामा और नग्नजित्‌कुमारी सत्या—ये भगवान्‌की प्रिय रानियाँ थीं। इनमें भी सत्यभामा उनकी आराध्य देवी थीं। इनके सिवा गन्धार-राजकुमारी लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, देवी कालिन्दी, जाम्बवती, सुशीला, माद्री, कौसल्या, विजया और जया आदि सोलह हजार देवियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ थीं। रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे और सत्यभामाने भीम आदिको जन्म दिया था। जाम्बवतीके गर्भसे साम्ब आदिकी उत्पत्ति हुई थी। ये तथा और भी बहुत-से श्रीकृष्णके पुत्र थे। परम बुद्धिमान् भगवान्‌के

पुत्रोंकी संख्या एक करोड़ अस्सी हजारके लगभग थी। समस्त यादव भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित थे। प्रद्युम्नसे विदर्भराजकुमारी रुक्मवतीके गर्भसे अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ। अनिरुद्धको युद्ध बहुत ही प्रिय था। अनिरुद्धके पुत्र वज्र आदि हुए। सभी यादव अत्यन्त बलवान् थे। यादवोंकी संख्या कुल मिलाकर तीन करोड़ थी। उस समय साठ लाख दानव मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए थे, जो लोगोंको कष्ट पहुँचा रहे थे। उन्हींका विनाश करनेके लिये भगवान्‌का अवतार हुआ था। धर्म-मर्यादाकी रक्षा करनेके लिये ही भगवान् श्रीहरि मनुष्यरूपमें प्रकट होते हैं॥ १—९॥

देवता और असुरोंमें अपने दायभागके लिये बारह संग्राम हुए हैं। उनमें पहला 'नारसिंह' और दूसरा 'वामन' नामवाला युद्ध है। तीसरा 'वाराह-संग्राम' और चौथा 'अमृत-मन्थन' नामक युद्ध है। पाँचवाँ 'तारकामय संग्राम' और छठा 'आजीवक' नामक युद्ध हुआ। सातवाँ 'त्रैपुर' आठवाँ 'अन्धकवध'और नवाँ 'वृत्रविघातक संग्राम' है। दसवाँ 'जित्', ग्यारहवाँ 'हालाहल' और बारहवाँ 'घोर कोलाहल' नामक युद्ध हुआ है॥ १०—१२॥

प्राचीनकालमें देवपालक भगवान् नरसिंहने हिरण्यकशिपुका हृदय विदीर्ण करके प्रह्लादको दैत्योंका राजा बनाया था। फिर देवासुर-संग्रामके अवसरपर कश्यप और अदितिसे वामनरूपमें प्रकट होकर भगवान्‌ने बल और प्रतापमें बढ़े-चढ़े हुए राजा बलिको छला और इन्द्रको त्रिलोकीका राज्य दे दिया। 'वाराह' नामक युद्ध उस समय हुआ था, जबकि भगवान्‌ने वाराह अवतार धारण करके हिरण्याक्षको मारा, देवताओंकी रक्षा की और जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार किया। उस समय देवाधिदेवोंने भगवान्‌की स्तुति की॥ १३—१५॥

एक बार देवता और असुरोंने मिलकर मन्दराचलको मथानी और नागराज वासुकिको नेती (बन्धनकी रस्सी) बना समुद्रको मथकर अमृत निकाला, किंतु भगवान्‌ने वह सारा अमृत देवताओंको ही पिला दिया। (उस समय देवताओं और दैत्योंमें घोर युद्ध हुआ था।) तारकामय-संग्रामके अवसरपर भगवान् ब्रह्माने इन्द्र, बृहस्पति, देवताओं तथा दानवोंको युद्धसे रोककर देवताओंकी रक्षा की और सोमवंशको स्थापित किया। आजीवक-युद्धमें विश्वामित्र, वसिष्ठ और अत्रि आदि ऋषियोंने राग-द्वेषादि दानवोंका निवारण करके देवताओंका पालन किया। पृथ्वीरूपी रथमें वेदरूपी घोड़े जोतकर भगवान् शंकर उसपर बैठे (और त्रिपुरका नाश करनेके लिये चले)। उस समय देवताओंके रक्षक और दैत्योंका विनाश करनेवाले भगवान् श्रीहरिने शंकरजीको शरण दी और बाण बनकर स्वयं ही त्रिपुरका दाह किया। गौरीका अपहरण करनेकी इच्छासे अन्धकासुरने रुद्रदेवको बहुत कष्ट पहुँचाया—यह जानकर रेवतीमें अनुराग रखनेवाले श्रीहरिने उस असुरका विनाश किया (यही आठवाँ संग्राम है)। देवताओं और असुरोंके युद्धमें वृत्रका नाश करनेके लिये भगवान् विष्णु जलके फेन होकर इन्द्रके वज्रमें लग गये। इस प्रकार उन्होंने देवराज इन्द्र और देवधर्मका पालन करनेवाले देवताओंको संकटसे बचाया। ('जित्' नामक दसवाँ संग्राम वह है, जब कि) भगवान् श्रीहरिने परशुराम अवतार धारण कर शाल्व आदि दानवोंपर विजय पायी और दुष्ट क्षत्रियोंका विनाश करके देवता आदिकी रक्षा की। (ग्यारहवें संग्रामके समय) मधुसूदनने हालाहल विषके रूपमें प्रकट हुए दैत्यका शंकरजीके द्वारा नाश कराकर देवताओंका भय दूर किया। देवासुर-संग्राममें जो 'कोलाहल' नामका दैत्य

था, उसको परास्त करके भगवान् विष्णुने धर्मपालनपूर्वक सम्पूर्ण देवताओंकी रक्षा की। राजा, राजकुमार, मुनि और देवता—सभी भगवान्के स्वरूप हैं। मैंने यहाँ जिनको बतलाया और जिनका नाम नहीं लिया, वे सभी श्रीहरिके ही अवतार हैं॥ १६—२५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'द्वादश-संग्रामोंका वर्णन' नामक दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७६॥

दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय

तुर्वसु आदि राजाओंके वंशका तथा अङ्गवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! तुर्वसुके पुत्र वर्ग और वर्गके पुत्र गोभानु हुए। गोभानुसे त्रैशानि, त्रैशानिसे करंधम और करंधमसे मरुत्तका जन्म हुआ। उनके पुत्र दुष्यन्त हुए। दुष्यन्तसे वरूथ और वरूथसे गाण्डीरकी उत्पत्ति हुई। गाण्डीरसे गान्धार हुए। गान्धारके पाँच पुत्र हुए, जिनके नामपर गन्धार, केरल, चोल, पाण्ड्य और कोल—इन पाँच देशोंकी प्रसिद्धि हुई। ये सभी महान् बलवान् थे। द्रुह्युसे बभ्रुसेतु और बभ्रुसेतुसे पुरोवसुका जन्म हुआ। उनसे गान्धार नामक पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। गान्धारोंने धर्मको जन्म दिया और धर्मसे घृत उत्पन्न हुए। घृतसे विदुष और विदुषसे प्रचेता हुए। प्रचेताके सौ पुत्र हुए, जिनमें अनडु, सुभानु, चाक्षुष और परमेषु—ये प्रधान थे। सुभानुसे कालानल और कालानलसे सृञ्जय उत्पन्न हुए। सृञ्जयके पुरञ्जय और पुरञ्जयके पुत्र जनमेजय थे। जनमेजयके पुत्र महाशाल और उनके पुत्र महामना हुए। ब्रह्मन्! महामनासे उशीनरका जन्म हुआ और महामनाकी 'नृगा' नामवाली पत्नीके गर्भसे राजा नृगका जन्म हुआ। नृगकी 'नरा' नामक पत्नीसे नरकी उत्पत्ति हुई और कृमि नामवाली स्त्रीके गर्भसे कृमिका जन्म हुआ। इसी प्रकार नृगके दशा नामकी पत्नीसे सुव्रत और दृषद्वतीसे शिवि उत्पन्न हुए। शिविके चार पुत्र हुए—पृथुदर्भ, वीरक, कैकेय और भद्रक—इन चारोंके नामसे श्रेष्ठ जनपदोंकी प्रसिद्धि हुई। उशीनरके पुत्र तितिक्षु हुए, तितिक्षुसे रुषद्रथ, रुषद्रथसे पैल और पैलसे सुतपा नामक पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। सुतपासे महायोगी बलिका जन्म हुआ। बलिसे अङ्ग, बङ्ग, मुख्यक, पुण्ड्र और कलिङ्ग नामक पुत्र उत्पन्न हुए। ये सभी 'बालेय' कहलाये। बलि योगी और बलवान् थे। अङ्गसे दधिवाहन, दधिवाहनसे राजा दिविरथ और दिविरथसे धर्मरथ उत्पन्न हुए। धर्मरथके पुत्रका नाम चित्ररथ हुआ। चित्ररथके सत्यरथ और उनके पुत्र लोमपाद हुए। लोमपादका पुत्र चतुरङ्ग और चतुरङ्गका पुत्र पृथुलाक्ष हुआ। पृथुलाक्षसे चम्प, चम्पसे हर्यङ्ग और हर्यङ्गसे भद्ररथ हुआ। भद्ररथके पुत्रका नाम बृहत्कर्मा था। बृहत्कर्मासे बृहद्भानु, बृहद्भानुसे बृहात्मवान्, उनसे जयद्रथ और जयद्रथसे बृहद्रथकी उत्पत्ति हुई। बृहद्रथसे विश्वजित् और विश्वजित्का पुत्र कर्ण हुआ। कर्णका वृषसेन और वृषसेनका पुत्र पृथुसेन था। ये अङ्गवंशमें उत्पन्न राजा बतलाये गये। अब मुझसे पूरुवंशका वर्णन सुनो॥ १—१७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'राजवंशका वर्णन' नामक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७७॥

दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय

पूरुवंशका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! पूरुसे जनमेजय हुए, जनमेजयसे प्राचीवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। प्राचीवान्से मनस्यु और मनस्युसे राजा वीतमयका जन्म हुआ। वीतमयसे शुन्धु हुआ, शुन्धुसे बहुविध नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। बहुविधसे संयाति और संयातिका पुत्र रहोवादी हुआ। रहोवादीके पुत्रका नाम भद्राश्व था। भद्राश्वके दस पुत्र हुए—ऋचेयु, कृषेयु, संनतेयु, घृतेयु, चितेयु, स्थण्डिलेयु, धर्मेयु, संनतेयु (दूसरा), कृतेयु और मतिनार। मतिनारके तंसुरोध, प्रतिरथ और पुरस्त—ये तीन पुत्र हुए। प्रतिरथसे कण्व और कण्वसे मेधातिथिका जन्म हुआ। तंसुरोधसे चार पुत्र उत्पन्न हुए—दुष्यन्त, प्रवीरक, सुमन्त और वीरवर अनय। दुष्यन्तसे भरतका जन्म हुआ। भरत शकुन्तलाके महाबली पुत्र थे। राजा भरतके नामपर उनके वंशज क्षत्रिय 'भारत' कहलाते हैं। भरतके पुत्र अपनी माताओंके क्रोधसे नष्ट हो गये, तब राजाके यज्ञ करनेपर मरुद्गणोंने बृहस्पतिके पुत्र भरद्वाजको ले आकर उन्हें पुत्ररूपसे अर्पण किया। (भरतवंश 'वितथ' हो रहा था, ऐसे समयमें भरद्वाज आये, अत:) वे 'वितथ' नामसे प्रसिद्ध हुए। वितथने पाँच पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम ये हैं—सुहोत्र, सुहोता, गय, गर्भ तथा कपिल। इनके सिवा उनसे महात्मा और सुकेतु—ये दो पुत्र और उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उन्होंने कौशिक और गृत्सपतिको भी जन्म दिया। गृत्सपतिके अनेक पुत्र हुए, उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—सभी थे। काश और दीर्घतमा भी उन्हींके पुत्र थे। दीर्घतमाके धन्वन्तरि हुए और धन्वन्तरिका पुत्र केतुमान् हुआ। केतुमान्से हिमरथका जन्म हुआ, जो 'दिवोदास'के नामसे भी प्रसिद्ध हैं। दिवोदाससे प्रतर्दन तथा प्रतर्दनसे भर्ग और वत्स नामक दो पुत्र हुए। वत्ससे अनर्क और अनर्कसे क्षेमककी उत्पत्ति हुई। क्षेमकके वर्षकेतु और वर्षकेतुके पुत्र विभु बतलाये गये हैं। विभुसे आनर्त और सुकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुए। सुकुमारसे सत्यकेतुका जन्म हुआ। राजा वत्ससे वत्सभूमि नामक पुत्रकी भी उत्पत्ति हुई थी। वितथकुमार सुहोत्रसे बृहत् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बृहत्के तीन पुत्र हुए—अजमीढ, द्विमीढ और पराक्रमी पुरुमीढ। अजमीढकी केशिनी नामवाली पत्नीके गर्भसे प्रतापी जह्नुका जन्म हुआ। जह्नुसे अजकाश्वकी उत्पत्ति हुई और अजकाश्वका पुत्र बलाकाश्व हुआ। बलाकाश्वके पुत्रका नाम कुशिक हुआ। कुशिकसे गाधि उत्पन्न हुए, जिन्होंने इन्द्रत्व प्राप्त किया था। गाधिसे सत्यवती नामकी कन्या और विश्वामित्र नामक पुत्रका जन्म हुआ। देवरात और कतिमुख आदि विश्वामित्रके पुत्र हुए। अजमीढसे शुन:शेप और अष्टक नामवाले अन्य पुत्रोंकी भी उत्पत्ति हुई। उनकी नीलिनी नामवाली पत्नीके गर्भसे एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम शान्ति था। शान्तिसे पुरुजाति, पुरुजातिसे बाह्याश्व और बाह्याश्वसे पाँच राजा उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मुकुल, सृञ्जय, राजा बृहदिषु, यवीनर और कृमिल।—ये 'पाञ्चाल' नामसे विख्यात हुए। मुकुलके वंशज 'मौकुल्य' कहलाये। वे क्षात्रधर्मसे युक्त ब्राह्मण हुए। मुकुलसे चञ्चाश्वका जन्म हुआ और चञ्चाश्वसे एक पुत्र और एक जुड़वीं संतान पैदा हुईं। पुत्रका नाम दिवोदास था और कन्याका अहल्या। अहल्याके गर्भसे शरद्वत (गौतम)-द्वारा

शतानन्दकी उत्पत्ति हुई। शतानन्दसे सत्यधृक् हुए। सत्यधृक्से भी दो जुड़वीं सन्तानें पैदा हुईं। उनमें पुत्रका नाम कृप और कन्याका नाम कृपी था। दिवोदाससे मैत्रेय और मैत्रेयसे सोमक हुए। सृञ्जयसे पञ्चधनुषकी उत्पत्ति हुई। उनके पुत्रका नाम सोमदत्त था। सोमदत्तसे सहदेव, सहदेवसे सोमक और सोमकसे जन्तु हुए। जन्तुके पुत्रका नाम पृषत् हुआ। पृषत्से द्रुपदका जन्म हुआ तथा द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न था और धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतुकी उत्पत्ति हुई। महाराज अजमीढकी धूमिनी नामवाली पत्नीसे ऋक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥ १—२५॥

ऋक्षसे संवरण और संवरणसे कुरुका जन्म हुआ, जिन्होंने प्रयागसे जाकर कुरुक्षेत्र तीर्थकी स्थापना की। कुरुसे सुधन्वा, सुधनु, परीक्षित् और रिपुञ्जय—ये चार पुत्र हुए। सुधन्वासे सुहोत्र और सुहोत्रसे च्यवन उत्पन्न हुए। च्यवनकी पत्नी महारानी गिरिकाके वसुश्रेष्ठ उपरिचरके अंशसे सात पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम इस प्रकार हैं—बृहद्रथ, कुश, वीर, यदु, प्रत्यग्रह, बल और मत्स्यकाली। राजा बृहद्रथसे कुशाग्रका जन्म हुआ। कुशाग्रसे वृषभकी उत्पत्ति हुई और वृषभके पुत्रका नाम सत्यहित हुआ। सत्यहितसे सुधन्वा, सुधन्वासे ऊर्ज, ऊर्जसे सम्भव और सम्भवसे जरासंध उत्पन्न हुआ। जरासंधके पुत्रका नाम सहदेव था। सहदेवसे उदापि और उदापिसे श्रुतकर्माकी उत्पत्ति हुई। कुरुनन्दन परीक्षित्के पुत्र जनमेजय हुए। वे बड़े धार्मिक थे। जनमेजयसे त्रसद्दस्युका जन्म हुआ। राजा अजमीढके जो जह्नु नामवाले पुत्र थे, उनके सुरथ, श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन—ये चार पुत्र उत्पन्न हुए। परीक्षित्कुमार जनमेजयके दो पुत्र और हुए—सुरथ तथा महिमान्। सुरथसे विदूरथ और विदूरथसे ऋक्ष हुए। इस वंशमें ये ऋक्ष नामसे प्रसिद्ध द्वितीय राजा थे। इनके पुत्रका नाम भीमसेन हुआ। भीमसेनके पुत्र प्रतीप और प्रतीपके शंतनु हुए। शंतनुके देवापि, बाह्लिक और सोमदत्त—ये तीन पुत्र थे। बाह्लिकसे सोमदत्त और सोमदत्तसे भूरि, भूरिश्रवा तथा शलका जन्म हुआ। शंतनुसे गङ्गाजीके गर्भसे भीष्म उत्पन्न हुए तथा उनकी काल्या (सत्यवती) नामवाली पत्नीसे विचित्रवीर्यकी उत्पत्ति हुई। विचित्रवीर्यकी पत्नीके गर्भसे श्रीकृष्णद्वैपायनने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरको जन्म दिया। पाण्डुकी रानी कुन्तीके गर्भसे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए तथा उनकी माद्री नामवाली पत्नीसे नकुल और सहदेवका जन्म हुआ। पाण्डुके ये पाँच पुत्र देवताओंके अंशसे प्रकट हुए थे। अर्जुनके पुत्रका नाम अभिमन्यु था। वे सुभद्राके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। अभिमन्युसे राजा परीक्षित्का जन्म हुआ। द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी थी। उसके गर्भसे युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, सहदेवसे श्रुतशर्मा और नकुलसे शतानीककी उत्पत्ति हुई। भीमसेनका एक दूसरा पुत्र भी था, जो हिडिम्बाके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। उसका नाम था घटोत्कच। ये भूतकालके राजा हैं। भविष्यमें भी बहुत-से राजा होंगे, जिनकी कोई गणना नहीं हो सकती। सभी समयानुसार कालके गालमें चले जाते हैं। विप्रवर! काल भगवान् विष्णुका ही स्वरूप है, अतः उन्हींका पूजन करना चाहिये। उन्हींके उद्देश्यसे अग्निमें हवन करो; क्योंकि वे भगवान् ही सब कुछ देनेवाले हैं॥ २६—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कुरुवंशका वर्णन' नामक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७८॥

दो सौ उनासीवाँ अध्याय[1]

सिद्ध ओषधियोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं आयुर्वेदका वर्णन करूँगा, जिसे भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुतसे कहा था। यह आयुर्वेदका सार है और अपने प्रयोगोंद्वारा मृतकको भी जीवन प्रदान करनेवाला है॥ १॥

सुश्रुतने कहा— भगवन्! मुझे मनुष्य, घोड़े और हाथीके रोगोंका नाश करनेवाले आयुर्वेद-शास्त्रका उपदेश कीजिये। साथ ही सिद्ध योगों, सिद्ध मन्त्रों और मृतसंजीवनकारक औषधोंका भी वर्णन कीजिये॥ २॥

धन्वन्तरि बोले— सुश्रुत! वैद्य ज्वराक्रान्त व्यक्तिके बलकी रक्षा करते हुए, अर्थात् उसके बलपर ध्यान रखते हुए लङ्घन (उपवास) करावे। तदनन्तर उसे सोंठसे युक्त लाल मण्ड (धानके लावेका माँड़) तथा नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, सुगन्धबाला और सोंठके साथ शृत (अर्धपक्व) जलको प्यास और ज्वरकी शान्तिके लिये दे। छः[2] दिन बीत जानेके बाद चिरायता-जैसे द्रव्योंका काढ़ा अवश्य दे॥ ३-४॥

ज्वर निकालनेके लिये (आवश्यकता हो तो) स्नेहन (पसीना) करावे। रोगीके दोष (वातादि) जब शान्त हो जायँ, तब विरेचन-द्रव्य देकर विरेचन कराना चाहिये। साठी, तिन्नी, लाल अगहनी और प्रमोदक (धान्यविशेष)-के तथा ऐसे ही अन्य धान्योंके भी पुराने चावल ज्वरमें (ज्वरकालमें मण्ड आदिके लिये) हितकर होते हैं। यवके बने (बिना भूसीके) पदार्थ भी लाभदायक हैं। मूँग, मसूर, चना, कुलथी, मोंठ, अरहर, खेखशा, कायफर, उत्तम फलके सहित परवल, नीमकी छाल, पित्तपापड़ा एवं अनार भी ज्वरमें हितकारक होते हैं॥ ५—७॥

रक्तपित्त नामक रोग यदि अधोग (नीचेकी गतिवाला) हो तो वमन हितकर होता है तथा ऊर्ध्वग (ऊपरकी ओर गतिवाला) हो तो विरेचन लाभदायक होता है। इसमें बिना सोंठके षडङ्ग (मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्य—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन एवं सुगन्धबाला)-से बना क्वाथ देना चाहिये। इस रोगमें (जौका) सत्तू, गेहूँका आटा, धानका लावा, जौके बने विभिन्न पदार्थ, अगहनी धानका चावल, मसूर, मोंठ, चना और मूँग खानेयोग्य हैं। घी एवं दूधसे तैयार किये गये गेहूँके पदार्थ—दलिया, हलुवा आदि भी लाभकारी होते हैं। बलवर्धक रस तथा छोटी मक्खियोंका मधु भी हितकर होता है। अतिसारमें पुराना अगहनीका चावल लाभदायक होता है॥ ८—१०॥

गुल्मरोगमें जो अन्न कफकारक न हो तथा पठानी लोधकी छालके क्वाथसे सिद्ध किया गया हो, वही देना चाहिये। उस रोगमें वायुकारक अन्नको त्याग दे एवं वायुसे रोगीको बचाये। रोगको मिटानेके लिये यह प्रयत्न सर्वथा करनेयोग्य है॥ ११॥

उदर-रोगमें दूधके साथ बाटी खाय। घीसे पकाया हुआ बथुवा, गेहूँ, अगहनी चावल तथा

---

१. दो सौ उनासीवें अध्यायसे वैद्यक अथवा आयुर्वेदका प्रकरण आरम्भ होता है। इसका संशोधन वाराणसेय संस्कृत वि० वि० वाराणसी आयुर्वेदविभागके प्राध्यापक आचार्य पं० श्रीगोमतीप्रसादजीने किया है। आप सुप्रसिद्ध आयुर्वेदधन्वन्तरि स्व० पं० श्रीसत्यनारायणजी शास्त्रीके शिष्य हैं।

२. छः दिन उपलक्षणमात्र है। जबतक ज्वरकी सामता (अपरिपक्वावस्था) रहे, तबतक प्रतीक्षा करके जब उसकी निरामता (परिपक्वावस्था) हो जाय, तब तिक्तक (चिरायता आदि) दे।

तिक्त औषध उदर-रोगियोंके लिये हितकर हैं॥ १२॥

गेहूँ, चावल, मूँग, पलाशबीज, खैर, हर्रे, पञ्चकोल (पिप्पली, पीपलामूल, चाभ, चित्ता, सोंठ), जांगल-रस, नीमका पञ्चाङ्ग (फूल, पत्ती, फल, छाल एवं मूल), आँवला, परवल, बिजौरा नीबूका रस, काला या सफेद जीरा, (पाठान्तरके अनुसार चमेलीकी पत्ती), सूखी मूली तथा सेंधा नमक—ये कुष्ठ रोगियोंके लिये हितकारक हैं। पीनेके लिये खदिरोदक (खैर मिलाकर तैयार किया गया जल) प्रशस्त माना गया है। पेया बनानेके लिये मसूर एवं मूँगका प्रयोग होना चाहिये। खानेके लिये पुराने चावलका उपयोग उचित है। नीम तथा पित्तपापड़ाका शाक और जांगल-रस—ये सब कुष्ठमें हितकर होते हैं। बायबिडङ्ग, काली मिर्च, मोथा, कूट, पठानी लोध, हुरहुर, मैनसिल तथा वच—इन्हें गोमूत्रमें पीसकर लगानेसे कुष्ठरोगका नाश होता है॥ १३—१६॥

प्रमेहके रोगियोंके लिये पूआ, कूट, कुल्माष (घुघुरी) और जौ आदि लाभदायक हैं। जौके बने भोज्य पदार्थ, मूँग, कुलथी, पुराना अगहनीका चावल, तिक्त-रुक्ष एवं तिक्त हरे शाक हितकर हैं। तिल, सहजन, बहेड़ा और इंगुदीके तेल भी लाभदायक हैं॥ १७-१८॥

मूँग, जौ, गेहूँ, एक वर्षतक रखे हुए पुराने धानका चावल तथा जांगल-रस—ये राजयक्ष्माके रोगियोंके भोजनके लिये प्रशस्त हैं॥ १९॥

श्वास-कास (दमा और खाँसी)-के रोगियोंको कुलथी, मूँग, रास्ना, सूखी मूली, मूँगका पूआ, दही और अनारके रससे सिद्ध किये गये विष्किर, जांगल-रस, बिजौरेका रस, मधु, दाख और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल)-से संस्कृत जौ, गेहूँ और चावल खिलाये। दशमूल, बला (बरियार या खरेटी), रास्ना और कुलथीसे बनाये गये तथा पूपरससे युक्त क्वाथ श्वास और हिचकीका कष्ट दूर करनेवाले हैं॥ २०—२२॥

सूखी मूली, कुलथी, मूल (दशमूल), जांगल-रस, पुराना जौ, गेहूँ और चावल खसके साथ लेना चाहिये। इससे भी श्वास और कासका नाश होता है। शोथमें गुड़सहित हर्रे या गुड़सहित सोंठ खानी चाहिये। चित्रक तथा मट्ठा—दोनों ग्रहणी रोगके नाशक हैं॥ २३-२४॥

निरन्तर वातरोगसे पीड़ित रहनेवालोंके लिये पुराना जौ, गेहूँ, चावल, जांगल-रस, मूँग, आँवला, खजूर, मुनक्का, छोटी बेर, मधु, घी, दूध, शक्र (इन्द्रयव), नीम, पित्तपापड़ा, वृष (बलकारक द्रव्य) तथा तक्रारिष्ट हितकर हैं॥ २५-२६॥

हृदयके रोगी विरेचन-योग्य होते हैं अर्थात् उनका विरेचन कराना चाहिये। हिचकीवालोंके लिये पिप्पली हितकर है। छाछ-आरनाल, सीधु तथा मोती ठंढे जलसे लें। यह हिक्का (हिचकी) रोगोंमें विशेष लाभप्रद है॥ २७॥

मदात्यय-रोगमें मोती, नमकयुक्त जीरा तथा मधु हितकर हैं। उर:क्षत रोगी मधु और दूधसे लाहको लेवे। मांस-रस (जटामांसीके रस)-के आहार और अग्निसंरक्षण (बुभुक्षा-वर्द्धक भोगों)-से क्षयको जीते। क्षयरोगीके लिये भोजनमें लाल अगहनी धानका चावल, नीवार, कलम (रोपा धान) आदि हितकारी हैं॥ २८-२९॥

अर्श (बवासीर)-में यवान्न-विकृति, नीम, मांस (जटामांसी), शाक, संचर नमक, कचूर, हर्रे, माँड तथा जल मिलाया हुआ मट्ठा हितकारक है॥ ३०॥

मूत्रकृच्छ्रमें मोथा, हल्दीके साथ चित्रकका लेप, यवान्न-विकृति, शालिधान्य, बथुआ, सुवर्चल (संचर नमक), त्रपु (लाह), दूध, ईखके रस और घीसे युक्त गेहूँ—ये खानेके लिये लाभकारी हैं तथा पीनेके लिये मण्ड और सुरा आदि देने

चाहिये॥ ३१-३२॥

छर्दि (कै, वमन)-के लिये लाजा (लावा), सत्तू, मधु, परूषक (फालसा), बैगनका भर्ता, शिखि-पंख (मोरकी पाँख) तथा पानक (विशेष प्रकारका पेय) लाभदायक है॥ ३३॥

अगहनीके चावलका जल, गरम या शीत-गरम दूध तृष्णाका नाशक है। मोथा और गुड़से बनी हुई गुटिका (गोली) मुखमें रखी जाय तो तृष्णानाशक है। यवान्न-विकृति, पूप (पूआ), सूखी मूली, परवलका शाक, वेत्राग्र (बेंतके अग्रभागका नरम हिस्सा) और करेल ऊरुस्तम्भ (जाँघके जकड़ने)-का विनाशक है। विसर्पी (फोड़े-फुंसी आदिके रूपमें सारे शरीरमें फैलनेवाले रोगका रोगी) मूँग, अरहर, मसूरके यूष, तिलयुक्त जांगल-रस, सेंधा नमकसहित घृत, दाख, सोंठ, आँवला और उन्नावके यूषके साथ पुराने गेहूँ,जौ और अगहनी धानके चावल आदि अन्नका सेवन करे तथा चीनीके साथ मधु, मुनक्का एवं अनारसे बना जल पीये॥ ३४—३७॥

वातरक्तके रोगीके लिये लाल साठीका चावल, गेहूँ, यव, मूँग आदि हलका अन्न देवे। काकमाची (काली मकोय), वेत्राग्र, बथुआ, सुवर्चला आदि शाक देवे। मधु और मिश्रीसहित जल पिलावे। नासिकाके रोगोंमें दूर्वासे सिद्ध घृत लाभदायक है। आँवलेके रससे या भृङ्गराजके रससे सिद्ध किये हुए तेलका नस्य दिया जाय तो वह सिरके समस्त कृमिरोगोंमें लाभप्रद है॥ ३८—४०॥

विप्रवर! शीतल जलके साथ लिया गया अन्नपान और तिलोंका भक्षण दाँतोंको मजबूत बनानेवाला तथा परम तृप्तिकारक है। तिलके तेलसे किया गया कुल्ला दाँतोंको अधिक मजबूत करनेवाला है। सब प्रकारके कृमियोंके नाशके लिये बायबिडंगका चूर्ण तथा गोमूत्रका प्रयोग करे। आँवलेको घीमें पीसकर यदि उसका सिरपर लेपन किया जाय तो वह शिरोरोगके नाशके लिये उत्तम माना गया है। चिकना और गरम भोजन भी इसके लिये हितकर होता है॥ ४१—४३॥

द्विजोत्तम! कानमें दर्द हो तो बकरेके मूत्र तथा तेलसे कानोंको भर देना उत्तम है। यह कर्णशूलका नाश करनेवाला है। सब प्रकारके सिरके भी इस रोगमें लाभदायक हैं। गिरिमृत्तिका (पहाड़ी मिट्टी), सफेद चन्दन, लाख, मालतीकलिका (चमेलीकी कली) सबको पीसकर बनायी हुई बत्ती उर:क्षत तथा शुक्र-दोषोंको नष्ट करती है। व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीपल) और त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेड़ा) तथा तूतिया थोड़ा जल मिलाकर आँखमें डाले। यह और रसाञ्जन (रसोत) भी आँखके सब रोगोंका नाश करनेवाला है। लोध, काँजी और सेंधा नमकको घीमें भूनकर शिलापर पीसकर आँखोंपर लेप करनेसे सब प्रकारके नेत्र-रोगोंमें लाभ होता है। आश्च्योतन (आँसू गिरना) तो बंद ही हो जाता है। गिरिमृत्तिका और सफेद चन्दनका बाहरी लेप आँखोंको लाभ पहुँचाता है तथा नेत्र-रोगोंके नाशके लिये त्रिफलाका सदा सेवन करे (उसके जलसे आँखोंको धोना उत्तम माना गया है।)॥ ४४—४८॥

दीर्घजीवी होनेकी इच्छावालेको रातमें त्रिफला घृत-मधुके साथ खाना चाहिये। शतावरी-रसमें सिद्ध दूध तथा घी वृष्य है (बलकारक एवं आयुवर्धक है)। कलम्बिका (करमीका शाक) और उड़द भी वृष्य होते हैं। दूध एवं घृत भी वृष्य हैं। पूर्ववत् मुलहठीके सहित त्रिफला आयुको बढ़ानेवाली है। महुवाके फूलके रसके साथ त्रिफला ली जाय तो वह बुढ़ापाके चिह्न—झुर्री पड़ने और बालोंके पकने-गिरने आदिका निवारण करती है॥ ४९-५०½॥

विप्रवर! वचसे सिद्ध घृत भूतदोषका नाश करनेवाला है। उसका कव्य बुद्धिको देनेवाला तथा सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है। खरेटीके (पत्थरपर पीसे हुए) कल्कसे सिद्ध क्वाथद्वारा बनाया हुआ अञ्जन नेत्रोंके लिये हितकारी है। रास्ना या सहचरी (झिण्टी)-से सिद्ध तैल वात-रोगियोंके लिये हितकर है। जो अन्न श्लेष्माकारी न हो, वह व्रणरोगोंमें श्रेष्ठ माना गया है। सक्तुपिण्डी तथा आमड़ा पाचनके लिये श्रेष्ठ हैं। नीमका चूर्ण घावके भेदन (फोड़ने)-में तथा रोपण (घाव भरने)-में श्रेष्ठ है। उसी प्रकार सूच्युपचार (सूची-कर्म) भी व्रणको फोड़ने या बहानेमें सहायक हैं। बलिकर्मविशेषसे सूतिकाको लाभ होता है तथा रक्षा-कर्म प्राणियोंके लिये सदा हित करनेवाला है। नीमके पत्तोंको खाना साँपसे डँसे हुएकी दवा है। (पीसकर लगाया हुआ) पताल नीमका पत्ता, पुराना तैल अथवा पुराना घी केशके लिये हितकर होते हैं॥ ५१—५६॥

जिसे बिच्छूने काटा हो, उसके लिये मोरपंख और घृतका धूम लाभदायक है। अथवा आकके दूधसे पीसे हुए पलाशबीजका लेप करनेसे बिच्छूका जहर उतर जाता है। बिच्छूके काटे हुएको पीपल या बड़ी हरड़ जायफलके साथ पिलाये। आकका दूध, तिल, तैल, पलल और गुड़—इनको समान मात्रामें लेकर पिलानेसे कुत्तेका भयंकर विष शीघ्र ही दूर होता है। चौराईका मूल और निशोथ समान मात्रामें घीके साथ पीनेसे मनुष्य अतिबलवान्, सर्पविष और कीटोंके विषोंपर भी शीघ्र ही काबू पा लेता है। श्वेत चन्दन, पद्माख, कूठ, लताम्बु (जूहीका पानी), उशीर (खस), पाटला, निर्गुण्डी, शारिवा, सेलु (सेरुकी)—ये मकड़ीके विषका नाश करनेवाले औषध हैं। द्विजश्रेष्ठ! गुड़सहित सोंठ शिरोविरेचनके लिये हितकारक हैं॥ ५७—६१॥

स्नेहपानमें तथा वस्तिकर्ममें तैल और घृत सर्वोत्तम है। अग्नि पसीना करानेमें तथा शीतजल स्तम्भनमें श्रेष्ठ हैं। इसमें संशय नहीं कि निशोथ रेचनमें श्रेष्ठ है और मैनफल वमनमें। वस्ति, विरेचन एवं वमन, तैल, घृत एवं मधु—ये तीन क्रमशः वात, पित्त एवं कफके परम औषध हैं॥ ६२-६३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सिद्ध ओषधियोंका वर्णन' नामक दो सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७९॥

दो सौ अस्सीवाँ अध्याय

सर्वरोगहर औषधोंका वर्णन

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत! शारीर, मानस, आगन्तुक और सहज—ये चार प्रकारकी व्याधियाँ हैं। ज्वर और कुष्ठ आदि 'शारीर' रोग हैं, क्रोध आदि 'मानस' रोग हैं, चोट आदिसे उत्पन्न रोग 'आगन्तुक' कहे जाते हैं तथा भूख, बुढ़ापा आदि 'सहज' (स्वाभाविक) रोग हैं। 'शारीर' तथा 'आगन्तुक' व्याधिके नाशके लिये रविवारको ब्राह्मणकी पूजा करके उसे घृत, गुड़, नमक और सुवर्णका दान करे। जो सोमवारको ब्राह्मणके लिये उबटन देता है, वह सब रोगोंसे छूट जाता है। शनिवारको तैलका दान करे। आश्विनके महीनेमें गोरस—गायका घी, दूध और दही तथा अन्न देनेवाला सब रोगोंसे छुटकारा पा जाता है। घृत तथा दूधसे शिवलिङ्गको स्नान करानेसे मनुष्य रोगहीन हो जाता है। त्रिमधुर (शर्करा, गुड़, मधु)-में डुबायी हुई

दूर्वाका गायत्री-मन्त्रसे हवन करनेपर मनुष्य सब रोगोंसे छूट जाता है। जिस नक्षत्रमें रोग पैदा हो, उसी शुभ नक्षत्रमें स्नान करे तथा बलि दे। भगवान् विष्णुका स्तोत्र 'मानस-रोग' आदिको हर लेनेवाला है। अब वात, पित्त एवं कफ—इन दोषोंका तथा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि धातुओंका वर्णन सुनो॥ १—६॥

सुश्रुत! खाया हुआ अन्न पक्वाशयसे दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। एक अंशसे वह किट्ट होता है और दूसरे अंशसे रस। किट्टभाग मल है, जो विष्ठा, मूत्र तथा स्वेदरूपमें परिणत होता है। वही नेत्रमल, नासामल, कर्णमल तथा देहमल कहलाता है। रस अपने समस्त भागसे रुधिररूपमें परिणत हो जाता है। रुधिरसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा, मज्जासे शुक्र, शुक्रसे राग (रंग या वर्ण) तथा ओजस् उत्पन्न होता है। चिकित्सकको चाहिये कि देश,काल, पीड़ा, बल, शक्ति, प्रकृति तथा भेषजके बलको समझकर तदनुकूल चिकित्सा करे। औषध प्रारम्भ करनेमें रिक्ता (४,९,१४) तिथि, भौमवार एवं मन्द, दारुण तथा उग्र नक्षत्रको त्याग देवे। विष्णु, गौ, ब्राह्मण, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवोंकी पूजा करके रोगीके उद्देश्यसे निम्नाङ्कित मन्त्रका उच्चारण करते हुए औषध प्रारम्भ करे—॥ ७—१२॥

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयश्चौषधीग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधैवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥

'ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, भूमि, चन्द्रमा, सूर्य, अनिल, अनल, ऋषि, ओषधिसमूह तथा भूतसमुदाय—ये तुम्हारी रक्षा करें। जैसे ऋषियोंके लिये रसायन, देवताओंके लिये अमृत तथा श्रेष्ठ नागोंके लिये सुधा ही उत्तम एवं गुणकारी है, उसी प्रकार यह औषध तुम्हारे लिये आरोग्यकारक एवं प्राणरक्षक हो'॥ १३-१४॥

देश—बहुत वृक्ष तथा अधिक जलवाला देश 'अनूप' कहलाता है। वह वात और कफ उत्पन्न करनेवाला होता है। जांगल देश 'अनूप' देशके गुण-प्रभावसे रहित होता है। थोड़े वृक्ष तथा थोड़े जलवाला देश 'साधारण' कहा जाता है। जांगल देश अधिक पित्त उत्पन्न करनेवाला तथा साधारण देश मध्यमपित्तका उत्पादक है॥ १५-१६॥

वात, पित्त, कफके लक्षण—वायु रूक्ष, शीत तथा चल है। पित्त उष्ण है तथा कटुत्रय (सोंठ, मिर्च, पीपली)पित्तकर हैं। कफ स्थिर, अम्ल, स्निग्ध तथा मधुर है। समान वस्तुओंके प्रयोगसे इनकी वृद्धि तथा असमान वस्तुओंके प्रयोगसे हानि होती है। मधुर, अम्ल एवं लवण रस कफकारक तथा वायुनाशक हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस वायुकी वृद्धि करते हैं तथा कफनाशक हैं। इसी तरह कटु, अम्ल तथा लवण रस पित्त बढ़ानेवाले हैं। तिक्त, स्वादु (मधुर) तथा कषाय रस पित्तनाशक होते हैं। यह गुण या प्रभाव रसका नहीं, उसके विपाकका माना गया है। उष्णवीर्य कफनाशक तथा शीतवीर्य पित्तनाशक होते हैं। सुश्रुत! ये सब प्रभावसे ही वैसा कार्य करते हैं॥ १७—२१॥

शिशिर, वसन्त तथा शरद्में क्रमशः कफके चय, प्रकोप तथा प्रशमन बताये गये हैं। अर्थात् कफका चय शिशिर-ऋतुमें, प्रकोप वसन्त-ऋतुमें तथा प्रशमन ग्रीष्म-ऋतुमें होता है। सुश्रुत! वायुका संचय ग्रीष्ममें, प्रकोप वर्षा तथा रात्रिमें और शमन शरद्में कहा गया है। इसी प्रकार पित्तका संचय वर्षामें, प्रकोप शरद्में तथा शमन हेमन्तमें कहा गया है। वर्षासे हेमन्तपर्यन्त (वर्षा, शरद्, हेमन्त—ये) तीन ऋतुएँ 'विसर्ग-काल' कही गयी हैं तथा शिशिरसे ग्रीष्मपर्यन्त तीन

ऋतुओंको (औषध लेनेके निमित्त) 'आदान (काल)' कहा गया है। विसर्ग-कालको 'सौम्य' और आदानकालको 'आग्नेय' कहा गया है। वर्षा आदि तीन ऋतुओंमें चलता हुआ चन्द्रमा ओषधियोंमें क्रमशः अम्ल, लवण तथा मधुर रसोंको उत्पन्न करता है। शिशिर आदि तीन ऋतुओंमें विचरता हुआ सूर्य क्रमशः तिक्त, कषाय तथा कटु रसोंको बढ़ाता है। रातें ज्यों-ज्यों बढ़ती हैं, त्यों-त्यों ओषधियोंका बल बढ़ता है॥ २२—२८॥

जैसे-जैसे रातें घटती हैं, वैसे-वैसे मनुष्योंका बल क्रमशः घटता है। रातमें, दिनमें तथा भोजनके बाद, आयुके आदि, मध्य और अवसान-कालमें कफ, पित्त एवं वायु प्रकुपित होते हैं। प्रकोपके आदिकालमें इनका संचय होता है तथा प्रकोपके बाद इनका शमन कहा गया है। विप्रवर! अधिक भोजन और अधिक उपवाससे तथा मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकनेसे सभी रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये पेटके दो भागोंको अन्नसे तथा एक भागको जलसे पूरा करे। अवशिष्ट एक भागको वायु आदिके संचरणके लिये रिक्त रखे। व्याधिका निदान तथा विपरीत औषध करना चाहिये, इन सबका सार यही है, जो मैंने बतलाया है॥ २९—३३ $\frac{1}{2}$॥

नाभिके ऊपर पित्तका स्थान है तथा नीचे श्रोणी एवं गुदाको वातका स्थान कहा गया है। तथापि ये सभी समस्त शरीरमें घूमते हैं। उनमें भी वायु विशेषरूपसे सम्पूर्ण शरीरमें संचरण करती है। (इस विषयका सुस्पष्ट वर्णन सुश्रुतमें इस प्रकार है—**दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः। तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः।** (सुश्रुत, सूत्र-स्थान अध्याय २१, सूत्र) 'इसके बाद दोषोंके स्थानोंका वर्णन करूँगा—उनमें संक्षेपसे (रहस्य यह है कि) वायुका स्थान श्रोणि एवं गुदा है, उसके ऊपर एवं नाभि (ग्रहणी)-के नीचे पक्वाशय है, पक्वाशय एवं आमाशयके मध्यमें पित्तका स्थान है। श्लेष्माका स्थान आमाशय है')॥ ३४-३५॥

देहके मध्यमें हृदय है, जो मनका स्थान है। जो स्वभावतः दुर्बल, थोड़े बालवाला, चञ्चल, अधिक बोलनेवाला तथा विषमानल है—जिसकी जठराग्नि कभी ठीकसे पाचनक्रिया करती है, कभी नहीं करती तथा जो स्वप्नमें आकाशमें उड़नेवाला है, वह वात प्रकृतिका मनुष्य है। समय (अवस्था)-से पूर्व ही जिसके बाल पकने—झरने लगे, जो क्रोधी हो, जिसे पसीना अधिक होता हो, जो मीठी वस्तुएँ खाना पसंद करता हो और स्वप्नमें अग्निको देखनेवाला हो, वह पित्त प्रकृतिका है। जो दृढ़ अङ्गोंवाला, स्थिरचित्त, सुन्दर, कान्तियुक्त, चिकने केश तथा स्वप्नमें स्वच्छ जलको देखनेवाला है, वह कफ प्रकृतिवाला मनुष्य कहा जाता है। इसी प्रकार तामस, राजस तथा सात्त्विक—तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं॥ ३६—३९॥

मुनिश्रेष्ठ! सभी मनुष्य वात, पित्त और कफवाले हैं। मैथुनसे और भारी काममें लगे रहनेसे रक्तपित्त होता है। कदन्नके भोजनसे तथा शोकसे वायु कुपित होती है। द्विजोत्तम! जलन पैदा करनेवाले पदार्थों तथा कटु, तिक्त, कषायरससे युक्त पदार्थोंके सेवनसे, मार्गमें चलनेसे तथा भयसे पित्त प्रकुपित होता है। अधिक जल पीनेवालों, भारी अन्न भोजन करनेवालों, खाकर तुरंत सो जानेवालों तथा आलसियोंका कफ प्रकुपित होता है। उत्पन्न हुए वातादि रोगोंको लक्षणोंसे जानकर उनका शमन करे॥ ४०—४३॥

अस्थिभङ्ग (हड्डियोंका टूटना या व्यथित होना), मुखका कसैला स्वाद होना, मुँह सूखना,

जँभाई आना तथा रोएँ खड़े हो जाना—ये वायुजनित रोगके लक्षण हैं। नाखून, आँखें एवं नस-नाड़ियोंका पीला हो जाना, मुखमें कड़ुवापन प्रतीत होना, प्यास लगना तथा शरीरमें दाह या गर्मी मालूम होना—ये पित्तव्याधिके लक्षण हैं॥ ४४-४५॥

आलस्य, प्रसेक (मुँहमें पानी आना), भारीपन, मुँहका मीठा होना, उष्णकी अभिलाषा (धूपमें या आगके पास बैठनेकी इच्छा होना या उष्णपदार्थोंको ही खानेकी कामना)—ये कफज व्याधिके लक्षण हैं। स्निग्ध और गरम-गरम भोजन करनेसे, तेलकी मालिशसे तथा तैल-पान आदिसे वातरोगका निवारण होता है। घी, दूध, मिश्री आदि एवं चन्द्रमाकी किरण आदि पित्तको दूर करता है। शहदके साथ त्रिफलाका तैल लेने तथा व्यायाम आदिसे कफका शमन होता है। सब रोगोंकी शान्तिके लिये भगवान् विष्णुका ध्यान एवं पूजन सर्वोत्तम औषध है॥ ४६—४८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सर्वरोगहर ओषधियोंका वर्णन' नामक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८०॥

दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय

रस आदिके लक्षण*

भगवान् धन्वन्तरिने कहा—सुश्रुत! अब मैं ओषधियोंके रस आदिके लक्षणों और गुणोंका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। जो ओषधियोंके रस, वीर्य और विपाकको जानता है, वही चिकित्सक राजा आदिकी रक्षा कर सकता है॥ १॥

महाबाहो! मधुर, अम्ल और लवण रस चन्द्रमासे उत्पन्न कहे गये हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस अग्निसे उत्पन्न माने गये हैं। द्रव्यका विपाक तीन प्रकारका होता है—कटु, अम्ल और लवणरूप। वीर्य दो प्रकारके कहे गये हैं—शीत और उष्ण। द्विजोत्तम! ओषधियोंका प्रभाव अकथनीय है। मधुर, तिक्त और कषायरस 'शीतवीर्य' कहे गये हैं एवं शेष रस 'उष्णवीर्य' माने गये हैं; किंतु गुडूची (गिलोय) तिक्तरसवाली होनेपर भी अत्यन्त वीर्यप्रद होनेसे उष्ण है॥ २—५॥

मानद! इसी प्रकार हरड़ कषायरससे युक्त होनेपर भी 'उष्णवीर्य' होती है तथा मांस (जटामांसी) मधुररससे युक्त होनेपर भी 'उष्णवीर्य' ही कहा गया है। लवण और मधुर—ये दोनों रस विपाकमें मधुर माने गये हैं। अम्लोष्णका विपाक भी मधुर होता है। शेष रस विपाकमें कटु हैं। इसमें संशय नहीं है कि विशेष वीर्ययुक्त द्रव्यके विपाकमें उसके प्रभावके कारण विपरीतता भी हो जाती है; क्योंकि शहद मधुर होनेपर भी विपाकमें कटु माना गया है॥ ६—८॥

द्रव्यसे सोलहगुना जल लेकर क्वाथ करे। प्रक्षिप्त द्रव्यसे चारगुना जल शेष रहनेपर (क्वाथको) छानकर पीवे। यह क्वाथके निर्माणकी विधि है। जहाँ क्वाथकी विधि न बतलायी गयी हो, वहाँ इसीको प्रमाण जानना चाहिये॥ ९॥

स्नेह (तैल या घृत) पाककी विधिमें स्नेहसे

* दो सौ इक्यासीवें अध्यायमें कथित 'रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभावका वर्णन' विस्तारपूर्वक 'सुश्रुतसंहिता' के सूत्रस्थानके ४० एवं ४२ वें अध्यायोंमें तथा 'चरकसंहिता' के सूत्रस्थानके २६ वें अध्यायमें है। तदनुसार ही यहाँका वर्णन है।

चौगुना[1] कषाय (क्वथित द्रव्य) अथवा बराबर-बराबर तैल एवं विभिन्न द्रव्योंके क्वाथ लेने चाहिये। तैलका परिपाक तब समझना चाहिये, जब कि उसमें डाली हुई ओषधियाँ उफनते हुए तैलमें गलकर ऐसी हो जायँ, कि उन्हें ठंढा करके यदि हाथपर रगड़ा जाय तो उनकी बत्ती-सी बन जाय। विशेष बात यह है कि उस बत्तीका सम्बन्ध अग्निसे किया जाय तो चिड़चिड़ाहटकी प्रतीति न हो, तब सिद्धतैल मानना चाहिये॥ १०-११ $\frac{१}{२}$ ॥

सुश्रुत! लेह्य (चाटनेयोग्य) औषधद्रव्योंमें भी इसीके समान प्रक्षेप आदि होते हैं। निर्मल तथा उचित औषध-प्रक्षेपद्वारा निर्मित क्वाथ उत्तम होता है (तथा उसका प्रयोग लेह्य आदिमें करना चाहिये)। चूर्णकी मात्रा एक अक्ष (तोला) और क्वाथकी मात्रा चार पल[2] है। यह मध्यम मात्रा (साधारण मात्रा) बतलायी गयी है। वैसे मात्राका परिमाण कोई निश्चित परिमाण नहीं है। महाभाग! रोगीकी अवस्था, बल, अग्नि, देश, काल, द्रव्य और रोगका विचार करके मात्राकी कल्पना होती है। उसमें सौम्य रसोंको प्राय: धातुवर्द्धक जानना चाहिये॥ १२—१५॥

मधुर रस तो विशेषतया शरीरके धातुओंकी वृद्धिके लिये जानना चाहिये। दोष, धातु और द्रव्य[3] समानगुणयुक्त होनेपर शरीरकी वृद्धि करते हैं और इसके विपरीत होनेपर क्षयकारक होते हैं। नरश्रेष्ठ! इस शरीरमें तीन प्रकारके उपस्तम्भ (खंभे) कहे गये हैं—आहार, मैथुन और निद्रा। मनुष्य इनके प्रति सदा सावधानी रखे। इनके पूर्णतया परित्याग या अत्यन्त सेवनसे शरीर क्षयको प्राप्त होता है। कृश शरीरका 'बृंहण' (पोषण), स्थूल शरीरका 'कर्षण' और मध्यम शरीरका 'रक्षण' करना चाहिये। ये शरीरके तीन भेद माने गये हैं। 'तर्पण' और 'अतर्पण'—इस प्रकार आहारादि उपक्रमोंके दो भेद होते हैं। मनुष्यको सदा 'हिताशी' होना चाहिये (हितकारी पदार्थोंको ही खाना चाहिये) और 'मिताशी' बनना चाहिये (परिमित भोजन करना चाहिये) तथा 'जीर्णाशी' होना चाहिये (पूर्वभुक्त अन्नका परिपाक हो जानेपर ही पुन: भोजन करना चाहिये)॥ १६—२०॥

नरश्रेष्ठ! ओषधियोंकी निर्माण-विधि पाँच प्रकारकी मानी गयी है—रस, कल्क, क्वाथ, शीतकषाय तथा फाण्ट। औषधोंको निचोड़नेसे 'रस' होता है, मन्थनसे 'कल्क' बनता है, औटानेसे 'क्वाथ' होता है, रात्रिभर रखनेसे 'शीत' और तत्काल जलमें कुछ गरम करके छान लेनेसे 'फाण्ट' होता है॥ २१-२२ $\frac{१}{२}$ ॥

१. २८१ अध्यायके १० वें श्लोकमें दो प्रकारकी युक्तियाँ मिल रही हैं—(१) तैल-निर्माणमें तैलसे चौगुना कषाय, (२) तैलके समान। इसमें संशयकी कोई बात नहीं है, यदि एक ही प्रकारका कषाय मिलाना हो तो चौगुना चाहिये एवं यदि अनेक प्रकारके कषायोंका सम्मिश्रण करना हो तो तैलके बराबर-बराबर भी ले सकते हैं, किंतु एक बात ध्यानमें रहे कि योगमें कषाय तैलसे चतुर्गुण अवश्य होना चाहिये।

२. कलिङ्गमानसे एक 'पल' चार तोलेका होता है।

३. २८१ वें अध्यायके १६-१७ श्लोकोंपर विमर्श—

(१) सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। (२) ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु। (३) तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्यय:।

उक्त तीनों सूत्र 'चरकसंहिता', सूत्र-स्थानके हैं। तथा—'अष्टाङ्ग-हृदय'कार लिखते हैं—'वृद्धि: समानै: सर्वेषां विपरीतैर्विपर्यय:।'

उक्त पङ्क्तियोंका निष्कर्ष यही है कि समान द्रव्य, गुण या कर्मवाली वस्तुओंसे समान गुण-धर्मवाले रस-रक्तादिकी वृद्धि होती है तथा विपरीतसे इनका ह्रास होता है।

(इस प्रकार) चिकित्साके एक सौ आठ साधन हैं। जो वैद्य उनको जानता है, वह अजेय होता है। अर्थात् वह चिकित्सामें कहीं असफल नहीं होता है। वह 'बाहुशौण्डिक' कहा जाता है। आहार-शुद्धि अग्निके संरक्षण, संवर्द्धन एवं संशुद्धि आदिके लिये आवश्यक है; क्योंकि मनुष्योंके बलका अग्नि ही मूल आधार है। बलके लिये सैन्धव लवणसे युक्त त्रिफला, कान्तिप्रद उत्तम पेय, जाङ्गल-रस, सैन्धवयुक्त दही और दुग्ध तथा पिप्पली (पीपल)-का सेवन करना चाहिये॥ २३—२५॥

मनुष्यको चाहिये कि जो रस (या धातु आदि) अधिक हो गये, अर्थात् बढ़ गये हैं, उन्हें सम करे—साम्यावस्थामें लावे। वातप्रधान प्रकृतिके मनुष्यको अपनी परिस्थितिके अनुसार ग्रीष्म-ऋतुमें अङ्गमर्दन करना चाहिये। शिशिर-ऋतुमें साधारण या अधिक, वसन्त-ऋतुमें मध्यम और ग्रीष्म-ऋतुमें विशेषरूपसे अङ्गोंका मर्दन करे। पहले त्वचाका, उसके बाद मर्दन करनेयोग्य अङ्गका मर्दन करे॥ २६-२७॥

स्नायु एवं रुधिरसे परिपूर्ण शरीरमें अस्थिसमूह अत्यन्त मांसल-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार कंधे, बाहु, जानुद्वय तथा जङ्घाद्वय भी मांसल प्रतीत होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य शत्रुके समान इनका मर्दन करे। जत्रु (हँसलीका भाग), वक्ष:स्थल (छाती) इन्हें पूर्ववत् साधारण प्रकारसे मले तथा समस्त अङ्ग-संधियोंको खूब मलकर उन्हें (अङ्ग-संधियोंको) फैला दे। किंतु उनका प्रसारण हठात् एवं क्रमविरुद्ध न करे। मनुष्य अजीर्णमें, भोजनोपरान्त और तत्काल जल पीकर परिश्रम न करे॥ २८—३०॥

दिनके चार भाग (प्रहर) होते हैं। प्रथम प्रहरार्धके व्यतीत हो जानेपर व्यायाम न करे। शीतल जलसे एक बार स्नान करे। उष्ण जल थकावटको दूर करता है। हृदयके श्वासको अवरुद्ध न करे। व्यायाम कफको नष्ट करता है तथा मर्दन वायुका नाश करता है। स्नान पित्ताधिक्यका शमन करता है। स्नानके पश्चात् धूपका सेवन प्रिय है। व्यायामका सेवन करनेवाले मनुष्य धूप और परिश्रमयुक्त कार्यको सहन करनेमें समर्थ होते हैं॥ ३१—३३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रसादि लक्षणोंका वर्णन' नामक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८१॥

दो सौ बयासीवाँ अध्याय

आयुर्वेदोक्त वृक्ष-विज्ञान

धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत! अब मैं वृक्षायुर्वेदका वर्णन करूँगा। क्रमश: गृहके उत्तर दिशामें प्लक्ष (पाकड़), पूर्वमें वट (बरगद), दक्षिणमें आम्र और पश्चिममें अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष मङ्गल माना गया है। घरके समीप दक्षिण दिशामें उत्पन्न हुए काँटेदार वृक्ष भी शुभ हैं। आवास-स्थानके आसपास उद्यानका निर्माण करे अथवा सब ओरका भाग पुष्पित तिलोंसे सुशोभित करे॥ १-२॥

ब्राह्मण और चन्द्रमाका पूजन करके वृक्षोंका आरोपण करे। वृक्षारोपणके लिये तीनों उत्तरा, स्वाती, हस्त, रोहिणी, श्रवण और मूल—ये नक्षत्र अत्यन्त प्रशस्त हैं। उद्यानमें पुष्करिणी (बावली)-का निर्माण करावे और उसमें नदीके प्रवाहका प्रवेश करावे। जलाशयारम्भके लिये हस्त, मघा, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, शतभिषा,

उत्तराषाढ़ा, उत्तरा-भाद्रपदा और उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र उपयुक्त हैं॥ ३—५॥

वरुण, विष्णु और इन्द्रका पूजन करके इस कर्मको आरम्भ करे। नीम, अशोक, पुन्नाग (नागकेसर), शिरीष, प्रियङ्गु, अशोक[1], कदली (केला), जम्बू (जामुन), वकुल (मौलसिरी) और अनार वृक्षोंका आरोपण करके ग्रीष्म-ऋतुमें प्रातःकाल और सायंकाल, शीत-ऋतुमें दिनके समय एवं वर्षा-ऋतुमें रात्रिके समय भूमिके सूख जानेपर वृक्षोंको सींचे। वृक्षोंके मध्यमें बीस हाथका अन्तर 'उत्तम', सोलह हाथका अन्तर 'मध्यम' और बारह हाथका अन्तर 'अधम' कहा गया है। बारह हाथ अन्तरवाले वृक्षोंको स्थानान्तरित कर देना चाहिये। घने वृक्ष फलहीन होते हैं। पहले उन्हें काट-छाँटकर शुद्ध करे॥ ६—९॥

फिर विडङ्ग, घृत और पङ्क-मिश्रित शीतल जलसे उनको सींचे। वृक्षोंके फलोंका नाश होनेपर कुलथी, उड़द, मूँग, जौ, तिल और घृतसे मिश्रित शीतल जलके द्वारा यदि सेचन किया जाय तो वृक्षोंमें सदा फलों एवं पुष्पोंकी वृद्धि होती है। भेड़ और बकरीकी विष्ठाका चूर्ण, जौका चूर्ण, तिल और जल—इनको एकत्र करके सात दिनतक एक स्थानपर रखे। उसके बाद इससे सींचना सभी वृक्षोंके फल और पुष्पोंको बढ़ानेवाला है॥ १०—१२॥

मछलीके जल (जिसमें मछली रहती हों)-से सींचनेपर वृक्षोंकी वृद्धि होती है। विडंगचावलके साथ यह जल वृक्षोंका दोहद (अभिलषित-पदार्थ) है। इसका सेचन साधारणतया सभी वृक्ष-रोगोंका विनाश करनेवाला है॥ १३-१४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वृक्षायुर्वेदका वर्णन' नामक दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८२॥

दो सौ तिरासीवाँ अध्याय

नाना रोगनाशक ओषधियोंका वर्णन

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं— अडूसा, मुलहठी या कचूर[2], दोनों प्रकारकी हल्दी और इन्द्रयव—इनका क्वाथ बालकोंके सभी प्रकारके अतिसारमें तथा स्तन्य (माताके दूधके) दोषोंमें प्रशस्त है। पीपल और अतीसके सहित काकड़ाशृंगीका अथवा केवल एक अतीसका चूर्ण करके बालकोंको मधुके साथ चटावे। इससे खाँसी, वमन और ज्वर नष्ट होता है। बालकोंको दुग्ध, घृत अथवा तैलके साथ वचका सेवन करावे अथवा मुलहठी और शङ्खपुष्पीको दूधके साथ बालक पिये। इससे बालकोंकी वाक्शक्ति एवं रूपसम्पत्तिके साथ-साथ आयु, बुद्धि और कान्तिकी भी वृद्धि होती है। वच, कलिहारी, अडूसा, सोंठ, पीपल, हल्दी, कूट, मुलहठी और सैन्धव—इनका चूर्ण बालकोंको प्रातःकाल पिलावे। इसका सेवन बुद्धिवर्द्धक है। देवदारु, बड़ा सहजन, त्रिफला और नागरमोथा—इनका

१. २८२ वें अध्यायमें ६-७ दोनों श्लोकोंमें अशोक वृक्षका नाम है, पुनरुक्ति-दोष नहीं है। कारण यह है कि अशोक 'श्वेत' तथा 'रक्त' दो प्रकारका होता है। दोनों भवनके पास प्रशस्त हैं।

२. प्रथम श्लोकमें 'सिंही शटी' तथा 'सिंही यष्टी' दोनों पाठ हैं, जो युक्तियुक्त हैं। 'शटी'का अर्थ 'कचूर' है तथा 'यष्टी'का अर्थ 'मुलहठी' है।

क्वाथ अथवा पीपल और मुनक्काका कल्क सभी प्रकारके कृमिरोगोंका नाशक है। शुद्ध राँगेको त्रिफला, भृङ्गराज तथा अदरखके रस या मधु-घृतमें अथवा भेड़के मूत्र या गोमूत्रमें अञ्जन करनेसे नेत्ररोगोंमें लाभ होता है। दूर्वारसका नस्य नाकसे बहनेवाले रक्तरोग (नाशा)-को शान्त करनेमें उत्तम है॥ १—७॥

लहसुन, अदरख और सहजनके रससे कानको भर देनेपर अथवा अदरखके रस या तैलसे कानको भर देनेपर वह कर्णशूलका नाशक तथा ओष्ठ-रोगोंको दूर करनेवाला होता है। जायफल, त्रिफला, व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल), गोमूत्र, हल्दी, गोदुग्ध तथा बड़ी हर्रेके कल्कसे सिद्ध किया हुआ तिलका तैल कवल (कुल्ला) करनेसे दन्तपीड़ाका नाशक है। काँजी, नारियलका जल, गोमूत्र, सुपारी तथा सोंठ—इनके क्वाथका कवल मुखमें रखनेसे जिह्वाके रोगका नाश होता है। कलिहारीके कल्क (पिसे हुए द्रव्य)-में निर्गुण्डीके रसके साथ सिद्ध किया हुआ तैलका नस्य लेने (नाकमें डालने)-से गण्डमाला और गलगण्डरोगका नाश होता है। सभी चर्मरोगोंको नष्ट करनेवाले आक, काटा, करञ्ज, थूहर, अमलतास और चमेलीके पत्तोंको गोमूत्रके साथ पीसकर उबटन लगाना चाहिये। वाकुचीको तिलोंके साथ एक वर्षतक खाया जाय तो वह सालभरमें कुष्ठरोगका नाश कर देती है। हर्रे, भिलावा, तैल, गुड़ और पिण्डखजूर—ये कुष्ठनाशक औषध हैं। पाठा, चित्रक, हल्दी, त्रिफला और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल)—इनका चूर्ण तक्रके साथ पीनेसे अथवा गुड़के साथ हरीतकी खानेसे अर्शरोगका नाश होता है। प्रमेह-रोगीको त्रिफला, दारुहल्दी, बड़ी इन्द्रायण और नागरमोथा—इनका क्वाथ या आँवलेका रस हल्दी, कल्क और मधुके साथ पीना चाहिये। अडूसेकी जड़ गिलोय और अमलतासके क्वाथमें शुद्ध एरण्डका तेल मिलाकर पीनेसे वातरक्तका नाश होता है और पिप्पली प्लीहारोगको नष्ट करती है॥ ८—१६॥

पेटके रोगीको थूहरके दूधमें अनेक बार भावना दी हुई पिप्पलीका सेवन करना चाहिये। चित्रक, विडङ्ग तथा त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल)-के कल्कसे सिद्ध दूध अरुचिरोगका निवारण करता है। पीपलामूल, वच, हर्रे, पीपल और विडङ्गको घीमें मिलाकर रखे। (उसके सेवनसे) या केवल तक्रके एक मासतक सेवनसे ग्रहणी, अर्श, पाण्डु, गुल्म और कृमिरोगोंका नाश होता है। त्रिफला, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता—इनका क्वाथ शहदके साथ पीनेसे कामलासहित पाण्डुरोगका नाश होता है। अडूसेके रसको मिश्री और शहद मिलाकर पीनेसे या शतावरी, दाख, खरेटी और सोंठ—इनसे सिद्ध किया हुआ दूध पीनेसे रक्त-पित्तरोगका नाश होता है। क्षयरोगके रोगीको शतावरी, विदारीकंद, बड़ी हर्रे, तीनों खरेटी, असगन्ध, गदहपूर्ना तथा गोखरूके चूर्णको शहद और घीके साथ चाटना चाहिये॥ १७—२१॥

हर्रे, सहजन, करञ्ज, आक, दालचीनी, पुनर्नवा, सोंठ और सैन्धव—इनका गोमूत्रके साथ योग करके लेप किया जाय तो यह विद्रधिकी गाँठको पकानेके लिये उत्तम उपाय है। निशोथ, जीवन्ती, दन्तीमूल, मञ्जिष्ठा, दोनों हल्दी, रसाञ्जन और नीमके पत्तेका लेप भगन्दरमें श्रेष्ठ है। अमलतास, हरिद्रा, लाक्षा और अडूसा—इनके चूर्णको गोघृत और शहदके साथ बत्ती बनाकर नासूरमें देवे। इससे नासूरका शोधन होकर घाव भर जाता है। पिप्पली, मुलहठी, हल्दी, लोध, पद्मकाष्ठ, कमल, लालचन्दन एवं मिर्च—इनके साथ गोदुग्धमें सिद्ध किया हुआ

तैल घावको भरता है। श्रीताड़, कपासकी पत्तियोंकी भस्म, त्रिफला, गोलमिर्च, खरेटी और हल्दी—इनका गोला बनाकर घावका स्वेदन करे और इन ओषधियोंके तेलको घावपर लगाये। दूधके साथ कुम्भीसार* (गुग्गुलसार)-को आगपर जलाकर व्रणपर लेप करे। (अथवा गुग्गुलसारको दूधमें मिलाकर आगसे जले हुए व्रणपर लेप करे।) अथवा जलकुम्भीको जलाकर दूधमें मिलाकर लगानेसे सभी प्रकारके व्रण ठीक होते हैं। इसी प्रकार नारियलके जड़की मिट्टीमें घृत मिलाकर सेक करनेसे व्रणका नाश होता है॥ २२—२७॥

सोंठ, अजमोद, सेंधानमक, इमलीकी छाल—इन सबके समान भाग हर्रेको तक्र या गरम जलके साथ पीनेसे अतिसारका नाश होता है। इन्द्रयव, अतीस, सोंठ, बेलगिरि और नागरमोथाका क्राथ आमसहित जीर्ण अतिसारमें और शूलसहित रक्तातिसारमें भी पिलाना चाहिये। ठंडे थूहरमें सेंधानमक भरकर आगमें जला ले। फिर यथोचित मात्रामें उदरशूलवालेको गरम जलके साथ दे। अथवा सेंधानमक, हींग, पीपल, हर्रे—इनका गरम जलके साथ सेवन करावे॥ २८—३०॥

वरकी वरोह, कमल और धानकी खीलका चूर्ण—इनको शहदमें भिगोकर, कपड़ेमें पोटली बनाकर, मुखमें रखकर उसे चूसे तो इससे प्यास दूर होती है। अथवा कुटकी, पीपल, मीठा कूट एवं धानका लावा मधुके साथ मिलाकर, पोटलीमें रखकर मुँहमें रखे और चूसे तो प्यास दूर हो जाती है। पाठा, दारुहल्दी, चमेलीके पत्र, मुनक्काकी जड़ और त्रिफला—इनका क्राथ बनाकर उसमें शहद मिला दे। इसको मुखमें धारण करनेसे मुखपाक-रोग नष्ट होता है। पीपल, अतीस, कुटकी, इन्द्रयव, देवदारु, पाठा और नागरमोथा—इनका गोमूत्रमें बना क्राथ मधुके साथ लेनेपर सब प्रकारके कण्ठरोगोंका नाश होता है। हर्रे, गोखरू, जवासा, अमलतास एवं पाषाण-भेद—इनके क्राथमें शहद मिलाकर पीनेसे मूत्रकृच्छ्रका कष्ट दूर होता है। बाँसका छिल्का और वरुणकी छालका क्राथ शर्करा और अश्मरी-रोगका विनाश करता है। श्लीपद-रोगसे युक्त मनुष्य शाखोटक (सिंहोर)-की छालका क्राथ मधु और दुग्धके साथ पान करे। उड़द, मदारकी पत्ती तथा दूध, तैल, मोम एवं सैंधव लवण—इनका योग पादरोगनाशक है। सोंठ, काला नमक और हींग—इनका चूर्ण या सोंठके रसके साथ सिद्ध किया घी अथवा इनका क्राथ पीनेसे मलबन्ध-दोष और तत्सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं। गुल्मरोगी सर्जक्षार, चित्रक, हींग और अजमोद—इनके रसके साथ या विडंग एवं चित्रकके साथ तक्रपान करे। आँवला, परवल और मूँग—इनके क्राथका घृतके साथ सेवन विसर्परोगका अपहरण करनेवाला है। अथवा सोंठ, देवदारु और पुनर्नवा या बंशलोचन—इनका दुग्धयुक्त क्राथ उपकारक है। गोमूत्रके साथ सोंठ, मिर्च, पीपल, लोहचूर, यवक्षार तथा त्रिफलाका क्राथ शोथ (सूजन)-को शान्त करता है। गुड़, सहिजन एवं निशोथ, सैंधव

* दो सौ तिरासीवें अध्यायके २७ वें श्लोकमें दो प्रकारके पाठ सम्भव तथा युक्तियुक्त हैं—(१) कुम्भीसारं पयोयुक्तं वह्निदग्धव्रणे लिपेत्। (२) कुम्भीसारं पयोयुक्तं वह्निदग्धे व्रणे लिपेत्। यहाँ 'कुम्भीसार' पदका अर्थ है—गुग्गुलका सार; क्योंकि 'वाचस्पत्यम्' कोषमें औषधवर्गमें 'कुम्भी'से गुग्गुलका ग्रहण किया जाता है तथा 'कुम्भं त्रिवृति गुग्गुलौ'—यह 'विश्वप्रकाश'में भी मिलता है। मेरे गुरुदेव प्रातःस्मरणीय श्रीसत्यनारायण शास्त्रीजी अग्निदग्धमें इस प्रकारका लेप बतलाया करते थे—राल, चूनेका पानी, तीसीका तेल, धवका फूल—इनसे एक प्रकारका मलहम बनाकर अग्निदग्धपर लेप किया जाय तो दाहप्रशमनके साथ-साथ आगे सफेद दाग होनेका भी भय नहीं रहता तथा अग्निदाहका दिखायी देना भी बंद हो जाता है।

लवण—इनका चूर्ण (या क्वाथ) भी शोथको शान्त करता है॥ ३१—४०॥

निशोथ एवं गुड़के साथ त्रिफलाका क्वाथ विरेचन करनेवाला है। वच और मैनफलके क्वाथका जल वमनकारक होता है। भृङ्गराजके रसमें भावित त्रिफला सौ पल, बायविडंग और लोहचूर दस भाग एवं शतावरी, गिलोय और चिचक पचीस पल ग्रहण करके उसका चूर्ण बना ले। उस चूर्णको मधु, घृत और तेलके साथ चाटनेसे मनुष्य वली और पलितसे रहित होता है। अर्थात् उसके मुँहपर झुर्रियाँ नहीं होतीं और बाल नहीं पकते। इसके सिवा वह सम्पूर्ण रोगोंसे मुक्त होकर सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। मधु और शर्कराके साथ त्रिफलाका सेवन सर्वरोगनाशक है। त्रिफला और पीपलका मिश्री, मधु और घृतके साथ भक्षण करनेपर भी पूर्वोक्त सभी फल या लाभ प्राप्त होते हैं। हर्रे, चित्रक, सोंठ, गिलोय और मुसलीका चूर्ण गुड़के साथ खानेपर रोगोंका नाश होता है और तीन सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त होती है। जपा-पुष्पको थोड़ा मसलकर जलमें मिला ले। उस चूर्णजलको थोड़ी-सी मात्रामें तेलमें मिला देनेपर तैल घृताकार हो जाता है। जलगोह* (बिल्ली)-की जरायु (गर्भकी झिल्ली)-की धूप देनेसे चित्र दिखलायी नहीं देता। फिर शहदकी धूप देनेसे पूर्ववत् दिखायी देने लगता है। पाड़रकी जड़, कपूर, जोंक और मेढकका तेल—इनको पीसकर दोनों पैरोंमें लगाकर मनुष्य जलते हुए अङ्गारोंपर चल सकता है। तृणोत्थापन (तृणोंको आगमें ऊपर फेंकता-उछालता हुआ) आश्चर्यजनक खेल दिखलाता हुआ चल सकता है। विषोंका रोकना (अथवा विष एवं ग्रह-निवारण), रोगका नाश एवं तुच्छ क्रीड़ाएँ कामनापरक हैं। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों सिद्धियोंके देनेवाले कर्मोंको मैंने तुम्हें बतलाया है, जो छः कर्मोंसे युक्त हैं। मन्त्र, ध्यान, औषध, कथा, मुद्रा और यज्ञ—ये छः जहाँ मुष्टि (भुजाके रूपसे सहायक) हैं, वह कार्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चतुर्वर्ग फलको देनेवाला कर्म बताया गया। इसे जो पढ़ेगा वह स्वर्गमें जायगा॥ ४१—५१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नानारोगहारी ओषधियोंका वर्णन' नामक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८३॥

दो सौ चौरासीवाँ अध्याय

मन्त्ररूप औषधोंका कथन

धन्वन्तरिजी कहते हैं—सुश्रुत! 'ओंकार' आदि मन्त्र आयु देनेवाले तथा सब रोगोंको दूर करके आरोग्य प्रदान करनेवाले हैं। इतना ही नहीं, देह छूटनेके पश्चात् वे स्वर्गकी भी प्राप्ति करानेवाले हैं। 'ओंकार' सबसे उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य अमर हो जाता है—आत्माके अमरत्वका बोध प्राप्त करता है, अथवा देवतारूप हो जाता है। गायत्री भी उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य भोग और मोक्षका भागी होता है। '**ॐ नमो नारायणाय।**'—यह अष्टाक्षर-मन्त्र समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है। '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।**'—यह द्वादशाक्षर-मन्त्र सब कुछ देनेवाला है। '**ॐ हूं विष्णवे नमः।**'—यह मन्त्र उत्तम औषध है। इस मन्त्रका जप करनेसे देवता और असुर श्रीसम्पन्न तथा नीरोग

* 'श्रोतुर्विडालो मार्जारो वृषदंशक आखुभाक्।' (अमरकोष, सिंहादिवर्ग)

हो गये। जगत्‌के समस्त प्राणियोंका उपकार तथा धर्माचरण—यह महान् औषध है। '**धर्मः, सद्धर्मकृत्, धर्मी**'—इन धर्म-सम्बन्धी नामोंके जपसे मनुष्य निर्मल (शुद्ध) हो जाता है। **श्रीदः, श्रीशः, श्रीनिवासः, श्रीधरः, श्रीनिकेतनः, श्रियःपतिः** तथा **श्रीपरमः**'—इन श्रीपति-सम्बन्धी नामात्मक मन्त्रपदोंके जपसे मनुष्य लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति)-को पा लेता है॥ १—५½॥

'**कामी, कामप्रदः, कामः, कामपालः, हरिः, आनन्दः, माधवः**'—श्रीहरिके इन नाम-मन्त्रोंके जप और कीर्तनसे समस्त कामनाओंकी पूर्ति हो जाती है। '**रामः, परशुरामः, नृसिंहः, विष्णुः, त्रिविक्रमः**'—ये श्रीहरिके नाम युद्धमें विजयकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंको जपने चाहिये। नित्य विद्याभ्यास करनेवाले छात्रोंको सदा '**श्रीपुरुषोत्तम**' नामका जप करना चाहिये। '**दामोदरः**' नाम बन्धन दूर करनेवाला है। '**पुष्कराक्षः**'—यह नाम-मन्त्र नेत्र-रोगोंका निवारण करनेवाला है। '**हृषीकेशः**'—इस नामका स्मरण भयहारी है। औषध देते और लेते समय इन सब नामोंका जप करना चाहिये॥ ६—९॥

औषधकर्ममें '**अच्युत**'—इस अमृत-मन्त्रका भी जप करे। संग्राममें '**अपराजित**' का तथा जलसे पार होते समय '**श्रीनृसिंह**' का स्मरण करे। जो पूर्वादि दिशाओंकी यात्रामें क्षेत्रकी कामना रखनेवाला हो, वह क्रमशः 'चक्री', 'गदी', 'शार्ङ्गी' और 'खड्गी' का चिन्तन करे। व्यवहारोंमें (मुकदमोंमें) भक्ति-भावसे '**सर्वेश्वर अजित**' का स्मरण करे। '**नारायण**' का स्मरण हर समय करना चाहिये। भगवान् '**नृसिंह**' को याद किया जाय तो वे सम्पूर्ण भीतियोंको भगानेवाले हैं। '**गरुडध्वजः**'—यह नाम विषका हरण करनेवाला है। '**वासुदेव**' नामका तो सदा ही जप करना चाहिये। धान्य आदिको घरमें रखते समय तथा शयन करते समय भी '**अनन्त**' और '**अच्युत**' का उच्चारण करे। दुःस्वप्न दीखनेपर '**नारायण**' का तथा दाह आदिके अवसरपर '**जलशायी**' का स्मरण करे। विद्यार्थी '**हयग्रीव**' का चिन्तन करे। पुत्रकी प्राप्तिके लिये '**जगत्सूति** (जगत्-स्रष्टा)'-का तथा शौर्यकी कामना हो तो '**श्रीबलभद्र**' का स्मरण करे। इनमेंसे प्रत्येक नाम अभीष्ट मनोरथको सिद्ध करनेवाला है॥ १०—१४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मन्त्ररूप औषधका कथन' नामक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८४॥

दो सौ पचासीवाँ अध्याय

मृतसंजीवनकारक सिद्ध योगोंका कथन

धन्वन्तरि कहते हैं—सुश्रुत! अब मैं आत्रेयके द्वारा वर्णित मृतसंजीवनकारक दिव्य सिद्ध योगोंको कहता हूँ, जो सम्पूर्ण व्याधियोंका विनाश करनेवाले हैं॥ १॥

आत्रेयने कहा—वातज्वरमें बिल्वादि पञ्चमूल—बेल, सोनापाठा, गम्भार, पाटल एवं अरणीका काढ़ा दे और पाचनके लिये पिप्पलीमूल, गिलोय और सोंठ—इनका क्वाथ दे। आँवला, अभया (बड़ी हर्रे), पीपल एवं चित्रक—यह आमलक्यादि क्वाथ सब प्रकारके ज्वरोंका नाश करनेवाला है। बिल्वमूल, अरणी, सोनापाठा, गम्भारी, पाटल, शालपर्णी, गोखरू, पृष्टपर्णी, बृहती (बड़ी कटेर) और कण्टकारिका (छोटी कटेर)—ये दशमूल कहे गये हैं। इनका क्वाथ

तथा कुशके मूलका क्वाथ ज्वर, अपाचन, पार्श्वशूल और कास (खाँसी)-का नाश करनेवाला है। गिलोय, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, चिरायता और सोंठ—यह 'पञ्चभद्र क्वाथ' वात और पित्तज्वरमें देना चाहिये॥ २—५॥

निशोथ, विशाला (इन्द्रवारुणी), कुटकी, त्रिफला और अमलतास—इनका क्वाथ यवक्षार मिलाकर पिलावे। यह विरेचक और सम्पूर्ण ज्वरोंको शान्त करनेवाला है। देवदारु, खरेटी, अडूसा, त्रिफला और व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीपल), पद्मकाष्ठ, वायविडङ्ग और मिश्री—इन सबका समान भाग चूर्ण पाँच प्रकारके कास-रोगोंका मर्दन करता है। रोगी मनुष्य हृदयरोग, ग्रहणी, पार्श्वरोग, हिक्का, श्वास और कासरोगके विनाशके लिये दशमूल, कचूर, रास्ना, पीपल, बिल्व, पोकरमूल, काकड़ासिंगी, भुईं आँवला, भार्गी, गिलोय और पान—इनसे विधिवत् सिद्ध किया हुआ क्वाथ या यवागूका पान करे। मुलहठी (चूर्ण)-के साथ मधु, शर्कराके साथ पीपल, गुड़के साथ नागर (सोंठ) और तीनों लवण (सेंधानमक, विड्नमक और कालानमक)—ये हिक्का (हिचकी)-का नाश करनेवाले हैं। कारवी अजाजी (कालाजीरा, सफेदजीरा), काली मिर्च, मुनक्का, वृक्षाम्ल (इमली), अनारदाना, कालानमक और गुड़—इन सबके समानभागसे तैयार चूर्णका शहदके साथ निर्मित 'कारव्यादि बटी' सब प्रकारके अरुचिरोगोंका नाश करती है। अदरखके रसके साथ मधु मिलाकर रोगीको पिलाये। इससे अरुचि, श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम) और कफविकारोंका नाश होता है॥ ६—१२॥

वट—वटाङ्कुर, काकड़ासिंगी, शिलाजीत, लोध, अनारदाना और मुलहठी—इनका चूर्ण बनाकर उस चूर्णके समान मात्रामें मिश्री मिला मधुके साथ अवलेह (चटनी)-का निर्माण करे। इस 'वटशुङ्गादि'के अवलेहको चावलके पानीके साथ लिया जाय तो उससे प्यास और छर्दि (वमन)-का प्रशमन होता है। गिलोय, अडूसा, लोध और पीपल—इनका चूर्ण शहदके साथ कफयुक्त रक्त, प्यास, खाँसी एवं ज्वरको नष्ट करनेवाला है। इसी प्रकार समभाग मधुसे मिश्रित अडूसेका रस और ताम्रभस्म कासको नष्ट करता है। शिरीषपुष्पके स्वरसमें भावित सफेद मिर्चका चूर्ण कासमें (तथा सर्पविषमें) हितकर है। मसूर सभी प्रकारकी वेदनाको नष्ट करनेवाला है तथा चौंराईका साग पित्तदोषको दूर करनेवाला है। मेउड़, शारिवा, सेरुकी एवं अङ्कोल—ये विषनाशक औषध हैं। सोंठ, गिलोय, छोटी कटेरी, पोकरमूल, पीपलामूल और पीपल—इनका क्वाथ मूर्छा और मदात्यय रोगमें लेना चाहिये। हींग, कालानमक एवं व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल)—ये सब दो-दो पल लेकर चार सेर घृत और घृतसे चौगुने गोमूत्रमें सिद्ध करनेपर उन्मादका नाश करते हैं। शङ्खपुष्पी, वच और मीठा कूटसे सिद्ध ब्राह्मी रसको मिलाकर इन सबकी गुटिका बना ले तो वह पुराने उन्माद और अपस्मार रोगका नाश करती है और उत्तम मेधावर्धक औषध है। हर्रेके साथ पञ्चगव्य या घृतका प्रयोग कुष्ठनाशक है। परवलकी पत्ती, त्रिफला, नीमकी छाल, गिलोय, पृश्निपर्णी, अडूसेके पत्ते तथा करञ्ज—इनसे सिद्ध किया घृत कुष्ठरोगका मर्दन करता है। इसे 'वज्रक' कहते हैं। नीमकी छाल, परवल, कण्टकारि-पञ्चाङ्ग, गिलोय और अडूसा—सबको दस-दस पल लेकर भलीभाँति कूट ले। फिर सोलह सेर जलमें क्वाथ बनाकर उसमें सेरभर घृत और (बीस तोले) त्रिफला-चूर्णका कल्क बनाकर डाल दे और चतुर्थांश शेष रहनेतक पकाये। यह 'पञ्चतिक्त घृत' कुष्ठनाशक है। यह अस्सी

प्रकारके वातरोग, चालीस प्रकारके पित्तरोग और बीस प्रकारके कफरोग, खाँसी, पीनस (बिगड़ी जुकाम), बवासीर और व्रणरोगोंका नाश करता है। जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार यह योगराज नि:संदेह अन्य रोगोंका भी विनाश कर देता है॥ १३—२४ $\frac{१}{२}$ ॥

उपदंशकी शान्तिके लिये त्रिफलाके क्वाथ या भृङ्गराजके रससे व्रणोंका प्रक्षालन करे (धोये)। परवलकी पत्तीके चूर्णके साथ अनारकी छालका चूर्ण अथवा गजपीपर या त्रिफलाका चूर्ण पाउडरके रूपमें ही उसपर छोड़े। त्रिफला, लोहचूर्ण, मुलहठी, आर्कव (कुकुरमाँगरा), नील कमल, कालीमिर्च और सैन्धव-नमकसहित पकाये हुए तैलके मर्दनसे वमनकी शान्ति होती है। दुग्ध, मार्कव-रस, मुलहठी और नील कमल —इनको दो सेर लेकर तबतक पकाये, जबतक एक पाव तैल शेष रह जाय। इस तैलका नस्य (वृद्धावस्थाके चिह्न) पलित (बाल पकने)-का नाशक है। नीमकी छाल, परवलकी पत्ती, त्रिफला, गिलोय, खैरकी छाल, अडूसा अथवा चिरायता, पाठा, त्रिफला और लाल चन्दन—ये दोनों योग ज्वरको नष्ट करते हैं तथा कुष्ठ, फोड़ा-फुन्सी, चकत्ते आदिको भी मिटा देते हैं। परवलकी पत्ती, गिलोय, चिरायता, अडूसा, मजीठ एवं पित्तपापड़ा—इनके क्वाथमें खदिर मिलाकर लिया जाय तो वह ज्वर तथा विस्फोटक रोगोंको शान्त करता है॥ २५—३१ ॥

दशमूल, गिलोय, हर्रे, दारुहल्दी, गदहपूर्णा, सहजना एवं सोंठ ज्वर, विद्रधि तथा शोथ-रोगोंमें हितकर है। महुवा और नीमकी पत्तीका लेप व्रणशोधक होता है। त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेरा), खैर (कत्था), दारुहल्दी, बरगदकी छाल, बरियार, कुशा, नीमके पत्ते तथा मूलीके पत्ते—इनका क्वाथ शरीरके बाह्य-शोधनके लिये हितकर है। करञ्ज, नीम तथा मेउड़का रस घावके कृमियोंको नष्ट करता है। धायका फूल, सफेद चन्दन, खरेटी, मजीठ, मुलहठी, कमल, देवदारु तथा मेदाका घृतसहित लेप व्रणरोपण (घावको भरनेवाला) है। गुग्गुल, त्रिफला, पीपल, सोंठ, मिर्च, पीपर—इनका समान भाग ले और इन सबके समान घृत मिलाकर प्रयोग करे। इस प्रयोगसे मनुष्य नाड़ीव्रण, दुष्टव्रण, शूल और भगन्दर आदि रोगोंको दूर करे। गोमूत्रमें भिगोकर शुद्ध की हुई हरीतकी (छोटी हर्रे)-को (रेडीके) तेलमें भूनकर सेंधा नमकके साथ प्रतिदिन प्रात:काल सेवन करे। ऐसी हरीतकी कफ और वातसे होनेवाले रोगोंको नष्ट करती है। सोंठ, मिर्च, पीपल और त्रिफलाका क्वाथ यवक्षार और लवण मिलाकर पीये। कफप्रधान और वातप्रधान प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये यह विरेचन है और कफवृद्धिको दूर करता है। पीपल, पीपलामूल, वच, चित्रक, सोंठ—इनका क्वाथ अथवा किसी प्रकारका पेय बनाकर पीये। यह आमवातका नाशक है। रास्ना, गिलोय, रेंड़की छाल, देवदारु और सोंठ—इनका क्वाथ सर्वाङ्ग-वात तथा संधि, अस्थि और मज्जागत आमवातमें पीना चाहिये। अथवा सोंठके जलके साथ दशमूल-क्वाथ पीना चाहिये। सोंठ एवं गोखरूका क्वाथ प्रतिदिन प्रात:-प्रात: सेवन किया जाय तो वह आमवातके सहित कटिशूल और पाण्डुरोगका नाश करता है। शाखा एवं पत्रसहित प्रसारिणी (छुईमुई)-का तैल भी उक्त रोगमें लाभकर है। गिलोयका स्वरस, कल्क, चूर्ण या क्वाथ दीर्घकालतक सेवन करके रोगी वातरक्त-रोगसे छुटकारा पा जाता है। वर्धमान पिप्पली या गुड़के साथ हर्रेका सेवन करना चाहिये। (यह भी वात-रक्तनाशक है।)

पटोलपत्र, त्रिफला, राई, कुटकी और गिलोय—इनका पाक तैयार करके उसके सेवनसे दाहयुक्त वात-रक्तरोग शीघ्र नष्ट होता है। गुग्गुलको ठंढे-गरमजलसे और त्रिफलाको समशीतोष्ण जलसे, अथवा खरेटी, पुनर्नवा, एरण्डमूल, दोनों कटेरी, गोखरूका क्राथ हींग तथा लवणके साथ लेनेपर वह वातजनित पीड़ाको शीघ्र ही दूर कर देता है। एक तोला पीपलामूल, सैन्धव, सौवर्चल, विड्, सामुद्र एवं औद्भिद—पाँचों नमक, पिप्पली, चित्ता, सोंठ, त्रिफला, निशोथ, वच, यवक्षार, सर्जक्षार, शीतला, दन्ती, स्वर्णक्षीरी (सत्यनाशी) और काकड़ासिंगी—इनकी बेरके समान गुटिका बनाये और काँजीके साथ उसका सेवन करे। शोथ तथा उससे हुए पाकमें भी इसका सेवन करे। उदरवृद्धिमें भी निशोथका प्रयोग विहित है। दारुहल्दी, पुनर्नवा तथा सोंठ—इनसे सिद्ध किया हुआ दुग्ध शोथनाशक है तथा मदार, गदहपूर्ना एवं चिरायताके क्राथसे सेक (करनेपर) शोथका हरण होता है॥ ३२—५१॥

जो मनुष्य त्रिकटुयुक्त घृतको तिगुने पलाशभस्म-युक्त जलमें सिद्ध करके पीता है, उसका अर्शरोग निस्संदेह नष्ट हो जाता है। फूल प्रियङ्गु, कमल, सँभालू, वायविडङ्ग, चित्रक, सैन्धवलवण, रास्ना, दुग्ध, देवदारु और वचसे सिद्ध चौगुना कटुद्रव्ययुक्त तैल मर्दन करनेसे (या जलके साथ ही पीसकर लेप करनेसे) गलगण्ड और गण्डमाल-रोगोंका नाश हो जाता है॥ ५२—५४॥

कचूर, नागकेसर, कुमुदका पकाया हुआ क्राथ तथा क्षीरविदारी, पीपल और अडूसाका कल्क दूधके साथ पकाकर लेनेसे क्षयरोगमें लाभ होता है॥ ५५॥

वचा, विड्लवण, अभया (बड़ी हर्रे), सोंठ, हींग, कूठ, चित्रक और अजवाइन—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच और चार भाग ग्रहण करके चूर्ण बनावे। वह चूर्ण गुल्मरोग, उदररोग, शूल और कासरोगको दूर करता है। पाठा, दन्तीमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल), त्रिफला और चित्ता—इनका चूर्ण गोमूत्रके साथ पीसकर गुटिका बना ले। यह गुटिका गुल्म और प्लीहा आदिका नाश करनेवाली है। अडूसा, नीम और परवलके पत्तोंके चूर्णका त्रिफलाके साथ सेवन करनेपर वात-पित्त रोगोंका शमन होता है। वायविडङ्गका चूर्ण शहदके साथ लिया जाय तो वह कृमिनाशक है। विडङ्ग, सेंधानमक, यवक्षार एवं गोमूत्रके साथ ली गयी हर्रे भी (कृमिघ्न है)। शल्लकी (शालविशेष), बेर, जामुन, प्रियाल, आम्र और अर्जुन—इन वृक्षोंकी छालका चूर्ण मधुमें मिलाकर दूधके साथ लेनेसे रक्तातिसार दूर होता है। कच्चे बेलका सूखा गूदा, आमकी छाल, धायका फूल, पाठा, सोंठ और मोचरस (कदली स्वरस)—इन सबका समान भाग लेकर चूर्ण बना ले और गुड़मिश्रित तक्रके साथ पीये। इससे दुस्साध्य अतिसारका भी अवरोध हो जाता है। चाँगेरी, बेर, दहीका पानी, सोंठ और यवक्षार—इनका घृतसहित क्राथ पीनेसे गुदभ्रंश रोग दूर होता है। वायबिडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा तथा इन्द्रयव—इनके क्राथमें मिर्चका चूर्ण मिलाकर पीनेसे शोथयुक्त अतिसारका नाश होता है॥ ५६—६३॥

शर्करा, सैन्धव और सोंठके साथ अथवा पीपल, मधु एवं गुड़के सहित प्रतिदिन दो हर्रेका भक्षण करे तो इससे मनुष्य सौ वर्ष (अधिक काल)-तक सुखपूर्वक जीवित रह सकता है। पिप्पलीयुक्त त्रिफला भी मधु और घृतके साथ प्रयोगमें लायी जानेपर वैसा ही फल देती है। आँवलेके स्वरससे भावित आँवलेके चूर्णको

मधु, घृत तथा शर्कराके साथ चाटकर दुग्धपान करे। इससे मनुष्य स्त्रियोंका (प्रिय) प्रभु बन सकता है। उड़द, पीपल, अगहनीका चावल, जौ और गेहूँ—इन सबका चूर्ण समान मात्रामें लेकर घृतमें उसकी पूरी बना ले। उसका भोजन करके शर्करायुक्त मधुर दुग्धपान करे। निस्संदेह इस प्रयोगसे मनुष्य गौरैया पक्षीके समान दस बार स्त्री-सम्भोग करनेमें समर्थ हो सकता है। मजीठ, धायके फूल, लोध, नीलकमल—इनको दूधके साथ देना चाहिये। यह स्त्रियोंके प्रदररोगको दूर करता है। पीली कटसरैया, मुलहठी और श्वेतचन्दन—ये भी प्रदररोगनाशक हैं। श्वेतकमल और नीलकमलकी जड़ तथा मुलहठी, शर्करा और तिल—इनका चूर्ण गर्भपातकी आशङ्का होनेपर गर्भको स्थिर करनेमें उत्तम योग है। देवदारु, अभ्रक, कूठ, खस और सोंठ—इनको काँजीमें पीसकर तैल मिलाकर लेप करनेसे शिरोरोगका नाश करता है। सैन्धव-लवणको तैलमें सिद्ध करके छान ले। जब तैल थोड़ा गरम रह जाय तो उसको कानमें डालनेसे कर्णशूलका शमन होता है। लहसुन, अदरख, सहजन और केला—इनमेंसे प्रत्येकका रस (कर्णशूलहारी है।) बरियार, शतावरी, रास्ना, गिलोय, कटसरैया और त्रिफला—इनसे सिद्ध घृतका या इनके सहित घृतका पान तिमिररोगका नाश करनेमें परम उत्तम माना गया है। त्रिफला, त्रिकटु एवं सैन्धवलवण—इनसे सिद्ध किये हुए घृतका पान मनुष्यको करना चाहिये। यह चक्षुष्य (आँखोंके लिये हितकर), हृद्य (हृदयके लिये हितकर), विरेचक, दीपन और कफरोगनाशक है। गायके गोबरके रसके साथ नीलकमलके परागकी गुटिकाका अञ्जन दिनौंधी और रतौंधीके रोगियोंके लिये हितकर है। मुलहठी, बच, पिप्पली-बीज, कुरैयाकी छालका कल्क और नीमका क्वाथ घोट देनेसे वह वमनकारक होता है। खूब चिकना तथा रेड़ी-जैसे तैलसे स्निग्ध किया गया या पकाया हुआ यवका पानी विरेचक होता है। किंतु इसका अनुचित प्रयोग मन्दाग्नि, उदरमें भारीपन और अरुचिको उत्पन्न करता है। हर्रे, सैन्धवलवण और पीपल—इनके समान भागका चूर्ण गर्म जलके साथ ले। यह नाराच-संज्ञक चूर्ण सर्वरोगनाशक तथा विरेचक है॥ ६४—७८॥

महर्षि आत्रेयने मुनिजनोंके लिये जिन सिद्ध योगोंका वर्णन किया था, समस्त योगोंमें श्रेष्ठ उन सर्वरोगनाशक योगोंका ज्ञान सुश्रुतने प्राप्त किया॥ ७९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मृतसंजीवनीकारक सिद्ध योगोंका कथन' नामक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८५॥

दो सौ छियासीवाँ अध्याय

मृत्युञ्जय योगोंका वर्णन

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं— सुश्रुत! अब मैं मृत्युञ्जय-कल्पोंका वर्णन करता हूँ, जो आयु देनेवाले एवं सब रोगोंका मर्दन करनेवाले हैं। मधु, घृत, त्रिफला और गिलोयका सेवन करना चाहिये। यह रोगको नष्ट करनेवाली है तथा तीन सौ वर्षतककी आयु दे सकती है। चार तोले, दो तोले अथवा एक तोलेकी मात्रामें त्रिफलाका सेवन वही फल देता है। एक मासतक बिल्व-तैलका नस्य लेनेसे पाँच सौ वर्षकी आयु और कवित्व-शक्ति उपलब्ध होती है। भिलावा एवं

तिलका सेवन रोग, अपमृत्यु और वृद्धावस्थाको दूर करता है। वाकुचीके पञ्चाङ्गके चूर्णको खैर (कत्था)-के क्वाथके साथ छः मासतक प्रयोग करनेसे रोगी कुष्ठपर विजयी होता है। नीली कटसरैयाके चूर्णका मधु या दुग्धके साथ सेवन हितकर है। खाँडयुक्त दुग्धका पान करनेवाला सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्रात:काल मधु, घृत और सोंठका चार तोलेकी मात्रामें सेवन करनेवाला मनुष्य मृत्युविजयी होता है। ब्राह्मीके चूर्णके साथ दूधका सेवन करनेवाले मनुष्यके चेहरेपर झुर्रियाँ नहीं पड़ती हैं और उसके बाल नहीं पकते हैं; वह दीर्घजीवन लाभ करता है। मधुके साथ उच्चटा (भुईं आँवला)-को एक तोलेकी मात्रामें खाकर दुग्धपान करनेवाला मनुष्य मृत्युपर विजय पाता है। मधु, घी अथवा दूधके साथ मेउड़के रसका सेवन करनेवाला रोग एवं मृत्युको जीतता है। छः मासतक प्रतिदिन एक तोलेभर पलाश-तैलका मधुके साथ सेवन करके दुग्धपान करनेवाला पाँचे सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। दुग्धके साथ काँगनीके पत्तोंके रसका या त्रिफलाका प्रयोग करे। इससे मनुष्य एक हजार वर्षोंकी आयु प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार मधुके साथ घृत और चार तोलेभर शतावरी-चूर्णका सेवन करनेसे भी सहस्त्रों वर्षोंकी आयु प्राप्त हो सकती है। घी अथवा दूधके साथ मेउड़की जड़का चूर्ण या पत्रस्वरस रोग एवं मृत्युका नाश करता है। नीमके पञ्चाङ्ग-चूर्णको खैरके क्वाथ (काढ़े)-की भावना देकर भृङ्गराजके रसके साथ एक तोलाभर सेवन करनेसे मनुष्य रोगको जीतकर अमर हो सकता है। रुदन्तिकाचूर्ण घृत और मधुके साथ सेवन करनेसे या केवल दुग्धाहारसे मनुष्य मृत्युको जीत लेता है। हरीतकीके चूर्णको भृङ्गराजरसकी भावना देकर एक तोलेकी मात्रामें घृत और मधुके साथ सेवन करनेवाला रोगमुक्त होकर तीन सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त कर सकता है। गेठी, लोहचूर्ण, शतावरी समान भागसे भृङ्गराज-रस तथा घीके साथ एक तोला मात्रामें सेवन करनेसे मनुष्य पाँच सौ वर्षकी आयु प्राप्त करता है। लौहभस्म तथा शतावरीको भृङ्गराजके रसमें भावना देकर मधु एवं घीके साथ लेनेसे तीन सौ वर्षकी आयु प्राप्त होती है। ताम्रभस्म, गिलोय, शुद्ध गन्धक समान भाग घीकुँवारके रसमें घोटकर दो-दो रत्तीकी गोली बनाये। इसका घृतसे सेवन करनेसे मनुष्य पाँच सौ वर्षकी आयु प्राप्त करता है। असगन्ध, त्रिफला, चीनी, तैल और घृतमें सेवन करनेवाला सौ वर्षतक जीता है। गदहपूर्नाका चूर्ण एक पल मधु, घृत और दुग्धके साथ भक्षण करनेवाला भी शतायु होता है। अशोककी छालका एक पल चूर्ण मधु और घृतके साथ खाकर दुग्धपान करनेसे रोगनाश होता है। निम्बके तैलकी मधुसहित नस्य लेनेसे मनुष्य सौ वर्ष जीता है और उसके केश सदा काले रहते हैं। बहेड़ेके चूर्णको एक तोला मात्रामें शहद, घी और दूधसे पीनेवाला शतायु होता है। मधुरादिगणकी ओषधियों और हरीतकीको गुड़ और घृतके साथ खाकर दूधके सहित अन्न भोजन करनेवालोंके केश सदा काले रहते हैं तथा वह रोगरहित होकर पाँच सौ वर्षोंका जीवन प्राप्त करता है। एक मासतक सफेद पेठेके एक पल चूर्णको मधु, घृत और दूधके साथ सेवन करते हुए दुग्धान्नका भोजन करनेवाला नीरोग रहकर एक सहस्त्र वर्षकी आयुका उपभोग करता है। कमलगन्धका चूर्ण भाँगरेके रसकी भावना देकर मधु और घृतके साथ लिया जाय तो वह सौ वर्षोंकी आयु प्रदान करता है। कड़वी तुम्बीके एक तोलेभर

तेलका नस्य दो सौ वर्षोंकी आयु प्रदान करता है। त्रिफला, पीपल और सोंठ—इनका प्रयोग तीन सौ वर्षोंकी आयु प्रदान करता है। इनका शतावरीके साथ सेवन अत्यन्त बलप्रद और सहस्र वर्षोंकी आयु प्रदान करनेवाला है। इनका चित्रकके साथ तथा सोंठके साथ विडंगका प्रयोग भी पूर्ववत् फलप्रद है। त्रिफला, पीपल और सोंठ—इनका लोह, भृङ्गराज, खरेटी, निम्ब-पञ्चाङ्ग, खैर, निर्गुण्डी, कटेरी, अडूसा और पुनर्नवाके साथ या इनके रसकी भावना देकर या इनके संयोगसे बटी या चूर्णका निर्माण करके उसका घृत, मधु, गुड़ और जलादि अनुपानोंके साथ सेवन करनेसे पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति होती है। '**ॐ ह्रूं सः**'—इस मन्त्रसे* अभिमन्त्रित योगराज मृतसंजीवनीके समान होता है। उसके सेवनसे मनुष्य रोग और मृत्युपर विजय प्राप्त करता है। देवता, असुर और मुनियोंने इन कल्प-सागरोंका सेवन किया है॥ १—२३॥

गजायुर्वेदका वर्णन पालकाप्यने अङ्गराज (लोमपाद)-से किया था॥ २४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मृत्युञ्जय-कल्प-कथन' नामक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८६॥

दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय
गज-चिकित्सा

पालकाप्यने कहा—लोमपाद! मैं तुम्हारे सम्मुख हाथियोंके लक्षण और चिकित्साका वर्णन करता हूँ। लम्बी सूँड़वाले, दीर्घ श्वास लेनेवाले, आघातको सहन करनेमें समर्थ, बीस या अठारह नखोंवाले एवं शीतकालमें मदकी धारा बहानेवाले हाथी प्रशस्त माने गये हैं। जिनका दाहिना दाँत उठा हो, गर्जना मेघके समान गम्भीर हो, जिनके कान विशाल हों तथा जो त्वचापर सूक्ष्म-बिन्दुओंसे चित्रित हों, ऐसे हाथियोंका संग्रह करना चाहिये; किंतु जो ह्रस्वाकार और लक्षणहीन हों, ऐसे हाथियोंका संग्रह कदापि नहीं करना चाहिये। पार्श्वगर्भिणी हस्तिनी और मूढ़ उन्मत्त हाथियोंको भी न रखे। वर्ण, सत्त्व, बल, रूप, कान्ति, शारीरिक संगठन एवं वेग—इस प्रकारके सात गुणोंसे युक्त गजराज सम्मुख युद्धमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता है। गजराज ही शिबिर और सेनाकी परम शोभा हैं। राजाओंकी विजय हाथियोंके अधीन है॥ १—५ $\frac{1}{2}$॥

हाथियोंके सभी प्रकारके ज्वरोंमें अनुवासन देना चाहिये। घृत और तैलके अभ्यङ्गके साथ स्नान वात-रोगको नष्ट करनेवाला है। राजाओंको हाथियोंके स्कन्धरोगोंमें पूर्ववत् अनुवासन देना चाहिये। द्विजश्रेष्ठ! पाण्डुरोगमें गोमूत्र, हरिद्रा और घृत दे। बद्धकोष्ठ (कब्जियत)-में तैलसे पूरे शरीरका मर्दन करके स्नान कराना या क्षरण कराना प्रशस्त है। हाथीको पञ्चलवण (कालानमक, सेंधानमक, संचर नोन, समुद्रलवण और काचलवण) युक्त वारुणी मदिराका पान करावे। मूर्च्छा-रोगमें हाथीको वायविडंग, त्रिफला, त्रिकटु और सैन्धव लवणके ग्रास बनाकर खिलाये तथा मधुयुक्त जल पिलाये। शिरश्शूलमें अभ्यङ्ग और नस्य प्रशस्त है। हाथियोंके पैरके रोगोंमें तैलयुक्त पोटलीसे मर्दनरूप चिकित्सा करे। तदनन्तर कल्क और कषायसे उनका शोधन करना

* 'ॐ ह्रूं सः'—ऐसा पाठ ही प्रतियोंमें उपलब्ध है। परंतु मृत्युञ्जय मन्त्र 'ॐ जूं सः' ऐसा है।

चाहिये। जिस हाथीको कम्पन होता हो, उसको पीपल और मिर्च मिलाकर मोर, तीतर और बटेरके मांसके साथ भोजन करावे अतिसाररोगके शमनके लिये गजराजको नेत्रबाला, बेलका सूखा गूदा, लोध, धायके फूल और मिश्रीकी पिंडी बनाकर खिलावे। करग्रह (सूँडके रोग)-में लवणयुक्त घृतका नस्य देना चाहिये। उत्कर्णक-रोगमें पीपल, सोंठ, कालाजीरा और नागरमोथासे साधित यवागू एवं वाराहीकंदका रस दे। दशमूल, कुलथी, अम्लवेत और काकमाचीसे सिद्ध किया हुआ तैल मिर्चके साथ प्रयोग करनेसे गलग्रह-रोगका नाश होता है। मूत्रकृच्छ्र-रोगमें अष्टलवणयुक्त सुरा एवं घृतका पान करावे अथवा खीरेके बीजोंका क्वाथ दे। हाथीको चर्मदोषमें नीम या अडूसेका क्वाथ पिलावे। कृमियुक्त कोष्ठकी शुद्धिके लिये गोमूत्र और वायविडंग प्रशस्त हैं। सोंठ, पीपल, मुनक्का और शर्करासे शृत जलका पान क्षतदोषका क्षय करनेवाला है तथा मांस-रस भी लाभदायक है। अरुचिरोगमें सोंठ, मिर्च एवं पिप्पलीयुक्त मूँग-भात प्रशंसित है। निशोथ, त्रिकटु, चित्रक, दन्ती, आक, पीपल, दुग्ध और गजपीपल—इनसे सिद्ध किया हुआ स्नेह गुल्मरोगका अपहरण करता है। इसी प्रकार (गजचिकित्सक) भेदन, द्रावण, अभ्यङ्ग, स्नेहपान और अनुवासनके द्वारा सभी प्रकारके विद्रधिरोगोंका विनाश करे॥ ६—२१॥

हाथीके कटुरोगोंमें मूँगकी दाल या मूँगके साथ मुलहठी मिलावे और नेत्रबाला एवं बेलकी छालका लेप करे। सभी प्रकारके शूलोंका शमन करनेके लिये दिनके पूर्वभागमें इन्द्रयव, हींग, धूपसरल, दोनों हल्दी और दारुहल्दीकी पिंडी दे। हाथियोंके उत्तम भोजनमें साठी चावल, मध्यम भोजनमें जौ और गेहूँ एवं अधम भोजनमें अन्य भक्ष्य-पदार्थ माने गये हैं। जौ और ईख हाथियोंका बल बढ़ानेवाले हैं तथा सूखा तृण उनके धातुको प्रकुपित करनेवाला है। मदक्षीण हाथीको दुग्ध पिलाना प्रशस्त है तथा दीपनीय द्रव्योंसे पकाया हुआ मांसरस भी लाभप्रद है। गुग्गुल, गठिवन, करकोल्यादिगण और चन्दन—इनका मधुके साथ प्रयोग करे। इससे पिण्डोद्रेक-रोगका नाश होता है। कुटकी, मत्स्य, वायविडंग, लवण, कोशातकी (झिमनी)-का दूध और हल्दी—इनका धूप हाथियोंके लिये विजयप्रद है। पीपल और चावल तथा तेल, माध्वीक (महुआ या अङ्गूरके रससे निर्मित सुरा) तथा मधु—इनका नेत्रोंमें परिषेक दीपनीय माना गया है। गौरैया चिड़िया और कबूतरकी बीट, गूलर, सूखा गोबर एवं मदिरा—इनका मञ्जन हाथियोंको अत्यन्त प्रिय है। हाथीके नेत्रोंको इससे अञ्जित करनेपर वह संग्रामभूमिमें शत्रुओंको मसल डालता है। नीलकमल, नागरमोथा और तगर—इनको चावलके जलमें पीस ले। यह हाथियोंके नेत्रोंको परम शान्ति प्रदान करता है। नख बढ़नेपर उनके नख काटने चाहिये और प्रतिमास तैलका सेक करना चाहिये। हाथियोंका शयन-स्थान सूखे गोबर और धूलसे युक्त होना चाहिये। शरद् और ग्रीष्म-ऋतुमें इनके लिये घृतका सेक उपयुक्त है॥ २२—३३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गज-चिकित्साका कथन' नामक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८७॥

दो सौ अठासीवाँ अध्याय

अश्ववाहन-सार

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं— सुश्रुत! अब मैं अश्ववाहनका रहस्य और अश्वोंकी चिकित्साका वर्णन करूँगा। धर्म, कर्म और अर्थकी सिद्धिके लिये अश्वोंका संग्रह करना चाहिये। घोड़ेके ऊपर प्रथम बार सवारी करनेके लिये अश्विनी, श्रवण, हस्त, उत्तराषाढ़, उत्तरभाद्रपद और उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र प्रशस्त माने गये हैं। घोड़ोंपर चढ़नेके लिये हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु उत्तम हैं। ग्रीष्म, शरद् एवं वर्षा ऋतुमें घुड़सवारी निषिद्ध है। घोड़ोंको तीखे और लचीले डंडोंसे न मारे। उनके मुखपर प्रहार न करे। जो मनुष्य घोड़ेके मनको नहीं समझता तथा उपायोंको जाने बिना ही उसपर सवारी करता है तथा घोड़ेको कीलों और अस्थियोंसे भरे हुए दुर्गम, कण्टकयुक्त, बालू और कीचड़से आच्छन्न पथपर, गड्ढों या उन्नत भूमियोंसे दूषित मार्गपर ले जाता है एवं पीठपर काठीके बिना ही बैठ जाता है, वह मूर्ख अश्वका ही वाहन बनता है, अर्थात् वह अश्वके अधीन होकर विपत्तिमें फँस जाता है। कोई बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सुकृती अश्ववाहक अश्वशास्त्रको पढ़े बिना भी केवल अभ्यास और अध्यवसायसे ही अश्वको अपना अभिप्राय समझा देता है। अथवा घोड़ेके अभिप्रायको समझकर दूसरोंको उसका ज्ञान करा देता है।॥ १—६ $\frac{1}{2}$ ॥

अश्वको नहलाकर पूर्वाभिमुख खड़ा करे। फिर उसके शरीरमें आदिमें 'ॐ' और अन्तमें 'नमः' शब्द जोड़कर अपने बीजाक्षरसे युक्त मन्त्र बोलकर देवताओंकी क्रमशः योजना (न्यास या भावना) करे*। अश्वके चित्तमें ब्रह्मा, बलमें विष्णु, पराक्रममें गरुड, पार्श्वभागमें रुद्रगण, बुद्धिमें बृहस्पति, मर्मस्थानमें विश्वेदेव, नेत्रावर्त और नेत्रमें चन्द्रमा-सूर्य, कानोंमें अश्विनीकुमार, जठराग्निमें स्वधा, जिह्वामें सरस्वती, वेगमें पवन, पृष्ठभागमें स्वर्गपृष्ठ, खुराग्रमें समस्त पर्वत, रोमकूपोंमें नक्षत्रगण, हृदयमें चन्द्रकला, तेजमें अग्नि, श्रोणिदेशमें रति, ललाटमें जगत्पति, ह्रेषित (हिनहिनाहट)-में नवग्रह एवं वक्षःस्थलमें वासुकिका न्यास करे। अश्वारोही उपवासपूर्वक अश्वकी अर्चना करे एवं उसके दक्षिण कर्णमें निम्नलिखित मन्त्रका जप करे— ॥ ७—१२ ॥

"तुरंगम! तुम गन्धर्वराज हो। मेरे वचनको सुनो। तुम गन्धर्वकुलमें उत्पन्न हुए हो। अपने कुलको दूषित न करना। अश्व! ब्राह्मणोंके सत्यवचन, सोम, गरुड, रुद्र, वरुण और पवनके बल एवं अग्निके तेजसे युक्त अपनी जातिका स्मरण करो। याद करो कि 'तुम राजेन्द्रपुत्र हो।' सत्यवाक्यका स्मरण करो। वरुणकन्या वारुणी और कौस्तुभमणिको याद करो। जब दैत्यों और देवताओंद्वारा क्षीरसमुद्रका मन्थन हो रहा था, उस समय तुम देवकुलमें प्रादुर्भूत हुए थे। अपने वाक्यका पालन करो। तुम अश्ववंशमें उत्पन्न हुए हो। सदाके लिये मेरे मित्र बनो। मित्र! तुम यह सुनो। मेरे लिये सिद्ध वाहन बनो। मेरी रक्षा करते हुए मेरी विजयकी रक्षा करो। समराङ्गणमें मेरे लिये तुम सिद्धिप्रद हो जाओ। पूर्वकालमें तुम्हारे पृष्ठभागपर आरूढ़ होकर देवताओंने दैत्योंका संहार किया था। आज मैं तुम्हारे ऊपर आरूढ़ होकर शत्रुसेनाओंपर विजय प्राप्त करूँगा"॥ १३—१९ ॥

अश्वारोही वीर अश्वके कर्णमें उसका जप

* यथा 'ॐ ब्रह्मणे नमः चित्ते', 'ॐ विं विष्णवे नमः बले।' इत्यादि।

करके शत्रुओंको मोहित करता हुआ अश्वको युद्धस्थलमें लाये और उसपर आरूढ़ हो युद्ध करते हुए विजय प्राप्त करे। श्रेष्ठ अश्वारोही घोड़ोंके शरीरसे उत्पन्न दोषोंको भी प्रायः यत्नपूर्वक नष्ट कर देते हैं तथा उनमें पुनः गुणोंका विकास करते हैं। श्रेष्ठ अश्वारोहियोंद्वारा अश्वमें उत्पादित गुण स्वाभाविक-से दीखने लगते हैं। कुछ अश्वारोही तो घोड़ोंके सहज गुणोंको भी नष्ट कर देते हैं। कोई अश्वोंके गुण और कोई उनके दोषोंको जानता है। वह बुद्धिमान् पुरुष धन्य है, जो अश्व-रहस्यको जानता है। मन्दबुद्धि मनुष्य उनके गुण-दोष दोनोंको ही नहीं जानता। जो कर्म और उपायसे अनभिज्ञ है, अश्वका वेगपूर्वक वाहन करनेमें प्रयत्नशील है, क्रोधी एवं छोटे अपराधपर कठोर दण्ड देता है, वह अश्वारोही कुशल होनेपर भी प्रशंसित नहीं होता है। जो अश्वारोही उपायका जानकार है, घोड़ेके चित्तको समझनेवाला है, विशुद्ध एवं अश्वदोषोंका नाश करनेवाला है, वह सम्पूर्ण कर्मोंमें निपुण सवार सदा गुणोंके उपार्जनमें लगा रहता है। उत्तम अश्वारोही अश्वको उसकी लगाम पकड़कर बाह्यभूमिमें ले जाय। वहाँ उसकी पीठपर बैठकर दायें-बायेंके भेदसे उसका संचालन करे। उत्तम घोड़ेपर चढ़कर सहसा उसपर कोड़ा नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि वह ताड़नासे डर जाता है और भयभीत होनेसे उसको मोह भी हो जाता है। अश्वारोही प्रातःकाल अश्वको उसकी वल्गा (लगाम) उठाकर प्लुतगतिसे चलाये। संध्याकालमें यदि घोड़ेके पैरमें नाल न हो तो लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलाये, अधिक वेगसे न दौड़ाये॥ २०—२८॥

ऊपर जो कानमें जपनेकी बात तथा अश्व-संचालनके सम्बन्धमें आवश्यक विधि कही गयी है, इससे अश्वको आश्वासन प्राप्त होता है, इसलिये उसके प्रति यह 'सामनीति'का प्रयोग हुआ। जब एक अश्व दूसरे अश्वके साथ (रथ आदिमें) नियोजित होता है, तो उसके प्रति यह 'भेद-नीति'का बर्ताव हुआ। कोड़े आदिसे अश्वको पीटना—यह उसके ऊपर 'दण्डनीति'का प्रयोग है। अश्वको अनुकूल बनानेके लिये जो काल-विलम्ब सहन किया जाता है या उसे चाल सीखनेका अवसर दिया जाता है, यह उस अश्वके प्रति 'दान-नीति'का प्रयोग समझना चाहिये॥ २९॥

पूर्व-पूर्व नीतिकी शुद्धि (सफल उपयोग) हो जानेपर उत्तरोत्तर नीतिका प्रयोग करे। घोड़ेकी जिह्वाके नीचे बिना योगके ग्रन्थि बाँधे। अधिक-से-अधिक सौगुने सूतको बँटकर बनायी गयी वल्गा (लगामको) घोड़ेके दोनों गल्फरोंमें घुसा दे। फिर धीरे-धीरे वाहनको भुलावा देकर लगाम ढीली करे। जब घोड़ेकी जिह्वा आहीनावस्थाको प्राप्त हो, तब जिह्वातलकी ग्रन्थि खोल दे। जबतक अश्व स्तोभ (स्थिरता)-का त्याग न करे, तबतक गाढ़ताका मोचन करे—लगामको अधिक न कसे। उरस्त्राणको तबतक खूब कसा-कसा रखे, जबतक अश्व मुखसे लार गिराता रहे। जो स्वभावसे ही ऊपर मुँह किये रहे, उसी अश्वका उरस्त्राण खूब कसकर श्रेष्ठ घुड़सवार उसे अपनी दृष्टिके संकेतपर लीलापूर्वक चला सकता है॥ ३०—३३ $\frac{१}{२}$॥

जो पहले घोड़ेके पिछले दायें पैरसे दाईं वल्गा संयोजित कर देता है, उसने उसके दायें पैरको काबूमें कर लिया। इसी क्रमसे जो बायीं वल्गासे घोड़ेके बायें पैरको संयुक्त कर देता है, उसने भी उसके वाम पैरपर नियन्त्रण पा लिया। यदि अगले पैर परित्यक्त हुए तो आसन सुदृढ़ होता है। जो पैर दुष्कर मोटनकर्ममें अपहत हो गये, अथवा बायें पैरमें हीन अवस्था आ गयी, उस स्थितिका नाम 'नाटकायन' है। हनन और गुणन कर्मोंमें 'खलीकार' होता है। बारंबार मुख-व्यावर्तन अश्वका स्वभाव

है। ये सब लक्षण उसके पैरोंपर नियन्त्रण पानेके कारणभूत नहीं हैं। जब देख ले कि घोड़ा पूर्णतः विश्वस्त हो गया है, तब आसनको जोरसे दबाकर अपना पैर उसके मुखसे अड़ा दे; ऐसा करके उसकी ग्राह्यताका अवलोकन हितकारी होता है। रानोंद्वारा जोरसे दबाकर लगाम खींचकर उसके बन्धनसे जो घोड़ेके दो पैरोंको गृहीत—आकर्षित किया जाता है, वह 'उद्वक्कन' कहलाता है। लगामसे घोड़ेके चारों पैरोंको संयुक्त कर उसे यथेष्ट ढीली करके बाह्य पार्ष्णिभागोंके प्रयोगसे जहाँ घोड़ेको मोड़ा जाता है, उसे 'मोट्टन' (या ताड़न) माना गया है॥ ३४—४१॥

बुद्धिमान् घुड़सवार इस क्रमसे प्रलय तथा अविप्लवको जान ले। फिर चतुर्थ मोटन क्रियाद्वारा इस विधिका सम्पादन होता है। जो घोड़ा लघुमण्डलमें मोटन और उद्वक्कनद्वारा अपने पैरको भूमिपर नहीं रखता—भूमिस्पर्शके बिना ही चक्कर पूरा कर लेता है, वह सफल माना गया है; उसे इस प्रकारकी पादगति ग्रहण करानी—सिखानी चाहिये। आसनमें खूब कसकर निबद्ध करके जिसे शिक्षा दी जाती है, तथापि जो मन्दगतिसे ही चलता है, फिर संग्रहण करके (पकड़कर) जिसे अभीष्ट चाल ग्रहण करायी जाती है, उसकी उस शिक्षणक्रियाको 'संग्रहण' कहा गया है। जो घोड़ा स्थानमें स्थित होकर भी व्यग्रचित्त हो जाय और उसके पार्श्वभागमें ऐंड़ लगाकर लगाम खींचकर उसे कण्टकपान (लगामके लोहेका आस्वादन) कराया जाय तथा इस प्रकार पार्श्वभागमें किये गये इस पाद-प्रहारसे जो खलीकृत होकर चाल सीखे, उसका वह शिक्षण 'खलीकार' माना गया है। तीनों प्रकारकी गतियोंसे भी जो मनोवाञ्छित पैर (चाल) नहीं पकड़ पाता है, उस दशामें डंडेसे मारकर जहाँ वह पादग्रहण कराया जाता है, वह क्रिया 'हनन' कही गयी है॥ ४२—४७॥

जब दूसरी वल्गा (लगाम)-के द्वारा चार बार खलीकृत करके अश्वको अन्यत्र ले जाकर उच्छ्वासित करके वह चाल ग्रहण करायी जाती है, तब उस क्रियाको 'उच्छ्वास' नाम दिया जाता है। स्वभावसे ही अश्व अपना मुख बाह्य दिशाकी ओर घुमा देता है। उसे यत्नपूर्वक उसी दिशाकी ओर मोड़कर, वहीं नियुक्त करके जब अश्वको वैसी गति ग्रहण करायी जाती है, तब इस यत्नको 'मुखव्यावर्तन' कहते हैं। क्रमशः तीनों ही गतियोंमें चलनेकी रीति ग्रहण कराकर फिर उसे मण्डल आदि पञ्चधाराओंमें चलनेका अभ्यास कराये। ऊपर उठे हुए मुखसे लेकर घुटनोंतक जब अश्व शिथिल हो जाय, तब उसे गतिकी शिक्षा देनेके लिये बुद्धिमान् पुरुष उसके ऊपर सवारी करे तथा जबतक उसके अङ्गोंमें हल्कापन या फुर्ती न आ जाय, तबतक उसे दौड़ाता रहे। जब घोड़ेकी गर्दन कोमल, मुख हलका और शरीरकी सारी संधियाँ शिथिल हो जायँ, तब वह सवारके वशमें होता है; उसी अवस्थामें अश्वका संग्रह करे। जब वह पिछला पाद (गति-ज्ञान) न छोड़े, तब वह साधु (अच्छा) अश्व होता है। उस समय दोनों हाथोंसे लगाम खींचे। लगाम खींचकर ऐसा कर दे, जिससे घोड़ा ऊपरकी ओर गर्दन उठाकर एक पैरसे खड़ा हो जाय। जब भूतलपर स्थित हुए पिछले दोनों पैर आकाशमें उठे हुए दोनों अग्रिम पैरोंके आश्रय बन जायँ, उस समय अश्वको मुट्ठीसे संधारण करे। सहसा इस प्रकार खींचनेपर जो घोड़ा खड़ा नहीं होता, शरीरको झकझोरने लगता है, तब उसको मण्डलाकार दौड़ाकर साधे—वशमें करे। जो घोड़ा कंधा कँपाने लगे, उसे लगामसे खींचकर

खड़ा कर देना चाहिये॥ ४८—५६॥

गोबर, नमक और गोमूत्रका क्काथ बनाकर उसमें मिट्टी मिला दे और घोड़ेके शरीरपर उसका लेप करे। यह मक्खी आदिके काटनेकी पीड़ा तथा थकावटको दूर करनेवाला है। सवारको चाहिये कि वह 'भद्र' आदि जातिके घोड़ोंको माँड़ दे। इससे सूक्ष्म कीट आदिके दंशनका कष्ट दूर होता है। भूखके कारण घोड़ा उत्साहशून्य हो जाता है, अत: माँड़ देना इसमें भी लाभदायक है। घोड़ेको उतनी ही शिक्षा देनी चाहिये, जिससे वह वशीभूत हो जाय। अधिक सवारीमें जोते जानेपर घोड़े नष्ट हो जाते हैं। यदि सवारी ली ही न जाय तो वे सिद्ध नहीं होते। उनके मुखको ऊपरकी ओर रखते हुए ही उनपर सवारी करे। मुट्ठीको स्थिर रखते हुए दोनों घुटनोंसे दबाकर अश्वको आगे बढ़ाना चाहिये। गोमूत्राकृति, वक्रता, वेणी, पद्ममण्डल और मालिका—इन चिह्नोंसे युक्त अश्व 'पञ्चोलूखलिक' कहे गये हैं। ये कार्यमें अत्यन्त गर्वीले कहे गये हैं। इनके छ: प्रकारके लक्षण बताये जाते हैं—संक्षिप्त, विक्षिप्त, कुञ्चित, आञ्चित, वल्गित और अवल्गित। गलीमें या सड़कपर सौ धनुषकी दूरीतक दौड़ानेपर 'भद्र' जातीय अश्व सुसाध्य होता है। 'मन्द' अस्सी धनुषतक और 'दण्डैकमानस' नब्बे धनुषतक चलाया जाय तो साध्य होता है। 'मृगजङ्घ' या मृगजातीय अश्व संकर होता है; वह इन्हींके समन्वयके अनुसार अस्सी या नब्बे धनुषकी दूरीतक हाँकनेपर साध्य होता है॥ ५७—६३॥

शक्कर, मधु और लाजा (धानका लावा) खानेवाला ब्राह्मणजातीय अश्व पवित्र एवं सुगन्धयुक्त होता है, क्षत्रिय-अश्व तेजस्वी होता है, वैश्य-अश्व विनीत और बुद्धिमान् हुआ करता है और शूद्र-अश्व अपवित्र, चञ्चल, मन्द, कुरूप, बुद्धिहीन और दुष्ट होता है। लगामद्वारा पकड़ा जानेपर जो अश्व लार गिराने लगे, उसे रस्सी और लगाम खोलकर पानीकी धारासे नहलाना चाहिये। अब अश्वके लक्षण बताऊँगा, जैसा कि शालिहोत्रने कहा था॥ ६४—६६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अश्ववाहन-सार-वर्णन' नामक दो सौ अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८८॥

दो सौ नवासीवाँ अध्याय

अश्व-चिकित्सा

शालिहोत्र कहते हैं— सुश्रुत! अब मैं अश्वोंके लक्षण एवं चिकित्साका वर्णन करता हूँ। जो अश्व हीनदन्त, विषमदन्तयुक्त या बिना दाँतका, कराली (दोसे अधिक दन्तपङ्क्तियोंसे युक्त, कृष्णतालु, कृष्णवर्णकी जिह्वासे युक्त, युग्मज (जुड़वाँ पैदा), जन्मसे ही बिना अण्डकोषका, दो खुरोंवाला, शृङ्गयुक्त, तीन रङ्गोंवाला, व्याघ्रवर्ण, गर्दभवर्ण, भस्मवर्ण, सुवर्ण या अग्निवर्ण, ऊँचे ककुदवाला, श्वेतकुष्ठग्रस्त, कौवे जिसपर आक्रमण करते हों, जो खरसार* अथवा वानरके समान

* नकुलकृत अश्वशास्त्रमें 'खरसार' अश्वका वर्णन इस प्रकार है—

नगरे राष्ट्रे निवसेद यस्य विनश्यत्यसौ राजा। खरसार: खरवर्णस्तु मण्डलैर्यो भवेत्तथा हानै:॥

'गर्दभके समान वर्ण एवं उसीके समान रंगवाले आवर्तोंसे युक्त अश्व 'खरसार' कहलाता है। ऐसा अश्व जिस राजाके नगर या राष्ट्रमें निवास करता है, वह राजा नाशको प्राप्त होता है।'

नेत्रोंवाला हो या जिसके अयाल, गुह्याङ्ग तथा नथुने कृष्णवर्णके हों, यवके टूँड़के समान कठोर केश हों, जो तीतरके समान रंगवाला हो, विषमाङ्ग हो, श्वेत चरणवाला हो तथा जो ध्रुव (स्थिर) आवर्तोंसे रहित हो तथा अशुभ आवर्तोंसे युक्त हो, ऐसे अश्वका परित्याग करना चाहिये॥ १—५॥

नाक तथा नाकके पास (ऊपर) दो-दो, मस्तक एवं वक्षःस्थलमें दो-दो तथा प्रयाण (पीठ और पिछले भाग), ललाट और कण्ठदेशमें (भी दो-दो)—इस प्रकार अश्वोंके दस आवर्त (भँवरी-चिह्न) शुभ माने गये हैं। ओष्ठ-प्रान्तमें, ललाटमें, कानके मूलमें, निगालक (गर्दन)-में, अगले पैरोंके ऊपर मूलमें तथा गलेमें स्थित आवर्त श्रेष्ठ कहे जाते हैं। शेष अङ्गोंके आवर्त अशुभ होते हैं। शुक, इन्द्रगोप (बीरवधूटी), एवं चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त, काकवर्ण, सुवर्णवर्ण तथा चिकने घोड़े सदैव प्रशस्त माने जाते हैं। जिन राजाओंके पास लंबी ग्रीवावाले, भीतरकी ओर धँसी आँखवाले, छोटे कानवाले, किंतु देखनेमें मनोहर घोड़े हों, वहाँ विजयकी अभिलाषा छोड़ दे। घोड़े-हाथी यदि पाले जायँ तो शुभप्रद होते हैं; परंतु यदि उचित पालन न हो तो दुःखप्रद होते हैं। घोड़े लक्ष्मीके पुत्र, गन्धर्वरूपमें पृथ्वीके उत्तम रत्न हैं। अश्वमेधमें पवित्र होनेके कारण ही अश्वका उपयोग किया जाता है॥ ६—१० $\frac{१}{२}$॥

मधुके साथ अडूसा, नीमकी छाल, बड़ी कटेरी और गिलोय—इनकी पिण्डी तथा सिरका स्वेद—ये नासिकामलको नाश करनेवाले हैं। हींग, पीकरमूल, सोंठ, अम्लवेत, पीपल तथा सैन्धवलवण—ये गरम जलके साथ देनेपर शूलका नाश करते हैं। सोंठ, अतीस, मोथा, अनन्तमूल या दूब और बेल—इनका क्वाथ घोड़ेको पिलाया जाय तो वह उसके सभी प्रकारके अतिसारको नष्ट करता है। प्रियङ्गु, कालीसर तथा पर्याप्त शर्करासे युक्त बकरीका गरम किया हुआ दूध पी लेनेपर घोड़ेकी थकावट दूर हो जाती है। अश्वको द्रोणीमें तैलबस्ति देनी चाहिये अथवा कोष्ठमें उत्पन्न शिराओंका वेधन करना चाहिये। इससे उसको सुख प्राप्त होता है॥ ११—१५ $\frac{१}{२}$॥

अनारकी छाल, त्रिफला, त्रिकटु तथा गुड़—इनको सम मात्रामें ग्रहण करके इनका पिण्ड बनाकर घोड़ेको दे। यह अश्वोंकी कृशताको दूर करनेवाला है। घोड़ा प्रियङ्गु, लोध तथा मधुके साथ अडूसेके रस या पञ्चकोलादि (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता तथा सोंठ) युक्त दुग्धका पान करे तो वह कासरोगसे मुक्त हो जाता है। प्रस्कन्ध (छलाँग आदि दौड़)-से हुए सभी प्रकारके कष्टमें पहले शोधन श्रेयस्कर होता है। तदनन्तर अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, स्नेहन, नस्य और वर्तिकाका प्रयोग श्रेष्ठ माना जाता है। ज्वरयुक्त अश्वोंकी दुग्धसे ही चिकित्सा करे। लोधमूल, करञ्जमूल, बिजौरा नीबू, चित्रक, सोंठ, कूट, वच एवं रास्ना—इनका लेप शोथ, (सूजन)-का नाश करनेवाला है। घोड़ेको निराहार रखकर मजीठ, मुलहठी, मुनक्का, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, लाल चन्दन, खीरेके मूल और बीज, सिंहाड़ेके बीज और कसेरु—इनसे युक्त बकरीका दूध पकाकर अत्यन्त शीतल करके शक्करके साथ पिलानेसे वह घोड़ा रक्तप्रमेहसे छुटकारा पाता है॥ १६—२२॥

मन्या, ठुड्डी तथा ग्रीवाकी शिराओंके शोथ तथा गलग्रहरोगमें उन-उन स्थानोंपर कटुतैलका अभ्यङ्ग प्रशस्त है। गलग्रहरोग और शोथ प्रायः गलदेशमें ही होते हैं। चिरचिरा, चित्रक, सैन्धव तथा सुगन्ध घासका रस, पीपल और हींगके साथ इनका नस्य देनेसे अश्व कभी विषादयुक्त

नहीं होता है। हल्दी, दारुहल्दी, मालकाँगनी, पाठा, पीपल, कूट, बच तथा मधु—इनका गुड़ एवं गोमूत्रके साथ जिह्वापर लेप जिह्वास्तम्भमें हितकर है। तिल, मुलहठी, हल्दी और नीमके पत्तोंसे निर्मित पिण्डी मधुके साथ प्रयोग करनेपर व्रणका शोधन और घृतके साथ प्रयुक्त होनेपर घावको भरती है। जो घोड़े अधिक चोटके कारण तीव्र वेदनासे युक्त होकर लँगड़ाने लगते हैं, उनके लिये तैलसे परिषेक-क्रिया शीघ्र ही रोगनाश करनेवाली होती है। वात, पित्त, कफ दोषोंके द्वारा अथवा क्रोधके कारण चोट पा जानेसे पके, फूटे स्थानोंके व्रणके लिये यह क्रम है। पीपल, गूलर, पाकर, मुलहठी, बट और बेल—इनका अत्यधिक जलमें सिद्ध क्वाथ थोड़ा गरम हो तो वह व्रणका शोधन करनेवाला है। सौंफ, सोंठ, रास्ना, मजीठ, कूट, सैन्धव, देवदारु, वच, हल्दी, दारुहल्दी, रक्तचन्दन—इनका स्नेह क्वाथ करके गिलोयके जलके साथ या दूधके साथ उद्वर्तन, बस्ति अथवा नस्यरूपमें प्रयोग सभी लिङ्गित दोषोंमें करना चाहिये। नेत्ररोगयुक्त अश्वके नेत्रान्तमें जोंकद्वारा अभिस्रावण कराना चाहिये। खैर, गूलर और पीपलकी छालके क्वाथसे नेत्रोंका शोधन होता है॥ २३—३२ $\frac{1}{2}$ ॥

युक्तावलम्बी अश्वके लिये आँवला, जवासा, पाठा, प्रियङ्गु, कुङ्कुम और गिलोय—इनका समभाग ग्रहण करके निर्मित किया हुआ कल्क हितकर है। कर्णसम्बन्धी दोषमें एवं उपद्रवमें, शिल (अनियमित वृत्ति)-में, शुष्क-शेपमें (लिङ्ग सूखनेकी दशामें) और शीघ्र (हानि) करनेवाले दोषमें तत्काल वेधन करना चाहिये। गायका गोबर, मजीठ, कूट, हल्दी, तिल और सरसों—इनको गोमूत्रमें पीसकर मर्दन करनेसे खुजलीका नाश होता है। शालकी छालका क्वाथ शीतल हो जानेपर मधु और शर्करासहित नासिकामें डालनेसे एवं उसी प्रकार पिलानेसे घोड़ेका रक्तपित्त नष्ट होता है। घोड़ोंको सातवें-सातवें दिन नमक देना चाहिये॥ ३३—३७॥

अश्वोंके अधिक भोजन हो जानेपर वारुणी (मदिरा), शरद् ऋतुमें जीवनीयगण*के द्रव्य (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (वनमूँग), माषपर्णी (वनउरद), जीवन्ती तथा मुलहठी), मधु, दाख, शक्कर, पिपली और पद्माखसहित प्रतिपानमें देना चाहिये। हेमन्त ऋतुमें अश्वोंको वायबिडंग, पीपल, धनियाँ, सौंफ, लोध, सैन्धवलवण और चित्रकसे समन्वित प्रतिपान देना चाहिये। वसन्त ऋतुमें लोध, प्रियङ्गु, मोथा, पीपल, सोंठ और मधुसे युक्त प्रतिपान कफनाशक माना गया है। ग्रीष्म ऋतुमें प्रतिपानके लिये प्रियङ्गु, पीपल, लोध, मुलहठी, सोंठ और गुड़के सहित मदिरा दे। वर्षा ऋतुमें अश्वोंके लिये प्रतिपान तैल, लोध, लवण, पीपल और सोंठसे समन्वित होना चाहिये। ग्रीष्म ऋतुमें बढ़े हुए पित्तके प्रकोपसे पीड़ित, शरत्कालमें रक्तघनत्वसे युक्त अश्वको एवं प्रावृट् (वर्षाके प्रारम्भ)-में जिन घोड़ोंका गोबर फूट गया है, उन्हें घृत पिलाना चाहिये। कफ एवं वातकी अधिकता होनेपर अश्वोंको तैलपान कराना चाहिये। जिनके शरीरमें स्नेहतत्त्वके प्राबल्यसे कोई कष्ट उत्पन्न हो, उनका रुक्षण करना चाहिये। मट्ठाके साथ भोजन तथा तीन दिनतक यवागू पिलानेसे अश्वोंका रुक्षण होता है। अश्वोंके बस्तिकर्मके लिये शरद्-ग्रीष्ममें घृत,

* जीवकर्षभको मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति।
(च० सं०, सू० स्था० ४ अ०)

हेमन्त-वसन्तमें तैल तथा वर्षा एवं शिशिर ऋतुओंमें घृत-तैल दोनोंका प्रयोग करना चाहिये। जिन घोड़ोंको स्नेह (तैल-घृतादि) पान कराया गया है, उनके लिये (गुरु-भारी) या अभिष्यन्दी (कफकारक) भोजन—भात आदि, व्यायाम, स्नान, धूप तथा वायुरहित स्थान वर्जित हैं। वर्षा ऋतुमें घोड़ेको दिनमें एक बार स्नान और पान कराये, किंतु घोर दुर्दिनके समय केवल पान ही प्रशस्त है। समशीतोष्ण ऋतुमें दो बार और एक बार स्नान विहित है। ग्रीष्म ऋतुमें तीन बार स्नान और प्रतिपान उचित होता है। पूर्णजलमें बहुत देरतक स्नान कराना चाहिये॥ ३८—४९॥

घोड़ेको प्रतिदिन चार आढ़क भूसासे रहित जौ खिलावे। उसको चना, धान, मूँग या मटर भी खानेको दे। अश्वको (एक) दिन-रातमें पाँच सेर दूब खिलावे। सूखी दूब होनेपर आठ सेर अथवा भूसा हो तो चार सेर देना चाहिये। दूर्वा पित्तका, जौ कासका, भूसी कफाधिक्यका, अर्जुन श्वासका एवं मानकन्द बलक्षयका नाश करता है। दूर्वाभोजी अश्वको कफज, वातज, पित्तज और संनिपातज रोग पीड़ित नहीं कर सकते। दुष्ट घोड़ोंके आगे-पीछे दोनों ओर दो रज्जुबन्धन करने चाहिये। गर्दनमें भी बन्धन करना चाहिये। घोड़े आस्तरणयुक्त और धूपित स्थानमें बसाने चाहिये। जहाँ कि उपायपूर्वक घासें रखी हों। (वह अश्वशाला) प्रदीपसे आलोकित तथा सुरक्षित होनी चाहिये। घुड़सालमें मयूर, अज, वानर और मृगोंको रखना चाहिये॥ ५०—५६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अश्व-चिकित्साका कथन' नामक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८९॥

दो सौ नब्बेवाँ अध्याय

अश्व-शान्ति

शालिहोत्र कहते हैं—सुश्रुत! अब मैं घोड़ोंके रोगोंका मर्दन करनेवाली 'अश्वशान्ति'का वर्णन करूँगा; जो नित्य, नैमित्तिक और काम्यके भेदसे तीन प्रकारकी मानी गयी है; इसे सुनो। किसी शुभ दिनको श्रीधर (विष्णु), श्री (लक्ष्मी) तथा उच्चैःश्रवाके पुत्र हयराजकी पूजा करके सविता-देवता-सम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा घीका हवन करे। तदनन्तर ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। इससे अश्वोंकी वृद्धि होती है। (शुभ दिनसे आरम्भ करके इस कर्मको प्रतिदिन चालू रखा जाय तो यह 'नित्य अश्व-शान्ति' है)॥ १-२ $\frac{1}{2}$ ॥

(अश्व-समृद्धिकी कामनासे) आश्विनके शुक्ल-पक्षकी पूर्णिमाको नगरके बाह्यदेशमें शान्ति-कर्म करे। उसमें विशेषतः अश्विनीकुमारों तथा वरुण-देवताका पूजन करे। तत्पश्चात् श्रीदेवीको वेदीपर पद्मासनके ऊपर अङ्कित करके उन्हें चारों ओरसे वृक्षकी शाखाओंद्वारा आवृत कर दे। उनकी सभी दिशाओंमें समस्त रसोंसे परिपूर्ण कलशोंको वस्त्रसहित स्थापित करे। इसके बाद श्रीदेवीका पूजन करके उनकी प्रसन्नताके लिये जौ और घीका हवन करे। फिर अश्विनीकुमारों और अश्वोंकी अर्चना करे तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। (यह काम्य शान्ति हुई)। अब नैमित्तिक शान्तिका वर्णन सुनो॥ ३—५ $\frac{1}{2}$ ॥

मकर आदिकी संक्रान्तियोंमें अश्वोंका पूजन करे। साथ ही कमलपुष्पोंद्वारा विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, शंकर, चन्द्रमा, सूर्य, अश्विनीकुमार, रेवन्त तथा उच्चैःश्रवाकी अर्चना करे। इसके

सिवा कमलके दस दलोंपर दस दिक्पालोंकी भी पूजा करे। प्रत्येक अर्चनीय देवताके निमित्त वेदीपर जलपूर्ण कलश स्थापित करे और उन कलशोंमें अधिष्ठित देवोंकी पूजा करे। इन देवताओंके उत्तरभागमें इन सबके निमित्त तिल, अक्षत, घी और पीली सरसोंकी आहुतियाँ दे। एक-एक देवताके निमित्त सौ-सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। अश्वसम्बन्धी रोगोंके निवारणके लिये उपवासपूर्वक यह शान्तिकर्म करना उचित है॥ ६—८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अश्व-शान्तिका कथन' नामक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९०॥

दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय

गज-शान्ति

शालिहोत्र कहते हैं— मैं गजरोगोंका प्रशमन करनेवाली गज-शान्तिके विषयमें कहूँगा। किसी भी शुक्ला पञ्चमीको विष्णु, लक्ष्मी तथा नागराज ऐरावतकी पूजा करे। फिर ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र, कुबेर, यमराज, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, शेषनाग, पर्वत, विरूपाक्ष, महापद्म, भद्र, सुमनस और देवजातीय आठ हाथियोंका पूजन करे। उन आठ नागोंके नाम ये हैं—कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील। तत्पश्चात् होम करे और दक्षिणा दे। शान्ति-कलशके जलसे हाथियोंका अभिषेक किया जाय तो वे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। (यह नित्य विधि है) अब नैमित्तिक शान्तिकर्मके विषयमें सुनो॥ १—४ $\frac{1}{2}$ ॥

मकर आदिकी संक्रान्तियोंमें हाथियोंका नगरके बहिर्भागमें ईशानकोणमें (पूजन करे)। वेदी या पद्मासनपर अष्टदल कमलका निर्माण करके उसमें केसरके स्थानपर श्रीविष्णु और लक्ष्मीकी अर्चना करे। तदनन्तर अष्टदलोंमें क्रमशः ब्रह्मा, सूर्य, पृथ्वी, स्कन्द, अनन्त, आकाश, शिव तथा चन्द्रमाकी पूजा करे। उन्हीं आठ दलोंमें पूर्वादिके क्रमसे इन्द्रादि दिक्पालोंका भी पूजन करे। देवताओंके साथ कमलदलोंमें उनके वज्र, शक्ति, दण्ड, तोमर, पाश, गदा, शूल और पद्म आदि अस्त्रोंकी अर्चना करनी चाहिये। दलोंके बाह्यभागमें चक्रमें सूर्य और अश्विनीकुमारोंकी पूजा करे। अष्टवसुओं एवं साध्यदेवोंका दक्षिणभागमें तथा भार्गवाङ्गिरस देवताओंका नैर्ऋत्यकोणमें यजन करे। वायव्यकोणमें मरुद्गणोंका, दक्षिणभागमें विश्वेदेवोंका एवं रौद्रमण्डल (ईशान)-में रुद्रोंका पूजन करना चाहिये। वृत्तरेखाके द्वारा निर्मित अष्टदल कमलके बहिर्भागमें सरस्वती, सूत्रकार और देवर्षियोंकी अर्चना करे। पूर्वभागमें नदी, पर्वतों एवं ईशान आदि कोणोंमें महाभूतोंकी पूजा करे। तदनन्तर पद्म, चक्र, गदा तथा शङ्खसे सुशोभित चतुष्कोण एवं चतुर्द्वारयुक्त भूपुरमण्डलका निर्माण करके आग्नेय आदि कोणोंमें कलशोंकी भी स्थापना करे तथा चारों ओर पताकाओं और तोरणोंका निवेश करे। सभी द्वारोंपर ऐरावत आदि नागराजोंका पूजन करे। पूर्वादि दिशाओंमें समस्त देवताओंके लिये पृथक्-पृथक् सर्वौषधियुक्त पात्र रखे। हाथियोंका पूजन करके उनकी परिक्रमा करे। सभी देवताओंके उद्देश्यसे पृथक्-पृथक् सौ-सौ आहुतियाँ प्रदान करे। तदनन्तर नागराज, अग्नि और देवताओंको साथ लेकर बाजे बजाते हुए अपने घरोंको लौटना चाहिये। ब्राह्मणों एवं

गज-चिकित्सक आदिको दक्षिणा देनी चाहिये। तत्पश्चात् कालज्ञ विद्वान् गजराजपर आरूढ़ होकर उसके कानमें निम्नाङ्कित मन्त्र कहे। उस नागराजके मृत्युको प्राप्त होनेपर शान्ति करके दूसरे हाथीके कानमें मन्त्रका जप करे— ॥ ५ —१५ ॥

"महाराजने तुमको 'श्रीगज'के पदपर नियुक्त किया है। अबसे तुम इस राजाके लिये 'गजाग्रणी' (गजोंके अगुआ) हो। ये नरेश आजसे गन्ध, माल्य एवं उत्तम अक्षतोंद्वारा तुम्हारा पूजन करेंगे। उनकी आज्ञासे प्रजाजन भी सदा तुम्हारा अर्चन करेंगे। तुमको युद्धभूमि, मार्ग एवं गृहमें महाराजकी सदा रक्षा करनी चाहिये। नागराज! तिर्यग्भाव (टेढ़ापन)-को छोड़कर अपने दिव्यभावका स्मरण करो। पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें देवताओंने ऐरावतपुत्र श्रीमान् अरिष्ट नागको 'श्रीगज'का पद प्रदान किया था। श्रीगजका वह सम्पूर्ण तेज तुम्हारे शरीरमें प्रतिष्ठित है। नागेन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारा अन्तर्निहित दिव्यभावसम्पन्न तेज उद्‌बुद्ध हो उठे। तुम रणाङ्गणमें राजाकी रक्षा करो" ॥ १६—२० ॥

राजा पूर्वोक्त अभिषिक्त गजराजपर शुभ मुहूर्तमें आरोहण करे। शस्त्रधारी श्रेष्ठ वीर उसका अनुगमन करें। राजा हस्तिशालामें भूमिपर अङ्कित कमलके बहिर्भागमें दिक्पालोंका पूजन करे। केसरके स्थानपर महाबली नागराज, भूदेवी और सरस्वतीका यजन करे। मध्यभागमें गन्ध, पुष्प और चन्दनसे डिण्डिमकी पूजा एवं हवन करके ब्राह्मणोंको रसपूर्ण कलश प्रदान करे। पुनः गजाध्यक्ष, गजरक्षक और ज्यौतिषीका सत्कार करे। तदनन्तर, डिण्डिम गजाध्यक्षको प्रदान करे। वह भी इसको बजावे। गजाध्यक्ष नागराजके जघनप्रदेशपर आरूढ़ होकर शुभ एवं गम्भीर स्वरमें डिण्डिमवादन करे॥ २१—२४ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गज-शान्तिका कथन' नामक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९१ ॥

दो सौ बानबेवाँ अध्याय

गवायुर्वेद

धन्वन्तरि कहते हैं— सुश्रुत! राजाको गौओं और ब्राह्मणोंका पालन करना चाहिये। अब मैं 'गोशान्ति'का वर्णन करता हूँ। गौएँ पवित्र एवं मङ्गलमयी हैं। गौओंमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है। गौओंका गोबर और मूत्र अलक्ष्मी (दरिद्रता)-के नाशका सर्वोत्तम साधन है। उनके शरीरको खुजलाना, सींगोंको सहलाना और उनको जल पिलाना भी अलक्ष्मीका निवारण करनेवाला है। गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, दधि, घृत और कुशोदक— यह 'षडङ्ग' (पञ्चगव्य) पीनेके लिये उत्कृष्ट वस्तु तथा दुःस्वप्नों आदिका निवारण करनेवाला है। गोरोचना विष और राक्षसोंको विनाश करती है। गौओंको ग्रास देनेवाला स्वर्गको प्राप्त होता है। जिसके घरमें गौएँ दुःखित होकर निवास करती हैं, वह मनुष्य नरकगामी होता है। दूसरेकी गायको ग्रास देनेवाला स्वर्गको और गोहितमें तत्पर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। गोदान, गो-माहात्म्य-कीर्तन और गोरक्षणसे मानव अपने कुलका उद्धार कर देता है। यह पृथ्वी गौओंके श्वाससे पवित्र होती है। उनके स्पर्शसे पापोंका क्षय होता है। एक दिन गोमूत्र, गोमय, घृत, दूध, दधि और कुशका जल एवं एक दिन उपवास चाण्डालको

भी शुद्ध कर देता है। पूर्वकालमें देवताओंने भी समस्त पापोंके विनाशके लिये इसका अनुष्ठान किया था। इनमेंसे प्रत्येक वस्तुका क्रमशः तीन-तीन दिन भक्षण करके रहा जाय, उसे 'महासान्तपन व्रत' कहते हैं। यह व्रत सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाला और समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है। केवल दूध पीकर इक्कीस दिन रहनेसे 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत' होता है। इसके अनुष्ठानसे श्रेष्ठ मानव सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्तकर पापमुक्त हो स्वर्गलोकमें जाते हैं। तीन दिन गरम गोमूत्र, तीन दिन गरम घृत, तीन दिन गरम दूध और तीन दिन गरम वायु पीकर रहे। यह 'तप्तकृच्छ्र व्रत' कहलाता है, जो समस्त पापोंका प्रशमन करनेवाला और ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला है। यदि इन वस्तुओंको इसी क्रमसे शीतल करके ग्रहण किया जाय, तो ब्रह्माजीके द्वारा कथित 'शीतकृच्छ्र' होता है, जो ब्रह्मलोकप्रद है॥ १—११॥

एक मासतक गोव्रती होकर गोमूत्रसे प्रतिदिन स्नान करे, गोरससे जीवन चलावे, गौओंका अनुगमन करे और गौओंके भोजन करनेके बाद भोजन करे। इससे मनुष्य निष्पाप होकर गोलोकको प्राप्त करता है। गोमती विद्याके जपसे भी उत्तम गोलोककी प्राप्ति होती है। उस लोकमें मानव विमानमें अप्सराओंके द्वारा नृत्य-गीतसे सेवित होकर प्रमुदित होता है। गौएँ सदा सुरभिरूपिणी हैं। वे गुग्गुलके समान गन्धसे संयुक्त हैं। गौएँ समस्त प्राणियोंकी प्रतिष्ठा हैं। गौएँ परम मङ्गलमयी हैं। गौएँ परम अन्न और देवताओंके लिये उत्तम हविष्य हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियोंको पवित्र करनेवाले दुग्ध और गोमूत्रका वहन एवं क्षरण करती हैं और मन्त्रपूत हविष्यसे स्वर्गमें स्थित देवताओंको तृप्त करती हैं। ऋषियोंके अग्निहोत्रमें गौएँ होमकार्यमें प्रयुक्त होती हैं। गौएँ सम्पूर्ण मनुष्योंकी उत्तम शरण हैं। गौएँ परम पवित्र, महामङ्गलमयी, स्वर्गकी सोपानभूत, धन्य और सनातन (नित्य) हैं। श्रीमती सुरभि-पुत्री गौओंको नमस्कार है। ब्रह्मसुताओंको नमस्कार है। पवित्र गौओंको बारंबार नमस्कार है। ब्राह्मण और गौएँ—एक ही कुलकी दो शाखाएँ हैं। एकके आश्रयमें मन्त्रकी स्थिति है और दूसरीमें हविष्य प्रतिष्ठित है। देवता, ब्राह्मण, गौ, साधु और साध्वी स्त्रियोंके बलपर यह सारा संसार टिका हुआ है, इसीसे वे परम पूजनीय हैं। गौएँ जिस स्थानपर जल पीती हैं, वह स्थान तीर्थ है। गङ्गा आदि पवित्र नदियाँ गोस्वरूपा ही हैं। सुश्रुत! मैंने यह गौओंके माहात्म्यका वर्णन किया; अब उनकी चिकित्सा सुनो॥ १२—२२॥

गौओंके शृङ्गरोगोंमें सोठ, खरेटी और जटामांसीको सिलपर पीसकर उसमें मधु, सैन्धव और तैल मिलाकर प्रयोग करे। सभी प्रकारके कर्णरोगोंमें मञ्जिष्ठा, हींग और सैन्धव डालकर सिद्ध किया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिये या लहसुनके साथ पकाया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिये। दन्तशूलमें बिल्वमूल, अपामार्ग, धानकी पाटला और कुटजका लेप करे। वह शूलनाशक है। दन्तशूलका हरण करनेवाले द्रव्यों और कूटको घृतमें पकाकर देनेसे मुखरोगोंका निवारण होता है। जिह्वा-रोगोंमें सैन्धव लवण प्रशस्त है। गलग्रह-रोगमें सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी और त्रिफला विहित है। हृद्रोग, वस्तिरोग, वातरोग और क्षयरोगमें गौओंको घृतमिश्रित त्रिफलाका अनुपान प्रशस्त बताया गया है। अतिसारमें हल्दी, दारुहल्दी और पाठा (नेमुक) दिलाना चाहिये। सभी प्रकारके कोष्ठगत* रोगोंमें, शाखा (पैर-पुच्छादि)-गत रोगोंमें एवं कास, श्वास एवं अन्य साधारण रोगोंमें सोंठ, भारङ्गी देनी चाहिये। हड्डी आदि टूटनेपर लवणयुक्त

* स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ (सु० चि० अ० २)

प्रियङ्गुका लेप करना चाहिये। तैल वातरोगका हरण करता है। पित्तरोगमें तैलमें पकायी हुई मुलहठी, कफरोगमें मधुसहित त्रिकटु (सोंठ, मिर्च और पीपल) तथा रक्तविकारमें मजबूत नखोंका भस्म हितकर है। भग्नक्षतमें तैल एवं घृतमें पकाया हुआ हरताल दे। उड़द, तिल, गेहूँ, दुग्ध, जल और घृत—इनका लवणयुक्त पिण्ड गोवत्सोंके लिये पुष्टिप्रद है। विषाणी बल प्रदान करनेवाली है। ग्रहबाधाके विनाशके लिये धूपका प्रयोग करना चाहिये। देवदारु, वचा, जटामांसी, गुग्गुल, हिंगु और सर्षप—इनकी धूप गौओंके ग्रहजनित रोगोंका नाश करनेमें हितकर है। इस धूपसे धूपित करके गौओंके गलेमें घण्टा बाँधना चाहिये। असगन्ध और तिलोंके साथ नवनीतका भक्षण करानेसे गौ दुग्धवती होती है। जो वृष घरमें मदोन्मत्त हो जाता है, उसके लिये हिङ्गु परम रसायन है॥ २३—३५॥

पञ्चमी तिथिको सदा शान्तिके निमित्त गोमयपर भगवान् लक्ष्मी-नारायणका पूजन करे। यह 'अपरा शान्ति' कही गयी है। आश्विनके शुक्लपक्षकी पूर्णिमाको श्रीहरिका पूजन करे। श्रीविष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, सूर्य, अग्नि और लक्ष्मीका घृतसे पूजन करे। दही भलीभाँति खाकर गोपूजन करके अग्निकी प्रदक्षिणा करे। गृहके बहिर्भागमें गीत और वाद्यकी ध्वनिके साथ वृषभयुद्धका आयोजन करे। गौओंको लवण और ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। मकरसंक्रान्ति आदि नैमित्तिक पर्वोंपर भी लक्ष्मीसहित श्रीविष्णुको भूमिस्थ कमलके मध्यमें और पूर्व आदि दिशाओंमें कमल-केसरपर देवताओंकी पूजा करे। कमलके बहिर्भागमें मङ्गलमय ब्रह्मा, सूर्य, बहुरूप, बलि, आकाश, विश्वरूपका तथा ऋद्धि, सिद्धि, शान्ति और रोहिणी आदि दिग्धेनु, चन्द्रमा और शिवका कृशर (खिचड़ी)-से पूजन करे। दिक्पालोंकी कलशस्थ पद्मपत्रपर अर्चना करे। फिर अग्निमें सर्षप, अक्षत, तण्डुल और खैर-वृक्षकी समिधाओंका हवन करे। ब्राह्मणको सौ-सौ भर सुवर्ण और काँस्य आदि धातु दान करे। फिर क्षीरसंयुक्त गौओंकी पूजा करके उन्हें शान्तिके निमित्त छोड़े॥ ३६—४३॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! शालिहोत्रने सुश्रुतको 'अश्वायुर्वेद' और पालकाप्यने अङ्गराजको 'गवायुर्वेद'का उपदेश किया था॥ ४४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गवायुर्वेदका कथन' नामक
दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९२॥

दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय

मन्त्र-विद्या

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली मन्त्र-विद्याका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर उसका श्रवण कीजिये। द्विजश्रेष्ठ! बीससे अधिक अक्षरोंवाले मन्त्र 'मालामन्त्र' दससे अधिक अक्षरोंवाले 'मन्त्र' और दससे कम अक्षरोंवाले 'बीजमन्त्र' कहे गये हैं। 'मालामन्त्र' वृद्धावस्थामें सिद्धिदायक होते हैं, 'मन्त्र' यौवनावस्थामें सिद्धिप्रद है। पाँच अक्षरसे अधिक तथा दस अक्षरतकके मन्त्र बाल्यावस्थामें सिद्धि प्रदान करते हैं*। अन्य मन्त्र अर्थात् एकसे

* 'महाकपिल' पञ्चरात्रमें तथा 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में मालामन्त्रोंको 'वृद्ध', मन्त्रोंको 'युवा' तथा पाँचसे अधिक और दस अक्षरतकके मन्त्रोंको 'बाल' बताया गया है। 'भैरवी-तन्त्र'में सात अक्षरवाले मन्त्रको 'बाल', आठ अक्षरवाले मन्त्रको 'कुमार', सोलह अक्षरोंके

लेकर पाँच अक्षरतकके मन्त्र सर्वदा और सबके लिये सिद्धिदायक होते हैं[1] ॥ १-२ $\frac{१}{२}$ ॥

मन्त्रोंकी तीन जातियाँ होती हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जिन मन्त्रोंके अन्तमें '**स्वाहा**' पदका प्रयोग हो, वे स्त्रीजातीय हैं। जिनके अन्तमें '**नमः**' पद जुड़ा हो, वे मन्त्र नपुंसक हैं। शेष सभी मन्त्र पुरुषजातीय हैं। वे वशीकरण और उच्चाटन-कर्ममें प्रशस्त माने गये हैं। क्षुद्रक्रिया तथा रोगके निवारणार्थ अर्थात् शान्तिकर्ममें स्त्रीजातीय मन्त्र[2] उत्तम माने गये हैं। इन सबसे भिन्न (विद्वेषण एवं अभिचार आदि) कर्ममें नपुंसक मन्त्र उपयोगी बताये गये हैं ॥ ३-४ $\frac{१}{२}$ ॥

मन्त्रोंके दो भेद हैं—'आग्नेय' और 'सौम्य'। जिनके आदिमें 'प्रणव' लगा हो, वे 'आग्नेय' हैं और जिनके अन्तमें 'प्रणव'का योग है, वे 'सौम्य' कहे गये हैं। इनका जप इन्हीं दोनोंके कालमें करना चाहिये (अर्थात् सूर्य-नाड़ी चलती हो तो 'आग्नेय-मन्त्र'का और चन्द्र-नाड़ी चलती हो तो 'सौम्य-मन्त्रों'का जप करे)[3]। जिस मन्त्रमें तार (ॐ), अन्त्य (क्ष), अग्नि (र), वियत् (ह)—इनका बाहुल्येन प्रयोग हो, वह 'आग्नेय' माना गया है। शेष मन्त्र 'सौम्य' कहे गये हैं[4]। ये दो प्रकारके मन्त्र क्रमशः क्रूर और सौम्य कर्मोंमें प्रशस्त माने गये हैं।[5] 'आग्नेय मन्त्र' प्रायः अन्तमें '**नमः**' पदसे युक्त होनेपर 'सौम्य' हो जाता है और 'सौम्य मन्त्र भी अन्तमें '**फट्**' लगा देनेपर 'आग्नेय' हो जाता है।[6] यदि मन्त्र सोया हो या सोकर तत्काल ही जगा हो तो वह सिद्धिदायक नहीं होता है। जब वामनाड़ी चलती हो तो वह 'आग्नेय मन्त्र'के सोनेका समय है और यदि दाहिनी नाड़ी (नासिकाके दाहिने छिद्रसे साँस) चलती हो तो वह उसके जागरणका काल है। 'सौम्य मन्त्र'के सोने और जागनेका समय इसके विपरीत है। अर्थात् वामनाड़ी (साँस) उसके जागरणका और दक्षिणनाड़ी उसके शयनका काल है। जब दोनों नाड़ियाँ साथ-साथ चल रही हों, उस समय आग्नेय और सौम्य—दोनों मन्त्र जगे रहते हैं। (अतः उस

मन्त्रको 'तरुण' तथा चालीस अक्षरोंके मन्त्रको 'प्रौढ़' बताया गया है। इससे ऊपर अक्षर-संख्यावाला मन्त्र 'वृद्ध' कहा गया है।

१. 'शारदातिलक'की टीकामें उद्धृत 'प्रयोगसार'में शब्दभेदसे यही बात कही गयी है। 'श्रीनारायणीय-तन्त्र'में तो ठीक 'अग्निपुराण'की आनुपूर्वी ही प्रयुक्त हुई है।

२. 'कुल प्रकाश-तन्त्र'में स्त्रीजातीय मन्त्रोंको शान्तिकर्ममें उपयोगी बताया गया है। शेष बातें अग्निपुराणके ही अनुसार हैं—

स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता हृदयान्ता नपुंसकाः । शेषाः पुमांस इत्युक्ताः स्त्रीमन्त्राश्चादिशान्तिके ॥
नपुंसकाः स्मृता मन्त्रा विद्वेषे चाभिचारके । पुमांसः स्युः स्मृताः सर्वे वध्योच्चाटनकर्मसु ॥
(श्रीविद्यार्णवतन्त्र २ उच्छ्वास)

'प्रयोगसार'में—'वषट्' और 'फट्' जिनके अन्तमें लगें, वे 'पुँल्लिङ्ग' 'वौषट्' और 'स्वाहा' अन्तमें लगें, वे 'स्त्रीलिङ्ग' तथा 'हुं नमः' जिनके अन्तमें लगें, वे 'नपुंसक लिङ्ग' मन्त्र कहे गये हैं।

३. 'श्रीनारायणीय—तन्त्र'में भी यह बात इसी आनुपूर्वीमें कही गयी है।

४. 'शारदातिलक'में सौम्य-मन्त्रोंकी भी सुस्पष्ट पहचान दी गयी है—जिसमें 'सकार' अथवा 'वकार'का बाहुल्य हो, वह 'सौम्य-मन्त्र' है। जैसा कि वचन है—'सौम्या भूयिष्ठेन्दुमृताक्षराः।' (२।६१)

५. 'शारदातिलक'में भी 'विज्ञेयाः क्रूरसौम्ययोः'—कहकर इसी बातकी पुष्टि की गयी है। ईशानशम्भुने भी यही बात कही है—
'स्यादाग्नेयैः क्रूरकार्यप्रसिद्धिः सौम्यैः सौम्यं कर्म कुर्याद् यथावत्'।

६. ईशानशम्भुने भी ऐसा ही कहा है—आग्नेयोऽपि स्यात्तु सौम्यो नमोऽन्तः सौम्योऽपि स्यादग्निमन्त्रः फडन्तः।

'नारायणीय-तन्त्र'में यही बात यों कही गयी है—

आग्नेयमन्त्रः सौम्यः स्यात् प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः । सौम्यमन्त्रस्तथाऽऽग्नेयः फटकारेणान्वितोऽन्ततः ॥

समय दोनोंका जप किया जा सकता है[1]।) दुष्ट नक्षत्र, दुष्ट राशि तथा शत्रुरूप आदि अक्षरवाले मन्त्रोंको अवश्य त्याग देना चाहिये[2]॥ ५—९ १/२ ॥

(नक्षत्र-चक्र)

राज्यलाभोपकाराय प्रारभ्यारिः स्वरः कुरून्॥
गोपालकुकुटीं प्रायात् फुल्लावित्युदिता लिपिः[3]।

(साधकके नामके प्रथम अक्षरको तथा मन्त्रके आदि अक्षरको लेकर गणना करके यह जानना है कि उस साधकके लिये वह मन्त्र अनुकूल है या प्रतिकूल? इसीके लिये उपर्युक्त श्लोक एक संकेत देता है—) 'राज्य'से लेकर 'फुल्लौ'तक लिपिका ही संकेत है। '**इत्युदिता लिपिः**' इस प्रकार लिपि कही गयी है। 'नारायणीय-तन्त्र'में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अश्विनीसे लेकर उत्तरभाद्रपदातकके छब्बीस नक्षत्रोंमें 'अ'से लेकर 'ह' तकके अक्षरोंको बाँटना है। किस नक्षत्रमें कितने अक्षर लिये जायँगे, इसके लिये उपर्युक्त श्लोक संकेत देता है। 'रा' से 'ल्लौ' तक छब्बीस अक्षर हैं; वे छब्बीस नक्षत्रोंके प्रतीक हैं। तन्त्रशास्त्रियोंने अपने संकेतवचनोंमें केवल व्यञ्जनोंको ग्रहण किया है और समस्त व्यञ्जनोंको कवर्ग, टवर्ग, पवर्ग तथा यवर्गमें बाँटा है। संकेत-लिपिका जो अक्षर जिस वर्गका प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ अक्षर है, उससे उतनी ही संख्याएँ ली जायँगी। संयुक्ताक्षरोंमेंसे अन्तिम अक्षर ही गृहीत होगा। स्वरोंपर कोई संख्या नहीं है। उपर्युक्त श्लोकमें पहला अक्षर 'रा' है। यह यवर्गका दूसरा अक्षर है, अतः उससे दो संख्या ली जायगी। इस प्रकार 'रा' यह संकेत करता है कि अश्विनी-नक्षत्रमें दो अक्षर 'अ आ' गृहीत होंगे। दूसरा अक्षर है 'ज्य', यह संयुक्ताक्षर है, इसका अन्तिम अक्षर 'य' गृहीत होगा। वह अपने वर्गका प्रथम अक्षर है, अतः एकका बोधक होगा। इस प्रकार पूर्वोक्त 'ज्य'के संकेतानुसार भरणी नक्षत्रमें एक अक्षर 'इ' लिखा जायगा। इस बातको ठीक समझनेके लिये निम्नाङ्कित

---

१. 'बृहन्नारायणीय-तन्त्र'में इसी भावकी पुष्टि निम्नाङ्कित श्लोकोंद्वारा की गयी है—

सुप्तः प्रबुद्धमात्रो वा मन्त्रः सिद्धिं न यच्छति । स्वापकालो वामवहो जागरो दक्षिणावहः॥
आग्नेयस्य मनोः सौम्यमन्त्रस्यैतद्विपर्ययः । प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयावहः॥
स्वापकाले तु मन्त्रस्य जपोऽनर्थफलप्रदः।

इसमें स्पष्ट कहा गया है कि मन्त्र जब सो रहा हो, उस समय उसका जप अनर्थ-फलदायक होता है। 'नारायणीय-तन्त्र'में 'स्वाप' और 'जागरणकाल'को और भी स्पष्टताके साथ बताया गया है। वामनाड़ी, इडानाड़ी और चन्द्रनाड़ी एक वस्तु है तथा दक्षिणनाड़ी, सूर्यनाड़ी एवं पिङ्गलानाड़ी एक अर्थके वाचक पद हैं। पिङ्गलानाड़ीमें श्वासवायु चलती हो तो 'आग्नेय मन्त्र' प्रबुद्ध होते हैं, इडानाड़ीमें श्वासवायु चलती हो तो 'सोममन्त्र' जाग्रत् रहते हैं। पिङ्गला और इडा दोनोंमें श्वासवायुकी स्थिति हो अर्थात् यदि सुषुम्णामें श्वासवायु चलती हो तो सभी मन्त्र प्रबुद्ध (जाग्रत्) होते हैं। प्रबुद्ध मन्त्र ही साधकोंको अभीष्ट फल देते हैं। यथा—

पिङ्गलायां गते वायौ प्रबुद्धा ह्यग्निरूपिणः। इडां गते तु पवने बुध्यन्ते सोमरूपिणः॥
पिङ्गलेडागते वायौ प्रबुद्धाः सर्व एव हि। प्रबुद्धा मनवः सर्वे साधकानां फलन्त्युमे॥

२. जैसा कि 'भैरवी-तन्त्र'में कहा गया है—

दुष्टर्क्षराशिमूलेभूतादिवर्णप्रचुरमन्त्रकम् । सम्यक् परीक्ष्य तं यत्नाद् वर्जयेन्मतिमान् नरः॥

३. 'श्रीरुद्रयामल'में तथा 'नारायणीय तन्त्र'में भी यह श्लोक आया है, जो लिपि (अक्षर)-का संकेतमात्र है। इसमें शब्दार्थ अपेक्षित नहीं है। 'शारदातिलक'में दूसरा श्लोक संकेतके लिये प्रयुक्त हुआ है। इसमें छब्बीस नक्षत्रोंमें अक्षरोंके विभाजनका संकेत है, जो ज्यौतिषकी प्रक्रियासे भिन्न है।

चक्र देखिये—

रा	२	आश्विनी	अ आ
ज्य	१	भरणी	इ
ला	३	कृत्तिका	ई उ ऊ
भो	४	रोहिणी	ऋ ॠ ऌ ॡ
प	१	मृगशिरा	ए
का	१	आर्द्रा	ऐ
रा	२	पुनर्वसु	ओ औ
य	१	पुष्य	क
प्रा	२	आश्लेषा	ख ग
र	२	मघा	घ ङ
भ्या	१	पूर्वाफाल्गुनी	च
रि:	२	उत्तराफाल्गुनी	छ ज
स्व	२	हस्त	झ ञ
र:	२	चित्रा	ट ठ
कु	१	स्वाती	ड
रून्	२	विशाखा	ढ ण
गो	३	अनुराधा	त थ द
पा	१	ज्येष्ठा	ध
लान्	३	मूल	न प फ
कु	१	पूर्वाषाढ़ा	ब
कु	१	उत्तराषाढ़ा	भ
टी	१	श्रवण	म
प्रा	२	धनिष्ठा	य र
यान्	१	शतभिषा	ल
फु	२	पूर्वभाद्रपदा	व श
ल्लौ	३	उत्तरभाद्रपदा	ष स ह

यह वर्णमाला नक्षत्रोंके साथ क्रमशः जोड़नी चाहिये। केवल 'अं अः'—ये दो अन्तिम स्वर रेवती नक्षत्रके साथ सदा जुड़े रहते हैं[1] ॥ १०-११ $\frac{१}{२}$ ॥

(इनके द्वारा जन्म, सम्पद्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र तथा अतिमित्र—इन तारोंका विचार किया जाता है। जहाँ साधकके नामका आदि अक्षर है, वहाँसे लेकर मन्त्रके आदि अक्षरतक गिने। उसमें नौका भाग देकर शेषके अनुसार जन्मादि तारोंको जाने।)

(बारह राशियोंमें वर्णोंका विभाजन)

वालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति भेदिताः।
लिप्यर्णा राशिषु ज्ञेयाः षष्ठे शादींश्च योजयेत्॥ १२॥

(जैसा कि पूर्व श्लोकमें संकेत किया है, उसी तरह 'वा'से लेकर 'भा' तकके बारह अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियों तथा ४ आदि संख्याओंकी ओर संकेत करते हैं—) वा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ भा ४। इन संख्याओंमें विभक्त हुए अकार आदि अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियोंमें स्थित जानने चाहिये। 'श ष स ह' इन अक्षरोंको (तथा स्वरान्त्य वर्णों 'अं अः'को) छठी कन्याराशिमें संयुक्त करना चाहिये[2]। क्षकारका मीनराशिमें प्रवेश है[3]। यथा—

४	अ आ इ ई	मेषराशि	१
३	उ ऊ ऋ	वृषराशि	२
३	ॠ ऌ ॡ	मिथुनराशि	३
२	ए ऐ	कर्कराशि	४
२	ओ औ	सिंहराशि	५
२	अं अः (श ष स ह ल)	कन्याराशि	६
५	क ख ग घ ङ	तुलाराशि	७
५	च छ ज झ ञ	वृश्चिकराशि	८
५	ट ठ ड ढ ण	धनुराशि	९
५	त थ द ध न	मकरराशि	१०
५	प फ ब भ म	कुम्भराशि	११
४	य र ल व (क्ष)	मीनराशि	१२

१. 'शारदातिलक'में भी यही बात कही गयी है—
'स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतौ सदा'॥ (२। १२५)

२. 'शारदातिलक' २। १२७ में यह श्लोक कुछ पाठान्तरके साथ ऐसा ही है। उसकी संस्कृत व्याख्यामें यही भाव व्यक्त किया गया है।

३. जैसा कि आचार्योंने कहा है—'अमः शवर्गलेभ्यश्च संजाता कन्यका मता।' तथा—'चतुर्भिर्यादिभिः सार्धं स्यात् क्षकारस्तु मीनगः।'

राशि-ज्ञानका उपयोग—साधकके नामका आदि अक्षर जहाँ हो, उस राशिसे मन्त्रके आदि अक्षरकी राशितक गिने। जो संख्या हो, उसके अनुसार फल जाने। यदि संख्या छठी, आठवीं अथवा बारहवीं हो तो वह निन्द्य है। इन बारह संख्याओंको 'बारह भाव' कहते हैं। उनकी विशेष संख्यासंज्ञा इस प्रकार है—तन, धन, सहज, सुहृद्, पुत्र, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय। मन्त्रके अक्षर यदि मृत्यु, शत्रु तथा व्यय भावके अन्तर्गत हैं तो वे अशुभ हैं।

(सिद्धादि मन्त्र-शोधन-प्रकार)

अ क थ ह	आ ख द क्ष	इ ग ध	ई घ न
उ ङ प	ऊ च फ	ऋ छ ब	ॠ ज भ
ऌ झ म	ॡ ञ य	ए ट र	ऐ ठ ल
ओ ड व	औ ढ श	अं ण ष	अः त स

चौकोर स्थानपर पाँच रेखाएँ पूर्वसे पश्चिमकी ओर तथा पाँच रेखाएँ उत्तरसे दक्षिणकी ओर खींचे। इस प्रकार सोलह कोष्ठ बनाये। इनमें क्रमशः सोलह स्वरोंको लिखा जाय। तदनन्तर उसी क्रमसे व्यञ्जन-वर्ण भी लिखे। तीन आवृत्ति पूर्ण होनेपर चौथी आवृत्तिमें प्रथम दो कोष्ठोंके भीतर क्रमशः 'ह' और 'क्ष' लिखकर सब अक्षरोंकी पूर्ति कर ले। इन सोलहमें प्रथम कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'सिद्ध', दूसरे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'साध्य', तीसरे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'सुसिद्ध' तथा चौथे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'अरि' मानी गयी हैं। जिस साधकके नामका आदि अक्षर जिस चतुष्कमें पड़े, वही उसके लिये 'सिद्ध चतुष्क' है, वहाँसे दूसरा उसके लिये 'साध्य', तीसरा 'सुसाध्य' और चौथा चतुष्क 'अरि' है। जिस चतुष्कके जिस कोष्ठमें साधकका नाम है, वह उसके लिये 'सिद्ध-सिद्ध' कोष्ठ है। फिर प्रदक्षिणक्रमसे उस चतुष्कका दूसरा कोष्ठ 'सिद्धसाध्य', 'सिद्ध-सुसिद्ध' तथा 'सिद्ध-अरि' है। इसी चतुष्कमें यदि मन्त्रका भी आदि अक्षर हो तो इसी गणनाके अनुसार उसके भी 'सिद्ध-सिद्ध', 'सिद्ध-साध्य' आदि भेद जान लेने चाहिये। यदि इस चतुष्कमें अपने नामका आदि अक्षर हो और द्वितीय चतुष्कमें मन्त्रका आदि अक्षर हो तो पूर्व चतुष्कके जिस कोष्ठमें नामका आदि अक्षर है, उस दूसरे चतुष्कमें भी उसी कोष्ठसे लेकर प्रादक्षिण्य-क्रमसे 'साध्यसिद्ध' आदि भेदकी कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार सिद्धादिकी कल्पना करे। सिद्ध-मन्त्र अत्यन्त गुणोंसे युक्त होता है। 'सिद्ध-मन्त्र' जपमात्रसे सिद्ध अर्थात् सिद्धिदायक होता है; 'साध्य-मन्त्र' जप, पूजा और होम आदिसे सिद्ध होता है। 'सुसिद्ध मन्त्र' चिन्तनमात्रसे सिद्ध हो जाता है, परंतु 'अरि मन्त्र' साधकका नाश कर देता है। जिस मन्त्रमें दुष्ट अक्षरोंकी संख्या अधिक हो, उसकी सभीने निन्दा की है॥ १३—१५॥

शिष्यको चाहिये कि वह अभिषेकपर्यन्त दीक्षामें विधिवत् प्रवेश लेकर गुरुके मुखसे तन्त्रोक्त विधिका श्रवण करके गुरुसे प्राप्त हुए अभीष्ट मन्त्रकी साधना करे। जो धीर, दक्ष, पवित्र, भक्तिभावसे सम्पन्न, जप-ध्यान आदिमें तत्पर रहनेवाला, सिद्ध, तपस्वी, कुशल, तन्त्रवेत्ता, सत्यवादी तथा निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ हो, वह 'गुरु' कहलाता है। जो शान्त (मनको वशमें रखनेवाला), दान्त (जितेन्द्रिय), पटु (सामर्थ्यवान्), ब्रह्मचारी, हविष्यान्नभोजी, गुरुकी सेवामें संलग्न और मन्त्रसिद्धिके प्रति उत्साह रखनेवाला हो, वह 'योग्य' शिष्य है। उसको तथा अपने पुत्रको मन्त्रका उपदेश देना चाहिये। शिष्य विनयी तथा गुरुको धन देनेवाला हो। ऐसे शिष्यको गुरु मन्त्रका उपदेश दे और उसकी सुसिद्धिके लिये स्वयं भी एक सहस्रकी संख्यामें जप करे। अकस्मात् कहींसे सुना हुआ, छल अथवा बलसे

प्राप्त किया हुआ, पुस्तकके पन्नेमें लिखा हुआ अथवा गाथामें कहा गया मन्त्र नहीं जपना चाहिये। यदि ऐसे मन्त्रका जप किया जाय तो वह अनर्थ उत्पन्न करता है। जो जप, होम तथा अर्चना आदि भूरि क्रियाओंद्वारा मन्त्रकी साधनामें संलग्न रहता है, उसके मन्त्र स्वल्पकालिक साधनसे ही सिद्ध हो जाते हैं। जिसने एक मन्त्रको भी विधिपूर्वक सिद्ध कर लिया है, उसके लिये इस लोकमें कुछ भी असाध्य नहीं है; फिर जिसने बहुत-से मन्त्र सिद्ध कर लिये हैं, उसके माहात्म्यका किस प्रकार वर्णन किया जाय? वह तो साक्षात् शिव ही है। एक अक्षरका मन्त्र दस लाख जप करनेसे सिद्ध हो जाता है। मन्त्रमें ज्यों-ज्यों अक्षरकी वृद्धि हो, त्यों-ही-त्यों उसके जपकी संख्यामें कमी होती है। इस नियमसे अन्य मन्त्रोंके जपकी संख्याके विषयमें स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिये। बीज-मन्त्रकी अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी संख्यामें मालामन्त्रोंके जपका विधान है। जहाँ जपकी संख्या नहीं बतायी गयी हो, वहाँ मन्त्र-जपादिके लिये एक सौ आठ या एक हजार आठ संख्या जाननी चाहिये। सर्वत्र जपसे दशांश हवन एवं तर्पणका विधान मिलता है॥ १६—२५॥

जहाँ किसी द्रव्य-विशेषका उल्लेख न हो, वहाँ होममें घृतका उपयोग करना चाहिये। जो आर्थिक दृष्टिसे असमर्थ हो, उसके लिये होमके निमित्त जपकी संख्यासे दशांश जपका ही सर्वत्र विधान मिलता है। अङ्ग आदिके लिये भी जप आदिका विधान है। सशक्ति-मन्त्रके जपसे मन्त्रदेवता साधकको अभीष्ट फल देते हैं। वे साधकके द्वारा किये गये ध्यान, होम और अर्चन आदिसे तृप्त होते हैं। उच्चस्वरसे जपकी अपेक्षा उपांशु (मन्दस्वरसे किया गया) जप दसगुना श्रेष्ठ कहा गया है। यदि केवल जिह्वा हिलाकर जप किया जाय तो वह सौ गुना उत्तम माना गया है। मानस (मनके द्वारा किये जानेवाले) जपका महत्त्व सहस्रगुना उत्तम कहा गया है। मन्त्र-सम्बन्धी कर्मका सम्पादन पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख होकर करना चाहिये। मौन होकर विहित आहार ग्रहण करते हुए प्रणव आदि सभी मन्त्रोंका जप करना चाहिये। देवता तथा आचार्यके प्रति समान दृष्टि रखते हुए आसनपर बैठकर मन्त्रका जप करे। कुटी, एकान्त एवं पवित्र स्थान, देवमन्दिर, नदी अथवा जलाशय—ये जप करनेके लिये उत्तम देश हैं। मन्त्र-सिद्धिके लिये जौकी लप्सी, मालपूए, दुग्ध एवं हविष्यान्नका भोजन करे। साधक मन्त्रदेवताका उनकी तिथि, वार, कृष्णपक्षकी अष्टमी-चतुर्दशी तथा ग्रहण आदि पर्वोंपर पूजन करे। अश्विनीकुमार, यमराज, अग्नि, धाता, चन्द्रमा, रुद्र, अदिति, बृहस्पति, सर्प, पितर, भग, अर्यमा, सूर्य, त्वष्टा, वायु, इन्द्राग्नि, मित्र, इन्द्र, जल, निर्ऋति, विश्वेदेव, विष्णु, वसुगण, वरुण, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य और पूषा—ये क्रमशः अश्विनी आदि नक्षत्रोंके देवता हैं। प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशीपर्यन्त तिथियोंके देवता क्रमशः निम्नलिखित हैं—अग्नि, ब्रह्मा, पार्वती, गणेश, नाग, स्कन्द, सूर्य, महेश, दुर्गा, यम, विश्वदेव, विष्णु, कामदेव और ईश, पूर्णिमाके चन्द्रमा और अमावस्याके देवता पितर हैं। शिव, दुर्गा, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी और कुबेर—ये क्रमशः रविवार आदि वारोंके देवता हैं। अब मैं 'लिपिन्यास'का वर्णन करता हूँ॥ २६—३६ $\frac{1}{2}$ ॥

साधक निम्नलिखित प्रकारसे लिपि (मातृका) न्यास करे— '**ॐ अं नमः, केशान्तेषु। ॐ आं नमः, मुखे। ॐ इं नमः, दक्षिणनेत्रे। ॐ ईं नमः, वामनेत्रे। ॐ उं नमः, दक्षिणकर्णे। ॐ ऊं नमः, वामकर्णे। ॐ ऋं नमः, दक्षिणनासापुटे। ॐ ॠं नमः, वामनासापुटे। ॐ लृं नमः, दक्षिणकपोले। ॐ ॡं नमः, वामकपोले। ॐ एं नमः, ऊर्ध्वोष्ठे।**

ॐ ऐं नमः, अधरोष्ठे। ॐ ओं नमः, ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐ औं नमः, अधोदन्तपङ्क्तौ। ॐ अं नमः, मूर्ध्नि। ॐ अः नमः, मुखवृत्ते। ॐ कं नमः, दक्षिणबाहुमूले। ॐ खं नमः, दक्षिणकूर्परे। ॐ गं नमः, दक्षिणमणिबन्धे। ॐ घं नमः, दक्षिणहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ङं नमः, दक्षिण-हस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ चं नमः, वामबाहुमूले। ॐ छं नमः, वामकूर्परे। ॐ जं नमः, वाममणिबन्धे। ॐ झं नमः, वामहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ञं नमः, वामहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ टं नमः, दक्षिणपादमूले। ॐ ठं नमः, दक्षिणजानुनि। ॐ डं नमः, दक्षिणगुल्फे। ॐ ढं नमः, दक्षिणपादाङ्गुलिमूले। ॐ णं नमः, दक्षिणपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ तं नमः, वामपादमूले। ॐ थं नमः, वामजानुनि। ॐ दं नमः, वामगुल्फे। ॐ धं नमः, वामपादाङ्गुलिमूले। ॐ नं नमः, वामपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ पं नमः, दक्षिणपार्श्वे। ॐ फं नमः, वामपार्श्वे। ॐ बं नमः, पृष्ठे। ॐ भं नमः, नाभौ। ॐ मं नमः, उदरे। ॐ यं त्वगात्मने नमः, हृदि। ॐ रं असृगात्मने नमः, दक्षांसे। ॐ लं मांसात्मने नमः, ककुदि। ॐ वं मेदात्मने नमः, वामांसे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः, हृदयादि-दक्षहस्तान्तम्। ॐ षं मज्जात्मने नमः, हृदयादि-वामहस्तान्तम्। ॐ सं शुक्रात्मने नमः, हृदयादि-दक्षपादान्तम्। ॐ हं आत्मने नमः, हृदयादिवामपादान्तम्। ॐ लं परमात्मने नमः, जठरे। ॐ क्षं प्राणात्मने नमः, मुखे।' इस प्रकार आदिमें '**प्रणव**' और अन्तमें '**नमः**' पद जोड़कर लिपीश्वरों—मातृकेश्वरोंका न्यास किया जाता है॥ ३७—४०॥

श्रीकण्ठ, अनन्त, सूक्ष्म, त्रिमूर्ति, अमरेश्वर, अर्धीश, भारभूति, तिथीश, स्थाणुक, हर, झिण्टीश, भौतिक, सद्योजात, अनुग्रहेश्वर, अक्रूर तथा महासेन—ये सोलह 'स्वर-मूर्तिदेवता' हैं। क्रोधीश, चण्डीश, पञ्चान्तक, शिवोत्तम, एकरुद्र, कूर्म, एकनेत्र, चतुरानन, अजेश, सर्वेश, सोमेश, लाङ्गलि, दारुक, अर्द्धनारीश्वर, उमाकान्त, आषाढी, दण्डी अद्रि, मीन, मेष, लोहित, शिखी, छगलाण्ड, द्विरण्ड, महाकाल, कपाली, भुजङ्गेश, पिनाकी, खड्गीश, बक, श्वेत, भृगु, नकुली, शिव तथा संवर्तक—ये 'व्यञ्जन-मूर्तिदेवता' माने गये हैं॥ ४१—४६॥

उपर्युक्त श्रीकण्ठ आदि रुद्रोंका उनकी शक्तियोंसहित क्रमशः न्यास करे। (श्रीविद्यार्णव-तन्त्रमें इनकी शक्तियोंके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—पूर्णोदरी, विरजा, शाल्मली, लोलाक्षी, वर्तुलाक्षी, दीर्घघोणा, सुदीर्घमुखी, गोमुखी, दीर्घजिह्वा, कुण्डोदरी, ऊर्ध्वकेशी, विकृतमुखी, ज्वालामुखी, उल्कामुखी, श्रामुखी तथा विद्यामुखी—ये रुद्रोंकी 'स्वर-शक्तियाँ' हैं। महाकाली, महासरस्वती, सर्वसिद्धि, गौरी, त्रैलोक्यविद्या, मन्त्रशक्ति, आत्मशक्ति, भूतमाता, लम्बोदरी, द्राविणी, नागरी, खेचरी, मञ्जरी, रूपिणी, वीरिणी, काकोदरी, पूतना भद्रकाली, योगिनी, शङ्खिनी, गर्जिनी, कालरात्रि, कूर्दिनी, कपर्दिनी, वज्रिका, जया, सुमुखी, रेवती, माधवी, वारुणी, वायवी, रक्षोविदारिणी, सहजा, लक्ष्मी, व्यापिनी और महामाया—ये 'व्यञ्जनस्वरूपा रुद्रशक्तियाँ' कही गयी हैं।)

इनके न्यासकी विधि इस प्रकार है—'**हसौं अं श्रीकण्ठाय पूर्णोदर्यै नमः। हसौं आं अनन्ताय विरजायै नमः।**' इत्यादि। इसी तरह अन्य स्वरशक्तियोंका न्यास करना चाहिये। व्यञ्जन-शक्तियोंके न्यासके लिये यही विधि है। यथा—'**हसौं कं क्रोधीशाय महाकाल्यै नमः। हसौं खं चण्डीशाय महासरस्वत्यै नमः।**' इत्यादि। साधकको चाहिये कि उदयादि अङ्गोंका भी न्यास करे; क्योंकि सम्पूर्ण मन्त्र साङ्ग होनेपर ही सिद्धिदायक होते हैं। हृल्लेखाको व्योम-बीजसे युक्त करके इन अङ्गोंका न्यास करना चाहिये। हृदयादि अङ्ग मन्त्रोंको अन्तमें

जोड़कर बोलना चाहिये। यथा—'**ह्रां हृदयाय नमः। ह्रीं शिरसे स्वाहा। ह्रूं शिखायै वषट्। ह्रैं कवचाय हुम्। ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्रः अस्त्राय फट्।**' यह '**षडङ्गन्यास**' कहा गया है। पञ्चाङ्गन्यासमें नेत्रको छोड़ दिया जाता है। निरङ्ग-मन्त्रका उसके स्वरूपसे ही अङ्गन्यास करके क्रमशः वागीश्वरी देवी (ह्रीं)-का एक लाख जप करे तथा यथोक्त (दशांश) तिलोंकी आहुति दे। लिपियोंकी अधिष्ठात्री देवी वागीश्वरी अपने चार हाथोंमें अक्षमाला, कलश, पुस्तक और कमल धारण करती हैं। कवित्व आदिकी शक्ति प्रदान करती हैं। इसलिये जपकर्मके आदिमें सिद्धिके लिये उनका न्यास करे। इससे अकवि भी निर्मल कवि होता है। मातृका-न्याससे सभी मन्त्र सिद्ध होते हैं॥ ४७—५१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मन्त्र-परिभाषाका वर्णन' नामक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९३ ॥

दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय

नाग-लक्षण*

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं नागोंकी उत्पत्ति, सर्पदंशमें अशुभ नक्षत्र आदि, सर्पदंशके विविध भेद, दंशके स्थान, मर्मस्थल, सूतक और सर्पदष्ट मनुष्यकी चेष्टा—इन सात लक्षणोंको

* अग्निपुराणमें जिस धन्वन्तरि-सुश्रुत-संवादद्वारा आयुर्वेदका प्रतिपादन किया गया है, वही विस्तारपूर्वक 'सुश्रुत' ग्रन्थमें वर्णित है। सर्पोंके सम्बन्धमें 'सुश्रुत' ग्रन्थमें (पू० तन्त्र, कल्पस्थान, अध्याय ४ में) जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश इस प्रकार है—सर्प दो प्रकारके होते हैं—'दिव्य' और 'भौम'। दिव्य सर्प वासुकि और तक्षक आदि हैं। वे इस पृथ्वीका बोझ उठानेवाले हैं; प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे कुपित हो जायँ तो फुफकार और दृष्टिमात्रसे सम्पूर्ण जगत्‌को दग्ध कर सकते हैं। वे सदा नमस्कारके ही योग्य हैं। उनके डसनेकी कोई दवा नहीं है। चिकित्सासे उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

परंतु जो भूमिपर उत्पन्न होनेवाले सर्प हैं, जिनकी दाढोंमें विष होता है तथा जो मनुष्योंको काटते हैं, उनकी संख्या अस्सी है। उन सबके पाँच भेद हैं—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज। राजिमान्‌को ही अग्निपुराणमें 'राजिल' कहा गया है। इनमें 'दर्वीकर' छब्बीस, 'मण्डली' बाईस, 'राजिमान्' (या राजिल) दस, 'निर्विष' बारह तथा 'वैकरञ्ज' तीन प्रकारके होते हैं। वैकरञ्जोंद्वारा मण्डली तथा राजिलके संयोगसे उत्पन्न चित्रित सर्प सात प्रकारके माने गये हैं। मण्डलीके संयोगसे उत्पन्न चार और राजिलके संयोगसे उत्पन्न तीन। इस तरह इनके अस्सी प्रकार हुए।

दर्वीकर सर्प चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अङ्कुशका चिह्न धारण करनेवाले, फणयुक्त तथा शीघ्रगामी होते हैं। मण्डली सर्प विविध मण्डलोंसे चित्रित, मोटे तथा मन्दगामी हुआ करते हैं। वे अग्नि तथा सूर्यके तुल्य तेजस्वी जान पड़ते हैं। राजिमान् अथवा राजिल सर्प चिकने होते हैं। वे तिरछी, ऊर्ध्वगामिनी एवं बहुरंगी रेखाओंद्वारा चित्रित-से जान पड़ते हैं। चरकने भी इन सर्पोंके विषयमें ऐसा ही, किंतु संक्षिप्त विवरण दिया है—

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः। बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पतङ्गः स्यात्तु राजिमान्॥

'फणवाले (दर्वीकर) सर्प वायुको प्रकुपित करते हैं। मण्डली सर्पोंके दंशनसे पित्तका प्रकोप बढ़ता है तथा राजिमान् सर्प कफ-प्रकोपको बढ़ानेवाले होते हैं।' (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, कल्पस्थान ४। २९)

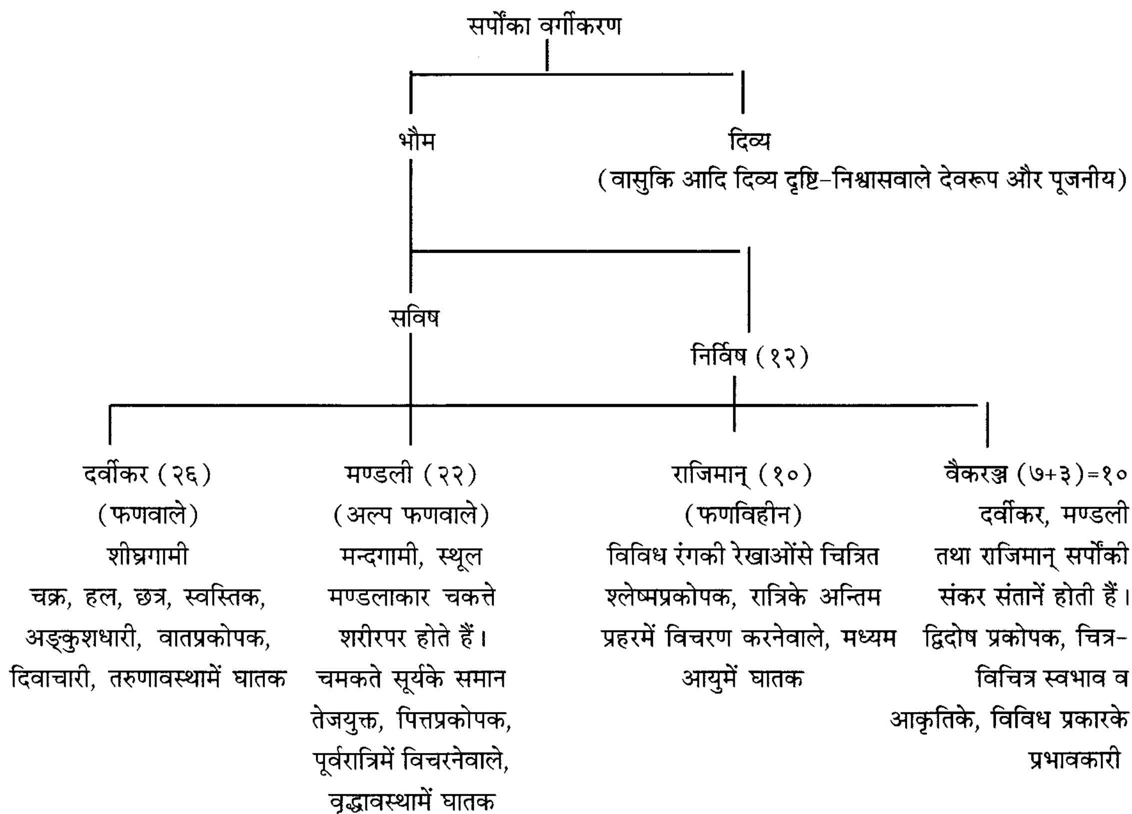
'राजिमान् सर्प रातके पिछले पहरमें, मण्डली सर्प रातके शेष तीन पहरोंमें और दर्वीकर सर्प दिनमें चरते और विचरते हैं।' (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, कल्पस्थान ४। ३१)

'दर्वीकर सर्प तरुणावस्थामें, मण्डली वृद्धावस्थामें और राजिमान् सर्प मध्यवयमें उग्र विषवाले होकर लोगोंकी मृत्युके कारण बनते हैं। (सुश्रुत ४। ३२) मण्डली सर्पोंको गोनस भी कहते हैं।'

'सुश्रुत-संहिता'की 'आयुर्वेद-तत्त्व-संदीपिका' व्याख्यामें सर्पोंका वर्गीकरण इस प्रकार दिया गया है—

कहता हूँ॥ १ ॥

शेष, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंखपाल एवं कुलिक—ये आठ नागोंमें श्रेष्ठ हैं। इन नागोंमेंसे दो नाग ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वैश्य और दो शूद्र कहे गये हैं*। ये चार वर्णोंके नाग क्रमशः दस सौ, आठ सौ, पाँच सौ और तीन सौ फणोंसे युक्त हैं। इनके वंशज पाँच सौ नाग हैं। उनसे असंख्य नागोंकी उत्पत्ति हुई है। आकारभेदसे



'सुश्रुत-संहिता', पू० तन्त्र, कल्पस्थान, अध्याय ४ श्लोक २५ से २८ तक कुछ विशेष चिह्न और रंगोंके आधारपर सर्पोंमें ब्राह्मणादि जातियोंकी परिकल्पना की गयी है। जो सर्प मोती और चाँदीके समान सफेद, कपिल वर्णके सुनहरे रंगके तथा सुगन्धयुक्त होते हैं, वे जातिसे ब्राह्मण माने गये हैं। जो स्निग्ध वर्ण (चिकने), अत्यन्त क्रोधी, सूर्य और चन्द्रमाके समान आकृतिके या छत्र अथवा कमलके समान चिह्न धारण करनेवाले होते हैं, उन्हें क्षत्रिय जातिका सर्प मानना चाहिये। जो काले और वज्रके समान रंगवाले हैं अथवा जो कान्तिसे लाल, धूमिल एवं कबूतरके-से दिखायी देते हैं, वे सर्प वैश्य माने गये हैं। जिनका रंग भैंसों और चीतोंके समान हो, जो कठोर त्वचावाले हों, वे भाँति-भाँतिके विचित्र रंगवाले सर्प शूद्र जातिके होते हैं।

*'तन्त्रसार-संग्रह'की 'विषनारायणीय' टीकामें ब्राह्मण आदि वर्णवाले दो-दो नागोंके क्रमके विषयमें एक श्लोक उपलब्ध होता है—

आद्यन्तौ च तदाद्यन्तौ तदाद्यन्तौ च मध्यगौ।

'आदि और अन्तके नाग ब्राह्मण हैं। उसके बाद पुनः आदि-अन्तके नाग क्षत्रिय हैं, तत्पश्चात् पुनः आदि-अन्तके नाग वैश्य हैं और मध्यवर्ती दो नाग शूद्र हैं।'

'शारदातिलक' १०।७ में इन नागोंको त्वरिता देवीका आभूषण बताया गया है। उक्त श्लोककी टीकामें उद्धृत 'नारायणीय तन्त्र'के श्लोकोंमें इन नागोंका ध्यान इस प्रकार बताया गया है—

अनन्तकुलिकौ विप्रौ वह्निवर्णावुदाहृतौ। प्रत्येकं तु सहस्रेण फणानां समलंकृतौ॥
वासुकिः शङ्खपालश्च क्षत्रियौ पीतवर्णकौ। प्रत्येकं तु फणासप्तशतसंख्याविराजितौ॥
तक्षकश्च महापद्मो वैश्यावेतावही स्मृतौ। नीलवर्णौ फणापञ्चशतौ तुङ्गोत्तमाङ्गकौ॥
पद्मकर्कोटकौ शूद्रौ फणात्रिशतकौ सितौ।

सर्प फणी, मण्डली और राजिल—तीन प्रकारके माने जाते हैं। ये वात, पित्त और कफप्रधान हैं। इनके अतिरिक्त व्यन्तर, दोषमिश्र तथा दर्वीकर जातिवाले सर्प भी होते हैं। ये चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अंकुशके चिह्नोंसे युक्त होते हैं। गोनस सर्प विविध मण्डलोंसे चित्रित, दीर्घकाय और मन्दगामी होते हैं। राजिल सर्प स्निग्ध तथा ऊर्ध्वभाग और पार्श्वभागमें रेखाओंसे सुशोभित होते हैं। व्यन्तर सर्प मिश्रित चिह्नोंसे युक्त होते हैं। इनके पार्थिव, आप्य (जलसम्बन्धी), आग्नेय और वायव्य—ये चार मुख्य भेद और छब्बीस अवान्तर भेद हैं। गोनस सर्पोंके सोलह, राजिलजातीय सर्पोंके तेरह और व्यन्तर सर्पोंके इक्कीस भेद हैं। सर्पोंकी उत्पत्तिके लिये जो काल बताया गया है, उससे भिन्न कालमें जो सर्प उत्पन्न होते हैं, वे 'व्यन्तर' माने गये हैं। आषाढ़से लेकर तीन मासोंतक सर्पोंकी गर्भस्थिति होती है। गर्भस्थितिके चार मास व्यतीत होनेपर (सर्पिणी) दो सौ चालीस अंडे प्रसव करती है। सर्प-शावकके उन अंडोंसे बाहर निकलते ही उनमें स्त्री, पुरुष और नपुंसकके लक्षण प्रकट होनेसे पूर्व ही प्राय: सर्पगण उनको खा जाते हैं। कृष्णसर्प आँख खुलनेपर एक सप्ताहमें अंडेसे बाहर आता है। उसमें बारह दिनोंके बाद ज्ञानका उदय होता है। बीस दिनोंके बाद सूर्यदर्शन होनेपर उसके बत्तीस दाँत और चार दाढ़ें निकल आती हैं। सर्पकी कराली, मकरी, कालरात्रि और यमदूतिका—ये चार विषयुक्त दाढ़ें होती हैं। ये उसके वाम और दक्षिण पार्श्वमें स्थित होती हैं। सर्प छ: महीनेके बाद केंचुलको छोड़ता है और एक सौ बीस वर्षतक जीवित रहता है। शेष आदि सात नाग क्रमश: रवि आदि वारोंके स्वामी माने गये हैं। वे वारेश दिन तथा रात्रिमें भी रहते हैं। (दिनके सात भाग करनेपर पहला भाग वारेशका होता है। शेष छ: भागोंका अन्य छ: नाग क्रमश: उपभोग करते हैं।) शेष आदि सात नाग अपने-अपने वारोंमें उदित होते हैं, किंतु कुलिकका उदय सबके संधिकालमें होता है। अथवा महापद्म और शङ्खपालके साथ कुलिकका उदय माना जाता है। मतान्तरके अनुसार महापद्म और शङ्खपालके मध्यकी दो घड़ियोंमें कुलिक*का उदय होता है। कुलिकोदयका समय सभी कार्योंमें दोषयुक्त

'अनन्त (शेषनाग) और कुलिक—ये दो नाग ब्राह्मण कहे गये हैं। इनकी अङ्गकान्ति अग्निके समान उज्ज्वल है। इनमेंसे प्रत्येक सहस्र फणोंसे समलंकृत हैं। वासुकि और शङ्खपाल—ये क्षत्रिय हैं। इनकी कान्ति पीली है। इनमेंसे प्रत्येक सात सौ फणोंद्वारा सुशोभित हैं। तक्षक और महापद्म—ये दो नाग वैश्य माने गये हैं। इनकी अङ्गकान्ति नीली है। इनके उन्नत मस्तक पाँच-पाँच सौ फणोंसे अलंकृत हैं। पद्म तथा कर्कोटक—ये दो नाग शूद्र हैं और उनकी कान्ति श्वेत है।'

निम्नाङ्कित रीतिसे नागोंके वर्ण आदिको जानना चाहिये—

नागोंके नाम	वर्ण	रंग	फण
१-शेषनाग (अनन्त)	ब्राह्मण	अग्निके समान	१,०००
२-कुलिक	ब्राह्मण	उज्ज्वल	१,०००
१-वासुकि, २ शङ्खपाल	क्षत्रिय	पीत	७००
		अग्निपुराणके अनुसार	८००
१-तक्षक, २ महापद्म	वैश्य	नील	५००
१-पद्म, २ कर्कोटक	शूद्र	श्वेत	३००

* प्रतिदिन दिनमानके सात भागोंमें वारेशसे आरम्भ कर कुलिकके सिवा अन्य सात नाग क्रमश: एक-एक अंशके स्वामी होते हैं। लोकप्रचलित फलित ग्रन्थोंमें शनिका अंश ही कुलिकका अंश माना गया है। इसलिये महापद्म और शङ्खपालके मध्यकी दो घड़ी ही सर्वसम्मत 'कुलिकोदयकाल' प्रतीत होता है।

माना गया है। सर्पदंशमें तो वह विशेषत: अशुभ है। कृत्तिका, भरणी, स्वाती, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपदा, अश्विनी, विशाखा, आर्द्रा, आश्लेषा, चित्रा, श्रवण, रोहिणी, हस्त नक्षत्र, शनि तथा मङ्गलवार एवं पञ्चमी, अष्टमी, षष्ठी, रिक्ता—चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी एवं शिवा (तृतीया) तिथि सर्पदंशमें निन्द्य मानी गयी हैं। पञ्चमी और चतुर्दशी तिथियोंमें सर्पका दंशन विशेषत: निन्दित है। यदि सर्प चारों संध्याओंके समय, दग्धयोग या दग्धराशिमें डँस ले, तो अनिष्टकारक होता है। एक, दो और तीन दंशनोंको क्रमशः 'दष्ट', 'विद्ध' और 'खण्डित' कहते हैं। सर्पका केवल स्पर्श हो, परंतु वह डँसे नहीं तो उसे 'अदंश' कहते हैं। इसमें मनुष्य सुरक्षित रहता है। इस प्रकार सर्पदंशके चार भेद हुए। इनमें तीन, दो एवं एक दंश वेदनाजनक और रक्तस्राव करनेवाले हैं। एक पैर और कूर्मके समान आकारवाले दंश मृत्युसे प्रेरित होते हैं। अङ्गोंमें दाह, शरीरमें चींटियोंके रेंगनेका-सा अनुभव, कण्ठशोथ एवं अन्य पीड़ासे युक्त और व्यथाजनक गाँठवाला दंशन विषयुक्त माना जाता है, इनसे भिन्न प्रकारका सर्पदंश विषहीन होता है। देवमन्दिर, शून्यगृह, वल्मीक (बाँबी), उद्यान, वृक्षके कोटर, दो सड़कों या मार्गोंकी संधि, श्मशान, नदी-सागर-संगम, द्वीप, चतुष्पथ (चौराहा), राजप्रासाद, गृह, कमलवन, पर्वतशिखर, बिलद्वार, जीर्णकूप, जीर्णगृह, दीवाल, शोभाञ्जन, श्लेष्मातक (लिसोडा) वृक्ष, जम्बूवृक्ष, उदुम्बरवृक्ष, वेणुवन (बँसवारी), वटवृक्ष और जीर्ण प्राकार (चहारदीवारी) आदि स्थानोंमें सर्प निवास करते हैं। इन्द्रिय-छिद्र, मुख, हृदय, कक्ष, जत्रु (ग्रीवामूल), तालु, ललाट, ग्रीवा, सिर, चिबुक (ठुड्डी), नाभि और चरण—इन अङ्गोंमें सर्पदंश अशुभ है। विषचिकित्सकको सर्पदंशकी सूचना देनेवाला दूत यदि हाथोंमें फूल लिये हो, सुन्दर वाणी बोलता हो, उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, सर्पदष्ट मनुष्यके समान लिङ्ग एवं जातिका हो, श्वेतवस्त्रधारी हो, निर्मल और पवित्र हो, तो शुभ माना गया है। इसके विपरीत जो दूत मुख्यद्वारके सिवा दूसरे मार्गसे आया हो, शस्त्रयुक्त एवं प्रमादी हो, भूमिपर दृष्टि गड़ाये हो, गंदा या बदरंग वस्त्र पहने हो, हाथमें पाश आदि लिये हो, गद्गदकण्ठसे बोल रहा हो, सूखे काठपर बैठा हो, खिन्न हो तथा जो हाथमें काले तिल लिये हो या लाल रंगके धब्बेसे युक्त वस्त्र धारण किये हो अथवा भीगे वस्त्र पहने हुए हो, जिसके मस्तकके बालोंपर काले और लाल रंगके फूल पड़े हों, अपने कुचोंका मर्दन, नखोंका छेदन या गुदाका स्पर्श कर रहा हो, भूमिको पैरसे खुरच रहा हो, केशोंको नोंच रहा हो या तिनके तोड़ रहा हो, ऐसे दूत दोषयुक्त कहे गये हैं। इन लक्षणोंमेंसे एक भी हो तो अशुभ है॥ २—२८॥

अपनी और दूतकी यदि इडा अथवा पिङ्गला या दोनों ही नाड़ियाँ चल रही हों, उन दोनोंके इन चिह्नोंसे डँसनेवाले सर्पको क्रमशः स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक जाने। दूत अपने जिस अंगका स्पर्श करे, रोगीके उसी अंगमें सर्पका दंश हुआ जाने। दूतके पैर चञ्चल हों तो अशुभ और यदि स्थिर हों तो शुभ माने गये हैं॥ २९-३०॥

किसी जीवके पार्श्वदेशमें स्थित दूत शुभ और अन्य भागोंमें स्थित अशुभ माना गया है। दूतके निवेदनके समय किसी जीवका आगमन शुभ और गमन अशुभ है। दूतकी वाणी यदि अत्यन्त दोषयुक्त हो अथवा सुस्पष्ट प्रतीत न होती हो तो वह निन्दित कही गयी है। उसके सुस्पष्ट एवं विभक्त वचनोंद्वारा यह ज्ञात होता है कि सर्पका

दंशन विषयुक्त है अथवा विषरहित। दूतके वाक्यके आदिमें 'स्वर' और 'कादि' वर्गके भेदसे लिपिके दो प्रकार माने जाते हैं। दूतके वचनसे वाक्यके आरम्भमें स्वर प्रयुक्त हो, तो सर्पदष्ट मनुष्यकी जीवनरक्षा और कादिवर्गोंके प्रयुक्त होनेपर अशुभकी आशङ्का होती है। यह मातृका-विधान है। 'क' आदि वर्गोंमें आरम्भके चार अक्षर क्रमशः वायु, अग्नि, इन्द्र और वरुणदेवता-सम्बन्धी होते हैं। कादि वर्गोंके पञ्चम अक्षर नपुंसक माने गये हैं। 'अ' आदि स्वर ह्रस्व और दीर्घके भेदसे क्रमशः इन्द्र एवं वरुणदेवता-सम्बन्धी होते हैं। दूतके वाक्यारम्भमें वायु और अग्निदैवत्य अक्षर दूषित और ऐन्द्र अक्षर मध्यम फलप्रद हैं। वरुणदैवत्य वर्ण उत्तम और नपुंसक वर्ण अत्यन्त अशुभ हैं॥ ३१—३५॥

विषचिकित्सकके प्रस्थानकालमें मङ्गलमय वचन, मेघ और गजराजकी गर्जना, दक्षिणपार्श्वमें फलयुक्त वृक्ष हो और वामभागमें किसी पक्षीका कलरव हो रहा हो, तो वह विजय या सफलताका सूचक है। प्रस्थानकालमें गीत आदिके शब्द शुभ होते हैं। दक्षिणभागमें अनर्थसूचक वाणी, चक्रवाकका रुदन—ऐसे लक्षण सिद्धिके सूचक हैं। पक्षियोंकी अशुभ ध्वनि और छींक—ये कार्यमें असिद्धि प्रदान करते हैं। वेश्या, ब्राह्मण, राजा, कन्या, गौ, हाथी, ढोलक, पताका, दुग्ध, घृत, दही, शङ्ख, जल, छत्र, भेरी, फल, मदिरा, अक्षत, सुवर्ण और चाँदी—ये लक्षण सम्मुख होनेपर कार्यसिद्धिके सूचक हैं। काष्ठपर अग्निसे युक्त शिल्पकार, मैले कपड़ोंका बोझ ढोनेवाले पुरुष, गलेमें टंक (पाषाणभेदक शस्त्र) धारण किये हुए मनुष्य, शृगाल, गृध्र, उलूक, कौड़ी, तेल, कपाल और निषिद्ध भस्म—ये लक्षण नाशके सूचक हैं। विषके एक धातुसे दूसरे धातुमें प्रवेश करनेसे विषसम्बन्धी सात रोग होते हैं। विषदंश पहले ललाटमें, ललाटसे नेत्रमें और नेत्रसे मुखमें जाता है। मुखमें प्रविष्ट होनेके बाद वह सम्पूर्ण धमनियोंमें व्याप्त हो जाता है। फिर क्रमशः धातुओंमें प्रवेश करता है॥ ३६—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नागलक्षणकथन नामक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९४॥

दो सौ पंचानबेवाँ अध्याय

दष्ट-चिकित्सा

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं मन्त्र, ध्यान और ओषधिके द्वारा साँपके द्वारा डँसे हुए मनुष्यकी चिकित्साका वर्णन करता हूँ। '**ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय**'—इस मन्त्रके जपसे विषका नाश होता है*। घृतके साथ गोबरके रसका पान करे। यह ओषधि साँपके डसे हुए मनुष्यके जीवनकी रक्षा करती है। विष दो प्रकारके कहे जाते हैं—'जङ्गम' विष, जो सर्प

* 'सुश्रुत'में मन्त्रग्रहणकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'स्त्री, मांस और मधु (मद्य)-का सेवन छोड़कर, मिताहारी और पवित्र होकर मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। मन्त्र-साधकको कुशके आसनपर बैठना और सोना चाहिये। मन्त्रकी सिद्धिके लिये वह यत्नपूर्वक गन्ध, माल्य, उपहार, बलि, जप और होमके द्वारा देवताओंका पूजन करे। अविधिपूर्वक उच्चारित अथवा स्वरवर्णसे हीन मन्त्र सिद्धिप्रद नहीं होते हैं। इसलिये मन्त्रप्रयोगके साथ-साथ औषध-उपचार आदिका क्रम भी चालू रखना चाहिये।'

(सुश्रुत, उत्तर तन्त्र, कल्पस्थान ५। १३)

और मूषक आदि प्राणियोंमें पाया जाता है एवं दूसरा 'स्थावर' विष, जिसके अन्तर्गत शृङ्गी (सिंगिया) आदि विषभेद हैं॥ १-२॥

शान्तस्वरसे युक्त ब्रह्मा (क्षौं), लोहित (ह्रीं), तारक (ॐ) और शिव (हौं)—यह चार अक्षरोंका वियति-सम्बन्धी नाममन्त्र है*। इसे शब्दमय तार्क्ष्य (गरुड) माना गया है॥ ३-४॥

'ॐ ज्वल महामते हृदयाय नमः, गरुड विशाल शिरसे स्वाहा, गरुड शिखायै वषट्, गरुडविषभञ्जन प्रभेदन प्रभेदन वित्रासय वित्रासय विमर्द्दय विमर्द्दय कवचाय हुम्, उग्ररूपधारक सर्वभयंकर भीषय भीषय सर्वं दह दह भस्मीकुरु कुरु स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट्। अप्रतिहतशासनं वं हूं फट् अस्त्राय फट्।'

मातृकामय कमल बनावे। उसके आठों दिशाओंमें आठ दल हों। पूर्वादि दलोंमें दो-दोके क्रमसे समस्त स्वरवर्णोंको लिखे। कवर्गादि सात वर्गोंके अन्तिम दो-दो अक्षरोंका भी प्रत्येक दलमें उल्लेख करे। उस कमलके केसरभागको वर्गके आदि अक्षरोंसे अवरुद्ध करे तथा कर्णिकामें अग्निबीज 'रं' लिखे। मन्त्रका साधक उस कमलको हृदयस्थ करके बायें हाथकी हथेलीपर उसका चिन्तन करे। अङ्गुष्ठ आदिमें वियति-मन्त्रके वर्णोंका न्यास करे और उनके द्वारा भेदित कलाओंका भी चिन्तन करे। तदनन्तर चौकोर 'भू-पुर' नामक मण्डल बनावे, जो पीले रंगका हो और चारों ओरसे वज्रद्वारा चिह्नित हो। यह मण्डल इन्द्रदेवताका होता है। अर्धचन्द्राकार वृत्त जलदेवता-सम्बन्धी है। कमलका आधा भाग शुक्लवर्णका है। उसके देवता वरुण हैं। फिर स्वस्तिक-चिह्नसे युक्त त्रिकोणाकार तेजोमय वह्निदेवताके मण्डलका चिन्तन करे। वायुदेवताका मण्डल बिन्दुयुक्त एवं वृत्ताकार है। वह कृष्णमालासे सुशोभित है, ऐसा चिन्तन करे॥ ५—८॥

ये चार भूत अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका—इन चार अँगुलियोंके मध्यपर्वोंमें स्थित अपने निवासस्थानोंमें विराजमान हैं और सुवर्णमय नागवाहनसे इनके वासस्थान आवेष्टित हैं। इस प्रकार चिन्तनपूर्वक क्रमशः पृथ्वी आदि तत्त्वोंका अङ्गुष्ठ आदिके मध्यपर्वमें न्यास करे। साथ ही वियति-मन्त्रके चार वर्णोंको भी क्रमशः उन्हींमें विन्यस्त करे। इन वर्णोंकी कान्ति उनके सुन्दर मण्डलोंके समान है। इस प्रकार न्यास करनेके पश्चात् रूपरहित शब्दतन्मात्रमय शिवदेवताके आकाशतत्त्वका कनिष्ठाके मध्यपर्वमें चिन्तन करके उसके भीतर वेदमन्त्रके प्रथम अक्षरका न्यास करे। पूर्वोक्त नागोंके नामके आदि अक्षरोंका उनके अपने मण्डलोंमें न्यास करे। पृथ्वी आदि भूतोंके आदि अक्षरोंका अङ्गुष्ठ आदि अँगुलियोंके अन्तिम पर्वोंपर न्यास करे तथा विद्वान् पुरुष गन्धतन्मात्रादिके गन्धादि गुणसम्बन्धी अक्षरोंका पाँचों अँगुलियोंमें न्यास करे॥ ९—१२॥

इस प्रकार न्यास-ध्यानपूर्वक तार्क्ष्य-मन्त्रसे रोगीके हाथका स्पर्शमात्र करके मन्त्रज्ञ विद्वान् उसके स्थावर-जंगम दोनों प्रकारके विषोंका नाश कर देता है। विद्वान् पुरुष पृथ्वीमण्डल आदिमें विन्यस्त वियति-मन्त्रके चारों वर्णोंका अपनी श्रेष्ठ दो अँगुलियोंद्वारा शरीरके नाभिस्थानों और पर्वोंमें न्यास करे। तदनन्तर गरुडके स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करे—'पक्षिराज गरुड दोनों घुटनोंतक सुनहरी आभासे सुशोभित हैं। घुटनोंसे लेकर नाभितक उनकी अङ्गकान्ति बर्फके समान सफेद है। वहाँसे कण्ठतक वे कुङ्कुमके समान अरुण प्रतीत होते हैं और कण्ठसे केशपर्यन्त

* इन चारों अक्षरोंका उद्धार 'तन्त्राभिधानकोष'के अनुसार किया गया है।

उनकी कान्ति असित (श्याम) है। वे समूचे ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। उनका नाम चन्द्र है और वे नागमय आभूषणसे विभूषित हैं। उनकी नासिकाका अग्रभाग नीले रंगका है और उनके पंख बड़े विशाल हैं।' मन्त्रज्ञ विद्वान् अपने-आपका भी गरुडके रूपमें ही चिन्तन करे। इस तरह गरुडस्वरूप मन्त्रप्रयोक्ता पुरुषके वाक्यसे मन्त्र विषपर अपना प्रभाव डालता है। गरुडके हाथकी मुट्ठी रोगीके हाथमें स्थित हो तो वह उसके अङ्गुष्ठमें स्थित विषका विनाश कर देती है। मन्त्रज्ञ पुरुष अपने गरुडस्वरूप हाथको ऊपर उठाकर उसकी पाँचों अँगुलियोंके चालनमात्रसे विषसे उत्पन्न होनेवाले मदपर दृष्टि रखते हुए उस विषका स्तम्भन आदि कर सकता है॥ १३—१७ $\frac{१}{२}$ ॥

आकाशसे लेकर भू-बीजपर्यन्त जो पाँच बीज हैं, उन्हें 'पञ्चाक्षर मन्त्रराज' कहा गया है। (उसका स्वरूप इस प्रकार है—**हं, यं, रं, वं, लं**।) अत्यन्त विषका स्तम्भन करना हो तो इस मन्त्रके उच्चारणमात्रसे मन्त्रज्ञ पुरुष विषको रोक देता है। यह 'व्यत्यस्तभूषण' बीजमन्त्र है। अर्थात् इन बीजोंको उलट-फेरकर बोलना इस मन्त्रके लिये भूषणरूप है। इसको अच्छी तरह साध लिया जाय और इसके आदिमें '**संप्लवं प्लावय प्लावय**'—यह वाक्य जोड़ दिया जाय तो मन्त्र-प्रयोक्ता पुरुष इसके प्रयोगसे विषका संहार कर सकता है॥ १८-१९ $\frac{१}{२}$ ॥

इस मन्त्रके भलीभाँति जपसे अभिमन्त्रित जलके द्वारा अभिषेक करनेमात्रसे यह मन्त्र अपने प्रभावद्वारा उस रोगीसे डंडा उठवा सकता है, अथवा मन्त्रजपपूर्वक की गयी शङ्खभेर्यादिकी ध्वनिको सुननेमात्रसे यह प्रयोग रोगीके विषको अवश्य ही दग्ध कर देता है। यदि भू-बीज '**लं**' तथा तेजोबीज '**रं**' को उलटकर रखा जाय, अर्थात् '**हं, यं, लं, वं, रं**'—इस प्रकार मन्त्रका स्वरूप कर दिया जाय तो उसका प्रयोग भी उपर्युक्त फलका साधक होता है। अर्थात् उससे भी विषका दहन हो जाता है। भू-बीज और वायु-बीजका व्यत्यय करनेसे जो मन्त्र बनता है वह (**हं लं रं वं यं**) विषका संक्रामक होता है, अर्थात् उसका अन्यत्र संक्रमण करा देता है। मन्त्र-प्रयोक्ता पुरुष रोगीके समीप बैठा हो या अपने घरमें स्थित हो, यदि गरुडके स्वरूपका चिन्तन तथा अपने-आपमें भी गरुडकी भावना करके '**रं वं,**'—इन दो ही बीजोंका उच्चारण (जप) करे तो इस कर्मको सफल बना सकता है। गरुड और वरुणके मन्दिरमें स्थित होकर उक्त मन्त्रका जप करनेसे मन्त्रज्ञ पुरुष विषका नाश कर देता है। 'स्वधा' और श्रीके बीजोंसे युक्त करके यदि इस मन्त्रको बोला जाय तो इसे 'जानुदण्डिमन्त्र' कहते हैं। इसके जपपूर्वक स्नान और जलपान करनेसे साधक सब प्रकारके विष, ज्वर, रोग और अपमृत्युपर विजय पा लेता है॥ २०—२४॥

१-पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि वि वि स्वाहा।

२-पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि क्षि क्षि स्वाहा॥

—ये दो पक्षिराज गरुडके मन्त्र हैं। इनके द्वारा अभिमन्त्रण करने, अर्थात् इनके जपपूर्वक रोगीको झाड़नेसे ये दोनों मन्त्र विषके नाशक होते हैं॥ २५-२६॥

'**पक्षिराजाय विद्महे पक्षिदेवाय धीमहि तन्नो गरुडः प्रचोदयात्**।'—यह गरुड-गायत्रीमन्त्र है॥ २७॥

उपर्युक्त दोनों पक्षिराज-मन्त्रोंको '**रं**' बीजसे आवृत्त करके उनके पार्श्वभागमें भी '**रं**' बीज जोड़ दे। तदनन्तर दन्त, श्री, दण्डि, काल और लाङ्गलीसे उन्हें युक्त कर दे और आदिमें

पूर्वोक्त 'नीलकण्ठ-मन्त्र' जोड़ दे। इस प्रकार बताये गये मन्त्रका वक्षःस्थल, कण्ठ और शिखामें न्यास करे। उक्त दोनों मन्त्रोंका संस्कार करके उन्हें स्तम्भमें अङ्कित करे॥ २८॥

इसके पश्चात् निम्नाङ्कित रूपसे न्यास करे—**'हर हर स्वाहा हृदयाय नमः। कपर्दिने स्वाहा शिरसे स्वाहा। नीलकण्ठाय स्वाहा शिखायै वषट्। कालकूटविषभक्षणाय हुं फट् कवचाय हुम्।'** इससे भुजाओं तथा कण्ठका स्पर्श करे। **'कृत्तिवाससे नेत्रत्रयाय वौषट् नीलकण्ठाय स्वाहा अस्त्राय फट्*'॥ २९॥**

जिनके पूर्व आदि मुख क्रमशः श्वेत, पीत, अरुण और श्याम हैं, जो अपने चारों हाथोंमें क्रमशः अभय, वरद, धनुष तथा वासुकि नागको धारण करते हैं, जिनके गलेमें यज्ञोपवीत शोभा पाता है और पार्श्वभागमें गौरीदेवी विराजमान हैं, वे भगवान् रुद्र इस मन्त्रके देवता हैं। दोनों पैर, दोनों घुटने, गुह्यभाग, नाभि, हृदय, कण्ठ और मस्तक—इन अङ्गोंमें मन्त्रके अक्षरोंका न्यास करके दोनों हाथोंमें अङ्गुष्ठ आदि अँगुलियोंमें अर्थात् तर्जनीसे लेकर तर्जनीपर्यन्त अँगुलियोंमें मन्त्राक्षरोंका न्यास करके सम्पूर्ण मन्त्रका अङ्गुष्ठोंमें न्यास करे॥ ३०—३२ $\frac{1}{2}$॥

इस प्रकार ध्यान और न्यास करके शीघ्र ही बँधी हुई शूलमुद्राद्वारा विषका संहार करे। कनिष्ठा अँगुली ज्येष्ठासे बँध जाय और तीन अन्य अँगुलियाँ फैल जायँ तो 'शूलमुद्रा' होती है। विषका नाश करनेके लिये बायें हाथका और अन्य कार्यमें दक्षिण हाथका प्रयोग करना चाहिये॥ ३३-३४॥

ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय चिः। अमलकण्ठाय चिः। सर्वज्ञकण्ठाय चिः। क्षिप क्षिप ॐ स्वाहा। अमलनीलकण्ठाय नैकसर्पविषापहाय। नमस्ते रुद्र मन्यवे।

—इस मन्त्रको पढ़कर झाड़नेसे विष नष्ट हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। रोगीके कानमें जप करनेसे अथवा मन्त्र पढ़ते हुए जूतेसे रोगीके पासकी भूमिपर पीटनेसे विष उतर जाता है। रुद्रविधान करके उसके द्वारा नीलकण्ठ महेश्वरका यजन करे। इससे विष-व्याधिका विनाश हो जाता है॥ ३५-३६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'दष्ट-चिकित्साका कथन' नामक दो सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९५॥

दो सौ छियानबेवाँ अध्याय

पञ्चाङ्ग-रुद्रविधान

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'पञ्चाङ्ग-रुद्र-विधान'का वर्णन करता हूँ। यह परम उत्तम तथा सब कुछ प्रदान करनेवाला है। 'शिवसंकल्प' इसका हृदय, 'पुरुषसूक्त' शीर्ष, **'अद्भ्यः सम्भृतः०'** (यजु० ३१। १७) आदि सूक्त शिखा और **'आशुः शिशानः'** आदि अध्याय इसका कवच है। शतरुद्रिय-संज्ञक रुद्रके ये पाँच अङ्ग हैं। रुद्रदेवका ध्यान करके इसके पञ्चाङ्गभूत रुद्रोंका क्रमशः जप करे। **'यज्जाग्रतो०'** आदि छः ऋचाओंका शिवसंकल्प-सूक्त (यजु० ३४। १—६) इसका हृदय है। इसके शिवसंकल्प ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द कहे गये हैं। **'सहस्रशीर्षा०'** (यजु० ३१)-से प्रारम्भ होनेवाला पुरुषसूक्त इसका शीर्षस्थानीय है। इसके नारायण ऋषि,

* यह अङ्गन्यास 'शारदातिलक' और 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इसी प्रकार उपलब्ध है।

पुरुष देवता और अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द जानने चाहिये। '**अद्भ्यः सम्भृतः०**' आदि सूक्तके उत्तरगामी नर ऋषि हैं। इनमें क्रमशः पहले तीन मन्त्रोंका त्रिष्टुप् छन्द, फिर दो मन्त्रोंका अनुष्टुप् छन्द और अन्तिम मन्त्रका त्रिष्टुप् छन्द है तथा पुरुष इसके देवता हैं। '**आशुः शिशानः०**' (यजु० १७।३३) आदि सूक्तमें बारह मन्त्रोंके इन्द्र देवता और त्रिष्टुप् छन्द हैं। इन सत्रह ऋचाओंके सूक्तके ऋषि 'प्रतिरथ' कहे गये हैं, किंतु देवता भिन्न-भिन्न माने गये हैं। कुछ मन्त्रोंके पुरुवित् देवता हैं। अवशिष्ट देवतासम्बन्धी मन्त्रोंका छन्द अनुष्टुप् कहा गया है। '**असौ यस्ताम्रो०**' (यजु० १६।६) मन्त्रके पुरुलिङ्गोक्त देवता और पंक्ति छन्द हैं। '**मर्माणि ते०**' (यजु० १७।४९) मन्त्रका त्रिष्टुप् छन्द और लिङ्गोक्त देवता हैं। सम्पूर्ण रुद्राध्यायके परमेष्ठी ऋषि, '**देवानाम्**' इत्यादि मन्त्रोंके प्रजापति ऋषि और तीनों ऋचाओंके कुत्स ऋषि हैं। '**मा नो महान्तमुत मा नो०**' (यजुर्वेद १६।१५) और '**मा नस्तोके०**' (यजु० १६।१६) आदि दो मन्त्रोंके एकमात्र उमा तथा अन्य मन्त्रोंके रुद्र और रुद्रगण देवता हैं। सोलह ऋचाओंवाले आद्य अनुवाकके रुद्र देवता हैं। प्रथम मन्त्रका छन्द गायत्री, तीन ऋचाओंका अनुष्टुप्, तीन ऋचाओंका पंक्ति, सात ऋचाओंका अनुष्टुप् और दो मन्त्रोंका जगती छन्द है। '**नमो हिरण्यबाहवे०**' (यजु० १६।१७) मन्त्रसे लेकर '**नमो वः किरिकेभ्यः०**' (यजु० १६।४६) तक रुद्रगणकी तीन अशीतियाँ हैं। रुद्रानुवाकके पाँच ऋचाओंके रुद्र देवता हैं। बीसवीं ऋचा भी रुद्रदेवता-सम्बन्धिनी है। पहली ऋचाका छन्द बृहती, दूसरीका त्रिजगती, तीसरीका त्रिष्टुप् और शेष तीनका अनुष्टुप् छन्द है। श्रेष्ठ आचरणसे युक्त पुरुष इसका ज्ञान पाकर उत्तम सिद्धिका लाभ करता है। 'त्रैलोक्य-मोहन' मन्त्रसे भी विष-व्याधि आदिका विनाश होता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—'**इं श्रीं ह्रीं ह्रूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः।**' (त्रैलोक्यमोहन विष्णुको नमस्कार है) निम्नाङ्कित आनुष्टुभ नृसिंह-मन्त्रसे भी विष-व्याधिका विनाश होता है॥ १—१६॥

(आनुष्टुभ नृसिंह-मन्त्र)

ॐ ह्रूं इं उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

'जो उग्र, वीर, सर्वतोमुखी तेजसे प्रज्वलित, भयंकर तथा मृत्युकी भी मृत्यु होते हुए भी भक्तजनोंके लिये कल्याणस्वरूप हैं, उन महाविष्णु नृसिंहका मैं भजन करता हूँ।' हृदयादि पाँच अङ्गोंके न्याससे युक्त यही मन्त्र समस्त अर्थोंको सिद्ध करनेवाला है। श्रीविष्णुके द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर मन्त्र भी विष-व्याधिका नाश करनेवाले हैं। '**कुब्जिका त्रिपुरा गौरी चन्द्रिका विषहारिणी।**'—यह प्रसादमन्त्र विषहारक तथा आयु और आरोग्यका वर्धक है। सूर्य और विनायकके मन्त्र भी विषहारी कहे गये हैं। इसी तरह समस्त रुद्रमन्त्र भी विषका नाश करनेवाले हैं॥ १७—२१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पञ्चाङ्ग-रुद्रविधान' नामक
दो सौ छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९६॥

दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय

विषहारी मन्त्र तथा औषध

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! '**ॐ नमो भगवते रुद्राय च्छिन्द-च्छिन्द विषं ज्वलितपरशुपाणये स्वाहा।**' —इस मन्त्रसे और '**ॐ नमो भगवते पक्षिरुद्राय दष्टकमुत्थापयोत्थापय, दष्टकं कम्पय**

कम्पय जल्पय जल्पय सर्पदष्टमुत्थापयोत्थापय लल लल बन्ध बन्ध मोचय मोचय वररुद्र गच्छ गच्छ वध वध त्रुट त्रुट वुक वुक भीषय भीषय मुष्टिना विषं संहर संहर ठ ठ।'—इस 'पक्षिरुद्र-मन्त्र'से सर्पदष्ट मनुष्यको अभिमन्त्रित करनेपर उसके विषका नाश हो जाता है। **ॐ नमो भगवते रुद्र नाशय विषं स्थावरजङ्गमं कृत्रिमाकृत्रिमं विषमुपविषं नाशय नानाविषं दष्टकविषं नाशय धम धम दम दम वम वम मेघान्धकारधारावर्षकर्षं निर्विषीभव संहर संहर गच्छ गच्छ आवेशय आवेशय विषोत्थापनरूपं मन्त्राद् विषधारणम् 'ॐ क्षिप ॐ क्षिप स्वाहा' 'ॐ ह्रां ह्रीं खीं सः ठं द्रौं ह्रीं ठः।'**—यह मन्त्र जप आदिके द्वारा सिद्ध होनेपर सदैव सर्पोंको बाँध लेता है।

'**गोपीजनवल्लभाय स्वाहा**'—यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थोंको सिद्ध करनेवाला है। इसमें आदिके एक, दो, तीन और चौथा अक्षर बीजके रूपमें होगा। इससे हृदय, सिर, शिखा और कवचका न्यास होगा। फिर '**कृष्णचक्राय अस्त्राय फट्**' बोलनेसे पञ्चाङ्गन्यासकी क्रिया पूरी होगी।

'**ॐ नमो भगवते रुद्राय प्रेताधिपतये हुलु हुलु गर्ज गर्ज नागान् भ्रामय भ्रामय मुञ्च मुञ्च मोहय मोहय कट्ट कट्ट आविश आविश सुवर्णपतङ्ग रुद्रो ज्ञापयति स्वाहा॥ १—५॥**

यह 'पातालक्षोभ-मन्त्र' है। इसके द्वारा रोगीको अभिमन्त्रित करनेसे यह उसके लिये विषनाशक होता है। दंशक सर्पके डँस लेनेपर जलते काष्ठ, तप्त शिला, आगकी ज्वाला अथवा गरम कोकनद (कमल) आदिके द्वारा दंश-स्थानको जला दे—सेंक दे; इससे विषका उपशमन होता है। शिरीषवृक्षके बीज और पुष्प, आकके दूध और बीज एवं सोंठ, मिर्च तथा पीपल—ये पान, लेपन और अञ्जन आदिके द्वारा विषका नाश करते हैं। शिरीष-पुष्पके रससे भावित सफेद मिर्च पान, नस्य और अञ्जन आदिके द्वारा विषका उपसंहार करती है, इसमें संशय नहीं है। कड़वी तोरई, वच, हींग तथा शिरीष और आकका दूध, त्रिकटु और मेषाम्भ—इनका नस्य आदिके रूपमें प्रयोग होनेपर ये विषका हरण करते हैं। अङ्कोल और कड़वी तुम्बीके सर्वाङ्गके चूर्णसे नस्य लेनेसे विषका अपहरण होता है। इन्द्रायण, चित्रक, द्रोण (गूमा), तुलसी, धतूरा और सहा—इनके रसमें त्रिकटुके चूर्णको भिगोकर खानेसे विषका नाश होता है। कृष्णपक्षकी पञ्चमीको लाया हुआ शिरीषका पञ्चाङ्ग विषहारी है॥ ६—१२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विषहारी मन्त्रौषधका कथन' नामक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९७॥

दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय

गोनसादि-चिकित्सा

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं तुम्हारे सम्मुख गोनस आदि जातिके सर्पोंके विषकी चिकित्साका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। '**ॐ ह्रां ह्रीं अमलपक्षि स्वाहा**'—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित ताम्बूलके प्रयोगसे मन्त्रवेत्ता मण्डली (गोनस) सर्पके विषका हरण करता है। लहसुन, अङ्कोल, त्रिफला, कूट, वच और त्रिकटु—इनका सर्पविषमें पान करे। सर्पविषमें स्नुहीदुग्ध, गोदुग्ध, गोदधि और गोमूत्रमें पकाया हुआ गोघृत पान करना चाहिये। राजिलजातीय सर्पके डँस लेनेपर सैन्धवलवण, पीपल, घृत, मधु, गोमयरस और साहीकी आँतका भक्षण करना

चाहिये। सर्पदष्ट मनुष्यको पीपल, शर्करा, दुग्ध, घृत और मधुका पान करना चाहिये। त्रिकटु, मयूरपिच्छ, विडालकी अस्थि और नेवलेका रोम—इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर भेड़के दूधमें भिगोकर उसकी धूप देनेसे सभी प्रकारके विषोंका विनाश होता है। पाठा, निर्गुण्डी और अङ्कोलके पत्रको समान भागमें लेकर तथा सबके समान लहसुन लेकर बनाया हुआ धूप भी विषनाशक है। अगस्त्यके पत्तोंको काँजीमें पकाकर उसकी भापसे डसे हुए स्थानको सेंका जाय, इससे विष उतर जाता है॥ १—७॥

मूषक सोलह प्रकारके कहे गये हैं। कपासका रस तेलके साथ पान करनेसे 'मूषक-विष'का नाश होता है। फलिनी (फलिहारी)-के फूलोंका सोंठ और गुड़के साथ भक्षण करना चाहिये। यह विषरोगनाशक है। लूताएँ (मकड़ी) बीस प्रकारकी कही गयी हैं। इनके विषकी सावधानीसे चिकित्सा करनी चाहिये। पद्म, पद्माक, काष्ठ, पाटला, कूट, तगर, नेत्रबाला, खस, चन्दन, निर्गुण्डी, सारिवा और शेलु (लिसोडा)—ये लूता-विषहारीगण हैं। गुञ्जा, निर्गुण्डी और अङ्कोलके पत्र, सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी, करञ्जकी छाल—इनको पकाकर 'लूताविष'से पीड़ित मनुष्यका पूर्वोक्त ओषधियोंसे युक्त जलके द्वारा सेचन करे॥ ८—१३॥

अब 'वृश्चिक-विष'का अपहरण करनेवाली ओषधियोंको सुनो। मञ्जिष्ठा, चन्दन, त्रिकटु तथा शिरीष, कुमुदके पुष्प—इन चारों योगोंको एकत्रित करना चाहिये। ये योग लेप आदि करनेपर वृश्चिक-विषका विनाश करते हैं।

'ॐ नमो भगवते रुद्राय चिवि चिवि च्छिन्द च्छिन्द किरि किरि भिन्द भिन्द खड्गेन च्छेदय च्छेदय शूलेन भेदय भेदय चक्रेण दारय दारय ॐ हूं फट्।'

इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित अगद (औषध) विषार्त मनुष्यको दे। यह गर्दभ आदिके विषका विनाश करता है। त्रिफला, खस, नागरमोथा, नेत्रबाला, जटामांसी, पद्मक और चन्दन—इनको बकरीके दूधके साथ पिलानेपर गर्दभ आदिके विषोंका नाश होता है। शिरीषका पञ्चाङ्ग और त्रिकटु गोजरके विषका हरण करता है। स्नुही-दुग्धके साथ सिरसकी छाल 'उन्दूरज दर्दुर' (मेढक)-के विषका शमन करती है। त्रिकटु और तगरमूल घृतके साथ प्रयुक्त होनेपर 'मत्स्यविष'का नाश करते हैं। यवक्षार, त्रिकटु, वच, हींग, बायबिडंग, सैन्धवलवण, तगर, पाठा, अतिबला और कूट—ये सभी प्रकारके 'कीट-विषों'का विनाश करते हैं। मुलहठी, त्रिकटु, गुड और दुग्धका—इनका योग 'पागल कुत्ते'के विषका हरण करता है॥ १४—१७॥

'ॐ सुभद्रायै नमः, ॐ सुप्रभायै नमः'—यह ओषधि उखाड़नेका मन्त्र है। भगवान् ब्रह्माने सुप्रभादेवीको आदेश दे रखा है कि मानवगण जो ओषधियाँ बिना विधि-विधानके ग्रहण करते हैं, तुम उन ओषधियोंका प्रभाव ग्रहण करो। इसलिये पहले सुप्रभादेवीको नमस्कार करके ओषधिके चारों ओर मुट्ठीसे जौ बिखेरकर पूर्वोक्त मन्त्रका दस बार जप करके ओषधिको नमस्कार करे और कहे—'तुम ऊर्ध्वनेत्रा हो; मैं तुम्हें उखाड़ता हूँ।' इस विधिसे ओषधिको उखाड़े और निम्नाङ्कित मन्त्रसे उसका भक्षण करे—

नमः पुरुषसिंहाय नमो गोपालकाय च।
आत्मनैवाभिजानाति रणे कृष्णः पराजयम्।
अनेन सत्यवाक्येन अगदो मेऽस्तु सिद्ध्यतु॥

'पुरुषसिंह भगवान् गोपालको बारंबार नमस्कार है। युद्धमें अपनी पराजयकी बात श्रीकृष्ण ही जानते हैं—इस सत्य वाक्यके प्रभावसे यह अगद मुझे सिद्धिप्रद हो।'

स्थावर विषकी ओषधि आदिमें निम्नलिखित

मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये—

'ॐ नमो वैदूर्यमात्रे तत्र रक्ष रक्ष मां सर्वविषेभ्यो गौरि गान्धारि चाण्डालि मातङ्गिनि स्वाहा हरिमाये।'

विषका भक्षण कर लेनेपर पहले वमन कराके विषयुक्त मनुष्यका शीतल जलसे सेचन करे। तदनन्तर उसको मधु और घृत पिलाये और उसके बाद विरेचन कराये॥ १८—२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गोनसादि-चिकित्सा-कथन' नामक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९८॥

दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय

बालादिग्रहहर बालतन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं बालादि ग्रहोंको शान्त करनेवाले 'बालतन्त्र'को कहता हूँ। शिशुको जन्मके दिन 'पापिनी' नामवाली ग्रही ग्रहण कर लेती है। उससे आक्रान्त बालकके शरीरमें उद्वेग बना रहता है। वह माँका दूध पीना छोड़ देता है, लार टपकाता है और बारंबार ग्रीवाको घुमाता है। यह सारी चेष्टा पापिनी ग्रहीके कारणसे ही होती है। इसके निवारणके लिये पापिनी ग्रही और मातृकाओंके उद्देश्यसे उनके योग्य विविध भक्ष्य पदार्थ, गन्ध, माल्य, धूप एवं दीपकी बलि प्रदान करे। पापिनीद्वारा गृहीत शिशुके शरीरमें धातकी, लोध, मजीठ, तालीसपत्र और चन्दनसे लेप करे और गुग्गुलसे धूप दे। जन्मके दूसरे दिन 'भीषणी' ग्रही शिशुको आक्रान्त करती है। उससे आक्रान्त शिशुकी ये चेष्टाएँ होती हैं—वह खाँसी और श्वाससे पीड़ित रहता है तथा अङ्गोंको बारंबार सिकोड़ता है। ऐसे बालकको बकरीके मूत्र, अपामार्ग और चन्दनके साथ घिसी हुई पिप्पलीका सेवन कराना—अनुलेप लगाना चाहिये। गोश्रृंग, गोदन्त तथा केशोंकी धूप दे एवं पूर्ववत् बलि प्रदान करे। तीसरे दिन 'घण्टाली' नामकी ग्रही बच्चेको ग्रहण करती है। उसके द्वारा गृहीत शिशुकी निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं। वह बारंबार रुदन करता है, जँभाइयाँ लेता है, कोलाहल करता है एवं त्रास, गात्रोद्वेग और अरुचिसे युक्त होता है—ऐसे शिशुको केसर, रसाञ्जन, गोदन्त और हस्तिदन्तको बकरीके दूधमें पीसकर लेप लगाये। नख, राई और बिल्वपत्रसे धूप दे तथा पूर्वोक्त बलि अर्पित करे। चौथी ग्रही 'काकोली' कही गयी है। इससे गृहीत बालकके शरीरमें उद्वेग होता है। वह जोर-जोरसे रोता है। मुँहसे गाज निकालता है और चारों दिशाओंमें बारंबार देखता है। इसकी शान्तिके लिये मदिरा और कुल्माष (चना या उड़द)-की बलि दे तथा बालकके गजदन्त, साँपकी केंचुल और अश्वमूत्रका प्रलेप करे। तदनन्तर राई, नीमकी पत्ती और भेड़ियेके केशसे धूप दे। 'हंसाधिका' पाँचवीं ग्रही है। इससे गृहीत शिशु जँभाई लेता, ऊपरकी ओर जोरसे साँस खींचता और मुट्ठी बाँधता है। ऐसी ही अन्य चेष्टाएँ भी करता है। 'हंसाधिका'को पूर्वोक्त बलि दे। इससे गृहीत शिशुके शरीरमें काकड़ासिंगी, बला, लोध, मैनसिल और तालीसपत्रका अनुलेपन करे। 'फट्कारी' छठी ग्रही मानी गयी है। इससे आक्रान्त बालक भयसे चिहुँकता, मोहसे अचेत होता और बहुत रोता है, आहारका त्याग कर देता है और अपने अङ्गोंको बहुत हिलाता-डुलाता है। 'फट्कारी'के उद्देश्यसे भी पूर्वोक्त बलि प्रदान करे। इससे गृहीत शिशुका राई,

गुग्गुल, कूट, गजदन्त और घृतसे धूपन और अनुलेपन करे। 'मुक्तकेशी' नामकी ग्रही जन्मके सातवें दिन बालकपर आक्रमण करती है। इससे आक्रान्त बालक दुःखातुर रहता है। उसके शरीरसे सड़नेकी-सी गन्ध आती है। वह जृम्भा, कोलाहल, अत्यधिक रुदन और काससे पीड़ित रहता है। ऐसे बालकको व्याघ्रके नखोंकी धूप देकर बच, गोमय और गोमूत्रसे अनुलिप्त करे। 'श्रीदण्डी' नामवाली ग्रही शिशुको आठवें दिन पकड़ती है। इससे ग्रस्त बालक दिशाओंको देखता, जीभको हिलाता, खाँसता और रोता है। 'श्रीदण्डी'के उद्देश्यसे पूर्वोक्त पदार्थोंकी विविध बलि दे। इससे पीड़ित शिशुको हींग, बच, सफेद सर्षप और लहसुनसे धूपित तथा अनुलिप्त करे। 'ऊर्ध्वग्रही' नवीं महाग्रही है। इससे ग्रस्त बालक उद्वेग और दीर्घ उच्छ्वाससे युक्त होता है। वह अपनी दोनों मुट्ठियोंको चबाता है। ऐसे शिशुको लाल चन्दन, कूट, बच और सरसोंसे लेप और वानरके नख एवं रोमसे धूपन करे। दसवीं 'रोदनी' नामकी ग्रही है। इससे गृहीत शिशुकी निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं। वह सदा रोता है, उसका शरीर नील वर्ण और सुगन्धसे युक्त हो जाता है। ऐसे शिशुको निम्बका धूप और कूट, बच, राई तथा रालका लेपन करे। 'रोदनी' ग्रहीके उद्देश्यसे लाजा, कुल्माष, वनमूँग और भातकी बलि दे। इस प्रकार ये धूपदान आदिकी क्रियाएँ शिशुके जन्मके तेरहवें दिनतक की जाती हैं। (शेष तीन दिनोंकी सारी क्रियाएँ दसवें दिनके समान समझनी चाहिये।) ॥ १—१८ $\frac{१}{२}$ ॥

एक मासके शिशुको 'पूतना' नामकी ग्रही ग्रहण करती है। उसका स्वरूप शकुनि (पक्षिणी—बकी)-का है। इससे पीड़ित बालक कौएके समान काँव-काँव करता, रोता, लंबी साँसें लेता, आँखोंको बारंबार मींचता और मूत्रके समान गन्धसे युक्त होता है। ऐसे बालकको गोमूत्रसे स्नान कराना और गोदन्तसे धूपित करना चाहिये। 'पूतना'के उद्देश्यसे ग्रामकी दक्षिणदिशामें करञ्जवृक्षके नीचे एक सप्ताहतक प्रतिदिन पीतवस्त्र, रक्तमाल्य, गन्ध, तैल, दीप, त्रिविध पायसान्न, तिल और पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। दो मासके शिशुको 'मुकुटा' नामकी ग्रही ग्रहण करती है। इससे आक्रान्त शिशुका शरीर पीला और ठण्ढा पड़ जाता है। उसको सर्दी होती है, नाकसे पानी गिरता है और मुख सूख जाता है। इस ग्रहीके निमित्त पुष्प, गन्ध, वस्त्र, मालपूए, भात और दीपककी बलि प्रदान करे। इससे ग्रस्त बालकको कृष्णागुरु और सुगन्धबाला आदिसे धूपित करे। बालकको तृतीय मासमें 'गोमुखी' ग्रहण करती है। इससे आक्रान्त शिशु बहुत नींद लेता है, बारंबार मलमूत्र करता है और जोर-जोरसे रोता है। 'गोमुखी'को पहले यव, प्रियङ्गु, कुल्माष, शाक, भात और दूधकी पूर्व दिशामें बलि देनी चाहिये। तदनन्तर मध्याह्नकालमें शिशुको पञ्चभङ्ग* या पञ्चपत्रसे स्नान कराकर घीसे धूपित करे। चतुर्थ मासमें 'पिङ्गला' नामकी ग्रही बालकको पीड़ित करती है। इससे गृहीत बालकका शरीर सफेद और दुर्गन्धयुक्त होकर सूखने लगता है। ऐसे शिशुकी मृत्यु अवश्य हो जाती है। पाँचवीं 'ललना' नामकी ग्रही होती है। इससे पीड़ित शिशुका शरीर शिथिल होता है और मुख सूखने लगता है। उसकी देह पीली पड़ जाती है और अपानवायु निकलती है। 'ललना'की शान्तिके लिये दक्षिणदिशामें पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। छठे मासमें 'पङ्कजा' नामकी ग्रही शिशुको पीड़ित करती है। इससे गृहीत शिशुकी चेष्टाएँ रुदन और विकृत स्वर आदि हैं। 'पङ्कजा'को भी पूर्वोक्त पदार्थ, भात, पुष्प, गन्ध आदिकी बलि प्रदान करे। सातवें महीनेमें 'निराहारा' नामकी ग्रही

* पलाश, गूलर, पीपल, वट और बेलके पत्ते 'पञ्चपत्र' या 'पञ्चभङ्ग कहलाते हैं।'

शिशुको ग्रहण करती है। इससे पीड़ित शिशु दुर्गन्ध और दन्तरोगसे युक्त होता है। 'निराहारा'के निमित्त मिष्टान्न और पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। आठवें मासमें 'यमुना' नामवाली ग्रही शिशुपर आक्रमण करती है। इससे पीड़ित शिशुके शरीरमें दाने (फोड़े-फुन्सियाँ) उभर आते हैं और शरीर सूख जाता है। इसकी चिकित्सा नहीं करानी चाहिये। नवम मासमें 'कुम्भकर्णी' नामवाली ग्रहीसे पीड़ित हुआ बालक ज्वर और सर्दीसे कष्ट पाता है तथा बहुत रोता है। 'कुम्भकर्णी'के शान्त्यर्थ पूर्वोक्त पदार्थ, कुल्माष (उड़द या चना) आदि पदार्थोंकी ईशानकोणमें बलि दे। दशम मासमें 'तापसी' ग्रही बालकपर आक्रमण करती है। इससे ग्रस्त बालक आहारका परित्याग कर देता है और आँखें मूँदे रहता है। 'तापसी'के उद्देश्यसे घण्टा, पताका, पिष्टान्न आदि पदार्थोंकी बलि प्रदान करे। ग्यारहवीं 'राक्षसी' नामकी ग्रही है। इससे गृहीत बालक नेत्ररोगसे पीड़ित होता है। उसकी चिकित्सा व्यर्थ होती है। बारहवें महीनेमें 'चञ्चला' ग्रही शिशुको ग्रहण करती है। इसके द्वारा आक्रान्त बालक दीर्घ निःश्वास और भय आदि चेष्टाओंसे युक्त होता है। इस ग्रहीके शान्त्यर्थ मध्याह्नके समय पूर्वदिशामें कुल्माष और तिल आदिकी बलि दे॥ १९—३२$\frac{1}{2}$॥

द्वितीय वर्षमें 'यातना' नामकी ग्रही शिशुको ग्रहण करती है। इससे शिशुको 'यातना' सहनी पड़ती है और उसमें रोदन आदि दोष प्रकट होते हैं। 'यातना' ग्रहीको तिलके गूदे और पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि दे। स्नान आदि कर्म पूर्ववत् विधिसे करना चाहिये। तृतीय वर्षमें बालकपर 'रोदिनी' अधिकार करती है। इससे ग्रस्त बालक काँपता और रोता है तथा उसके पेशाबमें रक्त आता है। इसके उद्देश्यसे गुड़, भात, तिलका पूआ और पीसे हुए तिलकी बनी प्रतिमा दे। बालकको तिलमिश्रित जलसे स्नान कराकर पञ्चपत्र और राजफलके छिलकेसे धूप दे॥ ३३—३५॥

चतुर्थ वर्षमें 'चटका' नामकी राक्षसी शिशुको ग्रहण करती है। उससे ग्रस्त हुए बालकको ज्वर आता है और सारे अङ्गोंमें व्यथा होती है। चटकाको पूर्वोक्त पदार्थ एवं तिल आदिकी बलि दे और बालकको स्नान कराकर उसके लिये धूपन करे। पञ्चम वर्षमें 'चञ्चला' शिशुपर अधिकार कर लेती है। इससे पीड़ित बालक ज्वर, भय और अङ्ग-शैथिल्यसे युक्त होता है। चञ्चलाको भात आदि पदार्थोंकी बलि दे और बालकको काकड़ासिंगीसे धूपित करे। साथ ही पलाश, गूलर, पीपल, बड़ और बिल्वपत्रके जलसे उसका अभिषेक किया जाय। छठे वर्षमें 'धावनी' नामकी ग्रही बालकपर आक्रमण करती है। उससे गृहीत बालकका शरीर नीरस होकर सूखने लगता है। उसके अङ्ग-अङ्गमें पीड़ा होती है। इसके उद्देश्यसे सात दिनतक पूर्वोक्त पदार्थोंकी बलि और बालकका भृङ्गराजसे स्नापन और धूपन करे॥ ३६—३८$\frac{1}{2}$॥

सप्तम वर्षमें 'यमुना' ग्रहीसे पीड़ित बालक सर्दी, मुक्ता तथा अत्यन्त हास एवं रोदनसे युक्त होता है। इस ग्रहीके निमित्त पायस और पूर्वोक्त पदार्थ आदिकी बलि दे एवं बालकका पूर्ववत् विधिसे स्नापन और धूपन करे। अष्टम वर्षमें 'जातवेदा' नामकी ग्रही बालकपर अधिकार करती है। इससे पीड़ित बालक भोजन छोड़ देता है और बहुत रोता है। जातवेदाके निमित्त कृसर (खिचड़ी), मालपूए और दही आदिकी बलि प्रदान करे। बालकको स्नान कराके धूपित भी करे। नवम वर्षमें 'काला' नामकी ग्रही बालकको पकड़ती है। इससे ग्रस्त बालक अपनी भुजाओंको कँपाता है, गर्जना करता है और भयभीत रहता है। कालाके शान्त्यर्थ कृसर, मालपूए, सत्तू, कुल्माष और पायस (खीर)-की बलि दे। दसवें वर्षमें 'कलहंसी' बालकको ग्रहण करती है। इससे उसके शरीरमें जलन होती है, अङ्ग दुर्बल

हो जाते हैं और वह ज्वरग्रस्त रहता है। इसके निमित्त पाँच दिनतक पूरी, मालपूए, दधि और अन्नकी बलि देनी चाहिये। बालक का निम्बपत्रोंसे धूपन और कूटका अनुलेपन करे। ग्यारहवें वर्षमें कुमारको 'देवदूती' नामकी ग्रही ग्रहण करती है। इससे वह कठोर वचन बोलता है। 'देवदूती'के उद्देश्यसे पूर्ववत् बलिदान और लेपादिक करे। बारहवें वर्षमें 'बलिका'से आक्रान्त बालक श्वास-रोगसे युक्त होता है। इसके निमित्त भी पूर्वोक्त विधिसे बलि एवं लेपादि करे। तेरहवें वर्षमें 'वायवी' ग्रहीका आक्रमण होता है। इससे पीड़ित कुमार मुखरोग तथा अङ्गशैथिल्यसे युक्त होता है। वायवीको अन्न, गन्ध, माल्य आदिकी बलि दे और बालकको पञ्चपत्रसे स्नान करावे। राई और निम्बपत्रोंसे धूपित करे। चौदहवें वर्षमें 'यक्षिणी' बालकपर अधिकार करती है। इससे वह शूल, ज्वर, दाह आदिसे पीड़ित होता है। यक्षिणी के उद्देश्यसे पूर्वोक्त विविध भक्ष्य-पदार्थोंकी बलि विहित है। इसकी शान्तिके लिये पूर्ववत् स्नान आदि भी करने चाहिये। पंद्रहवें वर्षमें बालकको 'मुण्डिका' ग्रहीसे कष्ट प्राप्त होता है। उससे पीड़ित बालकके सदा रक्तपात होता रहता है। इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये॥ ३९—४७॥

सोलहवीं 'वानरी' नामकी ग्रही है। इससे पीड़ित नवयुवक भूमिपर गिरता है और सदा निद्रा तथा ज्वरसे पीड़ित रहता है। वानरीको तीन दिनतक पायस आदिकी बलि दे एवं बालकको पूर्ववत् स्नान आदि कर्म कराये। सत्रहवें वर्षमें 'गन्धवती' नामकी ग्रही आक्रमण करती है। इससे ग्रस्त बालकके शरीरमें उद्वेग बना रहता है और वह जोर-जोरसे रोता है। इस ग्रहीको कुल्माष आदिकी बलि दे और पूर्ववत् स्नान, धूपन तथा लेपन आदि कर्म करे। दिनकी स्वामिनी ग्रही 'पूतना' कही जाती है और वर्ष-स्वामिनी 'सुकुमारी'॥ ४८—५०॥

ॐ नमः सर्वमातृभ्यो बालपीडासंयोगं भुञ्ज भुञ्ज चुट चुट स्फोटय स्फोटय स्फुर स्फुर गृह्ण गृह्णाक्रन्दयाऽऽक्रन्दय एवं सिद्धरूपो ज्ञापयति। हर हर निर्दोषं कुरु कुरु बालिकां बालं स्त्रियं पुरुषं वा सर्वग्रहाणामुपक्रमात्। चामुण्डे नमो देव्यै ह्रूं ह्रूं ह्रीं अपसर अपसर दुष्टग्रहान् ह्रूं तद्यथा गच्छन्तु गृह्यकाः, अन्यत्र पन्थानं रुद्रो ज्ञापयति॥ ५१-५२॥

—इस सर्वकामप्रद मन्त्रका बालग्रहोंके शान्त्यर्थ प्रयोग करे॥ ५३॥

ॐ नमो भगवति चामुण्डे मुञ्च मुञ्च बालं बालिकां वा बलिं गृह्ण गृह्ण जय जय वस वस॥ ५४॥

—इस रक्षाकारी मन्त्रका सर्वत्र बलिदानकर्ममें पाठ किया जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, पार्वती, लक्ष्मी एवं मातृकागण ज्वर तथा दाहसे पीड़ित इस कुमारको छोड़ दें और इसकी भी रक्षा करें। (इस मन्त्रसे भी बालग्रहजनित पीड़ाका निवारण होता है।) ॥ ५५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'बालादिग्रहहर बालतन्त्र-कथन' नामक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९९॥

तीन सौवाँ अध्याय

ग्रहबाधा एवं रोगोंको हरनेवाले मन्त्र तथा औषध आदिका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं ग्रहोंके उपहार और मन्त्र आदिका वर्णन करूँगा, जो ग्रहोंको शान्त करनेवाले हैं। हर्ष, इच्छा, भय और शोकादिसे, प्रकृतिके विरुद्ध तथा अपवित्र

भोजनसे और गुरु एवं देवताके कोपसे मनुष्यको पाँच प्रकारके उन्माद होते हैं। वे वातज, कफज, पित्तज, सन्निपातज और आगन्तुक कहे जाते हैं। भगवान् रुद्रके क्रोधसे अनेक प्रकारके देवादि ग्रह उत्पन्न हुए। वे ग्रह नदी, तालाब, पोखरे, पर्वत, उपवन, पुल, नदी-संगम, शून्य गृह, बिलद्वार और एकान्तवर्ती इकले वृक्षपर रहते और वहाँ जानेवाले पुरुषोंको पकड़ते हैं। इसके सिवा वे सोयी हुई गर्भवती स्त्रीको, जिसका ऋतुकाल निकट है उस नारीको, नंगी औरतको तथा जो ऋतुस्नान कर रही हो, ऐसी स्त्रीको भी पकड़ते हैं। मनुष्योंके अपमान, वैर, विघ्न, भाग्यमें उलट-फेर इन ग्रहोंसे ही होते हैं। जो मनुष्य देवता, गुरु, धर्मादि तथा सदाचार आदिका उल्लङ्घन करता है, पर्वत और वृक्ष आदिसे गिरता है, अपने केशोंको बार-बार नोचता है तथा लाल आँखें किये रुदन और नर्तन करता है, उसको 'रूप'-ग्रहविशेषसे पीड़ित जानना चाहिये। जो मानव उद्वेगयुक्त, दाह और शूलसे पीड़ित, भूख-प्याससे व्याकुल और शिरोरोगसे आतुर होता और 'मुझे दो, मुझे दो'—यों कहकर याचना करता है, उसे 'बलिकामी' ग्रहसे पीड़ित जाने। स्त्री, माला, स्नान और सम्भोगकी इच्छासे युक्त मनुष्यको 'रतिकामी' ग्रहसे गृहीत समझना चाहिये॥ १—८॥

व्योमव्यापी, महासुदर्शनमन्त्र, विटपनासिक, पातालनारसिंहादि मन्त्र तथा चण्डीमन्त्र—ये ग्रहोंका मर्दन—ग्रहपीड़ाका निवारण करनेवाले हैं*॥ ९॥

(अब ग्रहपीडानाशन भगवान् सूर्यकी आराधना बतलाते हैं—) सूर्यदेव अपने दाहिने हाथोंमें पाश, अङ्कुश, अक्षमाला और कपाल तथा बायें हाथोंमें खट्वाङ्ग, कमल, चक्र और शक्ति धारण करते हैं। उनके चार मुख हैं। वे आठ भुजा और बारह नेत्र धारण करते हैं। सूर्यमण्डलके भीतर कमलके आसनपर विराजमान हैं और आदित्यादि देवगणोंसे घिरे हुए हैं। इस प्रकार उनका ध्यान और पूजन करके सूर्योदयकालमें उन्हें अर्घ्य दे। अर्घ्यदानका मन्त्र इस प्रकार है—श्वास (य), विष (ओं), अग्निमान् रण्डी (र्+ओं), हृल्लेखा (ह्रीं)—ये संकेताक्षर हैं। इन सबको जोड़कर शुद्ध मन्त्र हुआ—) **'यौं रौं ऐं ह्रीं कलशार्कायभूर्भुवः स्वरों ज्वालिनीकुलमुद्धर।'**॥ १०—१२ $\frac{1}{2}$॥

ग्रहोंका ध्यान

सूर्यदेव कमलके आसनपर विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति अरुण है। वे रक्तवस्त्र धारण करते हैं। उनका मण्डल ज्योतिर्मय है। वे उदार स्वभावके हैं और दोनों हाथोंमें कमल धारण करते हैं। उनकी प्रकृति सौम्य है तथा सारे अङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। सूर्य आदि सभी ग्रह सौम्य, बलदायक तथा कमलधारी हैं। उन सबका वस्त्र विद्युत्-पुञ्जके समान प्रकाशमान है। चन्द्रमा श्वेत, मङ्गल और बुध लाल, बृहस्पति पीतवर्ण, शुक्र शुक्लवर्ण, शनैश्चर काले कोयलेके समान कृष्ण तथा राहु और केतु धूमके समान

* 'सहस्रार हुं फट्'—यह 'सुदर्शन' या 'महासुदर्शनमन्त्र' है। यह व्यापक प्रभावशाली होनेके कारण 'व्योमव्यापी' कहा गया है। 'विटपनासिक' शब्द नृसिंहरूपकी उग्रताका सूचक है। बड़े-बड़े वृक्ष उनकी नासिकाके अन्तर्गत आ जाते हैं। पृथ्वी और पाताललोकमें उनका प्रताप फैला हुआ है तथा पाताललोकमें उनका प्रादुर्भाव हुआ था, इसलिये भी उनको 'पातालनारसिंह' कहते हैं।

'पातालनारसिंहमन्त्र' इस प्रकार है—

'उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥'

दुर्गासप्तशतीके सभी मन्त्र यहाँ 'चण्डीमन्त्र'के नामसे अभिहित हुए हैं। 'नारसिंहाद्या'के आदि पदसे 'वीरनृसिंह' तथा 'सुदर्शन-नृसिंहादि' मन्त्र समझने चाहिये। 'वीरनृसिंह-मन्त्र' इस प्रकार है—'ॐ नमो भगवते वीरनृसिंहाय ज्वालामालापिनद्धाङ्गायाग्निनेत्राय सर्वभूतविनाशनाय दह दह पच पच रक्ष रक्ष ह्रीं ह्रीं फट् स्वाहा।' इसका एक दूसरा रूप इस प्रकार भी है—'ॐ नमो भगवते वीरनृसिंहाय ज्वालामालिने दीप्तदंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशनाय सर्वज्वरं विनाशय हन हन दह दह पच पच बन्ध बन्ध रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।' 'सुदर्शन-नृसिंहमन्त्र इस प्रकार है—'ॐ सहस्रारज्वालावर्तिने क्षौं हन हन हुं फट् स्वाहा।'

वर्णवाले बताये गये हैं। इन सबके बायें हाथ बायीं जाँघपर स्थित हैं और दाहिने हाथमें अभयमुद्रा शोभा पाती है। ग्रहोंके अपने-अपने नामके आदि अक्षर बिन्दुयुक्त होकर बीजमन्त्र होते हैं। 'फट्'का उच्चारण करके दोनों हाथोंका संशोधन करे। फिर अङ्गुष्ठसे लेकर करतलपर्यन्त करन्यास और नेत्ररहित हृदयादि पञ्चाङ्गन्यास करके भानुके मूल बीजस्वरूप तीन अक्षरों (**ह्रां, ह्रीं, सः**)[1] द्वारा व्यापकन्यास करे। उसका क्रम इस प्रकार है—मूलाधारचक्रसे पादाग्रपर्यन्त प्रथम बीजका, कण्ठसे मूलाधारपर्यन्त द्वितीय बीजका और मूर्धासे लेकर कण्ठपर्यन्त तृतीय बीजका न्यास करे।[2] इस प्रकार अङ्गन्याससहित व्यापकन्यासका सम्पादन करके अर्घ्यपात्रको अस्त्र-मन्त्रसे प्रक्षालित करे और पूर्वोक्त मूलमन्त्रका उच्चारण करके उस पात्रको जलसे भर दे। फिर उसमें गन्ध, पुष्प, अक्षत और दूर्वा डालकर पुनः उसे अभिमन्त्रित करे। उस अभिमन्त्रित जलसे अपना और पूजाद्रव्यका अवश्य ही प्रोक्षण करे॥ १३—१९॥

तत्पश्चात् योगपीठकी कल्पना करके उस पीठके पायोंके रूपमें 'प्रभूत' आदिकी कल्पना करे। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रभूत, विमल, सार, आराध्य और परमसुख। आग्नेयादि चार कोणोंमें और मध्यभागमें इनके नामके अन्तमें '**नमः**' पद जोड़कर इनका आवाहन-पूजन करे। योगपीठके ऊपर हृदयकमलमें तथा दिशा-विदिशाओंमें दीप्ता आदि शक्तियोंकी स्थापना करे।[3] पीठके ऊपरी भागमें हृदयकमलको स्थापित करके उसके केसरोंमें आठ शक्तियोंकी पूजा करनी चाहिये। '**रां दीप्तायै नमः पूर्वस्याम्। रीं सूक्ष्मायै नमः आग्नेयकेसरे। रूं जयायै नमः दक्षिणकेसरे। रें भद्रायै नमः नैर्ऋत्यकेसरे। रैं विभूत्यै नमः पश्चिमकेसरे। रौं विमलायै नमः वायव्यकेसरे। रौं अमोघायै नमः उत्तरकेसरे। रं विद्युतायै नमः ईशानकेसरे। रः सर्वतोमुख्यै नमः मध्ये।**'—इस प्रकार शक्तियोंकी अर्चना करके '**ॐ ब्रह्मविष्णुशिवात्मकाय सौराय योगपीठाय नमः।**'—इस मन्त्रसे समस्त पीठकी पूजा करे। सुव्रत! तत्पश्चात् रवि आदि मूर्तियोंका आवाहन करके उन्हें पाद्यादि समर्पित करे और क्रमशः हृदादि षडङ्गन्यासपूर्वक पूजन करे। '**खं कान्तौ**' इत्यादि संकेतसे '**खं खखोल्काय नमः**' यह मन्त्र प्रकट होता है। (यथा '**खं**' मन्त्रका स्वरूप है—कान्त—'ख' है, दण्डिनी—'ख' है, चण्ड—'उकार' है (संधि करनेपर 'खो' हुआ) **मज्जादशनसंयुता मांसा** 'ल' दीर्घा—दीर्घस्वर आकारसे युक्त जल 'क' अर्थात् 'का' तथा वायु—'यकार'। इन सबके अन्तमें हृद्—**नमः**) इसके उच्चारणपूर्वक '**आदित्यमूर्तिं परिकल्पयामि, रविमूर्तिं परिकल्पयामि, भानुमूर्तिं परिकल्पयामि, भास्करमूर्तिं परिकल्पयामि, सूर्यमूर्तिं परिकल्पयामि**'—

---

१. इनका उद्धार 'शारदातिलक'में इस प्रकार है—

आकाशमग्निदीर्घेन्दुसंयुक्तं भुवनेश्वरी। सर्गान्वितो भृगुर्भानोस्त्र्यक्षरो मनुरीरितः॥ (१४।५८)

२. जैसा कि 'शारदातिलक'में निर्देश किया गया है—

आधारादि पदाग्रान्तं कण्ठादाधारकावधि। मूर्धादि कण्ठपर्यन्तं क्रमाद् बीजत्रयं न्यसेत्॥ (१४।५९)

३. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में 'प्रभूत' आदि पीठपादों और शक्तियोंकी स्थापना एवं पूजाके विषयमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

अग्निकोणे प्रभूतश्च विमलं नैर्ऋते यजेत्। सारं वायव्यकोणे च समाराध्यं तथैशके॥
सुखं परमपूर्वं च यजेन्मध्ये तु मन्त्रवित्।
दलमूलेषु पूर्वादि मध्ये च विधिपूर्वकम्। दीप्तासूक्ष्मे जयाभद्रे विभूतिर्विमलान्विता॥
अमोघा विद्युता चान्या नवमी सर्वतोमुखी। पीठशक्तिः क्रमादेता ह्यग्निवर्णाः सुभूषिताः॥

प्रभूत आदिके लिये पूजा-मन्त्र इस प्रकार है—'प्रभूताय नमः आग्नेये। विमलाय नमः नैर्ऋत्ये। साराय नमः वायव्ये। आराध्याय नमः ऐशान्याम्। परमसुखाय नमः मध्ये।' शक्तियोंके पूजामन्त्र मूलमें ही दिये गये हैं।

यों कहना चाहिये। इन मूर्तियोंके पूजनका मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ आदित्याय नमः। एं रवये नमः। ॐ भानवे नमः। इं भास्कराय नमः। अं सूर्याय नमः।**' अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, ईशान-कोण और वायव्यकोण—इन चार कोणोंमें तथा मध्यमें हृदादि पाँच अङ्गोंकी उनके नाम-मन्त्रोंसे पूजा करनी चाहिये। वे कर्णिकाके भीतर ही उक्त दिशाओंमें पूजनीय हैं। अस्त्रकी पूजा अपने सामनेकी दिशामें करनी चाहिये। पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः चन्द्रमा, बुध, गुरु और शुक्र पूजनीय हैं तथा आग्नेय आदि कोणोंमें मङ्गल, शनैश्चर, राहु और केतुकी पूजा करनी चाहिये॥ २०—२५ १/२ ॥

पृश्निपर्णी, हींग, बच, चक्र (पित्तपापड़ा), शिरीष, लहसुन और आमय—इन ओषधियोंको बकरेके मूत्रमें पीसकर अञ्जन और नस्य तैयार कर ले। उस अञ्जन और नस्यके रूपमें उक्त औषधोंका उपयोग किया जाय तो वे ग्रहबाधाका निवारण करनेवाले होते हैं। पाठा, पथ्या (हर्रे), वचा, शिग्रु (सहिजन), सिन्धु (सेंधा नमक), व्योष (त्रिकटु)—इन औषधोंको पृथक्-पृथक् एक-एक पल लेकर उन्हें बकरीके एक आढ़क दूधमें पका ले और उस दूधसे घी निकाल ले। वह घी समस्त ग्रह-बाधाओंको हर लेता है। वृश्चिकाली (बिच्छू-घास), फला, कूट, सभी तरहके नमक तथा शार्ङ्गक—इनको जलमें पका ले। उस जलका अपस्मार रोग (मिरगी)-के विनाशके लिये उपयोग करे। विदारीकंद, कुश, काश तथा ईखके क्वाथसे सिद्ध किया हुआ दूध रोगीको पिलाये। जेठी-मधु और भथएके एक दोन रसमें घीको पकाकर दे। अथवा पञ्चगव्य घीका उस रोगमें प्रयोग करे। अब ज्वर-निवारक उपाय सुनो—॥ २६—३०॥

ज्वर-गायत्री

ॐ भस्मास्त्राय विद्महे। एकदंष्ट्राय धीमहि। तन्नो ज्वरः प्रचोदयात्॥ ३१॥

(इस मन्त्रके जपसे ज्वर दूर होता है।) श्वास (दमा)-का रोगी कृष्णोषण (काली मिर्च), हल्दी, रास्ना, द्राक्षा और तिलका तैल एवं गुड़का आस्वादन करे। अथवा वह रोगी जेठीमधु (मुलहठी) और घीके साथ भार्गीका सेवन करे या पाठा, तिक्ता (कुटकी), कर्णा (पिप्पली) तथा भार्गीको मधुके साथ चाटे। धात्री (आँवला), विश्वा (सोंठ), सिता (मिश्री), कृष्णा (पिप्पली), मुस्ता (नागरमोथा), खजूर मागधी (खजूर और पीपल*) तथा पीवरा (शतावर)—ये औषध हिक्का (हिचकी) दूर करनेवाले हैं। उपर्युक्त तीनों योग मधुके साथ लेने चाहिये। कामल-रोगसे ग्रस्त मनुष्यको जीरा, माण्डूकपर्णी, हल्दी और आँवलेका रस पिलाना चाहिये। त्रिकटु, पद्मकाष्ठ, त्रिफला, वायविडङ्ग, देवदारु तथा रास्ना—इन सबको सममात्रामें लेकर चूर्ण बना ले और खाँड मिलाकर उसे खाये। इस औषधसे अवश्य ही खाँसी दूर हो जाती है॥ ३२—३५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ग्रहबाधाहारी मन्त्र तथा औषधका कथन' नामक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३००॥

तीन सौ एकवाँ अध्याय

सिद्धि-गणपति आदि मन्त्र तथा सूर्यदेवकी आराधना

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! शार्ङ्गी (गकार), दण्डी (अनुस्वारयुक्त) हो, उसके साथ पद्मेश—विष्णु (ईकार) और पावक (रकार) हो तो इन चार अक्षरोंके मेलसे पिण्डीभूत बीज (ग्रीं)

* यहाँ पिप्पलीका नाम दुबारा आया है। जो द्रव्य दो बार आया हो, उसका दो भाग लिया जाता है।

प्रकट होता है। यह सर्वार्थसाधक माना गया है[1]। उपर्युक्त बीजके आदिमें क्रमशः दीर्घ स्वरोंको जोड़कर उनके द्वारा अङ्गन्यास करे। यथा—'**ग्रां हृदयाय नमः। ग्रीं शिरसे स्वाहा। ग्रूं शिखायै वषट्। ग्रैं कवचाय हुम्। ग्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ग्रः अस्त्राय फट्।**' ('**ग**' इस एकाक्षर बीजसे भी इसी प्रकार न्यास करना चाहिये। उसमें दीर्घ स्वर जोड़नेपर क्रमशः '**गां गीं गूं गैं गौं गः**'— ये छः बीज बनेंगे।) अन्त (विसर्ग), विष (म्)—इनसे युक्त खान्त (ग)-का उच्चारण किया जाय। ऐसा करनेसे '**गं**', '**गः**'—ये दो बीज प्रकट हुए। औकार और बिन्दुसे युक्त '**गौं**' तीसरा बीज है। बिन्दु और कला दोनोंसे युक्त '**गंः**'—यह चौथा बीज और केवल गकार पाँचवाँ बीज है।[2] इस प्रकार विघ्नराज गणपतिके ये पाँच बीज हैं, जिनके पृथक्-पृथक् फल देखे गये हैं॥ १—३॥

गणेशसम्बन्धी मन्त्रोंके लिये सामान्य पञ्चाङ्गन्यास

'**गणंजयाय स्वाहा हृदयाय नमः। एकदंष्ट्राय हुं फट् शिरसे स्वाहा। अचलकर्णिने नमो नमः शिखायै वषट्। गजवक्त्राय नमो नमः कवचाय हुम्। महोदरहस्ताय[3] चण्डाय हुं फट्, अस्त्राय फट्।**' यह सर्वसामान्य पञ्चाङ्ग है। उक्त एकाक्षर बीज-मन्त्रके एक लाख जपसे सिद्धि प्राप्त होती है॥ ४-५॥

अष्टदल कमल बनाकर उसके दिग्वर्ती दलोंमें गणेशजीके चार विग्रहोंका पूजन करे। इसी प्रकार वहाँ क्रमशः पाँच अङ्गोंकी भी पूजा करनी चाहिये। विग्रहोंके पूजन-सम्बन्धी मन्त्र इस प्रकार हैं— **१-गणाधिपतये नमः। २-गणेश्वराय नमः ३-गणनायकाय नमः। ४-गणक्रीडाय नमः।** (हृदयादि चार अङ्गोंकी तो कोणवर्ती चार दलोंमें और अस्त्रकी मध्यमें पूजा करे।) '**वक्रतुण्डाय नमः। एकदंष्ट्राय नमः। महोदराय नमः। गजवक्त्राय नमः। लम्बोदराय नमः। विकटाय नमः। विघ्नराजाय नमः। धूम्रवर्णाय नमः।**'—इन आठ मूर्तियोंकी कमलचक्रके दिग्वर्ती तथा कोणवर्ती दलोंमें पूजा करे। फिर इन्द्रादि लोकपालों तथा उनके अस्त्रोंकी अर्चना करे। मुद्रा-प्रदर्शनद्वारा पूजन अभीष्ट है। मध्यमा तथा तर्जनीके मध्यमें अँगूठेको डालकर मुट्ठी बाँध लेना—यह गणेशजीके लिये मुद्रा है। उनका ध्यान इस प्रकार करे—'भगवान् गणेशके चार भुजाएँ हैं। वे एक हाथमें मोदक लिये हुए हैं और शेष तीन हाथोंमें दण्ड, पाश एवं अंकुशसे सुशोभित हैं। दाँतोंमें उन्होंने भक्ष्य-पदार्थ लड्डूको दबा रखा है और उनकी अङ्गकान्ति लाल है। वे कमल, पाश और अङ्कुशसे घिरे हुए हैं॥ ६—१०॥

गणेशजीकी नित्य पूजा करे, किंतु चतुर्थीको विशेषरूपसे पूजाका आयोजन करे। सफेद आककी जड़से उनकी प्रतिमा बनाकर पूजा करे। उनके लिये तिलकी आहुति देनेपर सम्पूर्ण मनोरथोंकी

---

१. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इस मन्त्रका उद्धार इस प्रकार मिलता है—

बिन्दुवामाक्ष्यग्नियुता स्मृतिर्माया सुमध्यगा। त्र्यक्षरः सिद्धिगणपः सर्वसिद्धिप्रदायकः॥

'स्मृतिर्गकारः। अग्नी रेफः। वामाक्षि ईकारः। बिन्दुरनुस्वारः। एतैः पिण्डितं बीजम् 'ग्रीम्' इति मायाबीजद्वयस्य मध्ये स्थापितं सत् त्र्यक्षरं भवेत्। ह्रीं ग्रीं ह्रीमिति।'

इसके अनुसार इस 'ग्रीं' बीजको आदि-अन्तमें 'ह्रीं' बीजसे सम्पुटित कर दिया जाय तो यह 'त्र्यक्षर मन्त्र' हो जाता है। अग्निपुराणमें इसके एकाक्षररूपको ही लिया है। यह एकाक्षर या त्र्यक्षर बीजमन्त्र 'सिद्धिगणपति'के नामसे प्रसिद्ध है और साधकोंको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाला है। कहीं-कहीं—'शार्ङ्गी प्रीतियुतः प्रोक्तो गणेशस्यैकवर्णकः' ऐसा पाठ देखा जाता है। इसके अनुसार शार्ङ्गी—गकारको प्रीति—अनुस्वारसे युक्त कर दिया जाय तो 'गं' एक अक्षरका गणेश-बीज बनता है।

२. 'नारायणीय तन्त्र'में यही बात इस प्रकार कही गयी है—

खान्तं सान्तविषं सबिन्दुसकलं बिन्द्वौयुतं केवलं। पञ्चैतानि पृथक् फलं विदधते बीजानि विघ्नेशितुः॥

३. 'शारदातिलक' और 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में ऐसा ही उल्लेख है। वहाँ 'महोदरहस्ताय'के स्थानमें 'महोदराय' है।

प्राप्ति होती है। यदि दही, मधु और घीसे मिले हुए चावलसे आहुति दी जाय तो सौभाग्यकी सिद्धि एवं वशित्वकी प्राप्ति होती है॥ ११ $\frac{१}{२}$ ॥

घोष (ह), असृक् (र), प्राण (य), शान्ति (औ), अर्घी (उ) तथा दण्ड (अनुस्वार)—यह सब मिलकर सूर्यदेवका '**ह्र्यौं ॐ**'—ऐसा 'मार्तण्डभैरव' नामक बीज होता है। इसको बिम्ब-बीजसे[१] सम्पुटित कर दिया जाय तो यह साधकोंको धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है। पाँच ह्रस्व अक्षरोंको आदिमें बीज बनाकर उनके द्वारा पाँच मूर्तियोंका न्यास करे। यथा—'**अं सूर्याय नमः। इं भास्कराय नमः। उं भानवे नमः। एं रवये नमः। ओं दिवाकराय नमः।**'[२] दीर्घस्वरोंके बीजसे हृदयादि अङ्गन्यास करे। यथा—'**आं हृदयाय नमः।**' इत्यादि। इस प्रकार न्यास करके ध्यान करे—'भगवान् सूर्य ईशानकोणमें विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति सिन्दूरके सदृश अरुण है। उनके आधे वामाङ्गमें उनकी प्राणवल्लभा विराज रही हैं'॥ १२-१३ $\frac{१}{२}$ ॥

('श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में मार्तण्डभैरव-बीजको ही दीर्घ स्वरोंसे युक्त करके उनके द्वारा हृदयादि-न्यासका विधान किया गया है। यथा—'**ह्र्यां हृदयाय नमः।**' '**ह्र्यीं शिरसे स्वाहा।**' इत्यादि।)

फिर ईशानकोणमें कृतान्तके लिये निर्माल्य और चण्डके लिये दीप्ततेज (दीपज्योति) अर्पित करे। रोचना, कुङ्कुम, जल, रक्त चन्दन, अक्षत, अङ्कुर, वेणुबीज, जौ, अगहनी, धानका चावल, सावाँ, तिल तथा राई और जपाके फूल अर्घ्यपात्रमें डाले। फिर उस अर्घ्यपात्रको सिरपर रखकर दोनों घुटने धरतीपर टिका दे और सूर्यदेवको अर्घ्य अर्पित करे। अपने मन्त्रसे अभिमन्त्रित नौ कलशोंद्वारा ग्रहोंका पूजन करके ग्रहादिकी शान्तिके लिये शान्ति-कलशके जलसे स्नान एवं सूर्यमन्त्रका जप करनेसे मनुष्य सब कुछ पा सकता है। (एक सौ अड़तालीसवें अध्यायमें कथित) 'संग्रामविजय-मन्त्र'में बीजपोषक बिन्दुयुक्त अग्नि—रकार अर्थात् 'र' जोड़कर उस सम्पूर्ण मन्त्रका मूर्धासे लेकर चरणपर्यन्त व्यापकन्यास करके मूलमन्त्रका, अर्थात् उसके उच्चारणपूर्वक सूर्यदेवका 'आवाहनी' आदि मुद्राओंके प्रदर्शनपूर्वक पूजन करे। तदनन्तर यथोक्त अङ्गन्यास करके अपने-आपका रविके रूपमें चिन्तन करे। अर्थात् मेरी आत्मा सूर्यस्वरूप है, ऐसी भावना करे। मारण और स्तम्भनकर्ममें सूर्यदेवके पीतवर्णका, अप्यायनमें श्वेतवर्णका, शत्रुघातकी क्रियामें कृष्णवर्णका तथा मोहनकर्ममें इन्द्रधनुषके समान वर्णका चिन्तन करे। जो सूर्यदेवके अभिषेक,जप, ध्यान, पूजा और होमकर्ममें सदा तत्पर रहता है, वह तेजस्वी, अजेय तथा श्रीसम्पन्न होता है और युद्धमें विजय पाता है। ताम्बूल आदिमें उक्त मन्त्रका न्यास करके जपपूर्वक उसमें खसका इत्र डाले तथा अपने हाथमें भी 'संग्राम-विजय'के बीजोंका न्यास करके उस हाथसे किसीको वह ताम्बूल अर्पण करे, अथवा उस हाथसे किसीका स्पर्श कर ले तो वह उसके वशमें हो जाता है॥ १४—२२॥

'इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गणपति तथा सूर्यकी अर्चाका कथन' नामक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०१॥

---

१. 'शारदातिलक' में बिम्बबीज 'ह्रिं' बताया गया है। उसका उद्धार यों किया गया है—'टान्तं दहननेत्रेन्दुसहितं तदुदीरितम्' (१४। १७)

२. सूर्यादि पाँच मूर्तियोंका उल्लेख 'शारदातिलक' में है।

तीन सौ दोवाँ अध्याय

नाना प्रकारके मन्त्र और औषधोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—'ऐं कुलजे ऐं सरस्वति स्वाहा'— यह ग्यारह अक्षरोंका मन्त्र मुख्य 'सरस्वतीविद्या' है। जो क्षारलवणसे रहित आहार ग्रहण करते हुए मन्त्रोंकी अक्षरसंख्याके अनुसार उतने लाख मन्त्रका जप करता है, वह बुद्धिमान् होता है। **अत्रि (द्), अग्नि (र), वामनेत्र (ई) तथा बिन्दु (ं) 'द्रीं'**—यह मन्त्र महान् विद्रावणकारी (शत्रुको मार भगानेवाला) है। वज्र और कमल धारण करनेवाले पीत वर्णवाले इन्द्रका आवाहन करके उनकी पूजा करे और घी तथा तिलकी एक लाख आहुतियाँ दे। फिर तिलमिश्रित जलसे इन्द्रदेवताका अभिषेक करे। ऐसा करनेसे राजा आदि अपने छीने गये राज्य आदि तथा राजपुत्र आदि (मनोवाञ्छित वस्तुओं)-को पा सकते हैं। हृल्लेखा (ह्रीं)—यह 'शक्तिदेवा' नामसे प्रसिद्ध है। इसका उद्धार यों है—**घोष (ह), अग्नि (र), दण्डी (ई), दण्ड (ं) 'ह्रीं'**। शिवा और शिवका पूजन करके शक्तिमन्त्र (ह्रीं)-का जप करे। अष्टमीसे लेकर चतुर्दशीतक आराधनामें संलग्न रहे। हाथोंमें चक्र, पाश, अङ्कुश एवं अभयकी मुद्रा धारण करनेवाली वरदायिनी देवीकी आराधना करके होम आदि करनेपर उपासकको सौभाग्य एवं कवित्वशक्तिकी प्राप्ति होती है तथा वह पुत्रवान् होता है॥ १—५॥

'ॐ ह्रीं ॐ नमः कामाय सर्वजनहिताय सर्वजनमोहनाय प्रज्वलिताय सर्वजनहृदयं ममाऽऽत्मगतं कुरु कुरु ॐ॥'—इसके जप आदि करनेसे यह मन्त्र सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें कर सकता है॥ ६-७॥

'ॐ ह्रीं चामुण्डे अमुकं दह दह पच पच मम वशमानयानय स्वाहा ॐ।' यह चामुण्डाका वशीकरणमन्त्र कहा गया है। स्त्रीको चाहिये कि वशीकरणके प्रयोगकालमें त्रिफलाके ठंडे पानीसे अपनी योनिको धोये। अश्वगन्धा, यवक्षार, हल्दी और कपूर आदिसे भी स्त्री अपनी योनिका प्रक्षालन कर सकती है। पिप्पलीके आठ तन्दुल, कालीमिर्चके बीस दाने और भटकटैयाके रसका योनिमें लेप करनेसे उस स्त्रीका पति आमरण उसके वशमें रहता है। कटीरमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च और पीपल)-का लेप भी उसी तरह लाभदायक होता है। हिम, कैथका रस, मागधीपिप्पली, मुलहठी और मधु—इनके लेपका प्रयोग दम्पतिके लिये कल्याणकारी होता है। शक्कर मिला हुआ कदम्ब-रस और मधु—इसका योनिमें लेप करनेसे भी वशीकरण होता है। सहदेई, महालक्ष्मी, पुत्रजीवी, कृताञ्जलि (लज्जावती)—इन सबका चूर्ण बनाकर सिरपर डाला जाय तो इहलोकके लिये उत्तम वशीकरणका साधन है। त्रिफला और चन्दनका क्वाथ एक प्रस्थ अलग हो और दो कुडव अलग हो, भँगरैया तथा नागकेसरका रस हो, उतनी ही हल्दी, क्षम्बुक, मधु, घीमें पकायी हुई हल्दी और सूखी हल्दी—इन सबका लेप करे तथा बिदारीकंद और जटामांसीके चूर्णमें चीनी मिलाकर उसको खूब मथ दे। फिर दूधके साथ प्रतिदिन पीये। ऐसा करनेवाला पुरुष सैकड़ों स्त्रियोंके साथ सहवासकी शक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ८—१६॥

गुप्ता, उड़द, तिल, चावल—इन सबका चूर्ण बनाकर दूध और मिश्री मिलाये। पीपल, बाँस और कुशकी जड़, 'वैष्णवी' और 'श्री' नामक ओषधियोंकी जड़ तथा दूर्वा और अश्वगन्धाका मूल—इन सबको पुत्रकी इच्छा रखनेवाली नारी दूधके साथ पीये। कौन्ती, लक्ष्मी, शिवा और धात्री (आँवलेका बीज), लोध्र और वटके अङ्कुरको स्त्री ऋतुकालमें घी और दूधके साथ

पीये। इससे उसको पुत्रकी प्राप्ति होती है। पुत्रार्थिनी नारी 'श्री' नामक ओषधिकी जड़ और वटके अङ्कुरको दूधके साथ पीये। श्री, वटाङ्कुर और देवी—इनके रसका नस्य ले और पीये भी। 'श्री' और 'कमल'की जड़को, अश्वत्थ और उत्तरके मूलको दूधके साथ पीये। कपासके फल और पल्लवको दूधमें पीसकर तरल बनाकर पीये। अपामार्गके नूतन पुष्पाग्रको भैंसके दूधके साथ पीये। उपर्युक्त साढ़े पाँच श्लोकोंमें पुत्रप्राप्तिके चार योग बताये गये हैं॥ १७—२१ $\frac{१}{२}$ ॥

यदि स्त्रीका गर्भ गलित हो जाता हो तो उसे शक्कर, कमलके फूल, कमलगट्टा, लोध, चन्दन और सारिवालता—इनको चावलके पानीमें पीसकर दे या लाजा, यष्टि (मुलहठी), सिता (मिश्री), द्राक्षा, मधु और घी—इन सबका अवलेह बनाकर वह स्त्री चाटे॥ २२-२३॥

आटरूप (अड़ूसा), कलाङ्गली, काकमाची, शिफा (जटामांसी)—इन सबको नाभिके नीचे पीसकर छाप दे तो स्त्री सुखपूर्वक प्रसव कर सकती है॥ २४॥

लाल और सफेद जवाकुसुम, लाल चीता और हींगपत्री पीये। केसर, भटकटैयाकी जड़, गोपी, षष्ठी (साठीका तृण) और उत्पल—इनको बकरीके दूधमें पीसकर तैल मिलाकर खाय तो सिरमें बाल उगते हैं। अगर सिरके बाल झड़ रहे हों तो यह उनको रोकनेका उपाय है॥ २५-२६॥

आँवला और भँगरैयाका एक सेर तैल, एक आढक दूध, षष्ठी और अञ्जनका एक पल तैल—ये सब सिरके बाल, नेत्र और सिरके लिये हितकारक होते हैं॥ २७॥

हल्दी, राजवृक्षकी छाल, चिञ्चा (इमलीका बीज), नमक, लोध और पीली खारी—ये गौओंके पेट फूलनेकी बीमारीको तत्काल रोक देते हैं॥ २८॥

'ॐ नमो भगवते त्र्यम्बकायोपशमयोपशमय चुलु चुलु मिलि मिलि भिदि भिदि गोमानिनि चक्रिणि हूं फट्। अस्मिन् ग्रामे गोकुलस्य रक्षां कुरु शान्तिं कुरु कुरु कुरु ठ ठ ठ'॥ २९-३०॥

यह गोसमुदायकी रक्षाका मन्त्र है।

'घण्टाकर्ण महासेन वीर बड़े बलवान् कहे गये हैं। वे जगदीश्वर महामारीका नाश करनेवाले हैं, अतः मेरी रक्षा करें।' ये दोनों श्लोक और मन्त्र गोरक्षक हैं, इनको लिखकर घरपर टाँग देना चाहिये॥ ३१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाना प्रकारके मन्त्र और औषधोंका कथन' नामक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०२॥

तीन सौ तीनवाँ अध्याय

अष्टाक्षर मन्त्र तथा उसकी न्यासादि विधि

जब चन्द्रमा जन्म-नक्षत्रपर हों और सूर्य सातवीं राशिपर हो तो उसे 'पूषाका काल' समझना चाहिये। उस समय श्वासकी परीक्षा करे। जिसके कण्ठ और ओष्ठ अपने स्थानसे चलित हो रहे हों, जिसकी नाक टेढ़ी हो गयी और जीभ काली पड़ गयी हो, उसका जीवन अधिक-से-अधिक सात दिन और रह सकता है॥ १-२॥

तार (ॐ), मेष (न), विष (म), दन्ती (ओ), दीर्घस्वरयुक्त 'न' तथा 'र' (ना रा), 'य णा', रस (य)—यह भगवान् विष्णुका अष्टाक्षर-मन्त्र **(ॐ नमो नारायणाय)** है।* इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—

* 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के अनुसार इस मन्त्रका विनियोग-वाक्य इस प्रकार होना चाहिये—ॐ अस्य श्रीअष्टाक्षरमहामन्त्रस्य साध्यनारायणऋषिः, गायत्री छन्दः, परमात्मा देवता सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः। (द्रष्टव्यः सप्तविंश श्वास, श्लोक १३-१४)

'क्रुद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नमः। महोल्काय स्वाहा शिरसे स्वाहा। वीरोल्काय स्वाहा शिखायै वषट्। द्युल्काय स्वाहा कवचाय हुम्। सहस्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फट्।'[1]—इन मन्त्रोंको क्रमशः पढ़ते हुए हृदय, सिर, शिखा, दोनों भुजा तथा सम्पूर्ण दिग्भागमें न्यास करे॥ ३ $\frac{1}{2}$॥

कनिष्ठासे लेकर कनिष्ठातक आठ अँगुलियोंके तीनों पर्वोंमें अष्टाक्षर मन्त्रके पृथक्-पृथक् आठ अक्षरोंको 'प्रणव' तथा '**नमः**'से सम्पुटित करके बोलते हुए अङ्गुष्ठके अग्रभागसे उनका क्रमशः न्यास करे।[2] तर्जनीमें, मध्यमासे युक्त अङ्गुष्ठमें, करतलमें तथा पुनः अङ्गुष्ठमें प्रणवका न्यास 'उत्तार' कहलाता है। अतः पूर्वोक्त न्यासके पश्चात् 'बीजोत्तारन्यास' करे। अष्टाक्षर मन्त्रके वर्णोंका रंग यों समझे—आदिके पाँच अक्षर क्रमशः रक्त, गौर, धूम्र, हरित और सुवर्णमय कान्तिवाले हैं तथा अन्तिम तीन वर्ण श्वेत हैं। इस रूपमें इन वर्णोंकी भावना करके इनका क्रमशः न्यास करना चाहिये। न्यासके स्थान हैं—हृदय, मुख, नेत्र, मूर्धा, चरण, तालु, गुह्य तथा हस्त आदि॥ ४—७॥

हाथोंमें और अङ्गोंमें बीजन्यास करके फिर अङ्गन्यास करे।[3] जैसे अपने शरीरमें न्यास किया जाता है, उसी तरह देवविग्रहमें भी करना चाहिये। किंतु देवशरीरमें करन्यास नहीं किया जाता है। देवविग्रहके हृदयादि अङ्गोंमें विन्यस्त वर्णोंका गन्ध-पुष्पोंद्वारा पूजन करे। देवपीठपर धर्म आदि, अग्नि आदि तथा अधर्म आदिका भी यथास्थान न्यास करे। फिर उसपर कमलका भी न्यास करना चाहिये॥ ८-९॥

पीठपर ही कमलके दल, केसर, किञ्जल्कका व्यापक सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल तथा अग्निमण्डल—इन तीन मण्डलोंका पृथक्-पृथक् क्रमशः न्यास करे। वहाँ सत्त्व आदि तीन गुणोंका तथा केसरोंमें स्थित विमला आदि शक्तियोंका भी चिन्तन करे। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या तथा ईशाना। ये आठ शक्तियाँ आठ दिशाओंमें स्थित हैं और नवीं अनुग्रहा शक्ति मध्यमें विराजमान है। योगपीठकी अर्चना करके उसपर श्रीहरिका आवाहन और पूजन करे॥ १०—१२॥

पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, पीताम्बर तथा आभूषण—ये पाँच उपचार हैं। इन सबका मूल (अष्टाक्षर) मन्त्रसे समर्पण किया जाता है। पीठके पूर्व आदि चार दिशाओंमें वासुदेव आदि चार मूर्तियोंका तथा अग्नि आदि कोणोंमें क्रमशः श्री, सरस्वती, रति और शान्तिका पूजन करे॥ १३-१४॥

इसी प्रकार दिशाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मका तथा विदिशाओं (कोणों)-में मुसल,

१. इन मन्त्रोंके अन्तमें 'स्वाहा' पद जोड़नेके विषयमें 'त्रैलोक्यमोहन-तन्त्र'का निम्नाङ्कित वचन प्रमाण है—
'क्रुद्धोल्कादिपदैर्वह्निजायान्तैर्जातिसंयुतैः।' 'तन्त्रप्रकाश'में भी ऐसा ही कहा गया है—
'एषां विभक्तियुक्तानां भवेदन्तेऽग्निवल्लभा।'

२. 'नारायणीयतन्त्र'में भी ऐसा ही कहा है—
कनिष्ठादितदन्तानामङ्गुलीनां त्रिपर्वसु। ज्येष्ठाग्रेण नमस्तारुद्धानष्टाक्षरान् न्यसेत्॥ इति॥

३. 'शारदातिलक' पञ्चदश पटलके श्लोक पाँचकी व्याख्याके अनुसार हाथोंमें सृष्टि, स्थिति एवं संहारके क्रमसे न्यास करना चाहिये। दाहिनी तर्जनीसे लेकर वाम तर्जनीतक मन्त्रके आठ अक्षरोंका न्यास 'सृष्टिन्यास' है। दोनों तर्जनीसे आरम्भ कर दोनों कनिष्ठापर्यन्त दो आवृत्तिमें इन आठ अक्षरोंका न्यास 'स्थितिन्यास' है। दाहिनी कनिष्ठासे लेकर वाम कनिष्ठापर्यन्त न्यास 'संहारन्यास' है। 'क्रुद्धोल्काय' इत्यादिसे मूलमें जो हृदयादि न्यास कहा है, वही 'अङ्गन्यास' है। इस प्रकार कराङ्गन्यास करके पुनः अङ्गन्यासकी विधि 'शारदातिलक'की व्याख्यामें स्पष्ट की गयी है। यथा—'षडङ्गन्यास'की विधिसे छः अक्षरोंका अङ्गोंमें क्रमशः न्यास करके शेष दो अक्षरोंका उदर और पृष्ठमें न्यास करना चाहिये। प्रयोग इस प्रकार है—'ॐ हृदयाय नमः। नं शिरसे स्वाहा। मों शिखायै वषट्। नां कवचाय हुम्। रां नेत्राभ्यां वौषट्। यं अस्त्राय फट्। णां उदराय नमः। यं पृष्ठाय नमः।' इति। ईशानशिव गुरुदेवका वचन भी ऐसा ही है।
अस्य स्याद्धृदयं तारः शिरोनार्णः शिखा च मो। नावर्णः कवचं शस्त्रं रावर्णो नयनं परः॥
उदरं पृष्ठमन्त्यौ च वर्णौ हि नमसा युतौ॥

खड्ग, शार्ङ्गधनुष तथा वनमालाकी क्रमशः अर्चना करे॥ १५॥

मण्डलके बाहर गरुडकी पूजा करके भगवान् नारायणदेवके सम्मुख विराजमान विष्वक्सेन तथा सोमेशका मध्यभागमें और आवरणसे बाहर इन्द्र आदि परिचारकवर्गके साथ भगवान्‌का सम्यक् पूजन करनेसे साधकको अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है॥ १६-१७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अष्टाक्षर-पूजा-विधि वर्णन' नामक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०३॥

तीन सौ चारवाँ अध्याय

पञ्चाक्षर-दीक्षा-विधान; पूजाके मन्त्र

अग्निदेव कहते हैं— मेष (न) सर्गि विष— विसर्ग युक्त मकार (**मः**) षसे पहलेका अक्षर श और उसके साथ अक्षि—इकार (**शि**) दीर्घोदक (**वा**) मरुत् (**य**)—यह पञ्चाक्षर मन्त्र (**नमः शिवाय**[1]) शिवस्वरूप तथा शिवप्रदाता है। इसके आदिमें **ॐ** लगा देनेपर यह षडक्षर मन्त्र हो जाता है। इसका अर्चन (भजन) करके मनुष्य देवत्व आदि उत्तम फलोंको प्राप्त कर लेता है॥ १ $\frac{1}{2}$॥

ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही परम बुद्धिरूप है। वही सबके हृदयमें शिवरूपसे विराजमान है। वह शक्तिभूत सर्वेश्वर ही ब्रह्मा आदि मूर्तियोंके भेदसे भिन्न-सा प्रतीत होता है। मन्त्रके अक्षर पाँच हैं, भूतगण भी पाँच हैं तथा उनके मन्त्र और विषय भी पाँच हैं। प्राण आदि वायु पाँच हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच-पाँच हैं। ये सब-की-सब वस्तुएँ पञ्चाक्षर-ब्रह्मरूप हैं। इसी प्रकार यह सब कुछ अष्टाक्षर मन्त्ररूप भी है॥ २—४॥

दीक्षा-स्थानका मन्त्रोच्चारणपूर्वक पञ्चगव्यसे प्रोक्षण करे। फिर वहाँ समस्त आवश्यक सामग्रीका संग्रह करके विधिपूर्वक शिवकी पूजा करे। तत्पश्चात् मूलमन्त्र, इष्ट-मूर्तिसम्बन्धी मन्त्र तथा अङ्गसम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा अक्षत छींटते हुए भूतापसारणपूर्वक रक्षात्मक क्रिया सम्पादित करे। फिर दूधमें चरु पकाकर उसके तीन भाग करे। उनमेंसे एक भाग तो इष्टदेवताको निवेदित कर दे, दूसरे भागकी आहुति दे और तीसरा शिष्यसहित स्वयं ग्रहण करे। फिर आचमन एवं सकलीकरण करके आचार्य शिष्यको हृदय-मन्त्रसे अभिमन्त्रित एक दन्तधावन दे, जो दूधवाले वृक्ष आदिका काष्ठ हो। उससे दाँतोंका शोधन करके, उसे चीरकर उसके द्वारा जीभ साफ करनेके बाद धोकर पृथ्वीपर फेंक दे॥ ५—८॥

यदि पूर्वदिशासे फेंकनेपर वह दन्तकाष्ठ उत्तर या पश्चिम दिशाकी ओर जाकर गिरे तो शुभ होता है, अन्यथा अशुभ होता है। पुनः अपने सम्मुख आते हुए शिष्यको शिखाबन्धके[2] द्वारा रक्षित करके ज्ञानी गुरु वेदीपर उसके साथ कुशके बिस्तरपर सो जाय। शिष्य सोते समय रातमें जो स्वप्न देखे, उसे प्रातःकाल अपने गुरुको सुनावे॥ ९-१०॥

---

१. 'शारदातिलक' तथा 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के अनुसार पञ्चाक्षर मन्त्रका विनियोग इस प्रकार है—'अस्य श्रीशिवपञ्चाक्षरमन्त्रस्य (षडक्षरमन्त्रस्य वा) वामदेव ऋषिः पङ्क्तिश्छन्दः सदाशिवो देवता चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धये जपे विनियोगः।' इसका न्यास यों होगा— 'वामदेवाय ऋषये नमः शिरसि। पङ्क्तिच्छन्दसे नमः मुखे। श्रीसदाशिवदेवतायै नमः हृदि।'

२. मूलमन्त्रसे सजातीय शिखामन्त्र, यथा—'शिं शिखायै वषट्' द्वारा अथवा अघोरादि मन्त्रोंद्वारा गुरु शिष्यकी शिखा बाँध दे। यही 'शिखाबन्धाभिरक्षण' अथवा शिष्यको शिखाबन्धके द्वारा रक्षित करना है। ('शारदातिलक'की व्याख्या)

यदि स्वप्न शुभ एवं सिद्धिसूचक हुए तो उनसे मन्त्र तथा इष्टदेवके प्रति भक्ति बढ़ती है। तत्पश्चात् पुनः मण्डलार्चन करना चाहिये। 'सर्वतोभद्र' आदि मण्डल पहले बताये गये हैं। उन्हींमेंसे किसी एकका पूजन करना चाहिये। पूजित हुआ मण्डल सम्पूर्ण सिद्धियोंका दाता है॥ ११॥

पहले स्नान और आचमन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक देहमें मिट्टी लगाये। फिर पूर्ववत् कल्पित शिवतीर्थमें साधक अघमर्षण-मन्त्रके जपपूर्वक स्नान करे। फिर विद्वान् पुरुष हस्ताभिषेक[1] (हाथोंकी शुद्धि) करके पूजागृहमें प्रवेश करे। मूलमन्त्रसे योगपीठपर कमलासनका न्यास (चिन्तन) करे। मूलसे ही पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम करे॥ १२-१३॥

(सुषुम्णा नाड़ीके मार्गसे) जीवात्माको ऊपर ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रारचक्रमें ले जाकर परमात्मामें योजित (स्थापित) कर दे। सिरसे लेकर शिखापर्यन्त जो बारह अङ्गुल विस्तृत स्थान है, वही 'ब्रह्मरन्ध्र' है। उसीमें स्थित परमात्माके भीतर जीवको (**'हंसः सोऽहम्'**—इस मन्त्रद्वारा) संयोजित करनेके पश्चात् (यह चिन्तन करे कि सम्पूर्ण भूतोंके तत्त्व बीजरूपसे अपने-अपने कारणमें संहारक्रमसे विलीन हो गये हैं। इस प्रकार प्रकृतिपर्यन्त समस्त तत्त्वोंका परमात्मामें लय हो गया है। तदनन्तर) वायुबीज (यकार)-के द्वारा वायुको प्रकट करके उसके द्वारा अपने शरीरको सुखा दे। इसके बाद अग्निबीज (रकार)-से अग्नि प्रकट करके उसके द्वारा उस समस्त शुष्क शरीरको जलाकर भस्म कर दे। (उसमेंसे दग्ध हुए पापपुरुषके भस्मको विलगाकर) अपने शरीरके भस्मको अमृतबीज (वकार)-से प्रकट अमृतकी धारासे आप्लावित कर दे॥ १४॥

(इसके बाद विलीन हुए प्रत्येक तत्त्वके बीजको अपने-अपने स्थानपर पहुँचाकर दिव्य शरीरका निर्माण करे।) दिव्य स्वरूपका ध्यान करके जीवात्माको पुनः ले आकर हृदयकमलमें स्थापित कर दे। ऐसा करनेसे आत्मशुद्धि सम्पादित होती है। तदनन्तर न्यास करके पूजन आरम्भ करे॥ १५॥

पञ्चाक्षर-मन्त्रके न, म आदि पाँच वर्ण क्रमशः कृष्ण, श्वेत, श्याम, रक्त और पीत कान्तिवाले हैं। नकारादि अक्षरोंसे क्रमशः अङ्गन्यास करे। उन्हीं अङ्गोंमें तत्पुरुष आदि पाँच मूर्तियोंका भी न्यास करना चाहिये[2]॥ १६॥

तदनन्तर अङ्गुष्ठसे कनिष्ठापर्यन्त पाँच अँगुलियोंमें क्रमशः अङ्गमन्त्रोंका सर्वतोभावेन न्यास[3] करके पाद, गुह्य, हृदय, मुख तथा मूर्धामें मन्त्राक्षरोंका न्यास[4] करे। इसके बाद मूर्धा, मुख, हृदय, गुह्य और पाद—इन अङ्गोंमें व्यापक-न्यास[5] करके मूलमन्त्रके अक्षरोंका तथा अङ्गमन्त्रोंका भी वहीं

१. करशुद्धिका एक प्रकार यह भी है—अङ्गुष्ठ आदि सभी अँगुलियोंमें, दोनों हाथोंके अन्तर्भागमें, बाह्यभागमें तथा दोनों हाथोंके पार्श्वभागमें अस्त्रमन्त्र (फट्)-का व्यापकन्यास किया जाय।

२. इसका प्रयोग इस प्रकार है। पहले निम्नाङ्कित रूपसे मूर्तिसहित करन्यास करे—'नं तत्पुरुषाय नमः तर्जन्योः। मं अघोराय नमः मध्यमयोः। शिं सद्योजाताय नमः कनिष्ठिकयोः। वां वामदेवाय नमः अनामिकयोः। यं ईशानाय नमः अङ्गुष्ठयोः।' तत्पश्चात् अङ्गन्याससहित मूर्तिन्यास करे। यथा—'नं तत्पुरुषाय हृदयाय नमः। मं अघोराय शिरसे स्वाहा। शिं सद्योजातय शिखायै वषट्। वां वामदेवाय कवचाय हुम्। यं ईशानाय अस्त्राय फट्।' करन्यासमें यहाँ मध्यमाके बाद कनिष्ठा, फिर अनामिका, तत्पश्चात् अङ्गुष्ठका क्रम 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के तीसवें श्वास तथा 'शारदातिलक'के अठारहवें पटलके अनुसार है।

३. प्रयोग इस प्रकार है—नं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। मं तर्जनीभ्यां स्वाहा। शिं मध्यमाभ्यां वषट्। वां अनामिकाभ्यां हुम्। यं कनिष्ठिकाभ्यां फट्।

४. नं पादयोः न्यस्यामि। मं गुह्ये न्यस्यामि। शिं हृदये न्यस्यामि। वां मुखे न्यस्यामि। यं मूर्धनि न्यस्यामि।

५. व्यापकन्यास 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' (श्वास ३०) तथा 'शारदातिलक' (पटल १८)-में इस प्रकार कहा गया है—

नमोऽस्तु स्थाणुभूताय ज्योतिर्लिङ्गामृतात्मने। चतुर्मूर्तिवपुश्छायाभासिताङ्गाय शम्भवे॥
इति मन्त्रेण मूर्धादिपादपर्यन्तं व्यापकं न्यसेत्।

न्यास करे[१]। फिर अग्नि आदि कोणोंमें प्रकट पीठके धर्म आदि पादोंका, जो क्रमशः रक्त, पीत, श्याम और श्वेत वर्णके हैं, चिन्तन करके उनमें साध्यमन्त्रके अक्षरोंका न्यास करे तथा पूर्वादि दिशाओंमें स्थित अधर्म आदिका चिन्तन करके उनमें अङ्गमन्त्रोंका न्यास[२] करे। इस प्रकार योगपीठका चिन्तन करके उसके ऊपर अष्टदल कमलका और सूर्यमण्डल, सोममण्डल तथा अग्निमण्डल—इन तीन मण्डलोंका एवं सत्त्वादि गुणोंका चिन्तन करे॥ १७—१९॥

इसके बाद अष्टदल कमलके पूर्वादि दलोंपर वामा आदि आठ शक्तियोंका तथा कर्णिकाके ऊपर नवीं (मनोन्मनी) शक्तिका न्यास या चिन्तन करे। इन शक्तियोंके नाम इस प्रकार हैं—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकारिणी, बलविकारिणी, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी तथा नवीं मनोन्मनी। ये शक्तियाँ ज्वालास्वरूपा हैं और इनकी कान्ति क्रमशः श्वेत, रक्त, सित, पीत, श्याम, अग्नि-सदृश, असित, कृष्ण तथा अरुण वर्णकी है। इस प्रकार इनका चिन्तन करे॥ २०—२२॥

तदनन्तर '**अनन्तयोगपीठाय नमः**'से योगपीठकी पूजा करके हृदयकमलमें शिवका आवाहन करे। यथा—

स्फटिकाभं चतुर्बाहुं फालशूलधरं शिवम्।
साभयं वरदं पञ्चवदनं च त्रिलोचनम्॥

'जिनकी कान्ति स्फटिकमणिके समान श्वेत है, जो चार भुजाओंसे सुशोभित हैं और उन हाथोंमें फाल, शूल तथा अभय एवं वरद मुद्राएँ धारण करते हैं, जिनके पाँच मुख और प्रत्येक मुखके साथ तीन-तीन नेत्र हैं, उन भगवान् शिवका मैं ध्यान एवं आवाहन करता हूँ।'

इसके बाद कमलदलोंमें तत्पुरुषादि पञ्चमूर्तियोंकी स्थापना करे। यथा—**नं तत्पुरुषाय नमः (पूर्वे)। मं अघोराय नमः (दक्षिणे)। शिं सद्योजाताय नमः (पश्चिमे)। वां वामदेवाय नमः (उत्तरे)। यं ईशानाय नमः (ईशाने)।**

तत्पुरुष चतुर्भुज हैं। उनका वर्ण श्वेत है। उनका स्थान कमलके पूर्ववर्ती दलमें है। अघोरके आठ भुजाएँ हैं और उनकी अङ्गकान्ति असित (श्याम) है। इनका स्थान दक्षिणदलमें है। सद्योजातके चार मुख और चार ही भुजाएँ हैं। उनका पीत वर्ण है और स्थान पश्चिमदलमें है। वामदेवविग्रह स्त्री (देवी पार्वती)-के साथ विलसित होता है। उनके भी मुख तथा भुजाएँ चार-चार ही हैं। कान्ति अरुण है। इनका स्थान उत्तरवर्ती कमलदलमें है। ईशानके पाँच मुख हैं। वे ईशान-दलमें स्थित हैं। उनका वर्ण गौर है तथा वे सब कुछ देनेवाले हैं॥ २३—२६॥

तत्पश्चात् इष्टदेवके अङ्गोंका यथोचित पूजन करे[३]। फिर अनन्त, सूक्ष्म, सिद्धेश्वर (अथवा शिवोत्तम) और एकनेत्रका पूर्वादि दिशाओंमें (नाममन्त्रसे) पूजन करे। एकरुद्र, त्रिनेत्र, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डीका ईशान आदि कोणोंमें पूजन करे। ये सब-के-सब विद्येश्वर हैं और कमल इनका आसन है। इनकी अङ्गकान्ति क्रमशः श्वेत, पीत, सित, रक्त, धूम्र, रक्त, अरुण और नील है। ये सभी चतुर्भुज हैं और चार हाथोंमें शूल, वज्र, बाण और धनुष लिये रहते हैं। इनके मुख भी चार-चार ही हैं। इसके बाद तृतीय अष्टदल-कमलमें उत्तरादि दलोंमें प्रदक्षिण-क्रमसे उमा, चण्डेश, नन्दीश्वर, महाकाल, गणेश्वर, वृषभ, भृङ्गिरिटि तथा स्कन्दका पूजन करे॥ २७—३०॥

तत्पश्चात् पूर्वादि दिशाओंमें चतुरस्त्र रेखापर इन्द्रादि दिक्पालों तथा उनके अस्त्र—वज्र, शक्ति,

१. नं मूर्ध्ने नमः। मं वक्त्राय स्वाहा। शिं हृदयाय वषट्। वां गुह्याय हुम्। यं पादाभ्यां फट्।

२. नं धर्माय नमः (अग्निकोणपादे)। मं ज्ञानाय नमः (नैर्ऋत्यपादे)। शिं वैराग्याय नमः (वायव्यपादे)। वां यं ऐश्वर्याय नमः (ऐशानपादे)। अधर्माय नमः (पूर्वे)। अज्ञानाय स्वाहा (दक्षिणे)। अवैराग्याय वषट् (पश्चिमे)। अनैश्वर्याय हुं फट् (उत्तरे)।

३. उनके षडङ्ग-पूजनका क्रम यों है—द्वितीय अष्टदलकमलके केसरोंमें—ॐहृदयाय नमः (देवस्य रक्षाग्रकेसरे)। नं शिरसे स्वाहा (वामाग्रकेसरे ईशाने)। मं शिखायै वषट् (पृष्ठदक्षिणे)। शिं कवचाय हुम् (पृष्ठवामे)। वां नेत्रत्रयाय वौषट् (अग्रे)। यं अस्त्राय फट् (अग्रादिचतुर्दिक्षु)। (श्रीविद्यार्णवतन्त्र)

दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा, शूल, चक्र और पद्मका पूजन करे*। इस प्रकार छः आवरणोंसहित इष्टदेवताकी पूजा करके गुरु अधिवासित शिष्यको पञ्चगव्यपान कराये। फिर आचमन कर लेनेपर उसका प्रोक्षण करे। इसके बाद नेत्रान्त अर्थात् नूतन शुक्ल वस्त्रकी पट्टीसे नेत्र-मन्त्र (वौषट्)-का उच्चारण करते हुए गुरु शिष्यके नेत्रोंको बाँध दे। फिर उस शिष्यको मण्डपके दक्षिणद्वारमें प्रवेश कराये। वहाँ आसन आदि या कुशपर बैठे हुए शिष्यका गुरु शोधन करे। पूर्वोक्त रीतिसे शरीर आदि पाञ्चभौतिक तत्त्वोंका क्रमशः संहार करके शिष्यका परमात्मामें लय किया जाय; फिर सृष्टिमार्गसे देशिक शिष्यका पुनरुत्पादन करे। इसके बाद उस शिष्यके दिव्य शरीरमें न्यास करके उसे प्रदक्षिणक्रमसे पश्चिमद्वारपर लाकर उसके द्वारा पुष्पाञ्जलिका क्षेपण कराये। जिस देवताके ऊपर वे फूल गिरें, उसके नामको आदिमें रखते हुए शिष्यके नामका निर्देश करे। तत्पश्चात् (नेत्रका बन्धन खोलकर) यज्ञभूमिके पार्श्वभागमें सुन्दर नाभि और मेखलासे युक्त खुदे हुए कुण्डमें शिवाग्निको प्रकट कराकर, स्वयं उसका पूजन करके, फिर शिष्यसे भी उसकी अर्चना कराये। फिर ध्यानद्वारा आत्मसदृश शिष्यको संहारक्रमसे अपनेमें लीन करके पुनः उसका सृष्टिक्रमसे उत्पादन करे। तदनन्तर उसके हाथमें अभिमन्त्रित कुश दे और हृदयादि मन्त्रोंद्वारा पृथिवी आदि तत्त्वोंके लिये आहुति प्रदान करे॥ ३१—३८॥

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इनमेंसे प्रत्येकके लिये इनके नाम-मन्त्रसे सौ-सौ आहुतियाँ देकर आकाशतत्त्वके लिये मूलमन्त्र (**ॐ नमः शिवाय**)-से सौ आहुतियाँ दे। इस प्रकार हवन करके उसकी पूर्णाहुति करे। फिर अस्त्र-मन्त्र (**फट्**)-का उच्चारण करके आठ आहुतियाँ दे। तत्पश्चात् विशेष शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त (होम या गोदान) करे। अभिमन्त्रित कलशका पूजन कर पीठस्थित शिष्यका अभिषेक करे। फिर गुरु शिष्यको समयाचार सिखावे। शिष्य स्वर्ण-मुद्रा आदिके द्वारा अपने गुरुका पूजन करे। इस प्रकार यहाँ 'शिवपञ्चाक्षर' मन्त्रकी दीक्षा बतायी गयी। इसी तरह विष्णु आदि देवताओंके मन्त्रोंकी भी दीक्षा दी जाती है॥ ३९—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पञ्चाक्षरमन्त्रकी दीक्षाके विधानका वर्णन' नामक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०४॥

तीन सौ पाँचवाँ अध्याय

पचपन विष्णुनाम

अग्निदेव कहते हैं—मुने! जो मनुष्य भगवान् विष्णुके निम्नाङ्कित पचपन नामोंका जप करता है, वह मन्त्रजप आदिके फलका भागी होता है तथा तीर्थोंमें पूजनादिके अक्षय पुण्यको प्राप्त करता है। पुष्करमें पुण्डरीकाक्ष, गयामें गदाधर, चित्रकूटमें राघव, प्रभासमें दैत्यसूदन, जयन्तीमें जय, हस्तिनापुरमें जयन्त, वर्धमानमें वाराह, काश्मीरमें चक्रपाणि, कुब्जाभ (या कुब्जास्र)-में

* 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में पूजनके मन्त्र इस प्रकार दिये गये हैं—'देवाग्रभागमारभ्य लं इन्द्राय सुराधिपतये पीतवर्णाय वज्रहस्ताय ऐरावतवाहनाय नमः। इं अग्नये तेजोऽधिपतये रक्तवर्णाय शक्तिहस्ताय मेषवाहनाय नमः। हं यमाय प्रेताधिपतये कृष्णवर्णाय दण्डहस्ताय महिषवाहनाय नमः। क्षं नेत्रत्रये रक्षोऽधिपतये धूम्रवर्णाय खड्गहस्ताय प्रेतवाहनाय नमः। वं वरुणाय यादसाम्पतये शुक्लवर्णाय पाशहस्ताय मकरवाहनाय नमः। यं वायवे प्राणाधिपतये धूम्रवर्णाय अङ्कुशहस्ताय मृगवाहनाय नमः। हों ईशानाय विद्याधिपतये स्फटिकवर्णाय शूलहस्ताय वृषभवाहनाय नमः। इति सम्पूज्य इन्द्रेशानयोर्मध्ये—आं ब्रह्मणे लोकाधिपतये रक्तवर्णाय पद्महस्ताय हंसवाहनाय नमः। निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये—ह्रीं अनन्ताय नागाधिपतये गौरवर्णाय चक्रहस्ताय गरुडवाहनाय नमः। इति सम्पूज्य द्वितीयवीथ्याम्—वज्राय नमः। शक्तये०। दण्डाय०। खड्गाय०। पाशाय०। अङ्कुशाय०। गदायै०। त्रिशूलाय०। पद्माय०। चक्राय०। इस प्रकार इन-इन आयुधोंका उन-उन दिक्पालोंके निकटवर्ती स्थानमें पूजन करना चाहिये।'

जनार्दन, मथुरामें केशवदेव, कुब्जाम्रकमें हृषीकेश, गङ्गाद्वारमें जटाधर, शालग्राममें महायोग, गोवर्धनगिरिपर हरि, पिण्डारकमें चतुर्बाहु, शङ्खोद्धारमें शङ्खी, कुरुक्षेत्रमें वामन, यमुनामें त्रिविक्रम, शोणतीर्थमें विश्वेश्वर, पूर्वसागरमें कपिल, महासागरमें विष्णु, गङ्गासागर-सङ्गममें वनमाल, किष्किन्धामें रैवतकदेव, काशीतटमें महायोग, विरजामें रिपुंजय, विशाखयूपमें अजित, नेपालमें लोकभावन, द्वारकामें कृष्ण, मन्दराचलमें मधुसूदन, लोकाकुलमें रिपुहर, शालग्राममें हरिका स्मरण करे॥ १—९॥

पुरुषवटमें पुरुष, विमलतीर्थमें जगत्प्रभु, सैन्धवारण्यमें अनन्त, दण्डकारण्यमें शार्ङ्गधारी, उत्पलावर्तकमें शौरि, नर्मदामें श्रीपति, रैवतकगिरिपर दामोदर, नन्दामें जलशायी, सिन्धुसागरमें गोपीश्वर, माहेन्द्रतीर्थमें अच्युत, सह्याद्रिपर देवदेवेश्वर, मागधवनमें वैकुण्ठ, विन्ध्यगिरिपर सर्वपापहारी, औण्ड्रमें पुरुषोत्तम और हृदयमें आत्मा विराजमान हैं। ये अपने नामका जप करनेवाले साधकोंको भोग तथा मोक्ष देनेवाले हैं, ऐसा जानो॥ १०—१३॥

प्रत्येक वटवृक्षपर कुबेरका, प्रत्येक चौराहेपर शिवका, प्रत्येक पर्वतपर रामका तथा सर्वत्र मधुसूदनका स्मरण करे। धरती और आकाशमें नरका, वसिष्ठतीर्थमें गरुडध्वजका तथा सर्वत्र भगवान् वासुदेवका स्मरण करनेवाला पुरुष भोग एवं मोक्षका भागी होता है। भगवान् विष्णुके इन नामोंका जप करके मनुष्य सब कुछ पा सकता है। उपर्युक्त क्षेत्रमें जो जप, श्राद्ध, दान और तर्पण किया जाता है, वह सब कोटिगुना हो जाता है। जिसकी वहाँ मृत्यु होती है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो इस प्रसंगको पढ़ेगा अथवा सुनेगा, वह शुद्ध होकर स्वर्ग (वैकुण्ठधाम)-को प्राप्त होगा*॥ १४—१७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विष्णुके पचपन नामविषयक' तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०५॥

---

* अग्निरुवाच—

जपन् वै पञ्चपञ्चाशद् विष्णुनामानि यो नरः। मन्त्रजप्यादिफलभाक् तीर्थेष्वर्चादि चाक्षयम्॥
पुष्करे पुण्डरीकाक्षं गयायां च गदाधरम्। राघवं चित्रकूटे तु प्रभासे दैत्यसूदनम्॥
जयं जयन्त्यां तद्वच्च जयन्तं हस्तिनापुरे। वाराहं वर्धमाने च काश्मीरे चक्रपाणिनम्॥
जनार्दनं च कुब्जास्रे मथुरायां च केशवम्। कुब्जाम्रके हृषीकेशं गङ्गाद्वारे जटाधरम्॥
शालग्रामे महायोगं हरिं गोवर्धनाचले। पिण्डारके चतुर्बाहुं शङ्खोद्धारे च शङ्खिनम्॥
वामनं च कुरुक्षेत्रे यमुनायां त्रिविक्रमम्। विश्वेश्वरं तथा शोणे कपिलं पूर्वसागरे॥
विष्णुं महोदधौ विद्याद् गङ्गासागरसंगमे। वनमालं च किष्किन्ध्यां देवं रैवतकं विदुः॥
काशीतटे महायोगं विरजायां रिपुंजयम्। विशाखयूपे ह्यजितं नेपाले लोकभावनम्॥
द्वारकायां विद्धि कृष्णं मन्दरे मधुसूदनम्। लोकाकुले रिपुहरं शालग्रामे हरिं स्मरेत्॥
पुरुषं पूरुषवटे विमले च जगत्प्रभुम्। अनन्तं सैन्धवारण्ये दण्डके शार्ङ्गधारिणम्॥
उत्पलावर्तके शौरिं नर्मदायां श्रियः पतिम्। दामोदरं रैवतके नन्दायां जलशायिनम्॥
गोपीश्वरं च सिन्ध्वब्धौ माहेन्द्रे चाच्युतं विदुः। सह्याद्रौ देवदेवेशं वैकुण्ठं मागधे वने॥
सर्वपापहरं विन्ध्ये औण्ड्रे तु पुरुषोत्तमम्। आत्मानं हृदये विद्धि जपतां भुक्तिमुक्तिदम्॥
वटे वटे वैश्रवणं चत्वरे चत्वरे शिवम्। पर्वते पर्वते रामं सर्वत्र मधुसूदनम्॥
नरं भूमौ तथा व्योम्नि वसिष्ठे गरुडध्वजम्। वासुदेवं च सर्वत्र संस्मरन् भुक्तिमुक्तिभाक्॥
नामान्येतानि विष्णोश्च जप्त्वा सर्वमवाप्नुयात्। क्षेत्रेष्वेतेषु यच्छ्राद्धं दानं जप्यं च तर्पणम्॥
तत्सर्वं कोटिगुणितं मृतो ब्रह्ममयो भवेत्। यः पठेच्छृणुयाद्वापि निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्॥
(अग्निपु० ३०५। १—१७)

तीन सौ छठा अध्याय

श्रीनरसिंह आदिके मन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—मुने! स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, उत्सादन, भ्रामण, मारण तथा व्याधि— ये 'क्षुद्र'संज्ञक अभिचारिक कर्म हैं। इनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो? यह बात बताऊँगा; सुनो— ॥ १ ॥

'ॐ नमो भगवते उन्मत्तरुद्राय भ्रम भ्रम भ्रामय भ्रामय अमुकं वित्रासय वित्रासय उद्भ्रामय उद्भ्रामय रुद्र रौद्रेण रूपेण हूं फट् स्वाहा[१]**'**॥ २ ॥

श्मशान-भूमिमें रातको इस मन्त्रका तीन लाख जप करे। फिर चिताकी आगमें धतूरेकी समिधाओंद्वारा हवन करे। इस प्रयोगसे शत्रु सदा भ्रान्त होता—चक्करमें पड़ा रहता है। सुनहरे गेरूसे शत्रुकी प्रतिमा बनाकर उक्त मन्त्रका जप करे। फिर मन्त्रजपसे अभिमन्त्रित की हुई सोनेकी सूइयोंसे उस प्रतिमाके कण्ठ अथवा हृदयको बींधे। इस प्रयोगसे शत्रुकी मृत्यु हो जाती है। गधेका बाल (अथवा खराश्वा—मयूरशिखा नामक ओषधिके पत्ते), चिताका भस्म, ब्रह्मदण्डी (ब्रह्मदारु या तूतकी लकड़ी) तथा मर्कटी (करंजभेद)—इन सबको जलाकर भस्म (चूर्ण) बना ले। उस भस्म या चूर्णको उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उत्सादनका प्रयोग करनेवाला पुरुष शत्रुके घरपर अथवा उसके मस्तकपर फेंक दे[२] ॥ ३—५ ॥

भृगु (स) आकाश (ह), दीप्त (दीर्घ आकारयुक्त) रेफसहित भृगु (स) अर्थात् (सहस्रा), फिर र, वर्म (हुम्) और फट् इस प्रकार सब मिलकर मन्त्र बना—'**सहस्रार हुं फट्।**' इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—'**आचक्राय स्वाहा, हृदयाय नमः। विचक्राय स्वाहा, शिरसे स्वाहा। सुचक्राय स्वाहा, शिखायै वषट्। धीचक्राय स्वाहा, कवचाय हुम्। संचक्राय स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट्। ज्वालाचक्राय स्वाहा, अस्त्राय फट्।**' ये न्यास पूर्ववत् कहे गये हैं।[३] अङ्गन्यासपूर्वक जपा हुआ सुदर्शनचक्र मन्त्र पूर्वोक्त 'क्षुद्र'संज्ञक अभिचारों तथा ग्रहबाधाओंको हर लेनेवाला और समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है ॥ ६—८ ॥

उक्त सुदर्शन-मन्त्रके छः अक्षरोंका क्रमशः मूर्धा, नेत्र, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण—इन छः अङ्गोंमें न्यास करे। इसके बाद चक्रस्वरूप भगवान् विष्णुका ध्यान करे—'भगवान् चक्राकार कमलके आसनपर विराजमान हैं। उनकी आभा

---

१. 'तन्त्रसार-संग्रह' १७ वें पटल, श्लोक ३०में भी इस मन्त्रका यही रूप है। इस मन्त्रका अङ्गन्यास इस प्रकार करना चाहिये—'ॐ नमो भगवते हृदयाय नमः। उन्मत्तरुद्राय शिरसे स्वाहा। भ्रम भ्रम भ्रामय भ्रामय शिखायै वषट्। अमुकं वित्रासय वित्रासय कवचाय हुम्। उद्भ्रामयोद्भ्रामय नेत्रत्रयाय वौषट्। रुद्र रौद्रेण रूपेण हुं फट् स्वाहा अस्त्राय फट्।'

२. 'तन्त्रसार-संग्रह'में इस श्लोकका पाठ इस प्रकार मिलता है—

सप्तग्रामोत्थवल्मीकमृत्स्नाविषतरुत्वचौ । कर्ण्यग्निमन्थवन्दाकौ पक्षौ मूकद्विकद्विषोः ॥
खरवालं चिताभस्म ब्रह्मदण्डी च मर्कटी। गृहे वा मूर्ध्नि तच्चूर्णं क्षिप्तमुत्सादनं रिपोः ॥ (१७ पटल, श्लोक ७०—७२)

'सात गाँवोंके बिमौटकी मिट्टी, विषवृक्षकी छाल, कर्णी (कमलगट्टा), अग्निमन्थवन्दाक (वस्तुविशेष), काकपंख, उल्लूकी पाँख, खरबाल, चिताभस्म, ब्रह्मदण्डी (शहतूतकी लकड़ी) और मर्कटी (करंज)—इन दस वस्तुओंका भस्म-चूर्ण यदि शत्रुके घरपर या उसके मस्तकपर डाल दिया जाय तो उसका उत्सादन (उजड़कर अन्यत्र जाना अथवा वहीं नष्ट हो जाना) होता है।'

३. 'शारदातिलक'में यहाँ आत्मरक्षाके लिये दिग्बन्ध करने और अग्निमय प्राकार (चहारदिवारी) निर्माण करनेकी आवश्यकता बताते हुए दिग्बन्ध-मन्त्र एवं अग्नि-प्राकार-मन्त्र—दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—'ॐ ऐन्द्रीं (आग्नेयीम् इत्यादि) चक्रेण बध्नामि नमश्चक्राय स्वाहा'—यह 'दिग्बन्ध' है तथा 'ॐ त्रैलोक्यं रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।'—यह अग्निमय-प्राकारमन्त्र है। द्रष्टव्य—पटल १५, श्लोक ७५।

अग्निसे भी अधिक तेजस्विनी है। उनके मुखमें दाढ़ें हैं। वे चार भुजाधारी होते हुए भी अष्टबाहु हैं। वे अपने हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, मुसल, अङ्कुश, पाश और धनुष धारण करते हैं। उनके केश पिङ्गलवर्णके और नेत्र लाल हैं। उन्होंने अरोंसे त्रिलोकीको व्याप्त कर रखा है। चक्रकी नाभि (नाहा) उस अग्निसे आविद्ध (व्याप्त) है। उसके चिन्तनमात्रसे समस्त रोग तथा अरिष्टग्रह नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण चक्र पीतवर्णका है। उसके सुन्दर अरे रक्तवर्णके हैं। उन अरोंका अवान्तरभाग श्यामवर्णका है। चक्रकी नेमि श्वेतवर्णकी है। उसमें बाहरकी ओरसे कृष्णवर्णकी पार्थिवी रेखा है। अरोंसे युक्त जो मध्यभाग है, उसमें समस्त अकारादि वर्ण हैं।' इस प्रकार दो चक्र-चिह्न अङ्कित करे॥ ९—१२॥

आदि (उत्तरवर्ती) चक्रपर कलशका जल ले अपने आगे समीपमें ही स्थापित करे। दूसरे दक्षिण चक्रपर सुदर्शनकी पूजा करके वहाँ अग्निमें क्रमशः घी, अपामार्गकी समिधा, अक्षत, तिल, सरसों, खीर और गोघृत—सबकी आहुतियाँ दे। प्रत्येक वस्तुकी एक हजार आठ आहुतियाँ पृथक्-पृथक् देनी चाहिये॥ १३-१४॥

विधि-विधानका ज्ञाता विद्वान् प्रत्येक द्रव्य हुतशेष भाग कलशमें डाले। तदनन्तर एक प्रस्थ (सेर) अन्नद्वारा निर्मित पिण्ड उस कलशके भीतर रखे। फिर विष्णु आदि देवोंके लिये सब देय वस्तु वहीं दक्षिण भागमें स्थापित करे॥ १५॥

इसके बाद 'सर्वशान्तिकर विष्णुजनों (भगवान् विष्णुके पार्षदों)-को नमस्कार है। वे शान्तिके लिये यह उपहार ग्रहण करें। उनको नमस्कार है।'—इस मन्त्रको पढ़कर हुतशेष जलसे बलि समर्पित करे। किसी काष्ठ-फलकपर या कलशमें अथवा दूधवाले वृक्षकी लकड़ीसे बनवाये हुए दधिपूर्ण काष्ठपात्रमें बलिकी वस्तु रखकर प्रत्येक दिशामें अर्पित करे। यह करके ही द्विजोंके द्वारा होम कराना चाहिये। दक्षिणासहित दो बार किया हुआ यह होम भूत-प्रेत आदिका नाशक होता है॥ १६—१८॥

दही लगे हुए पत्तेपर लिखित मन्त्राक्षरोंद्वारा किया गया होम क्षुद्र रोगोंका नाशक होता है। दूर्वासे होम किया जाय तो वह आयुकी, कमलोंकी आहुति दी जाय तो वह श्री (ऐश्वर्य)-की और गूलर-काष्ठसे हवन किया जाय तो वह पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला होता है। गोशालामें घीके द्वारा आहुति देनेसे गौओंकी प्राप्ति एवं वृद्धि होती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वृक्षोंकी समिधासे किया गया होम बुद्धिकी वृद्धि करनेवाला होता है॥ १९-२०॥

'ॐ क्षौं नमो भगवते नारसिंहाय ज्वालामालिने दीप्त दंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशाय सर्वज्वरविनाशाय दह दह पच पच रक्ष रक्ष हुं फट्*॥ २१॥'

—यह भगवान् नरसिंहका मन्त्र समस्त पापोंका निवारण करनेवाला है। इसका जप आदि किया जाय तो यह क्षुद्र महामारी, विष एवं रोगोंका हरण कर सकता है। चूर्णीभूत मण्डूक-वयस् (औषध-विशेष)-से हवन किया जाय तो वह जलस्तम्भन और अग्नि-स्तम्भन करनेवाला होता है॥ २१-२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नरसिंह आदिके मन्त्रोंका कथन' नामक तीन सौ छठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०६॥

---

* 'ॐ क्षौं' ज्वालामालाओंसे समलंकृत दीप्तिमती दंष्ट्राओंसे देदीप्यमान, अग्निमय नेत्रवाले, सर्वराक्षससंहारक, सर्वभूतविनाशक, सर्वज्वरापहारक भगवान् नरसिंहको नमस्कार है। जलाओ, जलाओ, पकाओ, पकाओ, मुझे बचाओ, बचाओ हुं फट्।'

—यह इस मन्त्रका अर्थ है।

तीन सौ सातवाँ अध्याय

त्रैलोक्यमोहन आदि मन्त्र

अग्निदेव कहते हैं— मुने! अब मैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये 'त्रैलोक्यमोहन' नामक मन्त्रका वर्णन करूँगा॥ १॥

ॐ श्रीं ह्रीं ह्रूं ओम्, ॐ नमः पुरुषोत्तम पुरुषोत्तमप्रतिरूप लक्ष्मीनिवास सकलजगत्क्षोभण सर्वस्त्रीहृदयदारण त्रिभुवनमदोन्मादकर सुर-मनुजसुन्दरीजनमनांसि तापय तापय दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावयाकर्षयाकर्षय परमसुभग सर्वसौभाग्यकर कामप्रदामुकं (शत्रुम्) हन हन चक्रेण गदया खड्गेन सर्वबाणैर्भिन्द भिन्द पाशेन कट्ट कट्ट अङ्कुशेन ताडय ताडय त्वर त्वर किं तिष्ठसि यावत्तावत् समीहितं मे सिद्धं भवति हुं फट्, नमः*॥ २॥

ॐ पुरुषोत्तम त्रिभुवनमदोन्मादकर हुं फट् हृदयाय नमः। सुरमनुजसुन्दरीमनांसि तापय तापय शिरसे स्वाहा। दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावय कवचाय हुम्। आकर्षयाकर्षय महाबल हुं फट् नेत्रत्रयाय वौषट्। त्रिभुवनेश्वर सर्वजनमनांसि हन हन दारय दारय ॐ मम वशमानयानय हुं फट् अस्त्राय फट्। त्रैलोक्यमोहन हृषीकेशाप्रतिरूप सर्वस्त्री-हृदयाकर्षण आगच्छ-आगच्छ नमः। (सर्वाङ्गे) व्यापकम्॥ ३॥

इस प्रकार मूलमन्त्रयुक्त व्यापक न्यास बताया गया। फिर पूजन तथा पचास हजारकी संख्यामें जप करके अभिषेक करे। तत्पश्चात् वैदिक विधिसे स्थापित कुण्डाग्निमें सौ बार आहुति दे। दही, घी, खीर, सघृत चरु तथा औटाये हुए दूधकी पृथक्-पृथक् बारह-बारह आहुतियाँ मूलमन्त्रसे दे। फिर अक्षत, तिल और यवकी एक हजार आहुतियाँ देनेके पश्चात् त्रिमधु, पुष्प, फल, दही तथा समिधाओंकी सौ-सौ बार आहुतियाँ दे॥ ४—६॥

तदनन्तर पूर्णाहुति-होम करके हुतावशिष्ट सघृत चरुका प्राशन करे-कराये। फिर ब्राह्मण-भोजन कराकर आचार्यको उचित दक्षिणा आदिसे संतुष्ट करे। यों करनेसे मन्त्र सिद्ध होता है। स्नान करके विधिवत् आचमन करे और मौनभावसे यागमन्दिरमें जाकर पद्मासनसे बैठे और तान्त्रिक विधिके अनुसार शरीरका शोषण करे। पहले राक्षसों तथा विघ्नकारक भूतोंका दमन करनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें सुदर्शनका न्यास करे। साथ ही यह भावना करे कि वह सुदर्शन अस्त्र पाँच क्लेशोंके बीजभूत, धूम्रवर्ण एवं प्रचण्ड अनिलरूप मेरे सम्पूर्ण पापको, जो नाभिमें स्थित है, शरीरसे अलग कर रहा है। फिर हृदयकमलमें स्थित 'रं' बीजका स्मरण करके ऊपर, नीचे तथा अगल-बगलमें फैली हुई अग्निकी ज्वालाओंसे उस पाप-पुञ्जको जलाकर भस्म कर दे। फिर

* इस मन्त्रका अर्थ यों है—'ॐ श्रीं ह्रीं ह्रूं ओम् सच्चिदानन्दस्वरूप पुरुषोत्तम! पुरुषोत्तमप्रतिरूप! लक्ष्मीनिवास! आप अपने सौन्दर्यसे सम्पूर्ण जगत्‌को क्षुब्ध कर देनेमें समर्थ हैं। समस्त स्त्रियोंके हृदयको दरण—उन्मथित कर देनेवाले हैं। त्रिभुवनको मदोन्मत्त कर देनेकी शक्ति रखते हैं। देवसुन्दरियों तथा मानवसुन्दरियोंके मनको (प्रीति-अग्निमें) तपाइये, तपाइये; उनके रागको उद्दीप्त कीजिये, उद्दीप्त कीजिये; सोखिये, सोखिये; मारिये, मारिये; उनका स्तम्भन कीजिये; स्तम्भन कीजिये; द्रवित कीजिये, द्रवित कीजिये; आकर्षित कीजिये, आकर्षित कीजिये। परम सौभाग्यनिधे! सर्वसौभाग्यकारी प्रभो! आप सबकी मनोवाञ्छित कामना पूर्ण करनेवाले हैं। मेरे अमुक शत्रुका हनन कीजिये, हनन कीजिये। चक्रसे, गदासे और खड्गसे; समस्त बाणोंसे बेधिये, बेधिये। पाशसे आवृत कीजिये, बाँध लीजिये। अङ्कुशसे ताडित कीजिये, ताडित कीजिये। जल्दी कीजिये, जल्दी कीजिये। क्यों रुकते या ठहरते हैं? जबतक मेरा सारा मनोरथ पूर्ण न हो जाय, तबतक यत्नशील रहिये। हुं फट् नमः॥'

मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र)-में अमृतका चिन्तन करके सुषुम्णानाड़ीके मार्गसे आती हुई अमृतकी धाराओंसे अपने शरीरको बाहर और भीतरसे भी आप्लावित करे॥ ७—११॥

इस प्रकार शुद्धशरीर होकर मूलमन्त्रसे तीन बार प्राणायाम करे। फिर मस्तक और मुखपर तथा गुह्यभाग, ग्रीवा, सम्पूर्ण दिशा, हृदय, कुक्षि एवं समस्त शरीरमें हाथ रखकर उनमें शक्तिका न्यास करे। इसके बाद सूर्यमण्डलसे सम्परात्माका आवाहन करके ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे हृदय-कमलमें लाकर चिन्तन करे। वे परात्मा समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। प्रणवका उच्चारण करते हुए परात्माका स्मरण करना चाहिये॥ १२—१४॥

उनके स्मरणके लिये गायत्री-मन्त्र इस प्रकार है—'**त्रैलेक्यमोहनाय विद्महे। स्मराय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। इति।**' परात्माका अर्चन करनेके पश्चात् यज्ञसम्बन्धी द्रव्यों और शुद्ध पात्रका प्रोक्षण करे। विधिपूर्वक आत्मपूजा करके वेदीपर उसकी अर्चना करे॥ १५-१६॥

कूर्म-अनन्त आदिके रूपमें कल्पित पीठपर कमल एवं गरुड़के आसनपर विराजमान त्रैलोक्यमोहन भगवान् विष्णु सर्वाङ्गसुन्दर हैं और वयके अनुरूप लावण्य तथा यौवनको प्राप्त हैं। उनके अरुणनयन मदसे घूर्णित हो रहे हैं। वे परम उदार तथा स्मरसे विह्वल हैं। दिव्य माला, वस्त्र और अनुलेप उनकी शोभा बढ़ाते हैं। मुखपर मन्दहास्यकी छटा छिटक रही है। उनके परिवार और परिकर अनेक हैं। वे लोकपर अनुग्रह करनेवाले, सौम्य तथा सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं। उन्होंने हाथोंमें पाँच बाण धारण कर रखे हैं। उनकी समस्त इन्द्रियाँ पूर्णकाम हैं। उनके आठ भुजाएँ हैं। देवाङ्गनाएँ उन्हें घेरकर खड़ी हैं। उनकी दृष्टि लक्ष्मीदेवीके मुखपर गड़ी है। ऐसे भगवान्‌का भजन करे। उनके आठ हाथोंमें क्रमशः चक्र, शङ्ख, धनुष, खड्ग, गदा, मुसल, अङ्कुश और पाश शोभा पाते हैं। आवाहन आदिके द्वारा उनकी अर्चना करके अन्तमें उनका विसर्जन करना चाहिये॥ १७—२१॥

यह भी चिन्तन करे कि भगवान् अपने ऊरु तथा जंघापर श्रीलक्ष्मीजीको बैठाये हुए हैं और वे दोनों हाथोंसे पतिका आलिङ्गन करके स्थित हैं। उनके बायें हाथमें कमल है। वे शरीरसे हृष्ट-पुष्ट हैं तथा श्रीवत्स और कौस्तुभसे सुशोभित हैं। भगवान्‌के गलेमें वनमाला है और शरीरपर पीताम्बर शोभा पाता है। इस प्रकार चक्र आदि आयुधोंसे सम्पन्न श्रीहरिका पूजन करे॥ २२-२३॥

'**ॐ सुदर्शन महाचक्रराज दह दह सर्वदुष्टभयं कुरु कुरु छिन्द छिन्द विदारय विदारय परमन्त्रान् ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतानि त्रासय त्रासय हुं फट् स्वाहा**'—इस मन्त्रसे चक्र सुदर्शनकी पूजा करे।

'**ॐ महाजलचराय हुं फट् स्वाहा। पाञ्चजन्याय नमः।**'

—इस मन्त्रसे शङ्खकी पूजा करे।

'**महाखड्ग तीक्ष्ण छिन्द छिन्द हुं फट् स्वाहा खड्गाय नमः।**'—इससे खड्गकी पूजा करे।' '**शार्ङ्गाय[1] सशराय नमः।**'—इससे धनुष और बाणकी पूजा करे। '**ॐ भूतग्रामाय विद्महे। चतुर्विधाय धीमहि। तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्।**'—यह भूतग्राम[2]-गायत्री है। '**संवर्तक मुशल पोथय पोथय हुं फट् स्वाहा।**'—इस मन्त्रसे मुशलकी[3] पूजा करे। '**पाश बन्ध बन्धाकर्षयाकर्षय हुं फट्**'—

१. 'महाशार्ङ्गाय सशराय हुं फट् स्वाहा, शार्ङ्गाय नमः।'—यह सर्वसम्मत शार्ङ्गधनुष-सम्बन्धी मन्त्र है। (शारदातिलकसे)

२. यह 'भूतग्राम-गायत्री' क्रमप्राप्त गदामन्त्रके लिये आयी जान पड़ती है। इससे गदाका पूजन करना चाहिये। 'शारदातिलक'में कौमोदकी गदाके मन्त्रका स्वरूप यों उद्धृत हुआ है—

'महाकौमोदकि महाबले सर्वासुरान्तकि प्रसीद प्रसीद हुं फट् स्वाहा, कौमोदक्यै नमः।'

३. 'संवर्तक महामुशल पोथय पोथय हुं फट् स्वाहा, मुशलाय नमः।'—यह पूरा-पूरा 'मुशल-मन्त्र' है।

इस मन्त्रसे पाशका[१] पूजन करे। '**अङ्कुश[२] कट्ट हुं फट्**'—इससे अङ्कुशकी पूजा करे।

भगवान्की भुजाओंमें स्थित अस्त्रोंका तत्तत्-अस्त्र-सम्बन्धी इन्हीं मन्त्रोंसे क्रमशः पूजन करे॥ २४—२७॥

'**ॐ पक्षिराजाय हुं फट्**'—इस मन्त्रसे पक्षिराज गरुडकी पूजा करे। कर्णिकामें पहले अङ्ग-देवताओंका विधिवत् पूजन करे। फिर पूर्व आदि दलोंमें लक्ष्मी आदि शक्तियों तथा चामरधारी तार्क्ष्य आदिकी अर्चना करे। शक्तियोंकी पूजाका प्रयोग अन्तमें करना चाहिये। पहले देवेश्वर इन्द्र आदि दण्डीसहित पूजनीय हैं। लक्ष्मी और सरस्वती पीतवर्णकी हैं। रति, प्रीति और जया—ये शक्तियाँ श्वेतवर्णा हैं। कीर्ति तथा कान्ति श्वेतवर्णा हैं। तुष्टि तथा पुष्टि—ये दोनों श्यामवर्णा हैं। इनमें स्मरभाव (प्रेममिलनकी उत्कण्ठा) उदित रहती है। लोकेश (ब्रह्माजी तथा दिक्पाल)-पर्यन्त देवताओंकी पूजा करके अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये। निम्नाङ्कित मन्त्रका ध्यान और जप करे। उसके द्वारा होम और अभिषेक करे। (मन्त्र यों है—) '**ॐ श्रीं क्लीं ह्रीं हूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः।**'—इस मन्त्रद्वारा पूर्ववत् पूजन आदि करनेसे साधक सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जल तथा सम्मोहनी वृक्षके पुष्पद्वारा उक्त मन्त्रसे नित्य तर्पण करे। ब्रह्मा, इन्द्र, श्रीदेवी, दण्डी, बीजमन्त्र तथा त्रैलोक्यमोहन विष्णुका पूजन करके उक्त मन्त्रका तीन लाख जप करनेके पश्चात् कमलपुष्प, बिल्वपत्र तथा घीसे एक लाख होम करे। उक्त हवन-सामग्रीमें चावल, फल, सुगन्धित चन्दन आदि द्रव्य और दूर्वा भी मिला ले। इन सबके द्वारा हवनकर्म सम्पादित करके मनुष्य दीर्घ आयुकी उपलब्धि करता है। उस जप, अभिषेक तथा होमादि क्रियासे संतुष्ट होकर भगवान् विष्णु उपासकको अभीष्ट फल प्रदान करते हैं॥ २८—३६॥

'**ॐ नमो भगवते वराहाय भूर्भुवःस्वः पतये भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा।**'—यह वराह भगवान्का मन्त्र है। इसका पञ्चाङ्गन्यास इस प्रकार है—'**ॐ नमो हृदयाय नमः। भगवते शिरसे स्वाहा। वराहाय शिखायै वषट्। भूर्भुवःस्वःपतये कवचाय हुम्। भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा अस्त्राय फट्।**' इस प्रकार पञ्चाङ्ग-न्यासपूर्वक वराह-मन्त्रका प्रतिदिन दस हजार बार जप करनेसे मनुष्य दीर्घ आयु तथा राज्य प्राप्त कर सकता है॥ ३७-३८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्रैलोक्यमोहनमन्त्रका वर्णन' नामक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०७॥

तीन सौ आठवाँ अध्याय

त्रैलोक्यमोहिनी लक्ष्मी एवं भगवती दुर्गाके मन्त्रोंका कथन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! वान्त (श्), वह्नि (र), वामनेत्र (ईकार) और दण्ड (अनुस्वार)—इनके योगसे '**श्रीं**' बीज बनता है, जो 'श्री' देवीका मन्त्र है और सब सिद्धियोंको देनेवाला है।

(इसका अङ्गन्यास इस प्रकार करना चाहिये—)

---

१. पाशका सर्वसम्मत मन्त्ररूप 'शारदातिलक'में इस प्रकार वर्णित हुआ है—'महापाश बन्ध बन्ध आकर्षयाकर्षय हुं फट् स्वाहा, पाशाय नमः।'

२. अङ्कुश-मन्त्र भी अपने पूर्णरूपमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—'महाङ्कुश कट्ट कट्ट हुं फट् स्वाहा, अङ्कुशाय नमः।'

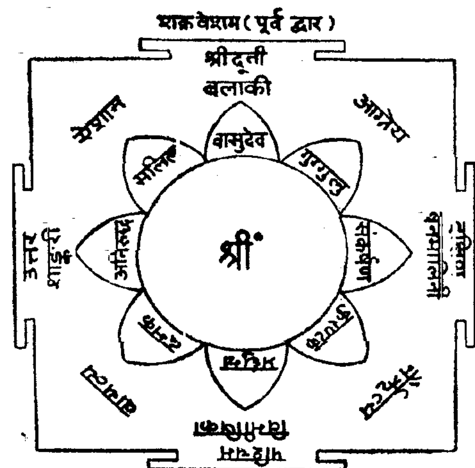
(प्रथम प्रकार) **महाश्रियै महाविद्युत्प्रभे स्वाहा, हृदयाय नमः। श्रियै देवि विजये स्वाहा, शिरसे स्वाहा। गौरि महाबले बन्ध-बन्ध स्वाहा, शिखायै वषट्। धृतिः स्वाहा, कवचाय हुम्। महाकाये पद्महस्ते हुं फट्, अस्त्राय फट्।** (दूसरा प्रकार) **'श्रियै स्वाहा, हृदयाय नमः। श्रीं फट्, शिरसे स्वाहा। श्रीं नमः' शिखायै वषट्। श्रियै प्रसीद नमः। कवचाय हुम्। श्रीं फट्, अस्त्राय फट्।'** [इसी तरह अन्यान्य प्रकार भी तन्त्र-ग्रन्थोंमें कहे गये हैं।] ॥ १-२ ॥

—इस प्रकार 'श्री'-मन्त्रके नौ अङ्गन्यास बतलाये गये हैं। उनमेंसे किसी एकका आश्रय ले[1]। पद्माक्षकी मालासे पूर्वोक्त मन्त्रका तीन लाख या एक लाख बार जप ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला है। साधक लक्ष्मी अथवा विष्णुके मन्दिरमें श्रीदेवीका पूजन करके धन प्राप्त कर सकता है। खदिरकाष्ठसे प्रज्वलित अग्निमें घृतमिश्रित तण्डुलोंकी एक लाख आहुतियाँ दे। इससे राजा वशीभूत हो जाता है तथा लक्ष्मीकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। श्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित सर्षपजलसे अभिषेक करनेपर सब प्रकारकी ग्रहबाधा शान्त होती है। एक लाख बिल्वफलोंका होम करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति और धनकी वृद्धि होती है ॥ ३—५ १/२ ॥

साधक चार द्वारोंसे युक्त निम्नाङ्कित 'शक्रवेश्म' का चिन्तन करे। पूर्वद्वारपर क्रीडामें संलग्न दोनों भुजाओंको ऊपर उठाये हुए श्वेत कमलको धारण करनेवाली श्यामवर्णा वामनाकृति बलाकीका ध्यान करे। दक्षिणद्वारपर ऊपर उठाये हुए एक हाथमें रक्तकमल धारण करनेवाली श्वेताङ्गी वनमालिनीका चिन्तन करे। पश्चिमद्वारपर दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर श्वेत पुण्डरीकको धारण करनेवाली हरितवर्णा विभीषिका नामवाली श्रीदूतीका ध्यान करे। उत्तरद्वारपर शाङ्करीकी धारणा करे। 'शक्रवेश्म' के मध्यमें अष्टदल कमलका निर्माण करे। कमलदलोंपर क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धका ध्यान करे। उनकी अङ्गकान्ति क्रमशः अञ्जन, दुग्ध, केसर और सुवर्णके समान है। वे सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित हैं। उस अष्टदल कमलके आग्नेय आदि दलोंपर गुग्गुलु, कुरण्टक, दमक और सलिल नामक दिग्गजोंकी धारणा करे। ये चारों स्वर्ण-कलशोंको धारण करनेवाले हैं। कमलकी कर्णिकामें श्रीदेवीका स्मरण करे। वे चार भुजाओंसे युक्त हैं। उनकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान है। उनकी ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंमें कमल है तथा दक्षिणहस्तमें अभयमुद्रा और वामहस्तमें वरमुद्रा सुशोभित हो रही है। वे शुभ्र एवं सुवासित वस्त्र तथा गलेमें एक श्वेत माला धारण करती हैं। उन श्रीदेवीका ध्यान एवं सपरिवार पूजन करके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है[2] ॥ ६—१४ १/२ ॥

१. 'शारदातिलक' ८। २ की टीकामें अग्निपुराणोक्त द्विविध अङ्गन्यास इसी प्रकार उद्धृत किये गये हैं। परंतु मूलमें 'षड् दीर्घयुक्तबीजेन कुर्यादङ्गानि षट् क्रमात्।' कहा है; उसके अनुसार, 'श्रीं हृदयाय नमः। श्रीं शिरसे स्वाहा। श्रूं शिखायै वषट्। श्रैं कवचाय हुम्। श्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। श्रः अस्त्राय फट्।' इस प्रकार न्यास करे।

२. शक्रवेश्म-यन्त्रका इस प्रकार निर्माण करना चाहिये—



पूर्वोक्त उपासनाके समय द्रोणपुष्प, कमल और बिल्वपत्रको सिरपर धारण न करे। पञ्चमी और सप्तमीके दिन क्रमशः लवण और आँवलेका परित्याग कर दे। साधक खीरका भोजन करके श्रीसूक्तका जप करे तथा श्रीसूक्तसे ही श्रीदेवीका अभिषेक करे। आवाहनसे लेकर विसर्जनपर्यन्त सभी उपचार-अर्पण श्रीसूक्तकी ऋचाओंसे करता हुआ ध्यानपूर्वक श्रीदेवीका पूजन करे। बिल्व, घृत, कमल और खीर—ये वस्तुएँ एक साथ या अलग-अलग भी श्रीदेवीके निमित्त होममें उपयुक्त हैं। यह होम लक्ष्मीकी प्राप्ति एवं वृद्धि करनेवाला है॥ १५—१७॥

विषं (म), हि, मज्जा (ष), काल (म), अग्नि (र), अत्रि (द), निष्ठ (इ), नि, स्वाहा (**मर्दिषमर्दिनि स्वाहा**)—यह भगवती महिषमर्दिनी (महालक्ष्मी)-का अष्टाक्षर-मन्त्र कहा गया है॥ १८॥

'**ॐ ह्रीं महामहिषमर्दिनि स्वाहा।**'—यह मूलमन्त्र है। इसका पञ्चाङ्गन्यास इस प्रकार करे—'**महिषमर्दिनि हुं फट्, हृदयाय नमः। महिषशत्रूत्सादिनि हुं फट्, शिरसे स्वाहा। महिषं भीषय हुं फट्, शिखायै वषट्। महिषं हन हन देवि हुं फट्, कवचाय हुम्। महिषसूदनि हुं फट्, अस्त्राय फट्।**'

यह अङ्गोंसहित 'दुर्गाहृदय' कहा गया है, जो सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाला है। दुर्गादेवीका निम्नाङ्कित प्रकारसे पीठ एवं अष्टदल-कमलपर पूजन करे॥ १९-२०॥

'**ॐ ह्रीं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा**'—यह दुर्गाका मन्त्र है। अष्टदलपद्मपर दुर्गा, वरवर्णिनी, आर्या, कनकप्रभा, कृत्तिका, अभयप्रदा, कन्यका और सुरूपा—इन शक्तियोंके क्रमशः आदिके सस्वर अक्षरोंमें बिन्दु लगाकर उन्हीं बीजमन्त्रोंसे युक्त नाममन्त्रोंद्वारा यजन करे। यथा—'**दुं दुर्गायै नमः**' इत्यादि। इनके साथ क्रमशः चक्र, शङ्ख, गदा, खड्ग, बाण, धनुष, अङ्कुश और खेट—इन अस्त्रोंकी भी अर्चना करे। अष्टमी आदि तिथियोंपर लोकेश्वरी दुर्गाकी पूजा करे। दुर्गाकी यह उपासना पूर्ण आयु, लक्ष्मी, (आत्मरक्षा) एवं युद्धमें विजय प्रदान करनेवाली है। साध्यके नामसे युक्त मन्त्रसे तिलका होम 'वशीकरण' करनेवाला है। कमलोंके हवनसे 'विजय' प्राप्त होती है। शान्तिकी कामना करनेवाला दूर्वासे हवन करे। पलाश-समिधाओंसे पुष्टि, काकपक्षके हवनसे मारण एवं विद्वेषणकर्म सिद्ध होते हैं। यह मन्त्र सभी प्रकारकी ग्रहबाधा एवं भयका हरण करता है॥ २१—२६॥

'**ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा**'— यह अङ्गसहित 'जय दुर्गा' बतलायी गयी है। यह साधककी रक्षा करती है। 'मैं श्यामाङ्गी, त्रिनेत्रभूषिता, चतुर्भुजा, शङ्ख, चक्र, शूल एवं खड्गधारिणी रौद्ररूपिणी रणचण्डीस्वरूपा हूँ'—ऐसा ध्यान करे। युद्धके प्रारम्भमें इस 'जयदुर्गा'का जप करे। विजयके लिये खड्ग आदिपर दुर्गाका पूजन करे॥ २७—२९॥

'**ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते चराचररक्षिणि स्वाहा**'—युद्धके निमित्त इस मन्त्रका जप करे। इससे योद्धा शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता है॥ ३०-३१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'लक्ष्मी आदिकी पूजाका वर्णन' नामक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०८॥

तीन सौ नवाँ अध्याय

त्वरिता-पूजा

अग्निदेव कहते हैं—मुने! त्वरिता-विद्याका ज्ञान भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है; अतः अब उसीका वर्णन करूँगा। पहले '**ॐ आधारशक्त्यै नमः।**'—इस मन्त्रसे आधारशक्तिका स्मरण और वन्दन करे। फिर महासिंहस्वरूप सिंहासनकी '**ॐ प्रों पुरु पुरु महासिंहाय**[1] **नमः।**'—इस मन्त्रसे और आसनस्वरूप कमलकी '**पद्माय नमः।**'—इस मन्त्रसे पूजा करे। तदनन्तर मूलमन्त्रका उच्चारण करके त्वरितादेवीकी पूजा करे। यथा—'**ॐ ह्रीं हुं खे च च्छे क्षः स्त्री हूं क्षें ह्रीं फट्**[2] **त्वरितायै नमः।** इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—**खे च हृदयाय नमः। च च्छे शिरसे नमः** (**शिरसे स्वाहा**)। **छे क्षः शिखायै नमः** (**शिखायै वषट्**)। **क्षः स्त्री कवचाय नमः** (**कवचाय हुम्**)। **स्त्री हूं नेत्राय** (**नेत्रत्रयाय**) **नमः** (**वौषट्**)। **हूं क्षें अस्त्राय नमः** (**अस्त्राय फट्**)॥ १-२॥

[इसी प्रकार करन्यास करके निम्नाङ्कित गायत्रीका जप करे—]

'**ॐ त्वरिताविद्यां विद्महे। तूर्णविद्यां च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्।**'—यह 'त्वरिता-गायत्री मन्त्र' है।

तदनन्तर पीठगत कमल-कर्णिकाके केसरोंमें पूर्वादि क्रमसे अङ्ग-देवताओंका पूजन करे। यथा—

'**खे च हृदयाय नमः** (**पूर्वे**)। **च च्छे शिरसे नमः** (**अग्निकोणे**)। **छे क्षः शिखायै नमः** (**दक्षिणे**)। **क्षः स्त्री कवचाय नमः** (**नैर्ऋत्ये**)। **स्त्री हूं नेत्रत्रयाय नमः** (**पश्चिमे**)। **हूं क्षे अस्त्राय नमः** (**वायव्ये**)।' तत्पश्चात् उत्तरदिशामें '**श्रीप्रणीतायै नमः**'—इस मन्त्रसे श्रीप्रणीताका तथा ईशानकोणमें '**श्रीगायत्र्यै नमः**'से गायत्रीका पूजन करे॥ ३ $\frac{1}{2}$ ॥

तदनन्तर बाह्यगत तीन गोलाकार रेखाओंके

---

१. 'क्षुं हुं हं वज्रदेह पुरु पुरु क्षिं क्षिं गर्ज गर्ज हं हुं क्षां पञ्चाननाय नमः।'—यह पीठमन्त्र है। इससे देवीको आसन देना और आसनकी पूजा करनी चाहिये। (शा० ति० १० पटल)

२. त्वरिता-मन्त्रका विनियोग 'शारदातिलक' दशमपटलमें इस प्रकार बताया गया है—'ॐ अस्य श्रीत्वरिताद्वादशाक्षरमन्त्रस्यार्जुनऋषिर्विराट् छन्दः, त्वरिता देवता प्रणवो बीजं (केषांचिन्मते हुं बीजम्), ह्रीं शक्तिः (क्षें कीलकम्) समस्तपुरुषार्थफलप्राप्तये जपे विनियोगः।' 'श्रीविद्यार्णव'में एक जगह 'ईश'को और दूसरी जगह 'सौरि'को ऋषि कहा है। वहाँ 'हुं' शक्ति, 'स्त्रीं' बीज और 'क्षें' कीलक बताया है।

ध्यान

श्यामां बर्हिकलापशेखरयुतामाबद्धपर्णांशुकां गुञ्जाहारलसत्पयोधरभरामष्टाहिपान् बिभ्रतीम्।
ताटङ्काङ्गदमेखलागुणरणन्मञ्जीरतां प्रापितान् कैरातीं वरदाभयोद्यतकरां देवीं त्रिनेत्रां भजे॥

[भगवान् शंकर और भगवती पार्वती अर्जुनपर कृपा करनेके लिये किरात और किरातीके वेषमें उनके समक्ष प्रकट हुए थे, उस रूपमें देवी पार्वती बहुत शीघ्र भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करती या करनेके लिये त्वरायुक्त (उतावली) रहती हैं, इसलिये इन्हें 'त्वरिता'की संज्ञा दी गयी है। उन्हींका ध्यान किया गया है। उसका अर्थ यों है—]

'मैं किरातीके वेषमें प्रकट हुई त्रिनेत्रधारिणी देवी पार्वतीका भजन (चिन्तन) करता हूँ। उनकी अङ्गकान्ति श्यामा है तथा अवस्थामें भी वे श्यामा (सोलह वर्षकी तरुणी) हैं। मोरपंखका मुकुट एवं वलय धारण करती हैं। कोमल पल्लवोंको जोड़कर बनाये हुए वस्त्रसे उनका कटिप्रदेश सुशोभित है। उनके पीन पयोधर गुञ्जाओंके हारसे विलसित हैं। आठ अहीश्वरोंको वे आभूषणोंके रूपमें धारण करती हैं; उनमेंसे दो कानोंके ताटङ्क बने हैं, दो भुजाओंमें बाजूबंदकी आवश्यकता पूरी करते हैं, दो कमरमें करधनीकी लड़ोंका काम देते हैं और दो पैरोंके खनखनाते मञ्जीर बन गये हैं। इस अनुपम वेशभूषासे विभासित त्वरितादेवीके उठे हुए हाथ वरद और अभयकी मुद्रासे मनोरम प्रतीत होते हैं।'

ऋष्यादिन्यास—'अर्जुनाय (सौरये ईशाय वा) ऋषये नमः, शिरसि। विराट्छन्दसे नमः, मुखे। त्वरितानित्यादेवतायै नमः, हृदि। ॐ बीजाय नमः, गुह्ये। ह्रीं (अथवा हुम्) शक्तये नमः, पादयोः। क्षें कीलकाय नमः, नाभौ।'

बीचमें स्थित दो वीथियोंमेंसे देवीके सामनेवाले दलाग्रके बाह्यभागमें '**कोदण्डशरधारिण्यै फट्कार्यै नमः।**' से फट्कारीकी पूजा करे। फिर उसके बाहरवाली वीथीमें देवीके सम्मुख '**गदापाणये किङ्कराय नमः।**' से किङ्करकी पूजा करके कहे—'**किङ्कर रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञया स्थिरो भव।**' इसके बाद द्वारके दक्षिणपार्श्वमें जयाकी और वामपार्श्वमें विजयाकी पूजा करे—'**जयायै नमः, विजयायै नमः।**' तत्पश्चात् कमलके पूर्वादि दलोंमें—'**हूंकार्यै नमः। खेचर्यै नमः। चण्डायै नमः। छेदिन्यै नमः। क्षेपिण्यै नमः। स्त्रीकार्यै नमः। हूंकार्यै नमः। क्षेमङ्कर्यै नमः।**' इन मन्त्रोंसे 'हूंकारी' आदि आठ मन्त्राक्षरशक्तियोंकी पूजा करनी चाहिये।

त्वरिता-विद्या 'तोतला', 'त्वरिता' और 'तूर्णी'—इन तीन नामोंसे कही जाती है। इसके अक्षरोंका सिर, भ्रू-युगल, ललाट, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य (मूलाधार), ऊरुद्वय, जानुद्वय, जङ्घाद्वय, ऊरुद्वय, चरणद्वयमें न्यास करके समस्त विद्याद्वारा व्यापकन्यास करना चाहिये*॥ ४—६॥

त्वरितादेवी साक्षात् पर्वतराजनन्दिनीकी स्वरूपभूता हैं, इसलिये इनका नाम 'पार्वती' है। शबर (किरात)-का वेष धारण करनेसे उनको 'शबरी' कहा गया है। वे सबकी स्वामिनी या सबपर शासन करनेमें समर्थ होनेसे 'ईशा' कही गयी हैं। उनके एक हाथमें वरमुद्रा और दूसरेमें अभयमुद्रा शोभा पाती है। मोरपंखका कंगन पहननेसे उनका नाम 'मयूरवलया' है। मयूरपिच्छका मुकुट धारण करनेसे उन्हें 'पिच्छमौलि' कहा जाता है। नूतन पल्लव ही उनके वस्त्रके उपयोगमें आते हैं, अतः वे 'किसलयांशुका' कही गयी हैं। वे सिंहासनपर विराजमान होती हैं। मोरपंखका छत्र धारण करती हैं। त्रिनेत्रधारिणी तथा श्यामवर्णा देवी हैं। आपादतललम्बिनी माला (वनमाला) उनका आभूषण है। ब्राह्मणजातीय दो नाग (अनन्त और कुलिक) देवीके कानोंके आभूषण हैं। क्षत्रियजातिके दो नागराज (वासुकि और शङ्खपाल) उनके बाजूबंद बने हुए हैं। वैश्यजातीय दो नाग (तक्षक और महापद्म) त्वरितादेवीके कटिप्रदेशमें किङ्किणी बनकर रहते हैं और शूद्रजातीय दो सर्प (पद्म तथा कर्कोटक) देवीके चरणोंमें नूपुरकी शोभा प्रदान करते हैं। साधक स्वयं भी देवीस्वरूप होकर उनके मन्त्रका एक लाख जप करे। पूर्वकालमें देवेश्वर शिव किरातरूपमें प्रकट हुए थे। उस समय देवी पार्वती भी तदनुरूप ही किराती बन गयी थीं। सब प्रकारकी सिद्धियोंके लिये उनका ध्यान करे। उनके मन्त्रका जप करे तथा उनका पूजन करे। देवीकी आराधना विष आदि सब प्रकारके उपद्रवोंको हर लेती है॥ ७—१० $\frac{१}{२}$॥

(पूर्ववर्णनके अनुसार) कमलके पूर्वादि दलके भीतर कर्णिकामें आठ सिंहासनोंपर निम्नाङ्कित देवियोंका क्रमशः पूजन करे। हृदयादि छः अङ्गोंसहित प्रणीता और गायत्रीका पूजन करे। पूर्वादि दलोंमें हूंकारी आदिकी पूजा करे। दलाग्रभागमें देवी त्वरिताके सम्मुख फट्कारीकी पूजा करे। इन सब देवियोंके नाममन्त्रके साथ 'श्री' बीज लगाकर उसीसे इनकी पूजा करना चाहिये। हूंकारी आदिके आयुध और वर्ण उस-उस दिशाके दिक्पालोंके ही समान हैं। परंतु फट्कारी देवी धनुष धारण करती हैं। मण्डलके द्वार-भागोंमें जया तथा विजयाकी पूजा करे। ये दोनों देवियाँ सुनहरे रंगकी छड़ी धारण करती हैं। उनके बाह्यभागमें देवीके समक्ष द्वारपाल किङ्करका पूजन करना चाहिये, जिसे 'वर्वर' कहा गया है। उसका मस्तक मुण्डित है।

* 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'के अनुसार उक्त ग्यारह अङ्गोंमें ह्रीं सम्पुटित अक्षरोंका न्यास करना चाहिये। ऊरुद्वयको दो बार गिननेसे बारह अङ्ग होते हैं, उनमें मूलके बारह अक्षरोंका न्यास करे।

(मतान्तरके अनुसार उसके सिरके केश ऊपरकी ओर उठे रहते हैं।) वह लगुडधारी है। उसका स्थान जया-विजयाके बाह्यभागमें है। इस प्रकार पूजन करके सिद्धिके लिये हवनीय द्रव्योंद्वारा योन्याकार कुण्डमें हवन करे॥ ११—१४॥

उज्ज्वल धान्यसे हवन करनेपर सुवर्ण-लाभ होता है। गोधूमसे हवन करनेपर पुष्टि-सम्पत्ति प्राप्त होती है। जौ, धान्य (चावल) और तिलोंकी मिश्रित हवनसामग्रीसे हवन करनेपर सब प्रकारकी सिद्धि सुलभ होती है तथा ईतिभयका नाश हो जाता है। बहेड़ेका हवन किया जाय तो शत्रुको उन्माद हो जाता है। सेमरसे हवन करनेपर शत्रुके प्रति मारणका प्रयोग सफल होता है। जामुनके फलकी आहुतियाँ दी जायँ तो उनसे धन-धान्यकी प्राप्ति होती है। नील कमलके हवनसे तुष्टि होती है। लाल कमलोंद्वारा होम करनेसे महापुष्टि होती है। कुन्दके फूलोंसे होम किया जाय तो महान् अभ्युदय होता है। मल्लिका-कुसुमोंसे हवन करनेपर ग्राम या नगरमें क्षोभ होता है। कुमुद-कुसुमोंकी आहुतिसे साधक सब लोगोंका प्रिय हो जाता है॥ १५—१७॥

अशोक-सुमनोंसे होम किया जाय तो पुत्रकी और पाटलासे होम करनेपर उत्तम अङ्गनाकी प्राप्ति होती है। आम्रफलकी आहुतिसे आयु, तिलोंके हवनसे लक्ष्मी, बिल्वके होमसे श्री तथा चम्पाके फूलोंके हवनसे धनकी प्राप्ति होती है। महुएके फूलों और बेलके फलोंसे एक साथ होम करनेपर सर्वज्ञता-शक्ति सुलभ होती है। त्वरितामन्त्रके तीन लाख जप, होम, ध्यान तथा पूजनसे समस्त अभिलषित वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। मण्डलमें त्वरितादेवीकी अर्चना करके त्वरिता-गायत्रीसे पचीस आहुतियाँ दे। फिर मूलमन्त्रसे पल्लवोंकी तीन सौ आहुतियाँ देकर दीक्षा ग्रहण करे। दीक्षासे पूर्व पञ्चगव्य-पान कर ले। दीक्षितावस्थामें सदा चरु (हविष्य)-का भोजन करना चाहिये॥ १८—२०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरितापूजा-कथन' नामक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०९॥

तीन सौ दसवाँ अध्याय

अपरत्वरिता-मन्त्र एवं मुद्रा आदिका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— मुने! अब मैं दूसरी 'अपरा विद्या'का वर्णन करता हूँ, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है। धूलिसे निर्मित, वज्र-चिह्नसे आवृत और चौकोर भूपुरमण्डलमें त्वरितादेवीकी पूजा करे। उस मण्डलके भीतर योगपीठपर कमलका निर्माण भी होना चाहिये। मण्डलके पूर्वादि दिशाओं तथा कोणोंमें कुल मिलाकर आठ वज्र अङ्कित होंगे। मण्डलके भीतर वीथी, द्वार, शोभा तथा उपशोभाकी भी रचना करे। उसके भीतर उपासक मनुष्य त्वरितादेवीका चिन्तन करे। उनके अठारह भुजाएँ हैं। उनकी बायीं जङ्घा तो सिंहकी पीठपर प्रतिष्ठित है और दाहिनी जङ्घा उससे दुगुनी बड़ी आकृतिमें पीढ़े या खड़ाऊँपर अवलम्बित है। वे नागमय आभूषणोंसे विभूषित हैं। दायें भागके हाथोंमें क्रमशः वज्र, दण्ड, खड्ग, चक्र, गदा, शूल, बाण, शक्ति तथा वरद मुद्रा धारण करती हैं और वामभागके हाथोंमें क्रमशः धनुष, पाश, शर, घण्टा, तर्जनी, शङ्ख, अङ्कुश, अभयमुद्रा तथा वज्र नामक आयुध लिये रहती हैं॥ १—५॥

त्वरितादेवीके पूजनसे शत्रुका नाश होता है। त्वरिताका आराधक राज्यको भी अनायास ही जीत लेता है। वह दीर्घायु तथा राष्ट्रकी विभूति बन जाता है। दिव्य और अदिव्य (दैविक और

लौकिक) सभी सिद्धियाँ उसके अधीन हो जाती हैं। (त्वरिताको 'तोतला त्वरिता' भी कहते हैं। इस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—) 'तल' शब्दसे सातों पाताल, काल, अग्नि और सम्पूर्ण भुवन गृहीत होते हैं। ॐकारसे परमेश्वरसे लेकर जितना भी ब्रह्माण्ड है, उन सबका प्रतिपादन होता है। अपने मन्त्रके आदि अक्षर ॐकारसे देवी तलपर्यन्त 'तोय'का त्वरित भ्रामण (प्रक्षेपण) करती हैं, इसलिये वे 'तोतला त्वरिता' कही गयी हैं॥ ६-७ $\frac{१}{२}$ ॥

अब मैं त्वरिता-मन्त्रको प्रस्तुत करनेका प्रकार (अर्थात् मन्त्रोद्धार) बता रहा हूँ। भूतलपर स्वरवर्ग लिखे। (स्वरवर्गमें सोलह अक्षर हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। इसके बाद व्यञ्जन वर्णोंको भी वर्गक्रमसे लिखे—) कवर्गके लिये सांकेतिक नाम तालुवर्ग है। स्वरवर्ग पहला है और तालुवर्ग दूसरा। तीसरा जिह्वा-तालुकवर्ग है। (इसमें चवर्गके अक्षर संयोजित हैं।) चतुर्थ वर्ग तालु-जिह्वाग्र कहा गया है। (इसमें टवर्गके अक्षर हैं।) पञ्चम जिह्वादन्तक वर्ग है। (इसमें तवर्गके अक्षर हैं।) षष्ठ वर्गका नाम है—ओष्ठपुट-सम्पन्न। (इसमें पवर्गके अक्षर हैं।) सातवाँ मिश्रवर्ग है। (इसमें अन्तःस्थ—य, र, ल, वका समावेश है।) आठवाँ वर्ग ऊष्मा या शवर्ग है। इन्हीं वर्गोंके अक्षरोंसे मन्त्रका उद्धार करे॥ ८—१०॥

छठे स्वर ऊकारपर आरूढ़ ऊष्माका द्वितीय अक्षर हकार बिन्दु (अनुस्वार)-से युक्त हो (हूं)। तालुवर्गका द्वितीय अक्षर 'खकार' ग्यारहवें स्वर 'एकार'से युक्त हो (खे)। जिह्वा-तालु-समायोगका केवल प्रथम अक्षर 'चकार' हो, उसके नीचे उसी वर्गका दूसरा अक्षर 'छकार' हो और वह ग्यारहवें स्वर 'एकार'से संयुक्त (च्छे) हो। तालुवर्गका प्रथम अक्षर 'क्' हो, फिर उसके नीचे ऊष्माका द्वितीय अक्षर 'ष्'को देखकर जोड़ दे और उसे सोलहवें स्वर—'अः'से संयुक्त करे (क्षः)। ऊष्माका तीसरा अक्षर 'स्' हो, उसके नीचे जिह्वादन्त-समायोगके प्रथम अक्षर 'तकार'को जोड़े। उसके नीचे मिश्रवर्गका दूसरा अक्षर 'रकार' जोड़े और उसे चौथे स्वर 'ईकार'से जोड़ दे—(स्त्री)। तदनन्तर तालुवर्गके आदि अक्षर 'क्' के नीचे ऊष्माका द्वितीय अक्षर 'ष्' जोड़ दे और उसको ग्यारहवें स्वरसे मिला दे—(क्षे)। इसके बाद ऊष्माके अन्तिम अक्षर 'हकार'को अनुस्वारयुक्त करके पाँचवें स्वरपर आरूढ़ कर दे (हुं)। ओष्ठसम्पुटयोगसे दूसरा अक्षर 'फ्' और जिह्वाग्र तालुयोगसे द्वितीय अक्षर 'ट्'को पञ्चम 'ण'के रूपमें परिणत करके जोड़ना चाहिये। स्वर तथा अर्द्ध-व्यञ्जन वर्णोंके साथ उद्धृत हुए— ये अक्षर 'तोतला त्वरिता'के मन्त्र हैं। इनके आदिमें ॐकार और अन्तमें 'नमः' जोड़नेपर जो मन्त्र बने, उसका तो जप करे, किंतु अग्निकार्य (हवन)-में 'नमः'को हटाकर 'स्वाहा' जोड़ देना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि '**ॐ हूं खे च्छे क्षः स्त्री क्षे हुं फट् नमः**।'—यह जपमन्त्र है और '**ॐ हूं खे च्छे क्षः स्त्री क्षे हुं फट् स्वाहा**'— यह हवनोपयोगी मन्त्र है)॥ ११—१८॥

इसका अङ्गन्यास इस प्रकार है—**ॐ ह्रीं हूं ह्रः हृदयाय नमः। हां हः शिरसे स्वाहा। ह्रीं ज्वल ज्वल शिखायै वषट्। हनु हनु (अथवा हुलु हुलु), कवचाय हुम्। ह्रीं श्रीं क्षूं नेत्रत्रयाय वौषट्**। नवाँ (फ) और आधा अक्षर (ट्) रूप जो तोतला-त्वरिता-विद्या है, उसीको देवीका नेत्र कहा गया है। '**क्षौं हः खौ हूं फट् अस्त्राय फट्**।' ये गुह्य अङ्गमन्त्र हैं। इनका पहले न्यास करे॥ १९-२०॥

त्वरिताके अङ्गोंका वर्णन आगे चलकर करूँगा। इस समय त्वरिता-विद्याके अङ्गोंका वर्णन मुझसे सुनो—प्रथम दो बीजाक्षर या मन्त्राक्षर हृदय हैं, तीसरा और चौथा—ये दो अक्षर स्थिर हैं, पाँचवाँ और छठा—ये अक्षर शिखाके मन्त्र

कहे गये हैं। सातवाँ और आठवाँ कवच-मन्त्र हैं, नवाँ और आधा अक्षर तारक (**फट्**) है। यही नेत्र कहा गया है। (प्रयोग—**ॐ हूं हृदयाय नमः। खे च्छे शिरसे स्वाहा। क्षः स्त्री शिखायै वषट्। क्षे हुम् कवचाय हुम्। फट् नेत्रत्रयाय वौषट्।**)॥ २१-२२॥

'**तोतले वज्रतुण्डे ख ख हूं**'—इन दस अक्षरोंसे युक्त 'वज्रतुण्डिका' नामक 'इन्द्रदूतिका विद्या' है। '**खेचरि ज्वालिनि ज्वाले ख ख**'—इन दस अक्षरोंसे युक्त 'ज्वालिनी विद्या' है। '**वर्चे शरविभीषणि** (अथवा शवरि भीषणि) **ख खे**'—यह दशाक्षरा 'शबरी विद्या' है। '**छे छेदनि करालिनि ख ख**'—यह दशाक्षरा 'कराली विद्या' है। '**क्षः श्रव द्रव प्लवङ्गि ख खे**'—यह दशाक्षर 'प्लवङ्गदूती विद्या' है। '**स्त्रीबलं कलिधुननि शासी**'—यह दशाक्षरा 'श्वसनवेगिका विद्या' है। '**क्षे पक्षे कपिले हंस**'—यह दशाक्षरा 'कपिलादूतिका विद्या' है। '**हूं तेजोवति रौद्रि मातङ्गि**'—यह दशाक्षरा 'रौद्री' दूतिका है '**पुटे पुटे ख ख खड्गे फट्**'—यह दशाक्षरा 'ब्रह्मदूतिका विद्या' है। 'वैताली'में उक्त सभी मन्त्र दशाक्षर होते हैं। अन्य विस्तारकी बातें पुआलकी भाँति सारहीन हैं। उन्हें छोड़ देना चाहिये। न्यास आदिमें हृदयादि अङ्गोंका उपयोग है। नेत्रका सुधी पुरुष मध्यमें न्यास करे॥ २३—२८॥

पैरसे लेकर मस्तकतक तथा मस्तकसे लेकर पैरोंतक चरण, जानु, ऊरु, गुह्य, नाभि, हृदय तथा कण्ठदेशसे मुखमण्डलपर्यन्त ऊपर-नीचे आदिबीजसे निर्गत सोमरूप 'अकार', जो अमृतकी धारा एवं सुवाससे परिपूर्ण है, ब्रह्मरन्ध्रसे मुझमें प्रवेश कर रहा है, ऐसा साधक चिन्तन करे। मन्त्रोपासक मूर्धा, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य, ऊरु, जानु और पैरोंमें तथा तर्जनी आदिमें आदिबीजका बारंबार न्यास करे। ऊपर अमृतमय सोम है, नीचे बीजाक्षररूप शरीर-कमल है। इस गूढ़ रहस्यको जो जानता है, उसकी मृत्यु नहीं होती है। इस मन्त्रके जपसे रोग-व्याधिका अभाव हो जाता है। न्यास और ध्यानपूर्वक त्वरितादेवीका पूजन और उनके मन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे*॥ २९—३३॥

अब मैं 'प्रणीता' आदि मुद्राओंका वर्णन

* 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में त्वरिता-नित्याका प्रयोग संक्षेपसे इस प्रकार उपलब्ध होता है—अन्यत्र कथित आसनादि योगपीठन्यासान्त कर्म करके त्वरिता-विद्याद्वारा तीन प्राणायाम करके निम्नाङ्कित रूपसे विनियोग करे—'अस्य त्वरितामन्त्रस्य सौरिऋषिर्विराट्छन्दः त्वरिता नित्या देवता स्त्री कवचम्। ॐ बीजं हुं शक्तिः क्षे कीलकम् ममाभीष्टसिद्धये जपे विनियोगः।' इसका न्यासवाक्य इस प्रकार है—'सौरये ऋषये नमः शिरसि। विराट्छन्दसे नमः मुखे। त्वरितानित्यादेवतायै नमः हृदि। ॐ बीजाय नमः गुह्ये। हुं शक्तये नमः पादयोः। क्षे कीलकाय नमः नाभौ।' अग्निपुराणमें दशाक्षरा 'तोतला-त्वरिता'का मन्त्र है। परंतु 'श्रीविद्यार्णव'में द्वादशाक्षरा त्वरिता-विद्या बतायी गयी है। यथा—'ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्षः स्त्री हुं क्षे ह्रीं फट्।' आदिके तीन और अन्तके दो अक्षर छोड़कर जो शेष सात अक्षर बचते हैं, उन्हींसे दो-दो अक्षर जोड़ते हुए न्यास करे। यथा—'ॐ खे च हृदयाय नमः। च छे शिरसे स्वाहा। छे क्षः शिखायै वषट्। क्षः स्त्री कवचाय हुम्। स्त्री हूं नेत्रत्रयाय वौषट्। हूं क्षे अस्त्राय फट्।' इसी तरह करन्यास भी करे। तत्पश्चात्—'शिरसि—ह्रीं ॐ ह्रीं नमः।' ललाटे—ह्रीं हुं ह्रीं नमः। कण्ठे—ह्रीं खे ह्रीं नमः। हृदि—ह्रीं च ह्रीं नमः। नाभौ—ह्रीं छे ह्रीं नमः। मूलाधारे—ह्रीं क्षः ह्रीं नमः। ऊरुद्वये—ह्रीं स्त्री ह्रीं नमः। जानुद्वये—ह्रीं हूं ह्रीं नमः। जङ्घाद्वये—ह्रीं क्षे ह्रीं नमः। पादद्वये—ह्रीं फट् ह्रीं नमः।' इस प्रकार 'ह्रीं' बीजसे सम्पुटित अक्षरोंका न्यास करके समस्त विद्या (द्वादशाक्षरविद्या) द्वारा व्यापकन्यास करे। तदनन्तर ध्यानादि मानसपूजनान्त कर्म करके स्वर्णादि पट्टपर कुङ्कुम आदिद्वारा पश्चिमादि द्वारोंसे युक्त दो चतुरस्र रेखा बनाकर, उसके भीतर दो वृत्त बनाकर उसमें अष्टदलकमल अङ्कित करे। फिर पूर्ववत् आत्मपूजान्त कर्म करके भुवनेश्वरीपीठकी अर्चनाके बाद मूलविद्यासे मूर्तिनिर्माण कर आवाहनादि पुष्पोपचार अर्पित करे। कर्णिकामें षडङ्ग, गुरुपङ्क्तित्रयकी पूजाके बाद बाहरकी वृत्तत्रयान्तरालगत दो वीथियोंमें देवीके अग्रवर्ती दलके अग्रभागमें फटकारीका, बाह्यवीथी—देवीके अग्रभागमें ही किंकराका, द्वारपार्श्वमें जया-विजयाका, आठ दलोंमें क्रमशः हुंकारी, खेचरी, चण्डा, छेदिनी, क्षेपिणी, स्त्रीकारी, हूंकारी एवं क्षेमकारीकी पूजा करे। फिर पूर्ववत् लोकपालादिकोंकी पूजा करके पूजा समाप्त करे।

करूँगा। 'प्रणीता' मुद्राएँ पाँच प्रकारकी मानी गयी हैं—'प्रणीता', 'सबीजा प्रणीता', 'भेदनी', 'कराली' और 'वज्रतुण्डा'। दोनों हाथोंको परस्पर ग्रथित करके बीचमें अँगूठोंको डाल दे और तर्जनीको ऊपर लगाये रखे, इसका नाम 'प्रणीता' है। इसे हृदयदेशमें लगाये। इसी मुद्रामें कनिष्ठिका अँगुलीको ऊपरकी ओर उठाकर मध्यमें रखे तो वह द्विजोंद्वारा 'सबीजा'के नामसे मानी जाती है। यदि तर्जनीके बीचमें अनामिकाको परस्पर संलग्न करके अङ्गुष्ठके अग्रभागको मध्यभागमें रखे तो वह 'भेदनी' मुद्रा कही गयी है। उस मुद्राको नाभिदेशमें निबद्ध करके अङ्गुष्ठका जल छिड़के। उसीको मन्त्रसाधकके हृदयमें योजित करनेपर 'कराली' नामक महामुद्रा होती है। फिर पूर्ववत् ब्रह्मलग्ना ज्येष्ठाको ऊपर उठाये तो वह 'वज्रतुण्डा मुद्रा' होती है। उसको वज्रदेशमें आबद्ध करे। दोनों हाथोंसे मणिबन्ध (कलाई)-को बाँधे और तीन-तीन अँगुलियोंको फैलाये रखे, इसे 'वज्रमुद्रा' कहते हैं। दण्ड, खड्ग, चक्र और गदा आदि मुद्राएँ उनकी आकृतिके अनुसार बतायी गयी हैं। अङ्गुष्ठसे तीन अँगुलियोंको आक्रान्त करे, वे तीनों ऊर्ध्वमुख हों तो 'त्रिशूलमुद्रा' होती है। एकमात्र मध्यमा अँगुली ऊपरकी ओर उठी रहे तो 'शक्तिमुद्रा' सम्पादित होती है। बाण, वरद, धनुष, पाश, भार, घण्टा, शङ्ख, अङ्कुश, अभय और पद्म—ये (प्रणीतासे लेकर पद्मतक कुल) अट्ठाईस मुद्राएँ कही गयी हैं। ग्रहणी, मोक्षणी, ज्वालिनी, अमृता और अभया—ये पाँच 'प्रणीता' नामवाली मुद्राएँ हैं। इनका पूजन और होममें उपयोग करना चाहिये॥ ३४—३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरितामन्त्र तथा मुद्रा आदिका वर्णन' नामक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१०॥

तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय

त्वरिता-मन्त्रके दीक्षा-ग्रहणकी विधि

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब सिंहासनपर स्थित वज्रसे व्याप्त कमलमें मन्त्र-न्यासपूर्वक दीक्षा आदिका विधान बताऊँगा॥ १॥

'हे हे हुति वज्रदन्त पुरु पुरु लुलु गर्ज गर्ज इह सिंहासनाय नमः *।' यह सिंहासनके पूजनका मन्त्र है। चार रेखा खड़ी और चार रेखा तिरछी या (पड़ी) खींचे। इस प्रकार नौ भागोंके विभाग करके विद्वान् पुरुष नौ कोष्ठ बनाये। प्रत्येक दिशाके कोष्ठ तो रख ले और कोणवर्ती कोष्ठ मिटा दे। अब बाह्य दिशामें जो कोष्ठ बच जाते हैं, उनके कोणोंतक जो रेखाएँ आयी हैं, उनकी संख्याएँ आठ कही गयी हैं। बाह्यकोष्ठके बाह्यभागमें ठीक बीचों-बीचमें वज्रका मध्यवर्ती शृङ्ग होता है। बाह्यरेखाके दो भाग करनेपर जो रेखार्द्ध बनता है, उतना ही बड़ा शृङ्ग होना चाहिये। बाहरी रेखा टेढ़ी होनी चाहिये। विद्वान् पुरुष उसे द्विभङ्गी बनाये। मध्यवर्ती कोष्ठको कमलकी आकृतिमें परिणत करे। वह पीले रंगकी कर्णिकासे सुशोभित हो। काले रंगके चूर्णसे कुलिशचक्र बनाकर उसके ऊपरी सिरे या शृङ्गकी आकृति खड्गाकार बनाये। चक्रके बाह्यभागमें चौकोर (भूपुर-चक्र) लिखे, जो वज्रसम्पुटसे चिह्नित हो। भूपुरके द्वारपर मन्त्रोपासक चार वज्रसम्पुट दिलाये। पद्म और वामवीथी सम होनी चाहिये।

* पूनासे प्रकाशित 'अग्निपुराण'के प्राचीन और नवीन संस्करणोंमें 'सिंहासन-मन्त्र'का पाठ इस प्रकार मिलता है—'त्तु त्तु हेति वजदेति पुरु पुरु लुलु गर्ज गर्ज ह ह सिंहाय नमः।'

कमलका भीतरी भाग (कर्णिका) और केसर लाल रंगके लिखे और मण्डलमें स्त्रियोंको दीक्षित करके मन्त्र-जपका अनुष्ठान करवाये तो राजा शीघ्र ही परराष्ट्रोंपर विजय पाता है और यदि अपना राज्य छिन गया हो तो उसे भी वह शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रणव-मन्त्र (ॐकार)-से संदीप्त (अतिशय तेजस्विनी) की हुई मूर्तिको हुंकारसे नियोजित करे। ब्रह्मन्! वायु तथा आकाशके बीज (यं हं)-से सम्पुटित मूलविद्याका उच्चारण करके आदि और अन्तमें भी कर्णिकामें पूजन करे। इस प्रकार प्रदक्षिण-क्रमसे आदिसे ही एक-एक अक्षररूप बीजका उच्चारण करते हुए कमलदलोंमें पूजन करना चाहिये॥ २—११॥

दलोंमें विद्याके अङ्गोंकी पूजा करे। आग्नेय दिशासे लेकर वामक्रमसे नैर्ऋत्य-दिशातक हृदय, सिर, शिखा, कवच तथा नेत्र—इन पाँच अङ्गोंकी पूजा करके मध्यभाग (कर्णिका)-में पुनः नेत्रकी तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें अस्त्रकी पूजा करनी चाहिये। गुह्याङ्गमें रक्षाकी तथा केसरोंमें वाम-दक्षिण-पार्श्वमें विद्यमान पाँच-पाँच हुतियोंकी अपने-अपने नाम-मन्त्रोंसे पूजा करे। गर्भमण्डलके बाह्यभागमें आठ लोकपालोंका न्यास करे। वर्णान्त (क्ष या ह)-को अग्नि (र)-के ऊपर चढ़ाकर उसे छठे स्वर (ऊ)-से विभेदित करे और पंद्रहवें स्वर (ं) बिन्दुओंको उसके सिरपर चढ़ाकर उस (क्ष्रूं) (अथवा ह्रूं) बीजको* आदिमें रखकर दिक्पालोंके अपने-अपने नाममन्त्रोंसे संयुक्त करके उनकी पूजा करे। फिर शीघ्र ही सिंहासनपर कमलकी कर्णिकामें गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन करे। इससे श्रीकी प्राप्ति होती है॥ १२—१५॥

तदनन्तर एक सौ आठ मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित आठ कलशोंद्वारा कमलको वेष्टित कर दे। फिर एक हजार बार मन्त्र-जप करके दशांश होम करे। पहले अग्नि-मन्त्र (रं)-से कुण्डमें अग्निको ले जाय और हृदयमन्त्र (नमः)-से उसको वहाँ स्थापित करे। साथ ही कुण्डके भीतर अग्नियुक्त शक्तिका ध्यान करे। तदनन्तर उस शक्तिमें गर्भाधान, पुंसवन तथा जातकर्म-संस्कारके उद्देश्यसे हृदयमन्त्रद्वारा एक सौ आठ बार होम करे। फिर गुह्याङ्गके द्वारसे नूतन अग्निके जन्म होनेकी भावना करे। फिर मूलविद्याके उच्चारणपूर्वक पूर्णाहुति दे। इससे शिवाग्निका जन्म सम्पादित होता है। फिर मूलमन्त्रसे उसमें सौ आहुतियाँ दे। तत्पश्चात् अङ्गोंके उद्देश्यसे दशांश होम करे। इसके बाद शिष्यको देवीके हाथमें सौंपे और उसका मण्डलमें प्रवेश कराये। फिर अस्त्र-मन्त्रसे ताड़न करके गुह्याङ्गोंका न्यास करे। विद्याके अङ्गोंसे संनद्ध शिष्यको विद्याङ्गोंमें नियोजित करे। उसके द्वारा पुष्पका प्रक्षेप करवाये तथा उसे अग्निकुण्डके समीप ले जाय। तदनन्तर जौ, धान्य, तिल और घीसे मूलविद्याके उच्चारणपूर्वक सौ आहुतियाँ दे। प्रथम होम स्थावरयोनिमें पहुँचाकर उससे मुक्ति दिलाता है और दूसरा सरीसृप (साँप, बिच्छू आदि)-की योनिसे। तदनन्तर क्रमशः पक्षी, मृग, पशु और मानव-योनिकी प्राप्ति और उससे मुक्ति होती है। फिर क्रमशः ब्रह्मपद, विष्णुपद तथा अन्तमें रुद्रपदकी प्राप्ति होती है। अन्तमें पूर्णाहुति कर देनी चाहिये। एक आहुतिसे शिष्य दीक्षित होता है और उसे मोक्षप्राप्तिका अधिकार मिल जाता है। अब मोक्ष कैसे होता है, यह सुनो॥ १६—२४॥

जब मन्त्रोपासक सुमेरुपर सदाशिवपदमें स्थित हो तो दूसरे दिन स्वस्थचित्त होकर अकर्म और कर्मक्षयके लिये एक हजार आहुतियाँ दे। फिर पूर्णाहुति करके मन्त्रयोगी पुरुष धर्म-अधर्मसे लिप्त

* तन्त्रशास्त्रमें वर्णमालाका अन्तिम अक्षर 'क्ष' है, इसके अनुसार 'क्ष्रूं' बीज बनता है। यदि वर्णान्त शब्दसे 'ह' लिया जाय तो 'ह्रूं' बीज बनेगा।

नहीं होता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। वह उस परमपदको पहुँच जाता है, जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं लौटता। जैसे जलमें डाला हुआ जल उसमें मिलकर एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव शिवमें मिलकर शिवरूप हो जाता है। जो कलशोंद्वारा अभिषेक करता है, वह विजय तथा राज्य आदि सब अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न कुमारी कन्याका पूजन करे तथा गुरु आदिको दक्षिणा दे। प्रतिदिन पूजा करके एक सहस्र आहुतियाँ अग्निमें देनी चाहिये। तिल और घीसे पूर्ण आहुति देनेपर त्वरिता देवी लक्ष्मी एवं अभिमत वस्तु देती हैं। वे विपुल भोग प्रदान करती हैं तथा और भी जो कुछ साधक चाहता है, उसे माता त्वरिता पूर्ण करती हैं। मन्त्रके जितने अक्षर हैं, उतने लाख जप करनेसे मनुष्य निधियोंका अधिपति होता है, दुगुना जप करनेपर राज्यकी प्राप्ति होती है, त्रिगुण जप करे तो यक्षिणी सिद्ध हो जाती है, चौगुने जपसे ब्रह्मपद, पाँचगुने जपसे विष्णुपद तथा छ:गुने जपसे महासिद्धि सुलभ होती है। मन्त्रके एक लाख जपसे मनुष्य अपने पापोंका नाश कर देता है, दस बार जप करनेसे देहशुद्धि होती है, सौ बारके जपसे तीर्थस्नानका फल होता है। वेदीपर पट या प्रतिमा रखकर उसके समक्ष सौ, हजार अथवा दस हजारकी संख्यामें जप करके हवन करना बताया गया है। इस प्रकार विधानपूर्वक जप करके एक लाख हवन करे। तिल, जौ, लावा, धान, गेहूँ, कमल-पुष्प (पाठान्तरके अनुसार आमके फल) तथा श्रीफल (बेल)—इन सबको एकत्र करके इनमें घी मिलावे और उस होम-सामग्रीसे हवन करके व्रत करे। रातमें कवच आदिसे संनद्ध हो खड्ग, धनुष तथा बाण आदि लेकर एक वस्त्र धारण करके उपर्युक्त वस्तुओंसे ही देवीकी पूजा करे। वस्त्रका रंग चितकबरा, लाल, पीला, काला अथवा नीला होना चाहिये। मन्त्रवेत्ता विद्वान् दक्षिणदिशामें जाकर मण्डपके द्वारपर दूती-मन्त्रसे बलि अर्पित करे। यह बलि द्वार आदिमें अथवा एक वृक्षवाले श्मशानमें भी दी जा सकती है। ऐसा करनेसे साधक राजा हो समस्त कामनाओंका तथा सारी पृथ्वीके राज्यका उपभोग कर सकता है॥ २५—३७॥

'इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता-मूलमन्त्रकी दीक्षा आदिका कथन' नामक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३११॥

तीन सौ बारहवाँ अध्याय

त्वरिता-विद्यासे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— मुने! अब मैं विद्याप्रस्तावका वर्णन करूँगा, जो धर्म, काम आदिकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है। नौ कोष्ठोंके विभागसे विद्याभेदकी उपलब्धि होती है। अनुलोम-विलोमयोग, समास-व्यासयोग, कर्णाविकर्णयोग, अध-ऊर्ध्व-विभागयोग तथा त्रित्रिकयोगसे देवीके द्वारा जिसके शरीरकी सुरक्षा सम्पादित हुई है, वह साधक सिद्धिदायक मन्त्रों तथा बहुत-से निर्गत प्रस्तावोंको जानता है। शास्त्र-शास्त्रमें मन्त्र बताये गये हैं, किंतु वहाँ उनके प्रयोग दुर्लभ हैं। प्रथम गुरु वर्ण ही होता है। उसका पूर्वकालमें वर्णन नहीं हुआ है। वहाँ प्रस्तावमें एकाक्षर, द्व्यक्षर तथा त्र्यक्षर मन्त्र प्रकट हुए। चार-चार खड़ी तथा पड़ी रेखाएँ खींचे। इस प्रकार नौ कोष्ठ होते हैं। मध्यकोष्ठसे आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे मन्त्रके अक्षरोंका उनमें न्यास करे। तदनन्तर प्रस्ताव-भेदन करे। प्रस्तावक्रमयोगसे जो प्रस्तावको प्राप्त करता है, उस साधककी

मुट्ठीमें सारी सिद्धियाँ आ जाती हैं। सारी त्रिलोकी उसके चरणोंमें झुक जाती है। वह नौ खण्डोंमें विभक्त जम्बूद्वीपकी सम्पूर्ण भूमिपर अधिकार प्राप्त कर लेता है। कपाल (खप्पर)-पर अथवा श्मशानके वस्त्र (शवके ऊपरसे उतारे हुए कपड़े)-पर सब ओर शिवतत्त्व लिखकर मन्त्रवेत्ता पुरुष बाहर निकले और मध्यभागमें कर्णिकाके ऊपर अभीष्ट व्यक्तिविशेषका भोजपत्रपर नाम लिखकर रख दे। फिर खैरकी लकड़ीसे तैयार किये गये अङ्गारोंद्वारा उस भोजपत्रको तपाकर दोनों पैरोंके नीचे दबा दे। यह प्रयोग एक ही सप्ताहमें चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिभुवनको भी चरणोंमें ला सकता है। वज्रसम्पुट गर्भसे युक्त द्वादशारचक्रके मध्यमें द्वेष्य व्यक्तिका नाम लिखकर रखे। उस नामको 'सदाशिव' मन्त्रसे विदर्भित (कुशोंद्वारा मार्जित) कर दे। उक्त द्वादशारचक्र तथा नाम आदिका उल्लेख हल्दीसे दीवारपर, काष्ठफलकपर अथवा शिलापट्टपर करना चाहिये। ऐसा करनेसे शत्रुके मुख, गमनशक्ति तथा सेनाका भी स्तम्भन (अवरोध) हो जाता है॥ १—१२॥

श्मशानके वस्त्रपर विषमिश्रित रक्तसे षट्कोणचक्रका उल्लेख कर उसके मध्यमें शत्रुका नाम लिखे। फिर उस चक्रको चारों ओर शक्तिबीजसे योजित करके उसपर डंडा रख दे। फिर साधक श्मशानभूमिपर रखे हुए उस शत्रुपर शीघ्र दण्डसे प्रहार करे। यह प्रयोग उस शत्रु-राजाके राष्ट्रको खण्डित कर देता है। इसी तरह चक्राकार मण्डल बनाकर उसके मध्यभागमें शत्रुके नामको स्थापित कर दे। चक्रकी धारामें शक्तिबीजका न्यास करे। शत्रुका नाम लेकर उसपर भावनाद्वारा उक्त चक्रधारसे प्रहार करे। इससे शत्रुका हरण होता है। इसी प्रकार खड्गके मध्यभागमें गरुडबीजके साथ शत्रुका नाम लिखकर उसका पूर्ववत् विदर्भीकरण करे। उक्त नाम श्मशानभूमिकी चिताके कोयलेसे लिखना चाहिये। उसपर चिताके भस्मसे प्रहार करे। ऐसा करनेसे साधक एक ही सप्ताहमें शत्रुके देशको अपने अधिकारमें कर लेता है। वह छेदन, भेदन और मारणमें शिवके समान शक्तिशाली हो जाता है। तारक (फट्)-को नेत्र कहा गया है। उसका शान्ति-पुष्टिकर्ममें नियोग करे। यह दहनादि प्रयोग शाकिनीको भी आकर्षित कर लेता है। पूर्वोक्त नौ चक्रोंमें मध्यगत मन्त्राक्षरसे लेकर पश्चिम-दिशावर्ती कोष्ठतकके दो अक्षरोंको वक्रतुण्ड-मन्त्रके साथ जपनेसे कुष्ठ आदि जितने भी चर्मगत रोग हैं, उन सबका नाश हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। (यह अध-ऊर्ध्व-विभागयोग है।) मध्यकोष्ठसे उत्तरवर्ती कोष्ठतकके दो अक्षरवाले मन्त्रको 'करालीबन्ध' के साथ जप करे तो वह द्व्यक्षरी-विद्या, यदि साक्षात् शिव प्रतिवादी हों तो उनसे भी अपनी रक्षा करवाती है। इसी प्रकार पश्चिमगत मन्त्राक्षरको आदिमें रखकर उत्तर कोष्ठतकके मन्त्राक्षरोंको 'वक्रतुण्ड-मन्त्र'के साथ जप किया जाय तो ज्वर तथा खाँसीका नाश होता है। उत्तरकोष्ठसे लेकर मध्यकोष्ठतकके मन्त्राक्षरोंका एक-एक साथ जप किया जाय तो साधककी इच्छासे वटके बीजमें गुरुता (भारीपन) आ सकती है। इसी तरह पूर्वादि-मध्यमान्त अक्षरोंके जपसे वह तत्काल उसमें लघुता (हल्कापन) ला सकता है। भोजपत्रपर गोरोचनाद्वारा वज्रसे व्याप्त भूपुरचक्र लिखकर, अनुलोमक्रमसे स्थित मन्त्र-बीजोंको लिखकर, उसे मन्त्रवत् धारण करके साधक अपने शरीरकी रक्षा करे। भावपूर्वक सुवर्णमें मढ़ाकर धारण किया गया यह 'रक्षायन्त्र' मृत्युका भी नाश करनेवाला होता है। वह विघ्न, पाप तथा शत्रुओंका दमन करनेवाला है तथा सौभाग्य और दीर्घायु देनेवाला है। यह 'रक्षायन्त्र' धारण किया जाय तो वह जूआ तथा युद्धमें भी विजयदायक होता है। इन्द्रकी सेनाके साथ संग्राम हो तो उसमें भी वह विजय दिलाता

है, इसमें संशय नहीं है। यह 'रक्षायन्त्र' वन्ध्याको भी पुत्र देनेवाला तथा दूसरी चिन्तामणिके समान मनोवाञ्छाकी पूर्ति करनेवाला है। इससे रक्षित हुआ मनुष्य परराष्ट्रोंपर भी अधिकार पाता है तथा राज्य और पृथ्वीको जीत लेता है। **'फट् स्त्रीं क्षें हूं'**— इन चार अक्षरोंका एक लाख जप करनेसे यक्ष आदि भी वशीभूत हो जाते हैं॥ १३—२५॥

'इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता-विद्यासे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन' नामक तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१२॥

तीन सौ तेरहवाँ अध्याय

नाना मन्त्रोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— अब मैं सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् विनायक (गणेश)-के पूजनकी विधि बताऊँगा। योगपीठपर प्रथम तो आधारशक्तिकी पूजा करे। फिर अग्नि आदि कोणों तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—इन आठकी अर्चना करे। तदनन्तर कन्द, नाल, पद्म, कर्णिका, केसर और सत्त्वादि तीन गुणोंकी और पद्मासनकी पूजा करे। इसके बाद तीव्रा, ज्वालिनी, नन्दा, सुयशा (भोगदा), कामरूपिणी, उग्रा, तेजोवती, सत्या तथा विघ्ननाशिनी—इन नौ शक्तियोंकी पूजा करे। तत्पश्चात् गणेशजीकी मूर्तिका अथवा मूर्तिके अभावमें ध्यानोक्त गणपतिमूर्तिका पूजन करे। इसके बाद हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करनी चाहिये। पूजनके प्रयोगवाक्य इस प्रकार हैं—**'गणंजयाय हृदयाय नमः। एकदन्ताय उत्कटाय शिरसे स्वाहा। अचलकर्णिने शिखायै वषट्। गजवक्त्राय हुं फट् कवचाय हुम्। महोदराय दण्डहस्ताय अस्त्राय फट्***।' —इन पाँच अङ्गोंमेंसे चारकी तो पूर्वादि चार दिशाओंमें और पाँचवेंकी मध्यभागमें पूजा करे॥ १—४॥

तदनन्तर गणंजय, गणाधिप, गणनायक, गणेश्वर, वक्रतुण्ड, एकदन्त, उत्कट, लम्बोदर, गजवक्त्र और विकटानन—इन सबकी पद्मदलोंमें पूजा करे। फिर मध्यभागमें—**'हूं विघ्ननाशनाय नमः। महेन्द्राय-धूम्रवर्णाय नमः।'**—यों बोलकर विघ्ननाशन एवं धूम्रवर्णकी पूजा करे। फिर बाह्यभागमें विघ्नेशका पूजन करे॥ ५-६॥

अब मैं 'त्रिपुराभैरवी'के पूजनकी विधि बताऊँगा। इसमें आठ भैरवोंका पूजन करना चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं—असिताङ्गभैरव, रुरुभैरव, चण्डभैरव, क्रोधभैरव, उन्मत्तभैरव, कपालिभैरव, भीषणभैरव तथा संहारभैरव। ब्राह्मी आदि मातृकाएँ भी पूजनीय हैं। (उनके नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा तथा महालक्ष्मी)। 'अकार' आदि ह्रस्व स्वरोंके बीजको आदिमें रखकर

* 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में पञ्चाङ्गन्यासके जो प्रयोगवाक्य दिये गये हैं, वे यहाँके मूलभागसे कुछ भिन्नता रखते हैं। उनमें करन्यास एवं अङ्गन्यास एक साथ निर्दिष्ट हैं, यथा—'अङ्गुष्ठयोः गणंजयाय स्वाहा हृदयाय नमः। तर्जन्योः एकदंष्ट्राय हुं फट् शिरसे स्वाहा। मध्यमयोः अचलकर्णिने नमो नमः शिखायै वषट्। अनामिकयोः गजवक्त्राय नमो नमः कवचाय हुम्। कनिष्ठिकयोः महोदराय चण्डाय हुं फट् अस्त्राय फट्।' इसमें करन्यासगत वाक्योंमें करतल-करपृष्ठको और अङ्गन्यासगत वाक्योंमें नेत्रको छोड़ दिया गया है। षडङ्गपक्षमें हृदयादि अङ्गोंका न्यास अथवा पूजन बीजमन्त्रसे करना चाहिये। यथा—'गां हृदयाय नमः। गीं शिरसे स्वाहा। गूं शिखायै वषट्। गैं कवचाय हुम्। गौं नेत्रत्रयाय वौषट्। गः अस्त्राय फट्।' इनमेंसे चार अङ्गोंका तो आराध्य देवताके चारों दिशाओंमें और नेत्र तथा अस्त्रका मध्यवर्ती स्थान-देवताके अग्रभागमें पूजन करना चाहिये।

भैरवोंकी पूजा करनी चाहिये तथा 'आकार' आदि दीर्घ अक्षरोंके बीजको आदिमें रखकर 'ब्राह्मी' आदि मातृकाओंकी अर्चना करनी चाहिये[1]। अग्नि आदि चार कोणोंमें चार वटुकोंका पूजन कर्तव्य है। समयपुत्र वटुक, योगिनीपुत्र वटुक, सिद्धपुत्र वटुक तथा चौथा कुलपुत्र वटुक—ये चार वटुक हैं। इनके अनन्तर आठ क्षेत्रपाल पूजनीय हैं। इनमें 'हेतुक' क्षेत्रपाल प्रथम हैं और 'त्रिपुरान्त' द्वितीय। तीसरे 'अग्निवेताल' चौथे 'अग्निजिह्व', पाँचवें 'कराल' तथा छठे 'काललोचन' हैं। सातवें 'एकपाद' तथा आठवें 'भीमाक्ष' कहे गये हैं। (ये सभी क्षेत्रपाल यक्ष हैं।) इन सबका पूजन करके त्रिपुरादेवीके प्रेतरूप पद्मासनकी पूजा करे। यथा—'**ऐं क्षैं प्रेतपद्मासनाय नमः। ॐ ऐं ह्रीं हसौः त्रिपुरायै प्रेतपद्मासनसमास्थितायै नमः।**'—इस मन्त्रसे प्रेतपद्मासनपर विराजमान त्रिपुराभैरवीकी पूजा[2] करे। उनका ध्यान इस प्रकार है—'त्रिपुरादेवी बायें हाथमें अभय एवं पुस्तक (विद्या) धारण करती हैं तथा दायें हाथमें वरदमुद्रा एवं माला (जपमालिका)। देवी बाणसमूहसे भरा तरकस और धनुष भी लिये रहती हैं।' मूलमन्त्रसे हृदयादि न्यास करे[3]॥ ७—१२॥

(अब प्रयोगविधि बतायी जाती है—) गोसमूहके मध्यमें स्थित हो, श्मशान आदिके वस्त्रपर चिताके कोयलेसे अष्टदलकमलका चक्र लिखे या लिखावे। उसमें द्वेषपात्रका नाम लिखकर लपेट दे। फिर चिताकी राखको सानकर एक मूर्ति बनावे। उसमें द्वेषपात्रकी स्थितिका चिन्तन करके उक्त यन्त्रको नीले रंगके डोरेसे लपेटकर मूर्तिके पेटमें घुसेड़ दे। ऐसा करनेसे उस व्यक्तिका उच्चाटन हो जाता है॥ १३-१४॥

ज्वालामालिनी-मन्त्र

'**ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते स्वाहा।**' इस मन्त्रका जप करते

---

१. 'शारदातिलक'के नवम पटलमें कहा गया है कि आठ मातृकाओंका कमलके आठ दलोंमें पूजन करे। मातृकाएँ अपने-अपने भैरवके अङ्कमें विराजती हैं। 'दीर्घाद्या मातरः प्रोक्ता ह्रस्वाद्या भैरवाः स्मृताः। —अर्थात् दीर्घस्वरोंको बीजके रूपमें नामके आदिमें लगाकर मातृकाओंकी पूजा करनी चाहिये और ह्रस्व अक्षरोंको आदिमें बीजके रूपमें जोड़कर भैरवोंका पूजन होना चाहिये।' यहाँ ह्रस्व और दीर्घ अक्षर पारिभाषिक लिये गये हैं। इनका परिचय देते हुए राघवभट्टने 'शा० ति०'की 'पदार्थादेश' नामक टीकामें लिखा है कि 'अ इ उ ऋ लृ ए ओ अं'—ये आठ अक्षर 'ह्रस्व'के नामसे उपयोगमें लाये जाते हैं और 'आ ई ऊ ॠ ॡ ऐ औ अः'—ये आठ अक्षर दीर्घ-स्वरके नामसे। इनके प्रयोगवाक्य 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में इस प्रकार दिये गये हैं—'आं ब्राह्म्यै नमः। अं असिताङ्गभैरवाय नमः। ईं माहेश्वर्यै नमः। इं रुरुभैरवाय नमः। ऊं कौमार्यै नमः। उं चण्डभैरवाय नमः। ॠं वैष्टणव्यै नमः। ॠं क्रोधभैरवाय नमः। ॡं वाराह्यै नमः, लृं उन्मत्तभैरवाय नमः। ऐं इन्द्राण्यै नमः। एं कपालिभैरवाय नमः। औं चामुण्डायै नमः। ओं भीषणभैरवाय नमः। अः महालक्ष्म्यै नमः। अं संहारभैरवाय नमः।' इस प्रकार भैरवके अङ्कमें स्थित मातृकाओंका प्रदक्षिणक्रमसे पूजन करना चाहिये।'

२. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के २५ वें श्वासमें त्रिपुरादेवीके पूजनका क्रम यों बताया गया है—प्रातःकृत्य और प्राणायाम करके पीठन्यास करे। अन्यत्र बताये हुए क्रमसे आधारशक्ति आदिकी अर्चनाके पश्चात् हृदयकमलके पूर्वादि केसरोंमें इच्छा, ज्ञाना, क्रिया, कामिनी, कामदायिनी, रति, रतिप्रिया और नन्दाका पूजन करे तथा मध्य भागमें मनोन्मनीका। उसके ऊपर 'ऐं परायै अपरायै परापरायै हसौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः।'—इस प्रकार न्यास करके मस्तकपर दक्षिणामूर्ति ऋषिका, मुखमें पङ्क्ति छन्दका, हृदयमें त्रिपुरभैरवी देवताका, गुह्यमें वाग्भव बीजका, चरणोंमें तार्तीय शक्तिका तथा सर्वाङ्गमें कामराज कीलकका न्यास करे। तत्पश्चात् वाग्भवबीज (हस्त्रैं नमः)-का नाभिसे चरणपर्यन्त, कामबीज (ह सकल रीं नमः)-का हृदयसे नाभिपर्यन्त तथा तार्तीय बीज (हस्त्रौः)-का सिरसे हृदयपर्यन्त न्यास करे। इसी तरह आद्यबीजका दाहिने हाथमें, द्वितीय बीजका बायें हाथमें तथा तृतीय बीजका दोनों हाथोंमें न्यास करे। इसी क्रमसे मस्तक, मूलाधार और हृदयमें उक्त तीनों बीजोंका न्यास करना चाहिये। दायें कान, बायें कान और चिबुकमें भी उक्त तीनों बीजोंका क्रमशः न्यास करे। फिर आगे बताये जानेवाले तीन-तीन अङ्गोंमें क्रमशः तीनों बीजोंका न्यास करे। यह 'नवयोनिन्यास' है। यथा—दायाँ गाल, बायाँ गाल और मुख। दायाँ नेत्र, बायाँ नेत्र और नासिका। दायाँ कंधा, बायाँ कंधा और पेट। दायीं कोहनी, बायीं कोहनी और कुक्षि। दायाँ घुटना, बायाँ घुटना और लिङ्ग। दायाँ पैर, बायाँ पैर तथा गुह्य भाग। दायाँ पार्श्व, बायाँ पार्श्व और हृदय। दायाँ स्तन, बायाँ स्तन और कण्ठ।

३. मूलमन्त्र बीजत्रयात्मक है। यथा—हस्त्रैं नमः। हस कल रीं नमः। हसौः नमः।

हुए युद्धमें जानेवाले पुरुषको प्रत्यक्ष विजय प्राप्त होती है॥ १५-१६॥

श्रीमन्त्र

'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं श्रियै नमः'॥ १७॥

चतुर्दल कमलमें उत्तरादि दलके क्रमसे क्रमशः घृणिनी, सूर्या, आदित्या और प्रभावती—इन चार श्रीदेवियोंका उक्त मन्त्रसे पूजन करके मन्त्र जपनेसे श्रीकी प्राप्ति होती है। ये सभी श्रीदेवियाँ सुवर्णगिरिके समान परम सुन्दर कान्तिवाली हैं॥ १८॥

गौरीमन्त्र

'ॐ ह्रीं गौर्यै नमः।'

—इस मन्त्रद्वारा जप, होम, ध्यान तथा पूजन किया जाय तो यह साधकको सब कुछ प्रदान करनेवाला है। गौरीदेवीकी अङ्गकान्ति अरुणाभ गौर है। उनके चार भुजाएँ हैं। वे दाहिने दो हाथोंमें पाश तथा वरदमुद्रा धारण करती हैं और बायें दो हाथोंमें अङ्कुश एवं अभय। शुद्ध चित्तसे गौरीदेवीकी प्रार्थना (आराधना) करनेवाला बुद्धिमान् पुरुष सौ वर्षोंतक जीवित रहता है तथा उसे चोर आदिका भय नहीं प्राप्त होता है। युद्धस्थलमें इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित जलको पी लेनेसे अपने ऊपर क्रोधसे भरा हुआ पुरुष भी प्रसन्न हो जाता है। इस मन्त्रसे अञ्जन और तिलक लगानेपर वशीकरण सिद्ध होता है तथा जिह्वाग्रपर इसके लेखसे (अथवा जपसे भी) कवित्व-शक्ति प्रस्फुटित होती है। इसके जपसे स्त्री-पुरुषके जोड़े वशमें हो जाते हैं। इसके जपसे सूक्ष्म योनियोंके भी दर्शन होते हैं। स्पर्श करनेमात्रसे मनुष्य वशमें हो जाता है। इस मन्त्रद्वारा तिलकी आहुति देनेपर सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं। इस मन्त्रसे सात बार अभिमन्त्रित करके अन्नका भोजन करनेवाले पुरुषके पास सदा श्री(धन-सम्पत्ति) बनी रहती है। इसके आदिमें लक्ष्मी-बीज (**श्रीं**) और वैष्णव-बीज (**क्लीं**) जोड़ दिया जाय तो यह 'अर्धनारीश्वर-मन्त्र' हो जाता है। अनङ्गरूपा, मदनातुरा, पवनवेगा, भुवनपाला, सर्वसिद्धिदा, अनङ्गमदना और अनङ्गमेखला—ये शक्तियाँ हैं। इनके नाममन्त्रोंके जपसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। कमलके दलोंमें ह्रीं, स्वर, कादि व्यञ्जन लिखकर बीचमें अभीष्ट स्त्रीका नाम लिखे। षट्कोण-चक्र या कलशमें भी लिख सकते हैं। लिखकर उसके उद्देश्यसे जप करनेपर 'वशीकरण' होता है॥ १९—२६॥

नित्यक्लिन्ना-मन्त्र

'ॐ ह्रीं ऐं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा।*'

[किसी-किसीने इस मन्त्रको पञ्चदशाक्षर भी माना है। उस दशामें '**स्वाहा**' से पहले '**ऐं ह्रीं**' जोड़ा जाता है।] यह छः अङ्गोंवाला मूलमन्त्र है (तीन बीज और तीन पद मिलाकर छः अङ्ग होते हैं)। लाल रंगके त्रिकोण-चक्रमें अष्टदल कमलका चिन्तन करके उसमें 'द्राविणी' आदिका पूजन करे। पूर्वादि दिशाओंमें 'द्राविणी' आदि चार शक्तियों तथा ईशानादि कोणोंमें 'अपरा' आदि चार शक्तियोंका चिन्तन-पूजन करना चाहिये। उनके क्रमानुसार नाम यों जानने चाहिये—द्राविणी, वामा, ज्येष्ठा, आह्लादकारिणी, अपरा, क्षोभिणी, रौद्री तथा गुणशक्ति। देवीका ध्यान इस प्रकार करे—'वे रक्तवर्णा हैं और उसी रंगके वस्त्राभूषण धारण करती हैं। उनके दो हाथोंमें पाश और अङ्कुश है, दो हाथोंमें कपाल तथा कल्पवृक्ष हैं तथा दो हाथोंसे उन्होंने वीणा ले रखी है।' नित्या, अभया, मङ्गला, नववीरा, सुमङ्गला, दुर्भगा और

* अग्निपुराणकी छपी प्रतियोंमें 'ॐ ह्रीं छं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं ओं'—ऐसा पाठ मिलता है; परंतु अन्य तन्त्रोंमें 'छं' की जगह 'ऐं' मिलता है। उद्धारस्थलमें 'वाग्भवं' कहा गया है, जो 'ऐं' का ही वाचक है और अन्तमें अग्निवधू (स्वाहा)-का ही उल्लेख है; अतः वही रूप लिया गया है।

मनोन्मनी तथा द्रावा—इन आठ देवियोंका पूर्वादि दिशाके कमल-दलोंमें पूजन करे। ['श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में ये नाम इस प्रकार मिलते हैं—नित्या, सुभद्रा, समङ्गला, वनचारिणी, सुभगा, दुर्भगा, मनोन्मनी तथा रुद्ररूपिणी।] इनके बाह्यभागमें पाँच दलोंमें कामदेवोंका पूजन होता है। '**ॐ ह्रीं अनङ्गाय नमः। ॐ ह्रीं स्मराय नमः। ॐ ह्रीं मन्मथाय नमः। ॐ ह्रीं माराय नमः। ॐ ह्रीं कामाय नमः।**' ये ही पाँच काम हैं। कामदेवोंके हाथोंमें पाश, अङ्कुश, धनुष और बाणका चिन्तन करे। इनके भी बाह्यभागमें दस दलोंमें क्रमशः रति-विरति, प्रीति-विप्रीति, मति-दुर्मति, धृति-विधृति, तुष्टि-वितुष्टि—इन पाँच कामवल्लभाओंका पूजन करे॥ २७—३३॥

'**ॐ छं (ऐं) नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं ओं (स्वाहा) अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह क्षः ॐ छं (ऐं) नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा।**' यह 'नित्यक्लिन्ना-विद्या' है॥ ३४॥

सिंहासनपर आधारशक्ति तथा पद्मका पूजन करके उसके दलोंमें हृदय आदि अङ्गोंकी स्थापना एवं पूजन करनेके अनन्तर मध्यकर्णिकामें देवीकी पूजा करनी चाहिये॥ ३५॥

गौरीमन्त्र (२)

'**ॐ ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हूं फट् स्वाहा**'॥ ३६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाना प्रकारके मन्त्रोंका वर्णन' नामक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१३॥

तीन सौ चौदहवाँ अध्याय

त्वरिताके पूजन तथा प्रयोगका विज्ञान

निग्रहयन्त्र

अग्निदेव कहते हैं—मुने! '**ॐ ह्रीं हूं खे च च्छे क्षः स्त्री हूं क्षे ह्रीं फट् त्वरितायै नमः।**'—इस मन्त्रसे न्यासपूर्वक त्वरितादेवीकी पूजा करे। उनके द्विभुज या अष्टभुज रूपका ध्यान करे। आधारशक्ति तथा अष्टदल कमलका पूजन करे। सिंहासन और उसके ऊपर विराजित त्वरितादेवीकी तथा उनके चारों ओर हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करे*। पूर्वादि दिशाओंमें हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करके मण्डलमें प्रणीता तथा गायत्रीकी पूजा करे। (देवीके अग्रभागके केसरसे लेकर प्रदक्षिणक्रमसे छः केसरोंमें छः अङ्गोंका पूजन करके अवशिष्ट दोमें प्रणीता तथा गायत्रीका पूजन करना चाहिये।) इसके बाद आठ दलोंमें हुंकारी, खेचरी, चण्डा, छेदिनी, क्षेपिणी, स्त्री, हूंकारी तथा क्षेमंकरीकी पूजा करे। फिर मध्यभागमें देवीके सामने फट्कारीकी अर्चना करे। देवीके सम्मुखवर्ती द्वारके दक्षिण तथा वामपार्श्वमें जया एवं विजयाकी पूजा करके

---

* 'सारसंग्रह' तथा 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' आदिमें जो मन्त्रोद्धार किया गया है, उससे उपर्युक्त द्वादशाक्षर-बीज ही 'त्वरिता-विद्याके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। अग्निपुराणकी आजकलकी छपी प्रतियोंमें मन्त्रका शुद्ध रूप नहीं रह गया है, अतः तन्त्रान्तरसे मिलाकर ही शुद्ध रूपका यहाँ ग्रहण किया गया है। न्यासकी विधि पहले बता चुके हैं, अतः यहाँ संकेतमात्र किया गया है। तन्त्रोंमें देवीके द्विभुज, अष्टभुज तथा अष्टादशभुज रूप भी वर्णित हुए हैं। यहाँ मूलमें द्विभुज तथा अष्टभुज रूपकी ओर संकेत है। आधारशक्ति आदिका पूजन भी पूर्ववत् समझना चाहिये। सिंहासनका मन्त्र इस प्रकार है—'क्षं हुं हं वज्रदेह मुरु मुरु क्षिं गुल गुल गर्ज गर्ज हं हुं क्षां पञ्चाननाय नमः।' एक-एक अक्षरका उद्धार करके यह मन्त्रस्वरूप निश्चित हुआ है, अतः इसीको शुद्ध मानकर अन्यत्रके विकृत पाठको भी शुद्ध किया जा सकता है। यहाँ कही हुई अधिकांश बातें पिछले तीन सौ नवें अध्यायमें आ गयी हैं।'

द्वाराग्रभागमें '**किंकराय रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञया स्थिरो भव हुं फट् किंकराय नमः।**' इस मन्त्रसे किंकरका पूजन करना चाहिये॥ १—४॥

त्वरिता-मन्त्रसे तिलोंद्वारा होम करनेसे सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। नामोच्चारणपूर्वक देवीके आभूषणस्वरूप आठ नागोंकी पूजा करनी चाहिये। यथा—**अनन्ताय नमः स्वाहा। कुलिकाय नमः स्वधा। वासुकिराजाय स्वाहा। शङ्खपालाय वौषट्। तक्षकाय वषट्। महापद्माय नमः। कर्कोटनागाय स्वाहा। पद्माय नमः फट्**[1] ॥ ५-६ $\frac{1}{2}$ ॥

निग्रहयन्त्र[2]

दस खड़ी रेखाएँ खींचकर उनपर दस पड़ी रेखाएँ खींचे तो इक्यासी पद (कोष्ठ) बन जाते हैं। इन पदोंद्वारा 'निग्रहचक्र' का निर्माण करे। यह चक्र वस्त्रपर, वेदीपर, वृक्षके तनेपर, शिलापट्टपर तथा यष्टिकाओंपर भी लिखा जा सकता है। इसके मध्यवर्ती कोष्ठमें साध्य (शत्रु आदि)-का नाम लिखे। (उस नामको दो '**रं**' बीजोंद्वारा आवेष्टित कर दे। अर्थात् दो '**रं**' बीजोंके बीचमें 'साध्य-नाम' लिखना चाहिये।) उसके पार्श्वभागकी पूर्वादि दिशाओंकी चार पट्टिकाओंमें '**भ्रूं क्षूं छ्रूं ह्रूं**'—इन चार बीजोंको लिखे। फिर ईशान आदि कोणोंमें भीतरकी ओर 'कालरात्रि-मन्त्र' (काली-आनुष्टुभ सर्वतोभद्र) लिखे तथा बाहरकी ओर 'यमराज-मन्त्र' (यम-आनुष्टुभ)-का उल्लेख करे। (यदि साध्य-व्यक्ति पुरुष है, तब तो यही क्रम ठीक है। यदि वह स्त्री हो तो उसपर निग्रहके लिये भीतरकी ओर 'यम-आनुष्टुभ' मन्त्र लिखा जाय और बाहरकी ओर 'काली-आनुष्टुभ' मन्त्रका उल्लेख किया जाय—यह 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में विशेष बात कही गयी है)॥ ७—९॥

काली-आनुष्टुभ मन्त्र

का ली मा र र मा ली का लीनमोक्षक्षमोनली।
मामोदेततदेमोमा रक्षतत्वत्वतक्षर॥ १०॥

---

१. 'नारायणीय-तन्त्र' में ब्राह्मण-नागोंको कुण्डलोंके स्थानमें चिन्तनीय बताया है, क्षत्रिय-नाग दोनों भुजाओंमें केयूरका काम करते हैं, वैश्य-नाग कटिबन्ध (करधनी)-की आवश्यकता पूर्ण करते हैं तथा शूद्र-नाग दोनों पैरोंमें नूपुर बनकर शोभा बढ़ाते हैं। इनका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—'अनन्त और कुलिक ब्राह्मण-नाग हैं। इनका वर्ण अग्निके समान तेजस्वी है। ये दोनों नाग सहस्र-सहस्र फणोंसे समलंकृत हैं। वासुकि और शङ्खपाल क्षत्रिय हैं। इनकी अङ्गकान्ति पीली है। ये दोनों सात-सात सौ फण धारण करते हैं। तक्षक और महापद्म वैश्य-नाग हैं। इनका रंग नीला है। इन दोनोंने पाँच-पाँच सौ फण धारण कर रखे हैं। पद्म तथा कर्कोटक शूद्र-नाग हैं। इनकी अङ्गकान्ति श्वेत है तथा ये तीन-तीन सौ फण धारण करते हैं। त्वरितादेवीके वामहस्तमें वरदमुद्रा और दाहिने हाथमें अभयमुद्रा शोभा पाती है।'

२. निग्रह-यन्त्र

रं रं रं रं रं रं रं रं रं

ईशान यं यं यं यं यं यं यं यं यं अग्नि

य	मा	वा	ट	[illegible]	मा	ट	मो	ट
ट	वा	मा	य	[illegible]	ट	मो	ट	मा
का	ली	मा	र	[illegible]	ली	न	मो	क्ष
र	मा	ली	का	[illegible]	क्ष	मो	न	ली
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	रं साध्य रं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	भ्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	क्षूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	छ्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	ह्रूं	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

वायव्य नैर्ऋत्य

यम-आनुष्टुभ-मन्त्र

यमावाटटवामाय माटमोटटमोटमा।
वामोभूरिरिभूमोवा टटरीत्वत्वरीटट॥ ११॥

यम-मन्त्रके बाह्यभागमें चारों ओर '**रं**' लिखे, फिर '**रं**' के नीचे '**यं**' लिखे। इससे 'मारणात्मक निग्रहयन्त्र' सम्पादित होता है। नीमकी गोंद, मज्जा, रक्त तथा विषसे[1] मिश्रित स्याहीमें थोड़ा चिताका कोयला कूट-पीसकर मिला दे और उसे पिङ्गलवर्णकी दावातमें रखे। फिर कौएके पंखकी कलमसे उक्त 'निग्रह-यन्त्र'को लिखकर उसे श्मशानभूमिमें या चौराहेपर किसी गड्ढेमें नीचेकी ओर गाड़ दे, अथवा बाँबीकी मिट्टीमें उसे डाल दे, अथवा बहेड़ेके वृक्षकी डालीके नीचे भूमिमें गाड़ दे। ऐसा करनेसे सभी शत्रुओंका नाश हो जाता है॥ १२—१४॥

अनुग्रह-चक्र

शुक्लपक्षमें भोजपत्रपर, भूमिपर तथा दीवारपर लाक्षाके रङ्गसे, कुङ्कुमसे अथवा खड़िया मिट्टीके चन्दनसे 'अनुग्रह-चक्र[2]' लिखे (यह 'अनुग्रह-चक्र' पूर्वोक्त निग्रह-चक्रकी भाँति इक्यासी पदोंका होना चाहिये।) मध्यकोष्ठमें साध्य व्यक्तिका नाम लिखे। उस नामको '**ठं ठं**' के मध्यमें रखे। पूर्वादि वीथीमें '**जूं सः वषट्**' का उल्लेख करे। ईशान आदि कोणसे आरम्भ करके वीथीको छोड़ते हुए अग्निकोणपर्यन्त लक्ष्मीका आनुष्टुभ-मन्त्र (जो सर्वतोभद्रबन्धमें निबद्ध है) लिखे। यह ऊपरकी चार पङ्क्तियोंमें पूरा हो जायगा। तत्पश्चात् नीचेकी चार पङ्क्तियोंमें सबसे नीचेके नैर्ऋत्यकोणस्थ कोष्ठसे आरम्भ करके दाहिनेसे बायें पार्श्वकी ओर लिखे। निचली पङ्क्तिके बाद ऊपरी पङ्क्तिमें भी बायेंसे दाहिने लिखे। इस तरह चार पङ्क्तियोंमें वही 'लक्ष्मी-मन्त्र' पूरा लिख दे। वह मन्त्र इस प्रकार है—

'श्री सा मा या या मा सा श्री, सा नो या ज्ञे ज्ञे या नो सा। मा या ली ला ला ली या मा, या ज्ञे ला ली ली ला ज्ञे या॥'

चक्रके बहिर्भागमें चारों ओर त्वरिता-मन्त्र लिखे। प्रत्येक दिशामें एक बार, इस प्रकार चार बार वह मन्त्र लिखा जायगा। फिर उस चौकोर चक्रको इस प्रकार गोल रेखासे घेर दे, जिससे वह कलशके भीतर हो जाय। उक्त कलशके नीचे एक कमल बनाकर उसीपर उस कमलको स्थापित किया हुआ दिखाये। (ऊपरकी ओर कलशके मुखकी-सी आकृति बना दे। दो वृत्ताकार रेखाओंसे कलशकी आकृति स्पष्ट करनी चाहिये। कलशके मुखपर दो आड़ी रेखाएँ खींचकर उन रेखाओंके बीचमें 'नववव'—इस प्रकारकी माला-सी बनाकर उस मालासे घटको परिपूरित दिखाये। इस प्रकार इस चक्रका मनोरथपूर्तिके लिये तन्त्र-शास्त्रोक्त रीतिसे प्रयोग करे।)॥ १५—१८॥

---

१. नमक, ऊसरकी मिट्टी, स्रोतका जल, गृहधूम (घरकी कालिख), चित्रक, चिताका कोयला और नीमकी गोंद—इनसे युक्त जो स्याही है, उसे 'विष' कहा गया है।

२. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में इस 'अनुग्रह-यन्त्र' के लेखनके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

कुङ्कुमैर्लाक्षया वापि लिखितं स्वर्णपट्टके। धवले वसने वापि लेखिन्या स्वर्णजातया॥
सम्पूज्य जपसंसिद्धं स्थापयेद् यत्र तत्र वै। भवेल्लक्ष्मीरतिस्फीता नीरोगाश्च प्रजास्तथा॥
गजाश्वपशवस्त्वन्ये प्राणिनः सुखिनो भृशम्। भूतप्रेतपिशाचादिपीडासु बिभृयादिदम्॥
अलक्ष्मीशान्तये वश्यसिद्धये सर्वसम्पदे।

अर्थात् 'रोली अथवा लाक्षा (महावर)-के रङ्गसे सोनेके पत्रपर या श्वेत वस्त्रपर सोनेकी ही लेखनीसे इस अनुग्रह-यन्त्रको लिखे। लिखकर इसकी पूजा करके त्वरिता-मन्त्रके जपद्वारा इसे सिद्ध कर ले। जपसिद्ध-यन्त्रको जहाँ रखा जायगा, वहाँ अत्यन्त वृद्धिशीला लक्ष्मीका वास होगा। वहाँकी समस्त प्रजाएँ नीरोग होंगी। हाथी, घोड़े तथा अन्य पशु-प्राणी अत्यन्त सुखी होंगे। भूत, प्रेत तथा पिशाच आदिकी बाधा प्राप्त होनेपर इस यन्त्रको धारण करना चाहिये। दरिद्रताकी शान्ति, वशीकरणकी सिद्धि तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंकी प्राप्तिके लिये भी इस यन्त्रको धारण करना आवश्यक है।'

कमलपर स्थापित पद्मचक्र लिखकर उसे धारण किया जाय तो वह मृत्युको जीतनेवाला तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। वह शान्तिके साधनोंमें भी परम शान्तिप्रद है। सौभाग्य आदि देनेवाला है[१] ॥ १९ ॥

बारह खड़ी रेखाओंपर बारह पड़ी रेखाएँ खींचकर बराबर-बराबर एक सौ इक्कीस कोष्ठ बनावे। उसके मध्यकोष्ठमें साध्यका नाम लिखे। फिर ईशानकोणवाले कोष्ठसे आरम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे बारह बार त्वरिता-विद्याके अक्षर लिखे। मायाबीज (**ह्रीं**) को छोड़कर ही मन्त्र लिखना चाहिये। रेखाओंके अग्रभागोंपर बारंबार त्रिशूल अङ्कित करे। इस यन्त्रको जपद्वारा सिद्ध कर ले[२]। मध्यकोष्ठमें साध्य-नामके पहले '**ॐ**' तथा अन्तमें '**हूं फट्**' जोड़ दे। त्वरिता-विद्याके वर्णोंको क्रमसे ही लिखना चाहिये। अन्तमें नीचेकी ओर '**वषट्**' जोड़ देना चाहिये। यह '**प्रत्यङ्गिरा-विद्या**' कहलाती है, जो सम्पूर्ण मनोरथ एवं प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली है॥ २०-२१ ॥

इक्यासी कोष्ठवाले चक्रमें आदिसे ही वर्णक्रमके अनुसार सम्पूर्ण चक्रोंमें त्वरिता-विद्याके अक्षर लिखे। छः बार मन्त्र लिखनेके बाद अन्तके शेष कोष्ठोंमें साध्यका नाम तथा उसके अन्तमें '**वषट्**' लिखे। यह दूसरी '**प्रत्यङ्गिरा-विद्या**' है, जो समस्त कार्य आदिकी सिद्धि करनेवाली है। चौंसठ कोष्ठवाले चक्रोंमें भी 'निग्रह-चक्र' और 'अनुग्रह-चक्र' लिखे। वह '**अमृती-विद्या**' है। उसके मध्यकोष्ठमें '**क्रीं सा हूं**' और साध्य-नाम लिखे। (पाठान्तरके अनुसार उस चक्रके मध्यभागमें साध्यका नाम तथा नामके उभय पार्श्वमें '**ह्रीं**' लिखे।) उसके बाह्यभागमें द्वादशदल कमल बनाकर उसके दलोंमें त्वरिता-विद्याको विलोमक्रमसे लिखे। अर्थात् पहले '**फट्**' लिखे, फिर पूर्व-पूर्वके अक्षर। फिर उसे ह्रींकारयुक्त तीन वृत्ताकार पङ्क्तियोंसे वेष्टित करे। कुम्भाकार यन्त्रके भीतर लिखित इस विद्याको धारण किया जाय तो यह समस्त शत्रुओंका नाश करनेवाली और सब कुछ देनेवाली होती है। यदि रोगीके कानमें इसका जप किया जाय तो सर्पादि विष भी शान्त हो जाते हैं। यदि इसके अक्षरोंसे अङ्कित (अथवा इस यन्त्रसे अङ्कित) डंडोंद्वारा इसके शरीरपर ठोंका जाय तो उससे भी विषका शमन हो जाता है॥ २२—२५ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता-मन्त्रके प्रयोगोंका वर्णन' नामक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१४॥

तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय

स्तम्भन आदिके मन्त्रोंका कथन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब मैं स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, विद्वेषण तथा उच्चाटनके प्रयोग बताता हूँ। विषव्याधि, आरोग्य, मारण तथा उसके शमनके प्रयोग भी बता रहा हूँ। भोजपत्रपर ताड़की कलमसे 'कूर्मचक्र' लिखे। वह छः अङ्गुलके मापका होना चाहिये। तदनन्तर द्विज उसके मुख तथा चारों पैरोंमें मन्त्रका न्यास करे। चारों पैरोंमें '**क्रीं**' तथा मुखमें '**ह्रीं**' लिखे।

१. इस चक्रकी विधि 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' में इस प्रकार दी गयी है—दस दलवाला पद्म बनाकर उसकी कर्णिकामें माया-बीजके उदरमें साध्य-नाम लिखकर उसके दलोंमें मूल त्वरिता-विद्याके प्रणवादि दस वर्णोंको लिखे। माया-बीजके अक्षर छोड़ दे। उस कमलचक्रके बाह्यभागमें षट्कोण तथा उसके भी बाह्यभागमें चौकोर मण्डल बनावे।

२. इस यन्त्रका उल्लेख 'शारदातिलक' के दशम पटलमें उपलब्ध होता है।

गर्भस्थानमें त्वरिता-विद्याका उल्लेख करके पृष्ठभागमें साध्य-नाम लिखे। फिर मालामन्त्रोंसे वेष्टित करके उस यन्त्रको ईंटके ऊपर स्थापित करे। तत्पश्चात् उसे ढककर कूर्मपीठगत 'करालमन्त्र' से अभिमन्त्रित करे। महाकूर्मका पूजन करके चरणोदकको शत्रुके उद्देश्यसे फेंके तथा शत्रुका स्मरण करके उसे सात बार बायें पैरसे ताड़ित करे। इससे मुखभागसे शत्रुका स्तम्भन होता है॥ १—५ $\frac{1}{2}$ ॥

भैरवकी मूर्ति लिखकर उसके चारों ओर निम्नाङ्कित मालामन्त्र लिखे—

'ॐ शत्रुमुखस्तम्भनी कामरूपा आलीढकरी। ह्रीं फें फेत्कारिणी मम शत्रूणां देवदत्तानां मुखं स्तम्भय स्तम्भय मम सर्वविद्वेषिणां मुखस्तम्भनं कुरु कुरु कुरु ॐ हूं फें फेत्कारिणि स्वाहा।'

इसके बाद 'फट्' और हेतु (प्रयोगका उद्देश्य) लिखकर उक्त मन्त्रका जप करते हुए उस महाबली भैरवके वाम हाथमें 'नग' (पर्वत या वृक्ष) और दाहिने हाथमें 'शूल' लिखे। तदनन्तर 'अघोरमन्त्र' लिखे। इससे वह संग्राममें शत्रुओंको स्तम्भित कर देता है॥ ६—९ ॥

'ॐ नमो भगवत्यै भगमालिनि विस्फुर विस्फुर, स्पन्द स्पन्द, नित्यक्लिन्ने द्रव द्रव हूं सः क्रींकाराक्षरे स्वाहा।'

—इस मन्त्रका जप करते हुए रोचना आदिसे तिलक करनेपर मनुष्य सारे जगत्‌को मोहित कर सकता है॥ १०-११ ॥

'ॐ फें हुं फट् फेत्कारिणि ह्रीं ज्वल ज्वल, त्रैलोक्यं मोहय मोहय, गुह्यकालिके स्वाहा।'

—इससे तिलक करके मनुष्य राजा आदिको भी वशमें कर लेता है॥ १२ $\frac{1}{2}$ ॥

जहाँ गधा बैठा हो उस स्थानकी धूल, शवके ऊपर चढ़ा हुआ फूल तथा स्त्रीके रजमें संलग्न वस्त्रका टुकड़ा लेकर रातमें शत्रुकी शय्या आदिपर फेंक दे। इससे उसके स्वजनोंमें विद्वेष उत्पन्न हो जाता है। गायका खुर और शृङ्ग, घोड़ेकी टापका कटा हुआ टुकड़ा तथा साँपका सिर—इन सबको कूटकर एकमें मिला दे और द्वेषपात्रके घरोंपर फेंक दे। इससे शत्रुवर्गका उच्चाटन होता है। कनेरकी पीली शिफा (मूल या जड़) मारणके प्रयोगमें संसिद्ध (सफल) है। साँप और छछूँदरका रक्त तथा कनेरका बीज भी मारणरूपी प्रयोजनका साधक है। मरे हुए गिरगिट, भ्रमर, केकड़ा और बिच्छूका चूरन बनाकर तेलमें डाल दे। उस तेलको अपने शरीरमें लगानेवाला मनुष्य कोढ़ी हो जायगा॥ १३—१६ ॥

'ॐ नवग्रहाय सर्वशत्रून् मम साधय साधय, मारय मारय आं सों मं बुं गुं शुं शं रां कें ॐ स्वाहा।' इस मन्त्रको भोजपत्र या नवग्रह-प्रतिमापर लिखकर आक (मदार)-के सौ फूलोंसे पूजा करके शत्रु-मारणके उद्देश्यसे उस यन्त्र या प्रतिमाको श्मशानभूमिमें गाड़ दे। इससे समस्त ग्रह साधकके शत्रुको मार डालते हैं॥ १७-१८ ॥

'ॐ कुञ्जरी ब्रह्माणी, ॐ मञ्जरी माहेश्वरी, ॐ वेताली कौमारी, ॐ काली वैष्णवी, ॐ अघोरा वाराही, ॐ वेतालीन्द्राणी, ॐ उर्वशी चामुण्डा, ॐ वेताली चण्डिका, ॐ जयाली यक्षिणी, नवमातरो हे मम शत्रुं गृह्णत गृह्णत।'

भोजपत्रपर इस मन्त्रको लिखे। 'शत्रु' पदके स्थानमें शत्रुके नामका निर्देश करे। फिर श्मशान-भूमिमें उस यन्त्रकी पूजा करे तो शत्रुकी मृत्यु हो जाती है॥ १९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'स्तम्भन आदिके मन्त्रका कथन' नामक तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१५ ॥

तीन सौ सोलहवाँ अध्याय

त्वरिता आदि विविध मन्त्र एवं कुब्जिका-विद्याका कथन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! पहले '**हुं**' रखे, फिर '**खे च च्छे**'—ये तीन पद जोड़कर मन्त्रकी शोभा बढ़ावे। तत्पश्चात् '**क्षः स्त्रीं हूं क्षे**' लिखकर अन्तमें '**फट्**' जोड़ दे। (कुल मिलाकर) '**हुं खे च च्छे क्षः स्त्रीं हूं क्षे ह्रीं फट्।**' यह दशाक्षरा त्वरिता-विद्या हुई। यह विद्या समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाली तथा विष, सर्पादिका मर्दन करनेवाली है। '**खे च च्छे**'—यह त्र्यक्षर-विद्या काल (अथवा काले साँप)-के डँसे हुएको भी जीवन देनेवाली है॥ १-२॥

'**ॐ हूं खे क्षः**'—इस चतुरक्षरी विद्याका प्रयोग विष एवं सर्पदंशकी पीड़ाको नष्ट करनेवाला है। (पाठान्तर '**विषशत्रुप्रमर्दनः**' के अनुसार उक्त विद्याका प्रयोग विष एवं शत्रुकी बाधाको दूर करनेवाला है।) '**स्त्रीं हूं फट्**'—इस विद्याका प्रयोग पाप तथा रोग आदिपर विजय दिलाता है। '**खे च**'—इस द्व्यक्षर मन्त्रका प्रयोग शत्रु एवं दुष्ट आदिकी बाधाको दूर करता है। '**हूं स्त्रीं ॐ**'—इस मन्त्रका प्रयोग स्त्री आदिको वशमें करनेवाला है। '**खे स्त्रीं खे**'—इस मन्त्रका प्रयोग कालसर्पद्वारा डँसे गये मनुष्यके जीवनकी रक्षा करता है तथा शत्रुओंपर विजय दिलाता है। '**क्षः स्त्रीं क्षः**'—इसका प्रयोग वशीकरण तथा विजयका साधक है॥ ३—५॥

कुब्जिका-विद्या

'**ऐं ह्रीं श्रीं हसखफ्रें हसौः ॐ नमो भगवति हसखफ्रें कुब्जिके ह्स्रां ह्स्रीं अघोरे घोरे अघोरमुखि छ्रां छ्रीं किणि किणि विच्चे हसौः हसखफ्रें श्रीं ह्रीं ऐं**[1]'—यह श्रीमती कुब्जिकाविद्या सब कार्योंको सिद्ध करनेवाली मानी गयी है॥ ६॥

अब उन मन्त्रोंका वर्णन किया जायगा, जिनका उपदेश भगवान् शंकरने स्कन्दको दिया था॥ ७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'त्वरिता आदि नाना मन्त्रोंका तथा कुब्जिका-विद्याका वर्णन' नामक तीन सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१६॥

तीन सौ सत्रहवाँ अध्याय

सकलादि मन्त्रोंके उद्धारका क्रम

भगवान् शिव कहते हैं—स्कन्द! सकल, निष्कल, शून्य, कलाढ्य, समलंकृत, क्षपण, क्षय, अन्तःस्थ, कण्ठोष्ठ तथा आठवाँ शिव—'ये प्रासादपरासंज्ञक[2] मन्त्रके आठ स्वरूप माने गये हैं। ('कलाढ्य' सकलके और 'शून्य' निष्कलके अन्तर्गत है।) यह शब्दमय मन्त्र साक्षात् सदाशिवरूप

---

१. यह मन्त्र अग्निपुराणकी विभिन्न पोथियोंमें विभिन्न रूपसे छपा है। कोई भी शुद्ध नहीं है, अतः 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' (अष्टम श्वास)-में जो इसका शुद्ध पाठ मिलता है, वही यहाँ रखा गया है। वहीं इसका विनियोग-वाक्य यों दिया गया है—'अस्य श्रीकुब्जिकामन्त्रस्य रुद्र ऋषिर्गायत्री छन्दः कुब्जिका देवता हसौः बीजं हसखफ्रें शक्तिः हसूं कीलकम्, श्रीविद्याङ्गत्वेन विनियोगः।' पूनावाले अग्निपुराणमें इस मन्त्रका पाठ यों है—'ऐं ह्रीं श्रीं स्फ्रच्यै भगवति अम्बिके कुब्जिके स्फच्यैं स्फं स्फम् ॐ उं उं रण नमो घोरमुखिच्छां छीं किणि किणि बिच्छू स्फों ह्रें श्रीं ह्रीम् ऐं।' यही मन्त्र बहुल पाठान्तरके साथ चौखम्बावाले संस्करणमें भी है। दोनों जगहका पाठ अशुद्ध ही है। पिछले १४३, १४४ अध्यायोंमें भी कुब्जिकाका प्रसङ्ग द्रष्टव्य है।

२. 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' में 'प्रासादपरा-संज्ञक' मन्त्रका उद्धार प्राप्त होता है। उसके अनुसार इसका स्वरूप है—'हसौं'। यही यदि सादि हो जाय, अर्थात् 'सहौं' के रूपमें लिखा जाय तो 'परा-प्रासाद-मन्त्र' कहलाता है। केवल 'ह्रौं' हो अर्थात् सकारसे संयुक्त न हो तो वह शुद्ध 'प्रासाद-मन्त्र' है।

है। इसके जपसे सम्पूर्ण सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है॥ १-२॥

अमृत, अंशुमान्, इन्द्र, ईश्वर, उग्र, ऊहक्, एकपाद, ऐल, ओज, औषध, अंशुमान् और वशी—ये क्रमशः अकार आदि बारह स्वरोंके वाचक हैं (यथा—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः)। तथा आगे जो शब्द दिये जा रहे हैं, ये ककार आदि अक्षरोंके सूचक हैं। कामदेव, शिखण्डी, गणेश, काल, शंकर, एकनेत्र, द्विनेत्र, त्रिशिख, दीर्घबाहु, एकपाद, अर्धचन्द्र, वलय, योगिनीप्रिय, शक्तीश्वर, महाग्रन्थि, तर्पक, स्थाणु, दन्तुर, निधीश, नन्दि, पद्म, शाकिनीप्रिय, मुखबिम्ब, भीषण, कृतान्त (यम), प्राण, तेजस्वी, शक्र, उदधि, श्रीकण्ठ, सिंह, शशाङ्क, विश्वरूप तथा नारसिंह (क्ष)। विश्वरूप अर्थात् हकारको बारह मात्राओंसे युक्त करके लिखे। (इस प्रकार ये बारह बीज होते हैं, जो अङ्गन्यास एवं करन्यासके उपयोगमें आते हैं।)॥ ३—८॥

विश्वरूप (ह)-को अंशुमान् (अनुस्वार) तथा ओज (ओकार)-से युक्त करके रखा जाय; उसमें शशिबीज (स)-का योग न किया जाय तो **'हों'**—यह प्रथम बीज उद्धृत होता है, जो 'ईशान'से सम्बद्ध है। उपर्युक्त बारह बीजोंमें पाँच ह्रस्वयुक्त बीज माने जाते हैं और छः दीर्घ-बीज। पहली और ग्यारहवीं मात्रामें एक ही **'हं'** बीज बनता है। **'हं हिं हुं हें हों'**—ये पाँच ह्रस्वयुक्त बीज हैं तथा शेष दीर्घयुक्त। ह्रस्व बीजोंमें विलोम-गणनासे **(हों)** प्रथम है। शेष क्रमशः तृतीय, पञ्चम, सप्तम और नवम कहे गये हैं। द्वितीय आदि दीर्घ हैं। तृतीय बीज है—**'हें'**। यह तत्पुरुष-सम्बन्धी बीज है, ऐसा जानो। पाँचवाँ बीज **'हुं'** है, जो दक्षिणदिशावर्ती मुख—'अघोर'का बीज है। सातवाँ बीज है—**'हिं'**। इसे 'वामदेवका बीज' जानना चाहिये। इसके बाद रस (अमृत) संज्ञक मात्रा (अकार)-से युक्त सानुस्वार हकार अर्थात् **'हं'** बीज है; वह उपर्युक्त गणनाक्रमसे नवाँ है और 'सद्योजात'से सम्बद्ध है। इस प्रकार उक्त पाँच बीजोंसे युक्त 'ईशान' आदि मुखोंको 'ब्रह्मपञ्चक' कहा गया है। इनके आदिमें 'प्रणव' तथा अन्तमें **'नमः'** जोड़ दे। 'ईशान' आदि नामोंका चतुर्थ्यन्त प्रयोग करे तो सभी उनके लिये पूजोपयुक्त मन्त्र हो जाते हैं। यथा—'**ॐ हों ईशानाय नमः**।' इत्यादि। इसी प्रकार '**ॐ हं सद्योजाताय नमः**।' यह सद्योजात-देवताका मन्त्र है। द्वितीय, चतुर्थ आदि मात्राएँ दीर्घ हैं, अतः उनका हृदयादि अङ्गोंमें न्यास किया जाता है। द्वितीय बीजको बोलकर हृदय और अङ्ग-मन्त्र **(नमः)** बोलकर हृदयमें न्यास करे। यथा—'**हां हृदयाय नमः, हृदि**।' चतुर्थ बीज 'शिरोमन्त्र' है, जो हकारमें ईश्वर तथा अंशुमान् (ं) जोड़नेसे सम्पन्न होता है। यथा—'**हीं शिरसे स्वाहा, शिरसि**।' विश्वरूप (ह)-में ऊहक (ऊ) तथा अनुस्वार जोड़नेपर छठा बीज **'हूं'** बनता है। उसे 'शिखामन्त्र' जानना चाहिये। यथा—'**हूं शिखायै वषट्, शिखायां हुम्**।' अर्थात् कवचका मन्त्र आठवाँ बीज **'हैं'** है। यथा—'**हैं कवचाय हुम्—बाहुमूलयोः**।' दसवाँ बीज **'हौं'** नेत्र-मन्त्र कहा गया है। यथा—'**हौं नेत्रत्रयाय वौषट्, नेत्रयोः**।' अस्त्र-मन्त्र वशी (विसर्गयुक्त) है। शिखिध्वज! इसे शिवसंज्ञक माना गया है। यथा—'**हः अस्त्राय फट्**।' (इससे चारों ओर तर्जनी और अङ्गुष्ठद्वारा ताली बजाये।) हृदयादि अङ्गोंकी छः जातियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—**नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट्** तथा **फट्**। अब मैं 'प्रासाद-मन्त्र' बताता हूँ। **'हीं हौं हूं'**—ये प्रासादमन्त्रके तीन बीज हैं। इसे 'कुटिल' संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार यह प्रासाद-मन्त्र समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला है। हृदय-

शिखा आदि बीजोंका पूर्वोक्त रीतिसे उद्धार करके फट्कारपर्यन्त सब अङ्गोंका न्यास करना चाहिये। अर्धचन्द्राकार आसन दे। 'भगवान् पशुपति कामपूरक देवता हैं तथा सर्पोंसे विभूषित हैं।' इस प्रकार ध्यान करके महापाशुपतास्त्र[1] मन्त्रका जप करे। यह समस्त शत्रुओंका मर्दन करनेवाला है। यह 'सकल (कलासहित) प्रासाद-मन्त्र'का वर्णन किया गया। अब 'निष्कल-मन्त्र' कहा जाता है॥ ९—१९॥

औषध **(औ)**, विश्वरूप **(ह)**, ग्यारहवीं मात्रा, सूर्यमण्डल (अनुस्वार) इनसे युक्त अर्धचन्द्र (अनुनासिक) एवं नादसे युक्त जो **'हौं'** मन्त्र है। यह 'निष्कल प्रासाद-मन्त्र' है; इसे संज्ञाविहीन 'कुटिल' भी कहते हैं। 'निष्कल प्रासाद-मन्त्र' भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। सदाशिवस्वरूप 'प्रासाद-मन्त्र' ईशानादि पाँच ब्रह्ममूर्तियोंसे युक्त होता है; अतः वह 'पञ्चाङ्ग' या 'साङ्ग' कहा गया है[2]। अंशुमान् (अनुस्वार), विश्वरूप **(ह)** तथा अमृत **(अ)**—इन तीनोंके योगसे व्यक्त हुआ **'हं'** बीज 'शून्य' नामसे अभिहित होता है। (यह **'हिं हुं हें हों'**—इन सबका उपलक्षण है।) ईशान आदि ब्रह्मात्मक अङ्गों (मुखों)-से रहित होनेपर ही उसकी शून्य संज्ञा होती है। ईशानादि मूर्तियाँ इन बीजोंके अमृततरु हैं। इनका पूजन समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाला है॥ २०—२२॥

अंशुमान् (अनुस्वार) युक्त विश्वरूप **(ह)** यदि ऊहक **(ऊ)**-के ऊपर अधिष्ठित हो तो वह **'हूं'** बीज 'कलाढ्य' कहा गया है। वह 'सकल'के ही अन्तर्गत है। सकलके ही पूजन और अङ्गन्यास आदि सदा होते हैं। (इसी तरह जो 'शून्य' कहा गया है, वह 'निष्कल'के ही अन्तर्गत है।) नरसिंह यमराजके ऊपर बैठे हों, अर्थात् क्षकार मकारके ऊपर चढ़ा हो, साथ ही तेजस्वी (र) तथा प्राण (य)-का भी योग हो, फिर ऊपर अंशुमान् (अनुस्वार) हो तथा नीचे ऊहक (दीर्घ ऊकार) हो तो **'क्ष्म्र्यूं'**—यह बीज उद्धृत होता है। इसकी 'समलंकृत' संज्ञा है। यह ऊपर और नीचे भी मात्रासे अलंकृत होनेके कारण 'समलंकृत' कहा गया है। यह भी 'प्रासादपर' नामक मन्त्रका एक भेद है। चन्द्रार्धाकार बिन्दु और नादसे युक्त ब्रह्मा एवं विष्णुके नामोंसे विभूषित क्रमशः उदधि (व) और नरसिंह (क्ष)-को बारह मात्राओंसे भेदित करे। ऐसा करनेपर पूर्ववत् ह्रस्वस्वरोंसे युक्त बीज ईशानादि ब्रह्मात्मक अङ्ग होंगे तथा दीर्घस्वरोंसे युक्त बीजसहित मन्त्र हृदयादि अङ्गोंमें विन्यस्त किये जायँगे[3]॥ २३—२५ $\frac{१}{२}$॥

अब दस बीजरूप प्रणव बताये जाते हैं— ओजको अनुस्वारसे युक्त करके **'ओम्'** इस प्रथम वर्णका उद्धार करे। अंशुमान् और अंशुका योग **'आं'** यह नायकस्वरूप द्वितीय वर्ण है। अंशुमान् और ईश्वर—**'ईं'**—यह तृतीय वर्ण है, जो मुक्ति प्रदान करनेवाला है। अंशु (अनुस्वार)-से आक्रान्त ऊहक अर्थात् **'ॐ'** यह चतुर्थ वर्ण है। सानुस्वार वरुण (व्), प्राण (य्) और तेजस्

१. 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'में महापाशुपतास्त्र-मन्त्र इस प्रकार उद्धृत किया गया है—'ॐ श्लीं इसकलहीं पशुहसकलहीं हूं सकल ह्रीं फट्।'

२. साङ्ग-मन्त्रके बीज ह्रस्व स्वरोंसे भेदित होते हैं। न्यास तथा पूजनके लिये उनका स्वरूप यों समझना चाहिये—'हों ईशानायोर्ध्ववक्त्राय नमः। हें तत्पुरुषाय पूर्ववक्त्राय नमः। हुं अघोराय दक्षिणवक्त्राय नमः। हिं वामदेवाय उत्तरवक्त्राय नमः। हं सद्योजाताय पश्चिमवक्त्राय नमः।'

३. यथा—वों ब्रह्मणे क्षों विष्णवे ईशानाय नमः। वें ब्रह्मणे क्षें विष्णवे तत्पुरुषाय नमः। वुं ब्रह्मणे क्षुं विष्णवे अघोराय नमः। विं ब्रह्मणे क्षिं विष्णवे वामदेवाय नमः। वं ब्रह्मणे क्षं विष्णवे सद्योजाताय नमः। ये पूजनके मन्त्र हैं। अङ्गन्यास—वां ब्रह्मणे क्षां विष्णवे हृदयाय नमः। वीं ब्रह्मणे क्षीं विष्णवे शिरसे स्वाहा। वूं ब्रह्मणे क्षूं विष्णवे शिखायै वषट्। वैं ब्रह्मणे क्षैं विष्णवे कवचाय हुम्। वौं ब्रह्मणे क्षौं विष्णवे नेत्रत्रयाय वौषट्। वः ब्रह्मणे क्षः विष्णवे अस्त्राय फट्।

(र)—अर्थात् '**व्यूं**' इसे पञ्चम बीजाक्षर बताया गया है। तत्पश्चात् सानुस्वार कृतान्त (मकार) अर्थात् '**मं**' यह षष्ठ बीज है। सानुस्वार उदक और प्राण (**व्यं**) सप्तम बीजके रूपमें उद्धृत हुआ है। इन्दुयुक्त पद्म—'**पं**' आठवाँ तथा एकपादयुक्त नन्दीश '**नें**' नवाँ बीज है। अन्तमें प्रथम बीज '**ओम्**'का ही उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार जो दशबीजात्मक मन्त्र है, इसे 'क्षपण' कहा गया है। इसका पहला, तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ तथा नवाँ बीज क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजातस्वरूप है। द्वितीय आदि बीज हृदयादि अङ्गन्यासमें उपयुक्त होते हैं। दसों प्रणवात्मक बीजोंके एक साथ उच्चारणपूर्वक '**अस्त्राय फट्**' बोलकर अस्त्रन्यास[१] करे। ईशानादि मूर्तियोंके अन्तमें '**नमः**' जोड़कर ही बोलना चाहिये, अन्यथा नहीं। द्वितीय बीजसे लेकर नवम बीजतकके जो आठ बीज हैं, वे आठ विद्येश्वररूप हैं। उनके नाम ये हैं— अनन्तेश, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकमूर्ति, एकरूप, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी—ये आठ विद्येश्वर कहे गये हैं। शिखण्डीसे लेकर अनन्तेशपर्यन्त विलोम-क्रमसे बीजमन्त्रोंका सम्बन्ध जोड़ना चाहिये[२]। (यही प्रासाद-मन्त्रका 'क्षय' नामक भेद है।) इस तरह यहाँ मूर्ति-विद्या बतायी गयी॥ २६—३४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सकलादि मन्त्रोंके उद्धारका वर्णन' नामक तीन सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१७॥

तीन सौ अठारहवाँ अध्याय

अन्तःस्थ, कण्ठोष्ठ तथा शिवस्वरूप मन्त्रका वर्णन; अघोरास्त्र-मन्त्रका उद्धार; 'विघ्नमर्द' नामक मण्डल तथा गणपति-पूजनकी विधि

भगवान् शिव कहते हैं— स्कन्द! जिसके ऊपर तेज (**र्**) हो, ऐसे विश्वरूप (**ह्**)-को उद्धृत करके फिर नरसिंह (**क्ष्**)-के नीचे कृतान्त (**म्**) रखे। उसके अन्तमें 'प्रणव' लगा दे। ऐसा कर '**र्ह्क्ष्मों**' बना। इसके बाद ऊहक (**ऊ**), अंशुमान् (ं) तथा विश्व (**ह**)-को संयुक्त करे। इससे '**हूं**' बनेगा। ये दोनों क्रमशः अन्तःस्थ और कण्ठोष्ठ कहे गये हैं। [(**र्**) अन्तःस्थ वर्ण आदिमें होनेसे उस पूरे मन्त्रकी 'अन्तःस्थ' संज्ञा हुई है। दूसरे मन्त्रमें ह्, कण्ठ स्थानीय है और ऊकार ओष्ठस्थानीय; अतः उसे 'कण्ठोष्ठ' नाम दिया गया है।] इनके अन्तमें '**नमः**' जोड़ देनेसे ये दोनों मन्त्र चार अक्षरवाले हो जाते हैं। यथा—'**ॐ र्ह्क्ष्मों नमः। ॐ हूं नमः।**' विश्वरूप (हकार) कारण माना गया है। उसे बारह मात्राओंसे गुणित करे। इन बारहमेंसे पाँच ह्रस्व-बीजोंद्वारा पूर्ववत् 'ईशान' आदि पाँच ब्रह्ममूर्तियोंकी पूजा करे और दीर्घात्मक छः बीजोंद्वारा पहलेकी ही भाँति यहाँ अङ्गन्यासका कार्य सम्पन्न करे॥ १—३॥

[**अब अघोरास्त्र**[३]**-मन्त्रका उद्धार करते हैं**—]

'**ह्रीं**' लिखकर दो बार '**स्फुर-स्फुर**' लिखे।

१. यथा—ओम् ईशानाय नमः। ईं तत्पुरुषाय नमः। व्यं अघोराय नमः। व्यं वामदेवाय नमः। नें सद्योजाताय नमः॥ अङ्गन्यासका क्रम इस प्रकार है—आं हृदयाय नमः। ॐ शिरसे स्वाहा। मं शिखायै वषट्। पं कवचाय हुम्। ओम् नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं आं ईं ॐ व्यं मं व्यं पं नें ओम् अस्त्राय फट्। इसी क्रमसे करन्यास भी कर सकते हैं।

२. यथा—आं शिखण्डिने नमः। ईं श्रीकण्ठाय नमः। ॐ त्रिमूर्तये नमः। व्यं एकरूपाय नमः। मं एकमूर्तये नमः। इत्यादि।

३. अग्निपुराणकी उपलब्ध पुस्तकें लिखावट या छपाईके दोषसे 'अघोरास्त्र-मन्त्र' पूरा व्यक्त नहीं कर पाती हैं। 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र'के अनुसार किंचिन्मात्र संशोधनसे मन्त्र स्पष्ट हो जाता है; अतः यहाँ शुद्ध पाठ दिया गया है।

इसके बाद इन दोनोंके आदिमें '**प्र**' जोड़कर पुनरुल्लेख करे—'**प्रस्फुर प्रस्फुर।**' तत्पश्चात् '**कह**', '**वम**' और '**बन्ध**'—इन तीनों पदोंको दो-दो बार लिखे। फिर दो बार '**घातय**' लिखकर अन्तमें '**हुं फट्**'का उच्चारण करे। (सब जोड़नेपर ऐसा बनता है—'**ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोर घोरतरतनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध बन्ध घातय घातय हुं फट्।**'—इक्यावन अक्षरोंका मन्त्र है।) इस प्रकार 'अघोरास्त्र-मन्त्र' होता है। (इसके विनियोग और न्यास आदिकी विधि 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'के ३०वें श्वासमें द्रष्टव्य है।) अब 'शिव-गायत्री' बतायी जाती है। '**महेशाय विद्महे। महादेवाय धीमहि। तन्नः शिवः प्रचोदयात्।**'—यह 'शिव-गायत्री' (ही पूर्वाध्यायमें कथित प्रासाद-मन्त्रका आठवाँ भेद 'शिव-रूप' है।) सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली है॥ ४—७॥

यात्रामें तथा विजय आदिके कार्यमें पहले गणकी पूजा करनी चाहिये; इससे 'श्री'की प्राप्ति होती है। पहले चौकोर क्षेत्रको सब ओरसे बारह-बारह कोष्ठोंमें विभाजित करे। [ऐसा करनेसे एक सौ चौवालीस पदोंका चतुष्कोण क्षेत्र बनेगा।] मध्यवर्ती चार पदोंमें त्रिकोणकी रचना करके उसके बीचमें तीन दलोंसे युक्त कमल लिखे। उसके पृष्ठभागमें पदिका और वीथीके भागमें तीन दलवाला अश्वयुक्त कमल बनावे। तदनन्तर वसुदेव-पुत्रों (वासुदेव, संकर्षण और गद)-से, जो तीन दलवाले कमलोंसे सुशोभित हैं, पादपट्टिकाका निर्माण करे। उसके ऊपर भागमात्रके प्रमाणसे एक वेदीकी रचना करे। पूर्वादि दिशाओंमें द्वार तथा कोणभागोंमें उपद्वारकी रचना करे। इस प्रकार द्वारों तथा उपद्वारोंसे रचित मण्डल विघ्ननाशक है। मध्यमें जो कमल है, वह आरक्त वर्णका हो। उसके बाहरके कमल भी वैसे ही हों। वीथी श्वेतवर्णकी होनी चाहिये। द्वारोंका रंग अपने इच्छानुसार रख सकते हैं। कर्णिका पीले रंगसे रँगी जायगी तथा केसर भी पीले ही होंगे। यह 'विघ्नमर्द' नामक मण्डल है। इसके मध्यभागमें गणपतिका पूजन करे। नामका आदि अक्षर अनुस्वारसहित बोलकर आदिमें '**ओं**' और अन्तमें '**नमः**' जोड़ दे। (**यथा—ॐ गं गणपतये नमः।**') ह्रस्वान्त बीजोंसे युक्त ईशान-तत्पुरुषादि मन्त्रोंसे ब्रह्ममूर्तियोंका पूजन तथा दीर्घान्त बीजोंसे हृदय, सिर आदि अङ्गोंमें न्यास करे। उपर्युक्त मण्डलकी पूर्वदिशागत पङ्क्तिमें गज, गजशीर्ष (गजानन), गाङ्गेय, गणनायक, गगनग तथा गोपति—इन नामोंका उल्लेख करे। इनमेंसे अन्तिम दो नामोंकी तीन आवृत्तियाँ होंगी। (इस प्रकार ये दस नाम दस कोष्ठोंमें लिखे जायँगे और किनारेके एक-एक कोष्ठ खाली रहेंगे, जो दक्षिण-उत्तरकी नामावलीसे भरेंगे।)॥ ८—१५॥

विचित्रांश, महाकाय, लम्बोष्ठ, लम्बकर्ण, लम्बोदर, महाभाग, विकृत (विकट), पार्वती-प्रिय, भयावह, भद्र, भगण और भयसूदन—ये बारह नाम दक्षिण दिशाकी पङ्क्तिमें लिखे। पश्चिममें देवत्रास, महानाद, भासुर, विघ्नराज, गणाधिप, उद्भटस्वन, उद्भटशुण्ड, महाशुण्ड, भीम, मन्मथ, मधुसूदन तथा सुन्दर और भावपुष्ट—ये नाम लिखे। फिर उत्तर दिशामें ब्रह्मेश्वर, ब्राह्म-मनोवृत्ति, संलय, लय, नृत्यप्रिय, लोल, विकर्ण, वत्सल, कृतान्त, कालदण्ड तथा कुम्भका पूर्ववत् उल्लेख करके इन सबका यजन करे॥ १६—२०॥

पूर्वोक्त मन्त्रका दस हजार जप और उसके दशांशसे होम करे। शेष नाम-मन्त्रोंका दस-दस बार जप करके उनके लिये एक-एक बार

आहुति दे। तत्पश्चात् पूर्णाहुति देकर अभिषेक करे। इससे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होता है। साधक भूमि, गौ, अश्व, हाथी तथा वस्त्र आदि देकर गुरुदेवकी पूजा करे॥ २१-२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गणपति-पूजनके विधानका कथन' नामक तीन सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१८॥

तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय

वागीश्वरीकी पूजा एवं मन्त्र आदि

भगवान् शिव कहते हैं— स्कन्द! अब मैं मण्डलसहित 'वागीश्वरी-पूजन'की विधि बता रहा हूँ। ऊहक (ऊ)-को काल (घ)-से संयुक्त करके उसका चन्द्रमा (अनुस्वार)-से योग करें तो वह एकाक्षर मन्त्र बनेगा (घूं)। निषादपर ईश्वर (ई)-का योग करके उसे बिन्दु-विसर्गसे समन्वित करे। इस एकाक्षर मन्त्रका उपदेश सबको नहीं देना चाहिये। वागीश्वरीदेवीका ध्यान इस प्रकार करे—'देवीकी अङ्गकान्ति कुन्दकुसुम तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल है। वे पचास वर्णोंका मालामय रूप धारण करती हैं। मुक्ताकी माला तथा श्वेतपुष्पके हारोंसे सुशोभित हैं। उनके चार हाथोंमें क्रमशः वरद, अभय, अक्षमाला तथा पुस्तक शोभा पाते हैं। वे तीन नेत्रोंसे युक्त हैं।' इस प्रकार ध्यान करके उक्त एकाक्षर-मन्त्रका एक लाख जप करे। 'देवी पैरोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त अथवा कंधोंतक ककारसे लेकर क्षकारतककी वर्णमाला धारण करती हैं'—इस प्रकार उनके स्वरूपका स्मरण करे॥ १—४॥

गुरु दीक्षा देने या मन्त्रोपदेश करनेके लिये एक मण्डल बनाये। वह सूर्याग्र हो और इन्दुसे विभक्त हो। दो भागोंमें कमल बनाये। वह कमल साधकके लिये हितकर होता है। फिर वीथी और पाया बनाये। चार पदोंमें आठ कमल बनाये। उनके बाह्यभागमें वीथी और पदिकाका निर्माण करे। दो-दो पदोंद्वारा प्रत्येक दिशामें द्वार बनाये। इसी तरह उपद्वारोंका भी निर्माण करे। कोणोंमें दो-दो पट्टिकाएँ निर्मित करे। अब नौ कमल (वर्णाब्ज तथा दिशाओंसे सम्बद्ध कमल) श्वेतवर्णके रखे। कर्णिकापर सोनेके रंगका चूर्ण गिराकर उसे पीली कर दे। केसरोंको अनेक रंगोंसे रँगकर कोणोंको लाल रंगसे भरे। व्योमरेखान्तर काला रखे द्वारोंका मान इन्द्रके हाथीके मानके अनुसार रखे। मध्यकमलमें सरस्वतीको, पूर्वगत कमलमें वागीशीको, फिर अग्नि आदि कोणोंके क्रमसे हृल्लेखा, चित्रवागीशी, गायत्री, विश्वरूपा, शाङ्करी, मति और धृतिको स्थापित करके उन सबका पूजन करे। नामके आदिमें '**ह्रीं**' तथा नामके आदि अक्षरको बीज-रूपोंमें बोलकर पूजा करनी चाहिये। यथा— पूर्वमें '**ह्रीं वां वागीश्यै नमः**' इत्यादि। सरस्वती ही वागीश्वरीके रूपमें ध्येय हैं। जप पूरा करके कपिला गायके घीसे हवन करे। ऐसा करनेवाला साधक संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओंमें काव्य-रचना करनेवाला कवि होता है और काव्यशास्त्र आदिका विद्वान् हो जाता है॥ ५—११॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'वागीश्वरी-पूजा' नामक तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१९॥

तीन सौ बीसवाँ अध्याय

सर्वतोभद्र आदि मण्डलोंका वर्णन

भगवान् शिव कहते हैं— स्कन्द! अब मैं 'सर्वतोभद्र' नामक आठ प्रकारके मण्डलोंका वर्णन करता हूँ। पहले शङ्कु या कीलसे प्राचीदिशाका साधन करे। इस प्राचीका निश्चय हो जानेपर विद्वान् पुरुष विषुवकालमें चित्रा और स्वाती नक्षत्रके अन्तरसे, अथवा प्रत्यक्ष सूतको लेकर पूर्वसे पश्चिमतक उसे फैलाकर मध्यमें दो कोटियोंको अङ्कित करे। उन दोनोंके मध्यभागसे उत्तर-दक्षिणकी लंबी रेखा खींचे। दो मत्स्योंका निर्माण करे तथा उन्हें दक्षिणसे उत्तरकी ओर आस्फालित करे। क्षतपद क्षेत्रके आधे मानसे कोण सम्पात करे। इस तरह चार बार सूत्रके क्षेत्रमें आस्फालनसे एक चौकोर रेखा बनती है। उसमें चार हाथका शुभ भद्रमण्डल बनाये। आठ पदोंमें सब ओरसे विभक्त चौंसठ पदवालेमेंसे बीस पदवाले क्षेत्रमें बाहरकी ओर एक वीथीका निर्माण करे। यह वीथी एक मन्त्रकी होगी। कमलके मानसे दो पदोंका द्वार बनाये। द्वार कपोलयुक्त होना चाहिये। कोणबन्धके कारण उसकी विचित्र शोभा हो, ऐसा द्विपदका द्वार-निर्माणमें उपयोग करे। कमल श्वेतवर्णका हो, कर्णिका पीतवर्णसे रँगी जाय, केसर चित्रवर्णका हो, अर्थात् उसके निर्माणमें अनेक रंगोंका उपयोग किया जाय। वीथीको लाल रंगसे भरा जाय। द्वार लोकपाल-स्वरूप होता है। नित्य तथा नैमित्तिक विधिमें कोणोंका रंग लाल होना चाहिये। अब कमलका वर्णन सुनो। कमलके दो भेद हैं—'असंसक्त' तथा 'संसक्त'। 'असंसक्त' मोक्षकी तथा संसक्त भोगकी प्राप्ति करानेवाला है। 'असंसक्त' कमल मुमुक्षुओंके लिये उपयुक्त है। संसक्त कमलके तीन भेद हैं—बाल, युवा तथा वृद्ध। वे अपने नामके अनुसार फलसिद्धि प्रदान करनेवाले हैं॥ १—९॥

कमलके क्षेत्रमें दिशा तथा कोणदिशाकी ओर सूत-चालन करे तथा कमलके समान पाँच वृत्त निर्माण करे। प्रथम वृत्तमें नौ पुष्करोंसे युक्त कर्णिका होगी, दूसरेमें चौबीस केसर रहेंगे, तीसरेमें दलोंकी संधि होगी, जिसकी आकृति हाथीके कुम्भस्थलके सदृश होगी, चौथे वृत्तमें दलोंके अग्रभाग होंगे तथा पाँचवें वृत्तमें आकाशमात्र 'शून्य' रहेगा। इसे 'संसक्त कमल' कहा गया है। 'असंसक्त कमल'में दलाग्रभागपर जो दिशाओंके भाग हैं, उनके विस्तारके अनुसार दो भाग छोड़कर आठ भागोंसे दल बनाये। संधि-विस्तारसूत्रसे उसके मानके अनुसार दलकी रचना करे। इसमें बायेंसे दक्षिणके क्रमसे प्रवृत्त होना चाहिये। इस तरह यह 'वृद्ध संसक्त कमल' बनता है॥ १०—१४॥

अथवा संधिके बीचसे सूतको अर्धचन्द्राकार घुमाये या दो संधियोंके अग्रवर्ती सूतको (अर्धचन्द्राकार) घुमाये। ऐसा करनेसे 'बालपद्म' बनता है। संधिसूत्रके अग्रभागसे पृष्ठभागकी ओर सूत घुमाये। वह तीक्ष्ण अग्रभागवाला 'युवा' संज्ञक है। ऐसे कमलसे भोग और मोक्षकी उपलब्धि होती है। सम (छः) मुखवाले स्कन्द! मुक्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले आराधनात्मक कर्ममें 'वृद्ध कमल'का उपयोग करना चाहिये तथा वशीकरण आदिमें 'बालपद्म'का। 'नवनाभ' कमलचक्र नौ हाथोंका होता है। उसमें मन्त्रात्मक नौ भाग होते हैं। उसके मध्यभागमें कमल होता है। उस कमलके ही मानके अनुसार उसमें पट्टिका, वीथी और द्वारके साथ कण्ठ एवं उपकण्ठके निर्माणकी बात भी कही गयी है। उसके बाह्यभागमें वीथीकी स्थिति मानी गयी है।

पाँच भागमें तो वीथी होती है और अपने चारों ओर वह दस भागका स्थान लिये रहती है। उसके आठ दिशाओंमें आठ कमल होते हैं तथा वीथीसहित एक द्वारपद्म भी होता है। उसके बाह्यभागमें पाँच पदोंकी वीथी होती है, जो लता आदिसे विभूषित हुआ करती है। द्वारके कण्ठमें कमल होता है। द्वारका ओष्ठ और कण्ठभाग एक-एक पदका होता है। कपोल-भाग एक पदका बनाना चाहिये। तीन दिशाओंमें तीन द्वार स्पष्ट होते हैं। कोणबन्ध तीन पट्टियों, दो पद तथा वज्र-चिह्नसे युक्त होता है। मध्यकमल शुक्लवर्णका होता है तथा शेष दिशाओंके कमल पूर्वादिक्रमसे पीत, रक्त, नील, पीत, शुक्ल, धूम्र, रक्त तथा पीतवर्णके होते हैं। यह कमलचक्र मुक्तिदायक है॥ १५—२२॥

पूर्व आदि दिशाओंमें आठ कमलोंका तथा शिव-विष्णु आदि देवताओंका यजन करे। विष्णु आदिका पूजन प्रासादके मध्यवर्ती कमलमें करके पूर्वादि कमलोंमें इन्द्र आदि लोकपालोंकी पूजा करे। इनकी बाह्यवीथीकी पूर्वादि दिशामें उन-उन इन्द्र आदि देवताओंके वज्र आदि आयुधोंकी पूजा करे। वहाँ विष्णु आदिकी पूजा करके साधक अश्वमेधयज्ञके फलका भागी होता है। पवित्रारोपण आदिमें महान् मण्डलकी रचना करे। आठ हाथ लंबे क्षेत्रका छब्बीससे विवर्तन (विभाजन) करे। मध्यवर्ती दो पदोंमें कमल-निर्माण करे। तदनन्तर एक पदकी वीथी हो। तत्पश्चात् दिशाओं तथा विदिशाओंमें आठ नीलकमलोंका निर्माण करे। मध्यवर्ती कमलके ही मानसे उसमें कुल तीस पद्म निर्मित किये जायँ। वे सब दलसंधिसे रहित हों तथा नीलवर्णके 'इन्दीवर' संज्ञक कमल हों। उसके पृष्ठभागमें एक पदक वीथी हो। उसके ऊपर स्वस्तिकचिह्न बने हों। तात्पर्य यह कि वीथीके ऊपरी भाग या बाह्यभागमें दो-दो पदोंके विभक्त स्थानोंमें कुल आठ स्वस्तिक लिखे जायँ। तदनन्तर पूर्ववत् बाह्यभागमें वीथिका रहे। द्वार, कमल तथा उपकण्ठ सब कुछ रहने चाहिये। कोणका रंग लाल और वीथीका पीला होना चाहिये। मण्डलके बीचका कमल नीलवर्णका होगा। कार्तिकेय! विचित्र रंगोंसे युक्त स्वस्तिक आदि मण्डल सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है॥ २३—२९ १/२॥

'पञ्चाब्ज-मण्डल' पाँच हाथके क्षेत्रको सब ओरसे दससे विभाजित करके बनाया जाता है। इसमें दो पदोंका कमल, उसके बाह्यभागमें वीथी, फिर पट्टिका, फिर चार दिशाओंमें चार कमल होते हैं। इन चारोंके बाद पृष्ठभागमें वीथी हो, जो एक पद अथवा दो पदोंके स्थानमें बनायी गयी हो। कण्ठ और उपकण्ठसे युक्त द्वार हों और द्वारके मध्यभागमें कमल हो। इस पञ्चाब्ज-मण्डलमें पूर्ववर्ती कमल श्वेत और पीतवर्णका होता है। दक्षिणदिग्वर्ती कमल वैदूर्यमणिके रंगका, पश्चिमवर्ती कमल कुन्दके समान श्वेतवर्णका तथा उत्तरदिशाका कमल शङ्खके सदृश उज्ज्वल होता है। शेष सब विचित्र वर्णके होते हैं॥ ३०—३३॥

अब मैं दस हाथके मण्डलका वर्णन करता हूँ, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है। उसको विकार-संख्या (२४) द्वारा सब ओर विभक्त करके चौकोर क्षेत्र बना ले। इसमें दो-दो पदोंका द्वार होगा। पूर्वोक्त चक्रोंकी भाँति इसके भी मध्यभागमें कमल होगा । अब मैं 'विघ्नध्वंस-चक्र'का वर्णन करता हूँ। चार हाथका पुर (चौकोर क्षेत्र) बनाकर उसके मध्यभागमें दो हाथके घेरेमें वृत्त (गोलाकर चक्र) बनाये। एक हाथकी वीथी होगी, जो सब ओरसे स्वस्तिक-चिह्नोंद्वारा घिरी रहेगी। एक-एक हाथमें चारों ओर द्वार बनेंगे। चारों दिशाओंमें वृत्त होंगे,

जिनमें कमल अङ्कित रहेंगे। इस प्रकार इस चक्रमें पाँच कमल होंगे, जिनका वर्ण श्वेत होगा। मध्यवर्ती कमलमें निष्कल (निराकार परमात्मा)-का पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओंमें हृदय आदि अङ्गोंकी तथा विदिशाओंमें अस्त्रोंकी पूजा होनी चाहिये। पूर्ववत् 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्ममय मुखोंका भी पूजन आवश्यक है॥ ३४—३७॥

अब मैं 'बुद्ध्याधार-चक्र'का वर्णन करता हूँ। सौ पदोंके क्षेत्रमेंसे मध्यवर्ती पंद्रह पदोंमें एक कमल अङ्कित करे। फिर आठ दिशाओंमें एक-एक करके आठ शिवलिङ्गोंकी रचना करे। मेखलाभागसहित कण्ठकी रचना दो पदोंमें होगी। आचार्य अपनी बुद्धिका सहारा लेकर यथास्थान लता आदिकी कल्पना करे। चार, छः, पाँच और आठ आदि कमलोंसे युक्त मण्डल होता है। बीस-तीस आदि कमलोंवाला भी मण्डल होता है। १२१२० कमलोंसे युक्त भी सम्पूर्ण मण्डल हुआ करता है। १२० कमलोंके मण्डलका भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है। श्रीहरि, शिव, देवी तथा सूर्यदेवके १४४० मण्डल हैं। १७ पदोंद्वारा सत्रह पदोंका विभाग करनेपर २८९ पद होते हैं। उक्त पदोंके मण्डलमें लतालिङ्गका उद्भव कैसे होता है, यह सुनो। प्रत्येक दिशामें पाँच, तीन, एक, तीन और पाँच पदोंको मिटा दे। ऊपरके दो पदोंसे लिङ्ग तथा पार्श्ववर्ती दो-दो कोष्ठकोंसे मन्दिर बनेगा। मध्यवर्ती दो पदोंका कमल हो। फिर एक कमल और होगा। लिङ्गके पार्श्वभागोंमें दो 'भद्र' बनेंगे। एक पदका द्वार होगा; उसका लोप नहीं किया जायगा। उस द्वारके पार्श्वभागोंमें छः-छः पदोंका लोप करनेसे द्वारशोभा बनेगी। शेष पदोंमें श्रीहरिके लिये लहलहाती लताएँ होंगी। ऊपरके दो पदोंका लोप करनेसे श्रीहरिके लिये 'भद्राष्टक' बनेंगे। फिर चार पदोंका लोप करनेसे रश्मिमालाओंसे युक्त शोभास्थान बनेगा। पचीस पदोंसे कमल, फिर पीठ, अपीठ तथा दो-दो पदोंको रखकर (एकत्र करके) आठ उपशोभाएँ बनेंगी। देवी आदिका सूचक 'भद्रमण्डल' बीचमें विस्तृत और प्रान्तभागमें लघु होता है। बीचमें नौ पदोंका कमल बनता है तथा चारों कोणोंमें चार 'भद्रमण्डल' बनते हैं। शेष त्रयोदश पदोंका 'बुद्ध्याधार-मण्डल' है। इसमें एक सौ साठ पद होते हैं। 'बुद्ध्याधार-मण्डल' भगवान् शिव आदिकी आराधनाके लिये प्रशस्त है॥ ३८—४८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मण्डलविधानका वर्णन' नामक तीन सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२०॥

तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय

अघोरास्त्र आदि शान्ति-विधानका कथन

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! पहले समस्त कर्मोंमें 'अस्त्रयाग' करना चाहिये। यह सिद्धि प्रदान करनेवाला है। मध्यभागमें शिव, विष्णु आदिके अस्त्रकी पूजा करनी चाहिये तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः इन्द्रादि दिक्पालोंके वज्र आदि अस्त्रोंका पूजन करना चाहिये। भगवान् शंकरके पाँच मुख तथा दस हाथ हैं। उनके इस स्वरूपका ध्यान करते हुए युद्धसे पूर्व पूजा कर ली जाय तो विजयकी प्राप्ति होती है। ग्रहपूजा करते समय नवग्रहचक्रके मध्यमें सूर्यदेवकी तथा पूर्वादि दिशाओंमें सोम आदिकी अर्चना करनी चाहिये। ग्रहोंकी पूजा करनेसे सभी ग्रह एकादश (ग्यारहवें) स्थानमें स्थित होते हैं और उस स्थानमें स्थितकी भाँति उत्तम फल देते हैं॥ १-२ $\frac{1}{2}$ ॥

अब मैं समस्त उत्पातोंका नाश करनेवाली 'अस्त्रशान्ति'का वर्णन करूँगा। यह शान्ति ग्रहरोग आदिको शान्त करनेवाली तथा महामारी एवं शत्रुका मर्दन करनेवाली है। विघ्नकारक गणोंके द्वारा उत्पादित उत्पातको भी शान्त करती है। मनुष्य 'अघोरास्त्र'का जप करे। एक लाख जप करनेसे ग्रहबाधा आदिका निवारण होता है और तिलसे दशांश होम कर दिया जाय तो उत्पातोंका नाश होता है। एक लाख जप-होमसे दिव्य उत्पातका तथा आधे लक्ष जप-होमसे आकाशज उत्पातका विनाश होता है। घीकी एक लाख आहुति देनेसे भूमिज उत्पातके निवारणमें सफलता प्राप्त होती है। घृतमिश्रित गुग्गुलके होमसे सम्पूर्ण उत्पात आदिका शमन हो जाता है। दूर्वा, अक्षत तथा घीकी आहुति देनेसे सारे रोग दूर होते हैं। केवल घीकी एक सहस्र आहुतिसे बुरे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। वही आहुति यदि दस हजारकी संख्यामें दी जाय तो ग्रहदोषका शमन होता है। घृतमिश्रित जौकी दस हजार आहुतियोंसे विनायकजनित पीड़ाका निवारण होता है। दस हजार घीकी आहुतिसे तथा गुग्गुलकी भी दस सहस्र आहुतिसे भूत-वेताल आदिकी शान्ति होती है। यदि कोई बड़ा भारी वृक्ष आँधी आदिसे स्वतः उखड़कर गिर जाय, घरमें सर्पका कङ्काल हो तथा वनमें प्रवेश करना पड़े तो दूर्वा, घी और अक्षतके होमसे विघ्नकी शान्ति होती है। उल्कापात या भूकम्प हो तो तिल और घीसे होम करनेसे कल्याण होता है। वृक्षोंसे रक्त बहे, असमयमें फल-फूल लगें, राष्ट्रभङ्ग हो, मारणकर्म हो, जब मनुष्य-पशु आदिके लिये महामारी आ जाय तो तिलमिश्रित घीसे अर्धलक्ष आहुति देनी चाहिये। इससे दोषोंका शमन होता है। यदि हाथीके लिये महामारी उपस्थित हो, हथिनीके दाँत बढ़ जायँ अथवा हथिनीके गण्डस्थलसे मद फूटकर बहने लगे तो इन सब दोषोंकी शान्तिके लिये दस हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। इससे अवश्य शान्ति होती है॥ ३—१२ $\frac{1}{2}$ ॥

जहाँ असमयमें गर्भपात हो या जहाँ बालक जन्म लेते ही मर जाता हो तथा जिस घरमें विकृत अङ्गवाले शिशु उत्पन्न होते हों तथा जहाँ समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही बालकका जन्म होता हो, वहाँ इन सब दोषोंके शमनके लिये दस हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। सिद्धि-साधनमें तिलमिश्रित घीसे एक लाख हवन किया जाय तो वह उत्तम है, मध्यम सिद्धिके साधनमें अर्धलक्ष और अधम सिद्धिके लिये पचीस हजार आहुति देनी चाहिये। जैसा जप हो, उसके अनुसार ही होम होना चाहिये। इससे संग्राममें विजय प्राप्त होती है। न्यासपूर्वक तेजस्वी पञ्चमुखका ध्यान करके 'अघोरास्त्र'* का जप करना चाहिये॥ १३—१६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अघोरास्त्र आदि विविध शान्तिका कथन' नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२१ ॥

तीन सौ बाईसवाँ अध्याय

पाशुपतास्त्र-मन्त्रद्वारा शान्तिका कथन

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! अब मैं पाशुपतास्त्र-मन्त्रसे शान्ति तथा पूजा आदिकी बात बताऊँगा। शान्ति और जप आदि पूर्ववत् (पूर्व अध्यायमें कहे अनुसार) कर्तव्य हैं। इस

* अघोरास्त्र-मन्त्रको ३१८ वें अध्यायमें स्पष्ट कर दिया गया है।

मन्त्रके आंशिक पाठ या जपसे पूर्वकृत पुण्यका नाश होता है; किंतु फडन्त-सम्पूर्ण मन्त्रका जप आपत्ति आदिका निवारण करनेवाला है॥ १॥

ॐ नमो भगवते महापाशुपतायातुलबलवीर्यपराक्रमाय त्रिपञ्चनयनाय नानारूपाय नानाप्रहरणोद्यताय सर्वाङ्गरक्तायभिन्नाञ्जनचयप्रख्याय श्मशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिकृन्तनरताय सर्वसिद्धिप्रदाय भक्तानुकम्पिनेऽसंख्यवक्त्रभुजपादाय तस्मिन् सिद्धाय वेतालवित्रासिने शाकिनीक्षोभजनकाय व्याधि-निग्रहकारिणे पापभञ्जनाय सूर्यसोमाग्निनेत्राय विष्णुकवचाय खड्गवज्रहस्ताय यमदण्डवरुणपाशाय रुद्रशूलाय ज्वलज्जिह्वाय सर्वरोगविद्रावणाय ग्रहनिग्रहकारिणे दुष्टनागक्षयकारिणे। ॐ कृष्णपिङ्गलाय फट्। हूंकारास्त्राय फट्[१]। वज्रहस्ताय फट्। शक्तये फट्। दण्डाय फट्। यमाय फट्। खड्गाय फट्। नैर्ऋताय फट्। वरुणाय फट्। वज्राय फट्। पाशाय फट्। ध्वजाय फट्। अङ्कुशाय फट्। गदायै फट्। कुबेराय फट्। त्रिशूलाय फट्। मुद्गराय फट्। चक्राय फट्। पद्माय फट्। नागास्त्राय फट्। ईशानाय फट्। खेटकास्त्राय फट्। मुण्डाय फट्। मुण्डास्त्राय फट्। कङ्कालास्त्राय फट्। पिच्छिकास्त्राय फट्। क्षुरिकास्त्राय फट्। ब्रह्मास्त्राय फट्। शक्त्यस्त्राय फट्। गणास्त्राय फट्। सिद्धास्त्राय फट्। पिलिपिच्छास्त्राय फट्। गन्धर्वास्त्राय फट्। पूर्वास्त्राय[२] फट्। दक्षिणास्त्राय फट्। वामास्त्राय फट्। पश्चिमास्त्राय फट्। मन्त्रास्त्राय फट्। शाकिन्यस्त्राय फट्। योगिन्यस्त्राय फट्। दण्डास्त्राय फट्। महादण्डास्त्राय फट्। नमोऽस्त्राय फट्[३]। शिवास्त्राय फट्। ईशानास्त्राय फट्। पुरुषास्त्राय[४] फट्। अघोरास्त्राय[५] फट्। सद्योजातास्त्राय फट्। हृदयास्त्राय फट्। महास्त्राय फट्। गरुडास्त्राय फट्। राक्षसास्त्राय फट्। दानवास्त्राय फट्। क्षौं नरसिंहास्त्राय फट्। त्वष्ट्रस्त्राय फट्। सर्वास्त्राय फट्। नः[६] फट्। वः[७] फट्। पः फट्। फः फट्[८]। मः फट्। श्रीः[९] फट्। पेः[१०] फट्। भूः फट्। भुवः फट्। स्वः फट्। महः फट्। जनः फट्। तपः फट्। सत्यं फट्। सर्वलोक फट्। सर्वपाताल फट्। सर्वतत्त्व[११] फट्। सर्वप्राण फट्। सर्वनाडी फट्। सर्वकारण फट्। सर्वदेव फट्। ह्रीं फट्। श्रीं फट्। हूं[१२] फट्। स्त्रुं फट्[१३]। स्वां[१४] फट्। लां फट्। वैराग्याय फट्। मायास्त्राय फट्। कामास्त्राय फट्। क्षेत्रपालास्त्राय फट्। हुंकारास्त्राय फट्। भास्करास्त्राय फट्। चन्द्रास्त्राय फट्। विघ्नेश्वरास्त्राय फट्। गौः गां फट्। ख्रों ख्रौं फट्। हौं हों[१५] फट्। भ्रामय भ्रामय फट्। संतापय संतापय फट्। छादय छादय फट्। उन्मूलय उन्मूलय फट्। त्रासय त्रासय फट्। संजीवय संजीवय फट्। विद्रावय विद्रावय फट्। सर्वदुरितं नाशय नाशय फट्।

इस पाशुपत-मन्त्रकी एक बार आवृत्ति करनेसे ही यह मनुष्य सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश कर सकता है, सौ आवृत्तियोंसे समस्त उत्पातोंको नष्ट कर सकता है तथा युद्ध आदिमें विजय पा सकता है॥ २॥

इस मन्त्रद्वारा घी और गुग्गुलके होमसे मनुष्य असाध्य कार्योंको भी सिद्ध कर सकता है। इस पाशुपतास्त्र[१६]-मन्त्रके पाठमात्रसे समस्त क्लेशोंकी शान्ति हो जाती है॥ ३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पाशुपतास्त्र-मन्त्रद्वारा शान्तिका कथन' नामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२२॥

---

१. पाठान्तर-क्रूराय फट्। २. पाठा० मूर्वास्त्राय। ३. पाठा० नानास्त्राय फट्। ४. इससे पहले पूनाकी प्रतिमें—महादण्डास्त्राय फट्। नामास्त्राय फट्—इतना अधिक पाठ है। ५. पाठा० वामदेवास्त्राय फट्। ६. पूनाकी प्रतिमें इससे पूर्व 'खः फट्'—इतना अधिक है। ७. पूनाकी प्रतिमें यह नहीं है। ८. पूनाकी प्रतिमें 'भः फट्। पः फट्।' ऐसा पाठ है। ९. पाठा० स्त्रा। १०. पाठा० है। ११. पाठा० सत्त्व। १२. पाठा० हूं। १३. स्तुं। १४. आं। १५. पाठा० ह्रों। १६. 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' (३०वें श्वास)-में तथा 'शारदातिलक' (२०वें पटल)-में एक षडक्षर पाशुपत-मन्त्र भी वर्णित है। यथा—'ॐ श्लीं पशुं हुं फट्।' इसके जप और प्रयोगकी विधि वहीं द्रष्टव्य है।

तीन सौ तेईसवाँ अध्याय

गङ्गा-मन्त्र, शिवमन्त्रराज, चण्डकपालिनी-मन्त्र, क्षेत्रपाल-बीजमन्त्र, सिद्धविद्या, महामृत्युंजय, मृतसंजीवनी, ईशानादि मन्त्र तथा इनके छः अङ्ग एवं अघोरास्त्रका कथन

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! '**ॐ ह्रूं हं सः**'—इस मन्त्रसे मृत्युरोग आदि शान्त हो जाते हैं। इस मन्त्रद्वारा दूर्वाकी एक लाख आहुतियाँ दी जायँ तो उससे साधक शान्ति तथा पुष्टिका भी साधन कर सकता है। षडानन! अथवा केवल प्रणव (**ॐ**) अथवा माया (**ह्रीं**)-के जपसे ही दिव्य, अन्तरिक्षगत तथा भूमिगत उत्पातोंकी शान्ति होती है। उत्पातवृक्षके शमनका भी यही उपाय है॥ १-२॥

(गङ्गा-सम्बन्धी वशीकरणमन्त्र)

'**ॐ नमो भगवति गङ्गे कालि कालि महाकालि महाकालि मांसशोणितभोजने रक्तकृष्णमुखि वशमानय मानुषान् स्वाहा।**'—इस मन्त्रका एक लाख जप करके दशांश आहुति देकर मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंमें सिद्धि पा सकता है। इन्द्र आदि देवताओंको भी वशमें ला सकता है, फिर इन साधारण मनुष्योंको वशमें लाना कौन बड़ी बात है? यह विद्या अन्तर्धानकरी, मोहनी, जृम्भनी, शत्रुओंको वशमें लानेवाली तथा शत्रुकी बुद्धिको मोहमें डाल देनेवाली है। यह कामधेनुविद्या सात प्रकारकी कही गयी है॥ ३—५ $\frac{1}{2}$॥

अब मैं 'मन्त्रराज'का वर्णन करूँगा, जो शत्रुओं तथा चोर आदिको मोह लेनेवाला है। यह साक्षात् शिव (मेरे) द्वारा पूजित है। इसका सभी महान् भयके अवसरोंपर स्मरण करना चाहिये। एक लाख जप करके तिलोंद्वारा हवन करनेसे यह मन्त्र सिद्ध होता है। अब इसका उद्धार सुनो॥ ६-७॥

'**ॐ हले शूले एहि ब्रह्मसत्येन विष्णुसत्येन रुद्रसत्येन रक्ष मां वाचेश्वराय स्वाहा**'॥ ८॥

भगवती शिवा दुर्गम संकटसे तारती—उद्धार करती है, इसलिये 'दुर्गा' मानी गयी है॥ ९॥

'**ॐ ह्रीं चण्डकपालिनि दन्तान् किट किट क्षिट क्षिट गुह्ये फट् ह्रीम्**'॥ १०॥

—इस मन्त्रराजके जपपूर्वक चावल धोकर उसको इस मन्त्रके तीस बार जपद्वारा अभिमन्त्रित करे। फिर वह चावल चोरोंमें बँटवा दे। उस चावलको दाँतोंसे चबानेपर उनके श्वेत दन्त गिर जाते हैं तथा वे मनुष्य चोरीके पापसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाते हैं॥ ११-१२॥

(क्षेत्रपालबलि-मन्त्र)

'**ॐ ज्वलल्लोचन कपिलजटाभारभास्वर विद्रावण त्रैलोक्यडामर डामर दर दर भ्रम भ्रम आकट्ट आकट्ट तोटय तोटय मोटय मोटय दह दह पच पच एवं सिद्धिरुद्रो ज्ञापयति यदि ग्रहोऽपगतः स्वर्गलोकं देवलोकं वाऽऽरामविहाराचलं तथापि तमावर्तयिष्यामि बलिं गृह्ण गृह्ण ददामि ते स्वाहा। इति**'॥ १३॥

—इस मन्त्रसे क्षेत्रपालको बलि देकर न्यास करनेसे अनिष्ट ग्रह रोता हुआ चला जाता है। साधकके शत्रु नष्ट हो जाते हैं तथा रणभूमिमें शत्रु-समुदायका विनाश हो जाता है॥ १४॥

'हंस' बीजका न्यास करके साधक तीन प्रकारके विष अथवा विघ्नका निवारण कर देता है। अगुरु, चन्दन, कुष्ठ (कूट), कुङ्कुम, नागकेसर, नख तथा देवदारु—इन सबको सममात्रामें कूट-पीसकर धूप बना ले। फिर इसमें मधुमक्खीके शहदका योग कर दे। उसकी सुगन्धसे शरीर

तथा वस्त्र आदिको धूपित या वासित करनेसे मनुष्य विवाद, स्त्रीमोहन, शृंगार तथा कलह आदिके अवसरपर शुभ फलका भागी होता है। कन्यावरण तथा भाग्योदय-सम्बन्धी कार्यमें भी उसे सफलता प्राप्त होती है। मायामन्त्र (**ह्रीं**)-से मन्त्रित हो, रोचना, नागकेसर, कुङ्कुम तथा मैनसिलका तिलक ललाटमें लगाकर मनुष्य जिसकी ओर देखता है, वही उसके वशमें हो जाता है। शतावरीके चूर्णको दूधके साथ पीया जाय तो वह पुत्रकी उत्पत्ति करानेवाला होता है। नागकेसरके चूर्णको घीमें पकाकर खाया जाय तो वह भी पुत्रकारक होता है। पलाशके बीजको पीसकर पीनेसे भी पुत्रकी प्राप्ति होती है॥ १५—२०॥

(वशीकरणके लिये सिद्ध-विद्या)

'ॐ उत्तिष्ठ चामुण्डे जम्भय जम्भय मोहय मोहय (अमुकं) वशमानय स्वाहा'॥ २१॥

—यह छब्बीस अक्षरोंवाली 'सिद्ध-विद्या' है। (यदि किसी स्त्रीको वशमें करना हो तो) नदीके तीरकी मिट्टीसे लक्ष्मीजीकी मूर्ति बनाकर धतूरके रससे मदारके पत्तेपर उस अभीष्ट स्त्रीका नाम लिखे। इसके बाद मूत्रोत्सर्ग करनेके पश्चात् शुद्ध हो उक्त मन्त्रका जप करे। यह प्रयोग अभीष्ट स्त्रीको अवश्य वशमें ला सकता है॥ २२-२३॥

(महामृत्युंजय)

'ॐ जूं सः वषट्'॥ २४॥

—यह 'महामृत्युंजय-मन्त्र' है, जो जप तथा होमसे पुष्टिकारक होता है॥ २५॥

(मृतसंजीवनी)

'ॐ हं सः हूं हूं सः, हः सौः'॥ २६॥

—यह आठ अक्षरवाली 'मृतसंजीवनी-विद्या' है, जो रणभूमिमें विजय दिलानेवाली है। 'ईशान' आदि मन्त्र भी धर्म-काम आदिको देनेवाले हैं॥ २७॥

(ईशान आदि मन्त्र)

(ॐ) ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्[1] **॥ २८॥**

(ॐ) तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्[2] **॥ २९॥**

(ॐ) अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः[3] **॥ ३०॥**

(ॐ) वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः[4] **॥ ३१॥**

(ॐ) सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमो भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः[5] **॥ ३२॥**

अब मैं 'पञ्चब्रह्म'के छः अङ्गोंका वर्णन करूँगा, जो भोग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला है॥ ३३॥

ईशान आदि मन्त्रोंके अर्थ—

१. जो सम्पूर्ण विद्याओंके ईश्वर, समस्त भूतोंके अधीश्वर, ब्रह्म वेदके अधिपति, ब्रह्म-बल-वीर्यके प्रतिपालक तथा साक्षात् ब्रह्मा एवं परमात्मा हैं, वे सच्चिदानन्दमय नित्य कल्याणस्वरूप शिव मेरे बने रहें॥ २८॥

२. तत्पदार्थ—परमेश्वररूप अन्तर्यामी पुरुषको हम जानें, उन महादेवका चिन्तन करें; वे भगवान् रुद्र हमें सद्धर्मके लिये प्रेरित करते रहें॥ २९॥

३. जो अघोर हैं, घोर हैं, घोरसे भी घोरतर हैं, उन सर्वव्यापी, सर्वसंहारी रुद्ररूपोंके लिये जो आपके ही स्वरूप हैं,—साक्षात् आपके लिये मेरा नमस्कार हो॥ ३०॥

४. प्रभो! आप ही वामदेव, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, रुद्र, काल, कलविकरण, बलविकरण, बल, बलप्रमथन, सर्वभूतदमन तथा मनोन्मन आदि नामोंसे प्रतिपादित होते हैं; इन सभी नाम-रूपोंमें आपके लिये मेरा बारंबार नमस्कार है॥ ३१॥

५. मैं सद्योजात शिवकी शरण लेता हूँ। सद्योजातको मेरा नमस्कार है। किसी जन्म या जगत्में मेरा अतिभव—पराभव न करें। आप भवोद्भवको मेरा नमस्कार है॥ ३२॥

(ॐ) नमः परमात्मने पराय कामदाय परमेश्वराय योगाय योगसम्भवाय सर्वकराय कुरु कुरु सद्य सद्य भव भव भवोद्भव वामदेव सर्वकार्यकर पापप्रशमन सदाशिव प्रसन्न नमोऽस्तु ते (स्वाहा)॥ ३४॥

—यह सतहत्तर अक्षरोंका हृदय-मन्त्र है, जो सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला है। [कोष्ठकमें दिये गये अक्षरोंको छोड़कर गिननेपर सतहत्तर अक्षर होते हैं।] ॥ ३५ ॥

(इस मन्त्रको पढ़कर '**हृदयाय नमः**' बोलकर हृदयका स्पर्श करना चाहिये।)

'**ॐ शिव शिवाय नमः।**'—यह शिरोमन्त्र है, अर्थात् इसे पढ़कर '**शिरसे स्वाहा**' बोलकर दाहिने हाथसे सिरका स्पर्श करना चाहिये। '**ॐ शिवहृदये ज्वालिनी स्वाहा, शिखायै वषट्**' बोलकर शिखाका स्पर्श करे।

'**ॐ शिवात्मक महातेजः सर्वज्ञ प्रभो संवर्तय महाघोरकवच पिङ्गल आयाहि पिङ्गल नमो महाकवच शिवाज्ञया हृदयं बन्ध बन्ध घूर्णय घूर्णय चूर्णय चूर्णय सूक्ष्मासूक्ष्म वज्रधर वज्रपाशधनुर्वज्राशनिवज्रशरीर मच्छरीरमनुप्रविश्य सर्वदुष्टान् स्तम्भय स्तम्भय हुम्** *'॥ ३६ ॥

—यह एक सौ पाँच अक्षरोंका कवच-मन्त्र है। अर्थात् इसे पढ़कर '**कवचाय हुम्**' बोलते हुए दोनों हाथोंसे एक साथ दोनों भुजाओंका स्पर्श करे॥ ३७॥

'**ॐ ओजसे नेत्रत्रयाय वौषट्**' ऐसा बोलकर दोनों नेत्रोंका स्पर्श करे। इसके बाद निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़कर अस्त्रन्यास करे—'**ॐ ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोरघोरतरतनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध बन्ध घातय घातय हुं फट्।**' यह (प्रणवसहित बावन अक्षरोंका) 'अघोरास्त्र-मन्त्र' है॥ ३८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अनेकविध मन्त्रोंके साथ ईशान आदि मन्त्र तथा छः अङ्गोंसहित अघोरास्त्रका कथन' नामक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२३॥

तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय

कल्पाघोर रुद्रशान्ति

महादेवजी कहते हैं—स्कन्ध! अब मैं 'कल्पाघोर-शिवशान्ति'का वर्णन करता हूँ। भगवान् अघोर शिव सात करोड़ गणोंके अधिपति हैं तथा ब्रह्महत्या आदि पापोंको नष्ट करनेवाले हैं। उत्तम और अधम—सभी सिद्धियोंके आश्रय तथा सम्पूर्ण रोगोंके निवारक हैं। भौम, दिव्य तथा अन्तरिक्ष—सभी उत्पातोंका मर्दन करनेवाले हैं। विष, ग्रह और पिशाचोंको भी अपना ग्रास बना लेनेवाले तथा सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। पापसमूहको पीड़ा देकर दूर भगानेके लिये वे उस प्रबल प्रायश्चित्तके प्रतीक हैं, जो दुर्भाग्य तथा दुःखका विनाशक है॥ १—३॥

'एकवीर'का सर्वाङ्गमें न्यास करके सदा पञ्चमुख शिवका ध्यान करे। (विभिन्न कर्मोंमें उनके विभिन्न शुक्ल-कृष्ण आदि वर्णोंका ध्यान किया जाता है। यथा—) शान्ति तथा पुष्टि-कर्ममें भगवान् शिवका वर्ण शुक्ल है, ऐसा चिन्तन करे। वशीकरणमें उनके रक्तवर्णका, स्तम्भनकर्ममें पीतवर्णका, उच्चाटन तथा मारणकर्ममें धूम्रवर्णका, आकर्षणमें कृष्णवर्णका तथा मोहन-कर्ममें कपिलवर्णका चिन्तन करना चाहिये। (अघोरमन्त्र बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र बताया गया है।) वे बत्तीस अक्षर वेदोक्त अघोरशिवके रूप हैं। अतः उतने अक्षरोंके मन्त्रस्वरूप अघोरशिवकी

* पाठान्तर 'हूम्'।

अर्चना करनी चाहिये। इस मन्त्रका (बत्तीस) या तीस लाख जप करके उसका दशांश होम करे। यह होम गुग्गुलमिश्रित घीसे होना चाहिये। इससे मन्त्र 'सिद्ध' होता और साधक 'सिद्धार्थ' हो जाता है। वह सब कुछ कर सकता है। अघोरसे बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र भोग तथा मोक्ष देनेवाला नहीं है। इसके जपसे अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी होता तथा अस्नातक स्नातक हो जाता है। अघोरास्त्र तथा अघोर-मन्त्र—दोनों मन्त्रराज हैं। इनमेंसे कोई भी मन्त्र जप, होम तथा पूजनसे युद्धस्थलमें शत्रुसेनाको रौंद सकता है॥ ४—८॥

अब मैं कल्याणमयी 'रुद्रशान्ति'का वर्णन करता हूँ, जो सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली है। पुत्रकी प्राप्ति, ग्रहबाधाके निवारण, विष एवं व्याधिके विनाश, दुर्भिक्ष तथा महामारीकी शान्ति, दु:स्वप्ननिवारण, बल आदि तथा राज्य आदिकी प्राप्ति और शत्रुओंके संहारके लिये इस 'रुद्रशान्ति'का प्रयोग करना चाहिये। यदि अपने बगीचेके किसी वृक्षमें असमयमें फल लग जाय तो यह भी अनिष्टकारक है; अत: उसकी शान्तिके लिये तथा समस्त ग्रहबाधाओंका नाश करनेके लिये भी उक्त शान्तिका प्रयोग किया जा सकता है। पूजन-कर्ममें मन्त्रके अन्तमें '**नमः**' बोलना चाहिये तथा हवन-कर्ममें '**स्वाहा**'। आप्यायन (तृप्ति)-में मन्त्रान्तमें '**वषट्**' पदका प्रयोग करे और पुष्टि-कर्ममें '**वौषट्**' पदका। मन्त्रमें जो दो जगह 'च'का प्रयोग है, वहाँ आवश्यकताके अनुसार '**नमः**', '**स्वाहा**' आदि जातिका योग करना चाहिये॥ ९—१२॥

रुद्रशान्ति-मन्त्र

ॐ रुद्राय च ते ॐ वृषभाय नमोऽविमुक्ताया-सम्भवाय पुरुषाय च पूज्यायेशानाय पौरुषाय पञ्च पञ्चोत्तरे विश्वरूपाय करालाय विकृतरूपायाविकृतरूपाय॥ १३॥

उत्तरवर्ती कमलदलमें नियतितत्त्वकी स्थिति है, जल (वरुण)-की दिशा पश्चिमके कमलदलमें कालतत्त्व है और नैर्ऋत्यकोणवर्ती दलमें मायातत्त्व अवस्थित है; उन सबमें देवताओंकी पूजा होती है। '**एकपिङ्गलाय श्वेतपिङ्गलाय कृष्णपिङ्गलाय नमः। मधुपिङ्गलाय नमः—मधुपिङ्गलाय।**'— इन सबकी पूजा नियतितत्त्वमें होती है। '**अनन्तायार्द्राय शुष्काय पयोगणाय (नमः)।**'— इनकी पूजा कालतत्त्वमें करे। '**करालाय विकरालाय (नमः)।**' — इन दोकी पूजा मायातत्त्वमें करे। '**सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय सहस्रकरचरणाय सहस्रलिङ्गाय (नमः)।**'— इनकी अर्चना विद्यातत्त्वमें करे। वह इन्द्रसे दक्षिण दिशाके दलमें स्थित है। वहीं छ: पदोंसे युक्त षड्विध रुद्रका पूजन करे। यथा—'**एकजटाय द्विजटाय त्रिजटाय स्वाहाकाराय स्वधाकाराय वषट्काराय षड्रुद्राय।**' स्कन्द! अग्निकोणवर्ती दलमें ईशतत्त्वकी स्थिति है। उसमें क्रमश: '**भूतपतये पशुपतये उमापतये कालाधिपतये (नमः)।**' बोलकर भूतपति आदिकी पूजा करे। पूर्ववर्ती दल सदाशिव-तत्त्वमें छ: पूजनीयोंकी स्थिति है, जिनका निम्नाङ्कित मन्त्रमें नामोल्लेख है। यथा—'**उमायै कुरूपधारिणि ॐ कुरु कुरु रुहिणि रुहिणि रुद्रोऽसि देवानां देवदेव विशाख हन हन दह दह पच पच मथ मथ तुरु तुरु अरु अरु मुरु मुरु रुद्रशान्तिमनुस्मर कृष्णपिङ्गल अकाल-पिशाचाधिपति विद्येश्वराय नमः।**' कमलकी कर्णिकामें शिवतत्त्वकी स्थिति है। उसमें भगवान् उमा-महेश्वर पूजनीय हैं। मन्त्र इस प्रकार है— '**ॐ व्योमव्यापिने व्योमरूपाय सर्वव्यापिने शिवायानन्ताय नाथायानाश्रिताय शिवाय**' (प्रणवको अलग गिननेपर इस मन्त्रमें कुल नौ पद हैं)—शिवतत्त्वमें व्योमव्यापी नामवाले शिवके नौ पदोंका पूजन करना चाहिये॥ १४—२४॥

तदनन्तर योगपीठपर विराजमान शिवका नौ

पदोंसे युक्त नाम बोलकर पूजन करे। मन्त्र इस प्रकार है—'**शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्ययोगिने ध्यानाहाराय नमः। ॐ नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवाय ईशानमूर्धाय तत्पुरुषाय पञ्चवक्त्राय।**' स्कन्द! तत्पश्चात् 'सद्' नामक पूर्वदलमें नौ पदोंसे युक्त शिवका पूजन करे॥ २५-२६॥

'**अघोरहृदयाय वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्तये ॐ नमो नमः। गुह्यातिगुह्याय गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वयोगाधिकृताय ज्योतीरूपाय**'॥ २७। १॥

अग्निकोणवर्ती ईशतत्त्वमें तथा दक्षिणदिशावर्ती विद्यातत्त्वमें '**परमेश्वराय अचेतनाचेतन व्योमन् व्यापिन्नरूपिन् प्रमथतेजस्तेजः।**'—इस मन्त्रसे परमेश्वर शिवकी अर्चना करे॥ २७। २॥

नैर्ऋत्यकोणवर्ती मायातत्त्व तथा पश्चिमदिग्वर्ती कालतत्त्वमें निम्नाङ्कित मन्त्रद्वारा पूजन करे—

'**ॐ धृ धृ वां वां अनिधान निधनोद्भव शिव सर्व परमात्मन् महादेव सद्भावेश्वर महातेज योगाधिपते मुञ्च मुञ्च प्रमथ प्रमथ ॐ सर्व सर्व ॐ भव भव ॐ भवोद्भव सर्वभूतसुखप्रद॥**' २८—३०॥

वायुकोण तथा उत्तरवर्ती दलोंमें स्थित नियति एवं पुरुष—इन दोनों तत्त्वोंमें निम्नाङ्कित नौकी पूजा करे—

'**सर्वासांनिध्यकर ब्रह्मविष्णुरुद्रपरानर्चितास्तुत स्तुत साक्षिन् साक्षिन् तुरु तुरु पतङ्ग पतङ्ग पिङ्ग पिङ्ग ज्ञान ज्ञान। शब्द शब्द सूक्ष्म सूक्ष्म शिव शिव सर्वप्रद सर्वप्रद ॐ नमः शिवाय ॐ नमो नमः शिवाय ॐ नमो नमः**'॥ ३१॥

ईशानवर्ती प्राकृततत्त्वमें 'शब्द'से लेकर '**नमः**' तकका मन्त्र पढ़कर पूजन, जप और होम करे। यह 'रुद्रशान्ति' ग्रहबाधा, रोग आदि तथा त्रिविध पीडाका शमन करनेवाली तथा सम्पूर्ण मनोरथोंकी साधिका है॥ ३२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रुद्रशान्ति-विधान-कथन' नामक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२४॥

तीन सौ पचीसवाँ अध्याय

रुद्राक्ष-धारण, मन्त्रोंकी सिद्धादि संज्ञा तथा अंश आदिका विचार

महादेवजी कहते हैं— स्कन्द! शैव-साधकको रुद्राक्षका कड़ा धारण करना चाहिये। रुद्राक्षोंकी संख्या विषम हो। उसका प्रत्येक मनका सब ओरसे सम और दृढ़ हो। रुद्राक्ष एकमुख, त्रिमुख या पञ्चमुख—जैसा भी मिल जाय, धारण करे। द्विमुख, चतुर्मुख तथा षण्मुख रुद्राक्ष भी प्रशस्त माना गया है। उसमें कोई क्षति या आघात न हो—वह फूटा या घुना न होना चाहिये। उसमें तीखे कण्टक होने चाहिये। दाहिनी बाँह तथा शिखा आदिमें चतुर्मुख रुद्राक्ष धारण करे। इससे अब्रह्मचारी भी ब्रह्मचारी तथा अस्नातक पुरुष भी स्नातक हो जाता है। अथवा शिव-मन्त्रकी पूजा करके सोनेकी अँगूठीको दाहिने हाथमें धारण करे॥ १—३॥

शिव, शिखा, ज्योति तथा सावित्र—ये चार 'गोचर' हैं। 'गोचर'का अर्थ 'कुल' समझना चाहिये। उसीसे दीक्षित पुरुषको लक्ष्य करना चाहिये। शिवकुलमें प्राजापत्य, महीपाल, कापोत तथा ग्रन्थिक—ये चार गिने जाते हैं। कुटिल, वेताल, पद्म और हंस—ये चार 'शिखाकुल'में परिगणित होते हैं। धृतराष्ट्र, वक, काक और गोपाल—ये चार 'ज्योति' नामक कुलमें समझे जाते हैं। कुटिका, साठर, गुटिका तथा दण्डी—ये चार 'सावित्री-कुल'में गिने जाते हैं। इस प्रकार एक-एक कुलके चार-चार भेद हैं॥ ४—६½॥

अब मैं 'सिद्ध' आदि अंशोंकी व्याख्या

करता हूँ, जिससे मन्त्र उत्तम सिद्धिको देनेवाला होता है। पृथ्वीपर कूटयन्त्ररहित मातृका (अक्षर) लिखे। मन्त्राक्षरोंको विलग-विलग करके अनुस्वारको पृथक् ले जाय। साधकका भी जो नाम हो, उसके अक्षरोंको अलग-अलग करे। मन्त्रके आदि और अन्तमें साधकके नामाक्षर जोड़े। फिर सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा अरि—इस संज्ञाके अनुसार अक्षरोंको क्रमशः गिने। मन्त्रके आदि तथा अन्तमें 'सिद्ध' हो तो वह शत-प्रतिशत सिद्धिदायक होता है। यदि आदि और अन्त दोनोंमें 'सिद्ध' (अक्षर) हों तो उस मन्त्रकी तत्काल सिद्धि होती है। यदि आदि और अन्तमें भी 'सुसिद्ध' हो तो उस मन्त्रको सिद्धवत् मान ले—वह मन्त्र अनायास ही सिद्ध हो गया—ऐसा समझ ले। यदि आदि और अन्त—दोनोंमें 'अरि' हो तो उस मन्त्रको दूरसे ही त्याग दे। 'सिद्ध' और 'सुसिद्ध'—एकार्थक हैं। 'अरि' और 'साध्य' भी एकसे ही हैं। यदि मन्त्रके आदि और अन्त अक्षरमें भी मन्त्र 'सिद्ध' हो और बीचमें सहस्रों 'रिपु'-अक्षर हों तो भी वे दोषकारक नहीं होते हैं। मायाबीज, प्रसादबीज और प्रणवके योगसे विख्यात मन्त्रमें अंशक होते हैं। वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रके अंश हैं। ब्रह्माका अंश 'ब्रह्मविद्या' कहलाता है। विष्णुका अंश 'वैष्णव' कहा गया है। रुद्रांशक मन्त्र 'वीर' कहलाता है। इन्द्रांशक मन्त्र 'ईश्वरप्रिय' होता है। नागांश-मन्त्र नागोंकी भाँति स्तब्ध नेत्रवाला माना गया है। यक्षके अंशका मन्त्र 'भूषणप्रिय' होता है। गन्धर्वोंके अंशका मन्त्र अत्यन्त गीत आदि चाहता है। भीमांश, राक्षसांश तथा दैत्यांश-मन्त्र युद्ध करानेवाला होता है। विद्याधरोंके अंशका मन्त्र अभिमानी होता है। पिशाचांश मन्त्र मलाक्रान्त होता है। मन्त्रका पूर्णतः निरीक्षण करके उपदेश देना चाहिये। एकाक्षरसे लेकर अनेक अक्षरोंतकके मन्त्रके अन्तमें यदि 'फट्'—यह पल्लव जुड़ा हो तो उसे 'मन्त्र' कहना चाहिये। पचास अक्षरोंतकके (फट्काररहित) मन्त्रकी 'विद्या' संज्ञा है। बीस अक्षरोंतककी विद्याको 'बाला विद्या' कहते हैं। बीस अक्षरोंतकके 'अस्त्रान्त' मन्त्रको 'रुद्रा' कहा गया है। इससे ऊपर तीन सौ अक्षरोंतकके मन्त्र 'वृद्ध' कहे जाते हैं। अकारसे लेकर हकारतकके अक्षर मन्त्रमें होते हैं। मन्त्रमें क्रमशः शुक्ल और कृष्ण—दो पक्ष होते हैं। अनुस्वार और विसर्गको छोड़कर दस स्वर होते हैं। ह्रस्वस्वर शुक्लपक्ष तथा दीर्घस्वर कृष्णपक्ष हैं। ये ही प्रतिपदा आदि तिथियाँ हैं। उदयकालमें शान्तिक आदि कर्म करावे तथा भ्रमितकालमें वशीकरण आदि। भ्रमितकाल एवं दोनों संध्याओंमें द्वेषण तथा उच्चाटन-सम्बन्धी कर्म करे। स्तम्भनकर्मके लिये सूर्यास्तकाल प्रशस्त है। इडा नाड़ी चलती हो तो शान्तिक आदि कर्म करे। पिङ्गला नाड़ी चलती हो तो आकर्षण-सम्बन्धी कार्य करे। विषुवकालमें जब दोनों नाड़ियाँ समान भावसे स्थित हों, तब मारण, उच्चाटन आदि पाँच कर्म पृथक्-पृथक् सिद्ध करे। तीन तल्ले गृहमें नीचेके तल्लेको 'पृथ्वी', बीचवालेको 'जल' तथा ऊपरवालेको 'तेज' कहते हैं। जहाँ-जहाँ रन्ध्र (छिद्र या गवाक्ष) है, वहाँ बाह्यपार्श्वमें वायु और भीतरी पार्श्वमें आकाश है। पार्थिव अंशमें स्तम्भन, जलीय अंशमें शान्तिकर्म तथा तैजस अंशमें वशीकरण आदि कर्म करे। वायुमें भ्रमण तथा शून्य (आकाश)-में पुण्यकर्म या पुण्यकालका अभ्यास करे॥ ७—२३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अंशक आदिका कथन' नामक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२५॥

तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय

गौरी आदि देवियों तथा मृत्युंजयकी पूजाका विधान

महादेवजी कहते हैं—स्कन्द! अब मैं सौभाग्य आदिके निमित्त उमाकी पूजाका विधान बताऊँगा। उनके मन्त्र, ध्यान, आवरणमण्डल, मुद्रा तथा होमविधिका भी प्रतिपादन करूँगा॥ १॥

'गौं गौरीमूर्तये नमः*।'—यह गौरीदेवीका वाचक मूल मन्त्र है। **'ॐ ह्रीं सः शौं गौर्यै नमः।'** तीन अक्षरसे ही **'नमः'** आदिके योगपूर्वक षडङ्गन्यास करना चाहिये। प्रणवसे आसन और हृदय-मन्त्रसे मूर्तिकी उपकल्पना करे। 'ऊ' कालबीज तथा शिवबीजका उद्धार करे। दीर्घस्वरसे आक्रान्त प्राण—**'यां यीं'** इत्यादिसे जातियुक्त षडङ्गन्यास करे। प्रणवसे आसन तथा हृदय-मन्त्रसे मूर्तिन्यास करे। यह मैंने 'यामल-मन्त्र' कहा है। अब 'एकवीर'का वर्णन करता हूँ। सृष्टिन्याससे युक्त व्यापकन्यास अग्नि, माया तथा कृशानुद्वारा करे। शिव-शक्तिमय बीज हृदयादिसे वर्जित है। गौरीकी सोने, चाँदी, लकड़ी अथवा पत्थर आदिकी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करे। अथवा पाँच पिण्डीवाली मृण्मयी प्रतिमा बनाये। चारों कोणोंमें अव्यक्त प्रतिमा रहे और मध्यभागमें पाँचवीं व्यक्त प्रतिमा स्थापित करे। आवरण-देवताओंके रूपमें क्रमशः ललिता आदि शक्तियोंकी पूजा करनी चाहिये। पहले वृत्ताकार अष्टदल कमल बनाकर आग्नेय आदि कोणवर्ती दलोंमें क्रमशः ललिता, सुभगा, गौरी और क्षोभणीकी पूजा करे। फिर पूर्वादि दलोंमें वामा, ज्येष्ठा, क्रिया और ज्ञानाका यजन करे। पीठयुक्त वामभागमें शिवके अव्यक्त रूपकी पूजा करनी चाहिये। देवीका व्यक्त रूप दो या तीन नेत्रोंवाला है। वह शुद्ध रूप भगवान् शंकरके साथ पूजित होता है। वे देवी दो पीठ या दो कमलोंपर स्थित होती हैं। वहाँ देवी दो, चार, आठ अथवा अठारह भुजाओंसे युक्त हैं, ऐसा चिन्तन करे। वे सिंह अथवा भेड़ियेको भी अपना वाहन बनाती हैं। अष्टादशभुजाके दायें नौ हाथोंमें नौ आयुध हैं, जिनके नाम यों हैं—स्रक् (हनू), अक्ष, सूत्र (पाश), कलिका, मुण्ड, उत्पल, पिण्डिका, बाण और धनुष। इनमेंसे एक-एक महान् वस्तु उनके एक-एक हाथकी शोभा बढ़ाते हैं। वामभागके नौ हाथोंमें भी प्रत्येकमें एक-एक करके क्रमशः नौ वस्तुएँ हैं। यथा—पुस्तक, ताम्बूल, दण्ड, अभय, कमण्डलु, गणेशजी, दर्पण, बाण और धनुष॥ २—१४॥

उनको 'व्यक्त' अथवा 'अव्यक्त' मुद्रा दिखानी चाहिये। आसन-समर्पणके लिये 'पद्म-मुद्रा' कही गयी है। भगवान् शिवकी पूजामें 'लिङ्ग-मुद्रा' का विधान है। यही 'शिवमुद्रा' है। 'आवाहनीमुद्रा' दोनोंके लिये है। शक्ति-मुद्रा 'योनि' नामसे कही गयी है। इनका मण्डल या मन्त्र चौकोर है। यह चार हाथ लंबा-चौड़ा हुआ करता है। मध्यवर्ती चार कोष्ठोंमें त्रिदल कमल अङ्कित करना चाहिये। तीनों कोणोंके ऊर्ध्वभागमें अर्धचन्द्र रहे। उसे दो पदों (कोष्ठों)-को लेकर बनाया जाय। एकसे दूसरा दुगुना होना चाहिये। द्वारोंका कण्ठभाग दो-दो पदोंका हो; किंतु उपकण्ठ उससे दुगुना रहना चाहिये। एक-एक दिशामें तीन-तीन द्वार रखने चाहिये अथवा 'सर्वतोभद्र' मण्डल बनाकर उसमें पूजन करना चाहिये। अथवा किसी चबूतरे या वेदीपर देवताकी स्थापना करके पञ्चगव्य तथा पञ्चामृत आदिसे पूजन करे॥ १५—१८॥

पूजन करके उत्तराभिमुख हो उन्हें लाल रंगके फूल अर्पण करने चाहिये। घृत आदिकी

* 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र'में इसी मन्त्रको 'गौरीमन्त्र' कहा है। यहाँ मूलमें जो बीज दिये गये हैं, उनका उल्लेख वहाँ नहीं मिलता है।

सौ आहुतियाँ देकर पूर्णाहुति प्रदान करनेवाला साधक सम्पूर्ण सिद्धियोंका भागी होता है। फिर बलि अर्पित करके तीन या आठ कुमारियोंको भोजन करावे। पूजाका नैवेद्य शिवभक्तोंको दे, स्वयं अपने उपयोगमें न ले। इस प्रकार अनुष्ठान करके कन्या चाहनेवालेको कन्या और पुत्रहीनको पुत्रकी प्राप्ति होती है। दुर्भाग्यवाली स्त्री सौभाग्यशालिनी होती है। राजाको युद्धमें विजय तथा राज्यकी प्राप्ति होती है। आठ लाख जप करनेसे वाक्सिद्धि प्राप्त होती है तथा देवगण वशमें हो जाते हैं। इष्टदेवको निवेदन किये बिना भोजन न करे। बायें हाथसे भी अर्चना कर सकते हैं। विशेषत: अष्टमी, चतुर्दशी तथा तृतीयाको ऐसा करनेकी विधि है॥ १९—२२ $\frac{1}{2}$ ॥

अब मैं मृत्युंजयकी पूजाका वर्णन करूँगा। कलशमें उनकी पूजा करे। हवनमें प्रणव मृत्युंजयकी मूर्ति है और '**ओं जूं सः।**'—इस प्रकार मूलमन्त्र है। '**ओं जूं सः वौषट्।**'—ऐसा कहकर अर्चनीय देवता मृत्युंजयको कुम्भमुद्रा दिखावे। इस मन्त्रका दस हजार बार जप करे तथा खीर, दूर्वा, घृत, अमृता (गुडुची), पुनर्नवा (गदहपूर्ना), पायस (पय:पक्व वस्तु) और पुरोडाशका हवन करे। भगवान् मृत्युंजयके चार मुख और चार भुजाएँ हैं। वे अपने दो हाथोंमें कलश और दो हाथोंमें वरद एवं अभयमुद्रा धारण करते हैं। कुम्भमुद्रासे उन्हें स्नान कराना चाहिये। इससे आरोग्य, ऐश्वर्य तथा दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित औषध शुभकारक होता है। भगवान् मृत्युंजय ध्यान किये जानेपर दुर्मृत्युको दूर करनेवाले हैं, इसलिये उनकी सदा पूजा होती है॥ २३—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गौरी आदिकी पूजाका वर्णन' नामक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२६॥

तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय

विभिन्न कर्मोंमें उपयुक्त माला, अनेकानेक मन्त्र, लिङ्ग-पूजा तथा देवालयकी महत्ताका विचार

भगवान् महेश्वर कहते हैं— कार्तिकेय! व्रतेश्वर और सत्य आदि देवताओंका पूजन करके उनको व्रतका समर्पण करना चाहिये। अरिष्ट-शान्तिके लिये अरिष्टमूलकी माला उत्तम है। कल्याणप्राप्तिके लिये सुवर्ण एवं रत्नमयी, मारणकर्ममें महाशङ्खमयी, शान्तिकर्ममें शङ्खमयी और पुत्रप्राप्तिके लिये मौक्तिकमयी मालासे जप करे। स्फटिकमणिकी माला कोष-सम्पत्ति देनेवाली और रुद्राक्षकी माला मुक्तिदायिनी है। उसमें आँवलेके बराबर रुद्राक्ष उत्तम माना गया है। मेरुसहित या मेरुहीन माला भी जपमें ग्राह्य हैं। मानसिक जप करते समय मालाके मणियोंको अनामिका और अङ्गुष्ठसे सरकाना चाहिये। उपांशु जपमें तर्जनी और अङ्गुष्ठके संयोगसे मणियोंकी गणना करे; किंतु जपमें मेरुका कभी उल्लङ्घन न करे। यदि प्रमादवश माला गिर जाय, तो दो सौ बार मन्त्रजप करे। घण्टा सर्ववाद्यमय है। उसका वादन अर्थ-सिद्धि करनेवाला है। गृह और मन्दिरमें शिवलिङ्गकी, गोमय, गोमूत्र, वल्मीक-मृत्तिका, भस्म और जलसे शुद्धि करनी चाहिये॥ १—६॥

कार्तिकेय! '**ॐ नमः शिवाय**'—यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थोंको सिद्ध करनेवाला है। वेदमें 'पञ्चाक्षर' और लोकमें 'षडक्षर' माना गया है। परम अक्षर ओंकारमें शिव सूक्ष्म वटबीजमें वटवृक्षके समान स्थित हैं। शिवके क्रमशः '**ॐ नमः शिवाय**'—'**ईशानः सर्वविद्यानाम्**' आदि

मन्त्र समस्त विद्याओंके समुदाय इस षडक्षर मन्त्रके भाष्य हैं। **'ॐ नमः शिवाय'**—यह मन्त्र ही परमपद है। इसी मन्त्रसे शिवलिङ्गका पूजन करना चाहिये; क्योंकि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्रदान करनेवाले भगवान् शिव सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये लिङ्गमें प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य शिवलिङ्गका पूजन नहीं करता है, वह धर्मकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है। लिङ्गपूजनसे भोग और मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये जीवनपर्यन्त शिवलिङ्गका पूजन करे। भले ही प्राण चले जायँ, किंतु उसका पूजन किये बिना भोजन न करे। मनुष्य रुद्रके पूजनसे रुद्र, श्रीविष्णुके यजनसे विष्णु, सूर्यकी पूजा करनेसे सूर्य और शक्तिकी अर्चनासे शक्तिका सारूप्य प्राप्त करता है। उसे सम्पूर्ण यज्ञ, तप, दानकी प्राप्ति होती है। मनुष्य लिङ्गकी स्थापना करके उससे करोड़गुना फल प्राप्त करता है। जो मनुष्य प्रतिदिन तीनों समय पार्थिव-लिङ्गका निर्माण करके बिल्वपत्रोंसे उसका पूजन करता है, वह अपनी एक सौ ग्यारह पीढ़ियोंका उद्धार करके स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। अपने धनसंचयके अनुसार भक्तिपूर्वक देवमन्दिर निर्माण कराना चाहिये। दरिद्र और धनिकको मन्दिर-निर्माणमें यथाशक्ति अल्प या अधिक व्यय करनेके समान फल मिलता है। संचित धनके दो भाग धर्मकार्यमें व्यय करके जीवन-निर्वाहके लिये समभाग रखें; क्योंकि जीवन अनित्य है। देवमन्दिर बनवानेवाला अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति करता है। मिट्टी, लकड़ी, ईंट और पत्थरसे मन्दिर-निर्माणका क्रमशः करोड़गुना फल है। आठ ईंटोंसे भी मन्दिरका निर्माण करनेवाला स्वर्गलोकको प्राप्त हो जाता है। क्रीडामें धूलिका मन्दिर बनानेवाला भी अभीष्ट मनोरथको प्राप्त करता है॥ ७—११॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'देवालय-माहात्म्य-वर्णन' नामक तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२७॥

तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय

छन्दोंके गण और गुरु-लघुकी व्यवस्था

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं वेदके मूलमन्त्रोंके अनुसार पिङ्गलोक्त छन्दोंका क्रमशः वर्णन करूँगा। मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण और तगण—ये आठ गण होते हैं। सभी गण तीन-तीन अक्षरोंके हैं। इनमें मगणके सभी अक्षर गुरु (ऽऽऽ) और नगणके सब अक्षर लघु (।।।) होते हैं। आदि गुरु (ऽ।।) होनेसे 'भगण' तथा आदि लघु (।ऽऽ) होनेसे 'यगण' होता है। इसी प्रकार अन्त्य गुरु (।।ऽ) होनेसे 'सगण' तथा अन्त्य लघु होनेसे 'तगण' (ऽऽ।) होता है। पादके अन्तमें वर्तमान ह्रस्व अक्षर विकल्पसे गुरु माना जाता है। विसर्ग, अनुस्वार, संयुक्त अक्षर (व्यञ्जन), जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीयसे अव्यवहित पूर्वमें स्थित होनेपर 'ह्रस्व' भी 'गुरु' माना जाता है, दीर्घ तो गुरु है ही। गुरुका संकेत 'ग' और लघुका संकेत 'ल' है। ये 'ग' और 'ल' गण नहीं हैं। 'वसु' शब्द आठकी और 'वेद' चारकी संज्ञा हैं, इत्यादि बातें लोकके अनुसार जाननी चाहिये॥ १—३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दस्सारका कथन' नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२८॥

तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय

गायत्री आदि छन्दोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! (गायत्री छन्दके आठ भेद हैं—आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची तथा ब्राह्मी) 'छन्द' शब्द अधिकारमें प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् इस पूरे प्रकरणमें छन्द-शब्दकी अनुवृत्ति होती है। 'दैवी' गायत्री एक अक्षरकी, 'आसुरी' पंद्रह अक्षरोंकी, 'प्राजापत्या' आठ अक्षरोंकी, 'याजुषी' छः अक्षरोंकी, 'साम्नी' गायत्री बारह अक्षरोंकी तथा 'आर्ची' अठारह अक्षरोंकी है। यदि साम्नी गायत्रीमें क्रमशः दो-दो अक्षर बढ़ाते हुए उन्हें छः कोष्ठोंमें लिखा जाय, इसी प्रकार आर्ची गायत्रीमें तीन-तीन, प्राजापत्या-गायत्रीमें चार-चार तथा अन्य गायत्रियोंमें अर्थात् दैवी और याजुषीमें क्रमशः एक-एक अक्षर बढ़ जाय एवं आसुरी गायत्रीका एक-एक अक्षर क्रमशः छः कोष्ठोंमें घटता जाय तो उन्हें 'साम्नी' आदि भेदसहित क्रमशः उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द जानना चाहिये। याजुषी, साम्नी तथा आर्ची—इन तीन भेदोंवाले गायत्री आदि प्रत्येक छन्दके अक्षरोंको पृथक्-पृथक् जोड़नेपर उन सबको 'ब्राह्मी-गायत्री', 'ब्राह्मी-उष्णिक्' आदि छन्द समझना चाहिये। इसी प्रकार याजुषीके पहले जो दैवी, आसुरी और प्राजापत्या नामक तीन भेद हैं, उनके अक्षरोंको पृथक्-पृथक् छः कोष्ठोंमें जोड़नेपर जितने अक्षर होते हैं, वे 'आर्षी गायत्री', 'आर्षी उष्णिक्' आदि कहलाते हैं। इन भेदोंको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये चौंसठ कोष्ठोंमें लिखना चाहिये॥ १—५॥

(कोष्ठक इस प्रकार है—)

	छन्द	गायत्री के अक्षर	उष्णिक् के अक्षर	अनुष्टुप् के अक्षर	बृहती के अक्षर	पङ्क्ति के अक्षर	त्रिष्टुप् के अक्षर	जगती के अक्षर
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
४	प्राजा-पत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दस्सारका कथन' नामक तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२९॥

तीन सौ तीसवाँ अध्याय

'गायत्री'से लेकर 'जगती' तक छन्दोंके भेद तथा उनके देवता, स्वर, वर्ण और गोत्रका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— इस प्रकरणकी पूर्ति होनेतक '**पादः**' पदका अधिकार (अनुवर्तन) है। जहाँ गायत्री आदि छन्दोंमें किसी पादकी अक्षर-संख्या पूरी न हो, वहाँ '**इय्**', '**उव्**' आदिके द्वारा उसकी पूर्ति की जाती है। (जैसे '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**'में आठ अक्षरकी पूर्तिके लिये '**वरेण्यम्**'के स्थानमें '**वरेणियम्**' समझ लिया जाता है। '**स्वःपते**'के स्थानमें '**सुवःपते**' माना जाता है।) गायत्री छन्दका एक पाद आठ अक्षरोंका होता है। अर्थात् जहाँ 'गायत्रीके

पाद'का कथन हो, वहाँ आठ अक्षर ग्रहण करने चाहिये। [यही बात अन्य छन्दोंके पादोंके सम्बन्धमें भी है।] **'जगती'** छन्दका पाद बारह अक्षरोंका होता है। विराट्के पाद दस अक्षरोंके बताये गये हैं। **'त्रिष्टुप्'** छन्दका चरण ग्यारह अक्षरोंका है। जिस छन्दका जैसा पाद बताया गया है, उसीके अनुसार कोई छन्द एक पादका, कोई दो पादका, कोई तीनका और कोई चार पादका माना गया है। [जैसे आठ अक्षरके तीन पादोंका **'गायत्री'** छन्द और चार पादोंका **'अनुष्टुप्'** होता है।] **'आदि छन्द'** अर्थात् 'गायत्री' कहीं छः अक्षरके पादोंसे चार पादोंकी होती है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीलितः। दुश्च्यवनो वृषा लमत्सु सामहिः॥**'] कहीं-कहीं गायत्री सात अक्षरके पादोंसे तीन पादकी होती है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाम्नाम्॥**' (१।१७।४)] वह सात अक्षरोंवाली गायत्री **'पाद-निचृत्'** संज्ञा धारण करती है। यदि गायत्रीका प्रथम पाद आठ अक्षरोंका, द्वितीय पाद सात अक्षरोंका तथा तृतीय पाद छः अक्षरोंका हो तो वह **'प्रतिष्ठा गायत्री'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥**' (१।२२।२१)] इसके विपरीत यदि गायत्रीका प्रथम पाद छः, द्वितीय पाद सात और तृतीय पाद आठ अक्षरोंका हो तो उसे **'वर्धमाना[1]'** गायत्री कहते हैं। यदि तीन पादोंवाली गायत्रीका प्रथम पाद छः, द्वितीय पाद आठ और तीसरा पाद सात अक्षरोंका हो तो उसका नाम **'अतिपाद[2] निचृत्'** होता है। यदि दो चरण नौ-नौ अक्षरोंके हों और तीसरा चरण छः अक्षरोंका हो तो वह **'नागी'** नामकी गायत्री होती है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामां ओहैः॥**' (४।१०।१)] यदि प्रथम चरण छः अक्षरोंका और द्वितीय-तृतीय नौ-नौ अक्षरोंके हों तो **'वाराही गायत्री'** नामक छन्द होता है। [जैसे सामवेदमें—'**अग्ने मृड महाँ अस्यय आदेवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्॥**' (२३)] अब तीसरे अर्थात् **'विराट्'** नामक भेदको बतलाते हैं। जहाँ दो ही चरणोंका छन्द हो, वहाँ यदि प्रथम चरण बारह और द्वितीय चरण आठ अक्षरका हो तो वह **'द्विपाद् विराट्'** नामक गायत्री छन्द है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो। राजा देवः समुद्रियः॥**' (९।१०७।१६)] ग्यारह अक्षरोंके तीन चरण होनेपर **'त्रिपाद् विराट्'** नामक गायत्री होती है। [उदाहरण ऋग्वेदमें—'**दुहीयन् मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै॥**' (१।१२०।९)]॥ १—४॥

जब दो चरण आठ-आठ अक्षरोंके और एक चरण बारह अक्षरोंका हो तो वेदमें उसे **'उष्णिक्'** नाम दिया गया है। प्रथम और तृतीय चरण आठ अक्षरोंके हों और बीचका द्वितीय चरण बारह अक्षरोंका हो तो वह तीन पादोंका **'ककुप् उष्णिक्'** नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**सुदेवः समहासति सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः। यं त्रायध्वेऽस्यासते[3]॥**' (५।५३।१५)] जब प्रथम चरण बारह अक्षरोंका और द्वितीय-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो **'पुर उष्णिक्'**

१. उदाहरण ऋग्वेदमें—त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ (६।१६।१)

२. ऋग्वेदे यथा—प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्निं रथं न वेद्यम्॥ (८।८४।१)

३. इस मन्त्रमें 'मर्त्य'के स्थानमें व्यूहकी रीतिसे 'मर्तिय' मानने तथा 'अस्यासते'के स्थानमें 'अस्य आसते' इस प्रकार दीर्घ-व्यूह करनेसे पादकी पूर्ति होती है।

नामक तीन पादोंवाला छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः॥**' (१। २३। १९)] जब प्रथम और द्वितीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों और तृतीय चरण बारह अक्षरोंका हो तो '**परोष्णिक्**' छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः**[1]॥' (१। ७९। ४)] सात-सात अक्षरोंके चार चरण होनेपर भी '**उष्णिक्**' नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**नदं व ओदतीनां नदं यो युवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि॥**' (८। ६९। २)]

आठ-आठ अक्षरके चार चरणोंका '**अनुष्टुप्**' नामक छन्द होता है। [जैसे यजुर्वेदमें—'**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥**' (३१। १)] अनुष्टुप् छन्द कहीं-कहीं तीन चरणोंका भी होता है। '**त्रिपाद अनुष्टुप्**' दो तरहके होते हैं। एक तो वह है, जिसके प्रथम चरणमें आठ तथा द्वितीय और तृतीय चरणोंमें बारह-बारह अक्षर होते हैं। दूसरा वह है, जिसका मध्यम अथवा अन्तिम पाद आठ अक्षरका हो तथा शेष दो चरण बारह-बारह अक्षरके हों। आठ अक्षरके मध्यम पादवाले '**त्रिपाद् अनुष्टुप्**'का उदाहरण [जैसे ऋग्वेदमें—'**पर्यूषु प्र धन्व वाजसातय, परि वृत्राणि सक्षणिः। द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे॥**' (९। ११०। १)] तथा आठ अक्षरके अन्तिम चरणवाले '**त्रिपाद् अनुष्टुप्**'का उदाहरण [ऋग्वेदमें—'**मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो मा कुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः। स्तनाभुजो अशिश्वीः॥**' (१। १२०। ८)]

यदि एक चरण 'जगती'का (अर्थात् बारह अक्षरका) हो और शेष तीन चरण गायत्रीके (अर्थात् आठ-आठ अक्षरके) हों तो यह चार चरणोंका '**बृहती छन्द**' होता है। इसमें भी जब पहलेका स्थान तीसरा चरण ले ले अर्थात् वही जगतीका पाद हो और शेष तीन चरण गायत्रीके हों तो उसे '**पथ्या बृहती**' कहते हैं। [जैसे सामवेदमें—'**मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥**' (२४२)] जब पहलेवाला 'जगती'का चरण द्वितीय पाद हो जाय और शेष तीन गायत्रीके चरण हों तो '**न्यङ्कुसारिणी बृहती**' नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः। वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजीसहस्रसातमः॥**' (१। १७५। १)] आचार्य क्रोष्टुकिके मतमें यह (न्यङ्कुसारिणी) 'स्कन्ध' या 'ग्रीवा' नामक छन्द है[2]। यास्काचार्यने इसे ही '**उरोबृहती**' नाम दिया है। जब अन्तिम (चतुर्थ) चरण 'जगती'का हो और आरम्भके तीन चरण गायत्रीके हों तो '**उपरिष्टाद् बृहती**[3]' नामक छन्द होता है। वही 'जगती'का चरण जब पहले हो और शेष तीन चरण गायत्री छन्दके हों तो उसे '**पुरस्ताद् बृहती**' छन्द कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—'**महो यस्पतिः शस्वसो असाम्या महो नृम्णस्य ततुजिः। मर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम्**[4]॥' (१०। २२। ३)] वेदमें कहीं-कहीं नौ-नौ अक्षरोंके चार चरण दिखायी देते

१. पाँचवें श्लोकमें 'उष्णिक्' छन्दका जो लक्षण दिया गया है, उसीसे यह भी गतार्थ हो जाता है। यहाँ 'परोष्णिक्' यह विशेष संज्ञा बतानेके लिये पुनः उल्लेख किया गया है।

२. पिङ्गलसूत्रमें 'स्कन्धोग्रीवी' नाम आया है।

३. इसका उदाहरण सामवेदमें इस प्रकार है—'अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः। अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥' (३९)

४. आठवें श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'बृहती छन्द'का लक्षण दिया गया है, उसीसे यह भी गतार्थ हो जाता है; फिर भी विशेष संज्ञा देनेके लिये यहाँ पुनरुक्ति की गयी है।

हैं। वे भी '**बृहती**' छन्दके ही अन्तर्गत हैं। [उदाहरणके लिये ऋग्वेदमें—'**तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम। देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम्**[१]॥' (१।१८७।११)] जहाँ पहले दस अक्षरके दो चरण हों, फिर आठ अक्षरोंके दो चरण हों, उसे भी '**बृहती**' छन्द कहते हैं। [जैसे सामवेदमें—'**अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य। आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः**[२]॥' (४०)] केवल 'जगती' छन्दके तीन चरण हों तो उसे '**महाबृहती**' कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—'**अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ, ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः। सदासरो वाजमच्छासनिष्यदत्**[३]' (९।११०।४)] ताण्डी नामक आचार्यके मतमें यही '**सतो बृहती**' नामक छन्द है॥ ५—१०½॥

जहाँ दो पाद बारह-बारह अक्षरोंके और दो आठ-आठ अक्षरोंके हों, वहाँ '**पङ्क्ति**' नामक छन्द होता है। यदि विषम पाद अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण पूर्वकथनानुसार बारह-बारह अक्षरोंके हों और शेष दोनों आठ-आठ अक्षरोंके तो उसे '**सतःपङ्क्ति**' नामक छन्द कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—'**यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन। यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः**॥' (१।३६।१०)] यदि वे ही चरण विपरीत अवस्थामें हों, अर्थात् प्रथम-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके और द्वितीय-चतुर्थ बारह-बारह अक्षरोंके तो भी वह छन्द '**सतःपङ्क्ति**' ही कहलाता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**य ऋष्वे श्रावयत्सखा विश्वेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुतः। तं विश्वे मानुषा युगे, इन्द्रं हवन्ते तविषं यतासुचः**॥' (८।४६।१२)] जब पहलेके दोनों चरण बारह-बारह अक्षरोंके हों और शेष दोनों आठ-आठ अक्षरोंके, तो उसे '**प्रस्तारपङ्क्ति**' कहते हैं। [ग्यारहवें श्लोकमें बताये हुए 'पङ्क्ति' छन्दके लक्षणसे ही यह गतार्थ हो जाता है, तथापि विशेष संज्ञा देनेके लिये यहाँ पुनः उपादान किया गया है। मन्त्र-ब्राह्मणमें इसका उदाहरण इस प्रकार है—'**काम वेदते मदो नामासि समानया अमुं सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्मा अग्ने तपसा निर्मितोऽसि**[४]॥'] जब अन्तिम दो चरण बारह-बारह अक्षरोंके हों और आरम्भके दोनों आठ-आठ अक्षरोंके तो '**आस्तारपङ्क्ति**' नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—**भद्रं नो अपि वातय, मनो दक्षमुत क्रतुम्। अधा ते सख्य अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे**॥' (१०।२५।१)] यदि बारह अक्षरोंवाले दो चरण बीचमें हों और प्रथम एवं चतुर्थ चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो उसे '**विस्तारपङ्क्ति**' कहते हैं। [जैसे ऋग्वेदमें—'**अग्ने तव श्रवो वयो, महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो। बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे**॥' (१०।१४०।१)] यदि बारह अक्षरोंवाले दो चरण बारह हों, अर्थात् प्रथम एवं चतुर्थ चरणके रूपमें हों और बीचके द्वितीय-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो वह '**संस्तारपङ्क्ति**' नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**पितुभृतो न तन्तुमित् सुदानवः प्रतिदध्मो यजामसि। उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति वर्तनि सुजातता**॥' (१०।१७२।३)] पाँच-पाँच अक्षरोंके चार पाद होनेपर '**अक्षरपङ्क्ति**' नामक छन्द होता है। [जैसे ऋग्वेदमें—'**प्र शुक्रैतु**[५] **देवी मनीषा। अस्मत् सुतष्टो**

१.-२-३. इन सबमें व्यूहकी रीतिसे या 'निचृत्' मानकर पादपूर्ति की जाती है।

४. यहाँ 'नामा असि', 'निर्मितः असि'—इस प्रकार संधिव्यूहसे पादपूर्ति की जाती है। कात्यायनने इसे गायत्री छन्दमें गिना है। सायणने इसे 'द्विपदा' कहा है।

५. यहाँ 'निचृत्' होनेसे एक अक्षरकी न्यूनता है।

रथो न वाजी॥' (७।३४।१)] पाँच अक्षरोंके दो ही चरण होनेपर **'अल्पशः-पङ्क्ति'** नामक छन्द कहलाता है। जहाँ पाँच-पाँच अक्षरोंके पाँच पाद हों, वहाँ **'पदपङ्क्ति'** नामक छन्द जानना चाहिये। [जैसे ऋग्वेदमें—**'घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यं तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः**[१] ॥'** (४।१०।६)] जब पहला चरण चार अक्षरोंका, दूसरा छः अक्षरोंका तथा शेष तीन पाद पाँच-पाँच अक्षरोंके हों तो भी **'पद-पङ्क्ति'** छन्द ही होता है। आठ-आठ अक्षरोंके पाँच पादोंका **'पथ्यापङ्क्ति'** नामक छन्द कहा गया है। [जैसे ऋग्वेदमें—**'अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया यती योजान्विन्द्र ते हरी॥'** (१।८२।२)] आठ-आठ अक्षरोंके छः चरण होनेपर **'जगतीपङ्क्ति'** नामक छन्द होता है। [जैसे मन्त्रब्राह्मणमें—**'येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृषतं सुराम्; येनाक्षामभ्यषिञ्चतम्। येनेमां पृथ्वीं महीं यद्वां तदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम्॥'**] ॥ ११—१४ ॥

'त्रिष्टुप्' अर्थात् ग्यारह अक्षरोंका एक पाद हो और आठ-आठ अक्षरोंके चार पाद हों तो पाँच पादोंका **'त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती'** नामक छन्द होता है। इसी प्रकार जब एक चरण 'जगती'का अर्थात् बारह अक्षरोंका हो और चार चरण 'गायत्री'के (आठ-आठ अक्षरोंके) हों तो उस छन्दका नाम **'जगतीज्योतिष्मती'** होता है। यदि पहला ही चरण ग्यारह अक्षरोंका हो और शेष चार चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तो **'पुरस्ताज्ज्योति'**[२] नामक त्रिष्टुप् छन्द होता है और यदि पहला ही चरण बारह अक्षरोंका तथा शेष चार चरण आठ-आठके हों तो **'पुरस्ताज्ज्योति'** नामक जगती छन्द[३] होता है। जब मध्यम चरण ग्यारह अक्षरों और आगे-पीछेके दो-दो चरण आठ-आठके हों तो **'मध्ये-ज्योति'**[४] नामक त्रिष्टुप् छन्द होता है; इसी प्रकार जब मध्यम चरण बारहका तथा आदि-अन्तके दो-दो चरण आठ-आठके हों तो **'मध्ये-ज्योति'**[५] नामक जगती छन्द होता है। जब आरम्भके चार चरण आठ-आठ अक्षरोंके हों तथा अन्तिम चरण ग्यारह अक्षरोंका हो तो उसे **'उपरिष्टाज्ज्योसि'**[६] नामक त्रिष्टुप् छन्द कहते हैं। इसी प्रकार जब आदिके चार चरण पूर्ववत् आठ-आठके हों और अन्तिम पाद बारह अक्षरोंका हो तो उसका नाम **'उपरिष्टाज्ज्योति'**[७] जगती छन्द होता है॥ १५$\frac{1}{2}$ ॥

गायत्री आदि सभी छन्दोंके एक पादमें यदि पाँच अक्षर हों तथा अन्य पादोंमें पहलेके अनुसार नियत अक्षर ही हों तो उस छन्दका नाम **'शङ्कुमती'** होता है। [जैसे प्रथम पाद पाँच अक्षरका और तीन चरण छः-छः अक्षरोंका होनेपर उसे 'शङ्कुमती गायत्री' कह सकते हैं।]

१. यहाँ 'भूरिक्' होनेसे एक अक्षरकी अधिकता है। अन्यत्र भी अक्षरोंकी न्यूनता या अधिकता दीखनेपर इसी प्रकार समझना चाहिये।

२. उदाहरण ऋग्वेदमें—तमुष्टुहीन्द्रं यो ह स त्वा यः शूरो मघवा यो रथेष्ठाः। प्रतीचश्चिद् यो धीमान् वृषण्वान् ववव्रुषश्चित्तमसो विहन्ता॥ (१।१७३।५)

३. उदाहरण ऋग्वेदमें—अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यूषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा। आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत् पृथक्॥ (१।१५७।१)

४. उदाहरण मन्त्रब्राह्मणमें—इमं तमुपस्थं मधुना संसृजामि। प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयं तेन पुंसोऽभिभवासि, सर्वान् कामान् वशिन्यसि राज्ञी॥

५. उदाहरण ऋग्वेदमें—बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा। भरद्वाजे समिधानो यविषय रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि॥ (६।४८।७)

६. उदाहरण मन्त्रब्राह्मणमें—अग्निं क्रव्यादमकृण्वन्, गुहाना स्त्रीणामुपस्थम्। ऋषयः पुराणाः, तेन आज्यमकृण्वं त्रैशुद्धं त्वयि त्वद्दधातु।

७. उदाहरण ऋग्वेदमें—नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम्। सर्वासामग्रभंनामा अरे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ (१।१९१।१३)

जब एक चरण छः अक्षरोंका हो और अन्य चरणोंमें पहले बताये अनुसार नियत अक्षर ही हों तो उसका नाम '**ककुदमती**' होगा। जहाँ तीन पादवाले छन्दके पहले और दूसरे चरणमें अधिक अक्षर हों और बीचवालेमें बहुत ही कम हों, वहाँ उस छन्दका नाम '**पिपीलिकमध्या**' होगा। [जैसे त्रिपदा गायत्रीके आदि और अन्त चरण आठ-आठ अक्षरके हों तथा बीचवाला चरण तीन, चार या पाँच अक्षरका हो तो उसे '**पिपीलिकमध्या**' कहेंगे।] इसके विपरीत जब आदि और अन्तवाले पादोंके अक्षर कम हों और बीचवाला पाद अधिक अक्षरोंका हो तो उस 'त्रिपाद् गायत्री' आदि छन्दको '**यवमध्या**' कहते हैं। यदि 'गायत्री' या 'उष्णिक्' आदि छन्दोंमें केवल एक अक्षरकी कमी हो, उसकी 'निचृत्' यह विशेष संज्ञा होती है। एक अक्षरकी अधिकता होनेपर वह छन्द 'भूरिक्' नाम धारण करता है। इस प्रकार दो अक्षरोंकी कमी रहनेपर 'विराट्' और दो अक्षर अधिक होनेपर 'स्वराट्' संज्ञा होती है। संदिग्ध अवस्थामें आदि पादके अनुसार छन्दका निर्णय करना चाहिये। [जैसे कोई मन्त्र छब्बीस अक्षरका है, उसमें गायत्रीसे दो अक्षर अधिक हैं और उष्णिक्से दो अक्षर कम—ऐसी दशामें वह 'स्वराड् गायत्री' छन्द है या 'विराड् उष्णिक्'?—ऐसे संदेहयुक्त स्थलोंमें यदि मन्त्रका पहला चरण 'गायत्री'से मिलता हो तो उसे 'स्वराड् गायत्री' कहेंगे और यदि प्रथम पाद 'उष्णिक्'से मिलता हो तो उसे 'विराड् उष्णिक्' कह सकते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।] इसी प्रकार देवता, स्वर, वर्ण तथा गोत्र आदिके द्वारा संदिग्धस्थलमें छन्दका निर्णय हो सकता है। गायत्री आदि छन्दोंके देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र तथा विश्वेदेव। उक्त छन्दोंके स्वर हैं—'षड्ज' आदि। उनके नाम क्रमशः ये हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। श्वेत, सारंग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित (लाल) तथा गौर—ये क्रमशः गायत्री आदि छन्दोंके वर्ण हैं। 'कृति' नामवाले छन्दोंका वर्ण गोरोचनके समान है और अतिच्छन्दोंका वर्ण श्यामल है। अग्निवेश्य, काश्यप, गौतम, अङ्गिरा, भार्गव, कौशिक तथा वसिष्ठ—ये क्रमशः उक्त सात छन्दोंके गोत्र बताये गये हैं॥ १६—२३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दस्सारका कथन' नामक तीन सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३०॥

तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय

उत्कृति आदि छन्द, गण-छन्द और मात्रा-छन्दोंका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! एक सौ चार अक्षरोंका 'उत्कृति' छन्द होता है। [जैसे यजुर्वेदमें—'**होता यक्षदश्विनौ छागस्य०**' इत्यादि (२१।४१)] 'उत्कृति' छन्दमेंसे चार-चार घटाते जायँ तो क्रमशः निम्नाङ्कित छन्द होते हैं—सौ अक्षरोंकी 'अभिकृति'[1], छानबे अक्षरोंकी 'संस्कृति'[2], बानबे अक्षरोंकी 'विकृति'[3], अठासी अक्षरोंकी 'आकृति'[4], चौरासी अक्षरोंकी 'प्रकृति'[5],

१. 'अभिकृति' आदि छन्दोंके उदाहरणका प्रतीकमात्र यहाँ दिया जाता है, विशेष जानकारीके लिये वेदोंमें अनुसंधान करना चाहिये। यजुर्वेदे—'देवो अग्निः स्विष्टकृत् देवान्यक्षत्' इत्यादि (२१।५८)। २. यजुर्वेदे—'देवो अग्निः स्विष्टकृत्, सुद्रविणामन्नः कविः' इत्यादि। ३. 'इमे सोमाः सुरामाणाम्' इत्यादि। ४. 'भगा अनुप्रयुक्तामिन्द्रो यातु पुरोगवः' इत्यादि। ५. प्रकृतेरुदाहरणम्—'सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च' इत्यादि प्रातराचमनमन्त्रः।

अस्सी अक्षरोंकी 'कृति'[१], छिहत्तर अक्षरोंकी 'अधिकृति'[२], बहत्तर अक्षरोंकी 'धृति'[३], अड़सठ अक्षरोंकी 'अत्यष्टि'[४], चौसठ अक्षरोंकी 'अष्टि'[५], साठ अक्षरोंकी 'अतिशक्करी'[६], छप्पन अक्षरोंकी 'शक्करी'[७], बावन अक्षरोंकी 'अतिजगती'[८] तथा अड़तालीस अक्षरोंकी 'जगती'[९] होती है। यहाँतक केवल वैदिक छन्द हैं। यहाँसे आगे लौकिक छन्दका अधिकार है। 'गायत्री'से लेकर 'त्रिष्टुप्' तक जो आर्षछन्द वैदिक छन्दोंमें गिनाये गये हैं, वे लौकिक छन्द भी हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—त्रिष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती, अनुष्टुप्, उष्णिक् और गायत्री। गायत्री छन्दमें क्रमशः एक-एक अक्षरकी कमी होनेपर 'सुप्रतिष्ठा', 'प्रतिष्ठा', 'मध्या', 'अत्युक्तात्युक्त' तथा 'आदि' नामक छन्द होते हैं॥ १—४॥

छन्दके चौथाई भागको 'पाद' या 'चरण' कहते हैं। [छन्द तीन प्रकारके हैं—गणच्छन्द, मात्रा-छन्द और अक्षरच्छन्द]। पहले 'गणच्छन्द' दिखलाया जाता है। चार लघु अक्षरोंकी 'गण' संज्ञा होती है। ['आर्या'के लक्षणोंकी सिद्धि ही इस संज्ञाका प्रयोजन है।] ये गण पाँच हैं। कहीं आदि गुरु (ऽ।।), कहीं मध्य गुरु (।ऽ।), कहीं अन्त्य गुरु (।।ऽ), कहीं सर्वगुरु (ऽऽ) और कहीं चारों अक्षर लघु (।। ।।) होते हैं। [एक 'गुरु' दो 'लघु' अक्षरोंके बराबर होता है; अतः जहाँ सब लघु हैं, वहाँ चार अक्षर तथा जहाँ सब गुरु हैं, वहाँ दो अक्षर दिखाये गये हैं।] अब 'आर्या'का लक्षण बताया जाता है। साढ़े सात गणोंकी, अर्थात् तीस मात्राओं या तीस लघु अक्षरोंकी आधी 'आर्या' होती है। [आर्यामें गुरुवर्णको दो मात्रा या दो लघु मानकर गिनना चाहिये।] 'आर्या' छन्दके विषय गणोंमें जगण (।ऽ।)-का प्रयोग नहीं होता[१०]। किंतु छठा गण अवश्य जगण (।ऽ।) होना चाहिये।[११] अथवा वह नगण और लघु यानी सब-का-सब लघु भी हो सकता है। जब छठा गण सब-का-सब लघु हो तो उस गणके द्वितीय अक्षरसे सुबन्त या तिङन्तलक्षण पदसंज्ञाकी प्रवृत्ति होती है।[१२] यदि छठा गण मध्य गुरु (।ऽ।) अथवा सर्वलघु (।।।।) हो और सातवाँ गण भी सर्वलघु ही हो, तो सातवें गणके प्रथम अक्षरसे 'पद' संज्ञाकी प्रवृत्ति होती है।[१३] इसी प्रकार जब आर्याके उत्तरार्ध-भागमें पाँचवाँ गण सर्वलघु हो तो उसके प्रथम अक्षरसे ही पदका आरम्भ होता है।[१४] आर्याके उत्तरार्ध भागमें छठा गण एकमात्र लघु अक्षरका (।) होता है।[१५] जिस आर्याके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें

१. यजुर्वेदे—'सुपर्णोऽसि गरुत्मोंस्त्रिः सत्रिवृत्ते शिरो गायत्रम्' इत्यादि (१७।७२)। २. ऋग्वेदे—'स हि शर्धो न मारुतं तु विष्वणि' इत्यादि (१।१२७।६)। ३. ऋग्वेदे—'अवमह इन्द्र दादृहि श्रुधि नः शुशोच हि द्यौः०' इत्यादि (१।१३३।६)। ४. ऋग्वेदे—'अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिः०' इत्यादि (१।१३६।२)। ५. ऋग्वेदे—'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तु विशुष्म' इत्यादि (२।२२।१)। ६. ऋग्वेदे—'साकं जातः क्रतुना साकभोजसा ववक्षिथ०' इत्यादि (२।२२।३)। ७. ऋग्वेदे—'प्रीस्वस्मै पुरोरथं, इन्द्राय शषमर्चत्०' इत्यादि। ८. मन्त्रब्राह्मणे—'मा ते गृहेषु निशि घोष उत्था०' इत्यादि। ९. सामवेदे—'इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया। भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि, अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥' (६६)

१०. उदाहरण—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्। आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥

११. सा जयति जगत्यार्या देवी दिवमुत्पतिष्णुरतिरुचिरा। यादृश्यत गगनतले कंसवधोत्पातविद्युदिव॥

१२. रूपान्तरेण देवीं तामेव स्तौमि सपदि किल महिषः। पादस्पर्शसुखादिव मीलितनयनोऽभवद् यस्याः॥

यहाँ 'मि सपदि' यही छठा गण है, इसमें द्वितीय अक्षरसे पदका आरम्भ है।

१३. ब्रह्मक्षत्रकुलीनः प्रलीनसामन्तचक्रनुतचरणः। सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान् मुञ्जश्चिरं जयति॥

जयति भुवनैकवीरः सीरायुधतुलितविपुलबलविभवः। अनवरतवित्तवितरणनिर्जितचम्पाधिपो मुञ्जः॥

१४-१५. स जयति वाक्पतिराजः सकलार्थिमनोरथैककल्पतरुः। प्रत्यर्थिभूतपार्थिवलक्ष्मीहठहरणदुर्ललितः॥

तीन-तीन गणोंके बाद पहले पादका विराम होता है, उसे 'पथ्या' माना गया है।[१] ॥ ५—८ ॥

जिस आर्याके पूर्वार्धमें या उत्तरार्धमें अथवा दोनोंमें तीन गणोंपर पादविराम नहीं होता, उसका नाम 'विपुला' होता है। [इस प्रकार इसके तीन भेद होते हैं—१-आदिविपुला, २-अन्त्यविपुला तथा ३-उभयविपुला। इनमें पहलीका नाम 'मुख-विपुला' दूसरीका 'जघनविपुला' तथा तीसरीका 'महाविपुला' है।] इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१- स्निग्धच्छायालावण्यलेपिनी किंचिदवनतवीणा।
मुखविपुला सौभाग्यं लभते स्त्रीत्याह माण्डव्यः॥
२- चित्तं हरन्ति हरिणीदीर्घदृशः कामिनां कलालापैः।
नीवीविमोचनव्याजकथितजघना जघनविपुला॥
३- या स्त्री कुचकलशनितम्बमण्डले जायते महाविपुला।
गम्भीरनाभिरतिदीर्घलोचना भवति सा सुभगा॥

—पहले पद्यमें पूर्वार्धमें, दूसरेमें उत्तरार्धमें तथा तीसरेमें दोनों जगह पाद-विराम तीन गणोंसे आगे होता है।[२] जिस आर्या-छन्दमें द्वितीय तथा चतुर्थ गण गुरु अक्षरोंके बीचमें होनेके साथ ही जगण अर्थात् मध्यगुरु (। ऽ।) हों, उसका नाम 'चपला' है। तात्पर्य यह है कि 'चपला' नामक आर्यामें प्रथम गण अन्त्यगुरु (।। ऽ), तृतीय गण दो गुरु (ऽऽ) तथा पञ्चम गण आदिगुरु (ऽ।।) होता है। शेष गण पूर्ववत् रहते हैं। पूर्वार्धमें 'चपला'का लक्षण हो तो उस आर्याका नाम 'मुखचपला'[३] होता है। परार्धमें चपलाका लक्षण होनेपर उसे 'जघनचपला'[४] कहते हैं। पूर्वार्ध और परार्ध—दोनोंमें चपलाका लक्षण संघटित होता हो तो उसका नाम 'महाचपला'[५] है। जहाँ

---

१. पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्। यदि वचसा मनसा वा द्रुह्यति नित्यं न भूतेभ्यः॥

२. 'पथ्या' और 'विपुला'में सहानवस्थारूप विरोध है; अतः ये दोनों छन्द एक साथ नहीं रह सकते। यदि एक अंशमें भी 'विपुला'का लक्षण संघटित हुआ तो उसका पथ्यात्व नष्ट हो जाता है; क्योंकि 'विपुला' छन्द उभयाश्रय है; वह पूर्वार्धमें, उत्तरार्धमें तथा दोनोंमें भी रह सकता है। अब 'विपुला'का जहाँ अंश भी हो, वहाँ 'पथ्या'का प्रवेश नहीं हो सकता। 'पथ्या' छन्द एक अंशसे भी विकल हो जाय तो वहीं 'विपुला'का विषय होता है; अतः वहाँ 'विपुला'की प्राप्ति अनिवार्य है। 'पथ्या' और 'चपला'में कोई विरोध नहीं है; अतः इनमें बाध्य-बाधकभाव नहीं होता। इस विषयका संक्षिप्त संग्रह नीचे लिखे श्लोकोंमें है—

एकैव भवति पथ्या विपुलास्तिस्रस्ततश्चतस्रस्ताः। चपलाभेदैस्त्रिभिरपि भिन्ना इति षोडशार्याः स्युः॥
गीतिचतुष्टयमित्थं प्रत्येकं षोडशप्रकारं स्यात्। साकल्येनार्याणामशीतिरेवं विकल्पाः स्युः॥

'एक 'पथ्या', तीन 'विपुला', कुल चार भेद हुए। इनमेंसे प्रत्येक छन्द 'चपला'के तीन भेदोंसे भिन्न होकर बाहर प्रकारका होता है। बारह ये और चार पहलेके—यों सोलह हुए। इन सोलहोंके 'गीति' आदि चार भेदोंद्वारा भेद होनेसे चौंसठ भेद होते हैं। पहलेके सोलह और चौंसठ—कुल अस्सी हुए। इस प्रकार 'आर्या'के अस्सी भेद हैं।'

३. पथ्यापूर्वक मुखचपलाका उदाहरण—
अतिदारुणा द्विजिह्वा परस्य रन्ध्रानुसारिणी कुटिला। दूरात्परिहरणीया नारी नागीव मुखचपला॥
आदिविपुलापूर्वक मुखचपलाका उदाहरण—
यस्याश्च लोचने पिङ्गले भ्रुवौ संगते मुखं दीर्घम्। विपुलोन्नताश्च दन्ताः कान्तासौ भवति मुखचपला॥
उभयविपुलापूर्वक मुख-चपलाका उदाहरण—
विपुलाभिजातवंशोद्भवापि रूपातिरेकरम्यापि। निस्सार्यते गृहाद् वल्लभापि यदि भवति मुखचपला॥

४. पथ्यापूर्वक जघनचपलाका उदाहरण—
यत्पादस्य कनिष्ठा न स्पृशति महीमनामिका वाप। सा सर्वधूर्तभोग्या भवेदवश्यं जघनचपला॥
अन्त्यविपुलापूर्वक जघनचपलाका उदाहरण—
यस्याः पादाङ्गुष्ठं व्यतीत्य याति प्रदेशिनी दीर्घा। विपुले कुले प्रसूतापि सा ध्रुवं जघनचपला स्यात्॥
महाविपुलापूर्वक जघनचपलाका उदाहरण—
मकरध्वजसद्मनि दृश्यते स्फुटं तिलकलाञ्छनं यस्याः। विपुलान्वयाभिजातापि जायते जघनचपलासौ॥

५. पथ्यापूर्वक महाचपलाका उदाहरण—
हृदयं हरन्ति नार्यो मुनेरपि भ्रूकटाक्षविक्षेपैः। दोर्मूलनाभिदेशं निदर्शयन्त्यो महाचपलाः॥
विपुलापूर्वक महाचपलाका उदाहरण—
चिबुके कपोलदेशेऽपि कूपिका दृश्यते स्मिते यस्याः। विपुलान्वयप्रसूतापि जायते सा महाचपला॥

आर्याके पूर्वार्धके समान ही उत्तरार्ध भी हो, उसे 'गीति'[१] नाम दिया गया है। तात्पर्य यह कि उसके उत्तरार्धमें भी छठा गण मध्यगुरु (। ऽ ।) अथवा सर्वलघु (।।।।) करना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ आर्याके उत्तरार्धके समान ही पूर्वार्ध भी हो, उसे 'उपगीति'[२] कहते हैं। आर्याके पूर्वोक्त क्रमको विपरीत कर देनेपर 'उद्गीति'[३] नाम पड़ता है। सारांश यह कि उसमें पूर्वार्धको उत्तरार्धमें और उत्तरार्धको पूर्वार्धमें रखा जाता है। यदि पूर्वार्धमें आठ गण हों तो 'आर्यागीति'[४] नामक छन्द होता है। कोई विशेषता न होनेसे इसका उत्तरार्ध भी ऐसा ही समझना चाहिये। यहाँ भी छठे गणमें मध्यगुरु और सर्वलघु—इन दोनों विकल्पोंकी प्राप्ति थी, उसके स्थानमें केवल एक 'लघु'का विधान है॥ ९-१० $\frac{3}{4}$ ॥

अब 'मात्रा-छन्द' बतलाया जाता है। जहाँ विषम, अर्थात् प्रथम और तृतीय चरणमें चौदह लघु (मात्राएँ) हों और सम—द्वितीय, चतुर्थ

---

१. पथ्या-गीतिका उदाहरण—

मधुरं वीणारणितं पञ्चमसुभगश्च कोकिलालापः। गीतिः पौरवधूनामधुना कुसुमायुधं प्रबोधयति॥

आदिविपुला-गीति—

इयमपरा विपुला गीतिरुच्यते सर्वलोकहितहेतोः। यदनिष्टमात्मनस्तत्परेषु भवतापि मा क्वचित् कारि॥

पथ्या महाचपला-गीतिका उदाहरण—

कामं चकास्ति गीतिर्मृगीदृशां सीधुपानचपलानाम्। मुखं च मुक्तलज्जं निरर्गलोल्लापमणितरमणीयम्॥

महाविपुला-महाचपला-गीतिका उदाहरण—

पञ्चेषुवल्लभः पञ्चमध्वनिस्तत्र भवति यदि विपुलः। चपलं करोति कामाकुलं मनः कामिनामसौ गीतिः॥

२. पथ्योपगीतिका उदाहरण—

गान्धर्वं मकरध्वजदेवस्यास्त्रं जगद्विजयि। इति समवेक्ष्य मुमुक्षुभिरुपगीतिस्त्यज्यते देशः॥

महाविपुलोपगीतिका उदाहरण—

विपुलोपगीतिझंकारमुखरिते भ्रमरमालानाम्। रैवतकोपवने वस्तुमस्तु सततं मम प्रीतिः॥

पथ्या-महाचपलोपगीतिका उदाहरण—

विषयामिषाभिलाषः करोति चित्तं सदा चपलम्। वैराग्यभावनानां तथोपगीत्या भवेत् स्वस्थम्॥

महाविपुला महाचपलोपगीतिका उदाहरण—

विपुलोपगीति संत्यज्यतामिदं स्थानकं भिक्षो। विषयाभिलाषदोषेण बाध्यते चञ्चलं चेतः॥

३. पथ्योद्गीतिका उदाहरण—

व्याध इवोद्गीतिरवैः प्रथमं तावन्मनो हरसि। दुर्नयकर विश्राम्यसि पश्चात् प्राणेषु विप्रियैः शल्यैः॥

महाविपुलोद्गीतिका उदाहरण—

एषा तवापरोद्गीतिरत्र विपुला परिभ्रमति। तद्वल्लभापि यत्कीर्तिरखिलदिक्पालपार्श्वमुपयाति॥

पथ्यामहाचपलोद्गीतिका उदाहरण—

उद्गीतिरत्र नित्यं प्रवर्तते कामचपलानाम्। तस्मान्मुने विमुञ्च प्रदेशमेतं समेतमेताभिः॥

महाविपुला महाचपलोद्गीतिका उदाहरण—

विपुला पयोधरश्रोणिमण्डले चक्षुषोश्चपला। उद्गीतिशालिनी कामिनी च सा बर्णिनां मनो हरति॥

४. पथ्या आर्यागीतिका उदाहरण—

अजमजरममरमेकं प्रत्यक्चैतन्यमीश्वरं ब्रह्म परम्। आत्मानं भावयती भवमुक्तिः स्यादितीयमार्यागीतिः॥

महाविपुला आर्यागीतिका उदाहरण—

विपुलाभिलाषमृगतृष्णिका ध्रुवं हन्ति हरिणमिव हतहृदयम्। विपुलात्ममोक्षसुखकाङ्क्षिभिस्ततस्त्यज्यते विषयरससङ्गः॥

पथ्या जघनचपलार्यागीतिका उदाहरण—

वाताहतोर्मिमालाचपलं सम्प्रेक्ष्य विषयसुखमल्पतरम्। मुक्त्वा समस्तसङ्गं तपोवनान्याश्रयन्ति तेनात्मविदः॥

महाविपुला महाचपला आर्यागीतिका उदाहरण—

चपलानि चक्षुरादीनि चित्तहारी च हन्त हतविषयगणः। एकान्तशीलिनां योगिनामतो भवति परमसुखसम्प्राप्तिः॥

चरणोंमें सोलह लघु हों तथा इनमेंसे प्रत्येक चरणके अन्तमें रगण (ऽ। ऽ), एक लघु और एक गुरु हो तो 'वैतालीय'[१] नामक छन्द होता है। [रगण, लघु और गुरु मिलाकर आठ मात्राएँ होती हैं, इनके सिवा प्रथम-तृतीय पादोंमें छः-छः मात्राएँ और द्वितीय-चतुर्थ चरणोंमें आठ-आठ मात्राएँ ही शेष रहती हैं। इन्हें जोड़कर ही चौदह-सोलह मात्राओंकी व्यवस्था की गयी है।] वैतालीय छन्दके अन्तमें एक गुरु और बढ़ जाय तो उसका नाम 'औपच्छन्दसक'[२] होता है॥ ११-१२॥

पूर्वोक्त वैतालीय छन्दके प्रत्येक चरणके अन्तमें जो रगण, लघु और गुरुकी व्यवस्था की गयी है, उसकी जगह यदि भगण और दो गुरु हो जायँ तो उस छन्दका नाम 'आपातलिका'[३] होता है। उपर्युक्त वैतालीय छन्दके अधिकारोंमें जो रगण आदिके द्वारा प्रत्येक चरणके अन्तमें आठ लकारों (मात्राओं)-का नियम किया गया है, उनको छोड़कर प्रत्येक चरणमें जो 'लकार' शेष रहते हैं, उनमेंसे सम लकार विषम लकारके साथ मिल नहीं सकता। अर्थात् दूसरा तीसरेके और चौथा पाँचवेंके साथ संयुक्त नहीं हो सकता; उसे पृथक् ही रखना चाहिये। इससे विषम लकारोंका सम लकारोंके साथ मेल अनुमोदित होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें लगातार छः लकार पृथक्-पृथक् नहीं प्रयुक्त होने चाहिये। प्रथम और तृतीय चरणोंमें रुचिके अनुसार किया जा सकता है।[४] अब 'प्राच्यवृत्ति' नामक वैतालीय छन्दका दिग्दर्शन कराया जाता है। जब दूसरे और चौथे चरणमें चतुर्थ लकार (मात्रा) पञ्चम लकारके साथ संयुक्त हो तो उसका नाम 'प्राच्यवृत्ति'[५] होता है। [यद्यपि सम लकारका विषम लकारके साथ मिलना निषिद्ध किया गया है, तथापि वह सामान्य नियम है; प्राच्यवृत्ति आदि विशेष स्थलोंमें उस नियमका अपवाद होता है।] शेष लकार पूर्वोक्त प्रकारसे ही रहेंगे। जब प्रथम और तृतीय चरणमें दूसरा लकार तीसरेके साथ मिश्रित होता है, तब 'उदीच्यवृत्ति'[६] नामक वैतालीय कहलाता है। शेष लकार पूर्वोक्त रूपमें ही रहते हैं। जब दोनों लक्षणोंकी एक साथ ही प्रवृत्ति

---

१. वैतालीय छन्दके विभिन्न उदाहरण—
(क) क्षुत्क्षीणशरीरसंचया व्यक्तीभूतशिरोऽस्थिपञ्जराः। केशैः परुषैस्तवारयो वैतालीयतनुं वितन्वते॥
(ख) तव तन्वि कटाक्षवीक्षितैः प्रसरद्भिः श्रवणान्तगोचरैः। विशिखैरिव तीक्ष्णकोटिभिः प्रहतः प्राणिति दुष्करं नरः॥
(ग) शवशोणितपङ्कचर्चितं पुरुषान्त्रग्रथितोद्ध्र्वमूर्धजम्। वपुरातपवह्निदीपितं वैतालीयमिदं विलोक्यताम्॥

२. औपच्छन्दसकका उदाहरण—
वाक्यैर्मधुरैः प्रतार्य पूर्वं यः पश्चादभि संदधाति मित्रम्। तं दुष्टमतिं विशिष्टगोष्ठ्यामौपच्छन्दसकं वदन्ति बाह्यम्॥

३. आपातलिकाका उदाहरण—
पिङ्गलकेशी कपिलाक्षी वाचाटा विकटोन्नतदन्ती। आपातलिका पुनरेषा नृपतिकुलेऽपि न भाग्यमुपैति॥

४. वैतालीय छन्दमें इसका उदाहरण—
समरशिरसि सह्यते द्विषां नवनिशितायुधवृष्टिरग्रतः। कुवलयदलदीर्घचक्षुषां प्रमदानां न कटाक्षवीक्षितम्॥
औपच्छन्दसकमें—
परयुवतिषु पुत्रभावमादौ कृत्वा प्रार्थयते पुनः पतित्वम्। इदमपरमिहोच्यते विशेषादौपच्छन्दसकं खलस्य वृत्तम्॥
आपातलिकामें—
अभिरमयति किंनरकण्ठी हंसगतिः श्रवणायतनेत्रा। विशदकमलकोमलगात्री युवतिरियं हृदयं तरुणानाम्॥

५. प्राच्यवृत्तिका उदाहरण—
विपुलार्थसुवाचकाक्षराः कस्य नाम न हरन्ति मानसम्। रसभावविशेषपेशलाः प्राच्यवृत्तिकविकाव्यसम्पदः॥

६. उदीच्यवृत्तिका उदाहरण—
अवाचकमनूर्जिताक्षरं श्रुतिदुष्टं यतिकष्टमक्रमम्। प्रसादरहितं च नेष्यते कविभिः काव्यमुदीच्यवृत्तिभिः॥

हो, अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें पञ्चम लकारके साथ चौथा मिल जाय और प्रथम एवं तृतीय चरणोंमें तृतीयके साथ द्वितीय लकार संयुक्त हो जाय तो 'प्रवृत्तिक'[१] नामक छन्द होता है। जिस वैतालीय छन्दके चारों चरण विषम पादोंके ही अनुसार हों, अर्थात् प्रत्येक पाद चौदह लकारोंसे युक्त हो तथा द्वितीय लकार तृतीयसे मिला हो, उसे 'चारुहासिनी'[२] कहते हैं। जब चारों चरण सम पादोंके लक्षणसे युक्त हों अर्थात् सबमें सोलह लकार (मात्राएँ) हों और चतुर्थ लकार पञ्चमसे मिला हो तो उसका नाम 'अपरान्तिका'[३] है। जिसके प्रत्येक पादमें सोलह लकार हों, किंतु पादके अन्तिम अक्षर गुरु ही हों, उसे 'मात्रासमक'[४] नामक छन्द कहा गया है। साथ ही इस छन्दमें नवम लकार किसीसे मिला नहीं रहता। जिस 'मात्रासमक'के चरणमें बारहवाँ लकार अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है, किसीसे मिलता नहीं, उसका नाम 'वानवासिका'[५] है। जिसके चारों चरणोंमें पाँचवाँ और आठवाँ लकार लघुरूपमें ही स्थित रहता है, उसका नाम 'विश्लोक'[६] है। जहाँ नवाँ भी लघु हो, वह 'चित्रा'[७] नामक छन्द कहलाता है। जहाँ नवाँ लकार दसवेंके साथ मिलकर गुरु हो गया हो, वहाँ 'उपचित्रा'[८] नामक छन्द होता है। मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका, चित्रा और उपचित्रा—इन पाँचोंमें जिस-किसी भी छन्दके एक-एक पादको लेकर जब चार चरणोंका छन्द बनाया जाय, तब उसे 'पादाकुवक'[९] कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरणमें सोलह लघु स्वरूपसे ही स्थित हों, किसीसे मिलकर गुरु न हो गये हों, उस छन्दका नाम 'गीत्यार्या'[१०] है। इसी गीत्यार्यामें जब आधे भागकी सभी मात्राएँ गुरुरूपमें हों और आधे भागकी मात्राएँ लघुरूपमें तो उसका नाम 'शिखा' होता है। इसीके दो भेद हैं—पूर्वार्धभागमें लघु-ही-लघु और उत्तरार्धमें गुरु-ही-गुरु हों तो उसका नाम 'ज्योति'[११] बताया गया है। इसके विपरीत पूर्वार्धभागमें सब गुरु और उत्तरार्धमें सब लघु हों तो 'सौम्या'[१२] नामक छन्द होता है। जब पूर्वार्धभागमें उन्तीस लकार और उत्तरार्धमें इकतीस लकार हों एवं अन्तिम दो लकारोंके स्थानमें एक-एक गुरु हो तो उसका नाम 'चूलिका'[१३]

---

१. इदं भरतवंशभूभृतां श्रूयतां श्रुतिमनोरसायनम्। पवित्रमधिकं शुभोदयं व्यासवक्त्रकथितं प्रवृत्तकम्॥

२. मनाक्प्रसृतदन्तदीधितिः स्मरोल्लसितगण्डमण्डला। कटाक्षललिता तु कामिनी मनो हरति चारुहासिनी॥

३. स्थिरविलासनतमौक्तिकावली कमलकोमलाङ्गी मृगेक्षणा। हरति कस्य हृदयं न कामिनः सुरतकेलिकुशलापरान्तिका॥

४. अश्मश्रुमुखो विरलैर्दन्तैर्गम्भीराक्षो मितनासाग्रः। निर्मांसहनुः स्फुटितैः केशैर्मात्रासमकं लभते दुःखम्॥

५. मन्मथचापध्वनिरमणीयः सुरतमहोत्सवपटहनिनादः। वनवासस्त्रीस्वनितविशेषः कस्य न चित्तं रमयति पुंसः॥

६. भ्रातर्गुणरहितं विश्लोकं दुर्नयचरणकदर्थितलोकम्। जातं महितकुलेऽप्यविनीतं मित्रं परिहर साधुविगीतम्॥

७. यदि वाञ्छसि परपदमारोढुं मैत्रीं परिहर सह वनिताभिः। मुह्यति मुनिरपि विषयासङ्गाच्चित्रा भवति हि मनसो वृत्तिः॥

८. यच्चित्तं गुरुसक्तमुदारं विद्याभ्यासमहाव्यसनं च। पृथ्वी तस्य गुणैरुपचित्रा चन्द्रमरीचिनिभैर्भवतीयम्॥

९. अलिवाचालितविकसितचूते काले मदनसमागमदूते। स्मृत्वा कान्तां परिहृतसार्थः पादाकुलकं धावति पान्थः॥

(इसमें मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका और उपचित्राके चरण हैं।)

१०. मदकलखगकुलकलरवमुखरिणि विकसितसरसिजपरिमलसुरभिणि।
गिरिवरपरिसरसरसि महति खलु रतिरतिशयमिह मम हृदि विलसति॥

११. यदि सुखमनुपममपरमभिलषसि परिहर युवतिषु रतिमतिशयमिह।
आत्मज्योतिर्योगाभ्यासाद् दृष्ट्वा दुःखच्छेदं कुर्याः॥

१२. सौम्यां दृष्टिं देहि स्नेहाद् देहेऽस्माकं मानं मुक्त्वा।
शशधरमुखि सुखमुपनय मम हृदि मनसिजरुजमपहर लघुतरमिह॥

१३. रतिकरमलयमरुति शुभशशभृति समभिहतहिममहसि मधुसमये।
प्रवससि पथिक विरहितं कथमिह तु परिहृतयुवतिरतिचपलतया॥

होता है। छन्दकी मात्राओंसे उसके अक्षरोंमें जितनी कमी हो, उतनी गुरुकी संख्या और अक्षरोंसे जितनी कमी गुरुकी संख्यामें हो, उतनी लघुकी संख्या मानी गयी है। तात्पर्य यह है[१] कि यदि कोई पूछे, इस आर्यामें कितने लघु और कितने गुरु हैं तो उस आर्याको लिखकर उसकी सभी मात्राओंकी गणना करके कहीं लिख ले, फिर अक्षरोंकी संख्या लिख ले। मात्राके अङ्कोंमेंसे अक्षरोंके अङ्क घटा दे; जितना बचे, वह गुरुकी संख्या हुई। इसी प्रकार अक्षरसंख्यामें गुरुकी संख्या घटा देनेपर जो बचे, वह लघु अक्षरोंकी संख्या होगी[२]। इस प्रकार वर्ण आदिके अन्तरसे गुरु-लघु आदिका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥ १३—१८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'छन्दोजातिका निरूपण' नामक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३१॥

तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय

विषमवृत्तका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—[छन्द या पद्य दो प्रकारके हैं—'जाति' और 'वृत्त'। यहाँतक 'जाति' छन्दोंका निरूपण किया गया, अब 'वृत्त'का वर्णन करते हैं—] वृत्तके तीन भेद हैं—सम, अर्धसम तथा विषम। इन तीनोंका प्रतिपादन करता हूँ। 'समवृत्त'की संख्यामें उतनी ही संख्यासे गुणा करे। इससे जो गुणनफल हो, उसे अर्धसमवृत्तकी संख्या समझनी चाहिये। इसी प्रकार 'अर्धसमवृत्त'की संख्यामें भी उसी संख्यासे गुणा करनेपर जो अङ्क उपलब्ध हो, वह 'विषमवृत्त'की संख्या है। विषमवृत्त और अर्धसमवृत्तकी संख्यामेंसे मूलराशि घटा देनी चाहिये। इससे शुद्ध विषम और शुद्ध अर्धसमवृत्तकी संख्याका ज्ञान होगा। [केवल गुणनसे जो संख्या ज्ञात होती है, वह मिश्रित होती है; उसमें अर्धसमके साथ सम और विषमके साथ अर्धसमकी संख्या भी सम्मिलित रहती है[३]।] जो अनुष्टुप् छन्द प्रत्येक चरणमें गुरु और लघु अक्षरोंद्वारा समाप्त होता है, अर्थात् जिसके प्रत्येक

---

१. 'एकोनत्रिंशदन्ते' इत्यादिकी व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है—इकतीस मात्राएँ एवं अन्तमें गुरु होनेसे 'चूलिका'का आधा भाग सम्पन्न होता है। इस प्रकार इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनोंमें ही इकतीस-इकतीस मात्राएँ होती हैं तथा अन्तिम दो मात्राएँ गुरुके रूपमें रहती हैं। इस छन्दमें पादकी व्यवस्था नहीं है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

घनपरिमलमिलदलिकुलमुखरितनिखिलकमलवनमलयजवने ।
जनयति मनसि मम तु शशिमुखि मुदमतिशयितमिह मधुररयमधुना॥

२. उदाहरणार्थ यह 'आर्या' छन्द प्रस्तुत है—

स्तनयुगलमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः। चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

इसमें मात्रासंख्या ५७ है, इसमेंसे अक्षरसंख्या चालीस घटी, शेष बचा १७। इतने गुरुवर्ण हैं। अक्षरसंख्या ४० में १७ गुरुसंख्या घटा दी गयी। शेष २३ लघुसंख्या है। इसी तरह अन्यत्र समझना चाहिये।

३. इन सब भेदोंको इस प्रकार समझना चाहिये। गायत्री छन्दमें कितने समवृत्त, कितने अर्धसमवृत्त और कितने विषमवृत्त होंगे, इसकी संख्या दी जाती है। गायत्री छन्द चौबीस अक्षरोंका है। इसके चार भाग करनेपर एक-एक पादमें छः-छः अक्षर हो सकते हैं। इसमें वर्णप्रस्तारके नियमानुसार प्रस्तार करनेपर सर्वगुरुसे लेकर सर्वलघुतक चौंसठ भेद हो सकते हैं। ये सभी समवृत्तके भेद हैं। उपर्युक्त नियमानुसार समवृत्तकी संख्या चौंसठमें चौंसठका गुणा करनेपर ४०९६ होती है। यह सममिश्रित अर्धसमवृत्तकी संख्या हुई। पुनः इसमें इतनी ही संख्यासे गुणा करनेपर १६७७७२१६ होता है। यह सम अर्धसम-मिश्रित विषमवृत्तकी संख्या हुई। इसमें मूलराशि गुण्य अङ्क ४०९६ को घटा देनेपर १६७७३१२० होता है। यह शुद्ध विषमवृत्तकी संख्या हुई। इसी प्रकार ४०९६ में मूलराशि ६४ घटा देनेपर ४०३२ शेष रहा। यह 'शुद्ध अर्धसमवृत्त'की संख्या हुई।

पादमें अन्तिम दो वर्ण क्रमशः गुरु-लघु होते हैं, उसे 'समानी'[१] नाम दिया गया है। जिसके चारों चरणोंके अन्तिम वर्ण क्रमशः लघु और गुरु हों, उसकी 'प्रमाणी'[२] संज्ञा है। इन दोनोंसे भिन्न स्थितिवाला छन्द 'वितान'[३] कहलाता है। [इसके अन्तिम दो वर्ण केवल लघु अथवा केवल गुरु भी हो सकते हैं।] यहाँसे तीन अध्यायोंतक 'पादस्य' इस पदका अधिकार है तथा 'पदचतुरूर्ध्व' छन्दके पहलेतक 'अनुष्टुब्वक्त्रम्'का अधिकार है। तात्पर्य यह कि आगे बताये जानेवाले कुछ अनुष्टुप् छन्द 'वक्त्र' संज्ञा धारण करते हैं। 'वक्त्र' जातिके छन्दमें पादके प्रथम अक्षरके पश्चात् सगण (।।ऽ) और नगण (।।।) नहीं प्रयुक्त होने चाहिये।[४] इन दोनोंके अतिरिक्त मगण आदि छः गणोंमेंसे किसी एक गणका प्रयोग हो सकता है। पादके चौथे अक्षरके बाद भगण (ऽ।।)-का प्रयोग करना उचित है।[५] जिस 'वक्त्र' जातिके छन्दमें द्वितीय और चतुर्थ पादके चौथे अक्षरके बाद जगण (।ऽ।)-का प्रयोग हो, उसे 'पथ्या वक्त्र'[६] कहते हैं। किसी-किसीके मतमें इसके विपरीत न्यास करनेसे, अर्थात् प्रथम एवं तृतीय पादके बाद जगण (।ऽ।)-का प्रयोग करनेसे 'पथ्या'[७] संज्ञा होती है। जब विषम पादोंके चतुर्थ अक्षरके बाद नगण (।।।) हों तथा सम पादोंमें चतुर्थ अक्षरके बाद यगण (।ऽऽ)-की ही स्थिति हो तो उस 'अनुष्टुब्वक्त्र'का नाम 'चपला'[८] होता है। जब सम पादोंमें सातवाँ अक्षर लघु हो, अर्थात् चौथे अक्षरके बाद जगण (।ऽ।) हो तो उसका नाम 'विपुला'[९] होता है। [यहाँ सम पादोंमें तो सप्तम लघु होगा ही, विषम पादोंमें भी यगणको बाधितकर अन्य गण हो सकते हैं—यही 'विपुला' और 'पथ्या'का भेद है।] सैतव आचार्यके मतमें विपुलाके सम और विषम सभी पादोंमें सातवाँ अक्षर लघु होना चाहिये। जब प्रथम और तृतीय पादोंमें चतुर्थ अक्षरके बाद यगणको बाध कर विकल्पसे भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।) और तगण (ऽऽ।) आदि हों तो 'विपुला'[१०] छन्द होता है।

इस प्रकार 'विपुला' अनेक प्रकारकी होती है। यहाँतक 'वक्त्र' जातिके छन्दोंका वर्णन किया गया। अनुष्टुप् छन्दके प्रथम पादके पश्चात्

---

१. समानीका उदाहरण—
वासवोऽपि विक्रमेण यत्समानतां न याति। तस्य वल्लभेश्वरस्य केन तुल्यता क्रियेत॥
ॐ नमो जनार्दनाय पापसंघमोचनाय। दुष्टदैत्यमर्दनाय पुण्डरीकलोचनाय॥
२. प्रमाणीका उदाहरण—
सरोजयोनिरम्बरे रसातले तथाच्युतः। तव प्रयाणमीक्षितुं क्षमौ न तौ बभूवतुः॥
३. वितानका उदाहरण—
तृष्णां त्यज धर्मं भज पापे हृदयं मा कुरु। इष्टा यदि लक्ष्मीस्तव शिष्टामनिशं संश्रय॥
हृदयं यस्य विशालं गगनायोगसमानम्। लभतेऽसौ मणिचित्रं नृपतिर्मूर्ध्नि वितानम्॥
४. नवधाराम्बुसंसिक्तं वसुधागन्धिनिःश्वासम्। किंचिदुन्नतघोणाग्रं मही कामयते वक्त्रम्॥
५. दुर्भाषितेऽपि सौभाग्यं प्रायः प्रकुरुते प्रीतिः। मातुर्मनो हरन्त्येव दौर्लालित्योक्तिभिर्बालाः॥
६. उदाहरण—नित्यं नीतिनिषण्णस्य राज्ञो राष्ट्रं न सीदति। न हि पथ्याशिनः काये जायन्ते व्याधिवेदनाः॥
७. उदाहरण—भर्तुराज्ञानुवर्तिनी या स्त्री स्यात् सा स्थिरा लक्ष्मीः। स्वप्रभुत्वाभिमानिनी विपरीता परित्याज्या॥
८. उदाहरण—क्षीयमाणाग्रदशना वक्त्रनिर्मांसनासाग्रा। कन्यका वाक्यचपला लभते धूर्तसौभाग्यम्॥
९. उदाहरण—सैतवेन यथार्णवं तीर्णो दशरथात्मजः। रक्षःक्षयकरीं पुनः प्रतिज्ञां स्वेन बाहुना॥
१०. यगणके द्वारा उदाहरण—
इयं सखे चन्द्रमुखी स्मितज्योत्स्ना च मानिनी। इन्दीवराक्षी हृदयं दंदहीति तथापि मे॥
इसी प्रकार अन्य भी बहुत-से उदाहरण हो सकते हैं। 'विपुला' छन्दके पादोंका चौथा अक्षर प्रायः गुरु ही होता है।

जब प्रत्येक चरणमें क्रमशः चार-चार अक्षर बढ़ते जायँ तो 'पदचतुरूर्ध्व[1]' नामक छन्द होता है। [तात्पर्य यह कि इसके प्रथम पादमें आठ अक्षर, द्वितीय पादमें बारह, तृतीय पादमें सोलह और चतुर्थ पादमें बीस अक्षर होते हैं।] उक्त छन्दके चारों चरणोंमें अन्तिम दो अक्षर गुरु हों तो उसकी 'आपीड़[2]' संज्ञा होती है। [यहाँ अन्तिम अक्षरोंको गुरु बतलानेका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि शेष लघु ही होते हैं।] जब आदिके दो अक्षर गुरु और शेष सभी लघु हों तो उसका नाम 'प्रत्यापीड[3]' होता है। 'पदचतुरूर्ध्व' नामक छन्दके प्रथम पादका द्वितीय आदि पादोंके साथ परिवर्तन होनेपर क्रमशः 'मञ्जरी[4]' 'लवली[5]' तथा 'अमृतधारा[6]' नामक छन्द होते हैं। (अर्थात् जब प्रथम पादके स्थानमें द्वितीय पाद और द्वितीय पादके स्थानमें प्रथम पाद हों तो 'मञ्जरी' छन्द होता है। जब प्रथम पादके स्थानमें तृतीय पाद और तृतीय पादके स्थानमें प्रथम पाद हो तो 'लवली' छन्द होता है और जब प्रथम पादके स्थानमें चतुर्थ पाद और चतुर्थ पादके स्थानमें प्रथम पाद हो तो 'अमृतधारा' नामक छन्द होता है।) अब 'उद्‌गता' छन्दका प्रतिपादन किया जाता है। जहाँ प्रथम चरणमें सगण (।। ऽ), जगण (। ऽ।), सगण (।।ऽ) और एक लघु— ये दस अक्षर हों, द्वितीय पादमें भी नगण (।।।), सगण (।।ऽ), जगण (। ऽ।) और एक गुरु—ये दस ही अक्षर हों, तृतीय पादमें भगण (ऽ।।), नगण (।।।), जगण (। ऽ।), एक लघु तथा एक गुरु—ये ग्यारह अक्षर हों तथा चतुर्थ चरणमें सगण (।। ऽ), जगण (। ऽ।), सगण (।। ऽ), जगण (। ऽ।) और एक गुरु— ये तेरह अक्षर हों, वह 'उद्‌गता[7]' नामवाला छन्द है। उद्‌गताके तृतीय चरणमें जब रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।), भगण (ऽ।।) और एक गुरु—ये दस अक्षर हों तथा शेष तीन पाद पूर्ववत् ही रहें तो उसका नाम 'सौरभ[8]' होता है। उद्‌गताके तृतीय पादमें जब दो नगण और दो सगण हों और शेष चरण ज्यों-के-त्यों रहें तो उसकी 'ललित[9]' संज्ञा होती है। जिसके प्रथम चरणमें यगण, सगण, जगण, भगण और दो गुरु (अठारह अक्षर) हों, द्वितीय चरणमें सगण, नगण, जगण,

१. तस्याः कटाक्षविक्षेपैः कम्पिततनुकुटिलैरतिदीर्घैः।
तक्षकदष्ट इवेन्द्रियशून्यः क्षतचैतन्यः, पदचतुरूर्ध्वं न चलति पुरुषः पतति सहसैव॥
—इसमें गुरु-लघुका विभाग नहीं होता।
२. कुसुमितसहकारे हतहिममहिमशुचिशशाङ्के।
विकसितकमलसरसि मधुसमयेऽस्मिन्, प्रवससि पथिकहतक यदि भवति तव विपत्तिः॥
३. चित्तं मम रमयति, कान्तं वनमिदमुपगिरिनदि।
कूजन्मधुकरकलरवकृतजनधृति, पुंस्कोकिलमुखरितसुरभिकुसुमचिततरुवति॥
४. जनयति महतीं प्रीतिं हृदये, कामिनां चूतमञ्जरी।
मिलदलिचक्रचञ्चुपरिचुम्बितकेसरा, कोमलमलयवातपरिनर्तिततरुशिखरस्थिता॥
५. विरहविधुरहूणकाङ्गनाकपोलोपमं, परिणतिधरं पीतपाण्डुच्छवि।
लवलीफलं निदाघे, भवति जगति हिमकरशीतलमतिस्वादूष्णहरम्॥
६. परिवाञ्छसि कर्णरसायनं सततममृतधाराभिर्यदि हृदि वा परमानन्दरसम्।
चेतः शृणु धरणीधरवाणीममृतमयी तत्काव्यगुणभूषणम्॥
७. मृगलोचना शशिमुखी च, रुचिरदशना नितम्बिनी।
हंसललितगमना ललना, परिणीयते यदि भवेत् कुलोद्‌गता॥
८. विनिवारितोऽपि नयनेन, तदपि किमिहागतो भवान्।
एतदेव तव सौरभकं यदुदीरितार्थमपि नावबुद्ध्यसे॥
९. सततं प्रियंवदमनूनममलहृदयं गुणोत्तरम्।
सुललितमतिकमनीयतनुं पुरुषं त्यजन्ति न तु जातु योषितः॥

रगण और एक गुरु (तेरह अक्षर) हों, तृतीय चरणमें दो नगण और एक सगण (नौ अक्षर) हों तथा चतुर्थ चरणमें तीन नगण, एक जगण और एक भगण (पंद्रह अक्षर) हों, वह उपस्थित 'प्रचुपित'[१] नामक छन्द होता है। उक्त छन्दके तृतीय चरणमें जब क्रमशः दो नगण, एक सगण, फिर दो नगण और एक सगण (अठारह अक्षर) हों तो वह 'वर्धमान'[२] छन्द नाम धारण करता है। उसी छन्दमें तृतीय चरणके स्थानमें जब तगण, जगण और रगण (ये नौ अक्षर) हों तो वह 'शुद्ध विराषभ'[३] छन्द कहलाता है। अब अर्धसमवृत्तका वर्णन करूँगा॥ १—१०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'विषमवृत्तका वर्णन' नामक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३२॥

तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय

अर्धसमवृत्तोंका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—जिसके प्रथम चरणमें तीन सगण, एक लघु और एक गुरु (कुल ग्यारह अक्षर) हों, दूसरे चरणमें तीन भगण एवं दो गुरु हों तथा पूर्वार्धके समान ही उत्तरार्ध भी हो, वह 'उपचित्रक'[४] नामक छन्द है। जिसके प्रथम पादमें तीन भगण एवं दो गुरु हों और द्वितीय पादमें एक नगण (।।।), दो जगण (।ऽ।) एवं एक जगण हो, वह 'द्रुतमध्या'[५] नामक छन्द होता है। [यहाँ भी प्रथम पादके समान तृतीय पाद और द्वितीय पादके समान चतुर्थ पाद जानना चाहिये। यही बात आगेके छन्दोंमें भी स्मरण रखनेयोग्य है।] जिसके प्रथम चरणमें तीन सगण और एक गुरु तथा द्वितीय चरणमें तीन भगण एवं दो गुरु हों, उस छन्दका नाम 'वेगवती'[६] है। जिसके पहले पादमें तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) और एक गुरु तथा दूसरे चरणमें मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) एवं दो गुरु हों, वह 'भद्रविराट्'[७] नामक छन्द है। जिसके प्रथम पादमें सगण, जगण, सगण और एक गुरु तथा द्वितीय पादमें भगण, रगण, नगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'केतुमती'[८] है। जिसके पहले चरणमें दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों तथा दूसरे चरणमें जगण, तगण, जगण एवं दो

१. रामा कामकरेणुका मृगायतनेत्रा, हृदयं हरति पयोधरावनम्रा।
इयमतिशयसुभगा, बहुविधनिधुवनकुशला ललिताङ्गी॥

२. बिम्बोष्ठि कठिनोन्नतस्तनावनताङ्गी, हरिणी शिशुनयना नितम्बगुर्वी।
जनयति मम मनसि मुदं मदिराक्षी, मदकलकरिगमना परिणतशशिवदना॥

३. कन्येयं कनकोज्ज्वला मनोहरदीप्तिः शशिनिर्मलवदना विशालनेत्रा।
पीनोरुनितम्बशालिनी सुखयति हृदयमतिशयं तरुणानाम्॥

४. उपचित्रकमत्र विराजते चूतवनं कुसुमैर्विकसद्भिः।
परपुष्टविघुष्टमनोहरं मन्मथकेलिनिकेतनमेतत्॥

५. यद्यपि शीघ्रगतिर्मृदुगामी बहुधनवानपि दुःखमुपैति। नातिशयत्वरिता न च मृद्वी नृपतिगतिः कथिता द्रुतमध्या॥

६. तव मुञ्ज नराधिपसेनां वेगवतीं सहते समरेषु। प्रलयोर्मिमिवाभिमुखीं तां कः सकलक्षितिभृन्निवहेषु॥

७. यत्पादतले चकास्ति चक्रं हस्ते वा कुलिशं सरोरुहं वा।
राजा जगदेकचक्रवर्ती स्याच्छं भद्रविराट् समश्रुतेऽसौ॥

८. हृतभूरिभूमिपतिचिह्नां युद्धसहस्रलब्धजयलक्ष्मीम्।
सहते न कोऽपि वसुधायां केतुमतीं नरेन्द्र तव सेनाम्॥

गुरु हों, उसे 'आख्यानिकी'[१] कहते हैं। इसके विपरीत यदि प्रथम चरणमें जगण, तगण, जगण एवं दो गुरु हों और द्वितीय चरणमें दो तगण, एक जगण तथा दो गुरु हों तो उसकी 'विपरीताख्यानकी'[२] संज्ञा होती है। जिसके पहले पादमें तीन सगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा दूसरेमें नगण, भगण, भगण एवं रगण मौजूद हों, उस छन्दका नाम 'हरिणप्लुता'[३] है। जिसके प्रथम चरणमें दो नगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु हो तथा दूसरे चरणमें एक नगण, दो जगण और एक रगण हो, वह 'अपरवक्त्र'[४] नामक छन्द है। जिसके प्रथम पादमें दो नगण, एक रगण और एक यगण हो तथा दूसरेमें एक नगण, दो जगण, एक रगण और एक गुरु हो, उसका नाम 'पुष्पिताग्रा'[५] है। जिसके पहले चरणमें रगण, जगण, रगण, जगण हो तथा दूसरेमें जगण, रगण, जगण, रगण और एक गुरु हो उसे 'यवमती'[६] कहते हैं। जिसके प्रथम और तृतीय चरणोंमें अट्ठाईस लघु और अन्तमें एक गुरु हो तथा दूसरे एवं चौथे चरणोंमें तीस लघु एवं एक गुरु हो तो उसका नाम 'शिखा'[७] होता है। इसके विपरीत यदि प्रथम और तृतीय चरणोंमें तीस लघु और एक गुरु हो तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणोंमें अट्ठाईस लघुके साथ एक गुरु हो तो उसे 'खञ्जा'[८] कहते हैं। अब 'समवृत्त'का दिग्दर्शन कराया जाता है॥ १—६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अर्धसमवृत्तका वर्णन' नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३३॥

तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय

समवृत्तका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—'यति' नाम है विच्छेद या विरामका। [पादके अन्तमें श्लोकार्ध पूरा होनेपर तथा कहीं-कहीं पादके मध्यमें भी 'यति' होती है।] जिसके प्रत्येक चरणमें क्रमशः

---

१. भृङ्गावलीमङ्गलगीतनादैर्जनस्य चित्ते मुदमादधाति।
आख्यानिकी च स्मरजन्मपाशमहोत्सवस्याश्रवणे क्वणन्ती॥

२. अलं तवालीकवचोभिरेभिः स्वार्थं प्रिये साधय कार्यमन्यत्।
कथं कथावर्णनकौतुकं स्यादाख्यानिकी चेद् विपरीतवृत्तिः॥
आख्यानिकीके दोनों भेद उपजातिके अन्तर्गत हैं। यहाँ विशेष संज्ञा-विधानके लिये पढ़े गये हैं।

३. तव मुञ्ज नराधिप विद्विषां भयविवर्जितकेतुलघीयसाम्।
रणभूमिपराङ्मुखवर्त्मनां भवति शीघ्रगतिर्हरिणीप्लुता॥

४. 'अपरवक्त्र' नामक छन्द 'वैतालीय' छन्दके अन्तर्गत है; फिर भी विशेष संज्ञा-विधानके लिये यहाँ पढ़ा गया है। उदाहरण—
सकृदपि कृपणेन चक्षुषा नरवर पश्यति यस्तवाननम्।
न पुनरपरवक्त्रमीक्षते स हि सुखितोऽर्थिजनस्तथाविधः॥

५. यह छन्द 'औपच्छन्दसक'के अन्तर्गत है, तो भी विशेष संज्ञा देनेके लिये इस प्रकरणमें इसका पाठ किया गया है। उदाहरण—
समसितदशना मृगायताक्षी स्मितसुभगा प्रियवादिनी विदग्धा।
अपहरति नृणां मनांसि रामा भ्रमरकुलानि लतेव पुष्पिताग्रा॥

६. पद्मकं तु कोमले करे विभाति प्रशस्तमत्स्यलाञ्छनं च पदे यस्याः।
सा यवान्विता भवेद्धनाधिका च समस्तबन्धुपूजिता प्रिया च पत्युः॥

७. अभिमतबकुलकुसुमघनपरिमलमिलदलिमुखरितहरिति मधौ सहचरमलयपवनरयतरलितसरसिजरजसि शयतरणि वितते।
विकसित विविधकुसुमसुलभसुरभिशरमदननिहतसकलजने ज्वलयति मम हृदयमविरतमिह सुतनु तव विरहदहनविषमशिखा॥

८. 'शिखा' छन्दके ही समान 'खञ्जा'का भी उदाहरण होगा। उसका सम इसका विषम होगा और उसका विषम इसका सम होगा।

तगण और यगण हों, उसका नाम 'तनुमध्या'[१] है। [यह गायत्री छन्दका वृत्त है।] जिसके प्रत्येक चरणमें जगण, सगण और एक गुरु हो, उसे 'कुमारललिता'[२] कहते हैं। [यह उष्णिक् छन्दका वृत्त है। इसमें तीन, चार अक्षरोंपर विराम होता है।] दो भगण और दो गुरुसे जिसके चरण बनते हों, वह 'चित्रपदा'[३] है। [यह अनुष्टुप् छन्दका वृत्त है, इसमें पादान्तमें ही यति होती है।] जिसके प्रत्येक पादमें दो मगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'विद्युन्माला'[४] है। [इसमें चार-चार अक्षरोंपर विराम होता है। यह भी अनुष्टुप्का ही वृत्त है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, तगण, एक लघु और एक गुरु हो, उसको 'माणवकाक्रीडितक'[५] कहते हैं। [इसमें भी चार-चार अक्षरोंपर विराम होता है।] जिसके प्रति चरणमें रगण, नगण और सगण हो, वह 'हलमुखी'[६] नामक छन्द है। [इसमें तीन, पाँच, छः अक्षरोंपर विराम होता है, यह बृहती छन्दका वृत्त है।] ॥ १-२ ॥

जिसके प्रत्येक चरणमें दो नगण और एक मगण हो, वह 'भुजङ्गशिशुभृता'[७] नामक छन्द है। [इसमें सात और दो अक्षरोंपर विराम है। यह भी बृहतीमें ही है।] मगण, नगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले छन्दको 'हंसरुत'[८] कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण और एक गुरु हों, वह 'शुद्धविराट्'[९] नामक छन्द कहा गया है। [यहाँसे इन्द्रवज्राके पहलेतकके छन्द पङ्क्ति छन्दके अन्तर्गत हैं; इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जिसके प्रत्येक पादमें मगण, नगण, यगण और एक गुरु हों, वह 'पणव'[१०] नामक छन्द है। [इसमें पाँच-पाँचपर विराम होता है।] रगण, जगण, रगण और एक गुरुयुक्त चरणवाले छन्दका नाम 'मयूरसारिणी'[११] है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] मगण, भगण, सगण और एक गुरुयुक्त चरणवाला छन्द 'मत्ता'[१२] कहलाता है। [इसमें चार-छ:पर विराम होता है।] जिसके प्रत्येक पादमें तगण, दो जगण और एक गुरु हो, उसका नाम 'उपस्थिता'[१३] है। [इसमें दो-आठपर विराम होता है।] भगण, मगण, सगण और एक गुरुसे युक्त पादवाला छन्द 'रुक्मवती'[१४] कहलाता है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जिसके प्रत्येक चरणमें दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों उसका नाम 'इन्द्रवज्रा'[१५] है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है। यहाँसे 'वंशस्थ'के पहलेतकके छन्द बृहतीके अन्तर्गत हैं।] जगण, तगण, जगण

---

१. उदाहरण—धन्या त्रिषु नीचा कन्या तनुमध्या। श्रोणीस्तनगुर्वो रामा रमणीया॥
२. उदाहरण—यदीह पतिसेवारता भवति योषा। कुमारललितासौ सदैव नमनीया॥
३. उदाहरण—यस्य मुखे प्रियवाणी चेतसि सज्जनता च। चित्रपदापि च लक्ष्मीस्तं पुरुषं न जहाति॥
४. उदाहरण—विद्युन्मालालोलान् भोगान् मुक्त्वा मुक्तौ यत्नं कुर्यात्। ध्यानोत्पन्नं निस्सामान्यं सौख्यं भोक्तुं यद्याकाङ्क्षेत्॥
५. उदाहरण—माणवकाक्रीडितकं यः कुरुते वृद्धवयाः। हास्यमसौ याति जने भिक्षुरिव स्त्रीचपलः॥
६. उदाहरण—गण्डयोरतिशयकृशं यन्मुखं प्रकटदशनम्। आयतं कलहनिरतं तां स्त्रियं त्यज हलमुखीम्॥
७. उदाहरण—इयमधिकतरं रम्या विकचकुवलयश्यामा। रमयति हृदयं यूनां भुजगशिशुभृता नारी॥
८. उदाहरण—अभ्यागामिशिशुलक्ष्मीमञ्जीरक्कणिततुल्यम्। तीरे राजति नदीनां रम्यं हंसरुतमेतत्॥
९. विश्वं तिष्ठति कुक्षिकोटरे वक्त्रे यस्य सरस्वती सदा। अस्मद्वंशपितामहो गुरुर्ब्रह्मा शुद्धविराट् पुनातु नः॥
१०. मीमांसारसममृतं पीत्वा शास्त्रोक्तिः पटुरितरा भाति। एवं संसदि विदुषां मध्ये जल्पामो जयपणबन्धत्वात्॥
११. उदाहरण—या वनान्तराण्युपैति कृष्णं द्रष्टुमुत्सुका शिखण्डमौलिम्। बर्हिणं विलोक्य राधिका मे सा मयूरसारिणी प्रणम्या॥
१२. उदाहरण—स्वैरालापैः श्रुतिपुटपेयैर्गीतैः शौरेश्चरित विशेषैः। श्यामप्रेम्णा व्रजवनितानां मध्ये मत्ता विलसति कापि॥
१३. उदाहरण—एषा जगदेकमनोहरा कन्या कनकोज्ज्वलदीधितिः। लक्ष्मीरिव दानवसूदनं पुण्यैर्नरनाथमुपस्थिता॥
१४. उदाहरण—पादतले पद्मोदरगौरे राजति यस्या ऊर्ध्वगरेखा। सा भवति स्त्री लक्षणयुक्ता रुक्मवती सौभाग्यवती च॥
१५. उदाहरण—ये दुष्टदैत्या इह भूमिलोके द्वेषं व्यधुर्गोद्विजदेवसंघे। तानिन्द्रवज्रादपि दारुणाङ्गानजीघतद् यः सततं नमस्ते॥

और दो गुरुसे युक्त पादोंवाला छन्द 'उपेन्द्रवज्रा'[१] कहलाता है। [इसमें भी पादान्तमें विराम होता है।] जब एक ही छन्दमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा—दोनोंके चरण लक्षित हों, तब उस छन्दका नाम 'उपजाति'[२] होता है। [इन दोनोंके मेलसे जो उपजाति बनती है, उसके प्रस्तारसे चौदह भेद होते हैं। इसी प्रकार 'वंशस्थ' और 'इन्द्रवज्रा' तथा 'शालिनी' और 'वातोर्मी'के मेलसे भी उपजाति छन्द होता है।]॥ ३—५॥

तीन भगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले वृत्तका नाम 'दोधक'[३] है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, तगण, तगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'शालिनी'[४] है। इसमें चार और सात अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक पादमें मगण, भगण, तगण एवं दो गुरु हों, उसे 'वातोर्मी'[५] छन्द नाम दिया गया है। इसमें भी चार-सातपर विराम होता है। प्रत्येक चरणमें मगण, भगण, तगण, नगण, एक लघु और एक गुरु होनेसे 'भ्रमरीविलसिता'[६] (या भ्रमरविलसिता) नामक छन्द होता है। इसमें भी चार और सात अक्षरोंपर ही विराम होता है। जिसके प्रति पादमें रगण, नगण, रगण, एक लघु और गुरु हों, उसे 'रथोद्धता'[७] कहते हैं। इसमें भी पूर्ववत् चार और सात अक्षरोंपर विराम होता है। रगण, नगण, भगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले छन्दको 'स्वागता'[८] कहते हैं। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जिसके प्रत्येक पादमें दो नगण, सगण और दो गुरु हों, उसे 'वृत्ता'[९] (या 'वृन्ता') कहते हैं। [इसमें चार-सातपर विराम होता है।] जिसके चरण रगण, जगण, रगण, एक लघु और एक गुरुसे युक्त हों, उसे 'श्येनी'[१०] नामक छन्द कहा गया है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] जगण, रगण, जगण एवं दो गुरुसे युक्त चरणवाले

---

१. उदाहरण—भवन्नखाः कुन्ददलश्रियो ये नमन्ति लक्ष्मीस्तनलेखनेऽपि।
उपेन्द्रवज्राधिककर्कशत्वं कथं गतास्ते रिपुदारणायाम्॥

२. उदाहरण—तत्रोपजातिर्विविधा विदग्धैः संयोज्यते तु व्यवहारकाले।
अतः प्रयत्नः प्रथमं विधेयो नृपेण पुंरत्नपरीक्षणाय॥

३. दोधकमर्थविरोधकमग्रं स्त्रीचपलं युधि कातरचित्तम्।
स्वार्थपरं मतिहीनममात्यं मुञ्चति यो नृपतिः स सुखी स्यात्॥

४. शस्त्रश्यामा स्निग्धमुग्धायताक्षी पीनश्रोणिर्दक्षिणावर्तनाभिः।
मध्ये क्षामा पीवरोरुस्तनी या श्लाघ्या भर्तुः शालिनी कामिनी सा॥

५. यात्युत्सेकं सपदि प्राप्य किंचित् स्याद् वा यस्याश्चपला चित्तवृत्तिः।
या दीर्घाङ्गी स्फुटशब्दाट्टहासा त्याज्या सा स्त्री द्रुतवातोर्मिमाला॥

६. किं ते वक्त्रं चलदलकचितं किं वा पद्मं भ्रमरविलसितम्।
इत्येवं मे जनयति मनसि भ्रान्तिं कान्ते परिसर सरसि॥

७. या करोति विविधैर्नरैः समं संगतिं परगृहे रता च या।
म्लानयत्युभयतोऽपि बान्धवान् मार्गधूलिरिव सा रथोद्धता॥

८. आहवं प्रविशतो यदि राहुः पृष्ठतश्चरति वायुसमेतः।
प्राणवृत्तिरपि यस्य शरीरे स्वागता भवति तस्य जयश्रीः॥

९. द्विजगुरुपरिभवकारी यो नरपतिरतिधनलुब्धात्मा।
ध्रुवमिह निपतति पापोऽसौ फलमिव पवनहतं वृन्तात्॥

१०. क्रूरदृष्टिरायताग्रनासिका चञ्चला कठोरतीक्ष्णनादिनी।
युद्धकाङ्क्षिणी सदामिषप्रिया श्येनिकेव सा विगर्हिताङ्गना॥

छन्दका नाम 'रम्या'[१] एवं 'विलासिनी' है। [यहाँ पादान्तमें ही विराम होता है।] ॥ ६—८॥

यहाँसे 'जगती' छन्दका अधिकार आरम्भ होता है [और 'प्रहर्षिणी'के पहलेतक रहता है]। जिसके प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण और रगण हों, उस छन्दका नाम 'वंशस्था'[२] है। [यहाँ पादान्तमें विराम होता है।] दो तगण, जगण तथा रगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'इन्द्रवंशी'[३] कहते हैं। [यहाँ भी पादान्तमें ही विराम होता है।] जिसके प्रत्येक पादमें चार सगण हों, उसका नाम 'तोटक'[४] बताया गया है। जिसके प्रत्येक पादमें नगण, भगण, भगण और रगण हों, उसका नाम 'द्रुतविलम्बित'[५] है। ['तोटक' और 'द्रुतविलम्बित' दोनोंमें पादान्त-विराम ही माना गया है।] जिसके सभी चरणोंमें दो-दो नगण, एक-एक मगण तथा एक-एक यगण हों, उस छन्दका नाम 'श्रीपुट'[६] है। इसमें आठ और चार अक्षरोंपर विराम होता है। जगण, सगण, जगण, सगणसे युक्त पादोंवाले छन्दको 'जलोद्धतगति'[७] कहते है। इसमें छः-छः अक्षरोंपर विराम होता है। दो नगण, एक मगण तथा एक रगणसे युक्त चरणवाले छन्दका नाम 'तत'[८] है। नगण, यगण, नगण, यगणसे युक्त पादवाला छन्द 'कुसुमविचित्रा'[९] कहलाता है। [इसमें भी छः-छः अक्षरोंपर विराम होता है।] जिसके प्रत्येक चरणमें दो नगण और दो रगण हों, उसका नाम 'चञ्चलाक्षिका'[१०] है। [इसके भीतर सात-पाँचपर विराम होता है।] प्रत्येक पादमें चार यगण होनेसे 'भुजंगप्रयात'[११] और चार रगण होनेसे 'स्रग्विणी'[१२] नामक छन्द होता है। [इन दोनोंमें

---

१. विलासिनीविलासमोहितानां नृणां हृदि क्व सत्त्वशालि धैर्यम्।
स उर्वशीवशीकृतो नरेन्द्रस्तदर्थमुन्मना चचार भूमौ॥
२. विशुद्धवंशस्थमुदारचेष्टितं गुणप्रियं मित्रमुपात्तसज्जनम्।
विपत्तिमग्नस्य करावलम्बनं करोति यः प्राणपरिक्रयेण सः॥
३. कुर्वीत यो देवगुरुद्विजन्मनामुर्वीपतिः पालनमर्थलिप्सया।
तस्येन्द्रवंशेऽपि गृहीतजन्मनः संजायते श्रीः प्रतिकूलवर्तिनी॥
४. अमुना यमुनाजलकेलिकृता सहसा तरसा परिरभ्य धृता।
हरिणा हरिणाकुलनेत्रवती न ययौ नवयौवनभारवती॥
५. द्रुतगतिः पुरुषो धनभाजनं भवति मन्दगतिश्च सुखोचितः।
द्रुतविलम्बितखेलगतिर्नृपः सकलराज्यसुखं प्रियमश्नुते॥
६. न विचलति कथंचिन्न्यायमार्गाद् वसुनि शिथिलमुष्टिः पार्थिवो यः।
अमृतपुट इवासौ पुण्यकर्मा भवति जगति सेव्यः सर्वलोकैः॥
७. भनक्ति समरे बहूनपि रिपून् हरिः प्रभुरसौ भुजोर्जितबलः।
जलोद्धतगतिर्यथैव मकरस्तरङ्गनिकरं करेण परितः॥
८. कुरु करुणमियं गाढोत्कण्ठिका यदुतनय चकोरी कामाधिका।
विरहदहनसङ्गादङ्गैः कृशा पिबतु तव मुखेन्दोर्बिम्बं दृशा॥
९. धृतनवहारं विगतविकारं सदयमुदारं विमलविचारम्।
विरचितवेषं विबुधविशेषं वरयति शय्या कुसुमविचित्रा॥
१०. अतिसुरभिरभाजि पुष्पश्रियामतनुतरतयेव संतानकः।
तरुणपरभृतः स्वनं रागिणामतनुत रतये वसन्तानकः॥
११. पुरः साधुवद्भाति मिथ्या विनीतः परोक्षे करोत्यर्थनाशं हताशः।
भुजंगप्रयातोपमं यस्य चित्तं त्यजेत्तादृशं दुश्चरित्रं कुमित्रम्॥
१२. यो रणे युद्ध्यते निर्भरं निर्भयस्त्यागिता यस्य सर्वस्वदानावधिः।
तं नरं वीरलक्ष्मीर्यशःस्रग्विणी नूनमभ्येति सत्कीर्तिशुक्लांशुका॥

पादान्तविराम माना गया है।] जिसके प्रत्येक चरणमें सगण, जगण तथा दो सगण हों, उसकी 'प्रमिताक्षरा'[१] संज्ञा होती है। [इसमें भी पादान्तविराम ही अभीष्ट है।] भगण, मगण, सगण, मगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'कान्तोत्पीडा'[२] कहते हैं। [इसमें भी पादान्त-विराम माना गया है।] दो मगण और दो यगणयुक्त चरणवाले छन्दको 'वैश्वदेवी'[३] नाम दिया गया है। इसमें पाँच-सात अक्षरोंपर विराम होता है। यदि प्रत्येक पादमें नगण, जगण, भगण और यगण हों तो उस छन्दका नाम 'नवमालिनी'[४] होता है। यहाँतक 'जगती' छन्दका अधिकार है॥ ९—१३॥

[अब 'अतिजगती' छन्दके अवान्तर भेद बतलाते हैं—] जिसके प्रत्येक चरणमें मगण, नगण, जगण, रगण तथा एक गुरु हों, उसकी 'प्रहर्षिणी'[५] संज्ञा है। इसमें तीन और दस अक्षरोंपर विराम होता है। जगण, भगण, सगण, जगण तथा एक गुरुसे युक्त चरणवाले छन्दका नाम 'रुचिरा'[६] है। इसमें चार तथा नौ अक्षरोंपर विराम माना गया है। मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरुयुक्त पादवाले छन्दको 'मत्तमयूर'[७] कहते हैं। इसमें चार और नौ अक्षरोंपर विराम होता है। तीन नगण, एक सगण और एक गुरुसे युक्त पादवाले छन्दकी 'गौरी'[८] संज्ञा है।

[अब शक्करीके अन्तर्गत विविध छन्दोंका वर्णन किया जाता है—] जिसके प्रत्येक पादमें मगण, तगण, नगण, सगण तथा दो गुरु हों और पाँच एवं नौ अक्षरोंपर विराम होता हो, उसका नाम 'असम्बाधा'[९] है। जिसके प्रतिपादमें दो नगण, रगण, सगण और एक लघु और एक गुरु हों तथा सात-सात अक्षरोंपर विराम होता हो, वह 'अपराजिता'[१०] नामक छन्द है। दो नगण, भगण, नगण, एक लघु और एक गुरुसे युक्त पादवाले छन्दको 'प्रहरणकलिता'[११] कहते हैं।

---

१. परिशुद्धवाक्यरचनातिशयं परिषिञ्चती श्रवणयोरमृतम्।
प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती तव भारती हरति मे हृदयम्॥
२. कान्तकरैराप्ता यदि कान्तोत्पीडां सा मनुते क्रीडां मुदित स्वान्ता स्यात्।
स्नेहवती मान्या गृहिणी सम्राज्ञी गेहगता देवी सदृशी सा नित्यम्॥
३. धन्यः पुण्यात्मा जायते कोऽपि वंशे तादृक् पुत्रोऽसौ येन गोत्रं पवित्रम्।
गोविप्रज्ञातिस्वामिकार्ये प्रवृत्तः शुद्धं श्राद्धादौ वैश्वदेवी भवेद् यः॥
४. धवलयशोऽङ्कुशेन परिवीता सकलजनानुरागघुसृणाक्ता।
दृढगुणबद्धकीर्तिकुसुमौधै स्तव नवमालिनीव नृपलक्ष्मीः॥
५. श्रीवृन्दावननवकुञ्जकेलिसद्मा पद्माक्षी मुररिपुसङ्गशालिनी च।
श्रीराधा प्रियतममुष्टिमेयमध्या मद्ध्याने भवतु मनःप्रहर्षिणी मे॥
६. मृगत्वचा रुचिरतराम्बरक्रियः कपालभृत् कपिलजटाग्रपल्लवः।
ललाटदृग्दहनतृणीकृतस्मरः पुनातु वः शिशुशशिशेखरः शिवः॥
७. व्यूढोरस्कः सिंहसमानानतमध्यः पीनस्कन्धो मांसलहस्तायतबाहुः।
कम्बुग्रीवः स्निग्धशरीरस्तनुलोमा भुङ्क्ते राज्यं मत्तमयूराकृतिनेत्रः॥
८. सकलभुवनजनगणनतपादा निजपदभजनशमितविषादा।
विजितसरसिरुहनयनपद्मा भवतु सकलमिह जगति गौरी॥
९. भङ्क्त्वा दुर्गाणि द्रुमवनमखिलं छित्त्वा हत्वा तत्सैन्यं करितुरगबलं हित्वा।
येनासम्बाधा स्थितिरजनि विपक्षाणां सर्वोर्वीनाथः स जयति नृपतिर्मुञ्जः॥
१०. फणिपतिवलयं जटामुकुटोज्ज्वलं मनसिजमथनं त्रिशूलविभूषितम्।
स्मरसि यदि सखे शिवं शशिशेखरं भवति तव तनुः परैरपराजिता॥
११. सुरमुनिमनुजैरुपचितचरणां रिपुभयचकितत्रिभुवनशरणम्।
प्रणमत महिषासुरवधकुपितां प्रहरणकलितां पशुपतिदयिताम्॥

इसमें सात-सातपर विराम होता है। तगण, भगण, दो जगण और दो गुरुसे युक्त पादवाले छन्दकी 'वसन्ततिलका'[1] संज्ञा है। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] किसी-किसी मुनिके मतमें इसका नाम 'सिंहोन्नता' और 'उद्धर्षिणी' भी है॥ १४—१७॥

[इसके आगे 'अतिशक्वरी'का अधिकार है।] जिसके प्रत्येक पादमें चार नगण और एक सगण हों, उसका नाम 'चन्द्रावती'[2] है। [इसमें सात-आठपर विराम होता है।] इसीमें जब छः और नौ अक्षरोंपर विराम हो तो इसका नाम 'माला'[3] होता है। आठ और सातपर विराम होनेसे यह छन्द 'मणिगणनिकर'[4] कहलाता है। दो नगण, मगण और दो यगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'मालिनी'[5] कहते हैं। इसमें भी आठ और सात अक्षरोंपर ही विराम होता है। भगण, रगण, तीन नगण और एक गुरुसे युक्त चरणवाले छन्दको 'ऋषभगजविलसित'[6] नाम दिया गया है। इसमें सात-नौ अक्षरोंपर विराम होता है। [यह 'अष्टि' छन्दके अन्तर्गत है।] यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, एक लघु तथा एक गुरुसे युक्त चरणोंवाले छन्दको 'शिखरिणी'[7] कहते हैं। इसमें छः तथा ग्यारह अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरणमें जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ-नौ अक्षरोंपर विराम हो उसका नाम 'पृथ्वी'[8] है—यह पूर्वकालमें आचार्य पिङ्गलने कहा है। मगण, रगण, नगण, भगण, नगण, एक लघु तथा एक गुरुसे युक्त पदवाले छन्दको 'वंशपत्रपतित'[9] कहते हैं। इसमें दस-सातपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरणमें नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, एक लघु तथा एक गुरु हों और छः, चार एवं सात अक्षरोंपर विराम हो, उसका नाम 'हरिणी'[10] है। [शिखरिणीसे मन्दाक्रान्तातकका छन्द 'अत्यष्टि'के अन्तर्गत है।] मगण, भगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरुसे युक्त पादोंवाले

---

१. उद्धर्षिणी जनदृशां स्तनभारगुर्वी नीलोत्पलद्युतिमलिम्लुचलोचना च।
सिंहोन्नतत्रिकतटी कुटिलालकान्ता कान्ता वसन्ततिलका नृपवल्लभासौ॥

२. पटुजवपवनचलितजललहरीतरलितविहगनिचयरवमुखरम्।
विकसितकमलसुरभिशुचिसलिलं विचरति पथिकमनसि शरदि सरः॥

३. नवविकसितकुवलयदलनयनं अमृतमधुररसमयमृदुवचनम्।
मधुरिपुरुचिरजलजयुगचरणं परिसर शरणममशरणशरणम्॥

४. कथमपि निपतितमतिमहति पदे नरमनुसरति न फलमनुपचितम्।
अपि वरयुवतिषु कुचतटनिहतः स्पृशति न वपुरिह मणिगणनिकरः॥

५. अतिविपुलललाटं पीवरोरःकपाटं सुघटितदशनोष्ठं व्याघ्रतुल्यप्रकोष्ठम्।
पुरुषमशनिलेखालक्षणं वीरलक्ष्मीरतिसुरभियशोभिर्मालिनीवाभ्युपैति॥

६. आयतबाहुदण्डमुपचितपृथुहृदयं पीनकटिप्रदेशमृषभगजविलसितम्॥
वीरमुदारसत्त्वमतिशयगुणरसिकं श्रीरतिचञ्चलापि न परिहरति पुरुषम्॥

७. यशःशेषीभूते जगति नरनाथे गुणनिधौ प्रवृत्ते वैराग्ये विषयरसनिष्क्रान्तमनसाम्।
इदानीमस्माकं घनतरुलतां निर्झरवतीं तपस्तप्तुं चेतो भवति गिरिमालां शिखरिणीम्॥

८. हताः समिति शत्रवस्त्रिभुवने प्रकीर्णं यशः कृतश्च गुणिनां गृहे निरवधिर्महानुत्सवः।
त्वया कृतपरिग्रहे क्षितिपवीर सिंहासने नितान्तनिरवग्रहा फलवती च पृथ्वी कृता॥

९. अद्य कुरुष्व कर्म सुवृतं यदि परदिवसे मित्र विधेयमस्ति भवतः किमु चिरयसि तत्।
जीवितमल्पकालकलनालघुतरतरलं नश्यति वंशपत्रपतितं हिमसलिलमिव॥

१०. कुवलयदलश्यामा पीनोन्नतस्तनशालिनी चकितहरिणीनेत्रच्छायामलिम्लुचलोचना।
मनसिजधनुर्ज्यानिर्घोषैरिव श्रुतिपेशलैर्मनसि ललना लीलालापैः करोति ममोत्सवम्॥

छन्दको 'मन्दाक्रान्ता'[१] कहते हैं। इसमें चार, छ: और सात अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके पादोंमें मगण, तगण, नगण तथा तीन यगण हों, वह 'कुसुमितलतावेल्लिता'[२] छन्द है। [यह 'धृति' छन्दके अन्तर्गत है।] इसमें पाँच, छ: तथा सात अक्षरोंपर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण, भगण, दो तगण और एक गुरु हों, उसका नाम 'शार्दूलविक्रीडित'[३] है। इसमें बारह तथा सात अक्षरोंपर विराम होता है। [यह छन्द 'अतिधृति'के अन्तर्गत है] ॥ १८—२३ ॥

'सुवदना'[४] छन्द 'कृति'के अन्तर्गत है। इसके प्रत्येक पादमें मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, भगण, एक लघु और एक गुरु होते हैं। इसमें सात, सात, छ:पर विराम होता है। जब कृतिके प्रत्येक पादमें क्रमश: गुरु और लघु अक्षर हों तो उसे 'वृत्त'[५] छन्द कहते हैं। मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगणसे युक्त चरणोंवाले छन्दका नाम 'स्रग्धरा'[६] है। इसमें सात-सातके तीन विराम होते हैं। [यह 'प्रकृति' छन्दके अन्तर्गत है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, रगण, नगण, रगण, नगण, रगण, नगण तथा एक गुरु हों और दस-बारह अक्षरोंपर विराम होता हो, उसे 'सुभद्रक'[७] छन्द कहते हैं। [यह 'आकृति' छन्दके अन्तर्गत है।] नगण, जगण, भगण, जगण, भगण, जगण, भगण, एक लघु और एक गुरुसे युक्त पादवाले छन्दकी 'अश्वललिता'[८] संज्ञा है। इसमें ग्यारह-बारहपर विराम होता है। [यह 'विकृति'के अन्तर्गत है] ॥ २४-२५ $\frac{१}{२}$ ॥

जिसके प्रत्येक चरणमें दो मगण, एक तगण, चार नगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ और पंद्रहपर विराम हो, उसे 'मत्तक्रीडा'[९] [या मत्ताक्रीडा] कहते हैं। [यह भी 'विकृति'में ही है।] जिसके पृथक्-पृथक् सभी पादोंमें भगण, तगण, नगण, सगण, फिर दो भगण, नगण और यगण हों तथा पाँच, सात, बारहपर विराम होता हो, उसकी 'तन्वी'[१०] संज्ञा है। [यह 'संस्कृति' छन्दके अन्तर्गत है।] जिसके प्रत्येक चरणमें भगण, मगण, सगण, भगण, चार नगण और एक

१. प्रत्यादिष्टं समरशिरस: कां दिशं प्रप्य नष्टं त्वं नि:शेषं कुरु रिपुबलं मार्गमासाद्य सद्य:।
किं नाश्रौषी: परिणतधियां नीतियोग्योपदेशं मन्दाक्रान्ता भवति फलिनी नारिलक्ष्मी: क्षयाय॥

२. धन्या नामैता: कुसुमितलतावेल्लितोत्फुल्लवृक्षा: सोत्कण्ठं कूजत्परभृतकलालापकोलाहलिन्य:।
मध्वादौ माद्यन्मधुकरकलोद्गीतझंकाररम्या ग्रामान्तस्रोत:परिसरभुव: प्रीतिमुत्पादयन्ति॥

३. कम्बुग्रीवमुदग्रबाहुशिखरं रक्तान्तदीर्घेक्षणं शालप्रांशुशरीरमायतभुजं विस्तीर्णवक्ष:स्थलम्।
कीलस्कन्धमनुद्धतं परिजने गम्भीरसत्यस्वरं राज्यश्री: समुपैति वीरपुरुषं शार्दूलविक्रीडितम्॥

४. या पीनोद्गाढतुङ्गस्तनजघनघनाभोगालसगतिर्यस्या: कर्णावतंसोत्पलरुचिजयिनी दीर्घे च नयने।
श्यामा सीमन्तिनीनां तिलकमिव मुखे या च त्रिभुवने सम्प्राप्ता साम्प्रतं मे नयनपथमसौ दैवात् सुवदना॥

५. जन्तुमात्रदु:खकारिकर्म निर्मितं भवत्यनर्थहेतु तेन सर्वमात्मतुल्यमीक्षमाण उत्तमं सुखं लभस्व।
विद्धि बुद्धिपूर्वकं ममोपदेशवाक्यमेतदादरेण वृत्तमेतदुत्तमं महाकुलप्रसूतजन्मनां हिताय॥

६. रेखाभ्रू: शुभ्रदन्तद्युतिहसितशरच्चन्द्रिका चारुमूर्तिर्माद्यन्मातङ्गलीलागतिरतिविपुलाभोगतुङ्गस्तनी या।
रम्भास्तम्भोपमोरूरलिमलिनघनस्निग्धधम्मिल्लहस्ता राधायै रक्तकण्ठी दिशतु नवमुदं स्रग्धरा कापि गोपी॥

७. भद्रकगीतिभि: सकृदपि स्तुवन्ति भव ये भवन्तमभवं भक्तिभरावनम्रशिरस: प्रणम्य तव पादयो: सुकृतिन:।
ते परमेश्वरस्य पदवीमवाप्य सुखमाप्नुवन्ति विपुलं मर्त्यभुवं स्पृशन्ति न पुनर्मनोहरसुराङ्गनापरिवृता:॥

८. पवनविधूतवीचिचपलं विलोकयति जीवितं तनुभृतां वपुरपि हीयमानमनिशं जरावनितया वशीकृतमिदम्।
सपदि निपीडनव्यतिकरं यमादिव नराधिपामरयश: परवनितामवेक्ष्य कुरुते तथापि हतबुद्धिरश्वललितम्॥

९. हृद्यं मद्यं पीत्वा नारी स्खलितगतिरतिशयरसिकहृदया मत्ताक्रीडालोलैरङ्गैर्मुदमखिलविटजनमनसि कुरुते।
वीतक्रीडाश्लीलालापै: श्रवणसुखसुभगसुललितवचना नृत्यैर्गीतैर्भ्रूविक्षेपै: कलभणितविविधविहगकुलरुतै:॥

१०. चन्द्रमुखी सुन्दरघनजघना कुन्दसमानशिखरदशना या निष्कलवीणाश्रुतिसुखवचना त्रस्तकुरङ्गतरलनयनान्ता।
निर्मुखपीनोन्नतकुचकलशा मत्तगजेन्द्रललितगतिभासा निर्भरलीलाचरितवितत‍ये नन्दकुमार भवतु तव तन्वी॥

गुरु हों तथा पाँच-पाँच, आठ और सातपर विराम होता हो, उस छन्दका नाम 'क्रौञ्चपदा'[१] है। [यह 'अभिकृति'के अन्तर्गत है।] जिसके प्रतिपादमें दो मगण, तगण, तीन नगण, रगण, सगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ, ग्यारह और सातपर विराम होता हो, उस छन्दको 'भुजंगविजृम्भित'[२] कहते हैं। [यह 'उत्कृति' छन्दके अन्तर्गत है।] जिसके प्रत्येक पादमें एक मगण, छः नगण, एक सगण और दो गुरु हों तथा नौ, छः-छः एवं पाँच अक्षरोंपर विराम होता हो, उसको 'अपहाव'[३] या 'उपहाव' नाम दिया गया है। [यह भी 'उत्कृति'में ही है]॥ २६—२८॥

[अब 'दण्डक' जातिका वर्णन किया जाता है—] जिसके प्रत्येक चरणमें दो नगण और सात रगण हों, उसका नाम 'दण्डक'[४] है; इसीको 'चण्डवृष्टिप्रपात' भी कहते हैं। [इसमें पादान्तमें विराम होता है।] उक्त छन्दमें दो नगणके सिवा रगणमें वृद्धि करनेपर 'व्याल', 'जीमूत' आदि नामवाले 'दण्डक' बनते हैं। 'चण्डप्रपात'के बाद अन्य जितने भी भेद होते हैं, वे सभी दण्डक-प्रस्तार 'प्रचित'[५] कहलाते हैं। अब 'गाथा-प्रस्तार'का वर्णन करते हैं॥ २९-३०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समवृत्तनिरूपण' नामक तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३४॥

तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय

प्रस्तार-निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! इस छन्दःशास्त्रमें जिन छन्दोंका नामतः निर्देश नहीं किया गया है, किंतु जो प्रयोगमें देखे जाते हैं, वे सभी 'गाथा' नामक छन्दके अन्तर्गत हैं। अब 'प्रस्तार' बतलाते हैं। जिसमें सब अक्षर गुरु हों, ऐसे पादमें जो आदिगुरु हो, उसके नीचे लघुका उल्लेख करे। [यह 'एकाक्षर-प्रस्तार'की बात हुई। 'द्व्यक्षर-प्रस्तार'में] उसके बाद इसी क्रमसे वर्णोंकी स्थापना करे, अर्थात् पहले गुरु और उसके नीचे लघु[६]॥ १॥

---

१. या कपिलाक्षी पिङ्गलकेशी कलिरुचिरनुदिनमनुनयकठिना दीर्घतराभिः स्थूलशिराभिः परिवृतवपुरतिशयकुटिलगतिः।
आयतजङ्घा निम्नकपोला लघुतरकुचयुगपरिचितहृदया सा परिहार्या क्रौञ्चपदा स्त्री ध्रुवमिह निरवधिसुखमभिलषिता॥

२. ये संनद्धानेकानीकैर्नरतुरगकरिपरिवृतैः समं तव शत्रवो युद्धश्रद्धालुब्धात्मानस्त्वदभिमुखमपगतभियः पतन्ति धृतायुधाः।
ये त्वां दृष्ट्वा संग्रामाग्रे नृपतिवर कृपणमनसश्चलन्ति दिगन्तरं किं वा सोढुं शक्यन्ते कैर्बहुभिरपि सविषविषमं भुजंगविजृम्भितम्॥

३. श्रीकण्ठं त्रिपुरदहनममृतकिरणशकलललितशिरसं रुद्रं भूतेशं हतमुनिमखमखिलभुवननमितचरणयुगमीशानम्।
सर्वज्ञं वृषभगमनमहिपतिकृतवलयरुचिरकरमाराध्यं तं वन्दे भवभयभिदमभिमतफलवितरणगुरुमुमया युक्तम्॥

४. दण्डकका उदाहरणः—
इह हि भवति दण्डकारण्यदेशे स्थितिः पुण्यभाजां मुनीनां मनोहारिणी त्रिदशविजयिवीर्य दृप्यद्दशग्रीवलक्ष्मीविरामेण रामेण संसेविते।
जनकयजनभूमिसम्भूतसीमन्तिनीसीमसीतापदस्पर्शपूताश्रये भुवननिमितपादपद्माभिनाम्बिकातीर्थयात्रागतानेकसिद्धाकुले॥

५. प्रचित दण्डकका उदाहरणः—
प्रथमकथितदण्डकश्चण्डवृष्टि प्रपाताभिधानो मुनेः पिङ्गलाचार्यनाम्नोमतः प्रचित इति ततः परं दण्डकानामियं जातिरेकैकरेफाभिवृद्ध्या यथेष्टं भवेत्।

स्वरुचिविरचितसंज्ञया तद्विशेषैरशेषैः पुनः काव्यमन्येऽपि कुर्वन्तु वागीश्वराः।
भवति यदि समानसंख्याक्षरैर्यत्र पादव्यवस्था ततो दण्डकः पूज्यतेऽसौ जनैः॥

६. किस छन्दके कितने भेद हो सकते हैं, इसका ज्ञान करानेवाले प्रत्यय या प्रणालीको 'प्रस्तार' आदि कहते हैं। प्रस्तार आदि छः हैं— प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्व्यादिलगक्रिया, संख्या तथा अध्वयोग। एक अक्षरवाले छन्दका भेद जाननेके लिये पहले एक गुरु लिखकर

(प्रस्तारके अनन्तर अब 'नष्ट' द्वारका वर्णन | करते हैं। अर्थात् जब यह जाननेकी इच्छा हो कि

उसके नीचे एक लघु लिखे। इस प्रकार एकाक्षर छन्दके दो ही भेद हुए। दो अक्षरके छन्दके भेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकाक्षर-प्रस्तारको ही दो बार लिखे; अर्थात् पहले एक गुरु और उसके नीचे एक लघु लिखकर नीचे एक तिरछी रेखा खींच दे। फिर उसके नीचे एक गुरु लिखकर उसके अधोभागमें भी एक लघु लिख दे। तत्पश्चात् पहली आवृत्तिमें द्वितीय अक्षरके स्थानपर गुरु और द्वितीय आवृत्तिमें द्वितीय अक्षरके स्थानपर लघुका उल्लेख कर रेखा हटा दे। इस प्रकार दो अक्षरवाले छन्दके चार भेद हुए। 'द्व्यक्षर-प्रस्तार'को भी पूर्ववत् दो आवृत्तियोंमें स्थापित करके प्रथम आवृत्तिमें तृतीय अक्षरोंकी जगह गुरु और द्वितीय आवृत्तिमें तृतीय अक्षरोंकी जगह लघु लिखना चाहिये। इस प्रकार 'त्र्यक्षर प्रस्तार'में आठ भेद होंगे। इसकी भी दो आवृत्तियाँ करके पूर्ववत् लघु-गुरु-स्थापन करनेसे सोलह भेद 'चतुरक्षर-प्रस्तार'के होंगे। इसी प्रक्रियासे 'पञ्चाक्षर-प्रस्तार'के ३२ और छः अक्षरवाले गायत्री आदि छन्दोंके प्रस्तारभेद ६४ होंगे। सप्ताक्षर आदिके भेद जाननेकी भी यही प्रणाली है। नीचे रेखाचित्रद्वारा इन सब भेदोंका स्पष्टीकरण किया जाता है—

एकाक्षर-प्रस्तार:—

ऽ	१
।	२

द्व्यक्षर-प्रस्तार:—

ऽऽ	१
।ऽ	२
ऽ।	३
।।	४

त्र्यक्षर-प्रस्तार:—

ऽऽऽ	१
।ऽऽ	२
ऽ।ऽ	३
।।ऽ	४
ऽऽ।	५
।ऽ।	६
ऽ।।	७
।।।	८

चतुरक्षर-प्रस्तार:—

ऽऽऽऽ	१
।ऽऽऽ	२
ऽ।ऽऽ	३
।।ऽऽ	४
ऽऽ।ऽ	५
।ऽ।ऽ	६
ऽ।।ऽ	७
।।।ऽ	८
ऽऽऽ।	९
।ऽऽ।	१०
ऽ।ऽ।	११
।।ऽ।	१२
ऽऽ।।	१३
।ऽ।।	१४
ऽ।।।	१५
।।।।	१६

उपर्युक्त रेखाचित्रद्वारा समवृत्तोंकी संख्या जानी जाती है। इस समवृत्तकी संख्यामें उसीसे गुणा करनेपर समसहित अर्धसमवृत्तकी संख्या ज्ञात होती है तथा पुनः उसीमें उसीसे गुणा करनेपर समार्धसमसहित विषमवृत्तकी संख्या जानी जाती है। इसका संकेत इस प्रकार है—

समवृत्त संख्या × (गुणे) समवृत्त संख्या=अर्धसमवृत्त संख्या। अर्धसमवृत्त संख्या × (गुणे) अर्धसमवृत्त संख्या=विषमवृत्त संख्या। इस प्रकार मिश्रित संख्याका ज्ञान होता है। शुद्ध संख्याके ज्ञानकी प्रणाली इस प्रकार है—अर्धसमवृत्त संख्या—समवृत्त संख्या=शुद्धार्ध समवृत्त संख्या। विषमवृत्त संख्या—अर्धसमवृत्त संख्या=शुद्धविषमवृत्त संख्या। नीचे इसकी तालिका दी जाती है—

समवृत्त संख्या		समगुणित अर्धसमवृत्त संख्या	अर्धसमगुणित विषमवृत्त संख्या
एकाक्षर छन्दमें—	२	४	१६
द्व्यक्षर "	४	१६	२५६
त्र्यक्षर "	८	६४	४०९६
चतुरक्षर "	१६	२५६	६५५३६
पञ्चाक्षर "	३२	१०२४	१०४८५७६
षडक्षर "	६४	४०९६	१६७७७२१६

गायत्री या अन्य किसी छन्दके समवृत्तोंमेंसे छठा भेद कैसा होगा, तब इसका उत्तर देनेकी प्रणालीपर विचार करते हैं—] नष्ट-संख्याको आधी करनेपर जब वह दो भागोंमें बराबर बँट जाय, तब एक लघु लिखना चाहिये। यदि आधा करनेपर विषम संख्या हाथ लगे तो उसमें एक जोड़कर सम बना ले और इस प्रकार पुन: आधा करे। ऐसी अवस्थामें एक गुरु अक्षरकी प्राप्ति होती है। उसे भी अन्यत्र लिख ले। जितने अक्षरवाले छन्दके भेदको जानना हो, उतने अक्षरोंकी पूर्ति होनेतक पूर्वोक्त प्रणालीसे गुरु-लघुका उल्लेख करता रहे। [जैसे गायत्री छन्दके छठे भेदका स्वरूप जानना हो तो छ:का आधा करना होगा। इससे एक लघु (।)-की प्राप्ति हुई। बाकी रहा तीन; इसमें दोका भाग नहीं लग सकता, अत: एक जोड़कर आधा किया जायगा। इस दशामें एक गुरु (ऽ)-की प्राप्ति हुई। इस अवस्थामें चारका आधा करनेपर दो शेष रहा, दोका आधा करनेपर एक शेष रहा तथा एक लघु (।)-की प्राप्ति हुई। अब एक समसंख्या न होनेसे उसमें एक और जोड़ना पड़ा; इस दशामें एक गुरु (ऽ)-की प्राप्ति हुई। फिर दोका आधा करनेसे एक हुआ और उसमें एक जोड़ा गया। पुन: एक गुरु (ऽ) अक्षरकी प्राप्ति हुई। फिर यही क्रिया करनेसे एक गुरु (ऽ) और उपलब्ध हुआ। गायत्रीका एक पाद छ: अक्षरोंका है, अत: छ: अक्षर पूरे होनेपर यह प्रक्रिया बंद कर देनी पड़ी। उत्तर हुआ गायत्रीका छठा समवृत्त। ऽ। ऽऽऽ इस प्रकार है।] [अब 'उद्दिष्ट'की प्रक्रिया बतलाते हैं। अर्थात् जब कोई यह पूछे कि अमुक छन्द प्रस्तारगत किस संख्याका है, तो उसके गुरु-लघु आदिका एक जगह उल्लेख कर ले। इनमें जो अन्तिम लघु हो, उसके नीचे १ लिखे। फिर विपरीतक्रमसे, अर्थात् उसके पहलेके अक्षरोंके नीचे क्रमश: दूनी संख्या लिखता जाय। जब यह संख्या अन्तिम अक्षरपर पहुँच जाय तो उस द्विगुणित संख्यामेंसे एक निकाल दे। फिर सबको जोड़नेसे जो संख्या हो, वही उत्तर होगा। अथवा यदि वह संख्या गुरु अक्षरके स्थानमें जाती हो तो पूर्वस्थानकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे एक निकालकर रखे। फिर सबको जोड़नेसे अभीष्ट संख्या निकलेगी।] उद्दिष्टकी संख्या बतलानेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस छन्दके गुरु-लघु वर्णोंको क्रमश: एक पङ्क्तिमें लिख ले और उनके ऊपर क्रमश: एकसे लेकर दूने-दूने अङ्क रखता जाय; अर्थात् प्रथमपर एक, द्वितीयपर दो, तृतीयपर चार—इस क्रमसे संख्या बैठाये। फिर केवल लघु अक्षरोंके अङ्कोंको जोड़ ले और उसमें एक और मिला दे तो वही उत्तर होगा। जैसे 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका किस संख्याका वृत्त है, यह जाननेके लिये तनुमध्याके गुरु-लघु वर्णों—तगण, यगणको ऽऽ।। ऽऽ इस प्रकार लिखना होगा। फिर क्रमश: अङ्क बिछानेपर १

	समवृत्त	शुद्धार्ध समवृत्त	शुद्ध विषम वृत्त
एकाक्षर छन्दमें—	२	२	१२
द्व्यक्षर ,,	४	१२	२४०
त्र्यक्षर ,,	८	५६	४०३२
चतुरक्षर ,,	१६	२४०	६५२८०
पञ्चाक्षर ,,	३२	९९२	१०४७५५२
षडक्षर ,,	६४	४०३२	१६७३१२०

२ ४ ८ १६ ३२ इस प्रकार होगा। इनमें केवल लघु अक्षरके अङ्क ४ । ८ जोड़नेपर १२ होगा। उसमें एक और मिला देनेसे १३ होगा, यही उत्तर है। तात्पर्य यह है कि 'तनुमध्या' छन्द गायत्रीका तेरहवाँ समवृत्त है। [अब बिना प्रस्तारके ही वृत्तसंख्या जाननेका उपाय बतलाते हैं। इस उपायका नाम 'संख्यान' है। जैसे कोई पूछे छः अक्षरवाले छन्दकी समवृत्त-संख्या कितनी होगी? इसका उत्तर—] जितने अक्षरके छन्दकी संख्या जाननी हो, उसका आधा भाग निकाल दिया जायगा। इस क्रियासे दोकी उपलब्धि होगी, [जैसे छः अक्षरोंमेंसे आधा निकालनेसे ३ बचा, किंतु इस क्रियासे जो दोकी प्राप्ति हुई] उसे अलग रखेंगे। विषम संख्यामेंसे एक घटा दिया जायगा। इससे शून्यकी प्राप्ति होगी। उसे दोके नीचे रख दें। [जैसे ३ से एक निकालनेपर दो बचा, किंतु इस क्रियासे जो शून्यकी प्राप्ति हुई, उसे २ के नीचे रखा गया। तीनसे एक निकालनेपर जो दो बचा था, उसे भी दो भागोंमें विभक्त करके आधा निकाल दिया गया। इस क्रियासे पूर्ववत् दोकी प्राप्ति हुई और उसे शून्यके नीचे रख दिया गया। अब एक बचा। यह विषम संख्या है—इसमेंसे एक बाद देनेपर शून्य शेष रहा। साथ ही इस क्रियासे शून्यकी प्राप्ति हुई, इसे पूर्ववत् २ के नीचे रख दिया गया।] शून्यके स्थानमें दुगुना करे। [इस नियमके पालनके लिये निचले शून्यको एक मानकर उसका दूना किया गया।] इससे प्राप्त हुए अङ्कको ऊपरके अर्धस्थानमें रखे और उसे उतनेसे ही गुणा करे। [जैसे शून्यस्थानको एक मानकर दूना करने और उसको अर्धस्थानमें रखकर उतनेसे ही गुणा करनेपर ४ संख्या होगी। फिर शून्यस्थानमें उसे ले जाकर पूर्ववत् दूना करनेसे ८ संख्या हुई; पुनः इसे अर्धस्थानमें ले जाकर उतनी ही संख्यासे गुणा करनेपर ६४ संख्या हुई। यही पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर है। इसी नियमसे 'उष्णिक्'के १२८ और 'अनुष्टुप्'के २५६ समवृत्त होते हैं।] इस प्रश्नको इस प्रकार लिखकर हल करे—

अर्धस्थान	२, ८ × ८	६४
शून्यस्थान	०, ४ × २	८
अर्धस्थान	२, २ × २	४
शून्यस्थान	०, १ × २	२

गायत्री आदि छन्दोंकी संख्याको दूनी करके उसमेंसे दो घटा देनेपर जो संख्या हो, वह वहाँतकके छन्दोंकी संयुक्त संख्या होती है। जैसे गायत्रीकी वृत्त-संख्या ६४ को दूना करके २ घटानेसे १२६ हुआ। यह एकाक्षरसे लेकर षडक्षरपर्यन्त सभी अक्षरोंके छन्दोंकी संयुक्त संख्या हुई। जब छन्दके वृत्तोंकी संख्याको द्विगुणित करके उसे पूर्ण ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय, दो घटाया न जाय, तो वह अङ्क बादके छन्दकी वृत्तसंख्याका ज्ञापक होता है। गायत्रीकी वृत्तसंख्या ६४ को दूना करनेसे १२८ हुआ। यह 'उष्णिक्'की वृत्त-संख्याका योग हुआ। [अब एकद्व्यादि लग क्रियाकी सिद्धिके लिये 'मेरु प्रस्तार' बताते हैं—] अमुक छन्दमें कितने लघु, कितने गुरु तथा कितने वृत्त होते हैं, इसका ज्ञान 'मेरु-प्रस्तार'से होता है। सबसे ऊपर एक चौकोर कोष्ठ बनाये। उसके नीचे दो कोष्ठ, उसके नीचे तीन कोष्ठ, उसके नीचे चार कोष्ठ आदि जितने अभीष्ट हों, बनाये। पहले कोष्ठमें एक संख्या रखे, दूसरी पङ्क्तिके दोनों कोष्ठोंमें एक-एक संख्या रखे, फिर तीसरी पङ्क्तिमें किनारेके दो कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचमें ऊपरके कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर पूरे-पूरे लिख दे। चौथी पङ्क्तिमें किनारेके कोष्ठोंमें एक-एक लिखे और बीचके दो कोष्ठोंमें ऊपरके दो-दो कोष्ठोंके अङ्क जोड़कर लिखे। नीचेके कोष्ठोंमें भी यही रीति बरतनी चाहिये। उदाहरणके लिये देखिये—

वर्णमेरु

	१	
एकाक्षर प्रस्तार	१ १	२
द्व्यक्षर प्रस्तार	१ २ १	४
त्र्यक्षर प्रस्तार	१ ३ ३ १	८
चतुरक्षर प्रस्तार	१ ४ ६ ४ १	१६
पञ्चाक्षर प्रस्तार	१ ५ १० १० ५ १	३२
षडक्षर प्रस्तार	१ ६ १५ २० १५ ६ १	६४
सप्ताक्षर ,,	१ ७ २१ ३५ ३५ २१ ७ १	१२८
अष्टाक्षर ,,	१ ८ २८ ५६ ७० ५६ २८ ८ १	२५६

इसमें चौथी पङ्क्तिमें १ सर्वगुरु, ३ एक लघु, तीन दो लघु और १ सर्वलघु अक्षर है। इसी प्रकार अन्य पङ्क्तियोंमें भी जानना चाहिये। इस प्रकार इसके द्वारा छन्दके लघु-गुरु अक्षरोंकी तथा एकाक्षरादि छन्दोंकी वृत्त-संख्या जानी जाती है। मेरु-प्रस्तारमें नीचेसे ऊपरकी ओर आधा-आधा अंगुल विस्तार कम होता जाता है। छन्दकी संख्याको दूनी करके एक-एक घटा दिया जाय तो उतने ही अङ्गुलका उसका अध्वा (प्रस्तारदेश) होता है। इस प्रकार यहाँ छन्दःशास्त्रका सार बताया गया॥ ४-५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'प्रस्तार-निरूपण' नामक तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३५॥

तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय

शिक्षानिरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'शिक्षा'का वर्णन करता हूँ। वर्णोंकी संख्या तिरसठ अथवा चौंसठ भी मानी गयी है। इनमें इक्कीस स्वर[1], पचीस स्पर्श[2], आठ यादि[3] एवं चार यम[4] माने गये हैं। अनुस्वार, विसर्ग, दो पराश्रित[5] वर्ण—जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (ᳵक और ᳶप) और दुःस्पृष्ट लकार—ये तिरसठ[6] वर्ण हैं। इनमें प्लुत लृकारको और गिन लिया जाय तो वर्णोंकी संख्या चौंसठ हो जाती है। रङ्ग[7] (अनुनासिक)-का उच्चारण 'खे अराँ'की तरह बताया गया है। हकार 'ङ' आदि पञ्चमाक्षरों और य, र, ल, व—इन अन्तःस्थ वर्णोंसे संयुक्त होनेपर 'उरस्य' हो जाता है। इनसे संयुक्त न होनेपर वह 'कण्ठस्थानीय' ही रहता है। आत्मा (अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य) संस्काररूपसे अपने भीतर विद्यमान घट-पटादि पदार्थोंको अपनी

१. अ, इ, उ, ऋ—इन चारों अक्षरोंके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद मिलाकर बारह स्वर होते हैं। ए, ओ, ऐ, औ—इनके दीर्घ और प्लुत भेद मिलकर आठ होते हैं। ये सब मिलकर बीस हुए तथा एक दुःस्पृष्ट 'ल' मिलानेसे कुल इक्कीस स्वर हुए। दो स्वरोंके मध्यमवर्ती 'ल'को 'दुःस्पृष्ट' कहते हैं।

२. कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्गके पचीस वर्णोंको 'स्पर्श' कहते हैं।

३. य, र, ल, व, श, ष, स, ह—ये आठ अक्षर 'यादि' कहे गये हैं।

४. वर्गोंमें पञ्चम वर्णके परे रहते आदिके चार वर्णों तथा पञ्चमके मध्यमें जो उन्हींके सदृश वर्ण उच्चारित होते हैं, उनको 'यम' कहते हैं। जैसा कि—भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—'वर्णेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः।' यथा—पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः इत्यादि।

५. क, ख तथा प, फ परे रहनेपर विसर्गके स्थानमें क्रमशः ᳵक ᳵख तथा ᳶप ᳶफ आदेश होते हैं, अतः ये दोनों 'पराश्रित' हैं। इन्हींको क्रमशः 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' कहते हैं।

६. 'लृ' का 'ऋ' में ही अन्तर्भाव माननेपर उसकी पृथक् गणना न होनेसे वर्णसंख्या ६३ तक हो जाती है।

७. नकारके स्थानमें 'रु' होनेपर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा।'—इस सूत्रसे जो अनुनासिक किया जाता है, उसीका नाम 'रङ्ग' है।

बुद्धिवृत्तिसे संयुक्त करके अर्थात् उन्हें एक बुद्धिका विषय बनाकर बोलने या दूसरोंपर प्रकट करनेकी इच्छासे मनको उनसे संयुक्त करता है। संयुक्त हुआ मन कायाग्नि—जठराग्निको आहत करता है। फिर वह जठरानल प्राणवायुको प्रेरित करता है। वह प्राणवायु हृदयदेशमें विचरता हुआ धीमी ध्वनिमें उस प्रसिद्ध स्वरको उत्पन्न करता है, जो प्रात:सवनकर्मके साधनभूत मन्त्रके लिये उपयोगी है तथा जो 'गायत्री' नामक छन्दके आश्रित है। तदनन्तर वह प्राणवायु कण्ठदेशमें भ्रमण करता हुआ 'त्रिष्टुप्' छन्दसे युक्त माध्यंदिन-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी मध्यम स्वरको उत्पन्न करता है। इसके बाद उक्त प्राणवायु शिरोदेशमें पहुँचकर उच्चध्वनिसे युक्त एवं 'जगती' छन्दके आश्रित सायं-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी स्वरको प्रकट करता है। इस प्रकार ऊपरकी ओर प्रेरित वह प्राण, मूर्धामें टकराकर अभिघात नामक संयोगका आश्रय बनकर, मुखवर्ती कण्ठादि स्थानोंमें पहुँचकर वर्णोंको उत्पन्न करता है। उन वर्णोंके पाँच प्रकारसे विभाग माने गये हैं। स्वरसे, कालसे, स्थानसे, आभ्यन्तर प्रयत्नसे तथा वाह्य प्रयत्नसे उन वर्णोंमें भेद होता है। वर्णोंके उच्चारण-स्थान आठ हैं—हृदय, कण्ठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठद्वय तथा तालु। विसर्गका अभाव, विवर्तन[१], संधिका अभाव, शकारादेश, षकारादेश, सकारादेश, रेफादेश, जिह्वामूलीयत्व और उपध्मानीयत्व—ये 'ऊष्मा' वर्णोंकी आठ प्रकारकी गतियाँ हैं[२]। जिस उत्तरवर्ती पदमें आदि अक्षर 'उकार' हो, वहाँ गुण आदिके द्वारा यदि 'ओ' भावका प्रसंधान (परिज्ञान) हो रहा हो, तो उस 'ओकार'को स्वरान्त अर्थात् स्वर-स्थानीय जानना चाहिये। जैसे—**'गङ्गोदकम्'**। इस पदमें जो 'ओ' भावका प्रसंधान है, वह स्वरस्थानीय है। इससे भिन्न संधिस्थलमें जो 'ओभाव'का परिज्ञान होता है, वह 'ओ' भाव ऊष्माका ही गतिविशेष है, यह बात स्पष्टरूपसे जान लेनी चाहिये। जैसे—**'शिवो वन्द्यः'** इसमें जो ओकारका श्रवण होता है, वह ऊष्मस्थानीय ही है। (यह निर्णय किसी अन्य व्याकरणकी रीतिसे किया गया है, ऐसा जान पड़ता है।) जो वेदाध्ययन कुतीर्थसे प्राप्त हुआ है, अर्थात् आचारहीन गुरुसे ग्रहण किया गया है, वह दग्ध—नीरस-सा होता है। उसमें अक्षरोंको खींच-तानकर हठात् किसी अर्थतक पहुँचाया गया है। वह भक्षित-सा हो गया है, अर्थात् सम्प्रदाय-सिद्ध गुरुसे अध्ययन न करनेके कारण वह अभक्ष्य-भक्षणके समान निस्तेज है। इस तरहका उच्चारण या पठन पाप माना गया है। इसके विपरीत जो सम्प्रदायसिद्ध गुरुसे अध्ययन किया जाता है, तदनुसार पठन-पाठन शुभ होता है। जो उत्तम तीर्थ—सदाचारी गुरुसे पढ़ा गया है, सुस्पष्ट उच्चारणसे युक्त है, सम्प्रदायशुद्ध है, सुव्यवस्थित है, उदात्त आदि शुद्ध स्वरसे तथा कण्ठ-ताल्वादि शुद्ध स्थानसे प्रयुक्त हुआ है, वह वेदाध्ययन शोभित होता है। न तो विकराल आकृतिवाला, न लंबे ओठोंवाला, न अव्यक्त उच्चारण करनेवाला, न नाकसे बोलनेवाला एवं न गद्गद कण्ठ या जिह्वाबन्धसे युक्त मनुष्य ही वर्णोच्चारणमें समर्थ होता है। जैसे व्याघ्री

१. जहाँ सकारका 'रुत्व', 'यत्व' होकर 'लोपः शाकल्यस्य।' (पा०सू० ८।३।१९) अथवा 'हलि सर्वेषाम्।' (पा०सू० ८।३।२२) के नियमानुसार वैकल्पिक लोप होता है और उस दशामें संधि नहीं होती, वहाँ उस संधिके अभावको 'विवृत्ति' या 'विवर्तन' कहा गया है। जैसा कि 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा' में वर्णन है—

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये संधिर्यत्र न दृश्यते। विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम्॥ (श्लो० ९४)

२. इन आठोंके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—शिवो वन्द्यः, क ईशः, हरिश्शेते, आविष्कृतम्, कस्कः, अहर्पतिः, क ≍ करोति, क ≍ पचति।

अपने बच्चोंको दाढ़ोंसे पकड़कर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाती है, किंतु उन्हें पीड़ा नहीं देती, वर्णोंका ठीक इसी तरह प्रयोग करे, जिससे वे वर्ण न तो अव्यक्त (अस्पष्ट) हों और न पीड़ित ही हों। वर्णोंके सम्यक् प्रयोगसे मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। 'स्वर' तीन प्रकारके माने गये हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारणकालके भी तीन नियम हैं—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। अकार एवं हकार कण्ठस्थानीय हैं। इकार, चवर्ग, यकार एवं शकार—ये तालुस्थानसे उच्चरित होते हैं। उकार और पवर्ग—ये दोनों ओष्ठस्थानसे उच्चरित होनेवाले हैं। ऋकार, टवर्ग, रेफ एवं षकार—ये मूर्धन्य तथा लृकार, तवर्ग, लकार और सकार—ये दन्तस्थानीय होते हैं। कवर्गका स्थान जिह्वामूल है। वकारको विद्वज्जन दन्त और ओष्ठसे उच्चरित होनेवाला बताते हैं। एकार और ऐकार कण्ठ-तालव्य तथा ओकार एवं औकार कण्ठोष्ठज माने गये हैं। एकार, ऐकार तथा ओकार और औकारमें कण्ठस्थानीय वर्ण अकारकी आधी मात्रा या एक मात्रा होती है। 'अयोगवाह'[१] आश्रयस्थानके भागी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये। अच् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ)—ये स्वर स्पर्शाभावरूप 'विवृत' प्रयत्नवाले हैं। यण् (य, व, र, ल)' 'ईषत्स्पृष्ट' एवं शल् (श, ष, स, ह) 'अर्धस्पृष्ट' अर्थात् 'ईषद्विवृत' प्रयत्नवाले हैं। शेष 'हल्' अर्थात् क से लेकर म तकके अक्षर 'स्पृष्ट प्रयत्नवाले' माने गये हैं। इनमें बाह्य प्रयत्नके कारण वर्णभेद जानना चाहिये 'ञम्' प्रत्याहारमें स्थित वर्ण (ञ, म, ङ, ण, न) अनुनासिक होते हैं। हकार और रेफ अनुनासिक नहीं होते। 'हकार, झकार तथा षकार'के 'संवार', 'घोष' और 'नाद' प्रयत्न हैं। 'यण्' और 'जश्'—इनके 'ईषन्नाद' अर्थात् 'अल्पप्राण' प्रयत्न हैं। ख, फ आदिका 'विवार', 'अघोष' और 'श्वास' प्रयत्न हैं। चर् (च, ट, त, क, प, श, ष, स)-का 'ईषच्छ्वास' प्रयत्न जानना चाहिये। यह व्याकरणशास्त्र वाणीका धाम कहा जाता है॥ १—२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शिक्षानिरूपण' नामक तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३६॥

तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय

काव्य आदिके लक्षण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'काव्य' और 'नाटक' आदिके स्वरूप तथा 'अलंकारों'का वर्णन करता हूँ। ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य—यही सम्पूर्ण वाङ्मय माना गया है[२]। शास्त्र, इतिहास तथा काव्य—इन तीनोंकी समाप्ति इसी वाङ्मयमें होती है। वेदादि शास्त्रोंमें शब्दकी प्रधानता है और इतिहास-पुराणोंमें अर्थकी। इन दोनोंमें 'अभिधा-शक्ति' (वाच्यार्थ)-की ही मुख्यता होती है; अतः 'काव्य' इन दोनोंसे भिन्न है। [क्योंकि उसमें व्यङ्ग्य अर्थको प्रधानता दी जाती है[३]।]

---

१. अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यम—ये 'अयोगवाह' कहलाते हैं। वे जिस स्वरपर आश्रित होते हैं, उसीका स्थान उनका स्थान होता है। जैसे—'रामः'का विसर्ग कण्ठस्थानीय है और 'हरिः'का विसर्ग तालुस्थानीय।

२. 'सरस्वती-कण्ठाभरण'के रचयिता महाराजाधिराज भोजदेवने अपने ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें 'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यम्' (१।१) अग्निपुराणकी इस आनुपूर्वीको अविकलरूपसे उद्धृत किया है।

३. शब्दप्रधान वेदादिकी आज्ञाको भामह आदि आचार्योंने 'प्रभुसम्मित' और अर्थप्रधान इतिहास-पुराणोंकी आज्ञाको 'सुहृत्सम्मित' नाम दिया है। इसी तरह शब्द और अर्थको गौण करके जहाँ व्यङ्ग्यार्थको प्रधानता दी गयी है, उस काव्यके उपदेशको 'कान्तासम्मित' कहा है। यथा—

संसारमें मनुष्य-जीवन दुर्लभ है; उसमें भी विद्या तो और भी दुर्लभ है। विद्या होनेपर भी कवित्वका गुण आना कठिन है; उसमें भी काव्य-रचनाकी पूर्ण शक्तिका होना अत्यन्त कठिन है[१]। शक्तिके साथ बोध एवं प्रतिभा हो, यह और भी कठिन है; इन सबके होते हुए विवेकका होना तो परम दुर्लभ है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो, अविद्वान् पुरुषोंके द्वारा उसका अनुसंधान किया जाय तो उससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता[२]। 'श' आदि वर्ण, अर्थात् 'श ष स ह' तथा वर्गोंके द्वितीय एवं चतुर्थ अक्षर 'महाप्राण' कहलाते हैं[३]। वर्णोंके समुदायको 'पद' कहते हैं। इसके दो भेद हैं—'सुबन्त' और 'तिङन्त'। अभीष्ट अर्थसे व्यवच्छिन्न संक्षिप्त पदावलीका नाम 'वाक्य' है॥ १—६॥

जिसमें अलंकार भासित होता हो, गुण विद्यमान हो तथा दोषका अभाव हो, ऐसे वाक्यको 'काव्य'[४] कहते हैं। लोक-व्यवहार तथा वेद (शास्त्र)-का ज्ञान—ये काव्यप्रतिभाकी योनि[५] हैं। सिद्ध किये मन्त्रके प्रभावसे जो काव्य निर्मित होता है, वह अयोनिज है।[६] देवता आदिके लिये संस्कृत भाषाका और मनुष्योंके लिये तीन प्रकारकी प्राकृत भाषाका प्रयोग करना चाहिये। काव्य आदि तीन प्रकारके होते हैं—

'प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः, सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च, शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयानां च करोतीति।' (काव्यप्रकाश-१ उल्लास)

१. साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने अपने ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमें 'काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्।'—यह लिखकर 'नरत्वं दुर्लभं लोके' इत्यादि श्लोकको पूर्णतः उद्धृत किया है।

२. भामहपर भी अग्निपुराणकी इन उक्तियोंका प्रभाव पड़ा है। उनका कहना है कि 'गुरुके उपदेशसे जडबुद्धि मनुष्य भी शास्त्रका अध्ययन तो कर लेते हैं, परंतु काव्य करनेकी शक्ति किसी बिरले ही प्रतिभाशाली पुरुषमें होती है।' इस कथनमें 'शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा'की स्पष्टतः छाप है। भामहका श्लोक इस प्रकार है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

३. यह एक श्लोकका भाव शिक्षासे सम्बद्ध है। जान पड़ता है, लेखकके प्रमादसे उसका पाठ इस अध्यायमें समाविष्ट हो गया है।

४. अग्निपुराणकी इसी उक्तिको उपजीव्य मानकर भोजदेवने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में इस प्रकार लिखा है—निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। (१।२)

५. भामहने इसी कथनको कुछ पल्लवित करके लिखा है कि 'व्याकरण', छन्द, कोष, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकव्यवहार, युक्ति (तर्क) तथा कलाओंका काव्य-रचनामें प्रवृत्त होनेवाले कविजनोंको मनन करना चाहिये। यथा—

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः। लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी॥

अग्निपुराणके 'वेदश्च लोकश्च' इस अंशको ही भामहने विशद किया है। आचार्य वामनने काव्याङ्गकी संज्ञा देकर काव्यरचनाके तीन हेतुओंका उल्लेख किया है—लोक, विद्या और प्रकीर्ण। 'लोक'से उन्होंने 'लोकवृत्त' लिया है। 'विद्या' शब्दसे शब्दस्मृति (व्याकरण), शब्दकोष, छन्दोविचिति, कलाशास्त्र, कामशास्त्र तथा दण्डनीति आदिका ग्रहण किया है तथा 'प्रकीर्ण' शब्दसे प्रतिभा और अवधान (चित्तकी एकाग्रता)-को लिया है। यथा—(काव्यालंकारसूत्राख्ये ग्रन्थे प्रथमेऽधिकरणे तृतीयाध्याये)—'लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि'॥ १॥ 'लोकवृत्तं लोकः'॥ २॥ 'शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः'॥ ३॥ 'लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्'॥ ११॥ इसी प्रकार आचार्य मम्मटने शक्ति (प्रतिभा)-को तथा लोकवृत्त, व्याकरणादिशास्त्र तथा पूर्ववर्ती कवियोंके काव्य आदिके अवलोकनसे प्राप्त हुई व्युत्पत्तिको काव्यका हेतु बताया है। 'साथ ही काव्यवेत्ताओंकी शिक्षाके अनुसार किया जानेवाला अभ्यास भी काव्यनिर्माणमें हेतु होता है,' यह उनका कथन है। अन्यान्य परवर्ती आचार्योंने भी काव्यके इन हेतुओंपर विचार किया है। इन सबके मतोंपर अग्निपुराणके 'वेदश्च लोकश्च' इस कथनका ही प्रभाव परिलक्षित होता है।

६. मन्त्रसिद्धिसे भी अद्भुत काव्य-रचनाकी शक्तिका उदय होता है, इसकी चर्चा रसगङ्गाधरकारने भी की है। 'नैषध' महाकाव्यके रचयिता श्रीहर्षने भी अपने काव्यमें चिन्तामणिबीजकी उपासनासे अकस्मात् श्लोक-रचनाकी शक्तिका आविर्भाव होना बताया है।

गद्य, पद्य और मिश्र[१]। पादविभागसे रहित पदोंका प्रवाह 'गद्य' कहलाता है। वह भी चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेदसे तीन प्रकारका होता है[२]। छोटी-छोटी कोमल पदावलीसे युक्त और अत्यन्त मृदु संदर्भसे पूर्ण गद्यको 'चूर्णक' कहते हैं। जिसमें बड़े-बड़े समासयुक्त पद हों, उसका नाम 'उत्कलिका' है[३]। जो मध्यम श्रेणीके संदर्भसे युक्त हो तथा जिसका विग्रह अत्यन्त कुत्सित (क्लिष्ट) न हो, जिसमें पद्यकी छायाका आभास मिलता हो—जिसकी पदावली किसी पद्य या छन्दके खण्ड-सी जान पड़े, उस गद्यको 'वृत्तगन्धि' कहते हैं। यह सुननेमें अधिक उत्कट नहीं होता[४]। गद्य-काव्यके पाँच भेद माने जाते हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा एवं कथानिका[५]। जहाँ गद्यके द्वारा विस्तारपूर्वक ग्रन्थ-निर्माता कविके वंशकी प्रशंसा की गयी हो, जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ (वियोग) और विपत्ति (मरणादि) प्रसङ्गोंका वर्णन हो, जहाँ वैदर्भी आदि रीतियों तथा भारती आदि वृत्तियोंकी प्रवृत्तियोंपर विशेषरूपसे प्रकाश पड़ता हो, जिसमें 'उच्छ्वास'के नामसे परिच्छेद (खण्ड) किये गये हों, जो 'चूर्णक' नामक गद्यशैलीके कारण अधिक उत्कृष्ट जान पड़ती हो, अथवा जिसमें 'वक्त्र' या 'अपरवक्त्र' नामक छन्दका प्रयोग हुआ हो, उसका नाम 'आख्यायिका' है (जैसे 'कादम्बरी' आदि)। जिस काव्यमें कवि श्लोकोंद्वारा संक्षेपसे अपने वंशका गुणगान करता हो, जिसमें मुख्य अर्थको उपस्थित करनेके लिये कथान्तरका संनिवेश किया गया हो, जहाँ परिच्छेद हो ही नहीं, अथवा यदि हो भी तो कहीं लम्बकोंद्वारा ही हो, उसका नाम 'कथा' है (जैसे 'कथा-सरित्सागर' आदि)। उसके मध्यभागमें चतुष्पदी (पद्य)-द्वारा बन्ध-रचना करे। जिसमें कथा खण्डमात्र हो, उसे 'खण्डकथा' कहते हैं। खण्डकथा और परिकथा—इन दोनों प्रकारकी कथाओंमें मन्त्री, सार्थवाह (वैश्य) अथवा ब्राह्मणको ही नायक मानते हैं। उन दोनोंका ही प्रधान रस 'करुण' जानना चाहिये। उसमें चार प्रकारका 'विप्रलम्भ' (विरह) वर्णित होता है। (प्रवास, शाप, मान एवं करुण-भेदसे विप्रलम्भके चार प्रकार हो जाते हैं।) उन दोनोंमें ही ग्रन्थके भीतर कथाकी समाप्ति नहीं होती। अथवा 'खण्डकथा' कथाशैलीका ही अनुसरण करती है। कथा एवं आख्यायिका दोनोंके लक्षणोंके मेलसे जो कथावस्तु प्रस्तुत होती है, उसे 'परिकथा' नाम दिया गया है। जिसमें आरम्भमें भयानक, मध्यमें करुण तथा अन्तमें अद्भुत रसको प्रकट करनेवाली रचना होती है, वह 'कथानिका' (कहानी) है। उसे उत्तम

१. भामहने काव्यके दो भेद बताये हैं—गद्य और पद्य। फिर भाषाकी दृष्टिसे इनके तीन-तीन भेद और होते हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। वामनने 'काव्य गद्यं पद्यं च' (३—२१)—इस सूत्रके द्वारा काव्यके गद्य और पद्य दो ही मूलभेद माने हैं। दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में अग्निपुराणकथित गद्य, पद्य और मिश्र—तीनों भेदोंको उद्धृत किया है। भाषाकी दृष्टिसे भी उन्होंने काव्यके चार भेद माने हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। अग्निपुराणमें जो 'पादसंतानो गद्यम्।'—इस प्रकार गद्यका लक्षण किया है, दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में इसे अविकलरूपसे उद्धृत किया है।

२. आचार्य वामनने भी अग्निपुराणोक्त इन्हीं तीन गद्यभेदोंका उल्लेख किया है। यथा—'गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च।'

३. इसी भावकी छाया लेकर वामनने १।३ के २४-२५वें सूत्रोंका निर्माण किया है—'अनाविद्धललितपदं चूर्णम्'॥ २४॥ 'विपरीतमुत्कलिकाप्रायम्'॥ २५॥

४. वामनने जिसमें किसी पद्यका भाग प्रतीत होता हो, ऐसे गद्यको 'वृत्तगन्धि' कहा है। यथा—'पद्यभागवद्वृत्तगन्धि'॥ १।३।२३॥ साहित्यदर्पणकारने भी 'वृत्तभागयुतम्' कहकर इसी भावकी पुष्टि की है। वामन और विश्वनाथ—दोनों ही स्पष्टतः अग्निपुराणके छायाग्राही हैं।

५. विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'के छठे परिच्छेदमें 'कथा' और 'आख्यायिका'की चर्चा की है। उन्होंने गद्य-पद्यमय काव्योंके तीन भेद माने हैं—चम्पू, विरुद और करम्भक।

श्रेणीका काव्य नहीं माना गया है॥ ७—२०॥

चतुष्पदी नाम है—पद्यका [चार पादोंसे युक्त होनेसे उसे 'चतुष्पदी' कहते हैं]। उसके दो भेद हैं, 'वृत्त' और 'जाति'[१]। जो अक्षरोंकी गणनासे जाना जाय, उसे 'वृत्त' कहते हैं। यह भी दो प्रकारका है—'उक्थ' (वैदिकस्तोत्र आदि) और 'कृतिशेषज' (लौकिक)। जहाँ मात्राओंद्वारा गणना हो, वह पद्य 'जाति' कहलाता है। यह काश्यपका मत है। वर्णोंकी गणनाके अनुसार व्यवस्थित छन्दको 'वृत्त' कहते हैं। पिङ्गलमुनिने वृत्तके तीन भेद माने हैं,—सम, अर्धसम तथा विषम। जो लोग गम्भीर काव्य-समुद्रके पार जाना चाहते हैं, उनके लिये छन्दोविद्या नौकाके समान है। महाकाव्य, कलाप, पर्यायबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोष—ये सभी पद्योंके समुदाय हैं। अनेक सर्गोंमें रचा हुआ संस्कृतभाषाद्वारा निर्मित काव्य 'महाकाव्य' कहलाता है॥ २१—२३॥

सर्गबद्ध रचनाको, जो संस्कृत भाषामें अथवा विशुद्ध एवं परिमार्जित भाषामें लिखी गयी हो, 'महाकाव्य'[२] कहते हैं। महाकाव्यके स्वरूपका त्याग न करते हुए उसके समान अन्य रचना भी हो तो वह दूषित नहीं मानी जाती। 'महाकाव्य' इतिहासकी कथाको लेकर निर्मित होता है अथवा उसके अतिरिक्त किसी उत्तम आधारको लेकर भी उसकी अवतारणा की जाती है। उसमें यथास्थान गुप्तमन्त्रणा, दूतप्रेषण[३], अभियान और युद्ध आदिके वर्णनका समावेश होता है। वह अधिक विस्तृत नहीं होता। शक्करी, अतिजगती, अतिशक्करी, त्रिष्टुप् और पुष्पिताग्रा आदि तथा वक्त्र आदि मनोहर एवं समवृत्तवाले छन्दोंमें महाकाव्यकी रचना की जाती है। प्रत्येक सर्गके अन्तमें छन्द बदल देना उचित है। सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त नहीं होना चाहिये। 'अतिशक्करी' और 'अष्टि'—इन दो छन्दोंसे एक सर्ग संकीर्ण होना चाहिये तथा दूसरा सर्ग मात्रिक छन्दोंसे संकीर्ण होना चाहिये। अगला सर्ग पूर्वसर्गकी अपेक्षा अधिकाधिक उत्तम होना चाहिये। 'कल्प' अत्यन्त निन्दित माना गया है। उसमें सत्पुरुषोंका विशेष आदर नहीं होता। नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रमा, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उद्यान, जलक्रीड़ा, मधुपान, सुरतोत्सव, दूती-वचन-विन्यास तथा कुलटाके चरित्र आदि अद्भुत वर्णनोंसे महाकाव्य पूर्ण होता है। अन्धकार, वायु तथा रतिको व्यक्त करनेवाले अन्य उद्दीपन-विभावोंसे भी वह अलंकृत होता है। उसमें सब प्रकारकी वृत्तियोंकी प्रवृत्ति होती है। वह सब प्रकारके भावोंसे प्रभावित होता है तथा सब प्रकारकी रीतियों तथा सभी रसोंसे उसका संस्पर्श होता है। सभी गुणों और अलंकारोंसे भी महाकाव्यको परिपुष्ट किया जाता है। इन सब विशेषताओंके कारण ही उस रचनाको 'महाकाव्य' कहते हैं तथा उसका निर्माता 'महाकवि' कहलाता है॥ २४—३२॥

महाकाव्यमें उक्ति-वैचित्र्यकी प्रधानता होते हुए भी रस ही उसका जीवन है। उसकी स्वरूप-सिद्धि अपृथग्यत्नसे (अर्थात् सहजभावसे) साध्य वाग्वक्रिमा (वचनवैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति)-विषयक रससे होती है। महाकाव्यका फल है—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति[४]। वह नायकके नामसे ही सर्वत्र विख्यात होता है। प्रायः समान छन्दों अथवा वृत्तियोंमें महाकाव्यका निर्वाह किया जाता है। कौशिकी वृत्तिकी प्रधानता होनेसे काव्य-प्रबन्धमें कोमलता आती है। जिसमें प्रवासका

१. 'पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।'—यह पद्यांश दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में ज्यों-का-त्यों ले लिया है।

२. भामहने अग्निपुराणके 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्'—इस उक्तिको अविकलरूपसे उद्धृत करके ही महाकाव्यके लक्षणका विस्तार किया है।

३. भामहने भी 'मन्त्रदूतप्रयाणादि'—इस आनुपूर्वीका अपने महाकाव्य-लक्षणमें उपयोग किया है।

४. 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः'—इस अंशको परवर्ती साहित्यालोचकोंने अग्निपुराणके इस कथनसे ही लिया है।

वर्णन हो, उस रचनाको 'कलाप' कहते हैं। उसमें 'पूर्वानुराग' नामक शृङ्गाररसकी प्रधानता होती है। संस्कृत अथवा प्राकृतके द्वारा प्राप्ति आदिका वर्णन 'विशेषक' कहलाता है। जहाँ अनेक श्लोकोंका एक साथ अन्वय हो, उसे 'कुलक' कहते हैं। उसीका नाम 'संदानितक' भी है। एक-एक श्लोककी स्वतन्त्र रचनाको 'मुक्तक' कहते हैं। उसे सहृदयोंके हृदयमें चमत्कार उत्पन्न करनेमें समर्थ होना चाहिये। श्रेष्ठ कवियोंकी सुन्दर उक्तियोंसे सम्पन्न ग्रन्थको 'कोष' कहा गया है। वह ब्रह्मकी भाँति अपरिच्छिन्न रससे युक्त होता है तथा सहृदय पुरुषोंको रुचिकर प्रतीत होता है। सर्गमें जो भिन्न-भिन्न छन्दोंकी रचना होती है, वह आभासोपम शक्ति है। उसके दो भेद हैं—'मिश्र' तथा 'प्रकीर्ण'। जिसमें 'श्रव्य' और 'अभिनेय'—दोनोंके लक्षण हों, वह 'मिश्र' और सकल उक्तियोंसे युक्त काव्य 'प्रकीर्ण' कहलाता है॥ ३३—३९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'काव्य आदिके लक्षण' नामक तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३७॥

तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय

नाटक-निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'रूपक'के सत्ताईस भेद माने गये हैं[1]—नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्णा, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्य तथा प्रेङ्क्षण। लक्षण दो प्रकारके होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य लक्षण रूपकके सभी भेदोंमें व्याप्त होते हैं और विशेष लक्षण किसी-किसीमें दृष्टिगोचर होते हैं। रूपकके सभी भेदोंमें पूर्वरङ्गके[2] निवृत्त हो जानेपर देश-काल, रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क और स्थिति—ये उनके सामान्य लक्षण हैं; क्योंकि इनका सर्वत्र उपसर्पण देखा जाता है। विशेष लक्षण यथावसर बताया जायगा। यहाँ पहले सामान्य लक्षण कहा जाता है; 'नाटक'को धर्म, अर्थ और कामका साधन माना गया है; क्योंकि वह करण है। उसकी इतिकर्तव्यता (कार्यारम्भकी विधि) यह है कि 'पूर्वरङ्ग'का विधिवत् सम्पादन किया जाय। 'पूर्वरङ्ग'के नान्दी आदि बाईस अङ्ग होते हैं[3]॥ १—८॥

देवताओंको नमस्कार, गुरुजनकी प्रशस्ति तथा गौ, ब्राह्मण और राजा आदिके आशीर्वाद 'नान्दी' कहलाते हैं। रूपकोंमें 'नान्दीपाठ'के पश्चात् यह

१. भरतमुनिके नाट्यशास्त्र (१८। २)-में 'रूपक' के दस भेद बताये गये हैं—नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। अग्निपुराणमें ये दस भेद तो मिलते ही हैं, सत्रह भेद और उपलब्ध होते हैं। इन्हींमें 'विलासिका' नामक एक भेद और जोड़कर विश्वनाथने सब भेदोंकी सम्मिलित संख्या अट्ठाईस कर दी है। उन्होंने प्रथम दस भेदोंको 'रूपक' और शेष अठारह भेदोंको 'उपरूपक' बताया है। अग्निपुराणोक्त 'कर्णा' नामक भेद 'साहित्यदर्पण'में 'प्रकरणी'के नामसे और 'भाणी' नामक भेद 'संलापक' नामसे लिखा गया है।

२. 'रङ्ग' कहते हैं— 'रङ्गशाला' या 'नृत्यस्थान'को। वहाँ जो सम्भावित विघ्न या उपद्रव हों, उनकी शान्तिके लिये सूत्रधार और नट आदि जो 'नान्दीपाठ' और 'स्तुति' आदि करते हैं, उसका नाम 'पूर्वरङ्ग' है।

३. नाट्यशास्त्रके पाँचवें अध्याय (९—१७ तकके श्लोकों)-में प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित, ज्येष्ठासारित, मध्यासारित, कनिष्ठासारित—ये ग्यारह 'बहिर्गीत' कहे गये हैं, जो परदेके भीतर ही रहकर अभिनेता या प्रयोगकर्ता प्रयोगमें लाते हैं। तदनन्तर परदा उठाकर सब लोग एक साथ गीतकी योजना करते हैं। उसके गीतक, वर्द्धमान, ताण्डव, उत्थापन, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्टा, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी और प्ररोचना—ये ग्यारह अङ्ग हैं। इन बाईस अङ्गोंका पूर्वरङ्गमें प्रयोग होता है।

लिखा जाता है कि '**नान्द्यन्ते**[१] **सूत्रधारः**' (नान्दीपाठके अनन्तर सूत्रधारका प्रवेश)। इसमें कविकी पूर्व गुरुपरम्पराका, वंशप्रशंसा, पौरुष तथा काव्यके सम्बन्ध और प्रयोजन—इन पाँच विषयोंका निर्देश करे। नटी, विदूषक और पारिपार्श्वक—ये सूत्रधारके साथ जहाँ अपने कार्यसे सम्बद्ध, प्रस्तुत विषयको उपस्थित करनेवाले विचित्र वाक्योंद्वारा परस्पर संलाप करते हैं, पण्डितजन उसको 'आमुख' जानें। उसको 'प्रस्तावना' भी कहा जाता है॥ ९—१२॥

'आमुख'के तीन भेद[२] होते हैं—प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय। जब सूत्रधार उपस्थित काल (ऋतु आदि)-का वर्णन करता है, तब उसका आश्रयभूत पात्र-प्रवेश 'प्रवृत्तक' कहलाता है। इसका बीजांशोंमें ही प्रादुर्भाव होता है। जब पात्र सूत्रधारके वाक्य अथवा वाक्यार्थको ग्रहण करके प्रवेश करता है, तब उसको 'कथोद्घात' कहा जाता है। जिस समय सूत्रधार एक प्रयोगमें दूसरे प्रयोगका वर्णन करे, उस समय यदि पात्र वहाँ प्रवेश करे, तो वह 'प्रयोगातिशय' होता है। 'इतिवृत्त' (इतिहास)-को नाटक आदिका शरीर कहा जाता है। उसके दो भेद माने गये हैं—'सिद्ध' और 'उत्प्रेक्षित'। शास्त्रोंमें वर्णित इतिवृत्त 'सिद्ध' और कविकी कल्पनासे निर्मित 'उत्प्रेक्षित' कहा जाता है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ (प्रयोजनसिद्धिकी हेतुभूता) हैं[३]। चेष्टा (कार्यावस्थाएँ) भी पाँच ही मानी गयी हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति-सद्भाव, नियतफलप्राप्ति और पाँचवाँ फलयोग। रूपकमें मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये क्रमशः पाँच संधियाँ हैं[४]। जो अल्पमात्र वर्णित होनेपर भी बहुधा विसर्पण—अनेक अवान्तर कार्योंको उत्पन्न करता है, फलकी हेतुभूत उस अर्थप्रकृतिको 'बीज' कहा जाता है। जिसमें विविध वृत्तान्तों और रससे बीजकी उत्पत्ति होती है, काव्यके शरीरमें अनुगत उस संधिको 'मुख' कहते हैं। अभीष्ट अर्थकी रचना, कथावस्तुकी अखण्डता, प्रयोगमें अनुराग, गोपनीय विषयोंका गोपन, अद्भुत वर्णन, प्रकाश्य विषयोंका प्रकाशन—ये काव्याङ्गोंके छः फल हैं। जैसे अङ्गहीन मनुष्य किसी कार्यमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार अङ्गहीन काव्य भी प्रयोगके योग्य नहीं माना जाता। देश-कालके बिना किसी भी इतिवृत्तकी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः नियमपूर्वक उन दोनोंका उपादान 'पद' कहलाता है। देशोंमें भारतवर्ष और कालमें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरयुगको ग्रहण करना चाहिये। देश-कालके बिना कहीं भी प्राणियोंके सुख-दुःखका उदय नहीं होता। सृष्टिके आदिकालकी वार्ता अथवा सृष्टिपालन आदिकी वार्ता प्राप्त हो तो वह वर्णनीय है। ऐसा करनेमें कोई दोष नहीं है[५]॥ १३—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाटकका निरूपण' नामक तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३८॥

---

१. नाटकोंमें सबसे प्रथम 'नान्दीपाठ'का विधान भरतमुनिने किया है। जैसा कि नाट्यशास्त्रके प्रथम अध्यायमें उल्लेख है—
नान्दी कृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता। अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा देवसम्मता॥

२. विश्वनाथने अग्निपुराणके 'सहिताः सूत्रधारेण' इत्यादिसे लेकर 'प्रस्तावनापि सा' तककी पङ्क्तियोंको अपने ग्रन्थमें अविकलरूपसे उद्धृत किया है। अग्निपुराणमें प्रस्तावनाके 'प्रवृत्तक', 'कथोद्घात' और 'प्रयोगातिशय'—ये तीन भेद माने गये हैं। परंतु विश्वनाथने 'उद्घातक' और 'अवलगित'—ये दो भेद और जोड़कर पाँच भेद स्वीकार किये हैं।

३. इन पाँचों अर्थप्रकृतियोंको विश्वनाथने अपने ग्रन्थमें ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है।

४. विश्वनाथने 'निर्वहण'के स्थानमें 'उपसंहृति'का उल्लेख किया है।

५. इस प्रसङ्गके अनुशीलनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यासदेवपर भरतमुनिका प्रभाव पड़ा है और परवर्ती आलोचकोंके ग्रन्थ भरतमुनि एवं व्यासदेवसे भी प्रभावित हैं।

तीन सौ उनतालीसवाँ अध्याय

शृङ्गारादि रस, भाव तथा नायक आदिका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! वेदान्तशास्त्रमें जिस अक्षर (अविनाशी), सनातन, अजन्मा और व्यापक परब्रह्म परमेश्वरको अद्वितीय, चैतन्यस्वरूप और ज्योतिर्मय कहते हैं, उसका सहज (स्वरूपभूत) आनन्द कभी-कभी व्यञ्जित होता है, उस आनन्दकी अभिव्यक्तिका ही 'चैतन्य', 'चमत्कार' और 'रस'के नामसे वर्णन किया जाता है[1]। आनन्दका जो प्रथम विकार है, उसे 'अहंकार' कहा गया है। अहंकारसे 'अभिमान'का प्रादुर्भाव हुआ। इस अभिमानमें ही तीनों लोकोंकी समाप्ति हुई है॥ १—३॥

अभिमानसे रतिकी उत्पत्ति हुई और वह व्यभिचारी आदि भाव-सामान्यके सहकारसे पुष्ट होकर 'शृङ्गार'के नामसे गायी जाती है। शृङ्गारके इच्छानुसार हास्य आदि अनेक दूसरे भेद प्रकट हुए हैं[2]। उनके अपने-अपने विशेष स्थायी भाव होते हैं, जिनका परिपोष (अभिव्यक्ति) ही उन-उन रसोंका लक्षण है॥ ४-५॥

वे रस परमात्माके सत्त्वादि गुणोंके विस्तारसे प्रकट होते हैं। अनुरागसे शृङ्गार, तीक्ष्णतासे रौद्र, उत्साहसे वीर और संकोचसे बीभत्स रसका उदय होता है। शृङ्गार रससे हास्य, रौद्र रससे करुण रस, वीर रससे अद्भुत रस तथा बीभत्स रससे भयानक रसकी निष्पत्ति होती है। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—ये नौ रस माने गये हैं। वैसे सहज रस तो चार (शृङ्गार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स) ही हैं। जैसे बिना त्यागके धनकी शोभा नहीं होती, वैसे ही रसहीन वाणीकी भी शोभा नहीं होती। अपार काव्यसंसारमें कवि ही प्रजापति है। उसको संसारका जैसा स्वरूप रुचिकर जान पड़ता है, उसके काव्यमें यह जगत् वैसे ही रूपमें परिवर्तित होता है। यदि कवि शृङ्गाररसका प्रेमी है, तो उसके काव्यमें रसमय जगत्का प्राकट्य होता है। यदि कवि शृङ्गारी न हो तो निश्चय ही काव्य नीरस होगा। 'रस' भावहीन नहीं है और 'भाव' भी रससे रहित नहीं है; क्योंकि इन भावोंसे रसकी भावना (अभिव्यक्ति) होती है। **'भाव्यन्ते रसा एभिः।'** (भावित होते हैं रस इनके द्वारा)—इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे 'भाव' कहे गये हैं[3]॥ ६—१२॥

---

१. भरतमुनिने रसनिष्पत्तिपर विचार किया, भावोंका भी विशद विवेचन किया, किंतु रसको ब्रह्मचैतन्यसे अभिन्न नहीं कहा; इस विषयमें वेदव्यासकी वाणी 'अग्निपुराण'में अधिक स्पष्ट हुई है। इन्होंने ब्रह्मके सहज आनन्दकी अभिव्यक्तिको ही 'चैतन्य', 'चमत्कार' तथा 'रस' नाम दिया है। वेदान्त-सूत्रकार वेदव्यासके समक्ष अवश्य ही 'रसो वै सः।'—यह औपनिषद वाणी भी रही है। भरतसूत्रके व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्तपादने, जिनके मतका विशद विवेचन आचार्य मम्मटने अपनी पीयूषवर्षिणी वाणीद्वारा 'काव्यप्रकाश'में किया है, यह वेदान्तदृष्टि ही अपनायी है, तथा 'रसो वै सः'का प्रमाणरूपमें उल्लेख करके 'चिदावरणभङ्ग' या 'भग्नावरणा चित्'को ही 'रस' माना है। भामहने महाकाव्यके लक्षणमें 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।'—यों लिखकर रसका योग तो स्वीकार किया है, किंतु रसके भव्य स्वरूपका कोई विवेचन नहीं किया है। अभिनवगुप्त, मम्मट तथा विश्वनाथने भी व्यासद्वारा निर्दिष्ट स्वरूपको ही स्वीकार किया है। ध्वनिवादी या व्यञ्जनावादी सहृदयोंने रसके उक्त महामहिम स्वरूपको ही आदर दिया तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है।

२. इस कथनके उपजीव्य हैं—भरतमुनि। उन्होंने शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स रसोंसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रसकी उत्पत्ति मानी है। यथा—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः। वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥ (नाट्यशास्त्र ६। ३९)

३. भरतमुनिने नाट्यशास्त्रमें यह प्रश्न उठाया है कि 'किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानाम्।' (क्या रसोंसे भावोंकी अभिव्यक्ति होती है अथवा भावोंसे रसोंकी।) इसके उत्तरमें वे कहते हैं कि 'भावोंसे ही रसोंकी अभिव्यक्ति देखी जाती है, रसोंसे भावोंकी नहीं।' रसके उद्भावक होनेके कारण ही वे 'भाव' कहे जाते हैं। यह उत्तर ही अग्निपुराणकी उक्तियोंमें मुखरित हुआ है। 'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।'—यह उक्ति भी नाट्यशास्त्रकी कारिकाका ही अंश है। (देखिये ६। ३६)।

'रति' आदि आठ स्थायी भाव होते हैं तथा 'स्तम्भ' आदि आठ सात्त्विक भाव माने जाते हैं। सुखके मनोऽनुकूल अनुभव (आनन्दकी मनोरम अनुभूति)-को 'रति' कहा जाता है। हर्ष आदिके द्वारा चित्तके विकासको 'हास' कहा जाता है। अभीष्ट वस्तुके नाश आदिसे उत्पन्न मनकी विकलताको 'शोक' कहते हैं। अपने प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर कठोरताके उदयको 'क्रोध' कहते हैं। पुरुषार्थके अनुकूल मनोभावका नाम 'उत्साह' है॥ १३—१५॥

चित्र आदिके दर्शनसे जनित मानसिक विकलताको 'भय' कहते हैं। दुर्भाग्यवाही पदार्थोंकी निन्दा 'जुगुप्सा' कहलाती है। किसी वस्तुके दर्शनसे चित्तका अतिशय आश्चर्यसे पूरित हो जाना 'विस्मय' कहलाता है। 'स्तम्भ' आदि आठ सात्त्विक भाव हैं, जो रजोगुण और तमोगुणसे परे हैं। भय या रागादि उपाधियोंसे चेष्टाका अवरोध हो जाना 'स्तम्भ'* कहलाता है। श्रम एवं राग आदिसे युक्त अन्तःकरणके क्षोभसे शरीरमें उत्पन्न जलको 'स्वेद' कहते हैं। हर्षादिसे शरीरका उच्छ्वसित होना और उसमें रोंगटे खड़े हो जाना 'रोमाञ्च' कहा गया है। हर्ष आदि तथा भय आदिके कारण वाणीका स्पष्ट उच्चारण न होना (गद्गद हो जाना) 'स्वरभेद' कहा गया है। चित्तके क्षोभसे उत्पन्न कम्पनको 'वेपथु' कहा गया है। विषाद आदिसे शरीरकी कान्तिका परिवर्तन 'वैवर्ण्य' कहा गया है। दुःख अथवा आनन्द आदिसे उद्भूत नेत्रजलको 'अश्रु' कहते हैं। उपवास आदिसे इन्द्रियोंकी संज्ञाहीनताको 'प्रलय' कहा जाता है॥ १६—२१॥

वैराग्य आदिसे उत्पन्न मानसिक खेदको 'निर्वेद' कहा जाता है। मानसिक पीड़ा आदिसे जनित शैथिल्यको 'ग्लानि' कहते हैं; वह शरीरमें ही व्याप्त होती है। अनिष्टप्राप्तिकी सम्भावनाको 'शङ्का' और मत्सर (दूसरेका उत्कर्ष सहन न करने)-को 'असूया' कहा जाता है। मदिरा आदिके उपयोगसे उत्पन्न मानसिक मोह 'मद' कहलाता है। अधिक कार्य करनेसे शरीरके भीतर उत्पन्न क्लान्तिको 'श्रम' कहते हैं। शृङ्गार आदि धारण करनेमें चित्तकी उदासीनताको 'आलस्य' कहते हैं। धैर्यसे भ्रष्ट हो जाना 'दैन्य' तथा अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेसे जो बार-बार उसकी ओर ध्यान जाता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। किसी कार्य (भयसे छूटने या इष्टवस्तुको पाने आदि)-के लिये उपाय न सूझना 'मोह' कहलाता है॥ २२—२५॥

अनुभूत वस्तुका चित्तमें प्रतिबिम्बित होना 'स्मृति' कहलाता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा अर्थोंके निश्चयको 'मति' कहते हैं। अनुराग आदिसे होनेवाला जो कोई अकथनीय मानसिक संकोच होता है, उसका नाम 'व्रीडा' या 'लज्जा' है। चित्तकी अस्थिरताको 'चपलता' और प्रसन्नताको 'हर्ष' कहते हैं। प्रतीकारकी आशासे उद्भूत अन्तःकरणकी विकलताको 'आवेश' कहा जाता है। कर्तव्यके विषयमें कुछ प्रतिभान न होना 'जडता' कही जाती है। अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे बढ़े हुए आनन्द या संतोषके अभ्युदयको 'धृति' कहते हैं। दूसरोंमें निकृष्टता और अपनेमें उत्कृष्टताकी भावनाको 'गर्व' कहा जाता है। इच्छित वस्तुके लाभमें दैव आदिसे जनित विघ्नके कारण जो दुःख होता है, उसे 'विषाद' कहते हैं। अभीष्ट पदार्थकी इच्छासे जो मनकी चञ्चल स्थिति होती है, उसका नाम 'उत्कण्ठा' या 'उत्सुकता' है। अस्थिर हो उठना चित्त और इन्द्रियोंका 'अपस्मार'

* 'स्तम्भ'का यही लक्षण विश्वनाथने भी लिया है।

है। युद्धमें बाधाओंके उपस्थित होनेसे स्थिर न रह पाना 'त्रास' माना गया है तथा चित्तके चमत्कृत होनेको 'वीप्सा' कहते हैं। क्रोधके शमन न होनेको 'अमर्ष' तथा चेतनताके उदयको 'प्रबोध' या 'जागरण' कहते हैं। चेष्टा और आकारसे प्रकट होनेवाले भावोंका गोपन 'अवहित्थ' कहलाता है। क्रोधसे गुरुजनोंपर कठोर वाग्दण्डका प्रयोग 'उग्रता' कहलाता है। चित्तके ऊहापोहको 'वितर्क' तथा मानस एवं शरीरकी प्रतिकूल परिस्थितिको 'व्याधि' कहते हैं। काम आदिके कारण असम्बद्ध प्रलाप करनेको 'उन्माद' कहा गया है। तत्त्वज्ञान होनेपर चित्तगत वासनाकी शान्तिको 'शम' कहते हैं। कविजनोंको काव्यादिमें रस एवं भावोंका निवेश करना चाहिये। जिसमें 'रति' आदि स्थायी भावोंकी विभावना हो, अथवा जिसके द्वारा इनकी विभावना हो, वह 'विभाव' कहा गया है; यह 'आलम्बन' और 'उद्दीपन'के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। 'रति' आदि भावसमूह जिसका आश्रय लेकर निष्पन्न होते हैं, वह 'आलम्बन' नामक विभाव है। यह नायक आदिका आलम्बन लेकर आविर्भूत होता है। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त—ये चार प्रकारके नायक माने गये हैं। ये धीरोदात्तादि नायक अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्टके भेदसे सोलह प्रकारके कहे जाते हैं। पीठमर्द, विट और विदूषक—ये तीनों शृङ्गाररसमें नायकके नर्मसचिव—अनुनायक होते हैं। 'पीठमर्द' श्रीमान् एवं 'नायक'के समान बलशाली (सहायक) होता है। 'विट' (धूर्त) नायकके देशका कोई व्यक्ति होता है। 'विदूषक' प्रहसनसे नायकको प्रसन्न करनेवाला होता है। नायककी नायिकाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—स्वकीया, परकीया एवं पुनर्भू। 'पुनर्भू' नायिका कौशिकाचार्यके मतसे है। कुछ 'पुनर्भू' नायिकाको न मानकर उसके स्थानपर 'सामान्य'की गणना करते हैं। इन्हीं नायिकाओंके अनेक भेद होते हैं। 'उद्दीपन विभाव' विविध संस्कारोंके रूपमें स्थित रहते हैं। ये 'आलम्बन विभाव'में भावोंको उद्दीप्त करते हैं॥ २६—४२॥

चौंसठ कलाएँ कर्म्मादि एवं गीतिकादिके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। 'कुहक' और 'स्मृति' प्राय: हासोपहारक हैं। आलम्बन विभावके उद्‌बुद्ध संस्कारयुक्त भावोंके द्वारा स्मृति, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नके संयोगसे किये हुए मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीरके कार्यको विद्वज्जन 'अनुभाव' मानते हैं—**'स अत्र अनुभूयते उत अनुभवति।'** (आलम्बनमें जो अनुभूयमान है, अथवा आलम्बनमें जो दर्शनके बाद प्रकट होता है)—इस प्रकार 'अनुभाव' शब्दकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति)-की जाती है। मानसिक व्यापारकी बहुलतासे युक्त कार्य 'मनका कार्य' कहा जाता है। वह 'पौरुष' (पुरुष-सम्बन्धी) एवं 'स्त्रैण' (स्त्री-सम्बन्धी)—दो प्रकारका होता है। वह इस प्रकार भी प्रसिद्ध है—॥ ४३—४६॥

शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य तथा तेज—ये आठ 'पौरुष कर्म' हैं। नीच जनोंकी निन्दा, उत्तम पुरुषोंसे स्पर्धा, शौर्य और चातुर्य—इनके कारण मानसिक कार्यके रूपमें शोभाका आविर्भाव होता है। जैसे—'भवनकी शोभा होती है'॥ ४७-४८॥

भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रगल्भता, उदारता, स्थिरता एवं गम्भीरता—ये बारह 'स्त्रियोंके विभाव' कहे गये हैं। विलास और हावको 'भाव' कहते हैं। यह 'भाव' किंचित् हर्षसे प्रादुर्भूत होता है। वाणीके योगको 'वागारम्भ' कहते हैं। उसके भी बारह भेद

होते हैं। उनमें भाषणको 'आलाप', अधिक भाषणको 'प्रलाप', दु:खपूर्ण वचनको 'विलाप', बारंबार कथनको 'अनुलाप', कथोपकथनको 'संलाप', निरर्थक भाषणको 'अपलाप', वार्त्ताके परिवहनको 'संदेश' और विषयके प्रतिपादनको 'निर्देश' कहते हैं। तत्त्वकथनको 'अतिदेश' एवं निस्सार वस्तुके वर्णनको 'अपदेश' कहा जाता है। शिक्षापूर्ण वचनको 'उपदेश' और व्याजोक्तिको 'व्यपदेश' कहते हैं। दूसरोंको अभीष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिये उत्तम बुद्धिका आश्रय लेकर वागारम्भका व्यापार होता है। उसके भी रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति—ये तीन भेद होते हैं॥ ४९—५४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शृङ्गारादि रस, भाव तथा नायक आदिका निरूपण' नामक तीन सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३९॥

तीन सौ चालीसवाँ अध्याय

रीति-निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'वाग्विद्या' (काव्यशास्त्र)-के सम्यक् परिज्ञानके लिये 'रीति'का वर्णन करता हूँ। उसके भी चार भेद होते हैं—पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी तथा लाटी। इनमें 'पाञ्चाली रीति' उपचारयुक्त, कोमल एवं लघु-समासोंसे समन्वित होती है। 'गौडी रीति'में संदर्भकी अधिकता और लंबे-लंबे समासोंकी बहुलता होती है। वह अधिक उपचारोंसे युक्त नहीं होती। 'वैदर्भी रीति' उपचाररहित, सामान्यत: कोमल संदर्भोंसे युक्त एवं समासवर्जित होती है। 'लाटी रीति' संदर्भकी स्पष्टतासे युक्त होती है, किंतु उसमें समास अत्यन्त स्पष्ट नहीं होते। वह यद्यपि अनेक विद्वानोंद्वारा परित्यक्त है, तथापि अतिबहुल उपचारयुक्त लाटी रीतिकी रचना उपलब्ध होती है॥ १—४॥

(अब वृत्तियोंका वर्णन किया जाता है—) जो क्रियाओंमें विषमताको प्राप्त नहीं होती, वह वाक्यरचना 'वृत्ति' कही गयी है। उसके चार भेद हैं—भारती, आरभटी, कैशिकी एवं सात्वती। 'भारती वृत्ति' वाचिक अभिनयकी प्रधानतासे युक्त होती है। यह प्राय: (नट) पुरुषके आश्रित होती है, किंतु कभी-कभी स्त्री (नटी)-के आश्रित होनेपर यह प्राकृत उक्तियोंसे संयुक्त होती है। भरतके द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण इसे 'भारती' कहा जाता है। भारतीके चार अङ्ग माने गये हैं—वीथी, प्रहसन, आमुख एवं नाटकादिकी प्ररोचना। वीथीके तेरह अङ्ग होते हैं—उद्धातक, लपित, असत्प्रलाप, वाक्श्रेणी, नालिका, विपण, व्याहार, त्रिगत, छल, अवस्यन्दित, गण्ड, मृदव एवं उचित। तापस आदिके परिहासयुक्त वचनको 'प्रहसन' कहते हैं। 'आरभटी वृत्ति'में माया, इन्द्रजाल और युद्ध आदिकी बहुलता मानी गयी है। आरभटी वृत्तिके भेद निम्नलिखित हैं—संक्षिप्तकार, पात तथा वस्तूत्थापन*॥ ५—११॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'रीतिनिरूपण' नामक तीन सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४०॥

* अग्निपुराणमें काव्यशास्त्रके सम्यक् ज्ञानके लिये रीतिज्ञान आवश्यक बतलाया है; इसीका सहारा लेकर आचार्य वामनने 'रीतिरात्मा काव्यस्य।'—इस सूत्रके द्वारा रीतिको 'काव्यका आत्मा' कहा है और विशिष्ट पद-रचनाका नाम 'रीति' दिया है। अग्निपुराणमें

तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय

नृत्य आदिमें उपयोगी आङ्गिक कर्म

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं 'अभिनय'* में नृत्य आदिके समय शरीरसे होनेवाली विशेष चेष्टाको तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गके कर्मको बताता हूँ। इसे विद्वान् पुरुष 'आङ्गिक कर्म' मानते हैं। यह सब कुछ प्राय: अबलाजनोंके आश्रित होनेपर 'विच्छित्ति'-विशेषका पोषक होता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहृत, क्रीडित तथा केलि—ये नायिकाओंके यौवनकालमें सहजभावसे प्रकट होनेवाले बारह अलंकार हैं। आवरणसे आवृत स्थानमें प्रियजनोंकी चेष्टाके अनुकरणको 'लीला' कहते हैं। प्रियजनके दर्शन आदिसे जो मुख और नेत्र आदिकी चेष्टाओंमें कुछ विशेष चमत्कार लक्षित होता है, उसको सहृदयजन 'विलास' कहते हैं। हर्षसे होनेवाले हास और शुष्क रुदन

रीतिके चार भेद उपलब्ध होते हैं—पाञ्चाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी और इन चारोंके पृथक्-पृथक् लक्षण भी दिये हैं। यद्यपि वामनने इन चार भेदोंमेंसे 'लाटी'को ग्रहण नहीं किया है, तथापि परवर्ती आलोचकोंने लाटीपर भी विचार किया है। वामनने 'पाञ्चाली'का लक्षण किया है—'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।' अर्थात् 'माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणसे सम्पन्न रचना 'पाञ्चाली रीति' है।' अग्निपुराणमें 'उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा।'—यों कहकर छोटे समासवाली मृदु रचनाको 'पाञ्चाली' बताया गया है। इसकी मृदुताको ही वामनने 'माधुर्य' नामसे व्यक्त किया है। छोटे समासवाली रचनामें कर्कशताका अभाव होता है, अत: वह 'सुकुमार' मानी गयी है। इसी गुणका वामनने 'सौकुमार्य' शब्दसे बोध कराया है। व्यासजीने लंबे समासवाली रचनाको 'गौड़ीया' कहा है; उसीको शब्दान्तरसे वामनने 'ओज:कान्तिमती' कहकर व्यक्त किया है। दीर्घसमासवाली रचनामें ही 'ओज' और 'कान्ति' नामक गुण प्रकट होते हैं। जो समाससे शून्य तथा कोमल संदर्भवाली रचना होती है, उसको 'वैदर्भी' कहा गया है। वैदर्भीके इसी लक्षणको वामनने 'समग्रगुणोपेता' कहकर व्यक्त किया है। उनकी रायमें वैदर्भी रीति सम्पूर्ण दोषोंसे रहित और समग्र गुणोंसे गुम्फित होती है। यथा—

अस्पृष्टा दोषमात्राभि: समग्रगुणगुम्फिता। विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भ रीतिरिष्यते॥

भरतमुनिने वृत्तियोंकी उत्पत्ति भगवान् नारायणसे बतायी है और उनके चार भेद किये हैं—'भारती', 'सात्वती', 'कैशिकी' तथा 'आरभटी'। 'भारती'का प्राकट्य ऋग्वेदसे, 'सात्वती'का यजुर्वेदसे, 'कैशिकी'का सामवेदसे और 'आरभटी'का अथर्ववेदसे आविर्भाव माना है। जो प्रधान वाणी पुरुषद्वारा प्रयोगमें लायी जानेवाली, स्त्रीरहित, संस्कृत वाक्योंसे युक्त तथा भरतमुनिके शिष्योंसे प्रयुक्त है, वह 'भारती' नामवाली वृत्ति है; उसके चार अङ्ग हैं—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन (द्रष्टव्य:-नाट्यशास्त्रका बीसवाँ अध्याय)। अग्निपुराण वृत्तिविचार भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'पर ही आधारित तथा अत्यन्त संक्षिप्त है।

* भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र' (अध्याय २२)-में 'सामान्य-अभिनय-निरूपणों'के प्रसङ्गमें 'अभिनय'के तीन स्वरूप वर्णित हैं—वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक। नाट्यमें सत्त्वकी प्रतिष्ठा है। सत्त्वका रूप अव्यक्त है। वह नवों रसोंमें स्थित रहता है। युवावस्थामें स्त्रियोंके मुख और अङ्गमें जो सात्त्विक विकार अधिकतर प्रकट होते हैं, उन्हें 'अलंकार' कहा गया है। वे अलंकार भावोंके आश्रित होते हैं। उनमेंसे पहले तीन 'अङ्गज अलंकार' हैं, दस 'स्वाभाविक अलंकार' हैं और सात 'अयत्नज' हैं। वे सब-के-सब रस और भावसे उपबृंहित होते हैं। भाव, हाव और हेला—ये परस्पर उदित हो, शरीरमें प्रकृतिस्थ होकर रहते हैं। ये तीनों सत्त्वके ही भेद हैं और अङ्गज अलंकार हैं। 'सत्त्व' देहात्मक होता है। 'सत्त्व'से 'भाव'का उत्थान होता है, 'भाव'से 'हाव'का और 'हाव'से 'हेला'का उद्भव कहा गया है। वाणी, अङ्ग और मुखरागके द्वारा तथा सत्त्व और अभिनयके द्वारा कविके आन्तरिक अभिप्रायको भावित (प्रकट) करनेवाला तत्त्व 'भाव' कहलाता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत—ये दस स्त्रियोंके स्वभावज चेष्टाविशेष या अलंकरण हैं। इनका विशद विवेचन श्लोक १२—२५ तक उपलब्ध होता है। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य—ये 'अयत्नज अलंकरण' हैं। इन सबका विवेचन श्लोक २६—३० तक उपलब्ध होता है। पुरुषमें शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज—ये आठ सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। यहाँ लीला-विलास आदि जो स्त्रियोंके अलंकरण कहे गये हैं, उनकी संख्या दस है; किंतु अग्निपुराणमें व्यासजीने 'क्रीडित' और 'केलि'—इन दोकी उद्भावना करके स्त्रियोंके स्वभावज अलंकरणोंको बारह बताया है। परवर्ती साहित्यदर्पणकारने इनके अतिरिक्त छ: नूतन भावोंकी उद्भावना करके इन सबकी संख्या अठारहतक पहुँचा दी है। व्यासजीने दिग्दर्शनके लिये लीला, विलास आदि कुछ ही भावोंके संक्षिप्त लक्षण दिये हैं, किंतु कविराज विश्वनाथने अठारहों भावों या अलंकरणोंके उदाहरणसहित विस्तृत लक्षण प्रस्तुत किये हैं।

आदिके मिश्रणको 'किलकिञ्चित' माना गया है। चित्तके किसी गर्वयुक्त विकारको 'बिब्बोक' कहते हैं। (इस भावके उदय होनेपर अभीष्ट वस्तुमें भी अनादर प्रकट किया जाता है।) सौकुमार्य्यजनित चेष्टा-विशेषको 'ललित' कहते हैं। सिर, हाथ, वक्ष:स्थल, पार्श्वभाग—ये क्रमशः अङ्ग हैं। भ्रूलता (भौंह) आदिको प्रत्यङ्ग या 'उपाङ्ग' जाना जाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके प्रयत्नजनित कर्म (चेष्टाविशेष)-के बिना नृत्य आदिका प्रयोग सफल नहीं होता। वह कहीं मुख्यरूपसे और कहीं वक्ररूपसे साधित होता है। आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत, उत्क्षिप्त, अधोगत एवं लोलित—ये तेरह प्रकारके शिर[1]:कर्म जानने चाहिये। भ्रूकर्म सात[2] प्रकारका होता है। भ्रूसंचालनके कर्मोंमें पातन आदि कर्म मुख्य हैं। रस, स्थायी भाव एवं संचारी भावके सम्बन्धसे दृष्टि[3]का 'अभिनय' तीन प्रकारका होता है। उसके भी छत्तीस भेद होते हैं—जिनमें दस भेद रससे प्रादुर्भूत होते हैं। कनीनिकाका कर्म भ्रमण एवं चलनादिके भेदसे नौ[4] प्रकारका माना गया है। मुखके छः[5] तथा नासिकाकर्मके छः[6] एवं नि:श्वासके नौ भेद माने जाते हैं। ओष्ठकर्मके छः[7], पादकर्मके छः[8] चिबुक-क्रियाके सात[9] एवं ग्रीवाकर्मके नौ[10] भेद बताये गये हैं। हस्तका अभिनय प्रायः 'असंयुत' तथा 'संयुत'—दो

१. 'नाट्यशास्त्र'के आठवें अध्यायमें श्लोक १७ से ४० तक शिर:संचालनके विविध प्रकारोंकी विशद व्याख्या दृष्टिगोचर होती है। 'आकम्पित' आदि जो तेरह प्रकार हैं, उनके नाममात्र अग्निपुराणमें वहींसे ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं। इन सबके लक्षणोंका विवेचन वहीं द्रष्टव्य है।

२. 'भ्रूसंचालन'के जिन सात कर्मोंकी यहाँ चर्चा की गयी है, उनके नाम 'नाट्यशास्त्र'में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—उत्क्षेप, पातन, भ्रुकुटी, चतुर, कुञ्चित, रेचित तथा सहज। दोनों ओरकी भौंहोंको एक साथ या बारी-बारीसे ऊपरको उठाना 'उत्क्षेप' है। इसी तरह उन्हें एक साथ या एक-एक करके नीचे लाना 'पातन' है। भौंहोंके मूलभागको ऊपर उठाना 'भ्रुकुटी' कही गयी है। दोनों ओरकी मनोहर और विस्तृत भौंहोंको तनिक-सा उठानेसे 'चतुर'कर्म सम्पादित होता है। एक या दोनों भौंहोंको मृदुलभावसे सिकोड़ना 'कुञ्चित' कहा गया है। एक ही भौंहके ललितउत्क्षेपसे 'रेचित'का सम्पादन होता है और भौंहोंका जो स्वाभाविक कर्म है, उसे 'सहज' कहा गया है। (नाट्य० ८। ११८—१२३)

३. कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा तथा बीभत्सा—ये आठ 'रसदृष्टियाँ' हैं। स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता तथा विस्मिता—ये आठ 'स्थायिभाव-सम्बन्धिनी' दृष्टियाँ हैं। शून्या, मलिना, श्रान्ता, ललिता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विशोका, त्रस्ता तथा मदिरा—ये संचारीभावसे सम्बन्ध रखनेवाली बीस प्रकारकी दृष्टियाँ हैं। इन सबका विवेचन 'नाट्यशास्त्र'में बड़े विस्तारके साथ किया गया है। (द्रष्टव्य—अध्याय आठ, श्लोक ४१—११४ तक)

४. भ्रमण, वलन, पात, चलन, सम्प्रवेशन, विवर्तन, समुद्वृत्त, निष्कास तथा प्राकृत—ये कनीनिकाके नौ कर्म हैं। नेत्रपुटके भीतर दोनों पुतलियोंका मण्डलाकार आवर्तन 'भ्रमण' माना गया है। त्रिकोणगमन 'वलन' कहलाता है। नीचेकी ओर खिसकना 'पातन' है। उनके कम्पनको 'चलन' जानना चाहिये। उनको भीतर घुसा देना 'प्रवेशन' कहलाता है। कटाक्ष करनेकी क्रियाको 'विवर्तन' कहते हैं। पुतलियोंका ऊँचे उठना 'समुद्वृत्त' कहलाता है, निकलना 'निष्काम' है और स्वाभाविकरूपसे उनकी स्थिति 'प्राकृत' कहलाती है।

५. विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, निवृत्त तथा उद्वाहि—ये मुखके छः कर्म हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ८, श्लोक १५३ से ५७ तक)

६. नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विघूर्णिता तथा स्वाभाविकी—ये छः प्रकारकी 'नासिका' मानी गयी हैं।
(इसका लक्षण द्रष्टव्य—नाट्य० ८, श्लोक १२९—१३६ तक)

७. विवर्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, संदष्टक तथा समुद्ग—ये 'ओष्ठ'के छः कर्म हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ८, श्लोक १४१—१४७)

८. नाट्यशास्त्रमें 'पादकर्म'के छः भेदोंका उल्लेख है। उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अञ्चित, कुञ्चित तथा सूचीपाद—ये उन छहोंके नाम हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २६५—२८०)

९. कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहन, सम तथा दन्तक्रियादष्ट—ये सात प्रकारकी 'चिबुकक्रिया' हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ८, श्लोक १४७—१५३)

१०. समा, नता, उन्नता, त्र्यश्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और निवृत्ता—ये 'ग्रीवा' के नौ भेद हैं। (द्रष्टव्य—श्लोक १७०—१७६)

प्रकारका होता है। पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्द्धचन्द्र, उत्कराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूच्यास्य, पद्मकोष, अतिशिरा, मृगशीर्षक, कामूल, कालपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, ऊर्णनाभ एवं ताम्रचूड—'असंयुत हस्त'के ये चौबीस भेद कहे गये हैं[1] ॥१—१६॥

'संयुत हस्त'के तेरह भेद माने जाते हैं—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटक, वर्धमान, असङ्ग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त एवं बहिःस्तम्भ। संयुत करके परिवर्द्धनसे इसके अन्य भेद भी होते हैं॥१७-१८॥

वक्षःस्थलका अभिनय आभुग्ननर्तन आदि भेदोंसे पाँच[2] प्रकारका होता है। उदरकर्म[3] अनतिक्षाम, खल्व तथा पूर्ण—तीन प्रकारके होते हैं। पार्श्वभागोंके पाँच[4] कर्म तथा जङ्घाके[5] भी पाँच ही कर्म होते हैं। नाट्य-नृत्य आदिमें पादकर्मके अनेक भेद होते हैं॥१९—२१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नृत्य आदिमें उपयोगी विभिन्न अङ्गोंकी क्रियाओंका निरूपण' नामक तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३४१॥

तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय

अभिनय और अलंकारोंका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'काव्य' अथवा 'नाटक' आदिमें वर्णित विषयोंको जो अभिमुख कर देता—सामने ला देता, अर्थात् मूर्तरूपसे प्रत्यक्ष दिखा देता है, पात्रोंके उस कार्यकलापको विद्वान् पुरुष 'अभिनय' मानते या कहते हैं। वह चार प्रकारसे सम्भव होता है। उन चारों अभिनयोंके नाम इस प्रकार हैं—सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य। स्तम्भ, स्वेद आदि 'सात्त्विक अभिनय' हैं; वाणीसे जिसका आरम्भ होता है, वह 'वाचिक अभिनय' है; शरीरसे आरम्भ किये जानेवाले अभिनयको 'आङ्गिक' कहते हैं तथा जिसका आरम्भ बुद्धिसे किया जाता है, वह 'आहार्य अभिनय' कहा गया है॥१-२॥

रसादिका आधान अभिमानकी सत्तासे होता है। उसके बिना सबकी स्वतन्त्रता व्यर्थ ही है। 'सम्भोग' और 'विप्रलम्भ'के भेदसे शृङ्गार दो प्रकारका माना जाता है। उनके भी 'प्रच्छन्न' एवं 'प्रकाश'—दो भेद होते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गारके चार भेद माने जाते हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुणात्मक॥३—५॥

इन पूर्वानुरागादिसे 'सम्भोग' शृङ्गारकी उत्पत्ति होती है। वह भी चार भागोंमें विभाजित होता है एवं पूर्वका अतिक्रमण नहीं करता। यह स्त्री और पुरुषका आश्रय लेकर स्थित होता है। उस शृङ्गारकी साधिका अथवा अभिव्यञ्जिका 'रति' मानी गयी है। उसमें वैवर्ण्य और प्रलयके सिवा अन्य सभी सात्त्विक[6] भावोंका उदय होता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंसे,

१. हस्तकर्मके विशद विवेचनके लिये द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, नवम अध्याय।

२. आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित तथा सम—ये 'वक्षःस्थल'के पाँच भेद हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २२३—२३२)

३. कुछ लोग क्षाम, खल्व, सम तथा पूर्ण—ये 'उदर'के चार भेद मानते हैं।

४. नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित तथा अपसृत—ये 'पार्श्वभाग'के पाँच कर्म हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २३३—२४०)

५. नाट्यशास्त्रमें 'ऊरुकर्म' और 'जङ्घाकर्म' दोनों ही पाँच-पाँच बताये हैं। कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन और विवर्तन—ये पाँच 'ऊरुकर्म' हैं तथा आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त—ये पाँच 'जङ्घाकर्म' हैं। (द्रष्टव्य—अध्याय ९, श्लोक २५०—२६५)

६. स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव हैं। इनमेंसे वैवर्ण्य और प्रलयका उद्गम सम्भोग-शृङ्गारमें नहीं होता।

आलम्बन-विशेषसे तथा आलम्बन-विशेषके वैशेषिकसे शृङ्गाररस निरन्तर उपचय (वृद्धि)-को प्राप्त होता है। 'अभिनेय' शृङ्गारके दो भेद और जानने चाहिये—'वचनक्रियात्मक' तथा 'नेपथ्यक्रियात्मक'॥ ६—८ $\frac{1}{2}$ ॥

हास्यरस स्थायीभाव—हासके छः भेद माने गये हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। जिसमें मुस्कुराहटमात्र हो, दाँत न दिखायी दें—ऐसी हँसीको 'स्मित' कहते हैं। जिसमें दन्ताग्र कुछ दीख पड़ें और नेत्र प्रफुल्लित हो उठें, वह 'हसित' कहा जाता है। यह उत्तम पुरुषोंकी हँसी है। ध्वनियुक्त हासको 'विहसित' तथा कुटिलतापूर्ण दृष्टिसे देखकर किये गये अट्टहासको 'उपहसित' कहते हैं। यह मध्यम पुरुषोंकी हँसी है। बेमौके जोर-जोरसे हँसना (और नेत्रोंसे आँसूतक निकल आना)—यह 'अपहसित' है और बड़े जोरसे ठहाका मारकर हँसना 'अतिहसित' कहा गया है[1]। (यह अधम जनोंकी हँसी है)॥ ९-१० $\frac{1}{2}$ ॥

जो 'करुण' नामसे प्रसिद्ध रस है, वह तीन प्रकारका होता है। 'करुण' नामसे प्रसिद्ध जो रस है, उसका स्थायी भाव 'शोक' है। वह तीन हेतुओंसे प्रकट होनेके कारण 'त्रिविध' माना गया है—१-धर्मोपघातजनित, २-चित्तविलासजनित और ३-शोकदायकघटनाजनित। (प्रश्न) शोकजनित शोकमें कौन स्थायी भाव है? (उत्तर) जो पूर्ववर्ती शोकसे उद्भूत हुआ है, वह[2] ॥ ११-१२ ॥

अङ्गकर्म, नेपथ्यकर्म और वाक्कर्म—इनके द्वारा रौद्ररसके भी तीन भेद होते हैं। उसका स्थायी भाव 'क्रोध' है। इसमें स्वेद, रोमाञ्च और वेपथु आदि सात्त्विक भावोंका उदय होता है[3] ॥ १३ ॥

दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर—ये तीन 'वीररसके[4] भेद हैं। वीररसका निष्पादक हेतु 'उत्साह' माना गया है। जहाँ प्रारम्भमें वीरका ही अनुसरण किया जाता है, परंतु जो आगे चलकर भयका उत्पादक होता है, वहा 'भयानक रस' है। उसका निष्पादक 'भय' नामक स्थायी भाव[5] है। बीभत्सरसके 'उद्वेजन' और 'क्षोभण'—दो

१. 'नाट्यशास्त्र' अध्याय छः, श्लोक ४९—६१ में 'हास्यरस' का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। स्मित, हसित आदि छः भेदोंके भी विस्तृत लक्षण वहाँ दिये गये हैं।

२. अग्निपुराणमें 'करुणरस' का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। अतः उसके विभाव और अनुभावोंका परिचय देनेवाले दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि। एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च। अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च॥
(नाट्यशास्त्र ६। ६२-६३)

३. 'रौद्ररस' के परिचायक श्लोक 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार दिये गये हैं—

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव। संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः संजायते रौद्रः॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव। एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥
इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः। शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः॥
(नाट्यशास्त्र ६। ६४—६६)

४. 'वीररस' का अभिनय कैसे करना चाहिये, इसे भरतमुनिने दो आर्याओंमें बताया है—

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात्। विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति॥
स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च। वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः॥
(नाट्यशास्त्र ६। ६७-६८)

५. 'भयानकरस' का विशद वर्णन 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार किया गया है—

विकृतरससत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्। गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेयः॥
गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः। सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम्॥

भेद माने गये हैं। पूति (दुर्गन्ध) आदिसे 'उद्वेजन' तथा रुधिरक्षरण आदिसे 'क्षोभण' होता है। 'जुगुप्सा' इसका स्थायी भाव है और सात्त्विक भावका इसमें अभाव होता है*॥ १४—१६ $\frac{१}{२}$ ॥

काव्य-सौन्दर्यकी अभिवृद्धि करनेवाले धर्मोंको 'अलंकार' कहते हैं। वे शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थ—इन तीनोंको अलंकृत करनेसे तीन प्रकारके होते हैं। जो अलंकार काव्यमें व्युत्पत्ति आदिसे शब्दोंको अलंकृत करनेमें सक्षम होते हैं, काव्यशास्त्रकी मीमांसा करनेवाले विद्वान् उनको 'शब्दालंकार' कहते हैं। छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्त और दुष्कर—ये संकरको छोड़कर शब्दालंकारके नौ भेद हैं। दूसरोंकी उक्तिके अनुकरणको 'छाया' कहते हैं। इस छायाके भी चार भेद जानने चाहिये। लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति एवं मत्तोक्तिका अनुकरण। आभाणक (कहावत)-को 'लोकोक्ति' कहते हैं। ये उक्तियाँ सर्वसाधारणमें प्रचलित होती हैं। जो रचना लोकोक्तिका अनुसरण करती है, विद्वज्जन उसको 'लोकोक्ति छाया' कहते हैं। विदग्ध (नागरिक)-को 'छेक' कहा जाता है। कलाकुशल बुद्धिको 'वैदग्ध्य' कहते हैं। उल्लेख करनेवाली रचनाको कविजन 'छेकोक्ति-छाया' मानते हैं। 'अर्भकोक्ति' सब विद्वानोंकी दृष्टिसे अव्युत्पन्न (मूढ़) पुरुषोंकी उक्तिका उपलक्षण मात्र है, अतः केवल उन मूढ़ोंकी उक्तिका अनुकरण करनेवाली रचना 'अर्भकोक्तिछाया' कही जाती है। मत्त (पागल)-की जो वर्णक्रमहीन अश्लीलतापूर्ण उक्ति होती है, उसको 'मत्तोक्ति' कहते हैं। उसका अनुकरण करनेवाली रचना 'मत्तोक्ति-छाया' मानी गयी है। यह यथावसर वर्णित होनेपर अत्यन्त सुशोभित होती है॥ १७—२५॥

जो विशेष अभिप्रायोंके द्वारा कवित्वशक्तिको प्रकाशित करती हुई सहृदयोंको प्रमोद प्रदान करती है, वह 'मुद्रा' कही जाती है। हमारे मतसे वही 'शय्या' भी कही जाती है। जिसमें युक्तियुक्त अर्थविशेषका कथन हो तथा जो लोकप्रचलनके प्रयोजनकी विधिसे सामाजिकके हृदयको संतर्पित करे, उसको 'उक्ति' कहते हैं। उक्तिके अवान्तर भेदोंमें विधि-निषेध, नियम-अनियम तथा विकल्प-परिसंख्यासे सम्बद्ध छः प्रकारकी उक्तियाँ होती हैं। परस्पर पृथग्भूतके समान स्थित वाच्य और

एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम्। पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम्॥
करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन । शुष्कौष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः॥

(६। ६९—७२)

* 'बीभत्सरस'के अभिनयका निर्देश करनेवाले दो श्लोक 'नाट्यशास्त्र'में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च। उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति॥
मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः। अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः॥

(६। ७३-७४)

अग्निपुराणमें 'अद्भुतरसका' वर्णन छूट गया है या खण्डित हो गया है। अतः 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसम्भाव्यमानमायेन्द्रजाल-सम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयविस्तारानिमेषप्रक्षेपणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकार बाहुवदनखेलाङ्गुलि-भ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

भावाश्चास्या—स्तम्भाश्रुस्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमप्रहर्षचपलतोन्मदधृतिजडताप्रलयादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा। तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम्॥
स्पर्शग्रहोत्कहसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च। वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य॥

वाचक—दोनोंकी योजनाके लिये जो समर्थ हो, मनीषीजन उसे 'उक्ति' कहते हैं। युक्तिके विषय छः हैं—पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण और प्रपञ्च। 'गुम्फना' कहते हैं—रचनाचर्याको। वह 'शब्दार्थक्रमगोचरा', 'शब्दानुकारा' तथा 'अर्थानुपूर्व्वार्था'—इन तीन भेदोंसे युक्त है॥ २६—३१॥

जिस वाक्यमें 'उक्ति' और 'प्रत्युक्ति' (प्रश्न और उत्तर) दोनों हों, उसे 'वाकोवाक्य' कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं—'ऋजूक्ति' और 'वक्रोक्ति'। इनमें पहली जो 'ऋजूक्ति' है, वह स्वाभाविक कथनरूपा है। ऋजूक्तिके भी दो भेद हैं—'अप्रश्नपूर्विका' और 'प्रश्नपूर्विका'। वक्रोक्तिके भी दो भेद हैं—'भङ्ग-वक्रोक्ति' और 'काकु-वक्रोक्ति'॥ ३२-३३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अभिनय और अलंकारोंका निरूपण' नामक तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४२॥

तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय

शब्दालंकारोंका विवरण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! पद एवं वाक्यमें वर्णोंकी आवृत्तिको 'अनुप्रास[1]' कहते हैं। वृत्त्यनुप्रासके वर्णसमुदाय दो प्रकारके होते हैं—एकवर्ण और अनेकवर्ण[2]॥ १॥

एकवर्णगत आवृत्तिसे पाँच वृत्तियाँ निर्मित होती हैं—मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा तथा परुषा[3]॥ २॥

मधुरावृत्तिकी रचनामें वर्गान्त पञ्चम वर्णके नीचे उसी वर्गके अक्षर तथा 'र ण म न'—ये वर्ण ह्रस्व स्वरसे अन्तरित होकर प्रयुक्त होते हैं तथा दो नकारोंका संयोग भी रहा करता है॥ ३॥

वर्ग्य वर्णोंकी आवृत्ति पाँचसे अधिक बार नहीं करनी चाहिये। महाप्राण (वर्गके दूसरे और चौथे अक्षर) और ऊष्मा (श ष स ह) इनके संयोगसे युक्त उत्तरोत्तर लघु अक्षरवाली रचना मधुरा[4] कही गयी है॥ ४॥

---

१. अनुप्रासका लक्षण अग्निदेवने 'स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।'—इस प्रकार कहा है। इसीका आधार लेकर आचार्य मम्मटने लिखा है कि 'सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते।' (पूर्वे विद्वांस इति शेषः।) 'वर्णसाम्यमनुप्रासः।' (का०प्र० ९। ७९), 'अनुप्रासः शब्दसाम्यम्।' (सा० द० १०। ३)—ये मम्मट और विश्वनाथकथित लक्षण भी उक्त अभिप्रायके ही पोषक हैं।

२. 'नाट्यशास्त्र' १६। ४० में भरतने उपमा, दीपक, रूपक और यमक—ये चार ही अलंकार माने हैं। व्यासजीने अनुप्रासका उल्लेख किया है। भामहने अपनेसे पूर्व अनुप्रासकी मान्यता स्वीकार की है। 'वृत्त्यनुप्रास'के अग्निपुराणोक्त लक्षणका भाव लेकर भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में इस प्रकार लिखा है—

मुहुरावर्त्यमानेषु यः स्ववर्ग्येषु वर्तते। काव्यव्यापी स संदर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते॥ (२। ७८)

आचार्य मम्मटने 'एकस्याप्यसकृत्परः'—इस सूत्रभूत वाक्यके द्वारा अग्निपुराणोक्त लक्षणकी ओर ही संकेत किया है। इसी भावको कविराज विश्वनाथने निम्नाङ्कित शब्दोंमें विशद किया है—

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा। एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते॥ (१०। ४)

३. अग्निपुराणमें जहाँ पाँच वृत्तियोंका उल्लेख है, वहीं परवर्ती आलोचकोंने अन्यान्य वृत्तियोंका भी उत्प्रेक्षण किया है। भोजराजने 'वृत्ति'के तीन गुण बताये हैं—सौकुमार्य, प्रौढ़ि और मध्यमत्व। साथ ही वृत्तिके बारह भेदोंका उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता और अमिता। अग्निपुराणकथित पाँचों वृत्तियाँ भी इनके अन्तर्गत हैं। भद्राके स्थानमें कोमला वृत्ति समझनी चाहिये।

४. भोजराजने 'मधुरा वृत्ति'के उदाहरणके रूपमें निम्नाङ्कित श्लोक प्रस्तुत किया है—

किञ्जल्कसङ्गिशिञ्जानभृङ्गलाञ्छितचम्पकः। अयं मधुरुपैति त्वां चण्डि पङ्कजदन्तुरः॥ (२। १९३)

ललितामें वकार और लकारका अधिक प्रयोग होता है। (वकारसे दन्त्योष्ठ्य वर्ण और लकारसे दन्त्यवर्ण समझने चाहिये[१]।) जिसमें ऊर्ध्वगत रेफसे संयुक्त पकार, णकार एवं वर्ग्य वर्ण प्रयुक्त होते हैं, किंतु टवर्ग और पञ्चम वर्ण नहीं रहते, वह 'प्रौढा'[२] वृत्ति कही जाती है। जिसमें अवशिष्ट, असंयुक्त, रेफ, णकार आदि कोमल वर्ण प्रयुक्त होते हैं, वह 'भद्रा' अथवा 'कोमला वृत्ति'[३] मानी जाती है। जिसमें ऊष्मा वर्ण (श ष स ह) विभिन्न अक्षरोंसे संयुक्त होकर प्रयुक्त होते हैं, उसको 'परुषा'[४] कहते हैं। परुषावृत्तिमें अकारके सिवा अन्य स्वरोंकी अत्यधिक आवृत्ति होती है। अनुस्वार, विसर्ग निरन्तर प्रयुक्त होनेपर परुषता प्रकट करते हैं। रेफसंयुक्त श, ष, स का प्रयोग, अधिक अकारका प्रयोग, अन्तःस्थ वर्णोंका अधिक निवेश तथा रेफ और अन्तःस्थसे भेदित एवं संयुक्त 'हकार' भी परुषताका कारण होता है। और प्रकारसे भी जो गुरु वर्ण है, वह यदि माधुर्यविरोधी वर्णसे संयुक्त हो, तो परुषता लानेवाला होता है। उस परुष-रचनामें वर्गका आदि अक्षर ही संयुक्त एवं गुरु हो तो श्रेष्ठ माना गया है। पञ्चम वर्ण यदि संयुक्त हो तो परुष-रचनामें उसे प्रशस्त नहीं माना गया है। किसीपर आक्षेप करना हो या किसी कठोर शब्दका अनुकरण करना हो, तो वहाँ 'परुषा वृत्ति' भी प्रयोगमें लायी जाती है। क च ट त प—इन पाँच वर्गों, अन्तःस्थ वर्णों और ऊष्मा अक्षरोंके क्रमशः आवर्तनसे जो वृत्ति होती है, उसके बारह भेद हैं—कर्णाटी, कौन्तली, कौंकी, कौंकणी, वाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिसिका, औण्ड्री तथा पौण्ड्री[५] ॥ ५—१० $\frac{१}{२}$ ॥

अनेक वर्णोंकी जो आवृत्ति होती है, वह यदि भिन्न-भिन्न अर्थोंकी प्रतिपादिका हो, तो उसे 'यमक' कहते हैं[६]। यमक दो प्रकारका होता है— 'अव्यपेत' और 'व्यपेत'। निरन्तर आवृत्त होनेवाला 'अव्यपेत' और व्यवधानसे आवृत्त होनेवाला 'व्यपेत' कहा जाता है। स्थान और पादके भेदसे इन दोनोंके दो-दो भेद होनेपर कुल चार भेद हुए। आदि पादके आदि, मध्य और अन्तमें

१. भोजराजने इसमें तालव्य वर्णोंका भी समावेश माना है। 'ललिता'का उदाहरण इस प्रकार है—
द्राविडीनां ध्रुवं लीलारेचितभ्रूलते मुखे। आसज्य राज्यभारं स्वं सुखं स्वपिति मन्मथः॥ (सर० कं० २। २००)

२. भोजराजके मतसे इसमें प्रायः मूर्धन्य, अन्तःस्थ तथा संयोगपूर्व गुरुवर्णोंका प्रयोग होता है। यथा—
कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यां मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः। कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तं स्मरार्तं स्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र॥
(सर० कं० २। १९२)

३. कोमला या भद्राका उदाहरण—
दारुणरणे रणन्तं करिदारणकारणं कृपाणं ते। रमणकृते रणरणकी पश्यति तरुणीजनो दिव्यः॥ (सर० कं० २। १९७)

४. परुषा। यथा—
जह्ने निर्ह्रादिह्लादोऽसौ कह्लाराह्लादितह्रदः। प्रसह्य मह्या गर्ह्यत्वमर्हणार्हः शरन्मरुत्॥ (सर० कं० २। १९९)

५. अग्निपुराणवर्णित इन वृत्तियोंके देश-भेदसे जो बारह भेद हैं, उन्हें भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में ज्यों-का-त्यों ले लिया है और अपनी ओरसे उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं (द्रष्टव्यः २। ७८—८१ कारिकातक)।

६. 'नाट्यशास्त्र'में भरतमुनिने 'शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।' (१। ५९)—इस प्रकार 'यमक'का लक्षण किया है। इसीका आशय लेकर व्यासजीने 'अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका। यमकं साव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद् द्विधा॥'—ऐसा लक्षण किया है। इसीका आश्रय लेकर दण्डीने—'अव्यपेतव्यपेतात्मा याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः। यमकं तत्······ ॥'—ऐसा लक्षण प्रस्तुत किया है। (काव्यादर्श ३। १) इन्हीं लक्षणोंको आधार बनाकर भोजराजने 'यमक'का लक्षण इस प्रकार किया है—
विभिन्नार्थैकरूपाया याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः। अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते॥ (२। ५८)

एक, दो और तीन वर्णोंकी पर्यायसे आवृत्ति होनेपर कुल सात भेद होते हैं। यदि सात पादोंमें उत्तरोत्तर पाद एक, दो और तीन पदोंसे आरम्भ हो तो अन्तिम पाद छः प्रकारका हो जाता है। तीसरा पाद पादके आदि, मध्य और अन्तमें आवृत्ति होनेसे तीन प्रकारका होता है। श्रेष्ठ यमकके निम्नलिखित दस भेद होते हैं—पादान्त यमक, काञ्ची यमक, समुद्‌ग यमक, विक्रान्त्य यमक, वक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पादादि यमक, आम्रेडित यमक, चतुर्व्यवसित यमक तथा माला[१] यमक। इनके भी अन्य अनेक भेद[२] होते हैं॥ ११—१७॥

सहृदयजन भिन्नार्थवाची पदकी आवृत्तिको 'स्वतन्त्र' एवं 'अस्वतन्त्र' पदके आवर्त्तनसे दो प्रकारकी मानते हैं। दो आवृत्त पदोंका समास होनेपर 'समस्ता' और उनके समासरहित रहनेपर 'व्यस्ता' आवृत्ति कही जाती है। एक पादमें विग्रह होनेसे असमासत्वप्रयुक्त 'व्यस्ता' जानी

१. यमकके जो 'पादान्त यमक' आदि दस भेद निरूपित हुए हैं, वे 'नाट्यशास्त्र' अध्याय १६, श्लोक ६०—६२ तक ज्यों-के-त्यों उपलब्ध होते हैं तथा श्लोक ६३ से ८६ तक इन सबके लक्षण और उदाहरण भी दिये गये हैं। उन सबको वहीं देखना चाहिये। केवल एक 'पादान्त-यमक'का लक्षण और उदाहरण यहाँ दिग्दर्शनमात्रके लिये दिया जाता है। जहाँ चारों पादोंके अन्तमें एक समान अक्षर प्रयुक्त होते हैं, उसे 'पादान्त-यमक' जानना चाहिये। जैसे—निम्नाङ्कित श्लोकके चारों पादोंके अन्तमें 'मण्डल'—इन तीन अक्षरोंकी समानरूपसे आवृत्ति हुई है—

दिनक्षयात्संहतरश्मिमण्डलं दिवीव लग्नं तपनीयमण्डलम्। विभाति ताम्रं दिवि सूर्यमण्डलं यथा तरुण्याः स्तनभारमण्डलम्॥ (१६।६४)

आचार्य भामहने यमकके पाँच ही भेद दिये हैं—आदि यमक, मध्यान्त यमक, पादाभ्यास, आवली और समस्तपाद यमक (द्रष्टव्य भामह 'काव्यालं०' द्वितीय परिच्छेद)। आचार्य वामनने 'पाद-यमक', एक पादके आदिमध्यान्त्य यमक, दो पादोंके आदिमध्यान्त्य यमक, एकान्तर पादान्त यमक, एकान्तर पादादि मध्य यमक, द्विविध अक्षर यमक, त्रिविध भृङ्गमार्ग-शृङ्खला, परिवर्तक और चूर्ण आदि भेद माने हैं।

२. 'सरस्वतीकण्ठाभरण'के रचयिता भोजराजने अग्निपुराणके इसी प्रसङ्गमें अपनी सुस्पष्ट वाणीद्वारा इस प्रकार कहा है—

विभिन्नार्थैकरूपाया याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः। अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते॥
तदव्यपेतयमकं व्यपेतयमकं तथा। स्थानास्थानविभागाभ्यां पादभेदाच्च भिद्यते॥
यत्र पादादिमध्यान्ताः स्थानं तेषुपकल्प्यते। यदव्यपेतमन्यद्वा तत्स्थानयमकं विदुः॥
चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पनाः। आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वतः॥
अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः। सुकरा दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन॥
(२।५८—६२)

उपर्युक्त श्लोकोंके अनुसार यमकोंके भेद इस प्रकार बनते हैं—'स्थानयमक' और 'अस्थानयमक'। स्थानयमकोंमें चतुष्पाद यमक, त्रिपाद यमक, द्विपाद यमक और एकपाद यमक होते हैं। चतुष्पाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत मध्य यमक, अव्यपेत अन्त्य यमक, आदिमध्य यमक, आद्यन्त यमक, मध्यान्त यमक तथा आदिमध्यान्त यमक। त्रिपाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत मध्य यमक, अव्यपेत अन्त्य यमक, मध्य यमक, अन्त्य यमक। द्विपाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत मध्य यमक, अन्त्य यमक, आदिमध्य यमक इत्यादि। एकपाद यमकोंमें अव्यपेत आदि यमक, अव्यपेत अन्त्य यमक, मध्य यमक। इसी प्रकार सकृत् आवृत्ति और असकृत् आवृत्तिमें भी अव्यपेत यमक होता है। 'अव्यपेत'का अर्थ है—अव्यवहित और 'व्यपेत'का अर्थ है—व्यवधानयुक्त। आवृत्तिकी एकरूपता और अधिकतामें भी अव्यपेत आदि, मध्यादि यमक होने सम्भव हैं। व्यपेत आदि यमक, मध्य यमक, अन्त्य यमक, आदिमध्य यमक, मध्यान्त्य यमक और आदिमध्यान्त्य यमक—ये चतुष्पाद यमकोंमें होते हैं। त्रिपाद और द्विपाद यमकोंमें भी व्यपेत आदि यमक, मध्य यमक और अन्त्य यमक होते हैं। आवृत्तिकी अधिकतामें भी आदि, मध्य यमकके व्यपेतरूप देखे जाते हैं। इसी तरह आवृत्तिकी एकरूपतामें भी आदि, मध्य तथा मध्यान्त्य यमक कविजनोंकी रचनाओंमें उपलब्ध हैं। इन सबमें आवृत्ति व्यवहित होती है, इसलिये इनको 'व्यपेत यमक' कहा जाता है। जहाँ आदि, मध्य और अन्तका नियम न हो, ऐसे यमकोंको 'अस्थानयमक' कहते हैं। इनके भी व्यपेत और अव्यपेत आदि बहुत-से स्थूल-सूक्ष्म भेद हैं। इन सबका विस्तार 'सरस्वतीकण्ठाभरण', द्वितीय परिच्छेदमें देखना चाहिये।

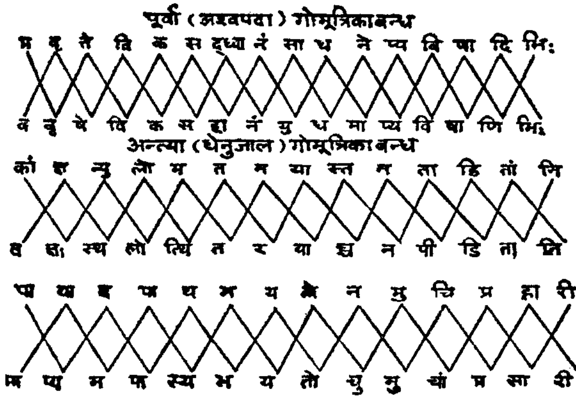
जाती है। यथासम्भव वाक्यकी भी आवृत्ति इस प्रकार होती है। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार लघु होनेपर भी इस प्रकार सुधीजनोंद्वारा सम्मानित होते हैं। आवृत्ति पदकी हो या वाक्य आदिकी, जिस किसी आवृत्तिसे भी जो वर्णसमूह 'समान' अनुभवमें आता है, उस आवृत्तरूपको आदिमें रखकर जो सानुप्रास पदरचना की जाती है, वह सहृदयजनोंको रसास्वाद करानेवाली होती है। सहृदयजनोंकी गोष्ठीमें जिस वाग्बन्ध (पदरचना)-को कौतूहलपूर्वक पढ़ा और सुना जाता है, उसे 'चित्र'[1] कहते हैं॥ १८—२१ १/२ ॥

इनके मुख्य सात भेद होते हैं—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युताक्षर, दत्ताक्षर, च्युतदत्ताक्षर और समस्या। जिसमें समानान्तरविन्यासपूर्वक उत्तर दिया जाय, वह 'प्रश्न' कहा जाता है और वह 'एकपृष्टोत्तर' और 'द्विपृष्टोत्तर'के भेदसे दो प्रकारका होता है। 'एकपृष्ट'के भी दो भेद हैं—'समस्त' और 'व्यस्त'। जिसमें दोनों अर्थोंके वाचक शब्द गूढ रहते हैं, उसे 'प्रहेलिका' कहते हैं। वह प्रहेलिका 'आर्थी' और 'शाब्दी'के भेदसे दो प्रकारकी होती है। अर्थबोधके सम्बन्धसे 'आर्थी' कही जाती है। शब्दबोधके सम्बन्धसे उसको 'शाब्दी' कहते हैं। इस प्रकार प्रहेलिकाके छः भेद बताये गये[2] हैं। वाक्याङ्गके गुप्त होनेपर भी सम्भाव्य अपारमार्थिक अर्थ जिसके अङ्गमें आकाङ्क्षासे युक्त स्थित रहता है, वह 'गुप्त' कही जाती है। इसीको 'गूढ़' भी कहते हैं। जिसमें वाक्याङ्गकी विकलतासे अर्थान्तरकी प्रतीति विकलित अङ्गमें साकाङ्क्ष रहती है, वह 'च्युताक्षरा' कही जाती है। वह चार प्रकारकी होती है—स्वर, व्यञ्जन, बिन्दु और विसर्गकी च्युतिके भेदसे। जिसमें वाक्याङ्गके विकल अंशको पूर्ण कर देनेपर भी द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है, उसको 'दत्ताक्षरा' कहते हैं। उसके भी स्वर आदिके कारण पूर्ववत् भेद होते हैं। जिसमें लुप्तवर्णके स्थानपर अक्षरान्तरके रखनेपर भी अर्थान्तरका आभास होता है, वह 'च्युतदत्ताक्षरा' कही जाती है। जो किसी पद्यांशसे निर्मित और किसी पद्यसे सम्बद्ध हो, वह 'समस्या' कही जाती है। 'समस्या' दूसरेकी रचना होती है, उसकी पूर्ति अपनी कृति है। इस प्रकार अपनी तथा दूसरेकी कृतियोंके सांकर्यसे 'समस्या' पूर्ण होती है। पूर्वोक्त 'चित्रकाव्य' अत्यन्त क्लेशसाध्य होता है एवं दुष्कर होनेके कारण वह कविकी कवित्व-शक्तिका सूचक होता है। यह नीरस होनेपर भी सहृदयोंके लिये महोत्सवके समान होता है। यह नियम, विदर्भ और बन्धके भेदसे तीन प्रकारका होता है। रमणीय कविताके रचयिता कविकी प्रतिज्ञाको 'नियम' कहते हैं। नियम भी स्थान, स्वर और व्यञ्जनके अनुबन्धसे तीन प्रकारका होता है।

१. चित्रके छः भेद हैं—वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति और बन्ध। वर्णचित्रके चतुर्व्यञ्जन, त्रिव्यञ्जन, द्विव्यञ्जन, एकव्यञ्जन, क्रमस्थसर्वव्यञ्जन, छन्दोऽक्षरव्यञ्जन, षड्जादिस्वरव्यञ्जन, मुरजाक्षर व्यञ्जन। चतु:स्थान चित्रोंमें निष्कण्ठ्य, निस्तालव्य, निर्दन्त्य, निरोष्ठ्य, निर्मूर्धन्य। चतु:स्वरोंमें दीर्घस्वर, प्रतिव्यञ्जनविन्यस्त स्वर, अपास्तसमस्तस्वर। आकार-चित्रोंमें अष्टदल कमल, चतुर्दल कमल, षोडशदल कमल, चक्र, चतुरङ्ग। गतिचित्रोंमें गतप्रत्यागत, तुरङ्गपद, अर्द्धभ्रम, श्लोकार्द्धभ्रम, सर्वतोभद्र। बन्धचित्रोंमें द्विचतुष्कचक्रबन्ध, द्विशृङ्गारबन्धक, विविडितबन्ध, षड्यन्त्रबन्ध, व्योमबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, मुरजबन्ध, एकाक्षर मुरजबन्ध, मुरजप्रस्तार, पादगोमूत्रिका, अयुग्मपादगोमूत्रिका, युग्मपादगोमूत्रिका, श्लोकगोमूत्रिका, विपरीतगोमूत्रिका, भिन्नछन्दोगोमूत्रिका, संस्कृतप्राकृतगोमूत्रिका, अर्धमूत्रिकाप्रस्तार, गोमूत्रिकाधेनु, शतधेनु, सहस्रधेनु, अयुतधेनु, लक्षधेनु, कोटिधेनु, कामधेनु इत्यादि परिगणित चित्रोंके अतिरिक्त भी अनेक बन्ध होते हैं, जैसे—शरबन्ध, धनुर्बन्ध, मुसलबन्ध, खड्गबन्ध, क्षुरिकाबन्ध आदि। इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक बन्ध विद्वानोंद्वारा ऊहनीय हैं। चित्रकाव्योंकी चर्चा दण्डीके 'काव्यादर्श'में भी मिलती है और भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में उनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

२. भोजराजके मतमें 'प्रहेलिका'के छः भेद यों होते हैं—च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, च्युतदत्ताक्षरा, अक्षरमुष्टिका, विन्दुमोती तथा अर्थवती। (सरस्वतीकण्ठाभरण, परिच्छेद २। १३३)

काव्यमें प्रातिलोम्य और आनुलोम्यसे विकल्पना होती है। 'प्रातिलोम्य' और 'आनुलोम्य' शब्द और अर्थके द्वारा भी होता है। विविध वृत्तोंके वर्णविन्यासके द्वारा उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओंके चित्रकर्मादिकी कल्पनाको 'बन्ध' कहते हैं। बन्धके निम्नाङ्कित आठ भेद माने जाते हैं—गोमूत्रिका, अर्द्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, कमल, चक्र, चक्राब्जक, दण्ड और मुरज। जिसमें श्लोकके दोनों-दोनों अर्द्धभागों तथा प्रत्येक पादमें एक-एक अक्षरके व्यवधानसे अक्षरसाम्य प्रयुक्त हो, उसको 'गोमूत्रिका-बन्ध' कहते हैं। 'गोमूत्रिका-बन्ध'के दो भेद कहे जाते हैं—'पूर्वा गोमूत्रिका' जिसको कुछ काव्यवेत्ता 'अश्वपदा' भी कहते हैं, वह प्रति अर्द्धभागमें एक-एक अक्षरके बाद अक्षरसाम्यसे युक्त होती है। 'अन्त्या गोमूत्रिका' जिसको 'धेनुजालबन्ध' भी कहते हैं, वह प्रत्येक पदमें एक-एक अक्षरके अन्तरसे अक्षरसाम्यसमन्वित होती है॥ २२—३८॥



गोमूत्रिका-बन्धके पूर्वोक्त दोनों भेदोंका क्रमशः अर्द्धभागों और अर्द्धपादोंसे विन्यास करना चाहिये॥ ३८ $\frac{1}{2}$॥

यहाँ क्रमशः नीचे-नीचे विन्यस्त वर्णोंका, नीचे-नीचे स्थित वर्णोंका जबतक चतुर्थ पाद पूर्ण न हो जाय, तबतक नयन करे। चतुर्थ पाद पूर्ण हो जानेपर प्रतिलोमक्रमसे अक्षरोंको पादार्ध-पर्यन्त ऊपर ले जाय। इस तरह तीन प्रकारका 'सर्वतोभद्र-मण्डल' बनता है। कमलबन्धके तीन प्रकार हैं—चतुर्दल, अष्टदल और षोडशदल। चतुर्दल कमलको इस प्रकारसे आबद्ध किया जाता है—प्रथम पादके ऊपरी तीन पदोंवाले अक्षर सभी पादोंके अन्तमें रखे जाते हैं। पूर्वपादके अन्तिम वर्णको पिछले पादके आदिमें प्रातिलोम्यक्रमसे रखा जाय। अन्तिम पादके अन्तिम दो अक्षरोंको प्रथम पादके आदिमें निविष्ट किया जाय। यह स्थिति चतुर्दल कमलमें होती है। अष्टदल कमलमें अन्त्य पादके अन्तिम तीन अक्षरोंको प्रथम पादके आदिमें विन्यस्त किया जाता है। षोडशदल कमलमें दो अक्षरोंके बीचमें कर्णिका—मध्यवर्ती एक अक्षरका उच्चारण होता है। कर्णिकाके अन्तमें ऊपर पत्राकार अक्षरोंकी पङ्क्ति लिखे और उसे कर्णिकामें प्रविष्ट कराये। यह बात चतुर्दल कमलके विषयमें कही गयी है। कर्णिकामें एक अक्षर लिखे और दिशाओं तथा विदिशाओंमें दो-दो अक्षर लिखे; प्रवेश और निर्गमका मार्ग प्रत्येक दिशामें रखे। यह बात 'अष्टदल कमल'के विषयमें कही गयी है। चारों ओर विषम-वर्णोंका उतनी ही पत्रावली बनाकर न्यास करे और मध्यकर्णिकामें सम अक्षरोंका एक अक्षरके रूपमें न्यास करे। यह बात 'षोडशदल कमल'के विषयमें बतायी गयी है। 'चक्रबन्ध' दो प्रकारका होता है—एक चार अरोंका और दूसरा छः अरोंका। उनमें जो आदिम, अर्थात् चार अरोंवाला चक्र है, उसके पूर्वार्द्धमें समवर्णोंकी स्थापना करे और प्रत्येक पादके जो प्रथम, पञ्चम आदि विषमवर्ण हैं, उनको एवं चौथे और आठवें, दोनों समवर्णोंको क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिमके अरोंमें रखे॥ ३९—४९॥

उत्तर पादार्धके चार अक्षरोंको नाभिमें रखे और उसके आदि अक्षरको पिछले दो अरोंमें ले जाय। शेष दो पदोंको नेमिमें स्थापित करे। तृतीय अक्षरको चतुर्थ पादके अन्तमें तथा प्रथम दो समवर्णोंको तीनों पादोंके अन्तमें रखे। यदि दसवाँ अक्षर सम हो तो उसे प्रथम अरेपर रखे और छः अक्षरोंको पश्चिम अरेपर स्थापित करे। वे दो-दोके अन्तरसे स्थापित होंगे। इस प्रकार 'बृहच्चक्र'का निर्माण होगा। यह 'बृहच्चक्र' बताया गया। सामनेके दो अरोंमें क्रमशः एक-एक पाद लिखे। नाभिमें दशम अक्षर अङ्कित करे और नेमिमें चतुर्थ चरणको ले जाय। श्लोकके आदि, अन्त और दशम अक्षर समान हों तथा दूसरे और चौथे चरणोंके आदि और अन्तिम अक्षर भी समान हों। प्रथम और चौथे चरणके प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण भी समान हों। द्वितीय चरणको विलोमक्रमसे पढ़नेपर यदि तृतीय चरण बन जाता हो तो उसे पत्रके स्थानमें स्थापित करे तो उस रचनाका नाम 'दण्डचक्राब्जबन्ध' समझना चाहिये। पूर्वदल (पूर्वार्द्ध)-में दोनों चरणोंके द्वितीय अक्षर एक समान हों और उत्तरार्द्धमें दोनों चरणोंके सातवें अक्षर समान हों। साथ ही द्वितीय अक्षरोंकी दृष्टिसे भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध परस्पर समता रखते हों। दूसरे, छठे तथा चौथे, पाँचवें भी एक-दूसरेके तुल्य हों। उत्तरार्द्ध भागके सातवें अक्षर प्रथम और चतुर्थ चरणोंके उन्हीं अक्षरोंके समान हों तो उन तुल्य रूपवाले चतुर्थ और पञ्चम अक्षरकी क्रमशः योजना करनी चाहिये। क्रमपादगत जो चतुर्थ अक्षर हैं, उनको तथा दलान्त वर्णोंको पूर्ववत् स्थापित करना चाहिये। 'मुरजबन्ध'में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनोंके अन्तिम और आदि अक्षर समान होते हैं। पादार्द्ध भागमें स्थित जो वर्ण है, उसे प्रातिलोम्यानुलोम्य-क्रमसे स्थापित करे। अन्तिम अक्षरको इस प्रकार निबद्ध करे कि वह चौथे चरणका आदि अक्षर बन जाय। चौथे चरणमें जो आदि अक्षर हो, उससे नवें तथा सोलहवें अक्षरसे पुटकके बीच-बीचमें चार-चार अक्षरोंका निवेश करे। ऐसा करनेसे उस श्लोकबन्धद्वारा मुरज (ढोल)-की आकृति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय चक्र 'शार्दूलविक्रीडित' छन्दसे सम्पादित होता है। 'गोमूत्रिकाबन्ध' सभी छन्दोंसे निर्मित हो सकता है। अन्य सब बन्ध अनुष्टुप् छन्दसे निर्मित होते हैं। यदि इन बन्धोंमें कवि और काव्यका नाम न हो तो मित्रभाव रखनेवाले लोग संतुष्ट होते हैं तथा शत्रु भी खिन्न नहीं होता। बाण, धनुष, व्योम, खड्ग, मुद्गर, शक्ति, द्विशृङ्गाट, त्रिशृङ्गाट, चतुःशृङ्गाट, वज्र, मुसल, अङ्कुश, रथपद, नागपद, पुष्करिणी, असिपुत्रिका (कटारी या छुरी)—इन सबकी आकृतियोंमें चित्रबन्ध लिखे जाते हैं। ये तथा और भी बहुत-से 'चित्रबन्ध' हो सकते हैं, जिन्हें विद्वान् पुरुषोंको स्वयं जानना चाहिये॥ ५०—६५ ॥*

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शब्दालंकारका कथन' नामक तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४३॥

---

* इस अध्यायके अन्तिम बीस-पचीस श्लोकोंका मूल अधिक स्पष्ट नहीं है। इनका आधार अन्वेषणीय है।

तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय

अर्थालंकारोंका निरूपण

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अर्थोंका अलंकरण* 'अर्थालंकार' कहा जाता है। उसके बिना शब्द-सौन्दर्य भी मनको आकर्षित नहीं करता है। अर्थालंकारसे हीन सरस्वती विधवाके समान शोभाहीन है। अर्थालंकारके आठ भेद माने गये हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु और सम। पदार्थोंके स्वभावको 'स्वरूप' कहते हैं। उसके दो भेद बतलाये गये हैं—'निज' एवं 'आगन्तुक'। सांसिद्धिकको 'निज' तथा नैमित्तिकको 'आगन्तुक' कहा जाता है। धर्मकी समानताको 'सादृश्य' कहते हैं। वह भी उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थान्तरन्यासके भेदसे चार प्रकारका होता है। जिसमें भेद और सामान्यधर्मके साथ उपमान एवं

* 'अलंकार' शब्दकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे उपलब्ध होती है—(१) 'अलंकरणमलंकारः।' (२) 'अलंक्रियते अनेन इति वा अलंकारः।' (३) 'अलंकरोति इति अलंकारः'। प्रथम व्युत्पत्तिके अनुसार 'अलंकार' शब्द भावघञन्त है। दूसरीके अनुसार करणदञन्त तथा तीसरीके अनुसार कर्त्रर्थप्रधान 'अण्'—प्रत्ययान्त है। 'अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते।'—यों कहकर अग्निपुराणमें भावघञन्त 'अलंकार' शब्दकी ही व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है। दण्डीने काव्य-शोभाकारी धर्मोंको 'अलंकार' कहा है (काव्यादर्श २।१)। वामनके मतमें सौन्दर्य और अलंकार पर्यायवाची शब्द हैं [सौन्दर्यमलंकारः १।२]। इन दोनोंने क्रमशः करणदञन्त और भावघञन्त व्युत्पत्ति स्वीकार की है। किसी भी व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थोंका अलंकरण ही 'अर्थालंकार' है, इस मान्यतामें कोई बाधा नहीं आती। अतः दण्डी और वामनपर भी अग्निपुराणका ही प्रभाव मानना चाहिये। भामहने 'अलंकार' शब्दकी कोई सुस्पष्ट व्युत्पत्ति नहीं दी है। अतः उपर्युक्त व्युत्पत्तियोंपर अग्निपुराणोक्त व्युत्पत्तिका ही प्रभाव परिलक्षित होता है। मम्मटने 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।'—ऐसा लिखकर 'अलंकार' शब्दकी तीसरी व्युत्पत्ति स्वीकार की है। जैसे हार आदि शरीरके अलंकरणद्वारा शरीरीको अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकार काव्यके अलंकरणद्वारा काव्यात्मा रसका अलंकरण बनते हैं। अतः वे रसके उपकारी हैं। विश्वनाथका भी ऐसा ही मत है। भोजराजने—'अलमर्थमलंकर्तुं यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना' इत्यादि लिखकर अग्निपुराणोक्त मतका ही अनुकरण किया है।

अलंकारोंकी संख्याके विषयमें अनेक मत उपलब्ध होते हैं। भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'में उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक—केवल इन चार अलंकारोंका ही उल्लेख है—'उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा। काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः॥' (ना० शा० १६।४३) यद्यपि भूषण, अक्षरसंघात, शोभा और उदाहरण आदि छत्तीस अलंकार 'नाट्यशास्त्र'में लक्षणसहित लिखे गये हैं तथापि वे विशेषतः नाट्योपयोगी हैं। उनका काव्यबन्धोंमें भी यथासम्भव प्रयोग करनेकी प्रेरणा दी गयी है, तथापि काव्य-सम्बन्धी अलंकार चार ही भरतमुनिको पूर्वपरम्परासे प्राप्त रहे हैं, जिनका उन्होंने 'परिकीर्तिताः'—कहकर स्पष्टीकरण किया है। वामनने अलंकारोंके तैंतीस भेद दिखलाये हैं। दण्डीने पैंतीस, भामहने उनतालीस और उद्भटने चालीस प्रकारके अलंकारोंका वर्णन किया है। रुद्रटने अपने 'काव्यालंकार'में बावन तथा मम्मटने सड़सठ अलंकारभेद दिखलाये हैं। जयदेवके 'चन्द्रालोक'में अलंकारोंकी संख्या सौ हो गयी है और अप्पय्य दीक्षितके 'कुवलयानन्द'में वह संख्या बढ़कर एक सौ चौबीसतक पहुँच गयी है। सरस्वतीकण्ठाभरणकारने शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थोभयालंकार—इन तीन भेदोंमें अलंकारोंका विभाजन करके तीनोंकी ही पृथक्-पृथक् चौबीस-चौबीस संख्याएँ स्वीकार की हैं। इस प्रकार उन्होंने बहत्तर अलंकारोंके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। साहित्यदर्पणकारने सतहत्तर अर्थालंकारोंका उल्लेख करके उन सबके सोदाहरण लक्षण दिये हैं। इन सभी अलंकारोंके अवान्तरभेद और सांकर्यभेदसे इन सबकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। अग्निपुराणमें अर्थालंकारके मूलतः आठ भेद माने हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु और सम। फिर स्वरूपके दो भेद, सादृश्यके चार भेद, अतिशयके दो भेद और विभावनाके साथ विशेषोक्तिको जोड़कर दो भेद किये हैं। सादृश्यके चार भेद—उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास बताकर उपमाके लगभग उनतीस भेदोंका उल्लेख किया है। इन भेदोंमें ही अन्य बहुत-से अलंकार समाविष्ट हो गये हैं, जो दूसरे-दूसरे नामोंसे व्यवहृत होते हैं। उन्होंने उपमाके जो अन्तिम पाँच भेद लिखे हैं, उनके नाम हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित्सदृशी। ये भेद भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'में भी वर्णित हैं और वहाँ उनके लक्षण तथा उदाहरण भी दिये गये हैं। अग्निपुराणमें उनके नाममात्रका संकलन वहींसे किया गया है, ऐसा जान पड़ता है।

उपमेयकी सत्ता हो, उसको 'उपमा'[१] कहते हैं; क्योंकि यत्किंचिद्विवक्षित सारूप्यका आश्रय लेकर ही लोकयात्रा प्रवर्तित होती है। प्रतियोगी (उपमान)-के समस्त और असमस्त होनेसे उपमा दो प्रकारकी मानी गयी है—'ससमासा' एवं 'असमासा'। '**घन इव श्यामः**' इत्यादि पदोंमें समासके कारण वाचक शब्दके लुप्त होनेसे 'ससमासा उपमा' कही गयी है, इससे भिन्न प्रकारकी उपमा 'असमासा' है। कहीं उपमाद्योतक 'इवादि' पद, कहीं उपमेय और कहीं दोनोंके विरहसे 'ससमासा' उपमाके तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार 'असमासा' उपमाके भी तीन भेद हैं। विशेषणसे युक्त होनेपर उपमाके अठारह भेद होते हैं। जिसमें साधारण धर्मका कथन या ज्ञान होता है—उपमाके उस भेदविशेषको धर्म या वस्तुकी प्रधानताके कारण 'धर्मोपमा'[२] एवं 'वस्तूपमा'[३] कहा जाता है। जिसमें उपमान और उपमेयकी प्रसिद्धिके अनुसार परस्पर तुल्य उपमा दी जाती है, वह 'परस्परोपमा'[४] होती है। प्रसिद्धिके विपरीत उपमान और उपमेयकी विषमतामें जब उपमा दी जाती है, तब वह 'विपरीतोपमा'[५] कहलाती है। **उपमा**—जहाँ एक वस्तुसे ही उपमा देकर अन्य उपमानोंका व्यावर्तन-निराकरण किया जाता है, वहाँ 'नियमोपमा'[६] होती है। यदि उपमेयके गुणादि धर्मकी अन्य उपमानोंमें भी अनुवृत्ति हो तो उसे 'अनियमोपमा'[७] कहते हैं॥ १—१२॥

एकसे भिन्न धर्मोंके बाहुल्यका कीर्तन होनेसे 'समुच्चयोपमा'[८] होती है। जहाँ अनेक धर्मोंकी समानता होनेपर भी उपमानसे उपमेयकी विलक्षणता

---

१. उपमाका अग्निपुराणोक्त लक्षण बहुत ही सीधा-सादा और स्पष्ट है। भरतमुनिने सादृश्यमूलक सभी अलंकारोंका 'उपमा' नाम दिया है—'यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते। उपमा नाम सा ज्ञेया।' (१६।४१) व्यासजीने अपने लक्षणमें उपमान, उपमेय, सामान्य धर्म और भेदका उल्लेख किया है। भामहने भी इसीको आधार बनाकर 'यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः'—ऐसा लक्षण किया है। इसमें वाचक शब्द, सामान्य धर्म तथा भेद—तीनका उल्लेख किया है। उपमानोपमेयका होना तो स्वतःसिद्ध है। वामनने 'उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।'—इस सूत्रके द्वारा उक्त अभिप्रायका ही पोषण किया है। दण्डीने जहाँ किसी तरह भी सादृश्यकी स्पष्ट प्रतीति होती हो, उसे 'उपमा' कहा है। मम्मटने 'साधर्म्यमुपमा भेदे', विश्वनाथने 'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्यं उपमा द्वयोः।' तथा भोजराजने 'प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः। भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता॥'—ऐसा लक्षण किया है। इन सबने पूर्ववर्ती आचार्योंके ही मतोंका उपपादन किया है।

२. दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में अग्निपुराण-कथित उपमाके इन भेदोंको ग्रहण किया है और इनके सोदाहरण लक्षण भी दिये हैं। जहाँ मुख्यतया तुल्यधर्मका प्रदर्शन किया गया, वहाँ 'धर्मोपमा' होती है। जैसे 'तुम्हारी हथेली कमलके समान लाल है'—इसमें लालिमारूपी धर्मका स्पष्ट कथन होनेसे यहाँ 'धर्मोपमा' है।

३. जिसमें शब्दसे अनुपात्त-प्रतीयमान साधारण धर्म हो, केवल उपमान वस्तुका प्रतिपादन होनेसे वहाँ 'वस्तूपमा' होती है। जैसे—'तुम्हारा मुख कमलके समान है।'

४. 'परस्परोपमा'का दूसरा नाम 'अन्योन्योपमा' है। दण्डीने इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। जहाँ उपमान और उपमेय—दोनों एक-दूसरेके उपमेय तथा उपमान बनते है, वहाँ 'परस्परोपमा' होती है। जैसे—'तुम्हारे मुखके समान कमल है और कमलके समान तुम्हारा मुख है।'

५. दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में विपरीतोपमाका 'विपर्यासोपमा'के नामसे उल्लेख किया है। जहाँ प्रसिद्धिके विपरीत उपमानोपमेयभाव गृहीत होता है, वहाँ 'विपरीतोपमा' होती है। जैसे—'खिला हुआ कमल तुम्हारे मुखके समान प्रतीत होता था'—इत्यादि।

६. दण्डीने इसका उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'तुम्हारा मुख कमलके ही समान है, दूसरी किसी वस्तुके समान नहीं।'

७. इसका उदाहरण दण्डीके 'काव्यादर्श'में इस प्रकार दिया गया है—'कमल तो तुम्हारे मुखका अनुकरण करता ही है, यदि दूसरी वस्तुएँ (चन्द्र आदि) भी तुम्हारे मुखके समान हैं तो रहें।'

८. 'समुच्चयोपमा'का उदाहरण दण्डीने इस प्रकार किया है—'सुन्दरि! तुम्हारा मुख केवल कान्तिसे ही नहीं, आह्लादनकर्मसे भी इन्दुका अनुसरण करता है।' यहाँ कान्तिगुण और आह्लादनकर्म—दोनोंका समुच्चय होनेके कारण 'समुच्चयोपमा' कही गयी है।

विवक्षित हो और इसके कारण जो अतिरिक्तत्वका कथन होता है, उसे 'व्यतिरेकोपमा'[१] कहते हैं। जहाँ बहुसंख्यक सदृश उपमानोंद्वारा उपमा दी जाय, उसे 'बहूपमा'[२] माना गया है। यदि उनमेंसे प्रत्येक उपमान भिन्न-भिन्न साधारण धर्मोंसे युक्त हो तो उसे 'मालोपमा'[३] कहा जाता है। उपमेयको उपमानका विकार बताकर तुलना की जाय तो 'विक्रियोपमा'[४] होती है। यदि कवि उपमानमें किसी ऐसे वैशिष्ट्यका, जो तीनों लोकोंमें असम्भव हो, आरोप करके उसके द्वारा उपमा देता है, तो वह 'अद्भुतोपमा'[५] कही जाती है। उपमानको आरोपित करके उससे अभिन्नरूपमें जो उपमेयका कीर्तन होता है और उससे जो भ्रम होनेका वर्णन किया जाता है, उसे 'मोहोपमा'[६] कहा जाता है। दो धर्मियोंमेंसे किसी एकका यथार्थ निश्चय न होनेसे 'संशयोपमा'[७] तथा पहले संशय होकर फिर निश्चय होनेसे 'निश्चयोपमा'[८] होती है। जहाँ वाक्यार्थको उपमान बनाकर उससे ही वाक्यार्थकी उपमा दी जाय, उसको 'वाक्यार्थोपमा'[९] कहते हैं। यह उपमा अपने उपमानकी दृष्टिसे दो प्रकारकी होती है—'साधारणी' और 'अतिशायिनी'। जो एकका उपमेय है, वही दूसरेका उपमान हो,

---

१. 'व्यतिरेकोपमा'को ही अर्वाचीन आलंकारिकोंने 'व्यतिरेक' नामक अलंकार माना है। दण्डीने इसका उल्लेख नहीं किया है। परंतु रुय्यक और मम्मटने इसका उदाहरण यों दिया है—'चन्द्रमा बारंबार क्षीण हो-होकर भी पुन: बढ़ जाता है; परंतु यौवन यदि चला गया तो फिर लौटता नहीं।' इसमें उपमानभूत चन्द्रमाकी अपेक्षा उपमेय यौवनकी अस्थिरता अधिक बतायी गयी है। अत: यहाँ 'व्यतिरेक' है।

२. 'तुम्हारा स्पर्श चन्दन, जल, चन्द्रकिरण तथा चन्द्रकान्तमणि आदिके समान शीतल है'। यहाँ शीतलतामें सादृश्य रखनेवाले बहुत-से उपमानोंद्वारा उपमा दी गयी है, अत: 'बहूपमा' अलंकार है। दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में यही उदाहरण प्रस्तुत किया है। अर्वाचीन आचार्यलोग इसे 'मालोपमा' ही मानते हैं। उनकी 'मालोपमा'का लक्षण इस प्रकार है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।'

३. काव्यादर्शकार दण्डीने अग्निपुराणके ही पथका अनुसरण करते हुए 'बहूपमा' और 'मालोपमा' को अलग-अलग माना है। 'बहूपमा'के उदाहरणमें बहुत-से उपमानोंकी गणनामात्र करा दी गयी है, परंतु 'मालोपमा'में प्रत्येक उपमानके साथ साधर्म्यका अन्वय होता है। यही इन दोनोंमें भेद है। 'मालोपमा'का उदाहरण दण्डीने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'राजन्! जैसे प्रकाश सूर्यमें शोभाका आधान करता है, जैसे सूर्य दिनमें लक्ष्मीका आधान करते हैं तथा जैसे दिन आकाशमें प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार तुम्हारा बल, पराक्रम तुममें लक्ष्मीको प्रतिष्ठित करता है।' यहाँ प्रत्येक उपमानके साथ पृथक्-पृथक् साधर्म्यका अन्वय होनेसे 'मालोपमा' मानी गयी है।

४. 'काव्यादर्श'में 'विक्रियोपमा'का उदाहरण इस प्रकार उपलब्ध होता है—'सुन्दरि! तुम्हारा मुख चन्द्रमण्डलसे उत्कीर्ण (खोदकर निकाला हुआ)-सा तथा कमलके गर्भसे उद्धृत किया हुआ-सा जान पड़ता है।' यहाँ चन्द्रमण्डल तथा कमलगर्भ—ये प्रकृति हैं और मुख इनका विकार है। अत: यहाँ 'विक्रियोपमा' हुई।

५. इसका उदाहरण दण्डीने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'सुन्दरि! यदि कोई कमल चञ्चल लोचनोंसे युक्त हो जाय तो वह तुम्हारे मुखकी शोभाको धारण कर सकता है।'

६. ''सुन्दरि! मैं तुम्हारे मुखको 'यह चन्द्रमा है'—यों समझ लेता हूँ और तुम्हारे मुखके दर्शनकी आशासे बारंबार चन्द्रमाकी ओर दौड़ पड़ता हूँ।' यह वर्णन अग्निपुराणोक्त लक्षणको सामने रखकर किया गया है। अर्वाचीन आलंकारिक 'मोहोपमा'को 'भ्रान्तिमान्' अलंकारकी संज्ञा देते हैं।

७. दण्डीने 'संशयोपमा'का जो उदाहरण दिया है, उसका भावार्थ इस प्रकार है—जिसके भीतर भ्रमर मँडरा रहा हो, वह कमल है या कि चञ्चल लोचनोंसे युक्त तुम्हारा मुख है, इस संशयसे मेरा चित्त दोलायमान हो रहा है।' आधुनिक आलंकारिक इसीको 'संदेहालंकार' कहते हैं।

८. दण्डीने इसे 'निर्णयोपमा' नाम दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण इस प्रकार है—'जिस कमलको चन्द्रमाने अभिभूत कर दिया था, उसकी कान्ति स्वयं चन्द्रमाको ही लज्जित कर दे, ऐसा नहीं हो सकता। अत: यह तुम्हारा मुख ही है (कमल नहीं है)।' अर्वाचीन आचार्यगण इसे 'निश्चयान्त संदेहालंकार' ही मानते हैं।

९. दण्डीने भी 'वाक्यार्थोपमा'का ऐसा ही लक्षण किया है। वे भी इसके दो ही भेद मानते हैं। परंतु उनके दोनों भेदोंके नाम अग्निपुराणमें दिये गये नामोंसे भिन्न हैं। अग्निपुराणमें 'साधारणी' और 'अतिशायिनी'—ये दो भेद माने हैं, परंतु दण्डीने 'एकेवशब्दा' और 'अनेकेवशब्दा'—इस प्रकार दो भेदोंका उल्लेख किया है। इनके उदाहरण 'काव्यादर्श' (२।४४-४५) में द्रष्टव्य हैं।

अर्थात् दोनों एक-दूसरेके उपमान-उपमेय कहे गये हों तो उसे 'अन्योन्योपमा'[१] कहते हैं। इस प्रकार यदि उत्तरोत्तर क्रम चलता जाय तो उसको 'गमनोपमा'[२] कहा जाता है। इसके सिवा उपमाके और भी पाँच भेद होते हैं—'प्रशस्त'[३] 'निन्दा'[४] 'कल्पिता'[५] 'सदृशी'[६] एवं 'किंचित्सदृशी'[७]। गुणोंकी समानता देखकर उपमेयका जो तत्त्व उपमानसे रूपित अभेदेन प्रतिपादित होता है, उसे 'रूपक'[८] मानते हैं। अथवा भेदके तिरोहित होनेपर उपमा ही 'रूपक' हो जाती है। तुल्यधर्मसे युक्त दो पदार्थोंका एक साथ रहनेका वर्णन 'सहोक्ति'[९] कहा जाता है॥ १३—२३॥

पूर्ववर्णित वस्तुके समर्थनके लिये साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे जो अर्थान्तरका उपन्यास किया जाता है, उसे 'अर्थान्तरन्यास'[१०] कहते हैं। जिसमें चेतन या अचेतन पदार्थकी अन्यथास्थित परिस्थितिको दूसरी तरहसे माना जाता है, उसको 'उत्प्रेक्षा'[११] कहते हैं। लोकसीमातीत

---

१. काव्यादर्शमें इसका उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'तुम्हारे मुखके समान कमल है और कमलके समान तुम्हारा मुख है।' इसे ही 'उपमेयोपमा' भी कहते हैं।

२. काव्यादर्शकारने 'गमनोपमा' का उल्लेख नहीं किया है। अग्निपुराणमें दिये गये लक्षणके अनुसार हम 'गमनोपमा' को 'अन्योन्योपमा' की माला कह सकते हैं। उदाहरणके लिये निम्नाङ्कित श्लोक द्रष्टव्य है—

कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि भवतीव कौमुदी। अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाम्बुजं समम्॥

३—७. इससे पहले उपमाके अठारह भेद कहे गये हैं। इन्हीं भेदोंका विस्तार करके दण्डीने बत्तीस प्रकारकी उपमाएँ प्रदर्शित की हैं। उक्त भेदोंके अतिरिक्त जो उपमाके 'प्रशंसा' आदि पाँच भेद और कहे गये हैं, उनका आधार है—भरतका 'नाट्यशास्त्र' (द्रष्टव्य १६। ४६)। भरतमुनिने प्रशंसा आदि पाँचों भेदोंके जो उदाहरण दिये हैं, वे भी सोलहवें अध्यायके श्लोक सैंतालीससे इक्यावनतक द्रष्टव्य हैं।

८. अग्निपुराणोक्त 'रूपक' का लक्षण नाट्यशास्त्रोक्त लक्षणका संक्षिप्त रूप है। अग्निपुराणके ही भावको लेकर दण्डीने 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते'—ऐसा लक्षण किया है। अर्वाचीन आलंकारिकोंने 'रूपक' के बहुत-से भेदों और उपभेदोंकी चर्चा की है। 'रूपक' का उदाहरण 'नाट्यशास्त्र' १६। ५८ में द्रष्टव्य है।

९. दण्डीने गुण और क्रियाका सहभावसे कथन 'सहोक्ति' माना है और 'सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः।' (इस समय मेरी लम्बी साँसोंके साथ ये रातें भी बहुत बड़ी हो गयी हैं) ऐसा उदाहरण दिया है।

१०. अर्थान्तरन्यासका जो लक्षण अग्निपुराणमें दिया गया है, लगभग इसीकी छायाको लेकर भामहने इस प्रकार अपने ग्रन्थमें उक्त अलंकारका लक्षण लिखा है—

उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते। ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥ (का० २। ७१)

वामनने इसमें सादृश्य, असादृश्य (साधर्म्य, वैधर्म्य)-की चर्चा नहीं की है, परंतु 'पूर्वार्धानुगतः'—यह विशेषण देकर उसी अर्थको व्यक्त किया है। अर्थात् जिस अर्थान्तरका उपन्यास किया जाय, वह पूर्वोदित अर्थका अनुगामी होना चाहिये। यह अनुगमन सादृश्य अथवा वैसादृश्यसे ही सम्भव है। वामनने अग्निपुराण तथा भामहके भावोंको अपने सूत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः॥ (का०सू० ४। ३। २१)

काव्यादर्शकार दण्डीने इसके लक्षणको और भी स्वच्छरूपसे प्रस्तुत किया है। यथा—

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन। तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ (२। १६९)

आचार्य मम्मटतक पहुँचते-पहुँचते इसका लक्षण पूर्णतः निखर उठा है। वे लिखते हैं—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥ (का०प्र० १०। १०९)

अर्थात्—सामान्य अथवा विशेषका उससे भिन्न विशेष और सामान्यसे जो समर्थन किया जाता है, वह 'अर्थान्तरन्यास' है। यह समर्थन साधर्म्य अथवा वैधर्म्यको लेकर किया जाता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यासके चार भेद होते हैं। इनके उदाहरण काव्यप्रकाशमें द्रष्टव्य हैं।

११. इसी लक्षणको कुछ और विशद करते हुए भामहने इस प्रकार कहा है—

अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह। अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥ (का० २। ९१)

वामनने अग्निदेव तथा भामह—दोनोंके भावोंको अपने सूत्रमें इस प्रकार संकलित किया है—

वस्तु-धर्मका कीर्तन 'अतिशयालंकार'[1] कहलाता है। यह 'सम्भव' और 'असम्भव'के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। जिसमें विशेष्यदर्शनके लिये गुण, जाति एवं क्रियादिकी विकलताका प्रदर्शन—अनपेक्षताका प्रकाशन हो, उसको 'विशेषोक्ति'[2] कहा जाता है। जिसमें प्रसिद्ध हेतुकी व्यावृत्तिपूर्वक (अर्थात् उसका अभाव दिखाते हुए) अन्य किसी कारणकी उद्भावना की जाय अथवा स्वाभाविकता स्वीकार की जाय अर्थात् बिना किसी कारणके ही स्वाभाविक रूपसे कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय, उसे विभावना[3] कहते हैं। परस्पर असंगत पदार्थोंका जहाँ युक्तिके द्वारा विरोधपूर्वक संगतिकरण किया जाय, वह 'विरोधालंकार'[4] होता है। जिसकी

अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ॥ (का० सू० ४। ३। ९)

दण्डीका लक्षण इस प्रकार है—

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा। अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥ (२। २२१)

यही लक्षण अग्निपुराणमें भी है। दण्डीने उसे ज्यों-का-त्यों ले लिया है। अन्तर केवल इतना ही है कि अग्निपुराणमें 'मन्यते' क्रियाका प्रयोग है और काव्यादर्शमें 'उत्प्रेक्ष्यते' क्रियाका।

आचार्य मम्मटने थोड़े-से शब्दोंमें ही उत्प्रेक्षाका सर्वसम्मत रूप रख दिया है। यथा—

'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।' (का० प्र० १०। ९२)

अर्थात्—"प्रकृत (वर्ण्य उपमेय)-की सम (उपमान)-के साथ सम्भावना 'उत्प्रेक्षा' कहलाती है।"

१. यह अतिशय ही आगे चलकर 'अतिशयोक्ति'के नामसे प्रसिद्ध हुआ है। अग्निपुराणके इस सूक्ष्म लक्षणको आचार्य भामहने विशद करते हुए कहा है कि—किसी "कारणवश लोकोत्तर अर्थका बोधक जो वचन है, उसे 'अतिशयोक्ति' अलंकार मानते हैं। वामनने इसके असम्भव-पक्षको नहीं लिया है। वे सम्भाव्य धर्म तथा उसके उत्कर्षकी कल्पनाको ही 'अतिशयोक्ति' मानते हैं (४। ३। १०)। लोकसीमातीत होनेपर ही वस्तुधर्ममें उत्कर्ष सिद्ध होता है। आचार्य दण्डीने अग्निपुराणोक्त लक्षणके केवल भावकी ही नहीं, शब्दकी भी छाया ली है। यथा—

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी। असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥ (काव्यादर्श २। २१४)

आचार्य मम्मटके द्वारा 'अतिशयोक्ति'का विकसित स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। उपमानके द्वारा उपमेयका निगरण करके जो कल्पित अभेद-कथनरूप अध्यवसान करना है, वह एक प्रकारकी 'अतिशयोक्ति' है। प्रस्तुत अर्थका अन्यरूपसे वर्णन द्वितीय प्रकारकी, 'यदि'के समानार्थक शब्दको लगाकर की गयी कल्पना तृतीय प्रकारकी और कार्य-कारणके पौर्वापर्यका विपर्यय चतुर्थ प्रकारकी 'अतिशयोक्ति' है। (का० प्र० १०। १००-१०१)

२. दण्डीके 'काव्यादर्श'में अग्निपुराणकी ही शब्दावलीमें 'विशेषोक्ति' लक्षित करायी गयी है। भामहने भी अग्निपुराणके ही भाव तथा शब्दकी छाया ली है। यथा—

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः। विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥ (३। २३)

वामनने भी 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।'—इस सूत्रमें ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। अर्वाचीन आलंकारिकोंने "कारण प्राप्त होनेपर भी जो कार्यका न होना बताया जाय, उसे 'विशेषोक्ति' कहा है।" जैसा कि आचार्य मम्मटका कथन है—

'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः॥' (१०। १०८)

३. काव्यादर्शकार दण्डीने अग्निपुराणमें दिये गये लक्षणकी आनुपूर्वीको ही अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है। भामहने कारणभूत क्रियाका निषेध होनेपर भी उसके फलकी 'उद्भावना'को 'विभावना' माना है। इसी भावको वामनने भी अपने सूत्रमें अभिव्यक्त किया है। यथा—

'क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना॥' (काव्यालंकार, सू० ४। ३। १३)

आचार्य मम्मटने अपनी कारिकामें उक्त सूत्रका ही भाव ग्रहण किया है—

'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।'

'सरस्वतीकण्ठाभरण'के रचयिता राजा भोजने 'विभावना'के अपने लक्षणमें अग्निपुराणकी शब्दावलीको ही अविकलरूपसे ले लिया है।

४. भामहने 'विरोध'का लक्षण इस प्रकार बताया है—"विशेषता बतानेके लिये किसी गुण या क्रियाके विरुद्ध अन्य क्रियाका वर्णन हो, तो उसे विद्वान् 'विरोध' कहते हैं"—

गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा। या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥ (३। २५)

सिद्धि अभिलषित हो, ऐसे अर्थका साधक 'हेतु'[1] अलंकार कहलाता है। उस 'हेतु' अलंकारके भी 'कारक' एवं 'ज्ञापक'—ये दो भेद हो जाते हैं। इनमें कारक-हेतु कार्य-जन्मके पूर्वमें और पश्चात् भी रहनेवाला है, जो 'पूर्वशेष' कहा जाता है और उन्हीं भेदोंमें कार्य-कारणभावसे अथवा किसी नियामक स्वभावसे या अविनाभावके दर्शनसे जो अविनाभावका नियम होता है, वह ज्ञापक हेतुका भेद है। 'नदीपूर' आदिका दर्शन ज्ञापकका उदाहरण है[2] ॥ २४—३२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अर्थालंकारका वर्णन' नामक तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४४॥

तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय

शब्दार्थोभयालंकार

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! 'शब्दार्थालंकार' शब्द और अर्थ दोनोंको समानरूपसे अलंकृत करता है; जैसे एक ही अङ्गमें धारण किया हुआ हार कामिनीके कण्ठ एवं कुचमण्डलकी कान्तिको बढ़ा देता है। 'शब्दार्थालंकार'के छः भेद काव्यमें उपलब्ध होते हैं—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति। दूसरोंके मर्मस्थलको द्रवीभूत करनेवाले वाक्-कौशलको 'प्रशस्ति' कहते हैं। वह प्रशस्ति 'प्रेमोक्ति' एवं 'स्तुति'के भेदसे दो प्रकारकी मानी गयी है। प्रेमोक्ति और स्तुतिके पर्यायवाचक शब्द क्रमशः 'प्रियोक्ति' एवं 'गुण-कीर्तन' हैं। वाच्य-वाचककी सर्वसम्मत एवं रुचिकर संगतिको 'कान्ति' कहते हैं। यदि ओज एवं माधुर्ययुक्त संदर्भमें—वस्तुके अनुसार रीति एवं वृत्तिके अनुसार रसका प्रयोग हो तो औचित्यका प्रादुर्भाव होता है। अल्पसंख्यक शब्दोंसे अर्थ-बाहुल्यका संग्रह 'संक्षेप' तथा शब्द एवं वस्तुका अन्यूनाधिक्य 'यावदर्थता' कहा जाता है। अर्थ-प्राकट्यको 'अभिव्यक्ति' कहते हैं। उसके दो भेद हैं—'श्रुति' और 'आक्षेप'। शब्दके द्वारा अपने अर्थका उद्‌घाटन 'श्रुति' कहा जाता है। श्रुतिके दो भेद हैं—'नैमित्तिकी' और 'पारिभाषिकी'। 'संकेत' को परिभाषा कहते हैं। परिभाषाके सम्बन्धसे ही वह पारिभाषिकी है।

दण्डीने "जहाँ प्रस्तुत वस्तुकी विशेषता (उत्कर्ष) दिखानेके लिये परस्परविरुद्ध संसर्ग (एकत्र अवस्थान) प्रदर्शित किया जाय, वह 'विरोध' नामक अलंकार है"—ऐसा लक्षण किया है। वामनने 'विरुद्धाभासत्वं विरोधः।' (४।३।१२)—ऐसा कहा है। 'काव्यप्रकाश' में 'विरुद्धः सोऽविरुद्धेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।'—ऐसा विरोधका लक्षण देखा जाता है। इन सबकी शब्दावलीमें किंचित् भेद होते हुए भी, अभिप्राय सबका एक ही जान पड़ता है। विरोधपूर्वक संगतिकरणको कुछ लोग 'असंगति' अलंकार भी मानते हैं।

१. अग्निपुराणमें वर्णित 'हेतु' अलंकारको भामहने चमत्कार-शून्य बताकर अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने 'सूक्ष्म' और 'लेश'को भी अलंकार नहीं माना है। परंतु दण्डीने 'वाचामुत्तमभूषणम्'—यों कहकर इन तीनोंको उत्तम अलंकारकी कोटिमें रखा है। उन्होंने 'हेतु'का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है, परंतु अग्निपुराणोक्त कारक और ज्ञापक दोनों हेतुओंका उल्लेख किया है। अतः अग्निपुराणोक्त लक्षण ही उन्हें अभिमत है। अग्नि धूमका कारक हेतु है और धूम अग्निका ज्ञापक हेतु। इस प्रकार हेतुके दोनों भेद देखे जाते हैं। आचार्य दण्डी 'हेतु'में ही 'काव्यलिङ्ग', 'अनुमान' तथा कार्यकारणमूलक 'अर्थान्तरन्यास'का अन्तर्भाव मानते हैं। अतएव उन्होंने इन सबके पृथक् लक्षण आदि नहीं लिखे हैं। भोजराजने 'हेतु'का 'क्रियायाः कारणे हेतुः'—ऐसा लक्षण किया है।

२. जैसे नदीके जलप्रवाहके दर्शनसे उसके उद्‌गम-स्थानकी सत्ता सिद्ध होती है तथा धूमके दर्शनसे अग्निकी सत्ता सूचित होती है। इस तरहके वर्णनोंमें ज्ञापक हेतु समझना चाहिये।

पारिभाषिकीको 'मुख्या' और नैमित्तिकीको 'औपचारिकी' कहते हैं। [ये ही क्रमशः 'अभिधा' और 'लक्षणा' हैं।] उस औपचारिकीके भी दो भेद हैं। जिसके द्वारा अभिधेय अर्थसे स्खलित हुआ शब्द किसी निमित्तवश अमुख्य अर्थका बोधक होता है, वह वृत्ति 'औपचारिकी' है। ये ही दोनों भेद नैमित्तिकीके भी होते हैं। वह लक्षणायोगसे 'लाक्षणिकी' और गुणयोगसे 'गौणी' कहलाती है। अभिधेय अर्थके साथ सम्बद्ध रहकर जो अन्यार्थकी प्रतीति होती है, उसको 'लक्षणा' कहते हैं। अभिधेयके साथ सम्बन्ध, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य एवं क्रियायोगसे लक्षणा पाँच प्रकारकी मानी जाती है। गुणोंकी अनन्तता होनेसे उनकी विवक्षाके कारण गौणीके अनन्त भेद हो जाते हैं। लोकसीमाके पालनमें तत्पर कविद्वारा जब अप्रस्तुत वस्तुके धर्म प्रस्तुत वस्तुपर सम्यग्रूपसे आहित—आरोपित किये जाते हैं, तब उसे 'समाधि'[1] कहते हैं। जिसके द्वारा श्रुतिसे अनुपलब्ध अर्थ चैतन्ययुक्त होकर भासित होता है, वह 'आक्षेप'[2] कहा जाता है। इसको 'ध्वनि' भी माना गया है; क्योंकि वह ध्वनिसे ही व्यक्त होता है। इसमें ध्वनिके आश्रयसे शब्द और अर्थके द्वारा स्वतः संकलित अर्थ ही व्यञ्जित होता है। अभीष्ट कथनका विशेष विवक्षासे अर्थात् उसमें और भी उत्कर्षकी प्रतीति करानेके लिये जो प्रतिषेध-सा होता है, उसको 'आक्षेप'[3] कहते हैं। अधिकार (प्रकरण)-से पृथक्, अर्थात् अप्रकृत या अप्रस्तुत अन्य वस्तुकी जो स्तुति की जाती है, उसे 'अस्तुतस्तोत्र'[4] (अप्रस्तुतप्रशंसा) कहते हैं। जहाँ किसी एक वस्तुके कहनेपर उसके समान विशेषणवाले दूसरे अर्थकी प्रतीति हो, उसे विद्वान् पुरुष अर्थकी संक्षिप्तताके कारण 'समासोक्ति'[5] कहते हैं। वास्तविक पदार्थका अपलाप या निषेध करके किसी अन्य

१. अग्निपुराणमें 'समाधि'का जो लक्षण किया गया है, वह भरतमुनिके निम्नाङ्कित श्लोकपर आधारित है—

अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते। तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते॥

(नाट्य० १६। १०२)

दण्डीने अग्निपुराणोक्त लक्षणको अविकलरूपसे अपने ग्रन्थमें ले लिया है। वामनने आरोहावरोहक्रमरूप 'समाधि'को शब्दगुण स्वीकार किया है, किंतु भोजराजने अग्निपुराण और दण्डीके ही भावको लेकर—'समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्।'—यह लक्षण लिखा है। वाग्भट्टने भी यही बात कही है—'अन्यस्य धर्मो यत्रान्यत्रारोप्यते स समाधिः'।

२. यहाँ आक्षेपको ध्वनिरूप बताया गया है; क्योंकि उससे अर्थविशेषका ध्वनन होता है।

३. यह 'आक्षेपालंकार'का लक्षण है। आचार्य मम्मटने भी इसी भावका आश्रय लेकर कहा है कि—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

इस लक्षणमें उक्त विषय और वक्ष्यमाण विषयके भेदसे आक्षेपके दो प्रकार बताये गये हैं।

४. इस 'अस्तुत-स्तोत्रको ही परवर्ती आलंकारिकोंने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नाम दिया है; इसी को 'अन्योक्ति' भी कहते हैं। अग्निपुराणमें जो लक्षण दिया गया है, उसीको भामहने अविकलरूपसे उद्धृत किया है। अन्तर इतना ही है कि वे 'अस्तुतस्तोत्र'के स्थानमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' लिखते हैं। उनका लक्षण इस प्रकार है—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा॥

(३। २९)

दण्डीने इसी भावको संक्षिप्त शब्दोंमें व्यक्त किया है— 'अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः।' (२। ३४०) वामनने उपमेयकी अनुक्तिमें 'समासोक्ति' और किंचिद् उक्तिमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' मानी है।

५. आचार्य भामहने अपने ग्रन्थमें अग्निपुराणोक्त लक्षणको ज्यों-का-त्यों ले लिया है। अन्तर इतना ही है कि अग्निपुराणमें 'उदिता' है और भामहके ग्रन्थमें 'उद्दिष्टा'। वहाँ अन्तमें 'बुधैः' पदका प्रयोग है और यहाँ 'यथा'का। दण्डीने इसी भावको कुछ अधिक स्पष्टताके साथ इस प्रकार लिखा है—

पदार्थको सूचित करना 'अपह्नुति'[1] है। जो अभिधेय दूसरे प्रकारसे कहा जाता है अर्थात् सीधे न कहकर प्रकारान्तरसे घुमा-फिराकर प्रस्तुत किया जाता है, उसको 'पर्यायोक्ति'[2] कहते हैं। इनमेंसे किसी भी एकका नाम 'ध्वनि'[3] है॥ १—१८॥'

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शब्दार्थोभयालंकारोंका कथन' नामक तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४५॥

तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय

काव्यगुण-विवेक

अग्निदेव कहते हैं— द्विजश्रेष्ठ! गुणहीन काव्य अलंकारयुक्त होनेपर भी सहृदयके लिये प्रीतिकारक नहीं होता, जैसे नारीके यौवनजनित लालित्यसे[4] रहित शरीरपर हार भी भारस्वरूप हो जाता है। यदि कोई कहे कि 'गुणनिरूपणकी क्या आवश्यकता है? दोषोंका अभाव ही गुण हो जायगा' तो उसका ऐसा कथन उचित नहीं है; क्योंकि 'श्लेष' आदि गुण और 'गूढार्थत्व' आदि दोष पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। जो काव्यमें महती शोभाका आनयन करता है, उसको 'गुण' कहा जाता है। यह सामान्य और वैशेषिकके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। जो गुण सर्वसाधारण हो, उसे 'सामान्य' कहा जाता है। सामान्य गुण शब्द, अर्थ और शब्दार्थको प्राप्त होकर तीन प्रकारका हो जाता है। जो गुण काव्य-शरीरमें शब्दके आश्रित होता है, वह

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः। उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरुच्यते॥

(२।२०५)

'समासोक्ति'की गणना व्यङ्ग्य अलंकारोंमें होती है, इस दृष्टिसे अग्निपुराणोक्त लक्षणमें 'गम्यते'—इस क्रियापदका प्रयोग अधिक महत्त्वका है। अर्वाचीन आलंकारिक 'समासोक्ति'के लक्षणोंमें अप्रकृत व्यवहारके समारोपका भी उल्लेख करते हैं।

१. काव्यादर्शकार दण्डीने अग्निपुराणोक्त लक्षणकी आनुपूर्वीको ही उद्धृत कर लिया है। अन्तर इतना ही है कि अग्निपुराणमें 'किंचिदन्यार्थसूचनम्' पाठ है और काव्यादर्शमें 'सूचनम्'के स्थानमें 'दर्शनम्' कर दिया गया है। भामहने शब्दान्तरसे इसी भावको प्रकट किया है—

अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा। भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा॥

(२।२१)

इस लक्षणमें 'किंचिदन्तर्गतोपमा' यह अंश विशेष है। वामनने तुल्य वस्तुके द्वारा वाक्यार्थके अपलापको 'अपह्नुति' कहा है—'समानवस्तुनान्यापलापोऽपह्नुतिः।' (३।५) परवर्ती आलंकारिकोंने प्रकृत वस्तुका निषेध करके अन्य वस्तुकी स्थापनाको 'अपह्नुति' कहा है।

२. भामहने भी 'पर्यायोक्ति'का यही लक्षण लिखा है।

३. प्राचीनोंने आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति तथा पर्यायोक्तिको 'ध्वनि' कहकर जो उसे अलंकारोंमें अन्तर्भूत करनेकी चेष्टा की है, उसका ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनने बड़ी प्रौढ़िके साथ खण्डन किया है।

४. इसी भावको लेकर वामनने कहा है—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

अर्थात्—'गुणरहित वचन नारीके यौवनरहित रूपकी भाँति मनोरम नहीं होता। यदि उसे अलंकृत भी किया जाय तो वे अलंकार अपना दुर्भाग्य सूचित करते हैं।'

'शब्दगुण' कहलाता है। शब्दगुणके सात[१] भेद होते हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ओज और यौगिकी (समाधि)। शब्दोंका सुश्लिष्ट संनिवेश 'श्लेष'[२] कहा जाता है। जहाँ गुणादेश आदिके द्वारा पूर्वपदसम्बद्ध अक्षर संधिको प्राप्त नहीं होता, वहाँ 'लालित्य'[३] गुण माना गया है। विशिष्ट लक्षणके अनुसार उल्लेखनीय उच्चभावव्यञ्जक शब्दसमूहको श्रेष्ठ पुरुष 'गाम्भीर्य'[४] कहते हैं। वही अन्यत्र 'उत्तान शब्दक' या 'शब्दत्व' नामसे प्रसिद्ध है। जिसमें निष्ठुरतारहित कोमल अक्षरोंका बाहुल्य हो, उस शब्दसमूहको 'सौकुमार्य'[५] गुणविशिष्ट माना गया है। जहाँ श्लाघ्य विशेषणोंसे युक्त उत्कृष्ट पदका प्रयोग हो, वहाँ 'औदार्य'[६] गुण माना जाता है। समासोंका बाहुल्य 'ओज'[७] कहलाता है। यह गद्य-पद्यरूप काव्यका प्राण है। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्य्यन्त जो कोई भी प्राणी हैं, उनके 'पौरुष'का वर्णन एकमात्र 'ओज' गुणविशिष्ट पदावलीसे ही होता है। जिस-किसी भी शब्दके द्वारा वर्ण्यमान वस्तुका उत्कर्ष वहन करनेवाला गुण 'अर्थगुण' कहा जाता है। अर्थगुणके छः भेद प्रकाशित होते हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि एवं सामयिकता। क्रोध और ईर्ष्यामें भी आकारकी गम्भीरता तथा धैर्य्यधारणको 'माधुर्य'[८] कहते हैं। अपेक्षित कार्यकी सिद्धिके लिये उद्योग 'संविधान' माना गया है। जो कठिनता

---

१. भरतमुनिने काव्यार्थ-गुण दस माने हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

अग्निदेवने शब्दगुण सात, अर्थगुण छः और शब्दार्थ-गुण छः माने हैं। काव्यादर्शकार दण्डीने भी भरतोक्त दस गुणोंका ही उल्लेख किया है। वामनने बीस और भोजने अड़तालीस गुण प्रदर्शित किये हैं।

२. भामहने माधुर्य, प्रसाद और ओज—इन तीन गुणोंको ही स्वीकार किया है। वामनने शब्दगुण दस और अर्थगुण भी दस माने हैं। नाम दोनों विभागोंके एक ही हैं, केवल लक्षणमें अन्तर है। उन्होंने 'शब्दश्लेष'का लक्षण इस प्रकार किया है—'मसृणत्वं श्लेषः'। इसकी व्याख्या करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—''मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकवद् भासन्ते।—अर्थात् जिसके होनेपर बहुत-से पद एकपदके तुल्य प्रतीत होते हैं, उसका नाम 'मसृणत्व' है।'' उदाहरणके लिये 'अस्त्युत्तरस्याम्'—यह पद्यांश है। इसमें दो पद संधियुक्त होकर एकपदवत् प्रतीत होते हैं। दण्डीने 'श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्'—यह श्लेषका लक्षण लिखा है। इसके अनुसार जिस वाक्यमें शिथिलता छू भी न गयी हो, वह 'श्लेष' है। इसका और वामनोक्त लक्षणका आधार अग्निपुराणका 'सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं शब्दानां श्लेषः।'—यह लक्षण ही है। भोजराजने इसीका भाव लेकर 'सुश्लिष्टपदता श्लेषः।'—यह लक्षण लिखा है।

३-४.'लालित्य' नामक गुणका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। गाम्भीर्यका लक्षण भोजराजने इस प्रकार किया है—'ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्'। इसमें भी अग्निपुराणोक्त लक्षणकी भावच्छाया दीख पड़ती है।

५. भोजराजके 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम्।'—इस लक्षणमें अग्निपुराणकी शब्दावलीका ही समावेश किया गया है। दण्डीने भी इसी आनुपूर्वीमें 'सुकुमारता'को लक्षित कराया है। वामनने बन्धकी अकठोरताको ही 'सौकुमार्य' कहा है। उसका आधार भी अग्निपुराणोक्त लक्षण ही है।

६. काव्यादर्शकार दण्डीने 'औदार्यका' यही लक्षण थोड़े-से पदोंके हेर-फेरके साथ अपने ग्रन्थमें ले लिया है। भोजराजने वैभवके उत्कर्षका प्रतिपादन 'औदार्य' माना है, किंतु यह उनका अर्थगुण है—'भूत्युत्कर्ष उदारता।'—शब्दगुणान्तर्गत उदारताका लक्षण उनके मतमें 'विकटाक्षरबन्धत्व' है, जो वामनोक्त लक्षणसे मेल खाता है। वामनने ग्राम्यत्वदोषसे रहित रचनाको 'औदार्यगुणशालिनी' स्वीकार किया है। यथा—'अग्राम्यत्वमुदारता।' (३।२।१२) किंतु यह उनके 'अर्थगुण'का लक्षण है। शब्दगुणके लक्षणमें वे बन्धकी विकटताको ही 'उदारता' मानते हैं। जिसके होनेपर पद नृत्य करते-से प्रतीत होते हैं।

७. 'काव्यादर्श'में भी 'ओज'का यही लक्षण उद्धृत किया गया है। वामनने निबन्धके गाढ़त्वको 'ओज' कहा है। यह गाढ़त्व समास-बाहुल्यसे ही आता है। अतः वामनने कोई नयी बात नहीं कही है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण'के निर्माता भोजराजने भी अग्निपुराणकी आनुपूर्वीमें ही 'ओजः' समासभूयष्ट्वम्।'—इस प्रकार 'ओज'का लक्षण लिखा है।

८. वामनने 'पृथक्-पदत्वं माधुर्यम्।'—यह लिखकर बताया है, जहाँ पद्यमें सभी पद पृथक्-पृथक् हों, समासमें आबद्ध होनेके कारण विकट या जटिल न हो जायँ, वहा 'माधुर्य' है। यह शब्दगत माधुर्यका लक्षण है। अर्थगत माधुर्य वे वहाँ मानते हैं, जहाँ उक्ति-वैचित्र्य

आदि दोषोंसे रहित है तथा संनिवेश विशेषका तिरस्कार करके मृदुरूपमें ही भासित होता है, वह गुण 'कोमलता'के नामसे प्रसिद्ध है॥ १—१४॥

जिसमें स्थूललक्ष्यत्वकी प्रवृत्तिका लक्षण लक्षित होता है, आशय अत्यन्त सुन्दररूपमें प्रकट होता है, वह 'उदारता'[1] नामक गुण है। इच्छित अर्थके प्रति निर्वाहका उपपादन करनेवाली हेतुगर्भिणी युक्तियोंको 'प्रौढ़ि'[2] कहते हैं। स्वतन्त्र या परतन्त्र कार्यके बाह्य एवं आन्तरिक संयोगसे अर्थकी जो व्युत्पत्ति होती है, उसको 'सामयिकता' कहते हैं। जो शब्द एवं अर्थ—दोनोंको उपकृत करता है, वह 'उभयगुण' (शब्दार्थगुण) कहलाता है। साहित्यशास्त्रियोंने इसका विस्तार छः भेदोंमें किया है—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्तता, पाक और राग। सुप्रसिद्ध अर्थसे समन्वित पदोंका संनिवेश 'प्रसाद'[3] कहा जाता है। जिसके उक्त होनेपर कोई गुण उत्कर्षको प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, विद्वान् उसको 'सौभाग्य' या 'औदार्य' बतलाते हैं। तुल्य वस्तुओंका क्रमशः कथन 'यथासंख्य'[4] माना जाता है। समयानुसार वर्णनीय दारुण वस्तुका भी अदारुण शब्दसे वर्णन 'प्राशस्त्य' कहलाता है। किसी पदार्थकी उच्च परिणतिको 'पाक' कहते हैं। 'मृद्वीकापाक' एवं 'नारिकेलाम्बुपाक'के भेदसे 'पाक' दो प्रकारका होता है। आदि और अन्तमें भी जहाँ सौरस्य हो, वह 'मृद्वीकापाक' है। काव्यमें जो छायाविशेष (शोभाधिक्य) प्रस्तुत किया जाय, उसे 'राग' कहते हैं। यह राग अभ्यासमें लाया जानेपर सहज कान्तिको भी लाँघ जाता है, अर्थात् उसमें और भी उत्कर्ष ला देता है। जो अपने विशेष लक्षणसे अनुभवमें आता हो, उसे 'वैशेषिक गुण' जानना चाहिये। यह राग तीन प्रकारका होता है—हारिद्रराग, कौसुम्भराग और नीलीराग। (यहाँतक सामान्य गुणका विवेचन हुआ)। अब 'वैशेषिक'का परिचय देते हैं। वैशेषिक उसको जानना चाहिये, जो स्वलक्षणगोचर हो—अनन्यसाधारण हो॥ १५—२६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'काव्यगुणविवेककथन' नामक तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४६॥

हो। दण्डीने सरस वाक्यको 'मधुर' बताया है, परंतु राजा भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में अग्निपुराणोक्त लक्षणका ही भाव लेकर लिखा है—'माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता'। यह अर्थगत माधुर्य है। शब्दगत माधुर्यका लक्षण वे भी वामनकी भाँति 'पृथक्पदत्व' ही मानते हैं।

१. दण्डीने शब्दान्तरसे अपने लक्षणमें कुछ ऐसा ही भाव प्रकट किया है। उनका कहना है कि—"जिस वाक्यका उच्चारण करनेपर उसमें किसी उत्कृष्ट गुणकी प्रतीति हो, वहाँ 'उदारता' नामक गुण है। उसके द्वारा काव्यपद्धति 'कृतार्थ' (चमत्कारकारिणी) होती है।"

२. भोजराजने इसी अभिप्रायको और भी सरल रीतिसे व्यक्त किया है—'विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता'।

३. दण्डीने इसी लक्षणका भाव लेकर 'प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्।'—ऐसा लक्षण किया है। वामनने भी 'अर्थवैमल्यं प्रसादः।'—यों कहकर इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है। भोजराजने भी 'यत्तु प्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते'—यों लिखकर पूर्वोक्त अभिप्रायका ही पोषण किया है।

४. 'यथासंख्य'को अर्वाचीन आलंकारिकोंने गुण नहीं माना है, उसे अलंकारकी कोटिमें रखा है।

तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय

काव्यदोष-विवेक

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! 'दृश्य' और 'श्रव्य' काव्यमें यदि 'दोष'[१] हो तो वह सहृदय सभ्यों (दर्शकों और पाठकों)-के लिये उद्वेगजनक होता है। वक्ता, वाचक एवं वाच्य—इनमेंसे एक-एकके नियोगसे, दो-दोके नियोगसे और तीनोंके नियोगसे सात प्रकारके दोष[२] होते हैं। इनमें 'वक्ता' कविको माना गया है, जो संदिहान, अविनीत, अज्ञ और ज्ञाताके भेदसे चार प्रकारका है। निमित्त और परिभाषा (संकेत)-के अनुसार अर्थका स्पर्श करनेवाले शब्दको 'वाचक' कहते हैं। उसके दो भेद हैं—'पद' और 'वाक्य'। इन दोनोंके लक्षणोंका वर्णन पहले हो चुका है। पददोष दो प्रकारके होते हैं—असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व। व्याकरणशास्त्रसे विरुद्ध पदमें विद्वानोंने 'असाधुत्व' दोष माना है। काव्यकी व्युत्पत्तिसे सम्पन्न विद्वानोंद्वारा जिसका कहीं उल्लेख न किया गया हो, उसमें 'अप्रयुक्तत्व' दोष कहा जाता है। अप्रयुक्तत्वके भी पाँच भेद होते हैं—छान्दसत्व, अविस्पष्टत्व, कष्टत्व, असामयिकत्व एवं ग्राम्यत्व। जिसका लोकभाषामें प्रयोग न हो, वह 'छान्दसत्व' दोष एवं जो बोधगम्य न हो, वह 'अविस्पष्टत्व' दोष कहलाता है। अविस्पष्टत्वके भेद निम्नलिखित हैं—गूढार्थता, विपर्यस्तार्थता तथा संशयितार्थता। जहाँ अर्थका क्लेशपूर्वक ग्रहण हो, वहाँ 'गूढार्थता' दोष होता है। जो विवक्षितार्थसे भिन्न शब्दार्थके ज्ञानसे दूषित हो उसे 'विपर्यस्तार्थता' कहते हैं। अन्यार्थत्व एवं असमर्थत्व—ये दोनों दोष भी 'विपर्यस्तार्थता' का ही अनुगमन करते हैं। जिसमें अर्थ संदिग्ध होता है, उसको 'संशयितार्थता' कहते हैं। यह सहृदयके लिये उद्वेगकारक न होनेपर दोष नहीं माना जाता। सुखपूर्वक उच्चारण न होना 'कष्टत्वदोष' माना जाता है। जो रचना समय—कविजन-निर्धारित मर्यादासे च्युत हो, उसमें 'असामयिकता' मानी जाती है। उस असामयिकताको मुनिजन 'नेया' कहते हैं। जिसमें निकृष्ट एवं दूषित अर्थकी प्रतीति होती है, उसमें 'ग्राम्यतादोष' होता है। निन्दनीय ग्राम्यार्थके कथनसे, उसके स्मरणसे तथा उसके वाचक पदके साथ समानता होनेसे 'ग्राम्यदोष' तीन प्रकारका है। 'अर्थदोष' साधारण और प्रातिस्वितकके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो दोष अनेकवर्ती होता है, उसको 'साधारण' माना

---

१. काव्यमें 'दोष'का परिहार अत्यन्त आवश्यक माना गया है। दण्डीने कहा है कि—'जिस प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठके एक दागसे भी अपनी कमनीयता खो बैठता है, उसी प्रकार कितना भी रमणीय काव्य क्यों न हो, थोड़े-से दोषसे भी दूषित होकर सहृदयोंके लिये अग्राह्य हो जाता है। अत: दोषकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।' (काव्या० १।७) भामहने दोषयुक्त काव्यको कुपुत्रके समान निन्दाजनक माना है। वाग्भट (प्रथम)-का कहना है कि दोषरहित काव्य ही कीर्तिका विस्तार करनेवाला है। अग्निपुराणमें नाटक और काव्यके दोषको सहृदयोंके लिये उद्वेगजनक कहा गया है। भरतमुनिने अपने 'नाट्यशास्त्र'में काव्यके दस दोष गिनाये हैं। यथा—निगूढ़, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसंधि तथा शब्दच्युति। अग्निपुराणमें इन सबका वर्णन तो है ही, अन्यान्य दोषोंकी भी विस्तारपूर्वक उद्भावना की गयी है। भामहके प्रथम निर्दिष्ट दस दोष भरतोक्त दोषोंपर ही आधारित हैं। दण्डीने भी किञ्चित् शब्दान्तरके साथ उन्हीं दस दोषोंको वर्जनीय बताया है। भामहने सबसे अधिक दोषोंकी उद्भावना की है, किंतु उनका कोई क्रमबद्ध वर्णन देखनेमें नहीं आता, यद्यपि उन्होंने अपना आधा ग्रन्थ दोषनिरूपणमें ही लगा दिया है।

२. अग्निपुराणमें पहले वक्तृ, वाचक और वाच्य—इन तीनोंमें एक-एक, दो-दो और तीनोंके नियोग (सम्बन्ध)-से सात प्रकारके दोष माने हैं। यथा—वक्तृनियुक्तदोष, वाचकनियुक्तदोष, वाच्यनियुक्तदोष, वक्तृवाचकनियुक्तदोष, वाचकवाच्यनियुक्तदोष, वक्तृवाच्यनियुक्तदोष और वक्तृवाचकवाच्यनियुक्तदोष।

गया है। क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसंधि, पुनरुक्तता एवं व्यस्त-सम्बन्धताके भेदसे 'साधारण दोष' पाँच प्रकारके होते हैं। क्रियाहीनताको 'क्रियाभ्रंश', कर्त्ता आदि कारकके अभावको 'कारकभ्रंश' एवं संधिदोषको 'विसंधि' कहते हैं॥ १—१५॥

विसंधि दोष दो प्रकारका होता है—'संधिका अभाव' एवं 'विरुद्ध संधि'। विरुद्ध पदार्थान्तरकी प्रतीति होनेसे विरुद्ध संधिको कष्टकर माना गया है। बार-बार कथनको 'पुनरुक्तत्व' दोष कहते हैं। वह भी दो प्रकारका होता है—'अर्थावृत्ति' एवं 'पदावृत्ति'। 'अर्थावृत्ति' भी दो प्रकारकी होती है—काव्यमें प्रयुक्त अभीष्ट या विवक्षित शब्दके द्वारा एवं शब्दान्तरके द्वारा 'पदावृत्ति'में अर्थकी आवृत्ति नहीं होती, पदमात्रकी ही आवृत्ति होती है। जहाँ व्यवधानसे भली-भाँति सम्बन्ध हो, वहाँ 'व्यस्त-सम्बन्धता' दोष होता है। सम्बन्धान्तरकी प्रतीतिसे, सम्बन्धान्तरजन्य होनेसे तथा इन दोनोंके अभावमें भी अन्तर्व्यवधानसे व्यस्त-सम्बन्धताके तीन भेद हो जाते हैं। बीचमें पद अथवा वाक्यसे व्यवधान होनेके कारण उक्त भेदोंमेंसे प्रत्येकके दो-दो भेद और होते हैं। पद और वाक्यमें अर्थ और अर्थ्यमानके भेदसे वाच्यार्थके दो भेद होते हैं। पदगत वाच्य 'व्युत्पादित' और 'व्युत्पाद्य'के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। यदि हेतु अभीष्टसिद्धिमें व्याघातकारी हो तो यह उसका दोष माना गया है। यह 'हेतुदोष' ग्यारह प्रकारका होता है—असमर्थत्व, असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनेकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कालातीतत्व, संकर, पक्षमें अभाव, सपक्षमें अभाव, विपक्षमें अस्तित्व और ग्यारहवाँ निरर्थत्व। वह इष्टव्याघातकारित्व दोष काव्य और नाटकोंमें तथा सहृदय सभासदोंमें (श्रोताओं, दर्शकों और पाठकोंमें) मार्मिक पीड़ा उत्पन्न करनेवाला है। निरर्थत्वदोष दुष्कर चित्रबन्धादि काव्यमें दूषित नहीं माना जाता। पूर्वोक्त गूढार्थत्वदोष दुष्कर चित्रबन्धमें विद्वानोंके लिये दुःखप्रद नहीं प्रतीत होता। 'ग्राम्यत्व' भी यदि लोक और शास्त्र दोनोंमें प्रसिद्ध हो तो उद्वेगकारक नहीं जान पड़ता। क्रियाभ्रंशमें यदि क्रियाका अध्याहार करके उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सके तो वह दोष नहीं रह जाता। इसी तरह भ्रष्टकारकता दोष नहीं रह जाता, जब कि आक्षेपबलसे कारकका अध्याहार सम्भव हो जाय। जहाँ 'प्रगृह्य' संज्ञा होनेके कारण प्रकृतिभाव प्राप्त हो, वहाँ विसंधित्व दोष नहीं माना गया है। जहाँ संधि कर देनेपर उच्चारणमें कठिनाई आ जाय, वैसे दुर्वाच्य स्थलोंमें विसंधित्व दोषकारक नहीं है॥ १६—२७॥

'अनुप्रास' अलंकारकी योजनामें पदोंकी आवृत्ति तथा व्यस्त-सम्बन्धता शुभ है। अर्थात् दोष न होकर गुण है। अर्थसंग्रहमें अर्थावृत्ति दोषकारक नहीं होती। वह व्युत्क्रम (क्रमोल्लङ्घन) आदि दोषोंसे भी लिप्त नहीं होती। उपमान और उपमेयमें विभक्ति, संज्ञा, लिङ्ग और वचनका भेद होनेपर भी वह तबतक दोषकारक नहीं माना जाता, जबतक कि बुद्धिमान् पुरुषोंको उससे उद्वेगका अनुभव नहीं होता। (उद्वेगजनकता ही दूषकताका बीज है।) वह न हो तो माने गये दोष भी दोषकारक नहीं समझे जाते। अनेककी एकसे और बहुतोंकी बहुतोंसे दी गयी उपमा शुभ मानी गयी है। (अर्थात् यदि सहृदयोंको उद्वेग न हो तो लिङ्ग-वचनादिके भेद होनेपर भी दोष नहीं मानना चाहिये।) कविजनोंका परम्परानुमोदित सदाचार 'समय' कहा जाता है। जिसके द्वारा समस्त सिद्धान्तवादी निर्बाध संचरण करते हैं तथा जिसके ऊपर कुछ ही सिद्धान्तवादी चल पाते हैं—इस पक्षद्वयके कारण सामान्य

समय दो भेदोंमें विभक्त हो जाता है। यह मतभेद किसीको तो सिद्धान्तका आश्रय लेनेसे और किसीको भ्रान्तिसे होता है। किसी मुनिके सिद्धान्तका आधार तर्क होता है और किसीके मतका आलम्बन क्षणिक विज्ञानवाद। किसीका यह मत है कि पञ्चभूतोंके संघातसे शरीरमें चेतनता आ जाती है, कोई स्वत:प्रकाश ज्ञानको ही चैतन्यरूप मानते हैं। कोई प्रज्ञात स्थूलतावादी है और कोई शब्दानेकान्तवादी। शैव, वैष्णव, शाक्त तथा सौर सिद्धान्तोंको माननेवालोंका विचार है कि इस जगत्का कारण 'ब्रह्म' है। परंतु सांख्यवादी प्रधानतत्त्व (प्रकृति)-को ही दृश्य जगत्का कारण मानते हैं। इसी वाणीलोकमें विचरते हुए विचारक जो एक-दूसरेके प्रति विपर्यस्त दृष्टि रखते हुए परस्पर युक्तियोंद्वारा एक-दूसरेको बाँधते हैं, उनका वह भिन्न-भिन्न मत या मार्ग ही 'विशिष्ट समय' कहा गया है। यह विशिष्ट समय 'असत्के परिग्रह' तथा 'सत्के परित्याग'के कारण दो भेदोंमें विभक्त होता है। जो 'प्रत्यक्ष' आदि प्रमाणोंसे बाधित हो, उस मतको 'असत्' मानते हैं। कवियोंको वह मत ग्रहण करना चाहिये, जहाँ ज्ञानका प्रकाश हो। जो अर्थक्रियाकारी हो, वही 'परमार्थ सत्' है। अज्ञान और ज्ञानसे परे जो एकमात्र ब्रह्म है, वही परमार्थ सत् जाननेयोग्य है। वही सृष्टि, पालन और संहारका हेतुभूत विष्णु है, वही शब्द और अलंकाररूप है। वही अपरा और परा विद्या है। उसीको जानकर मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त होता है॥ २८—४०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'काव्यदोषविवेकका कथन' नामक
तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४७॥

तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय

एकाक्षरकोष

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं तुम्हें 'एकाक्षराभिधान' तथा मातृकाओंके नाम एवं मन्त्र बतलाता हूँ। सुनो—'अ' नाम है भगवान् विष्णुका। 'अ' निषेध अर्थमें भी आता है। 'आ' ब्रह्माजीका बोध कराता है। वाक्य-प्रयोगमें भी उसका उपयोग होता है। 'सीमा' अर्थमें 'आ' अव्ययपद है। क्रोध और पीड़ा अर्थमें भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'इ' काम-अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ई' रति और लक्ष्मीके अर्थमें आता है। 'उ' शिवका वाचक है। 'ऊ' रक्षक आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। 'ऋ' शब्दका बोधक है। 'ॠ' अदितिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'लृ', 'लॄ'—ये दोनों अक्षर दिति एवं कुमार कार्तिकेयके बोधक हैं। 'ए' का अर्थ है—देवी। 'ऐ' योगिनीका वाचक है। 'ओ' ब्रह्माजीका और 'औ' महादेवजीका बोध करानेवाला है। 'अं' का प्रयोग काम अर्थमें होता है। 'अ:' प्रशस्त (श्रेष्ठ)-का वाचक है। 'क' ब्रह्मा आदिके अर्थमें आता है। 'कु' कुत्सित (निन्दित) अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'खं'—यह पद शून्य, इन्द्रिय और मुखका वाचक है। 'ग' अक्षर यदि पुँल्लिङ्गमें हो तो गन्धर्व, गणेश तथा गायकका वाचक होता है। नपुंसकलिङ्ग 'ग' गीत अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'घ' घण्टा तथा करधनीके अग्रभागके अर्थमें आता है। 'ताडन' अर्थमें भी 'घ' आता है। 'ङ' अक्षर विषय, स्पृहा तथा भैरवका वाचक है। 'च' दुर्जन तथा निर्मल-अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'छ'का अर्थ छेदन है। 'जि' विजेयके अर्थमें

आता है। 'ज' पद गीतका वाचक है। 'झ'का अर्थ प्रशस्त, 'ञ'का बल तथा 'ट'का गायन है। 'ठ'का अर्थ चन्द्रमण्डल, शून्य, शिव तथा उद्बन्धन है। 'ड' अक्षर रुद्र, ध्वनि एवं त्रासके अर्थमें आता है। ढक्का और उसकी आवाजके अर्थमें 'ढ'का प्रयोग होता है। 'ण' निष्कर्ष एवं निश्चयके अर्थमें आता है। 'त'का अर्थ है—तस्कर (चोर) और सूअरकी पूँछ। 'थ' भक्षणके और 'द' छेदन, धारण तथा शोभनके अर्थमें आता है। 'ध' धाता (धारण करनेवाले या ब्रह्माजी) तथा धूस्तूर (धतूरे)-के अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'न'का अर्थ समूह और सुगत (बुद्ध) है। 'प' उपवनका और 'पूः' झंझावातका बोधक है। 'फु' फूँकने तथा निष्फल होनेके अर्थमें आता है। 'बि' पक्षी तथा 'भ' ताराओंका बोधक है। 'मा'का अर्थ है—लक्ष्मी, मान और माता। 'य' योग, याता (यात्री अथवा दयादिन) तथा 'ईरिण' नामक वृक्षके अर्थमें आता है॥ १—१०॥

'र'का अर्थ है—अग्नि, बल और इन्द्र। 'ल'का विधाता, 'व'का विश्लेषण (वियोग या बिलगाव) और वरुण तथा 'श' का अर्थ शयन एवं सुख है। 'ष' का अर्थ श्रेष्ठ, 'स' का परोक्ष, 'सा' का लक्ष्मी, 'स' का बाल, 'ह'का धारण तथा रुद्र और 'क्ष' का क्षेत्र, अक्षर, नृसिंह, हरि, क्षेत्र तथा पालक है। एकाक्षरमन्त्र देवतारूप होता है। वह भोग और मोक्ष देनेवाला है। '**क्ष्मौं हयशिरसे नमः**' यह सब विद्याओंको देनेवाला मन्त्र है। अकार आदि नौ अक्षर भी मन्त्र हैं;' उन्हें उत्तम 'मातृका-मन्त्र' कहते हैं। इन मन्त्रोंको एक कमलके दलमें स्थापित करके इनकी पूजा करे। इनमें नौ दुर्गाओंकी भी पूजा की जाती है। भगवती, कात्यायनी, कौशिकी, चण्डिका, प्रचण्डा, सुरनायिका, उग्रा, पार्वती तथा दुर्गाका पूजन करना चाहिये। '**ॐ चण्डिकायै विद्महे भगवत्यै धीमहि तन्नो दुर्गा प्रचोदयात्**'—यह दुर्गा-मन्त्र है। षडङ्ग आदिके क्रमसे पूजन करना उचित है। अजिता, अपराजिता, जया, विजया, कात्यायनी, भद्रकाली, मङ्गला, सिद्धि, रेवती, सिद्ध आदि वटुक तथा एकपाद, भीमरूप, हेतुक, कापालिकका पूजन करे। मध्यभागमें नौ दिक्पालोंकी पूजा करनी चाहिये। मन्त्रार्थकी सिद्धिके लिये '**ह्रीं दुर्गे रक्षिणि स्वाहा**'—इस मन्त्रका जप करे। गौरीकी पूजा करे; धर्म आदिका, स्कन्द आदिका तथा शक्तियोंका यजन करे। प्रज्ञा, ज्ञानक्रिया, वाचा, वागीशी, ज्वालिनी, वामा, ज्येष्ठा, रौद्रा, गौरी, ह्री तथा पुरस्सरा देवीका '**ह्रीं: सः महागौरि रुद्रदयिते स्वाहा**'—इस मन्त्रसे महागौरीका तथा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, सुभगा, ललिता, कामिनी, काममाला और इन्द्रादि शक्तियोंका पूजन भी एकाक्षर मन्त्रोंसे होता है। गणेश-पूजनके लिये '**ॐ गं स्वाहा**' 'यह मूलमन्त्र है। अथवा—'**गं गणपतये नमः।**' से भी उनकी पूजा होती है। रक्त, शुक्ल, दन्त, नेत्र, परशु और मोदक—यह '**षडङ्ग**' कहा गया है। '**गन्धोल्काय नमः।**' से क्रमशः गन्ध आदि निवेदन करे। गज, महागणपति तथा महोल्क भी पूजनके योग्य हैं। '**कूष्माण्डाय, एकदन्ताय, त्रिपुरान्तकाय, श्यामदन्तविकटहरहासाय, लम्बनासाननाय, पद्मदंष्ट्राय, मेघोल्काय, धूमोल्काय, वक्रतुण्डाय, विघ्नेश्वराय, विकटोत्कटाय, गजेन्द्रगमनाय, भुजगेन्द्रहाराय, शशाङ्कधराय, गणाधिपतये स्वाहा।**'—इन मन्त्रोंके आदिमें 'क' आदि एकाक्षर बीज-मन्त्र लगाये और अन्तमें '**नमः**' एवं '**स्वाहा**' शब्दका प्रयोग करे। फिर इन्हीं मन्त्रोंद्वारा तिलोंसे होम आदि करके मन्त्रार्थभूत देवताका पूजन करे। अथवा द्विरेफ, द्विर्मुख एवं

द्व्यक्ष आदि पृथक्-पृथक् मन्त्र हो सकते हैं। अब कुमार कार्तिकेयजीने कात्यायनको जिसका उपदेश किया था, वह व्याकरण बतलाऊँगा॥ ११—२८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'एकाक्षराभिधान' नामक तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४८॥

तीन सौ उनचासवाँ अध्याय

व्याकरण-सार

स्कन्द बोले—कात्यायन! अब मैं बोधके लिये तथा बालकोंको व्याकरणका ज्ञान करानेके लिये सिद्ध शब्दरूप सारभूत व्याकरणका वर्णन करता हूँ; सुनो। पहले प्रत्याहार आदि संज्ञाएँ बतलायी जाती हैं, जिनका व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रियामें व्यवहार होता है।

अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्, लण्, ञमङणनम्, झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्।

ये 'माहेश्वर सूत्र' एवं 'अक्षर-समाम्नाय' कहलाते हैं। इनसे 'अण्' आदि 'प्रत्याहार' बनते हैं। उपदेशावस्थामें[१] अन्तिम 'हल्'[२] तथा अनुनासिक 'अच्'[३] की 'इत्'[४] संज्ञा होती है। अन्तिम इत्संज्ञक वर्णके साथ गृहीत होनेवाला आदि वर्ण उन दोनोंके मध्यवर्ती अक्षरोंका तथा अपना भी ग्रहण करानेवाला होता है। इसीको 'प्रत्याहार'[५] कहते हैं, जैसा कि निम्नाङ्कित उदाहरणसे स्पष्ट होता है—अण्, एङ्, अट्, यय्, (अथवा यञ्), छव्, झष्, भष्, अक्, इक्, उक्। अण्, इण्, यण्—ये तीनों पर णकार अर्थात् लण् सूत्रके णकारसे बनते हैं। अम्, यम्, ङम्, अच्, इच्, एच्, ऐच्, अय्, मय्, झय्, खय्, जश्, झर्, खर्, चर्, यर्, शर्, अश्, हश्, वश्, झश्, अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्—ये सभी प्रत्याहार हैं॥ १—७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'व्याकरण-सार-वर्णन' नामक तीन सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४९॥

---

१. 'उपदेश' कहते हैं—आदि उच्चारणको। यहाँ जो चौदह 'माहेश्वरसूत्र' हैं, वे ही 'उपदेश' पदसे गृहीत होते हैं।

२. 'हल्'का अर्थ है—व्यञ्जन वर्ण।

३. 'अच्' स्वर अक्षरोंका नाम है।

४. जिसकी 'इत्' संज्ञा होती है, उसका लोप हो जाता है। 'अइउण्' आदिमें जो अन्तिम णकार आदि हैं, उनकी भी 'इत्संज्ञा' होती है, अतः वे भी लुप्त ही समझने चाहिये। उनका ग्रहण केवल 'अण्' आदि प्रत्याहार-सिद्धिके लिये है। वे उन प्रत्याहारोंके अक्षरोंमें गिने नहीं जाते।

५. जिसमें अक्षरोंका प्रत्याहरण—संक्षेप किया गया हो, वह 'प्रत्याहार' कहलाता है। जैसे 'अक्' प्रत्याहारमें 'अ, इ, उ, ऋ, लृ'—इतने वर्णोंका संक्षेप किया गया है। अर्थात् 'अक्' इस छोटेसे पदके उच्चारणसे उक्त पाँच अक्षरोंका ग्रहण होता है। 'प्रत्याहार' बनानेकी विधि इस प्रकार है—'अइउण्' आदि सूत्र उपदेश हैं; उनके अन्तिम हल् 'ण्' आदि हैं, उनकी 'इत्संज्ञा' होती है, यह बात बतायी जा चुकी है। अब अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण 'ण्'के साथ गृहीत होनेवाला आदिवर्ण 'अ' हो तो दोनों मिलकर 'अण्' हुआ। यह 'अण्' बीचके 'इ उ'का भी ग्रहण कराता है और अपना अर्थात् अकारका भी बोधक होता है। इसी प्रकार अन्तिम इत्संज्ञक 'ऐऔच्'का जो 'च्' है, उसके साथ आदि वर्ण 'अ'को ग्रहण करनेपर 'अच्' बनता है, जो 'अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ'—इन नौ स्वरोंका बोध कराता है। ऐसे ही 'हल्' सूत्रका अन्तिम अक्षर 'ल्' इत्संज्ञक है। इसके साथ आदिमें 'ह य व र ट्' का 'ह' गृहीत हुआ तो 'हल्' प्रत्याहार बना; यह 'हल्' 'ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह'—इन सभी व्यञ्जनवर्णोंका बोधक हुआ। इसी तरह अन्य प्रत्याहारोंको भी समझना चाहिये।

तीन सौ पचासवाँ अध्याय

संधिके[१] सिद्ध रूप

कुमार कार्तिकेय कहते हैं—कात्यायन! अब सिद्ध संधिका वर्णन करूँगा। पहले 'स्वरसंधि'[२] बतलायी जाती है—**दण्डाग्रम्, साऽऽगता, दधीदम्, नदीहते, मधूदकम्, पितृषभः, लृकारः**[३], **तवेदम्, सकलोदकम्, अर्धर्चोऽयम्, तवल्कारः**[४], **सैषा, सैन्द्री, तवौदनम्, खट्वौघोऽभवत्**,[५] **इत्येवम्, व्यसुधीः, वस्वलंकृतम्, पित्रर्थोपवनम्, दात्री**,[६] **नायकः, लावकः, नयः**,[७] **त इह, तयिह**

१. अक्षरोंके मेलनको 'संधि' कहते हैं, संधिके साधारणतया पाँच भेद माने जाते हैं—(१) स्वरसंधि, (२) व्यञ्जनसंधि, (३) अनुस्वारसंधि, (४) विसर्गसंधि और (५) स्वादिसंधि। अनुस्वारसंधिमें व्यञ्जनका 'अनुस्वार' और अनुस्वारका 'व्यञ्जन' बनता है; अतः उसका व्यञ्जनसंधिमें ही अन्तर्भाव हो सकता है। ऐसे ही स्वादिसंधि भी उसीके अन्तर्गत है; क्योंकि 'शिवोऽर्च्यः' इत्यादिमें विभक्ति-सकार आदि हलूरूप ही हैं। इस प्रकार मुख्यतः तीन ही संधियाँ हैं—स्वर, व्यञ्जन और विसर्ग। कौमार-व्याकरणमें इन्हीं तीनोंका नामतः उल्लेख हुआ है। पाणिनि-व्याकरण तथा कौमार-व्याकरण—दोनों ही माहेश्वर सूत्रोंको आधार मानकर प्रवृत्त हुए हैं, अतः दोनोंकी प्रक्रियामें बहुत कुछ साम्य है।

२. जहाँ स्वर अक्षर विकृत हो वर्णान्तरसे मिले, वह 'स्वर-संधि' है; इसके मुख्यतः पाँच भेद हैं—यणादेश, अयाद्यादेश, य्-व्-लोपादेश, अवङ्आदेश तथा एकादेश। 'यणादेश'के भी चार भेद हैं—य् व् र् ल्। ये क्रमशः इ उ ऋ लृ के स्थानमें कोई स्वर परे रहनेपर होते हैं। अयाद्यादेशके छः भेद हैं—अय्, अव्, आय्, आव्, यान्तादेश और वान्तादेश। पहलेवाले चार आदेश क्रमशः ए, ओ, ऐ, औके स्थानमें कोई स्वर परे रहनेपर होते हैं। 'यान्तादेश' ऐ, औके स्थानमें 'यादि' प्रत्यय परे रहनेपर होते हैं और 'वान्तादेश' ओ, औके स्थानमें यकारादि प्रत्यय परे होनेपर होते हैं। 'य्-व् लोपादेश', में अवर्णपूर्वक पदान्त 'य् व्'का लोप होता है। 'अश्' प्रत्याहार परे होनेपर एङन्त 'गो' शब्दको 'अवङ्' आदेश होता है; 'अच्' परे रहनेपर तथा 'इन्द्र' शब्द परे रहनेपर भी यह आदेश होता है। जहाँ दो अक्षरोंके स्थानमें एक आदेश हो, वह 'एकादेश' है। एकादेश-संधिके भी पाँच भेद हैं—गुण, वृद्धि, पूर्वरूप, पररूप और दीर्घ। 'गुण-एकादेश' चार हैं—ए, ओ, अर, अल्। ये क्रमशः अ+इ, अ+उ, अ+ऋ, तथा अ+लृके स्थानमें होते हैं। वृद्धि-संधिके भेद तीन ही हैं—ऐ, औ, आर्। इनमें, पहला अ, आ, ए, ऐके स्थानमें; दूसरा अ, आ, ओ, औके स्थानमें, तथा तीसरा अ, आ, ऋ, ॠके स्थानमें होता है। पदान्त ए, ओ से परे 'अ' हो तो 'पूर्वरूप' होता है; यह 'अयादेश'का अपवाद है। अ से परे ए, ओ और 'अ'के स्थानमें 'पररूप' होता है, यह वृद्धि तथा दीर्घका अपवाद है; अतः इसकी प्रवृत्तिके स्थल परिगणित होते हैं। अ-आ+अ-आ, इ-ई+इ-ई, उ-ऊ+उ-ऊ, ऋ-ॠ + ऋ-ॠ तथा लृ-लॄ + लृ-लॄ के स्थानमें 'दीर्घ एकादेश' होता है। जैसे अ+अ=आ इत्यादि।

३. 'दण्डाग्रम्'से लेकर 'लृकारः'तक ऊपर बताये अनुसार 'दीर्घ एकादेश' हुआ है। यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः।' (६।१।१०१)—इस पाणिनि-सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। इस स्थलमें सबका पदच्छेदमात्र दिया जाता है। दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम्। इसमें 'दण्ड'के 'ड' में जो 'अ' है, वह और 'अग्रम्' का 'अ' मिलकर 'आ' हुआ; इसलिये 'दण्डाग्रम्' बना। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। सा+आगता=साऽऽगता। दधि+इदम्=दधीदम्, नदी+ईहते=नदीहते। मधु+उदकम्=मधूदकम्। पितृ+ऋषभः=पितृषभः। लृ+लृकार=लृकारः।

४. अब गुण-एकादेश ('आद्गुणः।'—पा०सू० ६।१।८७) के उदाहरण दिये जाते हैं—तव+इदम्=तवेदम्। यहाँ 'तव'के अन्तिम 'अ' और 'इदम्'के 'इ'के स्थानमें 'ए' हो गया है। इसी तरह अन्यत्र समझना चाहिये। सकल+उदकम्=सकलोदकम्। अर्ध+ऋचोऽयम्=अर्धर्चोऽयम्। तव+लृकारः=तवल्कारः।

५. वृद्धिसंधि ('वृद्धिरेचि।'—पा० सू० ६।१।८८), के उदाहरण—सा+एषा=सैषा। यहाँ आ+एके स्थानमें 'ऐ' हुआ है। एवमन्यत्र। सा+ऐन्द्री=सैन्द्री। तव+ओदनम्=तवौदनम्। खट्वा+औघः=खट्वौघः।

६. अब 'यणादेश' ('इको यणचि।'—पा० सू० ६।१।७७) के उदाहरण दिये जाते हैं। इति+एवम्=इत्येवम्। यहाँ 'इति'के अन्तिम 'इकार'के स्थानमें 'य्' हुआ है। वि+असुधीः=व्यसुधीः। वसु+अलंकृतम्=वस्वलंकृतम्। यहाँ 'उ'के स्थानमें 'व्' हुआ है। पितृ+अर्थोपवनम्=पित्रर्थोपवनम्। दातृ+ई=दात्री। यहाँ 'ऋ'के स्थानमें 'र्' हुआ है। अन्यत्र चौथे 'यण्'के उदाहरणमें 'लाकृतिः' पद आता है, उसका पदच्छेद है—ल+आकृतिः=लाकृतिः।

७. यह 'अयादेश-संधि' ('एचोऽयवायावः।'—पा० सू० ६।१।७८) है। नै+अकः=नायकः। यहाँ 'नै'के 'ऐ'के स्थानमें 'आय्' हुआ है। लौ+अकः=लावकः ('औ'की जगह 'आव्')। ने+अः=नयः ('ए'के स्थानमें 'अय्'); अन्यत्र 'लवः', 'विष्णवे' आदि उदाहरण भी मिलते हैं। लो+अः=ल् अव् अः=लवः। विष्णो+ए=विष्णवे।

इत्यादि[1]। **तेऽत्र, योऽत्र जलेऽकजम्**[2]। जहाँ संधि न होकर प्रकृत रूप ही रह जाता है, उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। उसके उदाहरण—**नो अहो, ऐहि, अ अवेहि, इ इन्द्रकम्, उ उत्तिष्ठ, कवी एतौ, वायु एतौ, वने इमे, अमी एते, यज्ञभूते एहि देव इमं नय**[3] ॥ १—५ ॥

अब 'व्यञ्जनसंधि'[4] का वर्णन करूँगा—**वाग्यतः। अजेकमातृकः। षडेते। तदिमे। अबादि। वाङ्नीतिः। षण्मुखः। वाङ्मनसम्।** इत्यादि। **वाग्भावादिः। वाक्श्लक्ष्णम्। तच्छरीरकम्। तल्लुनाति। तच्चरेत्। कुड्ङास्ते। सुगण्णिह। भवांश्चरन्। भवांश्छात्रः। भवांष्टीका। भवांष्ठकः। भवांस्तीर्थम्। भवांस्थेत्याह।**

---

१. यह 'लोपादेश-संधि' ('लोपः शाकल्यस्य।'—पा० सू० ८।३।१९) है। ते+इह—इस अवस्थामें 'ए'की जगह हुआ—त्+अय+इह बना। फिर 'लोपादेश'के नियमानुसार 'य्' का लोप हो गया—'त इह' बना। लोप न होनेपर 'तयिह' बना।

२. यहाँ 'पूर्वरूप-संधि' ('एङः पदान्तादति।'—पा० सू० ६।१।१०९) है। ते+अत्र, यो+अत्र, जले+अकजम्—इन तीनों ही पदोंमें 'अ' अपने पहलेके अक्षरमें मिल गया है।

३. अब 'प्रकृतिभाव'के उदाहरण देते हैं। 'नो अहो'—इस अवस्थामें ('एङः पदान्तादति'के अनुसार) 'पूर्वरूप एकादेश' प्राप्त था; किन्तु यहाँ प्रकृतिभावका विधान है; यह पद ज्यों-का-त्यों रहेगा; इसमें संधिजनित विकृति नहीं होगी। प्रकृतिभावके लिये पाणिनिने कई नियम बनाये हैं। ('नो अहो'—जैसे स्थलोंके नियम इस प्रकार हैं—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।' (पा० सू० ६।१।१२५) 'प्लुत' तथा 'प्रगृह्य' संज्ञावाले पदोंका 'प्रकृतिभाव' होता है, उनमें संधि नहीं होती। 'दूराद्धूते च।' (पा० सू० ८।२।८४) दूरसे किसीको बुलाते समय जिस वाक्यका प्रयोग होता है, उसके अन्तिम स्वरकी 'प्लुत' संज्ञा होती है; क्योंकि उसका उच्चारण दीर्घतर स्वरमें होता है। 'प्रगृह्य' संज्ञाके अनेक भेद हैं—(१) ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन। (२) 'अदस्' शब्द-सम्बन्धी मकारके बाद होनेवाले ई और ऊ। (३) एक स्वरवाला आङ्वर्जित निपात। (४) ओकारान्त निपात। (द्रव्यार्थभिन्न 'च' आदि अव्यय तथा 'प्र' आदि उपसर्ग भी 'निपात' कहलाते हैं।) (५) सम्बोधन-निमित्तक ओकार 'वैकल्पिक प्रगृह्य' होता है; किंतु उसके बाद अवैदिक 'इति' शब्दका रहना आवश्यक है। (६) 'मय्' प्रत्याहारसे परे जो 'उकार' हो, वह भी 'वैकल्पिक प्रगृह्य' है; किंतु उसके बाद कोई भी स्वर रहना चाहिये। (इनके सिवा और भी कई नियम हैं, जो विस्तारभयसे नहीं दिये जाते।) 'अहो+एहि' में 'अयाद्यादेश'के नियमानुसार 'ओ' की जगह 'अव्' प्राप्त था, किंतु 'अहो' पद 'ओकारान्त निपात' होनेसे 'प्रगृह्य' है; अतएव वह प्रकृतरूपमें रह गया। 'अ+अवेहि', इ+इन्द्रकम्, उ+उत्तिष्ठ—इनमें दीर्घ एकादेश प्राप्त था; किंतु नंबर ३ नियमके अनुसार 'प्रगृह्य' होनेसे यहाँ प्रकृतिभाव होता है। 'कवी+एतौ', वायू+एतौ इनमें 'यणादेश' प्राप्त था और 'वने इमे' में 'अय्' आदेशकी प्राप्ति थी; किंतु नं० १ नियमके अनुसार प्रगृह्य होनेसे यहाँ भी प्रकृतरूप ही रह जाता है। 'कवी', 'वायू' और 'वने'—ये तीनों पद द्विवचनान्त हैं। 'अमी एते' में 'यण्' प्राप्त था; नं० २ नियमके अनुसार प्रगृह्य होनेसे प्रकृतिभाव हो गया। 'यज्ञभूते! एहि' इसमें अयादेश और 'देव! इमं नय' में गुण एकादेश प्राप्त था; किंतु प्लुत होनेसे यहाँ प्रकृतिभाव हुआ। दूरसे सम्बोधनका वाक्य है 'यज्ञभूते! एहि' 'देव! इमं नय।'

४. व्यञ्जनसंधिके बहुत-से प्रकार या भेद पाणिनिसूत्रोंमें वर्णित हैं। परंतु अग्निपुराणमें उल्लिखित इस कौमार-व्याकरणमें व्यञ्जनसंधिके सिद्ध रूपोंका जो उल्लेख मिलता है, उसके अनुसार व्यञ्जनसंधिके ग्यारह प्रकार निर्दिष्ट हुए हैं (१)-**जश्त्वविधान** [जो 'झलां जशोऽन्ते'—इस पाणिनिसूत्र (८।२।३९)-में निर्दिष्ट है]। (२)-**अनुनासिकविधान** [जो 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा'—इस पाणिनिसूत्र (८।४।४५) तथा 'प्रत्यये भाषायां च नित्यम्।' इस कात्यायन-वार्तिकद्वारा प्रतिपादित है]। (३)-**छत्वविधान** [जो 'शश्छोऽटि'—(८।४।६३) 'छत्वममीति वाच्यम्।'—इन सूत्र-वार्तिकोंद्वारा निर्दिष्ट है]। (४)-**श्चुत्वविधान** [जो 'स्तोः श्चुना श्चुः'—इस पा० सू० (८।४।४०) में कहा गया है]। (५)-**ष्टुत्वविधान** [जो 'ष्टुना ष्टुः'—इस पा० सू० (८।४।४१) में वर्णित है]। (६)-**लकारात्मक परसवर्णविधान** [जो 'तोर्लि'—इस पा० सू० (८।४।६०) के नियमसे आबद्ध है]। (७)-**ङमुडागमविधान** [जो 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्'—इस पा० सू० (८।३।३२) द्वारा कथित है]। (८)-**नकारसत्वविधान** [जो 'नश्छव्यप्रशान्।'—इस पा० सू० (८।३।७) के नियमानुसार सम्पादित होता है]। (९)-**परसवर्णविधान** [जो 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।'—पा० सू० (८।४।५८) तथा 'वा पदान्तस्य।' (८।४।५९)—इन पा० सूत्रोंद्वारा कथित है]। (१०)-**तुगागमविधान** [जो 'शि तुक्।', (८।३।३१) 'छे च।', (६।१।७३) 'दीर्घात् (६।१।७५) तथा 'पदान्ताद्वा' (६।१।७६)—इन सूत्रोंके नियमोंसे सम्बद्ध है]। ११-**परसवर्णविधान** [जो 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।' (८।४।५८)] 'वा पदान्तस्य' (८।४।५९)—इन पा० सूत्रोंद्वारा प्रतिपादित है।

भवाँल्लेखा। भवाञ्जयः। भवाञ्छेते, भवाञ्च्शेते, भवाञ्शेते। भवाण्ढीनः। सम्भर्त्ता। त्वङ्करिष्यसि* | इत्यादि॥ ६—९॥

इसके बादकी पदावलियोंमें विसर्ग-

* वाक् यतः=वाग्यतः। ('झलां जशोऽन्ते।' पा० सू० ८। २। ३९) 'पदान्तमें 'झल्' के स्थानमें 'जश्' होता है'—इस नियमके अनुसार 'वाक्' के 'क्' का 'ग्' हो गया है। यद्यपि जश्में ज् ब् ग् ड् द्—ये पाँच अक्षर हैं, तथापि 'क्' के स्थानमें 'ग्' होनेका कारण है स्थानकी समानता। 'क्' और 'ग्' का स्थान एक है। दोनों ही कण्ठस्थानसे निकलते हैं। आगेके चार उदाहरणोंमें भी यही नियम है—अच्+एकमातृकः=अजेकमातृकः। यहाँ 'च्' के स्थानमें 'ज्' हो गया है। स्वरहीन अक्षर अपने बादवाले अक्षरसे मिल जाते हैं, अतः 'ज्' 'ए' में मिलकर 'जे' बन गया। 'षट्+ एते'—इसमें 'ट्' के स्थानमें 'ड्' हुआ है। इसी तरह 'तत् + इमे' में 'त्' के स्थानमें 'द्' तथा 'अप्+आदि' में 'प्' के स्थानमें 'ब्' हुआ है। ये पूर्वनिर्दिष्ट **जश्त्वविधान** के उदाहरण हैं। अब **अनुनासिकविधान**के उदाहरण दिये जाते हैं—वाक्+नीतिः=वाङ्नीतिः। पदान्त 'यर्' प्रत्याहारके अक्षरोंका विकल्पसे अनुनासिक होता है, कोई अनुनासिक अक्षर परे हो तब। यदि प्रत्यय अनुनासिक परे हो तो 'यर्' के स्थानमें नित्य अनुनासिक होता है। इस नियमके अनुसार 'क्' के स्थानमें उसी वर्गका अनुनासिक अक्षर 'ङ्' हो गया। अनुनासिक न होनेकी स्थितिमें पूर्वनियमानुसार 'जश्त्व' होता है। उस दशामें 'वाग्नीतिः' रूप होता है। षट्+मुखः=षण्मुखः (षड्मुखः)। उक्त नियमसे 'ट्' की जगह उसीके स्थान (मूर्धा)-का अनुनासिक 'ण्' हुआ। जश्त्व होनेपर 'ड्' होता है। निम्नाङ्कित पदोंका पदच्छेद इस प्रकार है—वाक्+मनसम्=वाङ्मनसम्। वाक्+मात्रम्=वाङ्मात्रम्। अब **छत्वविधान**के उदाहरण देते हैं—वाक्+श्लक्ष्णम्= वाक्छ्लक्ष्णम्, वाक्श्लक्ष्णम्। यहाँ 'श्' के स्थानमें विकल्पेन 'छ्' हुआ है। नियम इस प्रकार है—'झय्' से परे 'श्' का 'छ्' हो जाता है, 'अम्' प्रत्याहार परे रहनेपर । **श्चुत्वविधान**—सकार-तवर्गके स्थानमें 'शकार' 'चवर्ग' होते हैं, शकार-चवर्गका योग होनेपर। 'तत्+शरीरम्'='तच्छरीरम्'। यहाँ 'शरीरम्' के शकारका योग होनेसे 'तत्' के 'त्' की जगह 'च्' हो गया। इसके बाद छत्व-विधानके नियमानुसार 'शकार' के स्थानमें 'छकार' हो गया। 'तल्लुनाति' यह लकारात्मक परसवर्णका उदाहरण है। नियम यह है कि 'तवर्गसे परे लकार हो तो उस तवर्गका 'परसवर्ण' होता है।' इसके अनुसार 'तत्+लुनाति' इस अवस्थामें 'त्' के स्थानमें 'ल्' हो गया। तत्+चरेत्=तच्चरेत्। यहाँ श्चुत्वविधानके नियमानुसार पूर्ववत् 'त्' की जगह 'च्' हो गया है। क्रुङ्+आस्ते=क्रुङ्ङास्ते। यह **ङमुडागम-विधान**का उदाहरण है। नियम है कि ह्रस्व अक्षरसे परे यदि 'ङ् ण् न्' —ये व्यञ्जन हों और इनके बाद स्वर अक्षर हों तो उक्त 'ङ्' आदिकी जगह एक और 'ङ्' आदि बढ़ जाते हैं। अर्थात् वे ङ् ङ्, ण् ण् और न् न् हो जाते हैं। इस नियमसे उक्त उदाहरणमें एक 'ङ्' की जगह दो 'ङ् ङ्' हो गये हैं। इसी तरह 'सुगण्+इह' की जगह 'सुगण्णिह' बनता है। भवान्+चरन्='भवांश्चरन्'—यह **नकाररुत्वविधान**का उदाहरण है। नियम यह है—'प्रशान्' से भिन्न जो नकारान्त पद है, उनके 'न्' की जगह 'र्' हो जाता है, यदि बादमें 'छ् ठ् थ् च् ट् त्'—इनमेंसे कोई अक्षर विद्यमान हो, तब। इस नियमसे उक्त उदाहरणमें 'न्' के स्थानमें 'र्' हुआ। 'र्' का विसर्ग, विसर्गके स्थानमें 'स्' हुआ। 'स्' का श्चुत्व-विधानके अनुसार 'श्' हो गया। उसके पूर्व अनुस्वारका आगम होता है। कहीं-कहीं 'चिरम्' पाठ मिलता है। उस दशामें 'भवांश्चिरम्' रूप सिद्ध होगा। यदि 'चिरम्' के साथ परवर्ती 'भवान्' शब्द ले लिया जाय तो निम्नाङ्कितरूप सिद्ध होगा। चिरम्+भवान्=चिरंभवान्, चिरम्भवान्—यहाँ मकारके स्थानमें अनुस्वार हुआ है। अनुस्वारका वैकल्पिक परसवर्ण होनेपर 'चिरम्भवान्' रूप बनता है। '**मोऽनुस्वारः**।'—इस पा० सूत्र (८। ३। २३) के अनुसार **मकारानुस्वारविधान**का नियम इस प्रकार है—पदान्तमें 'म्' का अनुस्वार होता है, 'हल्' परे रहनेपर। ('नश्चापदान्तस्य झलि।' पा० सू० ८। ३। २४) के अनुसार 'झल्' परे रहनेपर अपदान्त 'न् म्' के स्थानमें भी अनुस्वार होता है। 'न्' के अनुस्वारका उदाहरण है—'यशांसि'। 'म्' के अनुस्वारका उदाहरण है 'आक्रंस्यते'। भवान्+छात्रः=भवांश्छात्रः। यहाँ पूर्ववत् नकाररुत्व-विधानके अनुसार नकारका रुत्व, विसर्ग, सकार तथा अनुस्वारागम होकर श्चुत्वविधानके अनुसार 'स्' के स्थानमें 'श्' हो गया है। भवान्+टीका=भवाँष्टीका। यहाँ भी 'न्' की जगह रुत्व, विसर्ग और सकार होकर अनुस्वारागम हुआ और ष्टुत्व-विधानके अनुसार 'स्' के स्थानमें 'ष्' हो गया। यही बात 'भवाँष्ठकः' के साधनमें भी समझनी चाहिये—भवान्+ठकः। भवान्+तीर्थम्—भवाँस्तीर्थम्। यहाँ भी नकारका रुत्व, विसर्ग, सकार और अनुस्वारागम समझना चाहिये। 'भवान्+था+इत्याह—इसमें भी पूर्ववत् सब कार्य होंगे और था+इत्याहमें गुण एकादेश होनेपर 'भवांस्थेत्याह'—ऐसा रूप सिद्ध होगा। 'भवान्+लेखाः=भवाँल्लेखाः।'—यहाँ लकारात्मक परसवर्ण सानुनासिक हुआ है। 'भवान्+जयः' इसमें श्चुत्वविधानके अनुसार चवर्ग-योगके कारण तवर्गीय 'न्' की जगह चवर्गीय 'ञ्' हो गया है। 'भवान्+शेते' इस पदच्छेदमें 'भवाञ्छेते, भवाञ्छेते, भवाञ्च्शेते, भवाञ् शेते।'—ये रूप बनते हैं। पहलेमें 'शि तुक्।' पा० सू० (८। ३। ३१) के अनुसार 'शकार' परे रहते नान्त पदको 'तुक्' का आगम होता है। इसे 'नान्ततुगागम' कहा जा सकता है। इसी तरह ह्रस्व, दीर्घ और पदान्तसे परे भी तुगागम होते हैं। यहाँ 'नान्ततुगागम' के अनुसार 'तुक्' हुआ। 'उक्' की इत्संज्ञा हुई, लोप हुआ। 'भवान् त् शेते' रहा। श्चुत्वविधानके अनुसार 'त्' के स्थानमें 'च्' और 'न्' के स्थानमें 'ञ्' हुआ और 'श्' की जगह 'छ्' हुआ तो 'भवाञ्च्छेते' बना। 'झरो झरि सवर्णे।' (पा० सू० ८। ४। ६५) के अनुसार 'झर्' का लोप होनेपर 'च्' अदृश्य हो जाता है, अतः

संधि* जाननी चाहिये—कश्छिन्द्यात्[१]। कश्चरेत्। कष्टः[२]। कष्ठः[३]। कः स्थः[४]। कश्चलेत्[५]। क ᳲखनेत्[६]। क ᳲकरोति[७]। क ᳲपठेत्[८]। क ᳲफलेत्[९]। कश्श्वशुरः[१०], कः श्वशुरः। कस्स्वरः[११], कः स्वरः। कः फलेत्[१२]। कः शयिता[१३]। कोऽत्रयोधः[१४]। क उत्तमः[१५]। देवाएते[१६]।

'भवाञ्छेते' रह जाता है। 'लोप' और 'छत्व' वैकल्पिक हैं, अतः इनके अभावमें 'भवाञ्श्शेते' बना। तुगागम भी वैकल्पिक है; उसके न होनेपर 'भवाञ् शेते' बना। भवान्+डीनः=भवाण्डीनः। यहाँ ष्टुत्वविधानके अनुसार 'न्' की जगह 'ण्' हो गया है। 'त्वं+भर्ता=त्वम्भर्ता', 'त्वं करिष्यसि=त्वङ्करिष्यसि'—ये दोनों वैकल्पिक परसवर्णके उदाहरण हैं। यहाँ अनुस्वारकी जगह 'वा पदान्तस्य।' (पा० सू० ८।४।५९) के नियमानुसार परसवर्ण क्रमशः 'भ्' और 'ङ्' हो गये है।

'व्यञ्जनसंधि'के कुछ और भी भेद हैं, जो यहाँ कौमार व्याकरणमें निर्दिष्ट नहीं हैं—जैसे 'पूर्वसवर्ण-संधि'। इसके दो प्रकारके स्थल हैं। 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८।४।६२)—इस सूत्रके अनुसार 'झय्' से परे हकारके स्थानमें पूर्वसवर्ण होता है। इसके 'वाग्घरिः' इत्यादि उदाहरण हैं। यहाँ 'वाक्+हरिः' इस अवस्थामें 'ह' की जगह पूर्वसवर्ण—'घ' हो गया है। 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य।'—इस पा० सूत्र (८।४।६१) के अनुसार 'उद्' उपसर्गसे परे 'स्थ' और 'स्तम्भ'के आदि वर्णकी जगह पूर्व-सवर्ण होता है। इसके उदाहरण हैं—उत्थानम्, उत्तम्भनम्। 'सम्' के मकारका भी रुत्वविधान होता है, 'सुट' परे रहनेपर। इसके 'संस्कर्ता' आदि उदाहरण हैं।

* विसर्गसंधिके भी अनेक प्रकार-भेद हैं—यहाँ लगभग दस प्रकारकी कार्य-विधि वर्णित हुई है—(१) **विसर्गस्थाने सत्वविधान** (इसका विधायक है—'विसर्जनीयस्य सः।' पा० सू० ८।३।३४)। (२) **वैकल्पिकविसर्गत्वविधान** (इसका निर्देशक है—'वा शरि'—यह पा० सूत्र ८।३।३६)। (३) ᳲक ᳲप-**विधान** (यह 'कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च।'—इस पाणिनिसूत्र ८।३।३७ पर आधारित है)। (४) **रुत्वविधान** (इसका आधार है—'ससजुषो रुः।' यह पा० सूत्र ८।२।६६)। (५) **रोरुत्वविधान** (यह 'अतो रोरप्लुतादप्लुते।' ६।१।११३, 'हशि च।' ६।१।११४ इत्यादि सूत्रोंपर अवलम्बित है)। (६) **रोर्यत्वविधान** (जो 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि।' इस पा० सूत्र ८।३।१७ तथा अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३ पर आधारित है)। (७) **यलोपविधान** (इसका आधार 'हलि सर्वेषाम्' यह पा० सूत्र ८।३।२२ है)। (८) **रकार-विसर्गविधान** (इसका विधायक 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः।'—यह पा० सूत्र ८।३।१५ है)। (९) **सुलोपविधान** (इसके आधार हैं—'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि।', 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्।' इत्यादि ६।१।१३२, ३४ सूत्र)। (१०) **ढ्रलोपदीर्घविधान** (इसके आधारभूत पा० सूत्र है—'रोरि।', 'ढो ढे लोपः।', 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः।' ८।३।१४, १३; ६।३।१११)।

१. 'कः+छिन्द्यात्'=कश्छिन्द्यात्। यहाँ विसर्गके स्थानमें 'स' और श्चुत्वविधानके अनुसार 'स्' के स्थानमें 'श्' हुआ है। कः+चरेत्=कश्चरेत्। यहाँ भी पूर्ववत् विसर्गके स्थानमें 'स्' और श्चुत्वेन 'श्' हुआ है। २. कः+टः=कष्टः। ३. कः+ठः=कष्ठः —इन दोनों उदाहरणोंमें विसर्गके स्थानमें सकार होकर ष्टुत्वविधानके अनुसार 'सकार'के स्थानमें 'षकार' हो गया है। ४. कः+स्थः=कः स्थः, कस्स्थः। यहाँ वैकल्पिक विसर्गताका विधान है। 'वा शरि' (पा० सूत्र ८।३।३६)-के नियमानुसार यदि विसर्गसे परे 'श', 'ष' और 'स'—ये अक्षर हों तो एक पक्षके मतानुसार उस विसर्गके स्थानमें 'स्' न होकर विसर्ग ही रह जाता है। पक्षान्तरसे 'सकार' हो जाता है। उक्त उदाहरणोंमें पहले विसर्गरूप, फिर सकाररूपका साक्षात्कार कराया गया है। ५. 'कः+चलेत्=कश्चलेत्।' यहाँ भी सब बातें 'कश्चरेत्' के अनुसार समझनी चाहिये। ६-७. 'कः+खनेत्'=कᳲ खनेत्। कः+करोति=कᳲ करोति—इन दोनों उदाहरणोंमें 'ᳲक ᳲप विधान'के अनुसार विसर्गके स्थानमें ᳲक ᳲख हो गये हैं। कवर्ग और पवर्गके प्रथम-द्वितीय अक्षर परे हों तो विसर्गके स्थानमें क्रमशः ᳲक ᳲप होते हैं—ऐसा नियम है। ८-९. 'कः+पठेत्', 'कः+फलेत्'—इस अवस्थामें अभी बताये हुए नियमके अनुसार विसर्गकी जगह 'ᳲप ᳲफ'—हो गये हैं। १०-११. इन उदाहरणोंमें 'वा शारि' (पा० सू० ८।३।३६) के नियमानुसार एक पक्षमें विसर्गका विसर्ग ही रह गया है; पक्षान्तरमें 'विसर्ग' की जगह 'स्' होकर 'श्वशुरः' के शकारका योग मिलनेसे श्चुत्वेन 'स्' की जगह 'श्' हो गया है। 'स्वरः' के साथ विसर्गका सकार उसी रूपमें दृष्टिगोचर होता है। १२. 'कः+फलेत्'—इस जगह ᳲफ प्राप्त था; परंतु वह वैकल्पिक है, अतः पक्षान्तरके अनुसार विसर्गके स्थानमें विसर्ग ही रह गया है। १३. यहाँ भी वही बात है। विसर्गकी जगह 'स्' या 'श्' नहीं हुआ है। १४. 'कस् अत्र योधः।' यह पदच्छेद है। यहाँ 'कस्' के सकारकी जगह 'रु' तथा 'रु' के स्थानमें 'उ' हुआ है; फिर गुण और पूर्वरूप होकर 'कोऽत्र योधः' बना है। रोरुत्वविधानका नियम यह है—अप्लुत 'अ' से परे 'रु' हो तो उसकी जगह 'उ' होता है, अप्लुत अकार परे विद्यमान हो तब। १५. कस् उत्तमः—इस अवस्थामें 'स्' के स्थानमें 'रु' हुआ। फिर 'रोर्यत्वविधान' के अनुसार 'रु'के स्थानमें 'य' हो गया। फिर य-लोपविधानसे 'य्' का लोप हो गया। 'लोपः शाकल्यस्य।' (८।३।१९)—इस पा० सूत्रके अनुसार यहाँ 'य्' लोप हुआ है, अतः 'क उत्तमः' प्रयोग सिद्ध हुआ है। १६. 'देवास्+एते'—

भो इह[१७]। स्वदेवा यान्ति[१८]। भगो व्रज[१९]। सु पू:[२०]। सुदूरात्रिरत्र[२१]। वायुर्याति[२२]। पुनर्नहि[२३]। पुना[२४] राति। स यातीह[२५]। सैष[२६] याति। क ईश्वर:। ज्योतीरूपम्[२७]। तवच्छत्रम्[२८]। म्लेच्छ[२९] धी:। छिद्रमांच्छिदत्॥ १०—१३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'संधिसिद्धरूपकथन' नामक तीन सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५०॥

तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय

सुबन्त-सिद्ध रूप

स्कन्द कहते हैं—कात्यायन! अब मैं तुम्हारे सम्मुख विभक्ति-सिद्ध रूपोंका वर्णन करता हूँ। विभक्तियाँ दो हैं—'**सुप्**' और '**तिङ्**'। '**सुप्**' विभक्तियाँ सात हैं। '**सु औ जस्**'—यह प्रथमा विभक्ति है। '**अम् औट् शस्**'—यह द्वितीया, '**टा भ्याम् भिस्**'—यह तृतीया, '**ङे भ्याम् भ्यस्**'—यह चतुर्थी, '**ङसि भ्याम् भ्यस्**'—यह पञ्चमी, '**ङस् ओस् आम्**'—यह षष्ठी तथा '**ङि ओस् सुप्**'—यह सप्तमी विभक्ति है। ये सातों विभक्तियाँ प्रातिपदिक संज्ञावाले शब्दोंसे परे प्रयुक्त होती हैं॥ १—३॥

'प्रातिपदिक' दो प्रकारका होता है—'अजन्त' और 'हलन्त'। इनमेंसे प्रत्येक पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गके भेदसे तीन-तीन प्रकारका है। उन पुँल्लिङ्ग आदि शब्दोंके नायकोंका* यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है। जो शब्द नहीं कहे गये हैं(किंतु जिनके रूप इन्हींके समान होते हैं) उन्हींके ये 'वृक्ष' आदि शब्द सामर्थ्यत: नायक हैं। 'वृक्ष' शब्द पेड़का वाचक है। यह अकारान्त पुँल्लिङ्ग है। इसके सात विभक्तियोंमें तथा सम्बोधनमें एकवचन, द्विवचन और बहुवचनके भेदसे कुल मिलाकर चौबीस रूप होते हैं। उन सबको यहाँ उद्धृत किया जाता है। **१—वृक्ष:, वृक्षौ, वृक्षा:। २—वृक्षम्, वृक्षौ, वृक्षान्। ३—वृक्षेण, वृक्षाभ्याम्, वृक्षै:। ४—वृक्षाय, वृक्षाभ्याम्, वृक्षेभ्य:। ५—वृक्षात्, वृक्षाभ्याम्, वृक्षेभ्य:। ६—वृक्षस्य, वृक्षयो:, वृक्षाणाम्। ७—वृक्षे, वृक्षयो:, वृक्षेषु।** सम्बोधने—**हे वृक्ष, हे वृक्षौ, हे वृक्षा:।** इसी

इस पदच्छेदमें 'स्' की जगह 'रु' और 'रु'की जगह 'य्' हो गया। फिर पूर्ववत् 'य' लोप होनेसे 'देवा एते'—ऐसा प्रयोग सिद्ध हुआ। १७-१८-१९. 'भोस् इह', 'भगोस् व्रज' तथा 'अघोस् याहि', 'स्वदेवास् यान्ति'—इन वाक्योंमें 'स्' की जगह रुत्व-यत्व हुआ। फिर पहलेमें तो 'लोप: शाकल्यस्य।'—इस सूत्रसे और अन्य उदाहरणोंमें 'हलि सर्वेषाम्।' (पा० सू० ८।३।२२)—इस सूत्रसे 'य' लोप होनेपर निर्दिष्ट रूप बनते हैं। २०. 'सुपू:' यहाँ 'सुपूर्'—इस अवस्थामें 'रकार'के स्थानमें 'विसर्ग' हुआ है। २१. 'सुदुर्+रात्रिरत्र=सुदूरात्रिरत्र।' यहाँ 'रोरि' से 'र्' लोप होकर पूर्वस्वरको दीर्घत्व प्राप्त हुआ है। २२. इस उदाहरणमें 'वायुस्+याति'—ऐसा पदच्छेद है। यहाँ 'स्' के स्थानमें 'रु', उकारकी इत्संज्ञा और रेफका यकारसे मिलन हुआ है। २३. इस उदाहरणमें यह दिखाया गया है कि यहाँ 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:।' (पा० सू० ८।३।१५) से रकारका विसर्ग नहीं हो सकता; क्योंकि न रेफ अवसानमें है और न उससे परे 'खर्' प्रत्याहारका ही कोई अक्षर है। २४. 'पुनर्+राति'—इस अवस्थामें 'रो रि।' (पा० सू० ८।३।१४) से रकारका लोप हुआ और पूर्व 'अण्' को दीर्घत्व प्राप्त हुआ है। २५. 'सस् याति इह'—इस अवस्थामें 'एतत्तदो: सुलोपो।'—इस (पा० सूत्र ६।१।१३२) के अनुसार 'तत्'-शब्दसम्बन्धी 'सु' विभक्तिसे सकारका लोप हो गया है। २६. 'सस् एषस् याति', 'क ईश्वर:'—इस अवस्थामें 'सस्'के सकारका लोप श्लोकके पादपूर्तिके लिये हुआ है, 'एषस्'—के सकारका लोप पूर्ववत् हुआ है। २७. 'ज्योतिर्+रूपम्'—यहाँ रलोप और दीर्घ हुआ है। २८. 'तव + छत्रम्।' यहाँ 'छे च।'—इस (पा० सू० ६।१।७३) सूत्रसे तुगागम हुआ है, फिर 'त' का श्चुत्वेन 'च' हो गया है। (यह व्यञ्जनसंधिका उदाहरण है।) २९. यहाँ भी 'दीर्घात्', 'पदान्ताद्वा' (पा०सू० ६।१।७५-७६) से तुगागम हुआ है। शेष पूर्ववत् (यहाँ भी व्यञ्जनसंधि ही है)।

* अकारान्तसे लेकर औकारान्ततक जितने शब्द हैं, सब 'अजन्त' हैं। ऐसे शब्द असंख्य हैं, उन सबका उल्लेख असम्भव है। अत: कुछ शब्द यहाँ नमूनेके तौरपर दिये गये हैं, उन्हींके समान अन्य शब्दोंके रूप भी होंगे। इन नमूनेके तौरपर दिये गये शब्दोंको ही यहाँ 'नायक' कहा गया है।

प्रकार राम, देव, इन्द्र, वरुण, भव आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। 'देव' आदि शब्दोंके तृतीयाके एकवचनमें 'देवेन' तथा षष्ठीके बहुवचनमें 'देवानाम्' इत्यादि रूप होते हैं। वहाँ 'न' के स्थानमें 'ण' नहीं होता। रेफ और षकारके बाद जो 'न' हो, उसीके स्थानमें 'ण' होता है। अकारान्त शब्दोंमें जो सर्वनाम हैं, उनके रूपोंमें कुछ भिन्नता होती है। उस भिन्नताका परिचय देनेके लिये सर्वनामका 'प्रथम' या 'नायक' जो 'सर्व' शब्द है, उसके रूप यहाँ दिये जाते हैं; उसी तरह अन्य सर्वनामोंके भी रूप होंगे। यथा—१—**सर्वः सर्वौ सर्वे**। २—**सर्वम् सर्वौ सर्वान्**। ३—**सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः**। ४—**सर्वस्मै सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः**। ५—**सर्वस्मात् सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः**। ६—**सर्वस्य सर्वयोः सर्वेषाम्**। ७—**सर्वस्मिन् सर्वयोः सर्वेषु**। सम्बोधनमें—**हे सर्व हे सर्वौ हे सर्वे**।* यहाँ रेखाङ्कित रूपोंपर दृष्टिपात कीजिये। साधारण अकारान्त शब्दोंकी अपेक्षा सर्वनाम शब्दोंके रूपोंमें भिन्नताके पाँच ही स्थल हैं। इसके बाद 'पूर्व' शब्द आता है। यह सर्वनाम होनेपर भी अन्य सर्वनामोंसे कुछ विलक्षण रूप रखता है। पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—ये व्यवस्था और असंज्ञामें सर्वनाम हैं। 'स्व' तथा 'अन्तर' शब्द भी अर्थ-विशेषमें ही सर्वनाम हैं। अतः उससे भिन्न अर्थमें वे असर्वनामवत् रूप धारण करते हैं। प्रथमाके बहुवचनमें तथा पञ्चमी-सप्तमीके एकवचनमें पूर्वादि शब्दोंके रूप सर्वनामवत् होते हैं, किंतु विकल्पसे। अतः पक्षान्तरमें उनके असर्वनामवत् रूप भी होते ही हैं—जैसे **पूर्वे पूर्वाः, परे पराः**, इत्यादि। **पूर्वस्मात् पूर्वात्। पूर्वस्मिन् पूर्वे** इत्यादि। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय—ये शब्द सर्वनाम नहीं हैं, तथापि 'प्रथम' शब्दके प्रथमा बहुवचनमें—**प्रथमे प्रथमाः**—यह रूप होता है। 'चरम' आदि शब्दोंके लिये भी यही बात है। 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' शब्द चतुर्थी, पञ्चमी तथा सप्तमीके एकवचनमें विकल्पसे सर्वनामवत् रूप धारण करते हैं। यथा—**द्वितीयस्मै द्वितीयाय। तृतीयस्मै तृतीयाय**—इत्यादि शेष रूप वृक्षवत् होते हैं।

अब आकारान्त शब्दका एक रूप उपस्थित करते हैं—**खड्गपाः—खड्गं पातीति खड्गपाः** अर्थात् 'खड्ग-रक्षक'। इसका रूप यों समझना चाहिये—१—**खड्गपाः, खड्गपौ, खड्गपाः**। २—**खड्गपाम्, खड्गपौ, खड्गपः**। ३—**खड्गपा, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभिः**। ४—**खड्गपे, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभ्यः**। ५—**खड्गपः, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभ्यः**। ६—**खड्गपः, खड्गपोः, खड्गपाम्**। ७—**खड्गपि, खड्गपोः, खड्गपासु**। सम्बो०—**हे खड्गपाः, हे खड्गपौ, हे खड्गपाः**। इसी तरह **विश्वपा** (विश्वपालक), **गोपा** (गोरक्षक), **कीलालपा** (जल पीनेवाला), **शङ्खध्मा** (शङ्ख बजानेवाला) आदि शब्दोंके रूप होंगे। (अब ह्रस्व इकारान्त 'वह्नि' शब्दका रूप प्रस्तुत करते हैं—) १—**वह्निः, वह्नी, वह्नयः**। २—**वह्निम्, वह्नी, वह्नीन्**। ३—**वह्निना, वह्निभ्याम्, वह्निभिः**। ४—**वह्नये, वह्निभ्याम्, वह्निभ्यः**। ५—**वह्नेः, वह्निभ्याम्, वह्निभ्यः**। ६—**वह्नेः, वह्न्योः, वह्नीनाम्**। ७—**वह्नौ, वह्न्योः, वह्निषु**। सम्बो०—**हे वह्ने, हे वह्नी, हे वह्नयः**। 'वह्नि'का अर्थ है अग्नि। इसी तरह अग्नि, रवि, कवि, गिरि, पवि इत्यादि शब्दोंके रूप होंगे। इकारान्त शब्दोंमें 'सखि' और 'पति' शब्दोंके रूप कुछ भिन्नता रखते हैं। जैसे—१—**सखा, सखायौ, सखायः**। २—**सखायम्, सखायौ, सखीन्**। तृतीयाके

* यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि किसीका नाम 'सर्व' रख दिया जाय तो उस 'सर्व' का रूप वृक्षकी तरह ही होगा। 'सब' इस अर्थमें प्रयुक्त 'सर्व' शब्दका ही रूप ऊपर बताये अनुसार होगा। यही बात अन्य सर्वनामोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। संज्ञा एवं उपसर्जनीभूत 'सर्व' आदि शब्दोंकी सर्वनामोंमें गणना नहीं होती। 'अतिसर्व' आदि शब्दोंमें जो 'सर्व' शब्द है; वह उपसर्जन है।

एकवचनमें—**सख्या**, चतुर्थीके एकवचनमें **सख्ये**, पञ्चमी और षष्ठीके एकवचनमें **सख्युः** तथा सप्तमीके एकवचनमें **सख्यौ** रूप होते हैं। शेष सभी रूप '**वह्नि**' शब्दके समान हैं। '**पति**' शब्दके प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें **वह्निवत्** रूप होते हैं, शेष विभक्तियोंमें वह 'सखि' शब्दके समान रूप रखता है। '**अहर्पतिः**' का अर्थ है सूर्य। यहाँ 'पति' शब्द समासमें आबद्ध है। समासमें उसका रूप वह्नितुल्य ही होता है।

(अब उकारान्त शब्दका रूप प्रस्तुत करते हैं।) पहले पुँल्लिङ्ग '**पटु**' शब्दके रूप दिये जाते हैं। पटुका अर्थ है—कुशल—निपुण। **१—पटुः, पटू, पटवः। २—पटुम्, पटू, पटून्। ३—पटुना, पटुभ्याम्, पटुभिः। ४—पटवे, पटुभ्याम्, पटुभ्यः। ५—पटोः, पटुभ्याम्, पटुभ्यः। ६—पटोः, पट्वोः, पटूनाम्। ७—पटौ, पट्वोः, पटुषु**। सम्बो०—**हे पटो, हे पटू, हे पटवः**। इसी तरह भानु, शम्भु विष्णु आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। दीर्घ ईकारान्त '**ग्रामणी**' शब्द है। इसका अर्थ है—गाँवका मुखिया। इसका रूप इस प्रकार है—**१—ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। २—ग्रामणीम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। ३—ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः। ४—ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम् २, ग्रामणीभ्यः२। ५—ग्रामण्यः२। ६—ग्रामण्योः २**। बहुवचन—**ग्रामण्याम्। ७—ग्रामण्याम्, ग्रामणीषु**। इसी तरह '**प्रधी**' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। दीर्घ ऊकारान्त '**दृन्भू**' शब्द है। इसका अर्थ है—राजा, वज्र, सूर्य, सर्प और चक्र। इसका रूप—**दृन्भूः, दृन्भ्वौ, दृन्भ्वः** इत्यादि। '**खलपूः**'—खलिहान या भूमिको शुद्ध—स्वच्छ करनेवाला। इसके रूप **खलपूः, खलप्वौ, खलप्वः** इत्यादि। '**मित्रभूः**'—मित्रसे उत्पन्न। इसका रूप है—**मित्रभूः, मित्रभुवौ, मित्रभुवः** इत्यादि। '**स्वभू**' का अर्थ है—**स्वयम्भूः**—स्वतः प्रकट होनेवाला। इसके रूप—**स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः** इत्यादि हैं॥ ४—६॥

'**सुश्रीः**'का अर्थ है—सुन्दर शोभासे सम्पन्न। इसके रूप हैं—**सुश्रीः, सुश्रियौ, सुश्रियः** इत्यादि। '**सुधीः**' का अर्थ है—उत्तम बुद्धिसे युक्त विद्वान्। इसके रूप हैं—**सुधीः, सुधियौ, सुधियः** इत्यादि। (अब ऋकारान्त पुँल्लिङ्ग '**पितृ**' तथा '**भ्रातृ**' शब्दोंके रूप दिये जाते हैं—'**पिता**' का अर्थ है—बाप और '**भ्राता**' का अर्थ है—भाई। '**पितृ**' शब्दके सब रूप इस प्रकार हैं—**१—पिता, पितरौ, पितरः। २—पितरम्, पितरौ, पितॄन्। ३—पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ४—पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ५—पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ६—पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्। ७—पितरि, पित्रोः, पितृषु**। सम्बो०—**हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः**। इसी तरह '**भ्रातृ**' और '**जामातृ**' शब्दोंके भी रूप होते हैं। '**नृ**' शब्द नरका वाचक है। इसके रूप **ना, नरौ, नरः** इत्यादि '**पितृ**' शब्दवत् होते हैं। केवल षष्ठीके बहुवचनमें दो रूप होते हैं—**नृणाम् नॄणाम्**। '**कर्तृ**' शब्दका अर्थ है करनेवाला। यह '**तृजन्त**' शब्द है। इसके दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार हैं—**कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तॄन्**। शेष '**पितृ**' शब्दकी भाँति। '**क्रोष्टु**' शब्द सियारका वाचक है। क्रोष्टु विकल्पसे '**क्रोष्टृ**' शब्दके रूपमें प्रयुक्त होता है। उस दशामें इसका रूप 'कर्तृ' शब्दकी भाँति होता है। '**क्रोष्टु**'के रूपमें ही यदि इसके रूप लिये जायँ तो '**पटु**' शब्दकी तरह लेने चाहिये। '**नप्तृ**' शब्द नातीका वाचक है। इसके रूप '**कर्तृ**' शब्दकी भाँति होते हैं। '**सुरै**' शब्दका अर्थ उत्तम धनवान् है। '**रै**' शब्दका अर्थ है—धन। ये ऐकारान्त पुँल्लिङ्ग हैं। इन दोनोंके रूप एक-से होते हैं—**१—सुराः, सुरायौ, सुरायः। २—सुरायम्, सुरायौ, सुरायः। ३—सुराया,**

सुराभ्याम्, सुराभिः इत्यादि। 'रै'—राः, रायौ, रायः इत्यादि। हलादि विभक्तियोंमें 'रै' की जगह 'रा' हो जाता है। ओकारान्त 'गो' शब्दपर विचार कीजिये। 'गो' का अर्थ है—बैल। इसके रूप—गौः, गावौ, गावः। गाम्, गावौ, गाः इत्यादि हैं। औकारान्त पुँल्लिङ्ग—'द्यौ' का अर्थ है—आकाश और 'ग्लौ' का अर्थ है—चन्द्रमा। इनके रूप—द्यौः, द्यावौ, द्यावः इत्यादि। ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः इत्यादि हैं। ये पुँल्लिङ्गमें 'स्वरान्त नायक' शब्द बताये गये॥ ७॥

(अब हलन्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंका परिचय कराया जाता है—)

सुवाक् (श्रेष्ठ वक्ता), सुत्वक् (सुन्दर त्वचावाला), पृषत् (जलबिन्दु), सम्राट् (चक्रवर्ती नरेश), जन्मभाक् (जन्म ग्रहण करनेवाला), सुराट् (श्रेष्ठ राजा), अयम् (यह), मरुत् (वायु), भवन् (होता हुआ), दीव्यन् (क्रीडा करता हुआ), भवान् (आप), मघवान् (इन्द्र), पिबन् (पीता हुआ), भगवान् (समग्र ऐश्वर्यसे सम्पन्न), अघवान् (पापयुक्त), अर्वा (अश्व), वह्निमान् (अग्नियुक्त), सर्ववित् (सर्वज्ञ), सुपृत् (भलीभाँति पालन करनेवाला), सुसीमा (उत्तम सीमावाला), कुण्डी (कुण्डधारी शिव), राजा, श्वा (कुत्ता), युवा (तरुण), मघवा (इन्द्र), पूषा (सूर्य), सुकर्मा (उत्तम कर्म करनेवाला), यज्वा (यज्ञकर्ता), सुवर्मा (उत्तम कवचधारी), सुधर्मा (उत्तम धर्मवाला), अर्यमा (सूर्य), वृत्रहा (इन्द्र), पन्थाः (मार्ग), सुककुप् (स्वच्छ दिशावाला समय), अष्ट (आठ), पञ्च (पाँच), प्रशान् (पूर्णतः शान्त), सुत्वा, 'प्राङ् प्राञ्चौ प्राञ्चः' तथा प्रत्यङ् इत्यादि। सुद्यौः (शोभन आकाशवाला काल), सुभ्राट् (विशेष शोभाशाली), सुपूः (सुन्दर नगरीवाला देश), चन्द्रमा, सुवचाः, श्रेयान्, विद्वान्, उशना (शुक्राचार्य), पेचिवान् (पूर्वकालमें जिसने पाचन किया हो), अनड्वान्—गाड़ी खींचनेवाला बैल, गोधुक् (गायको दुहनेवाला), मित्रध्रुक् (मित्रद्रोही), मुक् (विवेकशून्य), तथा लिट् (चाटनेवाला),—ये सभी हलन्त पुँल्लिङ्गके 'नायक' (आदर्श या प्रमुख शब्द) हैं*॥ ८—११ $\frac{1}{2}$ ॥

* 'सुवाक्' यह 'सुवाच्' शब्दका प्रथम विभक्तिमें एकवचनान्तरूप है। जिज्ञासुओंकी सुविधाके लिये इन शब्दोंके कतिपय रूप यहाँ उदाहरणके तौरपर दिये जाते हैं—१. 'सुवाक्', सुवाग्, सुवाचौ, सुवाचः।' २. सुवाचम्, सुवाचौ, सुवाचः। ३. सुवाचा, सुवाग्भ्याम्, सुवाग्भिः इत्यादि। सप्तमीके बहुवचनमें 'सुवाक्षु' यह रूप होता है। इसी तरह 'त्वच्' शब्दके—त्वक्, त्वचौ, त्वचः इत्यादि, 'पृषत्' शब्दके—पृषत्, पृषतौ, पृषतः इत्यादि, 'सम्राज्' शब्दके—सम्राट् सम्राड्, सम्राजौ, सम्राजः इत्यादि, 'जन्मभाज्' शब्दके—'जन्मभाक्, जन्मभाग्, जन्मभाजौ, जन्मभाजः, इत्यादि तथा 'सुराज्' शब्दके—सुराट्, सुराड्, सुराजौ, सुराजः इत्यादि रूप होते हैं। 'अयम्'—यह 'इदम्' शब्दका प्रथमविभक्तीय एकवचनान्त रूप है। व्यवहारमें इसके रूपोंकी अधिक आवश्यकता रहती है। इसलिये इसके पूरे रूप यहाँ दिये जाते हैं—

१. अयम्, इमौ, इमे। २. इमम्, इमौ, इमान्। (अन्वादेशमें) एनम्, एनौ, एनान्। ३. अनेन (अन्वादेशमें) एनेन, आभ्याम्, एभिः। ४. अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। ५. अस्मात् अस्माद्, आभ्याम्, एभ्यः। ६.अस्य, अनयोः (अन्वादेशमें) एनयोः, एषाम्। ७. अस्मिन्, अनयोः (एनयोः), एषु। त्यदादि गणके शब्दोंमें सम्बोधन नहीं होता।

'मरुत्' आदि शब्दोंके प्रथमान्त रूप क्रमसे इस प्रकार जानने चाहिये—मरुत्, मरुद्, मरुतौ, मरुतः। भवन्, भवन्तौ, भवन्तः। दीव्यन्, दीव्यन्तौ, दीव्यन्तः। भवान्, भवन्तौ, भवन्तः। मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। पिबन्, पिबन्तौ, पिबन्तः। भगवान्, भगवन्तौ, भगवन्तः। अघवान्, अघवन्तौ, अघवन्तः। अर्वा, अर्वन्तौ, अर्वन्तः। वह्निमान्, वह्निमन्तौ, वह्निमन्तः। सर्ववित् सर्वविद्, सर्वविदौ, सर्वविदः। सुपृत्, सुपृद्, सुपृतौ, सुपृतः। सुसीमा, सुसीमानौ, सुसीमानः। कुण्डी, कुण्डिनौ, कुण्डिनः। 'राजन्' आदि शब्दोंके तीन विभक्तियोंके रूप दिये जाते हैं। शेष रूप तदनुसार ही समझ लेने चाहिये। १. राजा, राजानौ, राजानः। २. राजानम्, राजानौ, राज्ञः। ३. राज्ञा, राजभ्याम्, राजभिः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें—राज्ञि, राजनि। १. श्वा, श्वानौ, श्वानः। २. श्वानम्, श्वानौ, शुनः। ३. शुना, श्वभ्याम्, श्वभिः। १. युवा, युवानौ, युवानः। २. युवानम्, युवानौ, यूनः। ३. यूना, युवभ्याम्, युवभिः। १. मघवा, मघवानौ, मघवानः। २. मघवानम्, मघवानौ, मघोनः।

अब स्त्रीलिङ्गमें नायकस्वरूप शब्दोंको उपस्थित किया जा रहा है—जाया (स्त्री), जरा (वृद्धावस्था), बाला (नूतन अवस्थाकी स्त्री), एडका (भेड़), वृद्धा (बूढ़ी), क्षत्रिया (क्षत्रिय जातिकी स्त्री), बहुराजा (जहाँ बहुतसे राजा निवास करते हों, वह नगरी), बहुदा (अधिक देनेवाली), मा (लक्ष्मी), अथवा बहुदामा (अधिक दाम—रज्जु या दीप्तिवाली), बालिका (लड़की), माया (भगवान्‌की शक्ति या प्रकृति), कौमुदगन्धा (कुमुदकी-सी सुगन्धवाली), सर्वा (सब), पूर्वा (पूर्व दिशा या पहली), अन्या (दूसरी), द्वितीया (दूसरी), तृतीया (तीसरी), बुद्धिः (मति), स्त्री (औरत), श्री (लक्ष्मी), नदी, सुधी (उत्तम बुद्धिवाली), भवन्ती (होती हुई), दीव्यन्ती (क्रीड़ा करती हुई), भाती, भान्ती (शोभमाना), यान्ती (जाती हुई), शृण्वती (सुनती हुई), तुदती, तुदन्ती (व्यथित करती हुई), कर्त्री (करनेवाली), कुर्वती (करती हुई), मही (पृथ्वी), रुन्धती (अवरोध करती हुई), क्रीडन्ती (खेलती हुई), दान्ती (दाँतकी बनी हुई वस्तु), पालयन्ती (पालती हुई), सुवाणी (उत्तम वाणी), गौरी (पार्वती), पुत्रवती (पुत्रवाली), नौः (नाव), वधूः (स्त्री), देवता, भूः (पृथ्वी), तिस्रः (तीन), द्वे (दो), कति, वर्षाभूः (वर्षाकालमें उत्पन्न होनेवाली मेढकी), स्वसा (बहिन), माता (माँ), अवरा (लघु), गौः (गाय), द्यौः (स्वर्ग), वाक् (वाणी), त्वक् (चमड़ा), प्राची (पूर्व दिशा), अवाची (दक्षिण दिशा), तिरश्ची (टेढ़ी या मादा पशु-पक्षी), उदीची (उत्तर दिशा), शरद् (ऋतुविशेष), विद्युत् (बिजली), सरित् (नदी), योषित् (स्त्री), अग्निवित् (अग्निको जाननेवाली), सस्यदा (अन्न देनेवाली) अथवा सम्पद् (सम्पत्ति), दृषत् (शिला), या (जो), एषा (यह), सा (वह), वेदवित् (वेदज्ञा), संविद् (ज्ञानशक्ति), बह्वी (बहुत), राज्ञी (रानी), त्वया, मया (युष्मद्-अस्मद् शब्दोंके तीनों लिङ्गोंमें समान रूप होते हैं, ये तृतीयाके एक वचनके रूप हैं)। सीमा (अवधि), पञ्च आदि (संख्यावाचक नान्त शब्द), राका (पूर्णिमा), धूः (बोझ), पूः (नगरी), दिशा (दिक्), गिरा (गीः), चतस्रः (चार), विदुषी (पण्डिता), का (कौन), इयम् (यह), दिक्

३. मघोना, मघवभ्याम्, मघवभिः। १. पूषा, पूषणौ, पूषणः। २. पूषणम्, पूषणौ, पूष्णः। ३. पूष्णा, पूषभ्याम्, पूषभिः। सप्तमीके एकवचनमें पूष्णि, पूषणि। १. सुकर्मा, सुकर्माणौ, सुकर्माणः। २. सुकर्माणम्, सुकर्माणौ, सुकर्मणः। ३. सुकर्मणा, सुकर्मभ्याम्, सुकर्मभिः। १. यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः। २. यज्वानम्, यज्वानौ, यज्वनः। ३. यज्वना, यज्वभ्याम्, यज्वभिः। १. सुवर्मा, सुवर्माणौ, सुवर्माणः इत्यादि। शेषरूप 'यज्वन्' शब्दके समान हैं। सुधर्मा, सुधर्माणौ, सुधर्माणः इत्यादि। १. अर्यमा, अर्यमणौ, अर्यमणः। २. अर्यमणम्, अर्यमणौ, अर्यम्णः। ३. अर्यम्णा, अर्यमभ्याम्, अर्यमभिः इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें—अर्यम्णि, अर्यमणि। १. वृत्रहा, वृत्रहणौ, वृत्रहणः। २. वृत्रहणम्, वृत्रहणौ, वृत्रघ्नः। ३. वृत्रघ्ना, वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः इत्यादि। १. पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः। २. पन्थानम्, पन्थानौ, पथः। ३. पथा, पथिभ्याम्, पथिभिः। १. सुककुप्, सुककुब्, सुककुभौ, सुककुभः, इत्यादि। १-२. अष्ट, अष्टौ, ३. अष्टाभिः, अष्टभिः इत्यादि। १-२. पञ्च, पञ्च। ३. 'पञ्चभिः' इत्यादि। 'अष्टन्', 'पञ्चन्' आदि शब्द नित्य बहुवचनान्त हैं। प्रशान्, प्रशामौ, प्रशामः। प्रशान्भ्याम् इत्यादि। सुत्वा, सुत्वानौ, सुत्वानः, इत्यादि। प्राङ् प्राञ्चौ, प्राञ्चः इत्यादि। सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः, इत्यादि। सुभ्राट्, सुभ्राड्, सुभ्राजौ, सुभ्राजः इत्यादि। सुपूः, सुपुरौ, सुपुरः, इत्यादि। चन्द्रमाः, चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः, इत्यादि। सुवचाः, सुवचसौ, सुवचसः, इत्यादि। १. श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः। २. श्रेयांसम्, श्रेयांसौ, श्रेयसः। ३. श्रेयसा, श्रेयोभ्याम्, इत्यादि। १. विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः। २. विद्वांसम्, विद्वांसौ, विदुषः। ३. विदुषा, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः, इत्यादि। पेचिवान्, पेचिवांसौ, पेचिवांसः, इत्यादि। अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः। २. अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः। अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः, इत्यादि। गोधुक्, गोधुग्, गोदुहौ, गोदुहः, इत्यादि। मित्रध्रुक्, मित्रध्रुग्, मित्रध्रुट् मित्रध्रुड्। मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुड्भ्याम् इत्यादि। मुक्, मुग्, मुट्, मुड्, मुडौ, मुडः, इत्यादि। लिट्, लिड्, लिहौ, लिहः इत्यादि।

(दिशा), दृक् (नेत्र), तादृक् (तादृशी) तथा 'असौ'—ये स्त्रीलिङ्गके नायक शब्द हैं*। अब नपुंसकलिङ्गके नायक शब्द बताये जा रहे हैं॥ १२—१९॥

(सर्वप्रथम स्वरान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दोंके प्रारम्भिक सिद्ध रूप दिये जाते हैं—)'कुण्डम्'—यह अकारान्त नपुंसकलिङ्ग'कुण्ड' शब्दका प्रथमान्त एकवचनरूप है। इसके प्रथम दो विभक्तियोंमें क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचनके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**कुण्डम्, कुण्डे, कुण्डानि।** तृतीया आदि शेष विभक्तियोंके रूप पुँल्लिङ्गवत् जानने चाहिये। यथा—**कुण्डेन, कुण्डाभ्याम्, कुण्डैः** इत्यादि। सम्बोधनमें—**हे कुण्ड, हे कुण्डे, हे कुण्डानि। 'कुण्डम्'** का अर्थ है—पानीसे भरा हुआ गहरा गड्ढा। यह नदी और तालाब आदिमें होता है। मिट्टीके बड़े और गहरे पात्रविशेषको

* स्त्रीलिङ्गमें नामतः निर्दिष्ट 'नायक' शब्दोंके रूपोंका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है। 'जाया' शब्दका पूरा रूप इस प्रकार है—१. जाया जाये जायाः। २. जायाम् जाये जायाः। ३. जायया जायाभ्याम् जायाभिः। ४. जायायै जायाभ्याम् जायाभ्यः। ५. जायायाः जायाभ्याम् जायाभ्यः। ६. जायायाः जाययोः जायानाम्। ७. जायायाम् जाययोः जायासु। सम्बोधनमें—हे जाये हे जाये हे जायाः। 'जरा' शब्दका, स्वादि विभक्तियाँ परे हों तो 'जरस्' आदेश होता है। यह आदेश वैकल्पिक है। अतः 'जरा' का एक रूप तो 'जाया' की तरह ही होगा। औ, जस्, अम्, शस्, टा, ङे आदि विभक्तियोंमें क्रमशः—जरसौ, जरसः, जरसम्, जरसः, जरसा, जरसे इत्यादि वैकल्पिक रूप भी होंगे। बाला, एडका, वृद्धा आदिसे लेकर कौमुदगन्धातकके सभी शब्दोंका रूप जायावत् होगा। 'सर्वा' शब्दका रूप—सर्वा सर्वे सर्वाः। सर्वाम् सर्वे सर्वाः। सर्वया सर्वाभ्याम् सर्वाभिः। ङिद्-विभक्तियोंमें सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम् रूप होंगे। 'आम्' विभक्तिमें सर्वासाम्। शेष सब जगह जायावत् रूप चलेंगे। 'पूर्वा' और 'अन्या' शब्दोंके रूप 'सर्वा' की तरह होंगे। द्वितीया-तृतीया शब्द ङिद्-विभक्तियोंमें विकल्पसे सर्वनामवत् रूप धारण करते हैं। जैसे 'ङे' विभक्तिमें 'द्वितीयायै', 'द्वितीयस्यै'। इसी प्रकार अन्य पञ्चमी आदिके एकवचनमें भी। 'बुद्धि' शब्दके रूप—'बुद्धिः, बुद्धीः, बुद्धयः। बुद्धिम्, बुद्धी, बुद्धीः। बुद्ध्या, बुद्धिभ्याम्, बुद्धिभिः। बुद्ध्यै इत्यादि। 'ङि'विभक्तिमें बुद्ध्याम्, बुद्धौ। इसी तरह 'मति' शब्दके भी रूप हैं। 'स्त्री' शब्दकी 'ई'को अजादि विभक्तियोंमें 'इयङ्' आदेश होता है। यथा स्त्रियौ, स्त्रियः इत्यादि। अम्-शस्में विकल्प है—स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः स्त्रीः। 'सु' विभक्तिमें 'स्त्री' रूप होता है। 'सु'का लोप हो जाता है। 'श्री' शब्दका रूप—श्रीः श्रियौ श्रियः इत्यादि। 'नदी' शब्दका रूप—नदी नद्यौ नद्यः। नदीम्, नद्यौ, नदीः। नद्या नदीभ्याम् नदीभिः। नद्यै नदीभ्यां नदीभ्यः। नद्याः, नदीभ्याम्, नदीभ्यः। नद्याः नद्योः नदीनाम्। नद्याम्, नद्योः नदीषु। हे नदि हे नद्यौ हे नद्यः। 'सुधी'का रूप सुधीः सुधियौ सुधियः इत्यादि। 'भवन्ती'का रूप नदीवत्। यहाँसे लेकर 'पुत्रवती' शब्दतकके रूप नदीवत् ही होंगे। 'नौ' शब्दका रूप—नौः नावौ नावः इत्यादि। वधू—वधूः वध्वौ वध्वः इत्यादि। 'देवता' का रूप जायावत्। 'भू'—भूः भुवौ भुवः इत्यादि। तिसृ—१. तिस्रः। २. तिस्रः। ३. तिसृभिः। ४-५. तिसृभ्यः। ६. तिसृणाम्। ७. तिसृषु। इसी प्रकार 'चतसृ'के रूप जानने चाहिये। 'द्वि' शब्दके स्त्रीलिङ्गमें—द्वे, द्वे, द्वाभ्याम्३, द्वयोः२ रूप होते हैं। 'कति'—कति, कति, कतिभिः इत्यादि। 'वर्षाभू'—वर्षाभूः, वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः इत्यादि। स्वसा स्वसारौ स्वसारः इत्यादि। माता मातरौ मातरः। मातरम्, मातॄः इत्यादि। 'अवरा'का रूप पूर्वावत्। 'गो'—गौः गावौ गावः। गाम् गावौ गाः। गवा गोभ्याम् गोभिः। इत्यादि। द्यौः द्यावौ द्यावः इत्यादि। वाक् वाग्, वाचौ वाचः इत्यादि। त्वक्—'वाक्'के समान। 'प्राची'से लेकर 'उदीची' तकके रूप—नदीवत्। शरत्—शरत् शरद् शरदौ शरदः इत्यादि। विद्युत्—विद्युत् विद्युद् विद्युतौ विद्युतः इत्यादि। सरित्-सरित् सरिद् सरितौ सरितः इत्यादि। 'अग्निवित्' शरत्के समान। 'सस्यदा' जायावत्। 'सम्पत्' शरत्के समान। 'दृषत्' शरत्के समान। या ये याः, याम् ये याः। यया याभ्याम् इत्यादि। यस्याः यासाम्, यस्याम् इत्यादि। एषा एते एताः इत्यादि। सा ते ताः इत्यादि। 'वेदविद्' शरत्के समान। 'संवित्' भी शरत्के समान। 'बह्वी', 'राज्ञी'—नदीके समान। त्वम् युवाम् यूयम्। त्वां युवाम् युष्मान्। त्वया युवाभ्याम् युष्माभिः। तुभ्यम् युवाभ्याम् युष्मभ्यम्। त्वत् युवाभ्याम् युष्मत्। तव युवयोः युष्माकम्। त्वयि युवयोः युष्मासु। इसी तरह 'अस्मद्' शब्दके अहं आवाम् वयम्। माम् आवाम् अस्मान्। मया आवाभ्याम् अस्माभिः। मह्यम्, मत्, मम, अस्माकम् मयि इत्यादि रूप हैं। 'सीमा' टाबन्त हो तो सीमा सीमे सीमाः। नान्त हो तो सीमा सीमानौ सीमानः इत्यादि। 'पञ्चन्' शब्द—पञ्च पञ्च पञ्चभिः इत्यादि। 'राका' जायावत्। धूः धुरौ धुरः इत्यादि। पूः पुरौ पुरः इत्यादि। 'दिशा'—जायावत्। 'दिश्' शब्दके—दिक्-दिग् दिशौ दिशः। इत्यादि रूप हैं। गीः गिरौ गिरः इत्यादि। 'विदुषी'—नदीवत्। 'किम्' शब्दके—का के काः इत्यादि रूप हैं। 'इदम्'—इयम् इमे इमाः इत्यादि। 'दृक्' शब्द 'दिक्'के समान। तादृग्, तादृक्, तादृशौ तादृशः इत्यादि। 'अदस्' असौ अमू अमूः। अमूम् अमू अमूः। अमुया इत्यादि।

भी 'कुण्ड' कहते हैं। इसीको ध्यानमें रखकर कुण्डभर दूध देनेवाली गायको '**कुण्डोघ्नी**' कहते हैं। '**सर्वम्**'—यह 'सर्व' शब्दका एकवचनान्त रूप है, इसका अर्थ है सम्पूर्ण या सब। इसके प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें नपुंसकलिङ्ग-सम्बन्धी रूप इस प्रकार होते हैं—**सर्वम् सर्वे सर्वाणि**। शेष पुँल्लिङ्गवत्। '**सोमपम्**'—सोम पान करनेवाला कुल (ब्राह्मणकुल या देवकुल)। इसके भी प्रथम दो विभक्तियोंमें **सोमपम् सोमपे सोमपानि** इत्यादि रूप होंगे। शेष पुँल्लिङ्ग रामवत्। '**दधि**' और '**वारि**' शब्द क्रमशः दही और जलके वाचक हैं। ये नित्य नपुंसकलिङ्ग हैं। अतः इनके सम्पूर्ण रूप यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। प्र०, द्वि० विभक्तियोंमें—**दधि दधिनी दधीनि**। तृ०—**दध्ना, दधिभ्याम्, दधिभिः**। च०—**दध्ने दधिभ्याम् दधिभ्यः**। पं०—**दध्नः दधिभ्याम् दधिभ्यः**। ष०—**दध्नः, दध्नोः, दध्नाम्**। स०—**दध्नि-दधनि, दध्नोः, दधिषु**। '**वारि**' शब्दके सातों विभक्तियोंके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—१,२—**वारि वारिणी वारीणि**। ३—**वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः**। ४—**वारिणे वारिभ्याम् वारिभ्यः**। ५—**वारिणः वारिभ्याम् वारिभ्यः**। ६—**वारिणः वारिणोः वारीणाम्**। ७—**वारिणि, वारिणोः, वारिषु**। '**खलपु**' का अर्थ है—खलिहानको स्वच्छ करनेवाला साधन, 'खुरपा' आदि। इसके रूप विशेष्यके अनुसार स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्गमें भी होते हैं। यहाँ नपुंसकलिङ्गमें इसके रूप उद्धृत किये जाते हैं। १,२—**खलपु खलपुनी खलपूनि**। ३—**खलप्वा, खलपुना खलपूभ्याम् खलपूभिः**। ४—**खलप्वे-खलपुने खलपूभ्याम् खलपूभ्यः** इत्यादि। '**मधु**' शब्द शहद और मदिराका वाचक है। इसके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—१,२—**मधु मधुनी मधूनि**। ३—**मधुना मधुभ्याम् मधुभिः**। ४—**मधुने मधुभ्याम् मधुभ्यः**। ५—**मधुनः मधुभ्याम् मधुभ्यः**। ६—**मधुनः मधुनोः मधूनाम्**। ७—**मधुनि मधुनोः मधुषु**। सं० **हे मधो, हे मधु हे मधुनी हे मधूनि!**। '**त्रपु**' शब्द राँगाका वाचक है। इसके प्रथम दो विभक्तियोंके रूप इस प्रकार हैं—**त्रपु, त्रपुणी, त्रपूणि**। शेष मधुवत्। '**कर्तृ**' (करनेवाला), '**भर्तृ**' (भरण-पोषण करनेवाला), '**अतिभर्तृ**' (भर्ताको भी अतिक्रमण करनेवाला कुल)—इन तीनों शब्दोंके प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें रूप क्रमशः इस प्रकार हैं—**कर्तृ कर्तृणी कर्तॄणि। भर्तृ भर्तृणी भर्तॄणि। अतिभर्तृ अतिभर्तृणी अतिभर्तॄणि**। तृतीया आदि विभक्तियोंमें जो अजादि प्रत्यय हैं, उनमें दो-दो रूप होंगे। यथा—**कर्त्रा, कर्तृणा। भर्त्रा, भर्तृणा। अतिभर्त्रा, अतिभर्तृणा** इत्यादि। '**पयस्**' शब्द जलका वाचक है। इसके रूप इस प्रकार हैं—१,२—**पयः पयसी पयांसि**। तृतीया आदिमें **पयसा पयोभ्याम् पयोभिः** इत्यादि। '**पुरस्**' शब्द सकरान्त अव्यय है। इसका अर्थ है—पहले या आगे। अव्यय शब्दोंका कोई रूप नहीं चलता; क्योंकि 'अव्यय'का यह लक्षण है— ॥ २० ॥

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

प्राक् (पूर्व), **प्रत्यक्** (अंदर या पश्चिम), **तिर्यक्** (तिरछी दिशाकी ओर चलनेवाले पशु-पक्षी आदि), **उदक्** (उत्तर)—इन शब्दोंके प्रथम दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार जानने

चाहिये। **प्राक् प्राची प्राञ्चि। प्रत्यक् प्रतीची प्रत्यञ्चि। तिर्यक् तिरश्ची तिर्यञ्चि। उदक् उदीची उदञ्चि** इत्यादि। ये गत्यर्थक 'अञ्च्'के रूप हैं, पूजा-अर्थमें प्रयुक्त 'अञ्च्'के—**प्राङ् प्राञ्ची प्राञ्चि। प्रत्यङ् प्रत्यञ्ची प्रत्यञ्चि। उदङ् उदञ्ची उदञ्चि। तिर्यङ् तिर्यञ्ची तिर्यञ्चि।** इत्यादि रूप होते हैं। **'जगत्'** शब्द संसारका वाचक है। इसके रूप हैं—**जगत् जगती जगन्ति** इत्यादि। **'जाग्रत्'** शब्दका अर्थ है—सजग रहनेवाला। इसके रूप हैं—**जाग्रत् जाग्रती जाग्रन्ति, जाग्रति** इत्यादि। **'शकृत्'** शब्द मल या विष्ठाका वाचक है। इसके रूप **शकृत्, शकृती, शकृन्ति, शकानि** इत्यादि। तृतीया आदिमें **शक्ना, शकृता** इत्यादि। जिस कुलमें बहुत अच्छी सम्पत्ति है, उसको **'सुसम्पत्'** कहते हैं। **सुसम्पत्**के प्रथम दो विभक्तियोंमें इस प्रकार रूप होते हैं—**सुसम्पत्, सुसम्पद्, सुसम्पदी, सुसम्पन्ति,** इत्यादि। सुन्दर दण्डियोंसे युक्त मन्दिर या आयतनको **'सुदण्डि'** कहते हैं। **'सुदण्डिन्'** शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**सुदण्डि सुदण्डिनी सुदण्डीनि।** शेष रूप पुँल्लिङ्गवत् होते हैं। **'इह'** शब्द अव्यय है। **'अहन्'** शब्द दिनका वाचक है। इसके प्रथम दो विभक्तियोंमें रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**अहः अहनी, अह्नी, अहानि। 'किम्'** प्रश्नवाचक सर्वनाम है। इसके रूप तीनों लिङ्गोंमें होते हैं। नपुंसकलिङ्गमें प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें **'किम् के कानि**—ये रूप होते हैं। शेष रूप **पुँल्लिङ्ग 'सर्व'** शब्दके समान हैं। **'इदम्'**का अर्थ है—यह। इसके नपुंसकलिङ्गमें—**इदम् इमे इमानि**—ये रूप होते हैं। तृतीया आदि विभक्तियोंमें पुँल्लिङ्गवत् रूप जानने चाहिये॥ २१॥

'ष्' शब्द संख्या छःका वाचक और बहुवचनान्त है। इसके तीनों लिङ्गोंमें समान रूप होते हैं। १,२—**षट्।** ३—**षड्भिः।** ४-५—**षड्भ्यः।** ६—**षण्णाम्।** ७—**षट्सु। 'सर्पिष्'** शब्द घीका वाचक है। इसके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**सर्पिः सर्पिषी सर्पींषि। सर्पिषा सर्पिर्भ्याम् सर्पिर्भिः** इत्यादि। **'श्रेयस्'** शब्द कल्याणका वाचक है। उसके रूप—**श्रेयः श्रेयसी श्रेयांसि** इत्यादि हैं। तृतीया आदिमें **'पयस्'** शब्दके समान इसके रूप जानने चाहिये। संख्या चारका वाचक **'चतुर्'** शब्द नित्य बहुवचनान्त है। नपुंसकलिङ्गमें इसके रूप इस प्रकार हैं—१,२—**चत्वारि।** ३—**चतुर्भिः।** ४, ५—**चतुर्भ्यः।** ६—**चतुर्णाम्।** ७—**चतुर्षु। 'अदस्'** शब्द 'यह', 'वह'का वाचक सर्वनाम है। नपुंसकमें प्रथम दो विभक्तियोंमें इसके रूप—**'अदः अमू अमूनि'** होते हैं। शेष रूप पुँल्लिङ्गवत् जानने चाहिये। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे शब्द हैं, उनके रूप भी इन पूर्वकथित शब्दोंके ही समान हैं। इन शब्दोंकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा कही गयी है। प्रातिपदिकसे परे प्रथमा आदि विभक्तियाँ होती हैं। जो धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्तसे रहित अर्थवान् शब्द है। उसीको 'प्रातिपदिक' कहते हैं। प्रातिपदिकसे प्रातिपदिकार्थ, लिङ्गमात्राधिक्य और वचनमात्रका बोध करानेके लिये प्रथमा* विभक्ति होती है॥ २२-२३॥

सम्बोधनमें तथा उक्त कर्म और कर्तामें भी

* जो लिङ्गरहित (अव्यय) और नियत लिङ्गवाले शब्द हैं, वे 'प्रातिपदिकार्थमात्र'के उदाहरण हैं। यथा—उच्चैः, नीचः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् इत्यादि। जो अनियत लिङ्गवाले शब्द हैं, वे 'लिङ्गमात्राधिक्य'के उदाहरण हैं। यथा—तटः, तटी, तटम् इत्यादि। 'वचन' कहते हैं—संख्याको। उसके उदाहरण—एकः, द्वौ, बहवः इत्यादि हैं।

प्रथमा[1] विभक्तिका प्रयोग होता है। जो किया जाता है, उसकी 'कर्म' संज्ञा है। कर्ममें द्वितीया[2] विभक्ति होती है। जिसकी सहायतासे कर्म किया जाता है, उसको 'करण' कहते हैं तथा जो कार्य करता है, उसे 'कर्ता' कहते हैं। तिङ्, कृत्, तद्धित प्रत्ययों और समाससे अनुक्त कर्तामें और करणमें भी तृतीया[3] विभक्ति होती है। किसी भी कारकके रहते हुए कर्तामें भी तृतीया होती है। यथा—'**व्रजं नेतव्या गावः कृष्णेन।**' [यहाँ '**कृत्यानां कर्तरि वा।**'—इस सूत्र (२।३।७१) के अभिप्रायका उपजीव्यभाव लक्षित होता है।] सम्प्रदानमें चतुर्थी[4] विभक्ति होती है। जिसको कुछ देनेकी इच्छा हो, उसे 'सम्प्रदान' कहा गया है। जिससे कोई पृथक् होता हो, जिससे कुछ लेता या ग्रहण करता हो तथा जिससे भयकी प्राप्ति होती हो, उसकी 'अपादान' संज्ञा होती है। अपादानमें पञ्चमी[5] विभक्ति होती है। जहाँ स्व-स्वामिभाव या जन्य-जनकभाव आदि सम्बन्धका बोध होता हो, वहाँ षष्ठी[6] विभक्तिका प्रयोग होता है। जो आधार हो, उसकी 'अधिकरण' संज्ञा होती है। 'अधिकरण'में सप्तमी[7] विभक्तिका प्रयोग होता है। जहाँ एकार्थ विवक्षित हो, वहाँ एकवचन और जहाँ द्वित्व विवक्षित हो, वहाँ द्विवचनका प्रयोग करना चाहिये। बहुत्वकी विवक्षा होनेपर बहुवचनका प्रयोग होता है। अब शब्दोंके सिद्ध रूप बताता हूँ—**वृक्षः, सूर्यः, अम्बुवाहः, अर्कः, हे रवे! हे द्विजातयः!**[8] ॥ २४—२९ ॥

विप्रौ (विप्र+प्र० द्वि०), **गजान्** (गज+द्वि० बहु०), **महेन्द्रेण** (महेन्द्र+तृ० एक०), **यमाभ्याम्** (यम+तृ० द्वि), **अनिलैः** (अनिल+तृ० बहु०), **कृतम्** (कृत नपुंसकलिङ्ग प्रथमा-एकवचन), **रामाय** (राम+च० एक०), **मुनिवर्याभ्याम्** (मुनिवर्य+च० द्वि०), **केभ्यः** (किम्+च० बहु०), **धर्मात्** (धर्म+पं० एक०), **हरौ** (हरि+सप्त० एक०), **रतिः** (रति+प्र० एक०), **शराभ्याम्** (शर+पञ्च० द्वि०), **पुस्तकेभ्यः** (पुस्तक+पञ्च० बहु०), **अर्थस्य** (अर्थ+षष्ठी एक०), **ईश्वरयोः** (ईश्वर+षष्ठी द्वि०), **गतिः** (गति+प्र० एक०), **बालानाम्** (बाल+षष्ठी बहु०), **सज्जने** (सज्जन+सप्त० एक०), **प्रीतिः** (प्रीति+प्र० एक०), **हंसयोः** (हंस+सप्त० द्वि०), **कमलेषु** (कमल+सप्त० बहु०), बालकोंकी सज्जनमें प्रीति होती है और हंसके जोड़ेकी कमलोंमें—यह इकतीसवें श्लोकके उत्तरार्धका वाक्यार्थ है[9] ॥ ३०-३१ ॥

इसी प्रकार 'काम', 'महेश' आदि शब्द

१. सम्बोधनमें प्रथमाका उदाहरण—'हे राम! हे रामौ!' इत्यादि। २. द्वितीयाका उदाहरण—हरिं भजति। ३. उदा०—रामेण बाणेन हतो वाली। यहाँ 'राम' शब्द 'तिङ्' प्रत्ययद्वारा अनुक्त कर्ता है। अतः उसमें तृतीया हुई है। 'बाण' करण है, इससे उसमें तृतीया हुई है। ४. उदा०—ब्राह्मणाय गां ददाति। ५. उदा०—ग्रामाद् अपैति, आयाति वा। शिष्यो गुरोर्विद्यामादत्ते गृह्णाति वा। चोराद् बिभेति। जो भयका हेतु हो, उसीमें पञ्चमी होती है। अतः 'अरण्ये बिभेति' इसमें पञ्चमी नहीं हुई; क्योंकि भयका हेतु 'अरण्य' नहीं, व्याघ्र आदि हैं। ६. उदा०—राज्ञः पुरुषः, देवदत्तस्य पुत्रः इत्यादि। ७. उदा०—'कटे आस्ते' इत्यादि।

८. एकार्थमें एकवचन 'रामः' इत्यादि। द्वित्वविवक्षामें 'रामौ' इत्यादि। बहुत्वविवक्षामें बहुवचन 'रामाः' इत्यादि। 'वृक्ष' शब्दका प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें 'वृक्षः'—यह रूप सिद्ध होता है। इसके शेष रूप 'राम' शब्दकी तरह जानने चाहिये। इसी तरह सूर्यः, अम्बुवाहः और अर्कः—इनको क्रमशः सूर्य, अम्बुवाह और अर्क शब्दका प्रथमान्त एकवचन रूप समझना चाहिये। 'वृक्ष' और 'सूर्य' शब्दका अर्थ सर्वविदित है। 'अम्बुवाह' और 'अर्क' शब्द—ये क्रमशः मेघ और सूर्यके वाचक हैं। हे रवे!—यह 'रवि' शब्दका सम्बोधनमें प्रथमान्त एकवचन रूप है। हे द्विजातयः!—यह 'द्विजाति' शब्दका सम्बोधनमें प्रथमान्त बहुवचनरूप है। 'रवि' शब्द सूर्यका एवं 'द्विजाति' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंका वाचक है।

९. इन दो श्लोकोंमें जो शब्द आये हैं, उनका पृथक्-पृथक् अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये। विप्रौ=दो ब्राह्मण। गजान्=हाथियोंको। महेन्द्रेण=महेन्द्रसे। यमाभ्याम्=दो यमोंसे। अनिलैः=हवाओंसे। कृतम्=किया गया। रामाय=रामके लिये। मुनिवर्य्याभ्याम्=दो मुनिवरोंके लिये। केभ्यः=किनके लिये। धर्मात्=धर्मसे। हरौ=हरिमें। रतिः=अनुराग। शराभ्याम्=दो बाणोंसे। पुस्तकेभ्यः=पुस्तकोंसे। अर्थस्य=अर्थका। ईश्वरयोः=दो ईश्वरोंकी। गतिः=प्राप्ति। बालानाम्=बालकोंकी। सज्जने=सत्पुरुषमें। प्रीतिः=प्रेम। हंसयोः=दो हंसोंकी। कमलेषु=कमलोंमें।

'वृक्ष' शब्दके समान जानने चाहिये। '**सर्वे**', '**विश्वे**'—इन दोनोंका अर्थ है—सब। ये प्रथमा विभक्तिके बहुवचनान्तरूप हैं। **सर्वस्मै, सर्वस्मात्**—ये 'सर्व' शब्दके क्रमशः चतुर्थी और पञ्चमी विभक्तिके एकवचनान्त रूप हैं। **कतरो मतः**= दोमेंसे कौन अभिमत है? यहाँ 'कतर' शब्दका प्रथमामें एकवचनान्त सिद्ध रूप दिया गया है। '**कतर**' शब्द सर्वनाम है और 'सर्व' शब्दकी भाँति उसका रूप चलता है। **सर्वेषाम्** (सर्व+षष्ठी० बहु०), **स्वं च** ('स्व' शब्द भी सर्वनाम है। अतः इसका रूप भी सर्ववत् समझना चाहिये।) **विश्वस्मिन्** (विश्व+सप्त० एक०)—इन शब्दोंके शेष रूप 'सर्व' शब्दके समान हैं। इसी प्रकार उभय, कतर, कतम और अन्यतर आदि शब्दोंके रूप होते हैं। **पूर्वे, पूर्वाः**—ये 'पूर्व' शब्दके प्रथमान्त बहुवचन रूप हैं। प्रथमान्त बहुवचनमें पूर्वादि शब्दोंको विकल्पसे सर्वनाम माना जाता है। सर्वनाम-पक्षमें '**पूर्वे**' और सर्वनामाभव-पक्षमें '**पूर्वाः**' रूपकी सिद्धि होती है। **पूर्वस्मै** (पूर्व+च० एक०), '**पूर्वस्मात् सुसमागतः**'—पूर्वसे आया। यहाँ 'पूर्व' शब्दका पञ्चमी विभक्तिमें एकवचनान्त रूप प्रयुक्त हुआ है। '**पूर्वे बुद्धिश्च पूर्वस्मिन्**'—पूर्वमें बुद्धि। यहाँ 'पूर्व' शब्दका सप्तमीके एक वचनमें रूपद्वय प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्व' आदि नौ शब्दोंसे पञ्चमी और सप्तमीके एकवचनमें '**ङसि** और **ङि**' के स्थानोंमें '**स्मात्**' और '**स्मिन्**' आदेश विकल्पसे होते हैं। उनके होनेपर **पूर्वस्मात्** और **पूर्वस्मिन्** रूप बनते हैं और न होनेपर 'राम' शब्दकी भाँति '**पूर्वात्**' और '**पूर्वे**' रूप होते हैं। शेष रूप सर्ववत् जानने चाहिये। इसी प्रकार पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अन्तर, अपर, अधर और नेम शब्दोंके भी रूप जानने चाहिये। **प्रथमे, प्रथमाः**—ये '**प्रथम**' शब्दके बहुवचनान्त रूप हैं। इनके शेष रूप '**अर्क**' शब्दके समान जानने चाहिये। इसी तरह 'चरम' शब्द, 'तयप्' प्रत्ययान्त शब्द तथा '**अल्प**', '**अर्ध**' और '**नेम**' आदि शब्दोंके भी रूप होते हैं। यहाँ अन्तर इतना ही है कि '**चरम**' और '**कतिपय**' आदि शब्दोंके शेष रूप '**प्रथम**' शब्दके समान होंगे और '**नेम**' आदि शब्दोंके शेष रूप सर्ववत् होंगे। जिसके अन्तमें '**तीय**' लगा है, उन '**द्वितीय**' और '**तृतीय**' शब्दोंके चतुर्थी, पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियोंमें एकवचनान्त रूप विकल्पसे सर्ववत् होते हैं। जैसे—(चतुर्थी) **द्वितीयस्मै, द्वितीयाय**। (पञ्चमी) **द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्**। (सप्तमी) **द्वितीयस्मिन्, द्वितीये**।

इसी प्रकार '**तृतीय**' शब्दके भी रूप होंगे। इन दोनों शब्दोंके शेष रूप '**अर्क**' शब्दके समान होते हैं॥ ३२—३६ $\frac{१}{२}$ ॥

अब '**सोमपा**' शब्दके सिद्ध रूप क्रमशः दिये जाते हैं—

१—**सोमपाः, सोमपौ, सोमपाः**। २—**सोमपाम्, सोमपौ, सोमपः**। ३—**सोमपा, सोमपाभ्याम्, सोमपाभिः**। ४—**सोमपे, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः**। ५—**सोमपः, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः**। ६—**सोमपः, सोमपोः, सोमपाम्**। ७—**सोमपि, सोमपोः, सोमपासु**। (यहाँ ज्ञेयौ, व्रज, ह्रद और कुलम्—ये पद पादपूर्तिमात्रके लिये दिये गये हैं। यहाँ प्रकृतमें इनका कोई उपयोग नहीं है।) '**सोमपा**' शब्दके समान ही '**कीलालपा**' आदि शब्दोंके रूप होंगे। अब कवि, अग्नि, अरि, हरि, सात्यकि, रवि, वह्नि—इन शब्दोंके कतिपय सिद्ध रूप उद्धृत किये जाते हैं। **कविः** (कवि+प्र० एक०), **अग्निः** (अग्नि+प्र० एक०), **अरयः** (अरि+प्र० बहु०), **हे कवे!** (कवि+सम्बोधन एक०), **कविम्** (कवि+द्वि० एक०), **अग्नी** (अग्नि+द्वि० द्वि०), **हरीन्** (हरि+द्वि० बहु०), **सात्यकिना** (सात्यकि+तृ० एक०), **रविभ्याम्**

(रवि+तृ० द्वि०), **रविभिः** (रवि०+तृ० बहु०), **'देहि वह्नये यः समागतः**—जो आया है उसे वह्नि (अग्नि)-को समर्पित कर दो।' **वह्नये** (वह्नि+च० एक०), **अग्नेः** (अग्नि+षष्ठी एक०), **अग्न्योः** (अग्नि+षष्ठी द्वि०), **अग्नीनाम्** (अग्नि+षष्ठी बहु०), **कवौ** (कवि+सप्त० एक०), **कव्योः** (कवि+सप्त० द्वि०), **कविषु** (कवि+सप्त० बहु०)॥ ३७—४०॥

इसी प्रकार **सुसृति, अभ्रान्ति, सुकीर्ति** और **सुधृति** आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। यहाँ इन सबका प्रथमाका एकवचनान्त रूप दिया गया है। यथा—**सुसृतिः, अभ्रान्तिः, सुकीर्तिः, सुधृतिः**। अब '**सखि**' शब्दके रूप दिये जाते हैं—**१-सखा, सखायौ, सखायः। हे सखे! सत्पतिं व्रज।** (हे मित्र! तुम अच्छे स्वामीके पास जाओ।) '**हे सखे**' यह सखि शब्दका सम्बोधनमें एकवचनान्त रूप है। **२-सखायम्, सखायौ, सखीन्। ३-सख्या आगतः** (मित्रके साथ आया)। **४-सख्ये दद** (मित्रको दो)। **५-सख्युः। ६-सख्युः, सख्योः, सखीनाम्। ७- सख्यौ, सख्योः, सखिषु।** शेष रूप 'कवि' शब्दके समान जानने चाहिये। **पत्या** (पति+तृ० एक०), **पत्ये** (पति+च० एक०), **पत्युः** (पति+पञ्च० एक०), **पत्युः** (पति+षष्ठी एक०), **पत्योः** (पति+षष्ठी द्वि०), **पत्यौ** (पति+सप्त० एक०)। '**पति**' शब्दके शेष रूप 'अग्नि' शब्दके समान जानने चाहिये। (यदि 'पति' शब्द समासमें आबद्ध हो तो उसके सम्पूर्ण रूप 'कवि' शब्दके समान ही होंगे।) अब '**द्वि**' शब्दके पुँल्लिङ्ग रूप दिये जाते हैं, यह नित्य द्विवचनान्त है। १, २—**द्वौ**। ३, ४, ५—**द्वाभ्याम्**। ६, ७—**द्वयोः**। यह दो संख्याका वाचक है॥ ४१—४३॥

अब संख्या तीनके वाचक नित्य बहुवचनान्त पुँल्लिङ्ग 'त्रि' शब्दके रूप दिये जाते हैं—**१-त्रयः। २-त्रीन्। ३-त्रिभिः। ४, ५-त्रिभ्यः। ६-त्रयाणाम्। ७-त्रिषु।**—ये क्रमशः सात विभक्तियोंके रूप हैं। अब 'कति' शब्दके रूप दिये जाते हैं—**१-कति। २-कति।** शेष रूप 'कवि' शब्दके समान होते हैं। यह नित्य बहुवचनान्त शब्द है। अब 'नेता'के अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले '**नी**' शब्दके रूप उद्धृत किये जाते हैं—**१-नीः, नियौ, नियः**। सम्बोधन—**हे नीः, हे नियौ, हे नियः। २-नियम्, नियौ, नियः। ३-निया, नीभ्याम्, नीभिः। ४-निये, नीभ्याम्, नीभ्यः। ५-नियः, नीभ्याम्, नीभ्यः। ६-नियः, नियोः, नियाम्। ७-नियि*, नियोः नीषु। सुश्रीः** (सुश्री+प्र० एक०)। इसी तरह 'सुधीः' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। '**ग्रामणीः पूजयेद्धरिम्**' गाँवका मुखिया श्रीहरिका पूजन करे। '**ग्रामणी**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**१-ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। २-ग्रामण्यम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। ३-ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः। ४-ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः। ५-ग्रामण्यः, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः। ६-ग्रामण्यः, ग्रामण्योः, ग्रामण्याम्। ७-ग्रामण्याम्, ग्रामण्योः, ग्रामणीषु।** इसी तरह '**सेनानी**' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। '**सुभू**' शब्दके रूप—**सुभूः, सुभुवौ** इत्यादि हैं। '**स्वयम्भू**' शब्दके रूप—**१-स्वयम्भुः, स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः। २-स्वयम्भुवम्, स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः। ३-स्वयम्भुवा।** सप्तमीके एकवचनमें '**स्वयम्भुवि**'। शेष '**सुभू**' शब्दके समान। इसी तरह '**प्रतिभू**' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। '**खलपू**' शब्दके रूप—**खलपूः, खलप्वौ, खल्पवः। खलप्वम्** इत्यादि हैं। सप्तमीके एकवचनमें '**खलप्वि**'—यह रूप होता है। इसी प्रकार '**शरपू**' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये। '**क्रोष्टु**' शब्दके क्रमशः पाँच रूप इस प्रकार होते हैं—**क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ।**

* पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'नी' शब्दका सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें 'नियाम्'—यह रूप होता है। कौमार-व्याकरणमें 'नियि'—यह रूप उपलब्ध होता है। अतः इस अंशमें इन दोनों व्याकरणोंका अन्तर सुस्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

द्वितीयाके बहुवचनमें '**क्रोष्टून्**'—यह रूप बनता है। तृतीया आदिके स्वरादि प्रत्ययोंमें दो-दो रूप चलते हैं। एक '**क्रोष्टु**' शब्दके, दूसरे '**क्रोष्टृ**' शब्दके। यथा—**क्रोष्टुना कोष्ट्रा, क्रोष्टवे क्रोष्ट्रे, क्रोष्टोः क्रोष्टुः** इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें '**क्रोष्टूनाम्**'—यह एक ही रूप होता है। सप्तमीके एकवचनमें **क्रोष्टौ, क्रोष्टरि**—ये रूप होते हैं। हलादि विभक्तियोंमें इसके रूप '**शम्भु**' आदि शब्दोंके समान होते हैं। '**पितृ**' शब्दके रूप—**१-पिता, पितरौ, पितरः**। सम्बोधनमें—**हे पितः! हे पितरौ! हे पितरः!**। **२-पितरम्, पितरौ, पितॄन्**। **३-पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः**। **४-पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः**। **५-पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः**। **५-पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः**। **६-पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्**। **७-पितरि, पित्रोः, पितृषु**॥ ४४—५०॥

इसी प्रकार '**भ्रातृ**' और '**जामातृ**' आदि शब्दोंके रूप जानने चाहिये—**१-भ्राता, भ्रातरौ, भ्रातरः**। **जामाता, जामातरौ, जामातरः** इत्यादि। '**नृ**' शब्दके रूप '**पितृ**' शब्दके समान होते हैं। केवल षष्ठीके बहुवचनमें उसके **नृणाम्, नॄणाम्**—ये दो रूप होते हैं। '**कर्तृ**' शब्दके प्रारम्भिक पाँच रूप इस प्रकार होते हैं—**कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः**। **कर्त्तारम्, कर्त्तारौ**। द्वितीयाके बहुवचनमें **कर्त्तॄन्**, षष्ठीके बहुवचनमें **कर्त्तॄणाम्** और सप्तमीके एकवचनमें **कर्त्तरि** रूप होते हैं। शेष रूप '**पितृ**' शब्दके समान जानने चाहिये। इसी तरह **उद्गातृ, स्वसृ** और **नप्तृ** आदि शब्दोंके रूप होते हैं। **उद्गाता**[1] **उद्गातारौ उद्गातारः**। **स्वसा**[2], **स्वसारौ, स्वसारः**। **नप्ता**[3], **नप्तारौ, नप्तारः** इत्यादि। शेष रूप '**कर्तृ**' शब्दके समान होते हैं। '**स्वसृ**' शब्दका द्वितीयाके बहुवचनमें '**स्वसॄः**' रूप होता है। '**सुरै**[4]' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**सुराः, सुरायौ, सुरायः** इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें **सुरायाम्** और सप्तमीके एकवचनमें **सुरायि** रूप होते हैं। '**गो**' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं। **१-गौः**[5], **गावौ, गावः**। **२-गाम्, गावौ, गाः**। **३-गवा गोभ्याम्, गोभिः** इत्यादि। षष्ठी—**गोः, गवोः, गवाम्**। सप्तमी—**गवि, गवोः, गोषु**। इसी प्रकार '**द्यौ**' तथा '**ग्लौ**' शब्दोंके रूप जानने चाहिये। ये स्वरान्त शब्द पुँल्लिङ्गमें नायक (प्रधान) हैं॥ ५१—५३॥

अब हलन्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप बताये जाते हैं। '**सुवाच्**' शब्दके रूप यों जानने चाहिये—**१-सुवाक्**[6], **सुवाग्, सुवाचौ, सुवाचः**। **२-सुवाचम्, सुवाचौ, सुवाचः**। **३-सुवाचा, सुवाग्भ्याम्, सुवाग्भिः**। इत्यादि। (सप्त० बहुवचनमें—) **सुवाक्षु**। इसी तरह 'दिश्' आदि शब्दोंके रूप होते हैं। **प्राञ्च्** शब्दके रूप—**१-प्राङ्**[7], **प्राञ्चौ, प्राञ्चः**। **२-भोः प्राञ्चं व्रज** (हे भाई! तुम प्राचीन महापुरुषोंके पथपर चलो)। यहाँ '**प्राञ्चम्**' यह द्वितीया विभक्तिका एकवचनान्त रूप है। **३-प्राचा, प्राग्भ्याम्, प्राग्भिः**। षष्ठीके बहुवचनमें '**प्राचाम्**' रूप होता है। सप्तमीके एकवचनमें '**प्राचि**' द्विवचनमें '**प्राचोः**' और बहुवचनमें '**प्राक्षु**'। पूजार्थक '**प्राञ्च**' शब्दके सप्तमीके बहुवचनमें '**प्राङ्षु**' '**प्राङ्क्षु**'। इसी प्रकार **उदञ्च्, सम्यञ्च्** और **प्रत्यञ्च्** शब्दोंके भी रूप होते हैं। यथा—'**उदङ्**[8], **उदञ्चौ उदञ्चः**' इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें **उदीची**[9]। **सम्यङ्**[10] **सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः**। स्त्रीलिङ्गमें **समीची**[11]। **प्रत्यङ्**[12]

१. यज्ञमें 'उद्गाता' नामक ऋत्विज्, जो साम-मन्त्रोंका उच्चस्वरसे गान करता है। २. बहिन। ३. नाती। ४. उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न। ५. गाय-बैल। ६. उत्तम वक्ता। ७. पूर्ववर्ती विद्वान् या महात्मा। ८. ऊपर उठनेवाला। ९. उत्तर दिशा। १०. उत्तम आचरणवाला। ११. साध्वी। १२. अन्तर्मुख।

प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः। स्त्रीलिङ्गमें **प्रतीची**[1]। इन सभी शब्दोंके '**शस्**' आदि विभक्तियोंमें इस तरह रूप जानने चाहिये—**उदीचः उदीचा। समीचः, समीचा। प्रतीचः, प्रतीचा** इत्यादि। **तिर्यङ्**[2] **तिरश्चः। सध्र्यङ्**[3],**सध्रीचः। विश्वद्र्यङ्, विश्वद्रीचः** इत्यादि रूप भी पूर्ववत् बनते हैं। '**अमुम् अञ्चति**'—इस विग्रहमें **अमुमुयङ्**[4], **अदमुयङ्, अदद्र्यङ्**—ये तीन रूप प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें होते हैं। प्रथमाके बहुवचनमें '**अद्र्यञ्चः**' रूप होता हैं और द्वितीयाके बहुवचनमें **अमुमुईचः** तथा **अमुद्रीचः**—ये रूप होते हैं। '**भ्याम्**' विभक्तिमें पूर्ववत् '**अदद्र्यग्भ्याम्**' रूपकी सिद्धि होती है। '**तत्त्वतृष्**' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—**१-तत्त्वतृट्**[5]-**तत्त्वतृड्, तत्त्वतृषौ, तत्त्वतृषः** इत्यादि। तृतीया आदिके द्विवचनमें **तत्त्वतृड्भ्याम्। 'तत्त्वतृड्भ्यां समागतः'**—'वह तत्त्वज्ञानकी पिपासावाले दो व्यक्तियोंके साथ आया।' सप्तमीके एकवचनमें **तत्त्वतृषि** और बहुवचनमें **तत्त्वतृट्सु**—ये रूप होते हैं। इसी तरह '**काष्ठतड्**[6]' आदि रूप होते हैं। यथा—**काष्ठतट्, काष्ठतड्, काष्ठतक्षौ, काष्ठतक्षः** इत्यादि। '**भिषज्**' शब्दके रूप '**भिषक्**[7], **भिषग्-भिषजौ, भिषजः** इत्यादि होते हैं। तृतीयाके द्विवचनमें '**भिषग्भ्याम्**' और सप्तमीके एकवचनमें '**भिषजि**' रूप होते हैं। इसी प्रकार '**जन्मभाक्**' आदि भी जानने चाहिये। यथा—**जन्मभाक्**[8], **जन्मभाग्, जन्मभाजौ, जन्मभाजः** इत्यादि। '**मरुत्**' शब्दके रूप इस प्रकार जाने—**मरुत्**[9], **मरुद् मरुतौ मरुतः। मरुद्भ्याम् मरुति** इत्यादि। इसी प्रकार '**शत्रुजित्**'[10] आदि शब्दोंके भी रूप होते हैं। पूजनीय व्यक्तिके लिये प्रयुक्त होनेवाले '**भवत्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**भवान्**[11], **भवन्तौ, भवन्तः** इत्यादि। षष्ठीके बहुवचनमें '**भवताम्**'—यह रूप होता है। '**भू**' धातुसे बननेवाले 'शतृ' प्रत्ययान्त '**भवत्**' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—**भवन्**[12], **भवन्तौ भवन्तः** इत्यादि। स्त्रीलिङ्गमें '**भवन्ती**[13]' रूप होता है।

'**महत्**' शब्दके रूप—**महान्**[14], **महान्तौ, महान्तः। महती,** इत्यादि। '**भगवत्**' आदि शब्दोंके रूप '**भवत्**' शब्दकी तरह—**भगवान्**[15] **भगवन्तौ भगवन्तः** इत्यादि होते हैं। इसी प्रकार '**मघवत्**' शब्दके रूप जानने चाहिये। यथा—**मघवान्**[16], **मघवन्तौ मघवन्तः** इत्यादि। '**अग्निचित्**' शब्दके रूप—**अग्निचित्-द्**[17], **अग्निचितौ, अग्निचितः** इत्यादि होते हैं। सप्तमीके एकवचनमें '**अग्निचिति**' और बहुवचनमें '**अग्निचित्सु**'—ये रूप होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य '**तत्त्ववित्**[18]' '**वेदवित्**[19]' तथा '**सर्ववित्**[20]' शब्दोंके रूप होते हैं॥ ५४—६१॥

'**राजन्**' शब्दके सिद्ध रूप इस प्रकार जानने चाहिये। यथा—**१-राजा, राजानौ, राजानः। २-राजानम् राजानौ राज्ञः। ३-राज्ञा राजभ्याम् राजभिः** इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें '**राज्ञि**' और '**राजनि**'—ये दो रूप होते हैं। सम्बोधनमें—**हे राजन्!** इत्यादि। '**यज्वन्**' शब्दके—**यज्वा**[21] **यज्वानौ यज्वानः** इत्यादि रूप होते हैं। '**करिन्**' और '**दण्डिन्**' इत्यादि इन्नन्त शब्दोंके रूप इस प्रकार होते हैं—**करी**[22] **करिणौ करिणः। दण्डी**[23] **दण्डिनौ दण्डिनः** इत्यादि। '**पथिन्**' शब्दके सिद्ध रूप यों हैं—**१-पन्थाः**[24] **पन्थानौ पन्थानः। २-पन्थानम् पन्थानौ पथः। ३-पथा पथिभ्याम् पथिभिः**—इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें '**पथि**' रूप होता

१.पश्चिम दिशा। २. तिर्यग्दिशाकी ओर जानेवाले पशु-पक्षी आदि। ३. सन्मार्गगामी। ४. उसकी ओर जानेवाला। ५. तत्त्वज्ञानके लिये प्यासा रहनेवाला। ६. काठ काटनेवाला। ७. वैद्य या चिकित्सक। ८. जन्मधारी। ९. वायु। १०. शत्रुविजयी। ११. आप। १२. होता हुआ। १३. होती हुई। १४. बड़ा, श्रेष्ठ। १५. छः प्रकारके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न परमात्मा। १६. इन्द्र। १७. अग्निका चयन करनेवाला। १८. तत्त्वज्ञ। १९. वेदवेत्ता। २०. सर्वज्ञ। २१. यजमान। २२. हाथी। २३. दण्डधारी संन्यासी। २४. मार्ग।

है। इसी प्रकार '**मथिन्**' शब्दका भी रूप जानना चाहिये। यथा—**मन्थाः**[१], **मन्थानौ**, **मन्थानः**, इत्यादि। **ऋभुक्षाः**[२], **ऋभुक्षाणौ**, **ऋभुक्षाणः**— इत्यादि। पथ्यादिमें **पथिन्**, **मथिन्** तथा **ऋभुक्षन्**— ये तीन शब्द आते हैं। पाँच संख्याका वाचक '**पञ्चन्**' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। उसके रूप इस प्रकार होते हैं—**१-२-पञ्च**[३], **३-पञ्चभिः**, **४-५-पञ्चभ्यः**, **६-पञ्चानाम्**, **७-पञ्चसु**। '**प्रतान्**[४]' शब्दके रूप—**प्रतान्**, **प्रतानौ**, **प्रतानः**, इत्यादि हैं। तृतीया आदिके द्विवचनमें '**प्रतान्भ्यां**' रूप होता है। सम्बोधनमें '**हे प्रतान्!**'। '**सुशर्मन्**' शब्दके रूप—**सुशर्मा**[५] **सुशर्माणौ**, **सुशर्माणः**।— इत्यादि हैं। **शस्**, **ङसि**, **ङस्**—इन विभक्तियोंमें '**सुशर्मणः**' रूप होता है। **अप्** शब्द नित्यबहुवचनान्त और स्त्रीलिङ्ग है। इसके रूप यों जानने चाहिये—**१-आपः**[६]। २-**अपः**। **३-अद्भिः**। ४-५**अद्भ्यः**। ६-**अपाम्**। ७-**अप्सु**। '**प्रशाम्**' शब्दके रूप **प्रशान्**[७], **प्रशामौ**, **प्रशामः** इत्यादि हैं। सप्तमीके एकवचनमें '**प्रशामि**' रूप होता है। '**किम्**' शब्दके रूप—**१-कः**[८], **कौ**, **के**। **२-कम्**, **कौ**, **कान्** **३-केन**, **काभ्याम्**, **कैः**—इत्यादि। सप्तमी बहुवचनमें—**केषु**। शेष रूप सर्ववत् होते हैं। '**इदम्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१-**अयम्**[९], **इमौ**, **इमे**। २-**इमम्**, **इमौ**, **इमान्**। '**इमान्नय**' (अर्थात् इन्हें ले जाओ) ३-**अनेन**, **आभ्याम्**, **एभिः**। ४-**अस्मै**, **आभ्याम्**, **एभ्यः**। ५-**अस्मात्**, **आभ्याम्**, **एभ्यः**। ६-**अस्य**, **अनयोः**, **एषाम्**। ७-**अस्मिन्**, **अनयोः**, **एषु**। '**चतुर्**' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। पुँल्लिङ्गमें इसके रूप यों होते हैं—१-**चत्वारः**[१०], २-**चतुरः**। ३-**चतुर्भिः**। ४-५-**चतुर्भ्यः**। ६-**चतुर्णाम्**। ७-**चतुर्षु**। जिसकी वाणी अच्छी हो, वह पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है। उसे '**सुगीः**' कहते हैं। यह प्रथमाका एकवचन है। '**सुगिर्**' शब्दका सप्तमीके एकवचनमें '**सुगिरि**' रूप होता है। '**सुदिव्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१-**सुद्यौः**[११], **सुदिवौ**, **सुदिवः** इत्यादि। तृतीया आदिके द्विवचनमें '**सुद्युभ्याम्**' रूप होता है। '**विश्**' शब्दके रूप—**विट्विड्**[१२], **विशौ**, **विशः**। **विड्भ्याम्** इत्यादि होते हैं। सप्तमीके बहुवचनमें '**विट्सु**' रूप होता है। '**यादृश्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**यादृक्-ग्**[१३], **यादृशौ**, **यादृशः**। **यादृशा**, **यादृग्भ्याम्** इत्यादि। '**षष्**' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। इसके रूप यों हैं—१-२-**षट्**[१४]-**षड्**। ३-**षड्भिः**। ४-५-**षड्भ्यः**। ६-**षण्णाम्**। ७-**षट्सु**। '**सुवचस्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—१-**सुवचाः**[१५], **सुवचसौ**, **सुवचसः**। २-**सुवचसम्**, **सुवचसौ**, **सुवचसः**। ३-**सुवचसा**, **सुवचोभ्याम्**, **सुवचोभिः**— इत्यादि। सम्बोधनमें—**हे सुवचः!** '**उशनस्**' शब्दके रूप यों हैं—१-**उशना**[१६], **उशनसौ**, **उशनसः**। **हे उशनः** इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें '**उशनसि**' रूप होता है। '**पुरुदंशस्**' और '**अनेहस्**' शब्दोंके रूप भी इसी प्रकार होते हैं। यथा—१-**पुरुदंशा**[१७], **पुरुदंशसौ**, **पुरुदंशसः**। **अनेहा**[१८], **अनेहसौ**, **अनेहसः** इत्यादि। '**विद्वस्**' शब्दके रूप यों जानने चाहिये—**विद्वान्**[१९],**विद्वांसौ**, **विद्वांसः**, **हे विद्वन्** इत्यादि। '**विद्वांस उत्तमाः**' (विद्वान् पुरुष उत्तम होते हैं)। चतुर्थी विभक्तिके एकवचनमें '**विदुषे**' रूप होता है। '**विदुषे नमः**' (विद्वान्को नमस्कार है)। द्विवचनमें '**विद्वद्भ्याम्**' और सप्तमीके बहुवचनमें '**विद्वत्सु**' रूप होते हैं। '**स विद्वत्सु बभूविवान्**'

१. मथानी। २. इन्द्र। ३. पाँच। ४. अधिक विस्तार करनेवाला। ५. उत्तम कल्याणसे युक्त। ६. जल। ७. अत्यन्त शान्त। ८. कौन। ९. यह। १०. चार। ११. जब आकाश स्वच्छ हो, वह समय। १२. वैश्य। १३. जैसा। १४. छः। १५. उत्तम वचन बोलनेवाला। १६. शुक्राचार्य। १७. अधिक डँसनेवाला। १८. काल या समय। १९. पण्डित।

(वह विद्वानोंमें प्रकट हुआ।) '**बभूविवस्**' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**बभूविवान्**[१] **बभूविवांसौ, बभूविवांसः**—इत्यादि। इसी प्रकार '**पेचिवान्**[२], **पेचिवांसौ, पेचिवांसः। श्रेयान्**[३] **श्रेयांसौ, श्रेयांसः**—इत्यादि रूप जानने चाहिये। '**श्रेयस्**' शब्दके द्वितीयाके बहुवचनमें '**श्रेयसः**' रूप होता है। अब '**अदस्**' शब्दके पुँल्लिङ्गमें रूप बताते हैं—१-**असौ**[४], **अमू, अमी**। २-**अमुम्, अमू, अमून्**। ३-**अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः**। ४-**अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः**। ५-**अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः**। ६-**अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्**। ७-**अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु**। '**गोधुग्भिरागतः**' (वह गाय दुहनेवालोंके साथ आया)। '**गोदुह्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**गोधुर्क्**[५]-**ग्, गोदुहौ, गोदुहः। गोधुक्षु** इत्यादि। इसी प्रकार, '**दुह्**' आदि अन्य शब्दोंसे रूप जानने चाहिये। '**मित्रद्रुह्**[६]' शब्दके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**मित्रध्रुक्-ग्, मित्रध्रुट्-ड्, मित्रद्रुहौ, मित्रद्रुहः। मित्रद्रुहा, मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुड्भ्याम्, मित्रध्रुग्भिः, मित्रध्रुड्भिः** इत्यादि। इसी प्रकार '**चित्रद्रुह्**' आदि शब्दोंके भी रूप जानने चाहिये। '**स्वलिह्**[७]' शब्दके रूप यों होते हैं—**स्वलिट्-स्वलिड्, स्वलिहौ, स्वलिहः। स्वलिहा, स्वलिड्भ्याम्** इत्यादि। सप्तमीके एकवचनमें '**स्वलिहि**' रूप होता है। '**अनुडुह्**' शब्दके रूप यों हैं—१-**अनड्वान्**[८], **अनड्वाहौ, अनड्वाहः**। २-**अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनुडुहः**, ३-**अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः**। सप्तमीके बहुवचनमें '**अनडुत्सु**' (सम्बोधनमें '**हे अनड्वन्**')। अजन्त और हलन्त शब्द पुँल्लिङ्गमें बताये गये। अब स्त्रीलिङ्गमें बताये जाते हैं॥ ६२—७३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'सामान्यतः सुब्-विभक्तियोंके सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५१॥

तीन सौ बावनवाँ अध्याय

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप

भगवान् स्कन्द कहते हैं—आकारान्त स्त्रीलिङ्ग '**रमा**' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं,—**रमा** (प्र०—ए०), **रमे** (प्र०—द्वि०), **रमाः** (प्र०—ब०), '**रमाः शुभाः**' (रमाएँ शुभस्वरूपा हैं)। **रमाम्** (द्वि०—ए०), **रमे** (द्वि०—द्वि०), **रमाः** (द्वि०—ब०)। **रमया** (तृ०—ए०), **रमाभ्याम्** (तृ०—द्वि०), **रमाभिः** (तृ०—ब०), '**रमाभिः कृतमव्ययम्।**'— (रमाओंने अव्यय (अक्षय) पुण्य किया है)। **रमायै** (च०—ए०), **रमाभ्याम्** (च०, पं०—द्वि०), **रमायाः** (प०, ष०—ए०), **रमयोः** (ष०, स०—द्वि०), '**रमयोः शुभम्**' (दो रमाओंका शुभ)। **रमाणाम्** (ष०—ब०)। **रमायाम्** (स०—ए०), **रमासु** (स०—ब०)। इसी प्रकार '**कला**' आदि शब्दोंके रूप होते हैं। आकारान्त '**जरा**' शब्दके कुछ रूप भिन्न होते हैं—**जरा** (प्रथमा विभक्ति एक०)-में **जरसौ—जरे** (प्र०, द्वि०—द्वि०), **जरसः—जराः** (प्र०, द्वि०—बहु०), **जरसम्—जराम्** (द्वि०—ए०), **जरासु** (स०—ब०)। अब '**सर्वा**' शब्दके रूप कहते हैं—१-**सर्वा, सर्वे, सर्वाः**। २-**सर्वाम् सर्वे सर्वाः। सर्वया**

१. हुआ। २. जो भूतकालमें पाचक रहा हो, वह। ३. श्रेष्ठ। ४. यह, वह। ५. गाय दुहनेवाला। ६. मित्रद्रोही। ७. अपनेको चाटनेवाला। ८. गाड़ी खींचनेवाला बैल।

(तृ०—ए०), **सर्वस्यै** (च०—ए०), **'सर्वस्यै देहि'** (सबको दो)। **सर्वस्याः** (प०—ए०), **सर्वस्याः** (ष०—ए०), **सर्वयोः** (ष०, स०—द्वि०), शेष रूप **'रमा'** शब्दके समान होते हैं। स्त्रीलिङ्ग नित्य द्विवचनान्त द्वि-शब्दके रूप ये हैं—**द्वे** (प्र०—द्वि०), **द्वे** (द्वि०—द्वि०), **'त्रि'** शब्दके रूप ये हैं—१-२—**तिस्रः। तिसृणाम्** (ष०—ब०)। **'बुद्धि'** शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**बुद्धिः** (प्र०—ए०), **बुद्ध्या** (तृ०—ए०), **बुद्धये-बुद्ध्यै** (च०—ए०), **बुद्धेः** (प०, ष०—ए०)। **'मति'** शब्दके सम्बोधनके एकवचनमें **'हे मते'**—यह रूप होता है। **'मुनीनाम्'** (यह **'मुनि'** शब्दके षष्ठी—बहुवचनका रूप है) और शेष रूप **'कवि'** शब्दके समान होते हैं। **'नदी'** शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—**नदी** (प्र०—ए०), **नद्यौ** (प्र० द्वि०—द्वि०), **नदीम्** (द्वि०—ए०), **नदीः** (द्वि०—ब०), **नद्या** (तृ०—ए०), **नदीभिः** (तृ०—ब०), **नद्यै** (च०—ए०), **नद्याम्** (स०—ए०), **नदीषु** (स०—ब०), इसी प्रकार **'कुमारी'** और **'जृम्भणी'** शब्दके रूप होते हैं। **'श्री'** शब्दके रूप भिन्न होते हैं— **'श्रीः'** (प्र०—ए०), **श्रियौ** (प्र०—द्वि०—द्वि०), **श्रियः** (प्र०, द्वि०—ब०), **श्रिया** (तृ०—ए०), **श्रियै—श्रिये** (च०—ए०)। **'स्त्री'** शब्दके रूप अधोलिखित हैं—**स्त्रीम्-स्त्रियम्** (द्वि०—ए०), **स्त्रीः—स्त्रियः** (द्वि०—ब०), **स्त्रिया** (तृ०—ए०), **स्त्रियै** (च०—ए०), **स्त्रियाः** (प०, ष०—ए०), **स्त्रीणाम्** (ष ब०), **स्त्रियाम्** (स०—ए०)। स्त्रीलिङ्ग **'ग्रामणी'** शब्दका सप्तमीके एकवचनमें **'ग्रामण्याम्'** और **'धेनु'** शब्दका चतुर्थीके एकवचनमें **'धेन्वै, धेनवे'** रूप होते हैं॥ १—७॥

'जम्बु' शब्दके रूप ये हैं—**जम्बूः** (प्र०—ए०) **जम्ब्वौ** (प्र०—द्वि०—द्वि०), **जम्बूः** (द्वि०—ब०), **जम्बूनाम्** (ष०—ब०)। **'जम्बूनां फलं पिब।'** (जामुनके फलोंका रस पीयो)। **'वर्षाभू'** आदि शब्दके कतिपय रूप ये हैं—**वर्षाभ्वौ** (प्र०, द्वि०—द्वि०)। **पुनर्भ्वौ** (प्र०, द्वि०—द्वि०)। **मातॄः** (मातृशब्दका द्वि०—ब०)। **गौः** (गो+प्र०—ए०)। **नौः** (नौका) (प्र०—ए०)। **'वाच्'** शब्दके रूप ये हैं—**वाक्—वाग्** (प्र०—ए०) (वाणी), **वाचा** (तृ०—ए०) **वाग्भिः** (तृ०—ब०)। **वाक्षु** (स०—ब०)। पुष्पहारवाचक **'स्रज्'** शब्दके रूप ये हैं—**स्रग्भ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०)। **स्रजि** (स०—ए०) **स्रजोः** (ष० स०—द्वि०)। लतावाचक **'वीरुध्'** शब्दके रूप ये हैं—**वीरुद्भ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—द्वि) **वीरुत्सु** (स०—ब०)। स्त्रीलिङ्गमें प्रथमाके एकवचनमें उकारानुबन्ध **'भवत्'** शब्दका **'भवती'** और ऋकारानुबन्ध **'भवत्'** शब्दका **'भवन्ती'** रूप होता है। स्त्रीलिङ्ग **'दीव्यत्'** शब्दका प्रथमाके एकवचनमें **'दीव्यन्ती'** रूप होता है। स्त्रीलिङ्गमें **'भात्'** शब्दके भी प्रथमाके एकवचनमें **भाती—भान्ती**—ये दो रूप होते हैं। स्त्रीलिङ्ग **'तुदत्'** शब्दके भी प्रथमाके एकवचनमें **तुदती—तुदन्ती**—ये दो रूप होते हैं*। स्त्रीलिङ्गमें प्रथमाके एकवचनमें **'रुदत्'** शब्दका **रुदती, 'रुन्धत्'** शब्दका **रुन्धती, 'गृह्णत्'** शब्दका **गृह्णती** और **'चोरयत्'** शब्दका **चोरयन्ती** रूप होता है। **'दृषद्'** शब्दके रूप ये हैं—**दृषद्** (प्र०—ए०), **दृषद्भ्याम्** (तृ०—च० एवं पं०—द्वि०), **दृषदि** (स०—ए०)। **विशेषविदुषी** (प्र०—ए०)। प्रथमाके एकवचनमें **'कृति'** शब्दका **'कृतिः'** रूप होता है। **'समिध्'** शब्दके रूप ये हैं—**समित्-समिद्** (प्र०—ए०), **समिद्भ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—

* 'भात्' और 'तुदत्' दोनोंके आगे स्त्रीत्वविवक्षामें 'ङीप्' प्रत्यय होनेपर उसकी 'नदी' संज्ञा होनेसे 'आच्छीनद्योर्नुम्' (पा० सू० ७।१।८०)-से वैकल्पिक 'नुम्'का आगम होता है; अतः 'भाती, भान्ती' तथा 'तुदती, तुदन्ती' दो रूप होते हैं। यह पाणिनि-व्याकरणका नियम है। कुमारने जो दो रूप माने हैं, उसकी पाणिनिके सूत्रद्वारा भी सिद्धि होती है।

द्वि०), **समिधि** (स०—ए०)। '**सीमन्**' शब्दके रूप इस प्रकार हैं—**सीमा** (प्र०—ए०), **सीम्नि-सीमनि** (स०—ए०)। तृ०, च० एवं पं० के द्विवचनमें '**दामनी**' शब्दका **दामनीभ्याम्**, '**ककुभ्**' शब्दका **ककुब्भ्याम्** रूप होता है। '**का**'— '**किम्**' शब्द प्र०—ए० **इयम्**— (**इदम्** शब्द प्र०—ए०), **आभ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०), '**इदम्**' शब्दके सप्तमीके बहुवचनमें '**आसु**' रूप होता है।, '**गिर्**' शब्दके रूप ये हैं—**गीर्भ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०) **गिरा** (तृ०—ए०), **गीर्षु** (स०—ब०)। प्रथमाके एकवचनमें '**सुभूः**' और '**सुपूः**' रूप सिद्ध होते हैं। '**पुर्**' शब्दका तृतीयाके एकवचनमें '**पुरा**' और सप्तमीके एकवचनमें '**पुरि**' रूप होता है। '**दिव्**' शब्दके रूप ये हैं—**द्यौः** (प्र०—ए०), **द्युभ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—द्वि०), **दिवि** (स०—ए०), **द्युषु** (स०—ब०)। **तादृश्या** (तृ०—ए०), **तादृशी** (प्र०—ए०)—ये '**तादृशी**' शब्दके रूप हैं। '**दिश्**' शब्दके रूप **दिक्-दिग् दिशौ दिशः** इत्यादि हैं। **यादृश्याम्** (स०—ए०), **यादृशी** (प्र०—ए०)—ये '**यादृशी**' शब्दके रूप हैं। **सुवचोभ्याम्** (तृ०, च० एवं पं०—द्वि) **सुवचस्सु** (स०—ब०)—ये '**सुवचस्**' शब्दके रूप हैं। स्त्रीलिङ्गमें '**अदस्**' शब्दके कतिपय रूप ये हैं—**असौ** (प्र०—ए०), **अमू** (प्र० द्वि०—द्वि०), **अमूम्** (द्वि०—ए०), **अमूः** (प्र०, द्वि०—ब०), **अमूभिः** (तृ०—ब०), **अमुया** (तृ०—ए०), **अमुयोः** (ष०, स०—द्वि०)॥ ८—१३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूपोंका कथन' नामक तीन सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५२॥

तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय

नपुंसकलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूप

भगवान् स्कन्द कहते हैं—नपुंसकलिङ्गमें '**किम्**' शब्दके ये रूप होते हैं—(प्रथमा) **किम्, के, कानि**। (द्वितीया) **किम्, के, कानि**। शेष रूप पुँल्लिङ्गवत् हैं। **जलम्** (प्र० ए०), **सर्वम्** (प्र० ए०)। पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व और अन्तर—इन सब शब्दोंके रूप इसी प्रकार होते हैं। **सोमपम्** (प्र० द्वि० ए०), **सोमपानि** (प्र० द्वि० ब०)—ये 'सोमप' शब्दके रूप हैं। 'ग्रामणी' शब्दके नपुंसकलिङ्गमें इस प्रकार रूप होते हैं—**ग्रामणि** (प्र० द्वि०-ए०), **ग्रामणिनी** (प्र० द्वि०-द्वि०), **ग्रामणीनि** (प्र०, द्वि०-ब०)। इसी प्रकार 'वारि' शब्दके रूप होते हैं—**वारि** (प्र० द्वि०-ए०), **वारिणी** (प्र०, द्वि०-द्वि०), **वारीणि** (प्र० द्वि०-ब०), **वारीणाम्** (ष०- ब०), **वारिणि** (स० ए०)। **शुचये-शुचिने** (च०-ए०) और **मृदुने-मृदवे** (च०-ए०) ये क्रमसे 'शुचि' और 'मृदु' शब्दके रूप हैं। **त्रपु** (प्र०, द्वि०-ए०), **त्रपुणी** (प्र०, द्वि०-द्वि०), **त्रपूणाम्** (ष०-ब०)—ये 'त्रपु' शब्दके कतिपय रूप हैं। '**खलपुनि**' तथा '**खलप्वि**'—ये दोनों नपुंसक 'खलपू' शब्दके सप्तमी, एकवचनके रूप हैं। कर्त्रा—**कर्तृणा** (तृ०-ए०), **कर्तृणे—कर्त्रे** (च० ए०)—ये 'कर्तृ' शब्दके रूप हैं। **अतिरि** (प्र० द्वि०-ए०), **अतिरिणी** (प्र०, द्वि०-द्वि०)—ये 'अतिरि' शब्दके रूप हैं। **अभिनि** (प्र०, द्वि०-ए०), **अभिनिनी** (प्र०, द्वि०-द्वि०)—ये 'अभिनि' शब्दके रूप हैं। **सुवचांसि** (प्र०, द्वि०-ब०), यह 'सुवचस्' शब्दका रूप है। **सुवाक्षु** (स०-ब०)

यह 'सुवाच्' शब्दका रूप है। 'यत्' शब्दके ये दो **यत्-यद्** (प्र० द्वि०-ए०) हैं। 'तत्' शब्दके **'तत्-तद्** (प्र०, द्वि०-ए०), 'कर्म' शब्दके **कर्माणि** (प्र० द्वि०-ब०), 'इदम्' शब्दके **इदम्** (प्र०, द्वि०-ए०), **इमे** (प्र० द्वि०-द्वि०), **इमानि** (प्र०, द्वि०-ब०)—ये रूप हैं। **ईदृक्-ईदृग्** (प्र०, द्वि०-ए०)—यह 'ईदृश्' शब्दका रूप है। **अदः** (प्र०, द्वि०-ए०), **अमुनी** (प्र०, द्वि०-द्वि०), **अमूनि** (प्र०, द्वि०-ब०)। **अमुना** (तृ-ए०), **अमीषु** (स०—ब०)—'अदस्' शब्दके ये रूप भी पूर्ववत् सिद्ध होते हैं। 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दके रूप इस प्रकार होते हैं—**अहम्** (प्र०-ए०), **आवाम्** (प्र०-द्वि०), **वयम्** (प्र०-ब०)। **माम्** (द्वि०-ए०), **आवाम्** (द्वि०-द्वि०), **अस्मान्** (द्वि०-ब०)। **मया** (तृ०—ए०), **आवाभ्याम्** (तृ०, च०-द्वि०), **अस्माभिः** (तृ०—ब०)। **मह्यम्** (च०-ए०), **अस्मभ्यम्** (च०-ब०)। **मत्** (प०-ए०), **आवाभ्याम्** (प०-द्वि०), **अस्मत्** (प०-ब०)। **मम** (ष०-ए०), **आवयोः** (ष०, स०-द्वि०), **अस्माकम्** (ष०-ब०)। **अस्मासु** (स०-ब०)—ये **'अस्मद्'** शब्दके रूप हैं। **त्वम्** (प्र०-ए०), **युवाम्** (प्र०-द्वि०) **यूयम्** (प्र०-ब०)। **त्वाम्** (द्वि०-ए०), **युवाम्** (द्वि०-द्वि०), **युष्मान्** (द्वि०-ब०)। **त्वया** (तृ०-ए०), **युष्माभिः** (तृ०-ब०)। **तुभ्यम्** (च०-ए०), **युवाभ्याम्** (तृ०, च०-द्वि०), **युष्मभ्यम्** (च०-ब०)। **त्वत्** (प०-ए०) **युवाभ्याम्** (प०-द्वि०) **युष्मत्** (प०-ब०)। **तव** (ष०-ए०), **युवयोः** (ष०, स०-द्वि०), **युष्माकम्** (ष०-ब०)। **त्वयि** (स०-ए०), **युष्मासु** (स०-ब०)—ये **'युष्मद्'** शब्दके रूप हैं। यहाँ 'अजन्त' और 'हलन्त' शब्दोंका दिग्दर्शन-मात्र कराया गया है॥ १—९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नपुंसकलिङ्ग शब्दोंके सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५३॥

तीन सौ चौवनवाँ अध्याय

कारकप्रकरण

भगवान् स्कन्द कहते हैं—अब मैं विभक्त्यर्थोंसे युक्त 'कारक'का वर्णन करूँगा*। **'ग्रामोऽस्ति'** (ग्राम है)—यहाँ प्रातिपदिकार्थमात्रमें प्रथमा विभक्ति हुई है। विभक्त्यर्थमें प्रथमा होनेका विधान पहले कहा जा चुका है। 'हे महार्क'—इस वाक्यमें जो 'महार्क' शब्द है, उसमें सम्बोधनमें प्रथमा विभक्ति हुई है। सम्बोधनमें प्रथमाका विधान पहले आ चुका है। **'इह नौमि विष्णुं श्रिया सह।'** (मैं यहाँ लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णुका स्तवन करता हूँ।)—इस वाक्यमें 'विष्णु' शब्दकी कर्म-संज्ञा हुई है। और **'द्वितीया कर्मणि स्मृता'**—इस पूर्वकथित नियमके अनुसार कर्ममें द्वितीया हुई है। **'श्रिया सह'**—यहाँ 'श्री' शब्दमें 'सह'का योग होनेसे तृतीया हुई है। सहार्थक और सदृशार्थक शब्दोंका योग होनेपर तृतीया विभक्ति होती है, यह सर्वसम्मत मत है। क्रियामें जिसकी स्वतन्त्रता विवक्षित हो, वह 'कर्ता' या 'स्वतन्त्र कर्ता' कहलाता है। जो उसका प्रयोजक हो, वह 'प्रयोजक कर्ता' और 'हेतुकर्ता' भी कहलाता है। जहाँ कर्म ही कर्ताके रूपमें विवक्षित हो, वह

* अध्याय तीन सौ इक्यावनमें श्लोक बाईससे अट्ठाईसतक विभक्त्यर्थोंके प्रयोगका नियम बताया गया है। वे सब श्लोक यहीं होने चाहिये थे; क्योंकि वहाँ जो नियम या विधान दिये गये हैं, उनके उदाहरण यहाँ मिलते हैं।

'कर्मकर्ता' कहलाता है। इनके सिवा '**अभिहित**' और '**अनभिहित**'—ये दो कर्ता और होते हैं। 'अभिहित' उत्तम और 'अनभिहित' अधम माना गया है। स्वतन्त्रकर्ताका उदाहरण—'**कृतिनः तां विद्यां समुपासते।**' (विद्वान् पुरुष उस विद्याकी उपासना करते हैं) यहाँ विद्याकी उपासनामें विद्वानोंकी स्वतन्त्रता विवक्षित है, इसलिये वे 'स्वतन्त्रकर्ता' हैं। हेतुकर्ताका उदाहरण—'**चैत्रो मैत्रं हितं लम्भयते।**' (चैत्र मैत्रको हितकी प्राप्ति कराता है।) '**मैत्रो हितं लभते तं चैत्रः प्रेरयति इति चैत्रो मैत्रं हितं लम्भयते।**' (मैत्र हितको प्राप्त करता है और चैत्र उसे प्रेरणा देता है। अतः यह कहा जाता है कि 'चैत्र मैत्रको हितकी प्राप्ति कराता है'—यहाँ '**चैत्र**' प्रयोजककर्ता या हेतुकर्ता है। कर्मकर्ताका उदाहरण—'**प्राकृतधीः स्वयं भिद्यते।**' (गँवार बुद्धिवाला मनुष्य स्वयं ही फूट जाता है।), '**तरुः स्वयं छिद्यते।**' (वृक्ष स्वयं कट जाता है)। यहाँ फोड़नेवाले और काटनेवाले कर्ताओंके व्यापारको विवक्षाका विषय नहीं बनाया गया। जहाँ कार्यके अतिशय सौकर्यको प्रकट करनेके लिये कर्तृव्यापार अविवक्षित हो, वहाँ कर्म आदि अन्य कारक भी कर्ता-जैसे हो जाते हैं और तदनुसार ही क्रिया होती है। इस दृष्टिसे यहाँ '**प्राकृतधीः**' और '**तरुः**' पद कर्मकर्ताके रूपमें प्रयुक्त हैं। अभिहित कर्ताका उदाहरण—'**रामो गच्छति।**' (राम जाता है।) यहाँ 'कर्ता' अर्थमें तिङन्तका प्रयोग है, इसलिये कर्ता उक्त हुआ। जहाँ कर्ममें प्रत्यय हो, वहाँ 'कर्म' उक्त और 'कर्ता' अनुक्त या अनभिहित हो जाता है। अनभिहित कर्ताका उदाहरण—'**गुरुणा शिष्ये धर्मः व्याख्यायते।**' (गुरुद्वारा शिष्यके निमित्त धर्मकी व्याख्या की जाती है।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय होनेसे '**धर्मं**' की जगह '**धर्मः**' हो गया; क्योंकि उक्त कर्ममें प्रथमा विभक्ति होनेका नियम है। अनभिहित कर्तामें पहले कथित नियमके अनुसार तृतीया विभक्ति होती है, इसीलिये 'गुरुणा' पदमें तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। इस तरह पाँच प्रकारके 'कर्ता' बताये गये। अब सात प्रकारके कर्मका वर्णन सुनो॥ १—४॥

१-ईप्सितकर्म, २-अनीप्सितकर्म, ३-ईप्सितानीप्सित-कर्म, ४-अकथितकर्म, ५-कर्तृकर्म, ६-अभिहितकर्म तथा ७-अनभिहितकर्म। ईप्सितकर्मका उदाहरण—'**यतिः हरिं श्रद्दधाति।**' (विरक्त साधु या संन्यासी हरिमें श्रद्धा रखता है।) यहाँ कर्ता यतिको हरि अभीष्ट हैं, इसलिये वे 'ईप्सितकर्म' हैं। अतएव हरिमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है। अनीप्सितकर्मकका उदाहरण—'**अहिं लङ्घयते भृशम्।**' (उससे सर्पको बहुधा लँघवाता है।) यहाँ 'अहिं' यह 'अनीप्सितकर्म' है। लाँघनेवाला सर्पको लाँघना नहीं चाहता। वह किसीके हठ या प्रेरणासे सर्पलङ्घनमें प्रवृत्त होता है। ईप्सितानीप्सितकर्मका उदाहरण—'**दुग्धं संभक्षयव्रजः भक्षयेत्।**' (मनुष्य दूध पीता हुआ धूल भी पी जाता है।) यहाँ दुग्ध 'ईप्सितकर्म' है और धूल 'अनीप्सितकर्म'। अकथितकर्म—जहाँ अपादान आदि विशेष नामोंसे कारकको व्यक्त करना अभीष्ट न हो, वहाँ वह कारक 'कर्मसंज्ञक' हो जाता है। यथा—**गोपालः गां पयः दोग्धि।** (ग्वाला गायसे दूध दुहता है।) यहाँ 'गाय' अपादान है, तथापि अपादानके रूपमें कथित न होनेसे अकथित हो गया और उसमें पञ्चमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति हुई। कर्तृकर्म—जहाँ प्रयोजक कर्ताका प्रयोग होता है, वहाँ प्रयोज्य कर्ता कर्मके रूपमें परिणत हो जाता है। यथा—'**गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्।**' (गुरु शिष्यको गाँव भेजें।) '**शिष्यो ग्रामं गच्छेत् तं गुरुः प्रेरयेत् इति गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्।**' (शिष्य गाँवको जाय, इसके लिये गुरु उसे प्रेरित

करे, इस अर्थमें गुरु शिष्यको गाँव भेजें, यह वाक्य है।) यहाँ गुरु 'प्रयोजक कर्ता' है, और शिष्य प्रयोज्य कर्ता या 'कर्मभूत कर्ता' है। अभिहितकर्म—'**श्रियै हरेः पूजा क्रियते।**' (लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये श्रीहरिकी पूजा की जाती है।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय होनेसे पूजा 'उक्त कर्म' है, इसीको 'अभिहितकर्म' कहते हैं, अतएव इसमें प्रथमा विभक्ति हुई। अनभिहितकर्म—जहाँ कर्तामें प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म अनभिहित हो जाता है, अतएव उसमें द्वितीया विभक्ति होती है। उदाहरणके लिये यह वाक्य है—'**हरेः सर्वदं स्तोत्रं कुर्यात्**' (श्रीहरिकी सर्वमनोरथदायिनी स्तुति करे।) करण दो प्रकारका बताया गया है—'बाह्य' और 'आभ्यन्तर'। '**तृतीया करणे भवेत्।**'—इस पूर्वोक्त नियमके अनुसार करणमें तृतीया होती है। आभ्यन्तर करणका उदाहरण देते हैं—'**चक्षुषा रूपं गृह्णाति।**' (नेत्रसे रूपको ग्रहण करता है।) यहाँ नेत्र 'आभ्यन्तर करण' हैं, अतः इसमें तृतीया विभक्ति हुई। 'बाह्य करण'का उदाहरण है—'**दात्रेण तल्लुनेत्।**' (हँसुआसे उसको काटे।) यहाँ दात्र 'बाह्य करण' है। अतः उसमें तृतीया हुई है। सम्प्रदान तीन प्रकारका बताया गया है—प्रेरक, अनुमन्तृक और अनिराकर्तृक। जो दानके लिये प्रेरित करता हो, वह 'प्रेरक' है। जो प्राप्त हुई किसी वस्तुके लिये अनुमति या अनुमोदनमात्र करता है, वह 'अनुमन्तृक' है। जो न 'प्रेरक' है, न 'अनुमन्तृक' है, अपितु किसीकी दी हुई वस्तुको स्वीकार कर लेता है, उसका निराकरण नहीं करता, वह 'अनिराकर्तृक सम्प्रदान' है। '**सम्प्रदाने चतुर्थी।**'—इस पूर्वोक्त नियमके अनुसार सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है। तीनों सम्प्रदानोंके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—१-'**नरो ब्राह्मणाय गां ददाति।**' (मनुष्य ब्राह्मणको गाय देता है।) यहाँ ब्राह्मण 'प्रेरक सम्प्रदान' होनेके कारण उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है। ब्राह्मणलोग प्रायः यजमानको गोदानके लिये प्रेरित करते रहते हैं, अतः उन्हें 'प्रेरक सम्प्रदान' की संज्ञा दी गयी है। २-'**नरो नृपतये दासं ददाति।**' (मनुष्य राजाको दास अर्पित करता है।) यहाँ राजाने दास अर्पणके लिये कोई प्रेरणा नहीं दी है। केवल प्राप्त हुए दासको ग्रहण करके उसका अनुमोदनमात्र किया है, इसलिये वह 'अनुमन्तृक सम्प्रदान' है; अतएव 'नृपतये' में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। ३-'**सज्जनः भर्त्रे पुष्पाणि दद्यात्।**' (सज्जन पुरुष स्वामीको पुष्प दे)-यहाँ स्वामीने पुष्पदानकी मनाही न करके उसको अङ्गीकारमात्र कर लिया है, इसलिये 'भर्तृ' शब्द 'अनिराकर्तृक सम्प्रदान' है। सम्प्रदान होनेके कारण ही उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है। अपादान दो प्रकारका होता है—'चल' और 'अचल'। कोई भी अपादान क्यों न हो, '**अपादाने पञ्चमी स्यात्।**'—इस पूर्वकथित नियमके अनुसार उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है। '**धावतः अश्वात् पतितः।**' (दौड़ते हुए घोड़ेसे गिरा)—यहाँ दौड़ता हुआ घोड़ा 'चल अपादान' है। अतः '**धावतः अश्वात्**' में पञ्चमी विभक्ति हुई है। '**स वैष्णवः ग्रामादायाति।**' (वह वैष्णव गाँवसे आता है)—यहाँ ग्राम शब्द 'अचल अपादान' है, अतः उसमें पञ्चमी विभक्ति हुई है॥ ५—११॥

अधिकरण चार प्रकारके होते हैं—अभिव्यापक, औपश्लेषिक, वैषयिक और सामीप्यक। जो तत्त्व किसी वस्तुमें व्यापक हो, वह आधारभूत वस्तु अभिव्यापक 'अधिकरण' है। यथा—'**दध्नि घृतम्।**' (दहीमें घी है)। '**तिलेषु तैलं देवार्थम्।**' (तिलमें तेल है, जो देवताके उपयोगमें आता है।) यहाँ घी दहीमें और तैल तिलमें व्याप्त है। अतः इनके आधारभूत दही और तिल अभिव्यापक अधिकरण हैं। '**आधारो योऽधिकरणं**

विभक्तिस्तत्र सप्तमी।'—इस पूर्वोक्त नियमके अनुसार अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है। प्रस्तुत उदाहरणमें 'दध्नि' और 'तिलेषु'—इन पदोंमें इसी नियमसे सप्तमी विभक्ति हुई है। अब 'औपश्लेषिक अधिकरण' बताया जाता है—'**कपिर्गृहे तिष्ठेद् वृक्षे च तिष्ठेत्।**' (बंदर घरके ऊपर स्थित होता है और वृक्षपर भी स्थित होता है।) कपिके आधारभूत जो गृह और वृक्ष हैं, उनपर वह सटकर बैठता है। इसीलिये वह 'औपश्लेषिक अधिकरण' माना गया है। अधिकरण होनेसे ही 'गृहे' और 'वृक्षे'—इन पदोंमें सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अब 'वैषयिक अधिकरण' बताते हैं—विषयभूत अधिकरणको 'वैषयिक' कहते है। यथा—'**जले मत्स्यः।**', '**वने सिंहः।**' (जलमें मछली, वनमें सिंह।) यहाँ जल और वन 'विषय' हैं और मत्स्य तथा सिंह 'विषयी'। अतः विषयभूत अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति हुई। अब 'सामीप्यक अधिकरण' बताते हैं—'**गङ्गायां घोषो वसति।**' (गङ्गामें गोशाला बसती है।) यहाँ 'गङ्गा' का अर्थ है—गङ्गाके समीप। अतः 'सामीप्यक अधिकरण' होनेके कारण गङ्गामें सप्तमी विभक्ति हुई। ऐसे वाक्य 'औपचारिक' माने जाते हैं। जहाँ मुख्यार्थ बाधित होनेसे उसके सम्बन्धसे युक्त अर्थान्तरकी प्रतीति होती है, वहाँ 'लक्षणा' होती है। '**गौर्वाहिकः**' इत्यादि स्थलोंमें 'गो' शब्दका मुख्यार्थ बाधित होता है, अतः वह स्वसदृशको लक्षित कराता है। इस तरहके वाक्यप्रयोगको 'औपचारिक' कहते हैं। 'अनभिहित कर्ता' में तृतीया अथवा षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—'**विष्णुः सम्पूज्यते लोकैः।**' (लोगोंद्वारा विष्णु पूजे जाते हैं।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय हुआ है। अतः कर्म उक्त है और कर्ता अनुक्त। इसलिये अनुक्त कर्ता 'लोक' शब्दमें तृतीया विभक्ति हुई है। '**तेन गन्तव्यम्, तस्य गन्तव्यम्**' (उसको जाना चाहिये) यहाँ उपर्युक्त नियमके अनुसार तृतीया और षष्ठी—दोनोंका प्रयोग हुआ है। षष्ठीका प्रयोग कृदन्तके योगमें ही होता है। अभिहित कर्ता और कर्ममें प्रथमा विभक्ति होती है। इसीलिये '**विष्णुः**' में प्रथमा विभक्ति हुई है। '**भक्तः हरिं प्रणमेत्।**' (भक्त भगवान्‌को प्रणाम करे।) यहाँ अभिहित कर्ता 'भक्त'में **प्रथमा** विभक्ति हुई है और अनुक्त कर्म 'हरि' में द्वितीया विभक्ति। 'हेतु'में तृतीया विभक्ति होती है। यथा—'**अन्नेन वसेत्।**' (अन्नके हेतु कहीं भी निवास करे।) यहाँ हेतुभूत अन्नमें तृतीया विभक्ति हुई है। 'तादर्थ्य'में चतुर्थी विभक्ति कही गयी है। यथा—'**वृक्षाय जलम्**' 'वृक्षके लिये पानी।' यहाँ 'वृक्ष' शब्दमें '**तादर्थ्यप्रयुक्त**' चतुर्थी विभक्ति हुई है। परि, उप, आङ् आदिके योगमें पञ्चमी विभक्ति होती है। यथा—'**परि ग्रामात् पुरा बलवत् वृष्टोऽयं देवः।**' (गाँवसे कुछ दूर हटकर दैवने पूर्वकालमें बड़े जोरकी वर्षा की थी।)—इस वाक्यमें 'परि'के साथ योग होनेके कारण 'ग्राम' शब्दमें पञ्चमी विभक्ति हुई है। दिग्वाचक शब्द, अन्यार्थक शब्द तथा 'ऋते' आदि शब्दोंके योगमें भी पञ्चमी विभक्ति होती है। यथा—'**पूर्वो ग्रामात्। ऋते विष्णोः। न मुक्तिः इतरा हरेः।**' 'पृथक्' और 'विना' आदिके योगमें तृतीया एवं पञ्चमी विभक्ति होती है—जैसे '**पृथग् ग्रामात्।**' यहाँ 'पृथक्' शब्दके योगमें 'ग्राम' शब्दसे पञ्चमी और '**पृथग् विहारेण**'—यहाँ 'पृथक्' शब्दके योगमें 'विहार' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। इसी प्रकार 'विना' शब्दके योगमें भी जानना चाहिये। '**विना श्रिया**'—यहाँ 'विना' के योगमें 'श्री'शब्दसे द्वितीया, '**विना श्रिया**'—यहाँ 'विना'के योगमें 'श्री'शब्दसे तृतीया और '**विना श्रियः**'—यहाँ

'विना'के योगमें 'श्री' शब्दसे पञ्चमी विभक्ति हुई है। कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दोंके योगमें द्वितीया विभक्ति होती है—जैसे **'अन्वर्जुनं योद्धारः**—योद्धा अर्जुनके संनिकट प्रदेशमें हैं।'—यहाँ 'अनु' कर्मप्रवचनीय-संज्ञक है—इसके योगमें 'अर्जुन' शब्दमें द्वितीया विभक्ति हुई। इसी प्रकार **अभितः, परितः** आदिके योगमें भी द्वितीया होती है। यथा **'अभितो ग्राममीरितम्।'**—गाँवके सब तरफ कह दिया है।' यहाँ **'अभितः'** शब्दके योगमें 'ग्राम' शब्दमें द्वितीया विभक्ति हुई है। **नमः, स्वाहा, स्वधा, स्वस्ति** एवं **वषट्** आदि शब्दोंके योगमें चतुर्थी विभक्ति होती है—जैसे **'नमो' देवाय**—(देवको नमस्कार है)—यहाँ **'नमः'** के योगमें 'देव' शब्दमें चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार **'ते स्वस्ति'**—तुम्हारा कल्याण हो—यहाँ **'स्वस्ति'** के योगमें **'युष्मद्'** शब्दसे चतुर्थी विभक्ति हुई (**'युष्मद्'** शब्दको चतुर्थीके एकवचनमें वैकल्पिक 'ते' आदेश हुआ है)। तुमुन्प्रत्ययार्थक भाववाची शब्दसे चतुर्थी विभक्ति होती है—जैसे **'पाकाय याति'** और **'पक्तये याति'**—पकानेके लिये जाता है।' यहाँ 'पाक' और 'पक्ति' शब्द 'तुमर्थक भाववाची' हैं। इन दोनोंसे चतुर्थी विभक्ति हुई। 'सहार्थ' शब्दके योगमें हेतु-अर्थ और कुत्सित अङ्गवाचकमें तृतीया विभक्ति होती है। सहार्थयोगमें तृतीया विशेषणवाचकसे होती है। जैसे **'पिताऽगात् सह पुत्रेण'**—पिता पुत्रके साथ चले गये।' यहाँ 'सह' शब्दके योगमें विशेषणवाचक 'पुत्र' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। इसी प्रकार **'गदया हरिः'** (भगवान् हरि गदाके सहित रहते है)—यहाँ 'सहार्थक' शब्दके न रहनेपर भी सहार्थ है, इसलिये विशेषणवाचक 'गदा' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। **'अक्ष्णा काणः**—आँखसे काना है।'—यहाँ कुत्सितअङ्गवाचक 'अक्षि' शब्द है। उससे तृतीया विभक्ति हुई। **'अर्थेन निवसेद् भृत्यः।'**—'भृत्य धनके कारणसे रहता है।'—यहाँ हेतु-अर्थ है **'धन'**। तद्वाचक 'अर्थ' शब्दसे तृतीया विभक्ति हुई। कालवाचक और भाव अर्थमें सप्तमी विभक्ति होती है। अर्थात् जिसकी क्रियासे अन्य क्रिया लक्षित होती है, तद्वाचक शब्दसे सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—**'विष्णौ नते भवेन्मुक्तिः'**—भगवान् विष्णुको नमस्कार करनेपर मुक्ति मिलती है।—यहाँ श्रीविष्णुकी नमस्कार-क्रियासे मुक्ति-भवनरूपा क्रिया लक्षित होती है, अतः 'विष्णु' शब्दसे सप्तमी विभक्ति हुई। इसी प्रकार **'वसन्ते स गतो हरिम्'**—वह वसन्त ऋतुमें हरिके पास गया।'—यहाँ 'वसन्त' कालवाचक है, उससे सप्तमी हुई। (स्वामी, ईश, पति, साक्षी, सूत और दायाद आदि शब्दोंके योगमें षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं—) जैसे—**'नृणां स्वामी, नृषु स्वामी'**—मनुष्योंका स्वामी,—यहाँ 'स्वामी' शब्दके योगमें 'नृ' शब्दसे षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। इसी प्रकार **'नृणामीशः'**—नरोंके ईश'—यहाँ 'ईश' शब्दके योगमें 'नृ' शब्दसे, तथा **'सतां पतिः'**—सज्जनोंका पति—यहाँ 'सत्' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। ऐसे ही **'नृणां साक्षी, नृषु साक्षी**—मनुष्योंका साक्षी'—यहाँ 'नृ' शब्दसे षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। **'गोषु नाथो गवां पतिः**—गौओंका स्वामी है, यहाँ 'नाथ' और 'पति' शब्दोंके योगमें 'गो' शब्दसे षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। **'गोषु सूतो गवां सूतः**—गौओंमें उत्पन्न है'—यहाँ 'सूत' शब्दके योगमें 'गो' शब्दसे षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति हुई। **'इह राज्ञां दायादकोऽस्तु।'**—यहाँ राजाओंका दायाद हो। यहाँ 'दायाद' शब्दके योगमें 'राजन्' शब्दमें षष्ठी विभक्ति हुई है। हेतुवाचकसे 'हेतु' शब्दके प्रयोग होनेपर षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे **'अन्नस्य हेतोर्वसति**—अन्नके कारण वास करता है।'—यहाँ 'वास'में

अन्न 'हेतु' है, तद्वाचक 'हेतु' शब्दका भी प्रयोग हुआ है, अतः 'अन्न' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। स्मरणार्थक धातुके प्रयोगमें उसके कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—'**मातुः स्मरति।**—माताको स्मरण करता है।' यहाँ 'स्मरति'के योगमें 'मातृ' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। कृत्प्रत्ययके योगमें कर्त्ता एवं कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—'**अपां भेत्ता**—जलको भेदन करनेवाला।' यहाँ-'भेत्तृ' शब्द 'कृत्' प्रत्ययान्त' है। उसके योगमें—कर्मभूत 'अप्' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई। इसी प्रकार '**तव कृतिः**—तुम्हारी कृति है'—यहाँ 'कृति' शब्द 'कृत्प्रत्ययान्त' है। उसके योगमें कर्तृभूत 'युष्मद्' शब्दसे षष्ठी विभक्ति हुई (**युष्मद्-ङस्=तव**)—निष्ठा आदि अर्थात् **क्त-क्तवतु, शतृ-शानच्, उ, उक, क्त, तुमुन्, खलर्थक, तृन्, शानच्, चानश्** आदिके योगमें षष्ठी विभक्ति नहीं होती (यथा '**ग्रामं गतः**' इत्यादि) ॥ १२—२६ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कारक-निरूपण' नामक
तीन सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५४॥

तीन सौ पचपनवाँ अध्याय

समास-निरूपण

भगवान् कार्त्तिकेय कहते हैं—कात्यायन! मैं छः* प्रकारके 'समास' बताऊँगा। फिर अवान्तर-भेदोंसे 'समास'के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। समास 'नित्य' और 'अनित्य' के भेदसे दो प्रकारका है तथा 'लुक्' और 'अलुक्'के भेदसे भी उसके दो प्रकार और हो जाते हैं। कुम्भकार और हेमकार 'नित्य समास' हैं। (क्योंकि विग्रह-वाक्यद्वारा ये शब्द जातिविशेषका बोध नहीं करा सकते।) '**राज्ञः+पुमान्= राजपुमान्**'— यह षष्ठी-तत्पुरुष समास स्वपदविग्रह होनेके कारण 'अनित्य' है। **कष्टश्रितः (कष्टं+श्रितः)**—इसमें 'लुक्' समास है; क्योंकि 'कष्ट' पदके अन्तमें स्थित द्वितीया विभक्तिका 'लुक्' (लोप) हो जाता है। '**कण्ठेकालः**' आदि 'अलुक्' समास हैं; क्योंकि इसमें कण्ठशब्दोत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्तिका 'लुक्' नहीं होता। तत्पुरुष-समास आठ प्रकारका होता

---

* जहाँ अनेक पदोंका परस्पर एकार्थीभावरूप सामर्थ्य लक्षित हो, उनमें 'समास' होता है। कृत्, तद्धित, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु—ये पाँच वृत्तियाँ मानी गयी हैं। परार्थका अभिधान (कथन) 'वृत्ति' है। वृत्त्यर्थके अवबोधक वाक्यको 'विग्रह' कहते हैं। 'विग्रह' दो प्रकारका होता है—'लौकिक' और 'अलौकिक'। परिनिष्ठित (प्रयोगार्ह) होनेके कारण जो साधुवाक्य है, वह 'लौकिक विग्रह' कहलाता है। जो प्रयोगयोग्य न होनेसे असाधु है, वह 'अलौकिक विग्रह' है। 'राज्ञः पुरुषः'—यह 'लौकिक विग्रह' है 'राजन्+ङस्, पुरुष+सु' यह अलौकिक विग्रह है। समास 'नित्य' और 'अनित्य'के भेदसे दो प्रकारका है। जो अविग्रह (लौकिक विग्रहसे रहित) या अस्वपद-विग्रह (समस्यमान 'यावत्' पदसे अघटित) हो, वह 'नित्य-समास' है; इसके विपरीत 'अनित्य-समास' है। प्राचीन विद्वानोंने समासके छः प्रकार बताये हैं। यथा—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा। सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥

(१) उदाहरणके लिये सुबन्तका सुबन्तके साथ समास—राजपुरुषः। यहाँ ('राज्ञः पुरुषः' इस विग्रहके अनुसार) पूर्व और उत्तर दोनों पद 'सुबन्त' हैं। (२) सुबन्तका तिङ्के साथ समास—यथा—'पर्यभूषत्'। (३) 'सुबन्त'को नामके साथ —कुम्भकारः। हेमकारः इत्यादि। (४) 'सुबन्त, का धातुके साथ समास। यथा—'कटप्रूः', अजस्रम् इत्यादि। (५) तिङन्तका तिङन्तके साथ समास, यथा—पिबतखादता। खादतमोदता इत्यादि। (६) तिङन्तका सुबन्तके साथ समास, यथा—कृन्तविचक्षणा। इसका मयूरव्यंसकादिगणमें पाठ है।'

है। प्रथमान्त आदि शब्द सुबन्तके साथ समस्त होते हैं। '**पूर्वकायः**' इस तत्पुरुषसमासमें जब '**पूर्वं कायस्य**'— ऐसा विग्रह किया जाता है, तब यह '**प्रथमा-तत्पुरुष**' समास कहा जाता है। इसी प्रकार '**अपरकायः**'—**कायस्य अपरम्,** इस विग्रहमें, '**अधरकायः**'—**कायस्य अधरम्**—इस विग्रहमें और '**उत्तरकायः**'—**कायस्योत्तरम्**— इस विग्रहमें भी प्रथमा-तत्पुरुष समास कहा जाता है। ऐसे ही '**अर्द्धकणा**' इसमें **अर्द्धम् कणायाः**—ऐसा विग्रह होनेसे प्रथमा-तत्पुरुष समास होता है एवं '**भिक्षातुर्यम्**'—इसमें **तुर्यं भिक्षायाः**—ऐसा विग्रह होनेसे **तुर्यभिक्षा** और पक्षान्तरमें '**भिक्षातुर्यम्**'—ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष होता है। ऐसे ही '**आपन्नजीविकः**' यह द्वितीया-तत्पुरुष समास है। इसका विग्रह इस प्रकार होता है— '**आपन्नो जीविकाम्।**' पक्षान्तरमें '**जीविकापन्नः**' ऐसा रूप होता है। इसी प्रकार '**माधवाश्रितः**'— यह द्वितीया-समास है; इसका विग्रह '**माधवम् आश्रितः**'—इस प्रकार है। '**वर्षभोग्यः**'—यह द्वितीया-तत्पुरुष समास है—इसका विग्रह है '**वर्षं भोग्यः।**' '**धान्यार्थः**' यह तृतीया-समास है। इसका विग्रह '**धान्येन अर्थः**' इस प्रकार है। '**विष्णुबलिः**' यहाँ '**विष्णवे बलिः**'—इस विग्रहमें चतुर्थी-तत्पुरुष समास होता है। '**वृकभीतिः**' यह पञ्चमी-तत्पुरुष है। इसका विग्रह '**वृकाद् भीतिः**'—इस प्रकार है। '**राजपुमान्**'—यहाँ '**राज्ञः पुमान्**'— इस विग्रहमें षष्ठी-तत्पुरुष समास होता है। इसी प्रकार '**वृक्षस्य फलम्—वृक्षफलम्**'—यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास है। '**अक्षशौण्डः**' (द्यूतक्रीडामें निपुण) इसमें सप्तमी-तत्पुरुष समास है। **अहितः**— जो हितकारी न हो, वह—इसमें 'नञ्समास' है॥ १—७॥

'नीलोत्पल' आदि जिसके उदाहरण हैं, वह 'कर्मधारय' समास सात प्रकारका होता है १-**विशेषणपूर्वपद** (जिसमें विशेषण पूर्वपद हो और विशेष्य उत्तरपद अथवा)। इसका उदाहरण है—'**नीलोत्पल**' (नीला कमल)। २-**विशेष्योत्तर-विशेषणपद**—इसका उदाहरण है—'**वैयाकरणखसूचिः**' (कुछ पूछनेपर आकाशकी ओर देखनेवाला वैयाकरण)। ३-**विशेषणोभयपद** (अथवा विशेषणद्विपद) जिसमें दोनों पद विशेषणरूप ही हों। जैसे—शीतोष्ण (ठंडा-गरम)। ४-**उपमानपूर्वपद**। इसका उदाहरण है—**शङ्खपाण्डुरः** (शङ्खके समान सफेद)। ५-**उपमानोत्तरपद**—इसका उदाहरण है—'**पुरुषव्याघ्रः**' (पुरुषो व्याघ्र इव)। ६-**सम्भावना-पूर्वपद**—(जिसमें पूर्वपद सम्भावनात्मक हो) उदाहरण—**गुणवृद्धिः** (गुण इति वृद्धिः स्यात्। अर्थात् 'गुण' शब्द बोलनेसे वृद्धिकी सम्भावना होती है)। तात्पर्य यह है कि 'वृद्धि हो'—यह कहनेकी आवश्यकता हो तो 'गुण' शब्दका ही उच्चारण करना चाहिये। ७-**अवधारणपूर्वपद**— [जहाँ पूर्वपदमें 'अवधारण' (निश्चय) सूचक शब्दका प्रयोग हो, वह]। जैसे—'**सुहृदेव सुबन्धुकः**' (सुहृद् ही सुबन्धु है)। बहुव्रीहिसमास भी सात प्रकारका ही होता है॥ ८—११॥

१-द्विपद, २-बहुपद, ३-संख्योत्तरपद, ४-संख्योभयपद, ५-सहपूर्वपद, ६-व्यतिहारलक्षणार्थ तथा ७- दिग्लक्षणार्थ। 'द्विपद बहुव्रीहि' में दो ही पदोंका समास होता है। यथा—'**आरूढभवनो नरः**'। (**आरूढं भवनं येन सः**—इस विग्रहके अनुसार जो भवनपर आरूढ हो गया हो, उस मनुष्यका बोध कराता है।) 'बहुपद बहुव्रीहि' में दोसे अधिक पद समासमें आबद्ध होते हैं। इसका उदाहरण है—'**अयम् अर्चिताशेषपूर्वः।**' (**अर्चिता अशेषाः पूर्वा यस्य सोऽयम् अर्चिताशेषपूर्वः।**) अर्थात् जिसके सारे पूर्वज पूजित हुए हों, वह 'अर्चिताशेषपूर्व' है। इसमें

'अर्चित' 'अशेष' तथा 'पूर्व'—ये तीनों पद समासमें आबद्ध हैं। ऐसा समास 'बहुपद' कहा गया है। '**संख्योत्तरपद**'का उदाहरण है—'**एते विप्रा उपदशाः**'—ये ब्राह्मण लगभग दस हैं'। इसमें 'दस' संख्या उत्तरपदके रूपमें प्रयुक्त है। '**द्वित्राः द्व्येकत्रयः**' इत्यादि **संख्योभयपद**के उदाहरण हैं। '**सहपूर्वपद**'का उदाहरण—'**समूलोद्धृतकः तरुः**' (**सह मूलेन उद्धृतं कं शिखा यस्य सः**। अर्थात् जडसहित उखड़ गयी है शिखा जिसकी, वह वृक्ष)—यहाँ पूर्वपदके स्थानमें '**सह**' (स)-का प्रयोग हुआ है। **व्यतिहार-लक्षणका** उदाहरण है—**केशाकेशि, नखानखि युद्धम्** (आपसमें झोंटा-झुटौअल, परस्पर नखोंसे बकोटा-बकोटीपूर्वक कलह) ॥ १२—१४ ॥

दिग्लक्षणार्थका उदाहरण—**उत्तरपूर्वा** (उत्तर और पूर्वके अन्तरालकी दिशा)। 'द्विगु' समास दो प्रकारका बताया गया है। 'एकवद्भाव' तथा 'अनेकधा' स्थितिको लेकर ये भेद किये गये हैं। संख्या पूर्वपदवाला समास 'द्विगु' है। इसे कर्मधारयका ही एक भेदविशेष स्वीकार किया गया है। '**एकवद्भाव**'का उदाहरण है—**द्विशृङ्गम्** (दो सींगोंका समाहार)। '**पञ्चमूली**' भी इसीका उदाहरण है। '**अनेकधा**' या '**अनेकवद्भाव**'का उदाहरण है—**सप्तर्षयः** इत्यादि। '**पञ्च ब्राह्मणाः**'में समास नहीं होगा; क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है॥ १५ ॥

'**द्वन्द्व**' समास भी दो ही प्रकारका होता है—१-'इतरेतरयोगी' तथा २-'समाहारवान्'। प्रथमका उदाहरण है—'**रुद्रविष्णू** (रुद्रश्च विष्णुश्च—रुद्र तथा विष्णु)। यहाँ इतरेतर-योग है। **समाहार**का उदाहरण है—**भेरीपटहम्** (भेरी च पटहश्च, अनयोः समाहारः—अर्थात् भेरी और पटहका समाहार)। यहाँ '**तुर्याङ्ग**' होनेसे इनका एकवद्भाव होता है। **अव्ययीभाव** समास भी दो तरहका होता है—१-'नामपूर्वपद' और २-('यथा' आदि) अव्यय-पूर्वपद। प्रथमका उदाहरण है—शाकस्य मात्रा—**शाकप्रति**। यहाँ 'शाक' पूर्वपद है और मात्रार्थक 'प्रति' अव्यय उत्तरपद। दूसरेका उदाहरण—'**उपकुमारम्-उपरथ्यम्**' इत्यादि हैं। समासको प्रायः चार प्रकारोंमें विभक्त किया जाता है—१-उत्तरपदार्थकी प्रधानतासे युक्त (तत्पुरुष), २-उभयपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व समास, ३-पूर्वपदार्थ-प्रधान 'अव्ययीभाव' तथा ४-अन्य अथवा बाह्यपदार्थ-प्रधान 'बहुव्रीहि' ॥ १६—१९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समासविभागका वर्णन' नामक तीन सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५५ ॥

तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय

त्रिविध तद्धित-प्रत्यय

कुमार स्कन्ध कहते हैं— कात्यायन! अब त्रिविध '**तद्धित**'का वर्णन करूँगा। '**तद्धित**'के तीन भेद हैं—**सामान्यावृत्ति तद्धित, अव्यय तद्धित** तथा **भाववाचक तद्धित**। '**सामान्यावृत्ति तद्धित**' इस प्रकार है—'अंस' शब्दसे '**लच्**' प्रत्यय होनेपर '**अंसलः**' बनता है; इसका अर्थ है—बलवान्। 'वत्स' शब्दसे '**लच्**' प्रत्यय होनेपर '**वत्सलः**' रूप होता है, इसका अर्थ स्नेहवान् है*।

* पाणिनि-व्याकरणके अनुसार 'वत्सांसाभ्यां कामबले।' (५। २। ९८)—इस सूत्रसे क्रमशः 'कामवान्' और 'बलवान्'के अर्थमें 'वत्स' और 'अंस' शब्दोंसे 'लच्' प्रत्यय होता है। सूत्रमें 'काम' तथा 'बल' शब्द अर्श आद्यजन्य माने गये हैं। 'काम' शब्द यहाँ 'स्नेह'का

'फेन' शब्दसे '**इलच्**' प्रत्यय होनेपर '**फेनिलम्**'[१] रूप होता है, इसका अर्थ है—फेनयुक्त जल। लोमादिगणसे '**श**' प्रत्यय होता है, (विकल्पसे '**मतुप्**' भी होता है)—इस नियमके अनुसार '**श**' प्रत्यय होनेपर '**लोमशः**'[२] प्रयोग बनता है। ('**मतुप्**' होनेपर '**लोमवान्**' होता है। इसी तरह '**रोमशः, रोमवान्**'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।) पामादि शब्दोंसे 'न' होता है—इस नियमके अनुसार 'पाम' शब्दसे 'न' होनेपर '**पामनः**' '**अङ्गात् कल्याणे।**'—इस वार्तिकके अनुसार 'कल्याण' अर्थमें 'अङ्ग' शब्दसे 'न' होनेपर '**लक्ष्मणः**' (उत्तम लक्षणोंसे युक्त) ये रूप बनते हैं। वैकल्पिक '**मतुप्**' होनेपर तो '**पामवान्**' आदि रूप होंगे। जिसे खुजली हुई हो, वह '**पामन**' या '**पामवान्**' है। इसी तरह पिच्छादि शब्दोंसे '**इलच्**' होता है—इस नियमके अनुसार '**इलच्**' होनेपर '**पिच्छिलः**', '**पिच्छवान्**'; '**उरसिलः**', '**उरस्वान्**' इत्यादि रूप होते हैं। '**पिच्छिलः**' का अर्थ 'पंखवान्' होता है। मार्गका विशेषण होनेपर यह फिसलनयुक्तका बोधक होता है—यथा '**पिच्छिलः पन्थाः।**' '**उरस्वान्**' का अर्थ '**मनस्वी**' समझना चाहिये। ['**प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः।**' (५। २। १०१)—इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार] '**ण**' प्रत्यय करनेपर 'प्रज्ञा' शब्दसे 'प्राज्ञः' (प्रज्ञावान्), 'श्रद्धा' शब्दसे '**श्राद्धः**' (श्रद्धावान्) और 'अर्चा' शब्दसे '**आर्चः**' (अर्चावान्) रूप बनते हैं। वाक्यमें प्रयोग—'**प्राज्ञो व्याकरणे।**' स्त्रीलिङ्गमें '**प्राज्ञा**' (प्रज्ञावती) रूप होगा। '**ण**' प्रत्यय होनेसे अणन्तत्वप्रयुक्त '**ङीप्**' प्रत्यय यहाँ नहीं होगा। यद्यपि '**प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः स एव प्रज्ञावान्।' प्रज्ञ एव प्राज्ञः। (स्वार्थे अण् प्रत्ययः)**—इस प्रकार भी '**प्राज्ञः**' की सिद्धि तो होती है, तथापि इससे स्त्रीलिङ्गमें '**प्राज्ञी**' रूप बनेगा, '**प्राज्ञा**' नहीं। '**वृत्ति**' शब्दसे भी '**ण**' प्रत्यय होता है—'**वार्तः**' (वृत्तिमान्)। '**वार्ता**' विद्या इत्यादि। ऊँचे दाँत हैं इसके—इस अर्थमें '**दन्त**' शब्दसे '**उरच्**' प्रत्यय होनेपर '**दन्तुरः**'—यह रूप होता है। '**दन्त उन्नत उरच्।**' (५। २। १०६)-इस पाणिनि-सूत्रसे उक्त अर्थमें '**दन्तुरः**' इस पदकी सिद्धि होती है। 'मधु' शब्दसे 'र' प्रत्यय होनेपर '**मधुरम्**'[३], 'सुषि' शब्दसे 'र' प्रत्यय होनेपर '**सुषिरम्**', 'केश' शब्दसे 'व' प्रत्यय होनेपर '**केशवः**'[४]

वाचक है। यद्यपि लोकमें 'वत्स'का अर्थ बछड़ा और 'अंस'का अर्थ कंधा समझा जाता है, तथापि तद्धित वृत्तिमें 'वत्स' और 'अंस' शब्द क्रमशः 'स्नेह' तथा 'बल'के अर्थमें ही लिये गये हैं (तत्त्वबोधिनी)। इन अर्थोंमें 'मतुप्' प्रत्ययका समुच्चय नहीं होता; क्योंकि 'मतुप्' प्रत्यय करनेपर उक्त अर्थोंकी प्रतीति न होकर अर्थान्तरकी ही प्रतीति होती है। यथा 'वत्सवती गौः।' 'अंसवान् दुर्बलः।' इत्यादि।

१. पाणिनिके अनुसार 'फेनादिलच् च' (५। २। ९९)—इस सूत्रसे 'इलच्' प्रत्यय होता है। यहाँ चकारसे 'लच्' प्रत्ययका भी विकल्पसे विधान सूचित होता है। 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्।' (५। २। ९६)—इस सूत्रसे 'अन्यतरस्याम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे यहाँ 'मतुप्'का भी समुच्चय होता है। इस प्रकार 'फेन' शब्दसे तीन रूप होते हैं—'**फेनिलः', फेनलः**' तथा '**फेनवान्**' सागरः।

२. 'लोमशः' 'पामनः' और 'पिच्छिलः' आदि पदोंके साधनके लिये पाणिनिने एक ही सूत्रका उल्लेख किया है—'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः।' (५। २। १००)

३. 'ऊषसुषिमुष्कमधो रः' (पा० सू० ५। २। १०७)—इस सूत्रसे 'र' प्रत्यय होनेपर 'ऊष' आदि शब्दोंसे 'ऊषरः', 'सुषिरम्', 'मुष्करः', 'मधुरम्'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। ये क्रमशः ऊसर भूमि, छिद्र, अण्डकोशवान् तथा माधुर्ययुक्तके बोधक हैं।

४. 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्।' (५। २। १०९)—इस सूत्रसे 'केश' शब्दसे 'व' प्रत्यय होनेपर 'केशवः' रूप बनता है। 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति प्रकरणतः प्राप्त होनेसे 'मतुप्' सिद्ध था; पुनः उक्त सूत्रमें जो उसका ग्रहण किया गया, इससे 'इन्' और 'ठन्' का भी समावेश होता है, अतः केशवान्, केशी और केशिकः—ये तीन रूप और बनते हैं। ये सभी प्रयोग मत्वर्थीयप्रत्ययान्त हैं, तथापि व्यवहारमें अन्तर है। 'केशवः' का अर्थ है—घुँघराले केशवाले भगवान् श्रीकृष्ण। अन्य किसीके लिये इस शब्दका प्रयोग नहीं देखा जाता। 'केशी' और 'केशिक' उस दैत्यका वाचक है, जो अश्वरूपधारी था और उसकी गर्दनपर बड़े-बड़े बाल (अयाल) थे। 'केशवान्' पद सामान्यतः सभी केशधारियोंके लिये प्रयुक्त होता है।

'हिरण्य' तथा 'मणि' शब्दोंसे 'व' प्रत्यय होनेपर '**हिरण्यवमणि वः**[१-२]'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'रजस्' शब्दसे 'वलच्' प्रत्यय होनेपर '**रजस्वलम्**[३]' पदकी सिद्धि होती है। १—३।

'धन', 'कर' तथा 'हस्त'—इन शब्दोंसे 'इनि' प्रत्यय होनेपर क्रमशः 'धनी', 'करी' और 'हस्ती'—ये पद सिद्ध होते हैं। 'धन' शब्दसे 'ठन्' प्रत्यय होनेपर '**धनिकं कुलम्**' या '**धनिकः पुरुषः**'—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'पयस्' तथा 'माया' शब्दोंसे 'विनि' प्रत्यय होनेपर 'पयस्वी', 'मायावी'—ये रूप बनते हैं। 'ऊर्णा' शब्दसे मत्वर्थीय 'युस्' प्रत्यय होनेपर 'ऊर्णायुः' पदकी सिद्धि बतायी गयी है।[४] 'वाच्' शब्दसे 'ग्मिनि' प्रत्यय होनेपर 'वाग्मी' तथा '**आलच्**' प्रत्यय होनेपर '**वाचालः**'—ये रूप बनते हैं। उसीसे 'आटच्' प्रत्यय होनेपर '**वाचाटः**' रूप बनता है। 'फल' तथा 'बर्ह' शब्दोंसे 'इनच्' प्रत्यय होनेपर क्रमशः '**फलिनः**', '**बर्हिणः**'—ये रूप बनते हैं। 'वृन्द' शब्दसे 'आरकन्' प्रत्यय होनेपर 'वृन्दारकः'—इस पदकी सिद्धि होती है[५] ॥ ४-५ ॥

'शीतं न सहते', 'हिमं न सहते'—इस विग्रहमें 'शीत' तथा 'हिम' शब्दोंसे '**आलुच्**' प्रत्यय करनेपर '**शीतालुः**' तथा '**हिमालुः**' रूप बनते हैं। 'वात' शब्दसे 'उलच्' प्रत्यय होनेपर 'वातुलः' रूप बनता है। 'अपत्य' अर्थमें 'अण्' प्रत्यय होता है। '**वसिष्ठस्यापत्यं पुमान् वासिष्ठः।**', '**कुरोरपत्यं पुमान् कौरवः।**' (वसिष्ठकी संतान 'वासिष्ठ' कहलाती है तथा कुरुकी संतति 'कौरव')—'वहाँ उसका निवास है'—इस अर्थमें सप्तम्यन्त 'समर्थ' शब्दसे 'अण्' प्रत्यय होता है। यथा '**मथुरायां वासोऽस्येति माथुरः।**' (मथुरामें निवास है इसका, इसलिये यह 'माथुर' है।) '**सोऽस्य वासः।**'—वह इसका वासस्थान है, इस अर्थमें भी प्रथमान्त 'समर्थसे' 'अण्' प्रत्यय होता है। 'उसको जानता और उसे पढ़ता है'—इस अर्थमें द्वितीयान्त 'समर्थ' पदसे 'अण्' प्रत्यय होता है। '**चान्द्रं व्याकरणमधीते तद् वेद वा इति चान्द्रः।**' (**चान्द्र एव चान्द्रकः स्वार्थे कप्रत्ययः**)। 'क्रमादि' शब्दोंसे 'वुन्' प्रत्यय होता है ('वु'के स्थानमें 'अक' आदेश होता है।) '**क्रमं वेत्ति इति क्रमकः**'—जो क्रमपाठको जानता है, वह '**क्रमक**' है। इसी तरह 'पदकः', 'शिक्षकः', 'मीमांसकः' इत्यादि पद बनते हैं। '**कोशम् अधीते वेद वा।**'—जो कोशको जानता या पढ़ता है, वह '**कौशक**' है ॥ ६—८ ॥

१-२. 'हिरण्यवः' का अर्थ 'हिरण्यवान्' (सुवर्ण—सम्पत्तिसे युक्त) तथा 'मणिवः' शब्द 'मणिधारी' (मनियारा) सर्प या नागके लिये प्रयुक्त होता है।

३. 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (५। २। ११२)—इस सूत्रसे 'वलच्' प्रत्यय होनेपर क्रमशः 'रजस्वल', 'कृषीवल', 'आसुतीवल' तथा 'परिषद्वल' शब्द सिद्ध होते हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—धूलसे भरा, किसान, जुआरी तथा परिषत्—सभा या समूहसे युक्त।

४. 'अत इनिठनौ' (५। २। ११५)—इस सूत्रसे 'इनि' प्रत्यय होनेपर 'धनी' तथा 'ठन्' प्रत्यय होनेपर 'धनिकः' रूप बनते हैं। इसी प्रकार करी, करिकः, हस्ती, हस्तिकः—ये रूप बनते हैं। 'धनी' का अर्थ है—धनवान् तथा 'करी' और 'हस्ती' का अर्थ है—हाथी। 'पयस्वी' का अर्थ है—दूधवाला तथा 'मायावी' का अर्थ है—माया फैलानेवाला। 'विनि' प्रत्ययका विधायक सूत्र है—'अस्मायामेधास्रजो विनिः।' (५। २। १२१)। 'ऊर्णाया युस्।' (५। २। १२३)—इस सूत्रसे 'युस्' प्रत्ययका विधान हुआ। 'ऊर्णायुः' माने ऊनी।

५. 'वाचोग्मिनिः।' (५। २। १२४)—इस सूत्रसे 'ग्मिनि' प्रत्यय होता है। 'आलजाटचौ बहुभाषिणि।' 'कुत्सित इति वक्तव्यम्'—इन वार्तिकोंद्वारा 'आलच्' और 'आटच्' प्रत्यय होते हैं। अच्छी बातको बहुत बोलनेवाला 'वाग्मी' कहलाता है और कुत्सित बातको अधिक बोलनेवाला 'वाचाल' और 'वाचाट' कहलाता है। 'फलबर्हाभ्यामिनच्।' इस वार्तिकसे 'इनच्' और 'शृङ्गवृन्दाभ्याम् आरकन्।' इस वार्तिकसे 'आरकन्' प्रत्यय होनेपर 'फलिनः' (फलवान्), 'बर्हिणः' (मोर) तथा 'वृन्दारकः' (देवता)—ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'**धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्।**' (पा०सू० ५। २। १)—इस सूत्रके अनुसार धान्योंकी उत्पत्तिके आधारभूत क्षेत्रके अर्थमें षष्ठ्यन्त समर्थ धान्य-वाचक शब्दसे 'खञ्' प्रत्यय होता है। (स्कन्दने कात्यायनको जिसका उपदेश किया, उस कौमार-व्याकरणमें भी यह नियम देखा जाता है।) इसके अनुसार **प्रियंगोर्भवनं क्षेत्रं प्रैयंगवीनम्—प्रियंगु (कँगनी)**की उत्पत्तिके आधारभूत क्षेत्रका बोध करानेके लिये 'खञ्' प्रत्यय होनेपर ('ख' के स्थानपर 'ईन्' आदेश हो जानेपर) '**प्रैयंगवीनम्**'—यह पद बनता है। इसका अर्थ है—'**प्रियंगु (कँगनी)** की उपज देनेवाला खेत'। इसी तरह मूँग, कोदो आदिकी उत्पत्तिके उपयुक्त खेतको '**मौद्गीन**' तथा '**कौद्रवीण**' कहते हैं। यहाँ '**मुद्ग**' शब्दसे '**खञ्**' होनेपर '**मौद्गीन**' शब्द और '**कोद्रव**' शब्दसे '**खञ्**' होनेपर '**कौद्रवीण**' शब्दकी सिद्धि होती है। '**विदेहस्यापत्यम्**' (विदेहका पुत्र)—इस अर्थमें '**विदेह**' शब्दसे 'अण्' प्रत्यय होनेपर '**वैदेहः**' पदकी सिद्धि होती है। (इन सबमें आदि स्वरकी वृद्धि होती है।) अकारान्त शब्दसे '**अपत्य**' अर्थमें '**अण्**'का बाधक '**इ**' प्रत्यय होता है। आदि स्वरकी वृद्धि तथा अन्तिम स्वरका लोप। '**दक्षस्यापत्यं—दाक्षिः, दशरथस्यापत्यं दाशरथिः।**' इत्यादि पद बनते हैं। '**नडादिभ्यः फक्।**' (४। १। ९९)—इस सूत्रके नियमानुसार 'नड'-आदि शब्दोंसे '**फक्**' प्रत्यय होता है। 'फ' के स्थानमें '**आयन**' होता है। अतएव '**नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः, चरस्य गोत्रापत्यं चारायणः।**' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। ('कित्' होनेके कारण आदि वृद्धि हो जाती है।) इसी तरह '**अश्वस्य गोत्रापत्यम्, आश्वायनः**' होता है। इसमें '**अश्वादिभ्यः फञ्।**' (४। १। ११०)—इस सूत्रके अनुसार '**फञ्**' प्रत्यय होता है। ('**गोत्रे कुञ्जादिभ्यः फञ्।**' ४। १। ९८) यह भी फञ्-विधायक सूत्र है। ब्रध्न, शङ्ख, शकट आदि शब्द कुञ्जादिके अन्तर्गत हैं, अतएव '**शाङ्खायनः**', '**शाकटायनः**' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।) '**गर्गादिभ्यो यञ्**' (४। १। १०५)—इस सूत्रके अनुसार गर्ग, वत्स आदि शब्दोंसे गोत्रापत्यार्थक '**यञ्**' प्रत्यय होनेपर '**गार्ग्यः**', '**वात्स्यः**' इत्यादि रूप बनते हैं। '**स्त्रीभ्यो ढक्।**' (४। १। १२०) के नियमानुसार स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दोंसे '**अपत्य**' अर्थमें '**ढक्**' प्रत्यय होता है। फिर उसके स्थानमें '**एय**' होता है। जैसे '**विनतायाः पुत्रः**' (विनताका पुत्र) '**वैनतेय**' कहलाता है। '**सुमित्रा**' आदि शब्द बाह्वादिगणमें पठित हैं, अतः उनसे अपत्यार्थमें '**इञ्**' प्रत्यय होता है। अतएव '**सौमित्रेयः**' न होकर '**सौमित्रिः**' रूप बनता है। '**चटका**' शब्दसे '**चटकाया ऐरक्।**' (४। १। १२८)—इस सूत्रके विधानानुसार '**ऐरक्**' प्रत्यय होनेपर '**चटकाया अपत्यं पुमान्**' (चटकाका नर पुत्र) '**चाटकैर**' कहलाता है। '**गोधा**' शब्दसे '**ढ्रक्**' का विधान है। '**गोधाया ढ्रक्।**' (४। १। १२९) अतः गोधाका अपत्य '**गोधेर**' कहलाता है। '**आरगुदीचाम्।**' (४। १। १३०) के नियमानुसार '**आरक्**' प्रत्यय होनेपर '**गौधारः**' रूप बनता है। ऐसा वैयाकरणोंने बताया है॥ ९—११॥

'**क्षत्र**' शब्दसे '**घ**' प्रत्यय होनेपर '**घ**' के स्थानमें '**इय**' होनेके कारण '**क्षत्रिय**' शब्द सिद्ध होता है। '**क्षत्राद् घः।**' (४। १। १३८)—'**जाति**' बोधक '**घ**' प्रत्यय होनेपर ही '**क्षत्रियः**' रूप बनता है। अपत्यार्थमें तो '**इञ्**' होकर '**क्षत्रस्यापत्यं पुमान् क्षात्रिः**'—यही रूप बनेगा। '**कुलात् खः।**' (४। १। १३९) के अनुसार '**कुल**' शब्दसे '**ख**' प्रत्यय और '**ख**' के स्थानमें '**ईन**' आदेश होनेपर '**कुलीनः**'—इस पदकी सिद्धि होती है। '**कुर्वादिभ्यो ण्यः।**' (४। १।

१५१) के अनुसार अपत्यार्थमें '**कुरु**' शब्दसे '**ण्य**' प्रत्यय होनेपर आदिवृद्धिपूर्वक गुण-वान्तादेश होकर '**कौरव्यः**' इत्यादि प्रयोग बनते हैं। '**शरीरावयवाद् यत्।**' (५। १। ६) के नियमानुसार शरीरावयववाचक शब्दोंसे '**यत्**' प्रत्यय होनेपर '**मूर्धन्य**' तथा '**मुख्य**' आदि शब्द सिद्ध होते हैं। '**सुगन्धिः**'—'**शोभनो गन्धो यस्य सः**'—इस लौकिक विग्रहमें बहुव्रीहि समास करनेके पश्चात् '**गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः।**' (५। ४। १३५)—इस सूत्रके अनुसार अन्तमें '**इ**' हो जानेसे '**सुगन्धिः**'—इस शब्दरूपकी सिद्धि होती है॥ १२॥

'**तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्।**' (५। २। ३६)—तारकादिगणसे '**इतच्**' प्रत्यय होता है, इस नियमके अनुसार '**तारकाः संजाता अस्य**' (तारे उग आये हैं, इसके) इस अर्थमें '**तारका**' शब्दसे '**इतच्**' प्रत्यय होनेपर '**तारकितं नभः**' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। '**कुण्डमिव ऊधो यस्याः सा**' (कुण्डाके समान है थन जिसका, वह)—इस लौकिक विग्रहमें बहुब्रीहि समास होनेपर '**ऊधसोऽनङ्।**' (५। ४। १३१)—इस सूत्रके अनुसार ऊधोऽन्त बहुब्रीहिसे स्त्रीलिङ्गमें '**अनङ्**' होता है। इस प्रकार '**अनङ्**' होनेपर '**बहुव्रीहेरूधसो डीष्।**' (४। १। २५)—इस सूत्रसे '**डीष्**' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् अन्यान्य प्रक्रियात्मक कार्य होनेके बाद '**कुण्डोध्नी**' पदकी सिद्धि होती है। '**पुष्पं धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा**' (**कामदेवः**), '**सुष्ठु धनुर्यस्य स सुधन्वा**' (श्रेष्ठ धनुष धारण करनेवाला योद्धा)—इन दोनों बहुब्रीहि-पदोंमें '**धनुषश्च।**' (५। ४। १३२)-इस सूत्रसे '**अनङ्**' होता है। तत्पश्चात् सुबादि कार्य होनेपर '**पुष्पधन्वा**' तथा '**सुधन्वा**'—ये दोनों पद सिद्ध होते हैं॥ १३॥

'**वित्तेन वित्तः इति वित्तचुञ्चुः।**'—जो धन-वैभवके द्वारा प्रसिद्ध हो, वह '**वित्तचुञ्चुः**' है। शब्दशास्त्रमें जिसकी प्रसिद्धि है, वह '**शब्दचुञ्चु**' कहलाता है। ये दोनों शब्द '**चुञ्चुप्**' प्रत्यय होनेपर निष्पन्न होते हैं। इसी अर्थमें '**चणप्**' प्रत्यय भी होता है। यथा—'**केशचणः**'। जो अपने केशोंसे विदित है, वह '**केशचणः**' कहा गया है। (इन प्रत्ययोंका विधान '**तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ।**' (५। २। २६) —इस सूत्रके अनुसार होता है। '**पटु**' शब्दसे '**प्रशस्त**' अर्थमें '**रूप**' प्रत्यय होनेपर '**पटुरूपः**' पद बनता है। '**प्रशस्तः पटुः-पटरूपः।**' जो प्रशस्त पटु है, वह '**पटुरूप**' कहा जाता है। यह '**रूप**' प्रत्यय '**सुबन्त**' और '**तिङन्त**'—दोनों प्रकारके शब्दोंसे होता है। '**तिङन्त**' शब्दसे इस प्रकार होता है—**प्रशस्तं पचति इति** '**पचतिरूपम्।**' '**पचतिरूपम्**' का अर्थ है—अच्छी तरह पकाता है। अतिशयार्थ-द्योतनके लिये '**तमप्**', '**इष्ठन्**', '**तरप्**' और '**ईयसुन्**'—ये प्रत्यय होते हैं। इनमेंसे '**तरप्**' और '**ईयसुन्**'—ये दोनों दोमेंसे एकको श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं और '**तमप्**' तथा '**इष्ठन्**'—ये दोनों बहुतोंमेंसे एककी श्रेष्ठता बताते हैं। पाणिनिने इसके लिये दो सूत्रोंका उल्लेख किया है—'**अतिशायने तमबिष्ठनौ।**' (५। ३। ५५) तथा '**द्विवचनविभज्योत्तरपदे तरबीयसुनौ।**' (५। ३। ५७)। इसके सिवा, यदि किसी द्रव्यका प्रकर्ष न बताना हो तो '**तरप्**' '**तमप्**' प्रत्ययोंसे परे '**आम्**' हो जाता है। यह '**आम्**' '**किम्**' शब्द, '**एदन्त**' शब्द, तिङन्त पद तथा अव्यय पदसे भी होते हैं। इन सब नियमोंके अनुसार '**अयम् अनयोरतिशयेन पटुः।**' (यह इन दोनोंमें अधिक पटु है)—इस अर्थको बतानेके लिये '**पटु**' शब्दसे '**ईयसुन्**' प्रत्यय करनेपर विभक्तिकार्यपूर्वक '**पटीयान्**' रूप होता है। '**अक्ष**' शब्दसे '**तरप्**' प्रत्यय होनेपर '**अक्षतर**' और '**पटु**' आदि शब्दोंसे उक्त प्रत्यय होनेपर '**पटुतरः**' आदि रूप बनते हैं। तिङन्तसे '**तरप्**' प्रत्यय करके अन्तमें

'**आम्**' करनेपर '**पचतितराम्**' रूप बनता है। '**तमप्**' और '**आम्**' प्रत्यय होनेपर '**अटतितमाम्**' इत्यादि उदाहरण उपलब्ध होते हैं॥ १४-१५॥

किंचित् न्यूनता तथा असमाप्तिका भाव प्रकट करनेके लिये 'सुबन्त' और 'तिङन्त' शब्दोंसे '**कल्पप्**', '**देश्य**' तथा '**देशीयर्**' प्रत्यय होते हैं। '**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः**' (५। ३। ६७)—इस सूत्रके अनुसार '**मृदु**' शब्दसे '**कल्पप्**' प्रत्यय होनेपर '**मृदुकल्पः**' प्रयोग बनता है। इसका अर्थ हुआ—'कुछ कम मृदु या कोमल'। '**ईषदूनः इन्द्रः—इन्द्रकल्पः। ईषदूनः अर्कः—अर्ककल्पः।**' इत्यादि उदाहरण इसी तरह जाननेयोग्य हैं। '**ईषदूनः राजा**'—इस अर्थमें '**राजन्**' शब्दसे '**देशीयर्**' प्रत्यय करनेपर '**राजदेशीयः**' तथा '**देश्य**' प्रत्यय करनेपर '**राजदेश्यः**'—ये रूप बनते हैं। इसी तरह '**पटु**' शब्दसे '**जातीय**' प्रत्यय करनेपर '**पटुजातीयः**' पद बनता है। इसका अर्थ है—पटुप्रकार—पटुके प्रकारका। '**थल्**' प्रत्यय प्रकारमात्रका बोधक है, किंतु '**जातीयर्**' प्रत्यय '**प्रकारवान्**' का बोध कराता है। [इसका विधायक पा० सू० है—'**प्रकारवचने जातीयर्।**' ५। ३। ६९] '**प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः।**' (५। २। ३७)—इस सूत्रके अनुसार '**जल**' आदिका प्रमाण बतानेके लिये 'सुबन्त' शब्दोंसे '**द्वयसच्**' '**दघ्नच्**' तथा '**मात्रच्**' प्रत्यय होते हैं। इस नियमसे '**मात्रच्**' प्रत्यय होनेपर '**जानुमात्रम्**' पद बनता है। इसका अर्थ है—घुटनेतक (पानी है)। '**ऊरु**' शब्दसे '**द्वयसच्**' प्रत्यय करनेपर '**ऊरुद्वयसम्**' तथा '**दघ्नच्**' प्रत्यय करनेपर '**ऊरुदघ्नम्**'—ये प्रयोग बनते हैं॥ १६-१७॥

'**संख्याया अवयवे तयप्।**' (पा०सू० ५। २। ४२)—इस सूत्रके अनुसार '**पञ्चावयवा यस्य तत्**' (पाँच अवयव हैं, जिसके वह) इस अर्थमें '**पञ्चन्**' शब्दसे '**तयप्**' प्रत्यय करनेपर '**पञ्चतयम्**'—यह रूप बनता है। '**द्वारं रक्षति, द्वारे नियुक्तो वा दौवारिकः**'—जो द्वारकी रक्षा करता है, अथवा द्वारपर रक्षाके लिये नियुक्त है, वह '**दौवारिक**' है। '**रक्षति।**' (पा० सू० ४। ४। ३३) अथवा '**तत्र नियुक्तः।**' (पा०सू० ४। ४। ६९) सूत्रसे यहाँ '**ठक्**' प्रत्यय हुआ है। '**ठ**' के स्थानमें '**इक**' आदेश हो जाता है तथा '**द्वारादीनां च।**' (७। ३। ४)—इस सूत्रसे '**ऐच्**' का आगम होता है। फिर विभक्तिकार्य होनेपर '**दौवारिकः**' इस पदकी सिद्धि होती है। इस प्रकार '**ठक्**' प्रत्यय होनेपर '**दौवारिक**' शब्दकी सिद्धि बतायी गयी है। यहाँतक 'तद्धितकी सामान्यवृत्ति' कही गयी। अब 'अव्ययसंज्ञक तद्धित'का निरूपण किया जाता है॥ १८॥

'**यस्मादिति यतः**', '**तस्मादिति ततः**'—यहाँ '**पञ्चम्यास्तसिल्।**' (५। ३। ७) सूत्रके अनुसार '**तसिल्**' प्रत्यय होता है। इकार और लकारकी इत्संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है। '**तसिल्**' प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक होनेके कारण '**त्यदादीनामः।**' (७। २। १०२) के नियमानुसार अकारान्तादेश हो जाता है। अतः, '**यत्**' की जगह '**य**' और **तत्** की जगह '**त**' होनेसे '**यतः**', '**ततः**'—ये रूप बनते हैं। '**तसिलादयः प्राक् पाशपः।**' ('**तसिल्**' आदिसे लेकर '**पाशप्**' प्रत्ययके पूर्वतक जितने प्रत्यय विहित या अभिहित हुए हैं, उन सबकी '**अव्ययसंज्ञा**' होती है)—इस परिगणनाके अनुसार '**यतः**', '**ततः**' आदि शब्द 'अव्यय' माने गये हैं। '**तसिल्**' आदिमें '**त्रल्**' प्रत्यय भी आता है। इसका विधायक पाणिनिसूत्र है—'**सप्तम्यास्त्रल्।**' (५। ३। १०)। '**यस्मिन्निति यत्र**', '**तस्मिन्निति तत्र**'—इस लौकिक विग्रहमें '**त्रल्**' प्रत्यय होनेपर '**यस्मिन् त्र**', '**तस्मिन् त्र।**' इस अवस्थामें '**कृत्तद्धितसमासाश्च**' (१। २। ४६) से प्रातिपदिक

संज्ञा, '**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।**' (२। ४। ७१) सूत्रसे विभक्तिका लोप और '**त्यदादीनामः।**' (७। २। १०२) सूत्रसे अकारान्तादेश होनेपर '**यत्र, तत्र**'—इन पदोंकी सिद्धि बतायी गयी है। '**अस्मिन् काले**'—इस लौकिक विग्रहमें '**अधुना।**' (५। ३। १७) सूत्रसे '**अधुना**' प्रत्यय होने '**अस्मिन् अधुना**' इस अवस्थामें विभक्तिलोप, '**इदम्**' के स्थानमें '**इश्**' अनुबन्धलोप तथा '**यस्येति च।**' (६। ४। १४८) से इकारलोप होनेपर '**अधुना**' की सिद्धि हुई। इसी अर्थमें '**दानीम्**' प्रत्यय होनेपर '**इदम्**' के स्थानमें '**इ**' होकर '**इदानीम्**' रूप बनता है। '**सर्वस्मिन् काले**'—इस विग्रहमें '**सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा**' (५। ३। १५)—इस सूत्रसे '**दा**' प्रत्यय होनेपर '**सर्वदा**' रूप बनता है। '**तस्मिन् काले— तर्हि**', '**कस्मिन् काले—कर्हि**' यहाँ '**तत्**' और '**किम्**' शब्दोंसे '**काल**' अर्थमें '**अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्।**' (५। ३। २१)—इस सूत्रसे '**र्हिल्**' प्रत्यय हुआ। फिर पूर्ववत् प्रातिपदिकावयव विभक्तिका लोप होकर '**त्यदादीनामः।**' (७। २। १०२)—इस सूत्रसे '**तत्**' के स्थानपर '**त**' और '**किमः कः।**' (७। २। १०३) सूत्रसे '**किम्**' के स्थानमें '**क**' होनेपर '**तर्हि**' और '**कर्हि**'—इन पदोंकी सिद्धि कही गयी है। '**अस्मिन्**'—इस विग्रहमें '**त्रल्**' प्रत्ययकी प्राप्ति हुई, किंतु उसे बाधित करके '**इदमो हः।**' (५। ३। ११)—इस सूत्रसे '**हः**' प्रत्यय हो गया। फिर '**इदम्**' के स्थानमें इकार होनेपर '**इह**' रूपकी सिद्धि हुई॥ १९-२०॥

'**येन प्रकारेण यथा, केन प्रकारेण कथम्**'—इन स्थलोंपर '**प्रकारवचने थाल्।**' (५। ३। २३) के अनुसार '**थाल्**' प्रत्यय होनेपर '**यथा**', '**तथा**' आदि रूप होते हैं। '**किम्**' शब्दसे '**किमश्च।**' (५। ३। २५) के अनुसार '**थम्**' प्रत्यय होता है। अतः '**कथम्**' इस रूपकी सिद्धि होती है। जो शब्द दिशाके अर्थमें रूढ़ होते हैं, ऐसे 'दिशा', 'देश' और 'काल' अर्थमें प्रयुक्त शब्दोंसे स्वार्थमें '**अस्ताति**' प्रत्यय होता है। श्लोकमें '**पूर्वस्याम्**' यह सप्तमी विभक्तिका, '**पूर्वस्याः**' यह पञ्चमी विभक्तिका तथा '**पूर्वा**' यह प्रथमा विभक्तिका प्रतिरूप है। अर्थात् उक्त शब्द यदि सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त हों, तभी उनसे '**अस्ताति**' प्रत्यय होता है। '**पूर्व**', '**अधर**' और '**अवर**' शब्दोंके स्थानमें क्रमशः '**पुर**' '**अध**' और '**अव**' आदेश होते हैं। '**अस्ताति**' के स्थानमें '**असि**' प्रत्ययका भी विधान होता है। इन निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार '**पूर्वस्यां दिशि**', '**पूर्वस्याः दिशः**' '**पूर्वा वा दिक्**'—इन लौकिक विग्रहोंमें '**पुरः**', '**पुरस्तात्**'—ये रूप होते हैं। उसी प्रकार '**अधः, अधस्तात्**'—'**अवः, अवस्तात्**'—इत्यादि रूप जानने चाहिये। इनके वाक्यप्रयोग '**पुरस्तात् संचरेद्**', '**पुरस्ताद् गच्छेत्**' इत्यादि रूपमें होते हैं। '**समाने अहनि**'—इस अर्थमें '**सद्यः**'—इस शब्दका प्रयोग होता है। 'समान'का '**स**' और '**अहनि**' के स्थानमें '**द्यस्**' निपातित होकर '**सद्यः**'—इस पदकी सिद्धि होती है। '**पूर्वस्मिन् वर्षे परुत्**'—'**पूर्वतरवर्षे परारि**' इति (पूर्व वर्षमें—इस अर्थको बतानेके लिये '**परुत्**' शब्दका प्रयोग होता है तथा पूर्वसे पूर्व वर्षमें—इस अर्थका बोध करानेके लिये '**परारि**' शब्दका प्रयोग होता है।) पहलेमें '**पूर्व**' शब्दके स्थानमें '**पर**' आदेश होता है और उससे '**उत्**' प्रत्यय किया जाता है। दूसरेमें '**आरि**' प्रत्यय होता है और '**पूर्व**' के स्थानमें '**पर**' आदेश। '**अस्मिन् संवत्सरे**' (इस वर्षमें) इस अर्थका बोध करानेके लिये '**ऐषमः**' पदका प्रयोग होता है। इसमें '**इदम्**' शब्दके स्थानमें 'इकार' आदेश और उससे परे '**समसण्**' प्रत्ययका निपातन होता है। अकार-णकारकी

इत्संज्ञा हो जानेपर '**इ+समः**'—इस अवस्थामें आदिवृद्धि और सकारके स्थानमें मूर्धन्यादेश होनेपर '**ऐषमः**' रूपकी सिद्धि होती है। '**परस्मिन्नहनि**' (दूसरे दिन)-के अर्थमें '**पर**' शब्दसे '**एद्यवि**' प्रत्यय करनेपर '**परेद्यवि**'—यह रूप होता है। '**अस्मिन्नहनि**' (आजके दिन) इस अर्थमें '**इदम्**' शब्दसे '**द्य**' प्रत्यय होता है और '**इदम्**' के स्थानमें '**अ**' हो जाता है। इस प्रकार '**अद्य**'—यह रूप बनता है। '**पूर्वस्मिन् दिने**' (पहले दिन)—इस अर्थमें '**पूर्व**' शब्दसे '**एद्युस्**' प्रत्यय होता है तो '**पूर्वेद्युः**' यह रूप बनता है। इसी प्रकार '**परस्मिन् दिने**'—'**परेद्युः**', '**अन्यस्मिन् दिने**'—'**अन्येद्युः**' इत्यादि प्रयोग जानने चाहिये। '**दक्षिणस्यां दिशि वसेत्**' (दक्षिण दिशामें निवास करे।)—इस अर्थमें '**दक्षिणा**' और '**दक्षिणाहि**'—ये रूप बनते हैं। पहलेमें '**दक्षिणादाच्**' (५। ३। ३६)—इस सूत्रसे '**आच्**' प्रत्यय होता है और दूसरेमें '**आहि च दूरे।**' (५। ३। ३७)—इस सूत्रसे '**आहि**' प्रत्यय किया गया है। '**दक्षिणाहि वसेत्**' का अर्थ हुआ—'दक्षिण दिशामें दूर निवास करे।' '**दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्।**' (५। ३। २८) तथा '**उत्तराधरदक्षिणादातिः।**' (५। ३। ३४)—इन सूत्रोंके अनुसार '**दक्षिणतः**', '**दक्षिणात्**', '**उत्तरतः**', '**उत्तरात्**'—ये दो रूप भी बनते हैं। '**उत्तरस्यां दिशि वसेत्**' (उत्तर दिशामें निवास करे)—इस अर्थमें '**उत्तराच्च।**' (५। ३। ३८)—इस सूत्रके अनुसार '**आच्**' और '**आहि**' प्रत्यय होनेपर '**उत्तरा**' तथा '**उत्तराहि**'—ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं। '**अस्ताति**' प्रत्ययके विषयभूत '**ऊर्ध्व**' शब्दसे '**रिल्**' और '**रिष्टातिल्**' प्रत्यय होते हैं तथा '**ऊर्ध्व**' के स्थानमें '**उप**' आदेश हो जाता है। इस प्रकार '**उपरि वसेत्**', '**उपरिष्टाद् भवेत्**' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। '**उत्तर**' शब्दसे '**एनप्**' प्रत्यय होनेपर '**उत्तरेण**' होता है। पूर्वोक्त '**दक्षिणा**' शब्दकी सिद्धि '**आच्**' प्रत्यय होनेसे होती है—इसका निर्देश पहले किया जा चुका है। '**आहि**' प्रत्यय होनेपर '**दक्षिणाहि**' पद बनता है—यह भी कहा जा चुका है। '**दक्षिणाहि वसेत्**' इसका अर्थ भी दिया जा चुका है। '**संख्याया विधार्थेधा।**' (५। ३। ४२)—इस सूत्रके अनुसार संख्यावाची शब्दोंसे '**धा**' प्रत्यय करनेपर **द्विधा, त्रिधा, चतुर्धा, पञ्चधा** इत्यादि रूप होते हैं। '**द्विधा**' का अर्थ है—दो प्रकारका। '**एक**' शब्दसे प्रकार अर्थमें पूर्वोक्त नियमानुसार जो '**धा**' प्रत्यय होता है, उसके स्थानमें '**ध्यमुञ्**' हो जाता है। '**उञ्**' की इत्संज्ञा हो जाती है। '**ध्यम्**' शेष रह जाता है। यथा—**ऐकध्यम्, 'एकधा**' (द्रष्टव्य पा० सू० ५। ३। ४४)। '**ऐकध्यं कुरु त्वम्**' इस वाक्यका अर्थ है—'तुम एक ही प्रकारसे कर्म करो।' इसी प्रकार '**द्वि**' और '**त्रि**' शब्दसे '**धा**' के स्थानमें '**धमुञ्**' होता है। विकल्पसे (द्रष्टव्य—पा० सू० ५। ३। ४५)। '**धमु**' होनेपर '**द्वैधम्**', **त्रैधम्**' रूप होते हैं और '**धमुञ्**' न होनेपर '**द्विधा**', '**त्रिधा**'। '**द्वि**', '**त्रि**' शब्दोंसे सम्बद्ध '**धा**' के स्थानमें '**एधाच्**' भी होता है। यथा—**द्वेधा, त्रेधा**। ये सभी प्रयोग सुष्ठुतर हैं॥ २१—२७॥

यहाँतक 'निपातसंज्ञक तद्धित' (अथवा अव्ययतद्धित) प्रत्यय बताये गये। अब 'भाववाचक तद्धितका' वर्णन किया जाता है।—'**तस्य भावस्त्वतलौ।**' (५। ११। ११९)—इस सूत्रके अनुसार भावबोधक प्रत्यय दो हैं—'**त्व**' और '**तल्**'। प्रकृतिजन्य बोधमें जो प्रकार होता है, उसे '**भाव**' कहते हैं। '**पटु**' शब्दसे '**पटोर्भावः**'—इस अर्थमें '**त्व**' प्रत्यय होनेपर '**पटुत्वम्**' रूप होता है और '**तल्**' प्रत्यय होनेपर '**पटुता**'।

'**पृथोर्भावः**' (पृथुका भाव)—इस अर्थमें '**पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा।**' (५। १। १२२)—इस सूत्रसे वैकल्पिक '**इमनिच्**' प्रत्यय होनेपर '**प्रथिमा**'—यह रूप बनता है। '**प्रथिमा**' का अर्थ है—मोटापन। '**सुखस्य भावः कर्म वा**' (सुखका भाव या कर्म)—इस अर्थमें '**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च।**' (५। १। १२४)—इस सूत्रके अनुसार '**ष्यञ्**' प्रत्यय होनेपर '**सौख्यम्**'—इस पदकी सिद्धि कही गयी है। '**स्तेनस्य भावः कर्म वा**' (स्तेन—चोरका भाव या कर्म)—इस अर्थमें '**स्तेन**' शब्दसे '**यत्**' प्रत्यय और '**न**'—इस समुदायका लोप हो जाता है। (द्रष्टव्य—पा० सू० ५। १। १२५)। इस प्रकार '**स्तेय**' शब्दकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार '**सख्युर्भावः कर्म वा**' (सखाका भाव या कर्म)—इस अर्थमें '**य**' प्रत्यय होनेपर '**सख्यम्**' इस पदकी सिद्धि कही गयी है। यहाँ '**सख्युर्यः।**' (५। १। १२६)—इस सूत्रसे '**य**' प्रत्यय होता है। '**कपेर्भावः कर्म वा**'—इस अर्थमें '**कपिज्ञात्योर्ढक्।**' (५। १। १२७)—इस सूत्रसे '**ढक्**' प्रत्यय होनेपर '**कापेयम्**' पदकी सिद्धि होती है। '**सेना एव सैन्यम्**'—यहाँ '**चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्**'— इस वार्तिकके अनुसार स्वार्थमें '**ष्यञ्**' प्रत्यय होता है। '**शास्त्रीयात् पथः अनपेतम्**' (शास्त्रीय पथसे जो भ्रष्ट नहीं हुआ है, वह)—इस अर्थमें '**धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते।**' (४। ४। ९२)—इस सूत्रके अनुसार '**पथिन्**' शब्दसे '**यत्**' प्रत्यय होनेपर '**पथ्यम्**'—यह रूप होता है। '**अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम्**'—यहाँ '**अश्व**' शब्दसे '**अञ्**' हुआ है। (**'उष्ट्रस्य भावः कर्म वा औष्ट्रम्'**—यहाँ भी '**अञ्**' प्रत्यय हुआ है।) '**कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम्**'—इसमें भी '**कुमार**' शब्दसे '**अञ्**' प्रत्यय हुआ। '**यूनोर्भावः कर्म वा यौवनम्**'—यहाँ भी पूर्ववत् '**युवन्**' शब्दसे '**अञ्**' प्रत्यय हुआ है। इन सबमें '**अञ्**' प्रत्यय विधायक सूत्र है—'**प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्**' (५। १। १२९)। '**आचार्य**' शब्दसे '**कन्**' प्रत्यय होनेपर '**आचार्यकम्**'—यह रूप बनता है। इसी तरह अन्य भी बहुत-से तद्धित प्रत्यय होते हैं, (उन्हें अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये)॥ २८—३०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'तद्धितान्त शब्दोंके रूपका कथन' नामक
तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५६॥

तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय

उणादिसिद्ध शब्दरूपोंका दिग्दर्शन

कुमार स्कन्द कहते हैं—कात्यायन! अब 'उणादि' प्रत्यय बताये जाते हैं, जो धातुसे परे होते हैं। '**कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्।**' (१)—इस सूत्रके अनुसार 'कृ' आदि धातुओंसे 'उण्' प्रत्यय होता है। '**करोतीति कारुः।**' (जो शिल्पकर्म करता है, वह 'कारु' कहलाता है। लोकभाषामें उसे 'शिल्पी' या 'कारीगर' कहते हैं)। 'कृ' धातुसे 'उण्' प्रत्यय होनेपर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा विभक्तिकार्य किये जाते हैं। इससे 'कारुः'— इस पदकी सिद्धि होती है। 'जि' धातुसे 'उण्' होनेपर '**जायुः**' रूप बनता है। '**जायुः**' का अर्थ है—औषध। इसकी व्युत्पत्ति

इस प्रकार समझनी चाहिये—'**जयति रोगान् इति जायुः**'। 'मि' धातुसे वही (उण्) प्रत्यय करनेपर '**मायुः**'—यह पद सिद्ध होता है। '**मायुः**'का अर्थ है—'पित्त'। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'**मिनोति'—प्रक्षिपति देहे ऊष्माणम् इति मायुः**।' इसी प्रकार '**स्वदते—रोचते इति स्वादुः**।', '**साध्नोति परकार्यमिति साधुः**।' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। **गोमायुः, आयुः**—इत्यादि प्रयोग भी इसी तरह सिद्ध होते हैं। 'गोमायु'का अर्थ है—गीदड़ तथा '**आयुः**' शब्द आयुर्वेदके लिये भी प्रयुक्त होता है। '**उणादयो बहुलम्**।'—(३।३।१) इस सूत्रके अनुसार 'उण्' आदि बाहुल्येन होते हैं। कहीं होते हैं, कहीं नहीं होते। '**आयुः**', '**स्वादुः**' तथा '**हेतु**' आदि शब्द भी उणादिसिद्ध हैं। '**किंशारु**' नाम है—धान्यके शूकका। '**किं शृणातीति किंशारुः**'। यहाँ '**किं**' पूर्वक '**शृ**' धातुसे '**ञुण्**' होता है। '**ञ्**' तथा '**ण्**' अनुबन्ध हैं। किंशृ+उ। वृद्धि होकर '**किंशारुः**' बनता है। '**कृकवाकुः**' का अर्थ है—मुर्गा या मोर। '**कृकेन गलेन वक्तीति कृकवाकुः**।' '**कृके वचः कश्च**'—इस उणादिसूत्रसे '**ञुण्**' प्रत्यय होनेपर कृक+वच्+ञुण्—इस अवस्थामें अनुबन्धलोप, चकारको ककार और '**अत उपधायाः**।' (पा० सू० ७।२।११६) से वृद्धि होती है। '**भरति बिभर्ति वा भरुः**।' '**भृ**' धातु से '**उ**' प्रत्यय, गुण; विभक्तिकार्य-**भरुः**। इसका अर्थ है—भर्त्ता (स्वामी)। **मरुः**—जलहीन देश। मृ+उ गुणादेश, विभक्तिकार्य=मरुः। शी+उ=शयुः। इसका अर्थ है—सोया पड़ा रहनेवाला अजगर। त्सर+उ=त्सरुः-अर्थात् खड्गकी मूठ। '**स्वर्यन्ते प्राणा अनेन**' इस लौकिक विग्रहमें '**उ**' प्रत्यय होता है। फिर गुण होकर '**स्वरुः**' पद बनता है। '**स्वरु**' का अर्थ है—वज्र। त्रप्+उ=त्रपु। 'त्रपु' नाम है शीशेका। फल्ग्+उ=फल्गुः—सारहीन। अभिकाङ्क्षार्थक '**गृध्**' धातुसे '**सुसुधागृधिभ्यः क्रन्**', (१९२)—इस सूत्रके अनुसार 'क्रन्' प्रत्यय होनेपर गृध्+क्रन्, ककार-नकारकी **इत्संज्ञा गृध्रः**[1] अर्थात् गीध पक्षी। मदि+किरच्=मन्दिरम्। तिमि+किरच्=तिमिरम्। 'मन्दिर' का अर्थ गृह तथा 'तिमिर' का अर्थ अन्धकार है। '**सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच्**।' (५७)—इस उणादि सूत्रके अनुसार गत्यर्थक 'षल्' धातुसे '**इलच्**' प्रत्यय करनेपर '**सलिलम्**' यह रूप बनता है। '**सलति गच्छति निम्नमिति सलिलम्**'—यह इसकी व्युत्पत्ति है। 'सलिल' शब्द वारि-जलका वाचक है। (इसी प्रकार उक्त सूत्रसे ही **कलिलम्, अनिलः, महिला—पृषोदरादित्वात् महेला**—इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं।) भण्डि+इलच्=भण्डिलम्। इसका अर्थ है—कल्याण। 'भण्डिल' शब्द दूतके अर्थमें भी आता है। ज्ञानार्थक '**विद्**' धातुसे औणादिक 'क्वसु' प्रत्यय होनेपर विद्+क्वसु—इस अवस्थामें '**लशक्वतद्धिते**।' (१।३।८) से ककारकी इत्संज्ञा तथा '**उपदेशेऽजनुनासिक इत्**।' (१।३।२) से उकारकी इत्संज्ञा होती है; तत्पश्चात् विभक्ति-कार्य करनेपर '**विद्वान्**[2]'—यह रूप बनता है। 'विद्वान्'का अर्थ है—बुध या पण्डित। '**शेरतेऽस्मिन् राजबलानि इति शिविरम्**।'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'शीङ्' धातुसे 'किरच्' प्रत्यय, 'शीङ्' से 'वुक्' का

१. गृध्+उ='गृधुः' रूप होता है। 'गृधुः'का अर्थ है—कामदेव।

२. 'विद्' धातुसे 'शतृ' प्रत्यय करनेपर 'विदेः शतुर्वसुः।' (७।१।३६)—इस सूत्रके अनुसार 'विद्' धातुसे परे विद्यमान 'शतृ'के स्थानमें 'वसु' आदेश हो जाता है। यह आदेश वैकल्पिक होता है। अतः 'विदन् और 'विद्वान्'—ये दोनों रूप विशुद्ध कृदन्त हैं। औणादिक 'विद्वान्' का अर्थ बुध है और कृदन्त 'विद्वान्' का अर्थ जानता हुआ है।

आगम तथा 'शी' के दीर्घ ईकारके स्थानमें ह्रस्व आदेश होनेपर '**शिविर**' शब्दकी सिद्धि होती है। 'शिविर' कहते हैं—सेनाकी छावनीको। अग्निपुराणके अनुसार गुप्त निवासस्थानको 'शिविर' कहते हैं॥ १—५॥

'अव्' धातुसे '**सितनिगमिमसि।**' (७२) इत्यादि सूत्रके अनुसार 'तुङ्' प्रत्यय होनेपर वकारके स्थानमें 'ऊठ्' होकर गुण होनेसे '**ओतु**' शब्दकी सिद्धि होती है। '**ओतु**' कहते हैं—बिलावको। अभिधानमात्रसे उणादि प्रत्यय होते हैं। 'कृ' धातुसे 'न' प्रत्यय करनेपर गुण होता है और नकारका णकारादेश हो जानेपर '**कर्ण**' शब्दकी सिद्धि होती है। '**कर्ण**'का अर्थ है—कान अथवा कन्यावस्थामें कुन्तीसे उत्पन्न सूर्यपुत्र कर्ण। 'वस्' धातुसे 'तुन्' प्रत्यय, अगार अर्थमें उसका 'णित्व' होकर वृद्धि होनेसे 'वास्तु' शब्द बनता है। 'वास्तु' का अर्थ है—गृहभूमि। 'जीव' शब्दसे 'आतृकन्' प्रत्यय और वृद्धि होकर 'जैवातृक' शब्दकी सिद्धि होती है। 'जैवातृक' का अर्थ है—चन्द्रमा। '**अनः शकटं वहति।**'—इस लौकिक विग्रहमें 'वह' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय, 'अनस्'के सकारका डकार आदेश तथा 'वह' के वकारका सम्प्रसारण होनेपर 'अनडुह्' शब्द बनता है, उसके सुबन्तमें **अनड्वान्, अनड्वाहौ** इत्यादि रूप होते हैं। 'जीव्' धातुसे '**जीवेरातुः**'। (८२)—इस सूत्रके अनुसार 'आतु' प्रत्यय करनेपर 'जीवातु' शब्दकी सिद्धि होती है। 'जीवातु' नाम है—संजीवन औषधका। प्रापणार्थक 'वह्' धातुसे '**वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।**' (५०१)—इस सूत्रके अनुसार 'नित्' प्रत्यय करनेपर विभक्तिकार्यके पश्चात् '**वह्निः**'—इस रूपकी सिद्धि होती है। (इसी प्रकार **श्रेणिः, श्रोणिः, योनिः, द्रोणिः, ग्लानिः, हानिः, तूर्णिः बाहुलकात् म्लानिः**—इत्यादि पदोंकी सिद्धि होती है।) 'हृ' धातुसे 'इनच्' प्रत्यय होनेपर और अनुबन्धभूत चकारका लोप कर देनेपर 'हृ+इन', गुण तथा विभक्ति-कार्य=**हरिणः**—इस रूपकी सिद्धि होती है। '**श्यास्त्याहृञ्विभ्य इनच्।**' (२१३)—इस औणादिक सूत्रसे यहाँ 'इनच्' प्रत्यय हुआ है। 'हरिण' कहते हैं—मृगको। यह शब्द कामी तथा पात्रविशेषके लिये भी प्रयुक्त होता है। '**अण्डन् कृसृभृवृञः।**' (१३४)—इस सूत्रके अनुसार 'कृ' आदि धातुओंसे 'अण्डन्' प्रत्यय करनेपर क्रमशः—**करण्डः, सरण्डः, भरण्डः, वरण्डः**—ये रूप सिद्ध होते हैं। 'करण्ड' शब्द भाजन और भाण्डका वाचक है। मेदिनीकोशके अनुसार यह शहदके छत्तेके लिये भी प्रयुक्त होता है। 'सरण्ड' शब्द चौपायेका वाचक है। कुछ विद्वान् 'सरण्ड' का अर्थ पक्षी मानते हैं। '**बाहुलकात् तृ प्लवनतरणयोः।**' इस धातुसे भी '**अण्डन्**' प्रत्यय होकर 'तरण्ड' पदकी सिद्धि होती है। 'तरण्ड' शब्द काठके बेड़ेके लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोग मछली फँसानेके लिये बनायी गयी बंसीके डोरेको भी 'तरण्ड' कहते हैं। 'वरण्ड' शब्द सामवेदके लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोग 'साम' और 'यजुष्'—दो वेदोंके लिये इसका प्रयोग मानते हैं। कुछ लोगोंके मतमें 'वरण्ड' शब्द मुखसम्बन्धी रोगका वाचक है। '**स्फायितञ्चिवञ्चि० (१७८)।**' इत्यादि सूत्रसे वृद्ध्यर्थक 'स्फायि' धातुसे 'रक्' प्रत्यय होनेपर 'स्फार' पदकी सिद्धि होती है। 'स्फार' शब्दका अर्थ होता है—प्रभूत अर्थात् अधिक। 'मेदिनीकोश'के अनुसार 'स्फार' शब्द विकट अर्थमें आता है और करका या करवा आदि पात्रके भरते समय पानीमें जो बुलबुले उठते हैं, उनका वाचक भी 'स्फार' शब्द है। '**शुसिचिमीनां दीर्घश्च (१९३)।**' इस सूत्रसे 'क्रन्' प्रत्यय और पूर्व ह्रस्वस्वरके स्थानमें दीर्घ कर देनेपर क्रमशः शूरः, सीरं, चीरं, मीरः—

ये प्रयोग बनते हैं। 'चीर' शब्द गायके थन, वस्त्रविशेष तथा वल्कलके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'भी' धातुसे '**भियः क्रुकन्**'—(१९९) इस सूत्रसे '**क्रुकन्**' प्रत्यय करनेपर '**भीरुकः**'—इस पदकी सिद्धि होती है। इसके पर्यायवाची शब्द हैं—'भीरु' और 'कातर'। '**उच समवाये**'—इस धातुसे '**रन्**' प्रत्यय करनेपर '**उग्रः**' पदकी सिद्धि होती है। '**उग्रः**' का अर्थ है—प्रचण्ड। '**वहियूभ्यां णित्**।'—इस सूत्रके अनुसार '**णित् असच्**' प्रत्यय करनेपर '**वाहसः**', '**यावसः**'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं। '**वाहसः**' का अर्थ है—अजगर और '**यावसः**'का अर्थ है—तृणसमूह। '**वर्तमाने पृषद्बृहन्महद्जगच्छत्रिवच्च**।'—इस सूत्रके अनुसार '**गम्**' धातुसे '**अत्**' प्रत्ययका निपातन हुआ। '**गम्**' के स्थानमें '**जग्**' आदेश हुआ। इस प्रकार '**जगत्**' शब्दकी सिद्धि हुई। '**जगत्**' का अर्थ है—भूलोक। '**ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पि०**' इत्यादि (४५०) सूत्रके अनुसार '**कृश**' धातुसे '**आनुक्**' प्रत्यय करनेपर '**कृशानुः**'—इस पदकी सिद्धि होती है। '**कृशानुः**'का अर्थ है—अग्नि। **द्योतते इति ज्योतिः**। '**द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः**।' (२७५)—इस सूत्रके अनुसार '**द्युत्**', धातुसे '**इसिन्**' प्रत्यय, द्यकारका जकारादेश तथा गुण होनेपर '**ज्योतिः**' इस पदकी सिद्धि होती है। '**ज्योतिः**' का अर्थ है—अग्नि और सूर्य। '**अर्च**' धातुसे'**कृदाधारार्चिकलिभ्यः**।' (३२७)—इस सूत्रके अनुसार 'क' प्रत्यय होनेपर '**अर्कः**' पदकी सिद्धि होती है। 'अर्क एवं **अर्ककः**'। **स्वार्थे कः**। '**अर्कः**' पद सूर्यका वाचक है। '**कृगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच्**।' (२८६)—इस सूत्रके अनुसार वरणार्थक '**वृ**' धातुसे तथा याचनार्थक '**चते**' धातुसे '**ष्वरच्**' प्रत्यय करनेपर क्रमशः '**वर्वरः**', '**चत्वरम्**'—इन दो पदोंकी सिद्धि होती है। '**वर्वर**' का अर्थ है—प्राकृत जन अथवा कुटिल मनुष्य। '**हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्**।' (३७३) —इस सूत्रके अनुसार हिंसार्थक 'धूर्वि' धातुसे '**तन्**' प्रत्यय करनेपर '**धूर्त्तः**'—इस पदकी सिद्धि होती है। '**धूर्त्त**' शब्दका अर्थ है—शठ। '**चत्वरम्**'का अर्थ है—चौराहा। '**लित्वरचत्वरधीवर**' इत्यादि औणादिक सूत्रसे '**चीवरम्**' इस पदका निपातन हुआ है। '**चीवरम्**' का अर्थ है—चिथड़ा अथवा भिक्षुकका वस्त्र। स्नेहनार्थक '**ञिमिदा**' अथवा '**मिद्**' धातुसे '**अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः**।' (६१३)—इस सूत्रके अनुसार '**क्त्र**' प्रत्यय हुआ। ककारका इत्यसंज्ञालोप हुआ—'मिद+त्र=मित्र। विभक्ति-कार्य करनेपर '**मित्रः**'—इस पदकी सिद्धि हुई। '**मित्र**' का अर्थ है—सूर्य। नपुंसकलिङ्गमें इसका अर्थ—सुहृद् होता है। '**कुवोह्रस्वश्च**।' इस सूत्रके अनुसार '**पुनातीति**' इस लौकिक विग्रहमें '**पू**' धातुसे '**क्त्र**' प्रत्यय और दीर्घके स्थानमें ह्रस्व होनेपर '**पुत्र**' शब्दकी सिद्धि होती है। '**पुत्र**' का अर्थ है—बेटा। '**सुवः कित्**।' (३२८)—इस सूत्रके अनुसार प्राणिप्रसवार्थक '**षूङ्**' धातुसे '**नु**' प्रत्यय होता है और वह '**कित्**' माना जाता है। धातुके आदि षकारको सकारादेश हो जाता है। इस प्रकार '**सूनु**' शब्दकी सिद्धि होती है। विभक्तिकार्य होनेपर '**सूनुः**' पद बनता है। '**विश्वकोश**' के अनुसार इसका अर्थ पुत्र और सूर्य है। '**नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०**' (२६०) इत्यादि सूत्रके अनुसार '**पितृ**' शब्द निपातित होता है। '**पातीति पिता**'। '**पा**' धातुसे '**तृच्**' होकर आकारके स्थानमें इकार हो जाता है। पिता, पितरौ, पितरः इत्यादि इसके रूप हैं। जन्मदाता या बापको 'पिता' कहते हैं। विस्तारार्थक '**तन्**' धातुसे '**वुतनिभ्यां दीर्घश्च**।'—इस सूत्रके अनुसार '**तन्**' प्रत्यय तथा ह्रस्वके स्थानमें दीर्घ होनेपर '**तात**' शब्दकी सिद्धि होती है। यहाँ अनुनासिक लोप हुआ है। '**तात**'

शब्द कृपापात्र तथा पिताके लिये प्रयुक्त होता है। कुत्सितशब्दार्थक '**पर्द**' धातुसे '**काकु**' प्रत्यय होता है और वह '**नित्**' माना जाता है। धातुके रेफका सम्प्रसारण और अकारका लोप हो जाता है। जैसा कि सूत्र है—'**पर्देर्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च।**' (३६७) '**काकु**' प्रत्ययके आदि ककारका '**लशक्वतद्धिते।**' (१।३।८)—इस सूत्रसे लोप हो जाता है। इस प्रक्रियासे '**पृदाकु**' शब्दकी सिद्धि होती है। पर्दते—**कुत्सितं 'शब्दं करोति इति पृदाकुः।**' इसका अर्थ है—सर्प, बिच्छू या व्याघ्र। '**हसिमृग्रिण्वाऽमिद-मिलूपूधूर्विभ्यस्तन्।**' (३७३) इस सूत्रके द्वारा '**गृ**' धातुसे '**तन्**' प्रत्यय और गुणादेश करनेपर 'गर्त्त' शब्दकी सिद्धि होती है। यह '**अवट**' अर्थात् गड्ढेका वाचक है। '**भृमृशितृ०**' इत्यादि (७) सूत्रके अनुसार '**भृ**' धातुसे '**अतच्**' प्रत्यय तथा गुणादेश करनेपर '**भरत**' शब्द निष्पन्न होता है। जो भरण-पोषण करे, वह '**भरत**' है। '**नमतीति नटः**'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार '**जनिदाच्युसृवृमदि०**' इत्यादि (५५४) सूत्रके द्वारा '**नम**' धातुसे '**डट्**' प्रत्यय करनेपर '**टि**' लोप होनेके पश्चात् '**नट**' शब्द बनता है। इसका अर्थ है—वेषधारी अभिनेता। ये थोड़े-से उणादि प्रत्यय यहाँ प्रदर्शित किये गये। इनके अतिरिक्त भी बहुत-से उणादि प्रत्यय होते हैं॥ ६—१२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'उणादिसिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५७॥

तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय

तिङ्विभक्त्यन्त सिद्धरूपोंका वर्णन

कुमार कार्तिकेय कहते हैं— कात्यायन! अब मैं 'तिङ्-विभक्ति' तथा 'आदेश'का संक्षेपसे वर्णन करूँगा। तिङ्-प्रत्यय भाव, कर्म और कर्ता—तीनोंमें होते हैं। सकर्मक तथा अकर्मक धातुसे कर्तामें आत्मनेपद तथा परस्मैपद—दोनों पदोंके 'तिङ्प्रत्यय' होते हैं। (सकर्मकसे कर्ता और कर्ममें तथा अकर्मकसे भाव और कर्तामें वे 'तिङ्' प्रत्यय हुआ करते हैं—यह विवेक कर्तव्य है) 'तिङादेश' सकर्मक धातुसे कर्म तथा कर्तामें बताये गये हैं। वर्तमानकालकी क्रियाके बोधके लिये धातुसे 'लट्' लकारका विधान कहा गया है। विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट (सत्कारपूर्वक व्यापार), सम्प्रश्न तथा प्रार्थना आदि अर्थका प्रतिपादन अभीष्ट हो तो धातुसे 'लिङ्' लकार होता है। 'विधि' आदि अर्थोंमें तथा आशीर्वादमें भी 'लोट्' लकारका प्रयोग होता है। अनद्यतन भूतकालका बोध करानेके लिये 'लङ्' लकार प्रयुक्त होता है। सामान्य भूतकालमें 'लुङ्', परोक्ष-भूतमें 'लिट्' अनद्यतन भविष्यमें 'लुट्' आशीर्वादमें 'लिङ्' शेष अर्थमें अर्थात् सामान्य भविष्यत् अर्थके बोधके लिये धातुसे 'लृट्' लकार होता है—क्रियार्था क्रिया हो तो भी, न हो तो भी। हेतुहेतुमद्भाव आदि 'लिङ्'का निमित्त होता है; उसके होनेपर भविष्यत् अर्थका बोध करानेके लिये धातुसे 'लृङ्' लकार होता है—क्रियाकी अतिपत्ति (असिद्धि) गम्यमान हो, तब। 'तङ्' प्रत्यय तथा '**शानच्**', '**कानच्**'—इनकी आत्मनेपद संज्ञा होती है। '**तिङ्**' विभक्तियाँ अठारह हैं। इनमें पूर्वकी नौ विभक्तियाँ '**परस्मैपद**' कही जाती हैं। वे प्रथमपुरुष आदिके भेदसे तीन भागोंमें बँटी हैं। '**तिप् तस् अन्ति**'—ये तीन प्रथमपुरुष हैं।

'**सिप्, थस्, थ**'—ये तीन मध्यमपुरुष हैं। तथा '**मिप्, वस्, मस्**'—ये उत्तमपुरुष कहे गये हैं॥ १—५ $\frac{१}{२}$ ॥

'**त, आताम्, झ**'—ये आत्मनेपदके प्रथमपुरुषसम्बन्धी प्रत्यय हैं। '**थास्, आथाम्, ध्वम्**'—ये मध्यमपुरुष हैं। '**इ, वहि, महिङ्**'—ये उत्तमपुरुष हैं। आत्मनेपदके नौ प्रत्यय '**तङ्**' कहलाते हैं और दोनों पदोंके प्रत्यय '**तिङ्**' शब्दसे समझे जाते हैं। क्रियावाची '**भू**', **वा** आदि धातु कहे गये हैं। **भू, एध्, पच्, नन्द्, ध्वंस्, स्रंस्, पद्, अद्, शीङ्, क्रीड, हु, हा, धा, दिव्, स्वप्, नह्, षूज्, तुद्, मृश्, मुच, रुध्, भुज, त्यज, तन, मन** और **कृ**—ये सब धातु शप् आदि विकरण होनेपर क्रियार्थबोधक होते हैं। '**क्रीड, वृङ्, ग्रह, चुर, पा, नी** तथा **अचि**'—ये तथा उपर्युक्त धातु 'नायक' (प्रधान) हैं। इन्हींके समान अन्य धातुओंके भी रूप होते हैं। '**भू**' धातुसे क्रमशः '**तिङ्**' प्रत्यय होनेपर '**भवति, भवतः, भवन्ति**'—इत्यादि रूप होते हैं। इनका वाक्यमें प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये—'**स भवति। तौ भवतः। ते भवन्ति। त्वं भवसि। युवां भवथः। यूयं भवथ। अहं भवामि। आवां भवावः। वयं भवामः।**' ये '**भू**' धातुके '**लट्**' लकारमें परस्मैपदी रूप हैं। '**भू**' धातुका अर्थ है—'होना'। '**एध्**' धातु '**वृद्धि**' अर्थमें प्रयुक्त होता है। यह आत्मनेपदी धातु है। इसका '**लट्**' लकारमें प्रथमपुरुषके एकवचनमें '**एधते**' रूप बनता है। वाक्यमें प्रयोग—'**एधते कुलम्।**' (कुलकी वृद्धि होती है)—इस प्रकार होता है। '**लट्**' लकारमें '**एध्**' धातुके शेष रूप इस प्रकार होते हैं—'**द्वे एधेते**'। (दो बढ़ते हैं)। यह द्विवचनका रूप है। बहुवचनमें '**एधन्ते**' रूप होता है। इस प्रकार प्रथमपुरुषके एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त रूप बताये गये। अब मध्यम और उत्तम पुरुषोंके रूप प्रस्तुत किये जाते हैं—'**एधसे**' यह मध्यमपुरुषका एकवचनान्त रूप है। वाक्यमें इसका प्रयोग इस प्रकार हो सकता है—'**त्वं हि मेधया एधसे।**' (निश्चय ही तुम बुद्धिसे बढ़ते हो।) '**एधेथे, एधध्वे**' ये दोनों मध्यमपुरुषके क्रमशः द्विवचनान्त और बहुवचनान्त रूप हैं। '**एधे, एधावहे, एधामहे**'—ये उत्तमपुरुषमें क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त रूप हैं। वाक्यमें प्रयोग—'**अहं धिया एधे।**' (मैं बुद्धिसे बढ़ता हूँ।) '**आवां मेधया एधावहे।**' (हम दोनों मेधासे बढ़ते हैं।) '**वयं हरेर्भक्त्या एधामहे।**' (हम श्रीहरिकी भक्तिसे बढ़ते हैं।) '**पाक**' अर्थमें '**पच्**' धातुका प्रयोग होता है। उसके '**पचति**' इत्यादि रूप पूर्ववत् ('**भू**' धातुके समान) होते हैं। '**भू**' धातुसे भावमें और '**अनु+भू**' धातुसे कर्ममें '**यक्**' प्रत्यय होनेपर क्रमशः '**भूयते**' और '**अनुभूयते**' रूप होते हैं। भावमें प्रत्यय होनेपर क्रिया केवल एकवचनान्त ही होती है और सभी पुरुषोंमें कर्ता तृतीयान्त होनेके कारण एक ही क्रिया सबके लिये प्रयुक्त होती है। यथा—'**त्वया मया अन्यैश्च भूयते।**' जहाँ कर्ममें प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म उक्त होनेके कारण उसमें प्रथमा विभक्ति होती है और तदनुसार सभी पुरुषों तथा सभी वचनोंमें क्रियाके रूप प्रयोगमें लाये जाते हैं। यथा—'**असौ अनुभूयते। तौ अनुभूयेते। ते अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। युवाम् अनुभूयेथे। यूयम् अनुभूयध्वे। अहम् अनुभूये। आवाम् अनुभूयावहे। वयम् अनुभूयामहे**'॥ ६—१३॥

अर्थविशेषको लेकर धातुसे '**णिच्**', '**सन्**', '**यङ्**' तथा '**यङ्लुक्**' होते हैं। इन्हें क्रमसे '**ण्यन्त**', '**सन्नन्त**', '**यडन्त**' और '**यङ्लुगन्त**' कहते हैं। जहाँ किसी क्रियाके कर्ताका कोई प्रेरक या प्रयोजक कर्ता होता है, वहाँ प्रयोजक

कर्ताकी 'हेतु' संज्ञा होती है और प्रयोज्य कर्ता 'कर्म' बन जाता है। प्रयोजकके व्यापार प्रेषण आदि वाच्य हों तो धातुसे '**णिच्**' प्रत्यय होता है। उसके होनेपर '**भू**' धातुके 'लट्' लकारमें '**भावयति**' इत्यादि रूप होते हैं। उदाहरणके लिये—'**ईश्वरो भवति, तं यज्ञदत्तो ध्यानादिना प्रेरयति इत्यस्मिन्नर्थे यज्ञदत्त ईश्वरं भावयति इति प्रयोगो भवति**' (ईश्वर होता है और यज्ञदत्त उसको ध्यानादिके द्वारा प्रेरित करता है—इस अर्थको व्यक्त करनेके लिये '**यज्ञदत्त ईश्वरं भावयति**' यह प्रयोग बनता है)।' जहाँ कोई धातु इच्छाक्रियाका कर्म बनता है तथा इच्छाक्रियाका कर्ता ही उस धातुका भी कर्ता होता है, वहाँ उस धातुसे इच्छाकी अभिव्यक्तिके लिये '**सन्**' प्रत्यय होता है। '**भू**' धातुके सन्नन्तमें '**बुभूषति**' इत्यादि रूप होते हैं। यथा—'**भवितुम् इच्छति बुभूषति।**' (होना चाहता है।) वक्ता चाहे तो '**बुभूषति**' कहे अथवा '**भवितुम् इच्छति**'—इस वाक्यका प्रयोग करे। यह स्मरणीय है कि '**सन्**' और '**यङ्**' प्रत्यय परे रहनेपर धातुका द्वित्व हो जाता है। शेष कार्य व्याकरणकी प्रक्रियाके अनुसार होते हैं। जहाँ क्रियाका समभिहार हो, अर्थात् पुनः-पुनः या अतिशयरूपसे क्रियाका होना बताया जाय, वहाँ उक्त अभिप्रायका द्योतन या प्रकाशन करनेके लिये धातुसे '**यङ्**' प्रत्यय होता है। '**यङ्**' और '**यङ्लुगन्त**' में धातुका द्वित्व होनेपर पूर्वभागके, जिसे 'अभ्यास' कहते हैं, '**इक्**' का 'गुण' हो जाता है। '**भू**' धातुके '**यङन्त**' में '**बोभूयते**' इत्यादि रूप होते हैं। '**पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति**'—इस अर्थमें '**बोभूयते**' क्रियाका प्रयोग होता है। यथा—'**वाद्यं बोभूयते।**' (वाद्यवादन बार-बार या अधिक मात्रामें होता है)। '**यङ्लुगन्त**' में '**भू**' धातुके '**बोभोति**' इत्यादि रूप होते हैं। अर्थ वही है, जो '**यङन्त**' क्रियाका होता है। '**यङन्त**' में आत्मनेपदीय प्रत्यय होते हैं और '**यङ्लुगन्त**' में परस्मैपदीय॥ १४॥

कहीं-कहीं '**नाम**' या '**सुबन्त**' शब्दसे '**क्यच्**' आदि प्रत्यय होनेपर उस शब्दकी 'धातु' संज्ञा होती है और उसके धातुके ही समान रूप चलते हैं। ऐसे प्रकरणको '**नामधातु**' कहते हैं। जो इच्छाका कर्म हो और इच्छा करनेवालेका सम्बन्धी हो, ऐसे '**सुबन्त**'से इच्छा-अर्थमें विकल्पसे '**क्यच्**' प्रत्यय होता है। '**आत्मनः पुत्रम् इच्छति।**' (अपने लिये पुत्र चाहता है)—इस अर्थमें '**पुत्रम्**' इस '**सुबन्त**' पदसे '**क्यच्**' प्रत्यय हुआ। अनुबन्धलोप होनेपर '**पुत्र अम् य**' हुआ। '**सनाद्यन्ता धातवः।**' (३।१।३२) से धातुसंज्ञा होकर '**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।**' (२।४।७०) से '**अम्**' का लोप हो गया। पुत्र=य—इस स्थितिमें '**क्यचि च।**' (७।४।३३)—इस सूत्रके अनुसार 'अकार'के स्थानमें 'ईकार' हो गया। इस प्रकार '**पुत्रीय**' से '**तिप्**' '**शप्**' आदि कार्य होनेपर '**पुत्रीयति**' इत्यादि रूप होते हैं। इसी अर्थमें '**काम्यच्**' प्रत्यय भी होता है और 'पुत्र' शब्दसे '**काम्यच्**' प्रत्यय होनेपर '**पुत्रकाम्यति**' इत्यादि रूप होते हैं। '**पटत् भवति इति पटपटायते।**' यहाँ '**अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्।**' (५।४।५७)—इस सूत्रके अनुसार '**भू**' के योगमें '**डाच्**' प्रत्यय होनेपर '**पटत् डा**' इस स्थितिमें '**डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्।**' इस वार्तिकसे द्वित्व होकर '**नित्यमाम्रेडिते डाचि।**' इस वार्तिकसे पररूप हुआ तो टि-लोपके अनन्तर '**पटपटा+भू**'—यह अवस्था प्राप्त हुई। इसके बाद '**लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्।**' (३।१।१३)—इस सूत्रसे '**भवति**' इस अर्थमें '**क्यष्**' प्रत्यय हुआ तो '**पटपटा+क्यष्**' बना। फिर अनुबन्धलोप, धातु संज्ञा तथा धातुसम्बन्धी कार्य होनेसे '**पटपटायते**'—यह रूप सिद्ध हुआ। इसका अर्थ

है कि 'पटपट' की आवाज होती है। '**घटं करोति**।'—इस अर्थमें '**तत्करोति तदाचष्टे**' के अनुसार '**घटयति**' रूप बनता है। '**सन्नन्त**'से '**णिच्**' प्रत्यय किया जाय तो '**भू**' धातुके सन्नन्त रूप '**बुभूषति**' की जगह '**बुभूषयति**' रूप बनेगा। प्रयोग—'**गुरुः शिष्यं बुभूषयति**'॥ १५॥

'**भू**' धातुके 'विधिलिङ्' लकारमें क्रमशः ये रूप होते हैं—'**भवेत्, भवेताम्, भवेयुः। भवेः, भवेतम्, भवेत। भवेयम्, भवेव, भवेम**'। '**एध**' धातुके '**विधिलिङ्**' में इस प्रकार रूप बनते हैं—**एधेत, एधेयाताम्, एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि**।' वाक्यप्रयोग—'**ते मनसा एधेरन्**' (वे मनसे बढ़ें—उन्नति करें)। '**त्वं श्रिया एधेथाः**।' (तुम लक्ष्मीके द्वारा बढ़ो इत्यादि)। '**भू**' धातुके '**लोट्**' लकारमें ये रूप होते हैं—'**भवतु, भवतात्, भवताम्, भवन्तु। भव-भवतात्, भवतम्, भवत। भवानि, भवाव, भवाम**।' '**एध्**' धातुके '**लोट्**' लकारमें ये रूप जानने चाहिये—'**एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम्। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्। एधै, एधावहै, एधामहै**।' '**पच्**' धातुके भी आत्मनेपदमें ऐसे ही रूप होते हैं। यथा उत्तमपुरुषमें—'**पचै, पचावहै, पचामहै**।' '**अभि**' पूर्वक '**नदि**' धातुका '**लङ्**' लकारमें प्रथमपुरुषके एकवचनमें '**अभ्यनन्दत्**'—यह रूप होता है। '**पच्**' धातुके '**लङ्**' लकारमें—'**अपचत्, अपचताम्, अपचन्**' इत्यादि रूप होते हैं। '**भू**' धातुके '**लङ्**' लकारमें '**अभवत्, अभवताम्, अभवन्**' इत्यादि रूप होते हैं। '**पच्**' धातुके '**लङ्**' लकारके उत्तमपुरुषमें—'**अपचम्, अपचाव, अपचाम**'—ये रूप होते हैं। '**एध्**' धातुके '**लङ्**' लकारमें—**ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि**—ये रूप होते हैं। '**भू**' धातुके '**लुङ्**' लकारमें **अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम**'—ये रूप होते हैं। '**एध्**' धातुके '**लुङ्**' लकारमें **ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिध्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि**'—ये रूप जानने चाहिये। वाक्यप्रयोग—'**नरौ ऐधिषाताम्**' (दो मनुष्य बढ़ें)। '**भू**' धातुके '**परोक्षलिट्**' में '**बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम**।' —ये रूप होते हैं। '**पच्**' धातुके आत्मनेपदी '**लिट्**' लकारमें प्रथमपुरुषके रूप इस प्रकार हैं—'**पेचे, पेचाते, पेचिरे**।' '**एध्**' धातुके '**लिट्**' लकारमें इस प्रकार रूप समझने चाहिये—'**एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे, एधाञ्चकृध्वे। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे**।' '**पच्**' धातुके '**परोक्षलिट्**' में प्रथमपुरुषके रूप बताये गये हैं। मध्यम और उत्तम पुरुषके रूप इस प्रकार होते हैं—'**पेचिषे, पेचाथे पेचिध्वे। पेचे, पेचिवहे, पेचिमहे**।' '**भू**' धातुके '**अनद्यतन भविष्य लुट्**' लकारमें इस प्रकार रूप जानने चाहिये—'**भविता, भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः**।' वाक्यप्रयोग—'**हरादयो भवितारः**।' (हर आदि होंगे।) '**वयं भवितास्मः**।' (हम होंगे।) '**पच्**' धातुके '**लुट्**' लकारमें '**परस्मैपदीय**' रूप इस प्रकार हैं—'**पक्ता, पक्तारौ, पक्तारः, पक्तासि**। (शेष भूधातुकी तरह)। वाक्यप्रयोग—'**त्वं शुभौदनं पक्तासि**।' (तुम अच्छा भात राँधोगे।) '**पच्**' धातुके '**लुट्**' लकारमें '**आत्मनेपदीय**' रूप इस प्रकार हैं—प्रथमपुरुषमें तो '**परस्मैपदीय**' रूपके समान ही होते हैं, मध्यम और उत्तम पुरुषमें—'**पक्तासे, पक्तासाथे, पक्ताध्वे। पक्ताहे, पक्तास्वहे, पक्तास्महे**।' वाक्यप्रयोग—'**अहं पक्ताहे**।' (मैं पकाऊँगा।) '**वयं हरेश्चरुं पक्तास्महे**।' (हम श्रीहरिके लिये चरु पकावेंगे या तैयार करेंगे।) '**आशीर्लिङ्**'

में 'भू' धातुके रूप इस प्रकार जानने चाहिये— '**भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म।** वाक्यप्रयोग— '**सुखं भूयात्।**' (सुख हो।) '**हरिशङ्करौ भूयास्ताम्।**' (विष्णु और शिव हों।) '**ते भूयासुः।**' (वे हों।) '**त्वं भूयाः।**' (तुम होओ।) '**युवाम् ईश्वरौ भूयास्तम्।**' (तुम दोनों ईश्वर—ऐश्वर्यशाली होओ।) '**यूयं भूयास्त।**' (तुम सब होओ।) '**अहं भूयासम्।**' (मैं होऊँ।) '**वयं सर्वदा भूयास्म।**' '**यक्ष्**' धातुके **आत्मनेपदीय आशिष्-लिङ्** में इस प्रकार रूप होते हैं—'**यक्षीष्ट, यक्षीयास्ताम्, यक्षीरन्। यक्षीष्ठाः, यक्षीयास्थाम्, यक्षीध्वम्। यक्षीय, यक्षीवहि, यक्षीमहि।**' इसी प्रकार '**एध्**' धातुके '**आशीर्लिङ्**' में ये रूप जानने चाहिये—'**एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि।**' '**यक्ष्**' धातुके '**लृङ्**' लकारमें ये रूप होते हैं—'**अयक्ष्यत, अयक्ष्येताम्, अयक्ष्यन्त। अयक्ष्यथाः, अयक्ष्येथाम्, अयक्ष्यध्वम्। अयक्ष्ये, अयक्ष्यावहि, अयक्ष्यामहि।**' '**एध्**' धातुके '**लृङ्**' लकारके रूप इस प्रकार हैं—'**ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि।**' वाक्यप्रयोग—**काचिद् बाधा नाभविष्यच्चेद् वयम् अरेः ऐधिष्यामहि।** (यदि कोई बाधा न पड़े तो हम अवश्य शत्रुसे बढ़ जायँ।) '**भू**' धातुके '**लृट्**' लकारमें '**भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति**'— इत्यादि रूप होते हैं। '**एध्**' धातुके '**लृट्**' लकारमें— '**एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे।**' ये रूप होते हैं॥ १६—२९॥

इसी प्रकार '**णिजन्त**' वि-पूर्वक '**भू**' धातुके '**लृट्**' लकारमें—'**विभावयिष्यति, विभावयिष्यतः, विभावयिष्यन्ति**' इत्यादि रूप होते हैं। '**यङ्लुगन्त**' '**भू**' धातुके '**लृट्**' लकारमें '**बोभविष्यति**' इत्यादि रूप होते हैं। 'नामधातु' में **घटं करोति, पटं करोति**' इत्यादि अर्थमें जिनके '**घटयति, पटयति**' इत्यादि रूप कह आये हैं, उन्हींके '**विधिलिङ्**' में '**घटयेत्, पटयेत्**' इत्यादि रूप होते हैं। इसी तरह '**पुत्रीयति**' और '**पुत्रकाम्यति**' इत्यादि नामधातु-सम्बन्धिनी क्रियाओंके रूपोंकी ऊहा कर लेनी चाहिये॥ ३०॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'तिङ्-विभक्त्यन्त सिद्ध रूपोंका वर्णन' नामक तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५८॥

तीन सौ उनसठवाँ अध्याय

कृदन्त शब्दोंके सिद्ध रूप

कुमार कार्तिकेय कहते हैं—कात्यायन! यह जानना चाहिये कि '**कृत्**' प्रत्यय भाव, कर्म तथा कर्ता—तीनोंमें होते हैं। वे इस प्रकार हैं— '**अच्**', '**अप्**', '**ल्युट्**', '**क्तिन्**', भावार्थक '**घञ्**' करणार्थक '**घञ्**', '**युच्**', '**अ**' तथा '**तव्य**' आदि। '**अच्**' प्रत्यय होनेपर '**विनी+अच्**' (गुण, अयादेश और विभक्तिकार्य)=**विनयः**। (**ॠदोरप्**) **उत्कृ+अप्=उत्करः। प्रकृ+अप्=प्रकरः। दिव+अच्=देवः। भद्र+अच्=भद्रः। श्रीकृ+अप्= श्रीकरः।**' इत्यादि रूप होते हैं। '**ल्युट्**' प्रत्यय होनेपर **शुभ+ल्युट्** (लकार, टकारकी इत्संज्ञा, लघूपध गुण) '**युवोरनाकौ।**' (७।१।१) से अनादेश='**शोभनम्**'—इस रूपकी सिद्धि होती है। '**वृध्**' धातुसे '**क्तिन्**' प्रत्यय करनेपर '**वृध्+क्ति**'

(ककारकी इत्संज्ञा, तकारका धकारादेश, पूर्व धकारका जश्त्वेन दकार और विभक्तिकार्य)= '**वृद्धिः**'। **स्तु+क्तिन्**='**स्तुतिः**'। **मन्+क्तिन्**= '**मतिः**'—ये पद सिद्ध होते हैं। '**भू**' धातुसे '**घञ्**' प्रत्यय होनेपर **भू+घञ्**='**भावः**'—यह पद बनता है। णिजन्त 'कृ' धातुसे '**ण्यासश्रन्थो युच्।**' (३।३।१०७)—इस सूत्रके अनुसार '**युच्**' प्रत्यय करनेपर **कारि+यु** (णिलोप, अनादेश)= '**कारणा।**' '**भावि+युच्**'= '**भावना**' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। प्रत्ययान्त धातुसे स्त्रीलिङ्गमें '**अ**' प्रत्यय होता है। उसके होनेपर '**चिकित्स+अ, चिकीर्ष+अ**= चिकित्सा, चिकीर्षा' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। धातुसे '**तव्य**' और '**अनीय**' प्रत्यय भी होते हैं। **कृ+तव्य=कर्तव्यम्। कृ+अनीय=करणीयम्** —इत्यादि पदोंकी सिद्धि होती है। '**अचो यत्।**' (३।१।९७) सूत्रके अनुसार '**अजन्त**' धातुसे '**यत्**' प्रत्यय होता है। उसके होनेपर **दा+यत्** ('**ईद्यति।**' सूत्रसे '**आ**' के स्थानमें 'ईकारादेश', गुण और विभक्तिकार्य)= **देयम्। ध्यै+यत्** ('**आदेच उपदेशेऽशिति।**' से '**ऐ**' के स्थानमें आ, '**ईद्यति**' से '**आ**' के स्थानमें '**ई**' (विभक्तिकार्य) =**ध्येयम्**—ये पद सिद्ध होते हैं। '**ऋहलोर्ण्यत्**' (३।१।१२४)—इस सूत्रके अनुसार ण्यत् प्रत्यय होनेपर **कृ+ण्यत्** ('**चुटू**' १।३।७१) सूत्रसे णकारकी तथा '**हलन्त्यम्।**' (१।३।३) सूत्रसे तकारकी इत्संज्ञा।'**अचोऽञ्णिति।**' (७।२।११५) से 'वृद्धि' तथा विभक्तिकार्य)= '**कार्यम्**'—यह पद सिद्ध होता है। यहाँतक 'कृत्यसंज्ञक' प्रत्यय कहे गये हैं॥ १—४॥

'**क्त**' आदि प्रत्यय कर्तामें होते हैं—यह जाननेयोग्य बात है। वे कहीं-कहीं भाव और कर्ममें भी होते हैं। कर्तामें '**गम्**' धातुसे '**क्त**' प्रत्यय होनेपर '**गतः**'—यह रूप बनता है। प्रयोगमें ('**स ग्रामं गतः, स ग्रामे गतः।**' इत्यादि वाक्य होते हैं। इस वाक्यका अर्थ है—वह गाँवको गया)। कर्ममें '**क्त**' प्रत्ययका उदाहरण है—'**त्वया गुरुः आश्लिष्टः।**' (तुमने गुरुका आलिङ्गन किया।) यहाँ कर्ममें प्रत्यय होनेसे कर्मभूत 'गुरु' उक्त हो गया। अतः उसमें प्रथमा विभक्ति हुई। '**त्वम्**' यह कर्ता अनुक्त हो गया। अतः उसमें तृतीया विभक्ति हुई। '**आश्लिष्+क्त**' (ककारकी इत्संज्ञा, '**त**' के स्थानमें '**ष्टुत्व**' के नियमसे 'टकार' हुआ। तदनन्तर विभक्तिकार्य करनेपर)='**आश्लिष्टः**' पद सिद्ध हुआ। वर्तमानार्थबोधक 'लट्' लकारमें धातुसे '**शतृ**' और '**शानच्**' प्रत्यय भी होते हैं। परस्मैपदमें '**शतृ**' और आत्मनेपदमें '**शानच्**' होता है। '**भू**' धातुसे '**शतृ**' प्रत्यय करनेपर '**भवन्**' और '**एध्**' धातुसे '**शानच्**' प्रत्यय करनेपर '**एधमानः**'—ये पद सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण धातुओंसे '**ण्वुल्**' और '**तृच्**' प्रत्यय होते हैं। '**भू**' धातुसे कर्ता अर्थमें '**ण्वुल्**' करनेपर '**भावकः**' और '**तृच्**' प्रत्यय करनेपर '**भविता**'—ये पद सिद्ध होते हैं। '**भू**' धातुसे '**क्विप्**' प्रत्यय भी हुआ करता है।'**स्वयम्+भू+क्विप्=स्वयम्भूः**'—इस पदकी सिद्धि होती है। भूतार्थ-बोधके लिये 'लिट्' लकारमें धातुसे '**क्वसु**' और '**कानच्**' प्रत्यय होते हैं। परस्मैपदमें '**क्वसु**' और आत्मनेपदमें '**कानच्**' होता है। '**भू**' धातुसे '**क्वसु**' करनेपर '**बभूविवान्**' और '**पच्**' धातुसे '**क्वसु**' प्रत्यय करनेपर '**पेचिवान्**'— ये पद सिद्ध होते हैं। इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'**स बभूव इति बभूविवान्।**' (वह हुआ था।) '**स पपाच इति पेचिवान्।**' (उसने पकाया था।) '**आत्मनेपदीय पच्**' धातुसे '**कानच्**' प्रत्यय करनेपर '**पेचानः**' पद बनता है। '**श्रद्+धा**'—इस धातुसे '**लिट्**' लकारमें '**कानच्**' प्रत्यय करनेपर '**श्रद्दधानः**'—यह पद सिद्ध होता है। '**स पेचे इति पेचानः। स श्रद्दधे इति श्रद्दधानः**'। '**कर्मण्यण्**' से '**अण्**' प्रत्यय करनेपर '**कुम्भकारः**' आदि पद सिद्ध होते हैं। भूत और वर्तमान अर्थमें भी '**उणादि**'

प्रत्यय होते हैं। '**ववौ वाति इति वा वायुः।**' **वा+उण्** (युगागम एवं विभक्तिकार्य)=**वायुः**। '**पा+उण्=पायुः।**' '**कृ+ उण्= कारुः।**' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। '**बहुलं छन्दसि**' इस नियमके अनुसार सभी '**कृत्**' प्रत्यय वेदमें बाहुल्येन उपलब्ध होते हैं। वहाँ कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कहीं वैकल्पिक विधान और कहीं कुछ और ही विधि दृष्टिगोचर होती है॥ ५—८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कृदन्त शब्दोंके सिद्ध रूपोंका संक्षिप्त वर्णन' नामक तीन सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५९॥

तीन सौ साठवाँ अध्याय

स्वर्ग-पाताल आदि वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—कात्यायन! स्वर्ग आदिके नाम और लिङ्ग जिनके स्वरूप हैं, उन शुद्ध स्वरूप श्रीहरिका मैं वर्णन करता हूँ—स्वः [अव्यय], स्वर्ग, नाक, त्रिदिव [पुँल्लिङ्ग], द्यो, दिव्—ये दो स्त्रीलिङ्ग और त्रिविष्टप [नपुंसक]—ये सब 'स्वर्गलोक'के नाम हैं। देव, वृन्दारक और लेख—ये (पुँल्लिङ्ग शब्द) देवताओंके नाम हैं। 'रुद्र' आदि* शब्द गणदेवताके वाचक हैं। विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किंनर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत—ये सब 'देवयोनि'के अन्तर्गत हैं। देवद्विट्, असुर और दैत्य—ये असुरोंके तथा सुगत और तथागत—ये बुद्धके नाम हैं। ब्रह्मा, आत्मभू और सुरज्येष्ठ—ये ब्रह्माजीके; विष्णु, नारायण और हरि—ये भगवान् विष्णुके; रेवतीश, हली और राम—ये बलभद्रजीके तथा काम, स्मर और पञ्चशर—ये कामदेवके नाम हैं। लक्ष्मी, पद्मालया और पद्मा—ये लक्ष्मीजीके तथा शर्व, सर्वेश्वर और शिव—ये भगवान् शंकरके नाम हैं। उनकी बँधी हुई जटाके दो नाम हैं—कपर्द और जटाजूट। उनके धनुषके भी दो नाम हैं—पिनाक और अजगव। शिवजीके पार्षद प्रमथ कहलाते हैं। मृडानी, चण्डिका और अम्बिका—ये पार्वतीजीके; द्वैमातुर और गजास्य (गजानन)—ये गणेशजीके तथा सेनानी, अग्निभू और गुह—ये स्वामी कार्तिकेयजीके नाम हैं। आखण्डल, शुनासीर, सुत्रामा और दिवस्पति—ये इन्द्रके तथा पुलोमजा, शची और इन्द्राणी—ये उनकी प्रियतमा शची देवीके नाम हैं। इन्द्रके महलका नाम वैजयन्त, पुत्रका नाम जयन्त और पाकशासनि तथा हाथीके नाम ऐरावत, अभ्रमातङ्ग, ऐरावण और अभ्रमुवल्लभ हैं। ह्रादिनी (स्त्रीलिङ्ग), पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त होनेवाला वज्र, कुलिश (नपुंसक), भिदुर (नपुंसक) और पवि (पुँल्लिङ्ग)—ये सब इन्द्रके वज्रके नाम हैं। व्योम-यान (नपुं०) तथा विमान (पुँल्लि० नपु०)—ये आकाशमें विचरनेवाले देववाहनोंके नाम हैं। पीयूष, अमृत और सुधा—ये अमृतके नाम हैं। (इनमें सुधा तो स्त्रीलिङ्ग और शेष दोनों नाम नपुंसकलिङ्ग हैं।) देवताओंकी सभा 'सुधर्मा' कहलाती है। देवताओंकी नदी गङ्गाका नाम स्वर्गङ्गा और सुरदीर्घिका है। उर्वशी आदि अप्सराओंको अप्सरा और स्वर्वेश्या कहते हैं। इनमें अप्सरस् शब्द स्त्रीलिङ्ग एवं बहुवचनमें प्रयुक्त होता है। हाहा, हूहू आदि गन्धर्वोंके नाम हैं। अग्नि, वह्नि, धनंजय, जातवेदा, कृष्णवर्त्मा, आश्रयाश, पावक, हिरण्यरेताः, सप्तार्चि,

* आदि शब्दसे वसु और आदित्य आदि नामोंको ग्रहण करना चाहिये। रुद्र ११, वसु ८ और आदित्य १२ हैं।

शुक्ल, आशुशुक्षणि, शुचि और अप्पित्त—ये अग्निके नाम हैं तथा और्व, वाडव और वडवानल—ये समुद्रके भीतर जलनेवाली आगके नाम हैं। आगकी ज्वालाके पाँच नाम हैं—ज्वाल, कील, अर्चिष्, हेति और शिखा। इनमें पहले दो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होते हैं। अर्चिष् नपुंसकलिङ्ग है तथा हेति और शिखा स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। आगकी चिनगारीके दो नाम हैं—स्फुलिङ्ग और अग्निकण। इनमें पहला तीनों लिङ्गोंमें और दूसरा केवल पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त होता है। धर्मराज, परेतराट्, काल, अन्तक, दण्डधर और श्राद्धदेव—ये यमराजके नाम हैं। राक्षस, कौणप, अस्रप, क्रव्याद, यातुधान और नैर्ऋति—ये राक्षसोंके नाम हैं। प्रचेता, वरुण और पाशी—ये वरुणके तथा श्वसन, स्पर्शन, अनिल, सदागति, मातरिश्वा, प्राण, मरुत् और समीरण—ये वायुके नाम हैं। जव, रंहस् और तरस्—ये वेगके वाचक हैं। (इनमें पहला पुँल्लिङ्ग और शेष दोनों शब्द नपुंसकलिङ्ग हैं।) लघु, क्षिप्र, अर, द्रुत, सत्वर, चपल, तूर्ण, अविलम्बित और आशु—ये शीघ्रताके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। (क्रियाविशेषण होनेपर इन सबका नपुंसकलिङ्ग एवं एकवचनमें प्रयोग होता है।) सतत, अनारत, अश्रान्त, संतत, अविरत, अनिश, नित्य, अनवरत और अजस्र—ये निरन्तरके वाचक हैं। (ये भी प्रायः क्रियाविशेषणमें ही प्रयुक्त होते हैं, केवल 'नित्य' शब्दका ही अन्य विशेषणोंमें भी प्रयोग होता है।) अतिशय, भर, अतिवेल, भृश, अत्यर्थ, अतिमात्र, उद्गाढ, निर्भर, तीव्र, एकान्त, नितान्त, गाढ, बाढ और दृढ—ये अतिशय (अधिकमात्रा)-के वाचक हैं। गुह्यकेश, यक्षराज, राजराज और धनाधिप—ये कुबेरके नाम हैं। किंनर, किम्पुरुष, तुरंगवदन और मयु—ये किंनरोंके वाचक शब्द हैं। निधि और शेवधि—ये दोनों पुँल्लिङ्ग शब्द निधिके वाचक हैं। व्योम, अभ्र, पुष्कर, अम्बर, द्यो, दिव्, अन्तरिक्ष और ख—ये आकाशके पर्याय हैं। (इनमें द्यो और दिव् शब्द स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं और शेष सब नपुंसकलिङ्गमें।) काष्ठा, आशा, ककुभ् और दिश्—ये दिशा-अर्थके बोधक हैं। अभ्यन्तर और अन्तराल शब्द मध्यके तथा चक्रवाल और मण्डल शब्द गोलाकार मण्डल एवं समुदायके वाचक हैं। तडित्वान्, वारिद, मेघ, स्तनयित्नु और बलाहक—ये मेघके पर्याय हैं॥ १—२१॥

बादलोंकी घटाका नाम है कादम्बिनी और मेघमाला तथा स्तनित और गर्जित—ये (नपुंसकलिङ्ग) शब्द मेघगर्जनाके वाचक हैं। शम्पा, शतह्रदा, ह्रादिनी, ऐरावती, क्षणप्रभा, तडित्, सौदामिनी (सौदामनी), विद्युत्, चञ्चला और चपला—ये बिजलीके पर्याय हैं। स्फूर्जथु और वज्र-निर्घोष—ये दो बिजलीकी गड़गड़ाहटके नाम हैं। वर्षाकी रुकावटको वृष्टिघात और अवग्रह कहते हैं। धारा-सम्पात और आसार—ये दो मुसलाधार वृष्टिके नाम हैं। जलके छींटों या फुहारोंको शीकर कहते हैं। वर्षाके साथ गिरनेवाले ओलोंका नाम करका है। जब मेघोंकी घटासे दिन छिप जाय तो उसे दुर्दिन कहते हैं। अन्तर्धा, व्यवधा, पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त होनेवाला अन्तर्धि तथा (नपुंसकलिङ्ग) अपवारण, अपिधान, तिरोधान, पिधान और आच्छादन—ये आठ अन्तर्धान (अदृश्य होने)-के नाम हैं। अब्ज, जैवात्रिक, सोम, ग्लौः; मृगाङ्क, कलानिधि, विधु तथा कुमुद-बन्धु—ये चन्द्रमाके पर्याय हैं। चन्द्रमा और सूर्यके मण्डलका नाम है—बिम्ब और मण्डल। इनमें बिम्ब शब्दका पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें तथा मण्डल-शब्दका तीनों लिङ्गोंमें

प्रयोग होता है। चन्द्रमाके सोलहवें भागको कला कहते हैं। भित्त, शकल और खण्ड—ये टुकड़ेके वाचक हैं। चाँदनीको चन्द्रिका, कौमुदी और ज्योत्स्ना कहते हैं। प्रसाद और प्रसन्नता—ये निर्मलता और हर्षके बोधक हैं। लक्षण, लक्ष्म और चिह्न—ये चिह्नके तथा शोभा, कान्ति, द्युति और छवि—ये शोभाके नाम हैं। उत्तम शोभाको सुषमा कहते हैं। तुषार, तुहिन, हिम, अवश्याय, नीहार, प्रालेय, शिशिर और हिम—ये पालेके वाचक हैं। नक्षत्र, ऋक्ष, भ, तारा, तारका और उडु—ये नक्षत्रके पर्याय हैं। इनमें उडु शब्द विकल्पसे स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक होता है। गुरु, जीव और आङ्गिरस—ये बृहस्पतिके; उशना, भार्गव और कवि—ये शुक्राचार्यके तथा विधुँतुद, तम और राहु—ये तीन राहुके नाम हैं। राशियोंके उदयको लग्न कहते हैं। मरीचि और अत्रि आदि* सप्तर्षि 'चित्रशिखण्डी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। हरिदश्व, ब्रध्न, पूषा, द्युमणि, मिहिर और रवि—ये सूर्यके नाम हैं। परिवेष, परिधि, उपसूर्यक और मण्डल—ये उत्पात आदिके समय दिखायी देनेवाले सूर्यमण्डलके घेरेका बोध करानेवाले हैं। किरण, उस्र, मयूख, अंशु, गभस्ति, घृणि, धृष्णि, भानु, कर, मरीचि और दीधिति—ये ग्यारह सूर्यकी किरणोंके नाम हैं। इनमें मरीचि शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है तथा दीधिति शब्दका प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्गमें होता है। प्रभा, रुक्, रुचि, त्विट्, भा, आभा, छबि, द्युति, दीप्ति, रोचिष् और शोचिष्—ये प्रभाके नाम हैं। इनमें रोचिष् और शोचिष्—ये दो शब्द केवल नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं (शेष सभी स्त्रीलिङ्ग हैं)। प्रकाश, द्योत और आतप—ये तीन धूप या घामके नाम हैं। कोष्ण, कवोष्ण, मन्दोष्ण और कदुष्ण—ये थोड़ी गरमीका बोध करानेवाले हैं। यद्यपि स्वरूपसे ये नपुंसकलिङ्ग हैं, तथापि जय थोड़ी गरमी रखनेवाली किसी वस्तुके विशेषण होते हैं तो विशेष्यके अनुसार इनका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। तिग्म, तीक्ष्ण और खर—ये अधिक गर्मीके वाचक हैं। ये भी पूर्ववत् गुणबोधक होनेपर नपुंसकमें और गुणवान्के विशेषण होनेपर विशेष्यके अनुसार तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। दिष्ट, अनेहा और काल—ये समयके पर्याय हैं। घस्र, दिन और अहन्—ये दिनके, सायं शब्द सायंकालका और संध्या तथा पितृप्रसू—ये दो संध्याके नाम हैं। प्रत्यूष, अहर्मुख, कल्य, उषस् और प्रत्यूषस्—ये प्रभातकालके वाचक हैं। दिनके प्रथम भागको प्राह्ण, अन्तिम भागको अपराह्ण और मध्यभागको मध्याह्न कहते हैं—इन तीनोंका समुदाय त्रिसंध्य कहलाता है। शर्वरी, यामी (यामिनी) और तमी—ये रात्रिके वाचक हैं। अँधेरी रातको तमिस्रा और चाँदनी रात्रिको ज्यौत्स्नी कहते हैं। आगामी और वर्तमान—इन दो दिनोंसहित बीचकी रात्रिका बोध करानेके लिये पक्षिणी शब्दका प्रयोग किया जाता है। आधी रातके दो नाम हैं—अर्धरात्र और निशीथ। रात्रिके प्रारम्भको प्रदोष और रजनीमुख कहते हैं। प्रतिपदा और पूर्णिमा या अमावास्याके बीचमें जो संधिका समय है उसे पर्वसंधि कहते हैं। दोनों पञ्चदशियों अर्थात् पूर्णिमा और अमावास्याको पक्षान्त कहा जाता है। पूर्णिमाके दो नाम हैं—पौर्णमासी तथा पूर्णिमा। यदि पूर्णिमाको चन्द्रोदयके समय प्रतिपद्का योग लग जानेसे एक कलासे हीन चन्द्रमाका उदय हो तो उस पूर्णिमाकी 'अनुमति' संज्ञा है तथा पूर्ण

* आदि पदसे अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठका ग्रहण होता है।

चन्द्रमाके उदय लेनेपर उसे 'राका' कहते हैं। अमावस्या, अमावास्या दर्श और सूर्येन्दुसंगम— ये चार अमावास्याके नाम हैं। यदि सबेरे चतुर्दशीका योग होनेसे अमावास्याके प्रात:काल चन्द्रमाका दर्शन हो जाय तो उस अमावास्याको 'सिनीवाली' कहते हैं। किंतु चन्द्रोदयकालमें अमावस्याका योग हो जानेसे यदि चन्द्रमाकी कला बिलकुल न दिखायी दे तो वह अमा 'कुहू' कहलाती है॥ २२—४०॥

संवर्त, प्रलय, कल्प, क्षय और कल्पान्त— ये पाँच प्रलयके नाम हैं। कलुष, वृजिन, एनस्, अघ, अंहस्, दुरित और दुष्कृत शब्द पापके वाचक हैं। धर्म शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसक दोनोंमें होता है। इसके पर्याय हैं—पुण्य, श्रेयस्, सुकृत और वृष। (इनमें आरम्भके तीन नपुंसक और वृष शब्द पुँल्लिङ्ग है।) मुत्, प्रीति, प्रमद, हर्ष, प्रमोद, आमोद, सम्मद, आनन्दथु, आनन्द, शर्म्म, शात और सुख—ये सुख एवं हर्षके नाम हैं। स्व:श्रेयस, शिव, भद्र, कल्याण, मङ्गल, शुभ, भावुक, भविक, भव्य, कुशल और क्षेम—ये कल्याण-अर्थका बोध करानेवाले हैं। ये सभी शब्द केवल स्त्रीलिङ्गमें नहीं प्रयुक्त होते। दैव, दिष्ट, भागधेय, भाग्य, नियति और विधि—ये भाग्यके नाम हैं। इनमें नियति-शब्द स्त्रीलिङ्ग है (और विधि पुँल्लिङ्ग तथा आरम्भके चार शब्द नपुंसकलिङ्ग हैं)। क्षेत्रज्ञ, आत्मा और पुरुष—ये आत्माके पर्याय हैं। प्रकृति या मायाके दो नाम हैं—प्रधान और प्रकृति। इनमें प्रकृति स्त्रीलिङ्ग है और प्रधान नपुंसकलिङ्ग। हेतु, कारण और बीज—ये कारणके वाचक हैं। इनमें पहला पुँल्लिङ्ग और शेष दो शब्द नपुंसकलिङ्ग हैं। कार्यकी उत्पत्तिमें प्रधान हेतुके दो नाम हैं— निदान और आदिकारण। चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मनस्—ये चित्तके पर्याय हैं। बुद्धि, मनीषा, धिषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चित्, संवित्, प्रतिपत्, ज्ञप्ति और चेतना—ये बुद्धिके वाचक शब्द हैं। धारणाशक्तिसे युक्त बुद्धिको 'मेधा' कहते हैं और मानसिक व्यापारका नाम संकल्प है। संख्या, विचारणा और चर्चा—ये विचारके, विचिकित्सा और संशय संदेहके तथा अध्याहार, तर्क और ऊह—ये तर्क-वितर्कके नाम हैं। निश्चित विचारको निर्णय और निश्चय कहते हैं। 'ईश्वर और परलोक नहीं है'—ऐसे विचारको मिथ्या-दृष्टि और नास्तिकता कहते हैं। भ्रान्ति, मिथ्यामति और भ्रम—ये तीन भ्रमात्मक ज्ञानके वाचक हैं। अङ्गीकार, अभ्युपगम, प्रतिश्रव और समाधि—ये स्वीकार अर्थका बोध करानेवाले हैं। मोक्षविषयक बुद्धिको ज्ञान और शिल्प एवं शास्त्रके बोधको विज्ञान कहते हैं। मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, नि:श्रेयस, अमृत, मोक्ष और अपवर्ग—ये मोक्षके वाचक शब्द हैं। अज्ञान, अविद्या और अहम्मति—ये तीन अज्ञानके पर्याय हैं। इनमें पहला नपुंसक और शेष दो शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। एक-दूसरेकी रगड़से प्रकट हुई मनोहारिणी गन्धके अर्थमें 'परिमल' शब्दका प्रयोग होता है। वही गन्ध जब अत्यन्त मनोहर हो तो उसे 'आमोद' कहते हैं। घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेवाली उत्तम गन्धका नाम 'सुरभि' है। शुभ्र, शुक्ल, शुचि, श्वेत, विशद, श्येत, पाण्डर, अवदात, सित, गौर, वलक्ष, धवल और अर्जुन—ये श्वेत वर्णके वाचक हैं। कुछ पीलापन लिये हुए सफेदीको हरिण, पाण्डुर और पाण्डु कहते हैं। यह रंग भी बहुत हलका हो तो उसे धूसर कहते हैं। नील, असित, श्याम, काल, श्यामल और मेचक—ये कृष्णवर्ण (काले रंग) के बोधक हैं। पीत, गौर तथा हरिद्राभ—ये पीले रंगके और पालाश, हरित तथा हरित्—ये हरे रंगके वाचक हैं। रोहित, लोहित और रक्त—ये लाल रंगका बोध करानेवाले हैं। रक्त कमलके समान जिसकी

शोभा हो, उसे 'शोण' कहते हैं। जिसकी लालिमा जान न पड़ती हो, उस हलकी लालीका नाम 'अरुण' है। सफेदी लिये हुए लाली अर्थात् गुलाबी रंगको 'पाटल' कहते हैं। जिसमें काले और पीले—दोनों रंग मिले हों वह 'श्याव' और 'कपिश' कहलाता है। जहाँ कालेके साथ लाल रंगका मेल हो, उसे धूम्र तथा धूमल कहते हैं। कडार, कपिल, पिङ्ग, पिशङ्ग, कद्रु तथा पिङ्गल—ये भूरे रंगके वाचक हैं। चित्र, किर्मीर, कल्माष, शबल, एत और कर्बुर—ये चितकबरे रंगका बोध करानेवाले हैं॥ ४१—५६ $\frac{1}{2}$ ॥

व्याहार, उक्ति तथा लपित—ये वचनके समानार्थक शब्द हैं। व्याकरणके नियमोंसे च्युत—अशुद्ध शब्दको 'अपभ्रंश' तथा 'अपशब्द' कहते हैं। सुबन्त पदोंका समुदाय (**'चैत्रेण शयितव्यम्'** इत्यादि), तिङन्त पदोंका समूह (**'पश्य पश्य गच्छति'** इत्यादि), सुबन्त और तिङन्त—दोनों पदोंका समुदाय (**'चैत्रः पचति'** इत्यादि) अथवा कारकसे अन्वित क्रियाका बोध करानेवाला पद-समूह (**'घटमानय'**) इत्यादि—ये सभी 'वाक्य' कहलाते हैं। पूर्वकालमें बीती हुई सच्ची घटनाओंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थको 'इतिहास' तथा 'पुरावृत्त' कहते हैं। (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—इन) पाँच लक्षणोंसे युक्त व्यासादि मुनियोंके ग्रन्थका नाम 'पुराण' है। सच्ची घटनाको लेकर लिखी हुई पुस्तक 'आख्यायिका' कहलाती है। कल्पित प्रबन्धको 'कथा' कहते हैं। संग्रहके वाचक दो शब्द हैं—समाहार तथा संग्रह। अबूझ पहेलीको 'प्रवह्लिका' और 'प्रहेलिका' कहते हैं। पूर्ण करनेके लिये दी हुई संक्षिप्त पदावलीका नाम 'समस्या' और 'समासार्था' है। वेदार्थके स्मरणपूर्वक लिखे हुए धर्मशास्त्रको 'स्मृति' और 'धर्मसंहिता' कहते हैं। आख्या, आह्वा और अभिधान—ये नामके वाचक हैं। 'वार्ता' और 'वृत्तान्त'—दोनों समानार्थक शब्द हैं। हूति, आकारणा और आह्वान—ये पुकारनेके अर्थमें आते हैं। वाणीके आरम्भको 'उपन्यास' और 'वाङ्मुख' कहते हैं। विवाद और व्यवहार मुकदमेबाजीका नाम है। प्रतिवाक्य और उत्तर—ये दोनों समानार्थक शब्द हैं। उपोद्घात और उदाहार—ये भूमिकाके नाम हैं। झूठा कलङ्क लगानेको मिथ्याभिशंसन और अभिशाप कहते हैं। यश और कीर्ति—ये सुयशके नाम हैं। प्रश्न, पृच्छा और अनुयोग—इनका पूछनेके अर्थमें प्रयोग होता है। एक ही शब्दके दो-तीन बार उच्चारण करनेको 'आम्रेडित' कहते हैं। परायी निन्दाके अर्थमें कुत्सा, निन्दा और गर्हण शब्दका प्रयोग होता है। साधारण बातचीतको आभाषण और आलाप कहते हैं। पागलोंकी तरह कहे हुए असम्बद्ध या निरर्थक वचनका नाम प्रलाप है। बारंबार किये जानेवाले वार्तालापको अनुलाप कहते हैं। शोकयुक्त उद्गारका नाम विलाप और परिदेवन है। परस्पर विरुद्ध बातचीतको विप्रलाप और विरोधोक्ति कहते हैं। दो व्यक्तियोंके पारस्परिक वार्तालापका नाम संलाप है। सुप्रलाप और सुवचन—ये उत्तम वाणीके वाचक हैं। सत्यको छिपानेके लिये जिस वाणीका प्रयोग किया जाता है, उसे अपलाप तथा निह्नव कहते हैं। अमङ्गलमयी वाणीका नाम उशती है। हृदयमें बैठनेवाली युक्तियुक्त बातको संगत और हृदयंगम कहते हैं। अत्यन्त मधुर वाणीमें जो सान्त्वना दी जाती है, उसे सान्त्व कहते हैं। जिन बातोंका परस्पर कोई सम्बन्ध न हो, वे अबद्ध और निरर्थक कहलाती हैं। निष्ठुर और परुष शब्द कठोर वाणीके तथा अश्लील और ग्राम्य शब्द गंदी बातोंके बोधक हैं। प्रिय लगनेवाली वाणीको सूनृत कहते हैं। सत्य, तथ्य, ऋत और सम्यक्—ये यथार्थ वचनका बोध करानेवाले हैं। नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव और विराव—ये अव्यक्त शब्दके वाचक हैं। कपड़ों

और पत्तोंसे जो आवाज होती है, उसे मर्मर कहते हैं। आभूषणोंकी ध्वनिका नाम शिञ्जित है। वीणाके स्वरको निक्कण और क्काण कहते हैं तथा पक्षियोंके कलरवका नाम वाशित है। एक समूहकी आवाजको कोलाहल और कलकल कहते हैं। गीत और गान—ये दोनों समान अर्थके बोधक हैं। प्रतिश्रुत् और प्रतिध्वान—ये प्रतिध्वनिके वाचक हैं। इनमें पहला स्त्रीलिङ्ग (और दूसरा नपुंसकलिङ्ग) है। वीणाके कण्ठसे निषाद आदि स्वर प्रकट होते हैं॥ ५७—६९॥

मधुर एवं अस्फुट ध्वनिको 'कल' कहते हैं और सूक्ष्म कलका नाम काकली है। गम्भीर स्वरको 'मन्द्र' तथा बहुत ऊँची आवाजको 'तार' कहते हैं। कल, मन्द्र और तार—इन तीनों शब्दोंका तीनों ही लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। गाने और बजानेकी मिली हुई लयको एकताल कहते हैं। वीणाके तीन नाम हैं—वीणा, वल्लकी और विपञ्ची। सात तारोंसे बजनेवाली वीणाका (जिसे हिंदीमें सतार या सितार कहते हैं) परिवादिनी नाम है। (बाजोंके चार भेद हैं—तत, आनद्ध, सुषिर और घन। इनमें) वीणा आदि बाजेको तत, ढोल और मृदङ्ग आदिको आनद्ध, बाँसुरी आदिको सुषिर और काँसकी झाँझ आदिको घन कहते हैं। इन चारों प्रकारके बाजोंका नाम वाद्य, वादित्र और आतोद्य है। ढोलके दो नाम हैं—मृदङ्ग और मुरज। उसके तीन भेद हैं—अङ्क्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्व। सुयशका ढिंढोरा पीटनेके लिये जो डंका होता है, उसे यश:पटह और ढक्का कहते हैं। भेरीके अर्थमें आनक और दुन्दुभि शब्दोंका प्रयोग होता है। आनक और पटह—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। झर्झरी (झाँझ) और डिण्डिम (ढिंढोरा) आदि बाजोंके भेद हैं। मर्दल और पणव—ये दोनों समानार्थक हैं (इन्हें भी एक प्रकारका बाजा ही समझना चाहिये)। जिससे गाने-बजानेकी क्रिया और कालका विवेक हो, उस गतिका नाम 'ताल' है। गीत और वाद्य आदिका समान अवस्थामें होना 'लय' कहलाता है। ताण्डव, नाट्य, लास्य और नर्तन—ये सब 'नृत्य'के वाचक हैं। नृत्य, गान और वाद्य—इन तीनोंको 'तौर्यत्रिक' एवं 'नाट्य' कहते हैं। नाटकमें राजाको भट्टारक और देव कहा जाता है तथा उनके साथ जिसका अभिषेक हुआ हो, उस महारानीको देवी कहते हैं। शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र—ये आठ रस हैं। इनमें शृङ्गार-रसके तीन नाम हैं—शृङ्गार, शुचि और उज्ज्वल। वीर-रसके दो नाम हैं—उत्साहवर्धन और वीर। करुणका बोध करानेवाले सात शब्द हैं—कारुण्य, करुणा, घृणा, कृपा, दया, अनुकम्पा तथा अनुक्रोश। हस, हास और हास्य—ये हास्यरसके तथा बीभत्स और विकृत शब्द बीभत्स-रसके वाचक हैं। ये दोनों शब्द तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। अद्भुतका बोध करानेवाले चार शब्द हैं—विस्मय, अद्भुत, आश्चर्य और चित्र। भैरव, दारुण, भीष्म, घोर, भीम, भयानक, भयंकर और प्रतिभय—ये भयानक अर्थका बोध करानेवाले हैं। रौद्रका पर्याय है—उग्र। ये अद्भुत आदि चौदह शब्द तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते है। दर, त्रास, भीति, भी, साध्वस और भय—ये भयके वाचक हैं। रति आदि मानसिक विकारोंको भाव कहते हैं। भावको व्यक्त करनेवाले रोमाञ्च आदि कार्योंका नाम अनुभाव है। गर्व, अभिमान और अहंकार—ये घमंडके नाम हैं। 'मेरे समान दूसरा कोई नहीं है' ऐसी भावनाको मान और चित्तसमुन्नति कहते हैं। अनादर, परिभव, परिभाव और तिरस्क्रिया—ये अपमानके वाचक हैं। व्रीडा, लज्जा, त्रपा और ह्री—ये लाजका बोध करानेवाले हैं। दूसरेके धनको लेनेकी इच्छाका नाम अभिध्यान

है। कौतूहल, कौतुक, कुतुक और कुतूहल—ये चार कौतुकके पर्याय हैं। विलास, विव्वोक, विभ्रम, ललित, हेला और लीला—ये शृङ्गार और भावसे प्रकट होनेवाली स्त्रियोंकी चेष्टाएँ 'हाव' कहलाती हैं। द्रव, केलि, परिहास, क्रीडा, लीला तथा कूर्दन—ये खेल-कूद और हँसी-परिहासके वाचक हैं। दूसरोंपर आक्षेप करते हुए जो उनकी हँसी उड़ायी जाती है, उसका नाम 'आच्छुरितक' है। मन्द मुस्कानको 'स्मित' कहते हैं॥ ७०—८५॥

नीचेके लोकका नाम अधोभुवन और पाताल है। छिद्र, श्वभ्र, वपा और सुषि—ये छिद्रके वाचक हैं। पृथ्वीके भीतर जो छेद (खंदक आदि) होता है, उसे गर्त और अवट कहते हैं। तमिस्र, तिमिर और तम—ये अन्धकारके वाचक हैं। सर्प, पृदाकु, भुजग, दन्दशूक और बिलेशय—ये साँपोंके नाम हैं। विष, क्ष्वेड और गरल—ये जहरका बोध करानेवाले हैं। निरय् और दुर्गति—ये नरकके नाम हैं। इनमें दुर्गति शब्द स्त्रीलिङ्ग है। पयस्, कीलाल, अमृत, उदक, भुवन और वन—ये जलके पर्याय हैं। भङ्ग, तरंग, ऊर्मि, कल्लोल और उल्लोल—ये लहरके नाम हैं। पृषत्, बिन्दु और पृषत—ये जलकी बूँदोंके नाम हैं। कूल, रोध और तीर—ये तटके वाचक हैं। जलसे तुरंतके बाहर हुए किनारेको 'पुलिन' कहते हैं। जम्बाल, पङ्क और कर्दम—ये कीचड़के नाम हैं। तालाब या नदी आदिके भर जानेपर जो अधिक जल बहने लगता है, उसे 'जलोच्छ्वास' और 'परीवाह' कहते हैं। सूखी हुई नदी आदिके भीतर जो गहरे गड्ढेमें बचा हुआ जल रहता है, उसका नाम 'कूपक' और 'विदारक' है। नदी पार करनेके लिये जो उतराई या खेवा दिया जाता है, उसे आतर एवं तरपण्य कहते हैं। काठकी बनी हुई बाल्टी या जल रखनेके पात्रका नाम द्रोणी है (इससे नावका पानी बाहर निकालते हैं)। मैले जलको 'कलुष' और 'आविल', साफ पानीको 'अच्छ' और 'प्रसन्न' तथा गहरे जलको 'गम्भीर' और 'अगाध' कहते हैं। दाश और कैवर्त—ये मल्लाहके नाम हैं। शम्बूक और जलशुक्ति—ये सीपके वाचक हैं। सौगन्धिक और कह्लार—ये श्वेत कमलके वाचक हैं। नील कमलको इन्दीवर कहते हैं। उत्पल और कुवलय—ये कमल और कुमुद आदिके साधारण नाम हैं। श्वेत उत्पलको कुमुद और कैरव कहते हैं। कुमुदकी जड़का नाम शालूक (सेरुकी) है। पद्म, तामरस और कञ्ज—ये कमलके पर्याय हैं। नील उत्पलका नाम कुवलय और रक्त उत्पलका नाम कोकनद बताया गया है। पद्मकंद अर्थात् कमलकी जड़का नाम करहाट और शिफाकंद है। कमलके केसरको किञ्जल्क और केसर कहते हैं। ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। स्त्रीलिङ्ग खनिशब्द और आकर—ये खानके वाचक हैं। बड़े-बड़े पर्वतोंके आसपास जो छोटे-छोटे पर्वत होते हैं, उन्हें पाद और प्रत्यन्तपर्वत कहते हैं। पर्वतके निकटकी नीची भूमि (तराई)-को उपत्यका तथा पहाड़के ऊपरकी जमीनको अधित्यका कहते हैं। इस प्रकार मैंने स्वर्ग और पाताल आदि वर्गोंका वर्णन किया। अब अनेक अर्थवाले शब्दोंको श्रवण कीजिये॥ ८६—९५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें कोशविषयक 'स्वर्ग-पाताल आदि वर्गोंका वर्णन' नामक तीन सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६०॥

तीन सौ एकसठवाँ अध्याय

अव्यय-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! 'आङ्' अव्यय ईषत् (स्वल्प), अभिव्याप्ति तथा मर्यादा (सीमा) अर्थमें प्रयुक्त होता है। साथ ही धातुसे उसका संयोग होनेपर जो विभिन्न अर्थ प्रकाशित होते हैं, उन सभी अर्थोंमें उसका प्रयोग समझना चाहिये। 'आ' प्रगृह्यसंज्ञक अव्यय है। इसका वाक्य और स्मरण अर्थमें प्रयोग होता है। 'आ:' अव्यय कोप और पीड़ाका भाव द्योतित करनेके लिये प्रयुक्त होता है। 'कु' पाप, कुत्सा (घृणा) और ईषत् अर्थमें तथा 'धिक्' फटकार और निन्दाके अर्थमें आता है। 'च' अव्ययका प्रयोग समुच्चय[1], समाहार[2] अर्थमें होता है। अन्वाचय[3], इतरेतरयोग[4] और 'स्वस्ति' आशीर्वाद, क्षेम और पुण्य आदिके अर्थमें तथा 'अति' अधिकता एवं उल्लङ्घनके अर्थमें आता है। 'स्वित्' प्रश्न और वितर्कका भाव व्यक्त करनेमें तथा 'तु' भेद और निश्चयके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'सकृत्'का एक ही साथ और एक बारके अर्थमें तथा 'आरात्'का दूर और समीपके अर्थमें प्रयोग होता है। 'पश्चात्' अव्यय पश्चिम दिशा और पीछेके अर्थमें तथा 'उत' शब्द 'अपि'के अर्थ (समुच्चय और प्रश्न)-में एवं विकल्प अर्थमें आता है। 'शश्वत्' पुनः और सदाके अर्थमें तथा 'साक्षात्' प्रत्यक्ष एवं तुल्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'बत' अव्ययका प्रयोग खेद, दया, संतोष, विस्मय और सम्बोधनका भाव व्यक्त करनेमें होता है। 'हन्त' पद हर्ष, अनुकम्पा, वाक्यके आरम्भ और विषादके अर्थमें आता है। 'प्रति' का प्रतिनिधि, वीप्सा एवं लक्षण आदिके अर्थमें प्रयोग किया जाता है। 'इति' शब्द हेतु, प्रकरण, प्रकाश आदि और समाप्तिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'पुरस्तात्' पद पूर्व दिशा, प्रथम और पुरा (पूर्वकाल)-के अर्थमें आता है। 'अग्रत:' (आगे)-के अर्थमें भी इसका प्रयोग होता है। 'यावत्' और 'तावत्' पद समग्र, अवधि (सीमा), माप और अवधारणके अर्थमें आते हैं। 'अथो' एवं 'अथ' शब्दका प्रयोग मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और समग्रताके अर्थमें होता है। 'वृथा' शब्द निरर्थक और अविधि अर्थका द्योतक है। 'नाना' शब्द अनेक और उभय अर्थमें आता है। 'नु' प्रश्न और विकल्पमें तथा 'अनु' पश्चात् एवं सादृश्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ननु' शब्द प्रश्न, निश्चय, अनुज्ञा, अनुनय और सम्बोधनमें तथा 'अपि' शब्द निन्दा, समुच्चय, प्रश्न, शङ्का तथा सम्भावनामें प्रयुक्त होता है। 'वा' शब्द उपमा और विकल्पमें तथा 'सामि' पद आधे एवं निन्दाके अर्थमें आता है। 'अमा' शब्द साथ एवं समीपका तथा 'कम्' जल और मस्तकका बोध करानेवाला है। 'एवम्' पद इव और इत्थंके अर्थमें तथा 'नूनम्' तर्क तथा वस्तुके निश्चय करनेमें प्रयुक्त होता है। 'जोषम्'का अर्थ है मौन और सुख। 'किम्' अव्यय प्रश्न और निन्दाके अर्थमें आता है। 'नाम' पद प्राकाश्य

१. आपसमें अनपेक्षित अनेक शब्दोंका एक क्रियामें अन्वय होना 'समुच्चय' कहलाता है। जैसे 'ईश्वरं' 'गुरुं च भजस्व।' (ईश्वर और गुरुको भजो) यहाँ 'ईश्वरम्' और 'गुरुम्'—इन दो पदोंका एक ही भजन-क्रियामें अन्वय है। २. समूहको 'समाहार' कहते हैं। जैसे 'संज्ञापरिभाषम्' (संज्ञा और परिभाषाओंका समूह)। ३. एक प्रधान कार्यके साथ-साथ दूसरे अप्रधान कार्यका भी साधन करना 'अन्वाचय' है। जैसे किसीसे कहा जाय—'भिक्षामट गां चानय' (भिक्षा माँगने जाओ, गाय भी लेते आना)। यहाँ मुख्य कार्य है—भिक्षा माँगना; उसके साथ गाय लानेका कार्य गौण है। ४. परस्पर अपेक्षा रखनेवाले अनेक पदोंका एक क्रियामें अन्वय 'इतरेतर-योग' कहलाता है। जैसे—'धवखदिरौ छिन्धि' (धव और खदिरको काटो)। यहाँ धव और खदिर—दोनोंका साहचर्य अपेक्षित है।

(प्रकाशित होने), सम्भावना, क्रोध, स्वीकार तथा निन्दा अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'अलम्' शब्द भूषण, पर्याप्ति, सामर्थ्य तथा निवारणका वाचक है। 'हुम्' वितर्क और प्रश्न अर्थमें तथा 'समया' निकट और मध्यके अर्थमें आता है। 'पुनर्' अव्यय प्रथमको छोड़कर द्वितीय, तृतीय आदि जितनी बार कोई कार्य हो, उन सबके लिये प्रयुक्त होता है। साथ ही भेद-अर्थमें भी इसका प्रयोग देखा जाता है। 'निर्' निश्चय और निषेधके अर्थमें आता है। 'पुरा' शब्द बहुत पहलेकी बीती हुई तथा निकट भविष्यमें आनेवाली बातको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त होता है। 'उररी', 'ऊरी', 'ऊररी'—ये तीन अव्यय विस्तार और अङ्गीकारके अर्थमें आते हैं। 'स्वर्' अव्यय स्वर्ग और परलोकका वाचक है। 'किल'का प्रयोग वार्ता और सम्भावनाके अर्थमें आता है। मना करने, वाक्यको सजाने तथा जिज्ञासाके अवसरपर 'खलु'का प्रयोग होता है। 'अभितस्' अव्यय समीप, दोनों ओर, शीघ्र, सम्पूर्ण तथा सम्मुख अर्थका बोध कराता है। 'प्रादुस्' शब्द नाम अव्ययके अर्थमें तथा व्यक्त या प्रकट होनेमें प्रयुक्त होता है। 'मिथस्' शब्द परस्पर तथा एकान्तका वाचक है। 'तिरस्' शब्द अन्तर्धान होने तथा तिरछे चलनेके अर्थमें आता है। 'हा' पद विषाद, शोक और पीड़ाको व्यक्त करनेवाला है। 'अहह' अथवा 'अहहा' अद्भुत एवं खेदके अर्थमें तथा हेतु और निश्चय अर्थमें प्रयुक्त होता है॥ १—१८॥

चिराय, चिररात्राय और चिरस्य इत्यादि* अव्यय चिरकालके बोधक हैं। मुहुः, पुनः-पुनः, शश्वत्, अभीक्ष्ण और असकृत्—ये सभी अव्यय समान अर्थके वाचक हैं—इन सबका बारंबारके अर्थमें प्रयोग होता है। स्राक्, झटिति, अञ्जसा, अह्नाय, सपदि, द्राक् और मङ्क्षु—ये शीघ्रताके अर्थमें आते हैं। बलवत् और सुष्ठु—ये दोनों शब्द अतिशय तथा शोभन अर्थके वाचक हैं। किमुत, किम् और किम्भूत—ये विकल्पका बोध करानेवाले हैं। तु, हि, च, स्म, ह, वै—ये पादपूर्तिके लिये प्रयुक्त होते हैं। अतिका प्रयोग पूजनके अर्थमें भी आता है। दिवा शब्द दिनका वाचक है तथा दोषा और नक्तम् शब्द रात्रिके अर्थमें आते हैं। साचि और तिरस् पद तिर्यक् (तिरछे) अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। प्याट्, पाट्, अङ्ग, हे, है, भोः—ये सभी शब्द सम्बोधनके अर्थमें आते हैं। समया, निकषा और हिरुक्—ये तीनों अव्यय समीप अर्थके वाचक हैं। सहसा अतर्कित अर्थमें आता है। (अर्थात् जिसके बारेमें कोई सम्भावना न हो, ऐसी वस्तु जब एकाएक सामने उपस्थित होती है तो उसे सहसा उपस्थित हुई कहते हैं। ऐसे ही स्थलोंमें सहसाका प्रयोग होता है।) पुरः, पुरतः और अग्रतः—ये सामनेके अर्थमें आते हैं। स्वाहा पद देवताओंको हविष्य अर्पण करनेके अर्थमें आता है। 'श्रौषट्' और 'वौषट्'का भी यही अर्थ है। 'वषट्' शब्द इन्द्रका और स्वधा शब्द पितरोंका भाग अर्पण करनेके लिये प्रयुक्त होता है। किंचित्, ईषत् और मनाक्—ये अल्प अर्थके वाचक हैं। प्रेत्य और अमुत्र—ये दोनों जन्मान्तरके अर्थमें आते हैं। यथा और तथा समताके एवं अहो और हो—ये आश्चर्यके बोधक हैं। तूष्णीम् और तूष्णीकम् पद मौन अर्थमें, सद्यः और सपदि शब्द तत्काल अर्थमें, दिष्ट्या और समुपजोषम्—ये आनन्द अर्थमें तथा

* आदि शब्दसे 'चिरम्', 'चिरेण', 'चिरात्' तथा 'चिरे'—इन पदोंका ग्रहण होता है।

अन्तरा शब्द भीतरके अर्थमें आता है। अन्तरेण पद भी मध्य अर्थका वाचक है। प्रसह्य शब्द हठका बोध करानेवाला है। साम्प्रतम् और स्थाने शब्द उचितके अर्थमें तथा 'अभीक्ष्णम्' और शश्वत् पद सर्वदा—निरन्तरके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। नहि, अ, नो और न—ये अभाव अर्थके बोधक हैं। मास्म, मा और अलम्—इनका निषेधके अर्थमें प्रयोग होता है। चेत् और यदि पद दूसरा पद उपस्थित करनेके लिये प्रयुक्त होते हैं तथा अद्धा और अञ्जसा—ये दोनों पद वास्तवके अर्थमें आते हैं। प्रादुस् और आविर्—इनका अर्थ है प्रकट होना। ओम्, एवम् और परमम्—ये शब्द स्वीकृति या अनुमति देनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। समन्ततः, परितः, सर्वतः और विष्वक्—इनका अर्थ है चारों ओर। 'कामम्' शब्द अकाम अनुमतिके अर्थमें आता है। 'अस्तु' पद असूया (दोषदृष्टि) तथा स्वीकृतिका भाव सूचित करनेवाला है। किसी बातके विरोधमें कुछ कहना हो तो वहाँ 'ननु'का प्रयोग होता है। 'कच्चित्' शब्द किसीकी अभीष्ट वस्तुकी जिज्ञासाके लिये प्रश्न करनेके अवसरपर प्रयुक्त होता है। निःषमम् और दुःषमम्—ये दोनों पद निन्द्य अर्थका बोध कराते हैं। यथास्वम् और यथायथम् पद यथायोग्य अर्थके वाचक हैं। मृषा एवं मिथ्या शब्द असत्यके और यथातथम् पद सत्यके अर्थमें आता है। एवम्, तु, पुनः, वै और वा—ये निश्चय अर्थके वाचक हैं। 'प्राक्' शब्द बीती बातका बोध करानेवाला है। नूनम् और अवश्यम्—ये दो अव्यय निश्चयके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। 'संवत्' शब्द वर्षका, 'अर्वाक्' शब्द पश्चात् कालका, आम् और एवम् शब्द हामी भरनेका तथा स्वयम् पद अपनेसे—इस अर्थका बोध करानेवाला है। 'नीचैस्' अल्प अर्थमें, 'उच्चैस्' महान् अर्थमें, 'प्रायस्' बाहुल्य अर्थमें तथा 'शनैस्' मन्द अर्थमें आता है। 'सना' शब्द नित्यका, 'बहिस्' शब्द बाह्यका, 'स्म' शब्द भूतकालका, 'अस्तम्' शब्द अदृश्य होनेका, 'अस्ति' शब्द सत्ताका, 'ऊ' क्रोधभरी उक्तिका तथा 'अपि' शब्द प्रश्न तथा अनुनयका बोधक है। 'उम्' तर्कका, 'उषा' रात्रिके अन्तका, 'नमस्' प्रणामका, 'अङ्ग' पुन-अर्थका, 'दुष्ठु' निन्दाका तथा 'सुष्ठु' शब्द प्रशंसाका वाचक है। 'सायम्' शब्द संध्याकालका, 'प्रगे' और 'प्रातर्' शब्द प्रभातकालका, 'निकषा' पद समीपका, 'ऐषमः' शब्द वर्तमान वर्षका, 'परुत्' शब्द गतवर्षका और 'परारि' शब्द उसके भी पहलेके गतवर्षका बोध करानेवाला है। 'आजके दिन' इस अर्थमें 'अद्य'का प्रयोग देखा जाता है। पूर्व, उत्तर, अपर, अधर, अन्य, अन्यतर और इतर शब्दसे 'पूर्वेऽह्नि' (पहले दिन) आदिके[१] अर्थमें 'पूर्वेद्युः' आदि[२] अव्ययपद निष्पन्न होते हैं। 'उभयद्युः' और 'उभयेद्युः'—ये 'दोनों दिन'के अर्थमें आते हैं। 'परस्मिन्नहनि' (दूसरे दिन)-के अर्थमें 'परेद्यवि'का प्रयोग होता है। 'ह्यस्' बीते हुए दिनके अर्थमें, 'श्वस्' आगामी दिनके अर्थमें तथा 'परश्वस्' शब्द उसके बाद आनेवाले दिनके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'तदा' 'तदानीम्' शब्द 'तस्मिन् काले' (उस समय)-के अर्थमें आते हैं। 'युगपत्' और 'एकदा'का अर्थ है—एक ही समयमें।

१. यहाँ 'आदि' शब्दसे उत्तर आदि शब्दोंका ग्रहण होता है—जैसे उत्तरस्मिन्नह्नि, अपरस्मिन्नह्नि, अन्यस्मिन्नहनि, अन्यतरस्मिन्नहनि तथा इतरस्मिन्नहनि।

२. 'आदि' शब्दसे 'उत्तरेद्युः', 'अपरेद्युः', 'अवरेद्युः', 'अन्येद्युः', 'अन्यतरेद्युः' तथा 'इतरेद्युः'—इन अव्यय-पदोंका ग्रहण करना चाहिये।

'सर्वदा' और 'सदा'—ये हमेशाके अर्थमें आते हैं। एतर्हि, सम्प्रति, इदानीम्, अधुना तथा साम्प्रतम्—इन पदोंका प्रयोग 'इस समय'के अर्थमें होता है॥ १९—३८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें कोशविषयक 'अव्ययवर्गका वर्णन' नामक तीन सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६१॥

तीन सौ बासठवाँ अध्याय

नानार्थ-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—'नाक' शब्द आकाश और स्वर्गके अर्थमें तथा 'लोक' शब्द संसार, जन-समुदायके अर्थमें आता है। 'श्लोक' शब्द अनुष्टुप् छन्द और सुयश अर्थमें तथा 'सायक' शब्द बाण और तलवारके अर्थमें प्रयुक्त होता है। आनक, पटह और भेरी—ये एक दूसरेके पर्याय हैं। 'कलङ्क' शब्द चिह्न तथा अपवादका वाचक है। 'क' शब्द यदि पुँल्लिङ्गमें हो तो वायु, ब्रह्मा और सूर्यका तथा नपुंसकमें हो तो मस्तक और जलका बोधक होता है। 'पुलाक' शब्द कदन्न, संक्षेप तथा भातके पिण्ड अर्थमें आता है। 'कौशिक' शब्द इन्द्र, गुग्गुल, उल्लू तथा साँप पकड़नेवाले पुरुषोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है। बंदरों और कुत्तोंको 'शालावृक' कहते हैं। मापके साधनका नाम 'मान' है। 'सर्ग' शब्द स्वभाव, त्याग, निश्चय, अध्ययन और सृष्टिके अर्थमें उपलब्ध होता है। 'योग' शब्द कवचधारण, साम आदि उपायोंके प्रयोग, ध्यान, संगति (संयोग) और युक्ति अर्थका बोधक होता है। 'भोग' शब्द सुख और स्त्री (वेश्या या दासी) आदिको उपभोगके बदले दिये जानेवाले धनका वाचक है। 'अब्ज' शब्द शङ्ख और चन्द्रमाके अर्थमें भी आता है। 'करट' शब्द हाथीके कपोल और कौवेका वाचक है। 'शिपिविष्ट' शब्द बुरे चमड़ेवाले (कोढ़ी) मनुष्यका बोध करानेवाला है। 'रिष्ट' शब्द क्षेम, अशुभ तथा अभावके अर्थमें आता है। 'अरिष्ट' शब्द शुभ और अशुभ दोनों अर्थोंका वाचक है। 'व्युष्टि' शब्द प्रभातकाल और समृद्धिके अर्थमें तथा 'दृष्टि' शब्द ज्ञान, नेत्र और दर्शनके अर्थमें आता है। 'निष्ठा'का अर्थ है—निष्पत्ति (सिद्धि), नाश और अन्त तथा 'काष्ठा'का उत्कर्ष, स्थिति तथा दिशा अर्थमें प्रयोग होता है। 'इडा' और 'इला' शब्द गौ तथा पृथ्वीके वाचक हैं। 'प्रगाढ' शब्द अत्यन्त एवं कठिनाईका बोध करानेवाला है। 'वाढम्' पद अत्यन्त और प्रतिज्ञाके अर्थमें आता है। 'दृढ' शब्द समर्थ एवं स्थूलका वाचक है तथा इसका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। 'व्यूढ' का अर्थ है—विन्यस्त (सिलसिलेवार रखा हुआ या व्यूहके आकारमें खड़ा किया हुआ) तथा संहत (संगठित)। 'कृष्ण' शब्द व्यास, अर्जुन तथा भगवान् विष्णुके अर्थमें आता है। 'पण' शब्द जुआ आदिमें दाँवपर लगाये हुए द्रव्य, कीमत और धनके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। 'गुण' शब्द धनुषकी प्रत्यञ्चाका, द्रव्योंका आश्रय लेकर रहनेवाले रूप-रस आदि गुणोंका, सत्त्व, रज और तमका, शुक्ल, नील आदि वर्णोंका तथा संधि-विग्रह आदि छः प्रकारकी नीतियोंका बोध करानेवाला है। 'ग्रामणी' शब्द श्रेष्ठ (मुखिया) तथा गाँवके स्वामीका वाचक है। 'घृणा' शब्द जुगुप्सा और

दया—दोनों अर्थोंमें आता है। 'तृष्णा'का अर्थ है—इच्छा और प्यास। 'विपणि' शब्द बाजार या बनियेके दूकानके अर्थमें आता है। 'तीक्ष्ण' शब्द नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त होनेपर विष, युद्ध तथा लोहेका वाचक होता है और प्रखर या प्रचण्डके अर्थमें उसका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। 'प्रमाण' शब्द कारण, सीमा, शास्त्र, इयत्ता (निश्चित माप) तथा प्रामाणिक पुरुषके अर्थमें आता है। 'करुण' शब्द क्षेत्र और गात्रका तथा 'ईरिण' शब्द शून्य (निर्जन) एवं ऊसरभूमिका वाचक है॥ १—१२॥

'यन्ता' पद हाथीवान और सारथिका वाचक है। 'हेति' शब्दका प्रयोग आगकी ज्वालाके अर्थमें होता है। 'श्रुत' शब्द शास्त्र एवं अवधारण (निश्चय)-का तथा 'कृत' शब्द सत्ययुग और पर्याप्त अर्थका बोधक है। 'प्रतीत' शब्द विख्यात तथा दृष्टके अर्थमें और 'अभिजात' शब्द कुलीन एवं विद्वान्‌के अर्थमें आता है। 'विविक्त' शब्द पवित्र और एकान्तका तथा 'मूर्च्छित' शब्द मूढ़ (संज्ञाशून्य) और फैले हुए या उन्नतिको प्राप्त हुएका बोध करानेवाला है। 'अर्थ' शब्द अभिधेय (शब्दसे निकलनेवाले तात्पर्य), धन, वस्तु, प्रयोजन और निवृत्तिका वाचक है। 'तीर्थ' शब्द निदान (उपाय), आगम (शास्त्र), महर्षियोंद्वारा सेवित जल तथा गुरुके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'ककुद्' शब्द स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। यह प्रधानता, राजचिह्न तथा बैलके अङ्गविशेषका बोध करानेवाला है। 'संविद्' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसका ज्ञान, सम्भाषण, क्रियाके नियम, युद्ध और नाम अर्थमें प्रयोग होता है। 'उपनिषद्' शब्द धर्म और रहस्यके अर्थमें तथा 'शरद्' शब्द ऋतु और वर्षके अर्थमें आता है। 'पद' शब्द व्यवसाय (निश्चय), रक्षा, स्थान, चिह्न, चरण और वस्तुका वाचक है। 'स्वादु' शब्द प्रिय एवं मधुर अर्थका तथा 'मृदु' शब्द तीखेपनसे रहित एवं कोमल अर्थका बोध करानेवाला है। 'स्वादु' और 'मृदु'—दोनों शब्द तीनों ही लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। 'सत्' शब्द सत्य, साधु, विद्यमान, प्रशस्त तथा पूज्य अर्थमें उपलब्ध होता है। 'विधि' शब्द विधान और दैवका वाचक है। 'प्रणिधि' शब्द याचना और चर (दूत)-के अर्थमें आता है। 'वधू' शब्द जाया, पतोहू तथा स्त्रीका बोधक है। 'सुधा' शब्द अमृत, चूना तथा शहदके अर्थमें आता है। 'श्रद्धा' शब्द आदर, विश्वास एवं आकाङ्क्षाके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'समुन्नद्ध' शब्द अपनेको पण्डित माननेवाले और घमंडीके अर्थमें आता है। 'ब्रह्मबन्धु' शब्दका प्रयोग ब्राह्मणकी अवज्ञामें प्रयुक्त होता है। 'भानु' शब्द किरण और सूर्य—दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। 'ग्रावन्' शब्दका अभिप्राय पहाड़ और पत्थर—दोनोंसे है। 'पृथग्जन' शब्द मूर्ख और नीचके अर्थमें आता है। 'शिखरिन्' शब्दका अर्थ वृक्ष और पर्वत तथा 'तनु' शब्दका अर्थ शरीर और त्वचा (छाल) है। 'आत्मन्' शब्द यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म और शरीरके अर्थमें भी आता है। 'उत्थान' शब्द पुरुषार्थ और तन्त्रके तथा 'व्युत्थान' शब्द विरोधमें खड़े होनेके अर्थका बोधक है। 'निर्यातन' शब्द वैरका बदला लेने, दान देने तथा धरोहर लौटानेके अर्थमें भी आता है। 'व्यसन' शब्द विपत्ति, अध:पतन तथा काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका बोध करानेवाला है। शिकार, जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रियोंमें आसक्त होना, मदिरा पीना, नाचना, गाना, बाजा बजाना तथा व्यर्थ घूमना—यह कामसे उत्पन्न होनेवाले दस दोषोंका समुदाय है। चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता तथा दण्डकी कठोरता—यह

क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोषोंका समूह है। 'कौपीन' शब्द नहीं करनेयोग्य खोटे कर्म तथा गुप्तस्थानका वाचक है। 'मैथुन' शब्द संगति तथा रतिके अर्थमें आता है। 'प्रधान' कहते हैं— परमार्थबुद्धिको तथा 'प्रज्ञान' शब्द बुद्धि एवं चिह्न (पहचान)-का वाचक है। 'क्रन्दन' शब्द रोने और पुकारनेके अर्थमें आता है। 'वर्ष्मन्' शब्द देह और परिमाणका बोधक है। 'आराधन' शब्द साधन प्राप्ति तथा संतुष्ट करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'रत्न' शब्दका स्वजातिमें श्रेष्ठ पुरुषके लिये भी प्रयोग होता है और 'लक्ष्मन्' शब्द चिह्न एवं प्रधानका बोध करानेवाला है। 'कलाप' शब्द आभूषण, मोरपंख, तरकस और संगठितके अर्थमें भी उपलब्ध होता है। 'तल्प' शब्द शय्या, अट्टालिका तथा स्त्रीरूप अर्थका बोधक है। 'डिम्भ' शब्द शिशु और मूर्खके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'स्तम्भ' शब्द खंभे तथा जडवत् निश्चेष्ट होनेके अर्थमें आता है। 'सभा' शब्द समिति तथा सदस्योंका भी वाचक है॥ १३—२९॥

'रश्मि' शब्द किरण तथा रस्सीका वाचक है। 'धर्म' शब्दका प्रयोग पुण्य और यमराज आदिके लिये होता है। 'ललाम' शब्द पूँछ, पुण्ड्र (तिलक), घोड़ा, आभूषण, श्रेष्ठता तथा ध्वजा इत्यादि अर्थोंमें आता है। 'प्रत्यय' शब्द अधीन, शपथ, ज्ञान, विश्वास तथा हेतुके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'समय' शब्दका अर्थ है—शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त और संविद् (करार)। 'अत्यय' अतिक्रमण (उल्लङ्घन) और कठिनाई अर्थमें तथा 'सत्य' शब्द शपथ और सत्यभाषणके अर्थमें आता है। 'वीर्य' शब्द बल और प्रभावका तथा 'रूप्य' शब्द परमसुन्दर रूपका वाचक है। 'दुरोदर' शब्द पुँल्लिङ्ग होनेपर जुआ खेलनेवाले पुरुष और जुएमें लगाये जानेवाले दाँवका बोध करानेवाला होता है तथा नपुंसकलिङ्ग होनेपर जुएके अर्थमें आता है। 'कान्तार' शब्द बहुत बड़े जंगल और दुर्गम मार्गका वाचक है तथा पुँल्लिङ्ग और नपुंसक—दोनों लिङ्गोंमें उसका प्रयोग होता है। 'हरि' शब्द यम, वायु, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु और सिंह आदि अनेकों अर्थोंका वाचक है। 'दर' शब्द स्त्रीलिङ्गको छोड़कर अन्य दो लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है—भय और खंदक। 'जठर' शब्द उदर एवं कठिन अर्थका बोधक है। 'उदार' शब्द दाता और महान् पुरुषके अर्थमें आता है। 'इतर' शब्द अन्य और नीचका वाचक है। 'मौलि' शब्दके तीन अर्थ हैं—चूडा, किरीट और बँधे हुए केश। 'बलि' शब्द कर (टैक्स या लगान) तथा उपहार (भेंट आदि)-के अर्थमें प्रयोग आता है। 'बल' शब्द सेना और स्थिरता आदिका बोधक है। 'नीवी' शब्द स्त्रीके कटिवस्त्रके बन्धनरूप अर्थमें तथा परिपण (पूँजी, मूलधन अथवा बंधक रखने)-के अर्थमें आता है। 'वृष' शब्द शुक्रल (अधिक वीर्यवान्), चूहा, श्रेष्ठ पुरुष, पुण्य (धर्म) तथा बैलके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'आकर्ष' शब्द पासा तथा चौसरकी बिछाँतके अर्थमें आता है। 'अक्ष' शब्द नपुंसकलिङ्ग होनेपर इन्द्रियके अर्थमें आता है तथा पुँल्लिङ्ग होनेपर पासा, कर्ष (सोलह मासेका एक माप), गाड़ीके पहिये, व्यवहार (आय-व्ययकी चिन्ता) और बहेड़ेके वृक्षके अर्थमें उपलब्ध होता है। 'उष्णीष' शब्द किरीट आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिङ्ग 'कर्षू' शब्द कुल्या अर्थात् छोटी नदीका वाचक है। 'अध्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष (द्रष्टा) और अधिकारीके अर्थमें आता है। 'विभावसु' शब्द सूर्य और अग्निका वाचक है। 'रस' शब्द विष, वीर्य, गुण, राग, द्रव तथा शृङ्गार आदि रसोंका बोध करानेवाला

है। 'वर्चस्' शब्द तेज और पुरीष (मल)-का तथा 'आगस्' शब्द पाप और अपराधका वाचक है। 'छन्दस्' शब्द पद्य और इच्छाके तथा 'साधीयस्' शब्द साधु (उत्तम) और बाढ (निश्चय या हामी भरने)-के अर्थमें आता है। 'व्यूह' शब्द समूहका वाचक है। 'अहि' शब्द वृत्रासुरके अर्थमें भी आता है। तथा 'तमोपह' शब्द अग्नि, चन्द्रमा एवं सूर्यका बोध करानेवाला है॥ ३०—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशविषयक नानार्थ-वर्गका वर्णन' नामक तीन सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६२॥

तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय

भूमि, वनौषधि आदि वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं भूमि, पुर, पर्वत, वनौषधि तथा सिंह आदि वर्गोंका वर्णन करूँगा। भू, अनन्ता, क्षमा, धात्री, क्ष्मा, कु तथा धरित्री—ये भूमिके नाम हैं। मृत् और मृत्तिका—ये मिट्टीका बोध करानेवाले है। अच्छी मिट्टीको मृत्स्ना और मृत्सा कहते हैं। जगत्, त्रिविष्टप, लोक, भुवन और जगती—ये सब समानार्थ हैं। (अर्थात् ये सभी संसारके पर्यायवाची शब्द हैं।) अयन, वर्त्म (वर्त्मन्), मार्ग, अध्व (अध्वन्), पन्था (पथिन्) पदवी, सृति, सरणि, पद्धति, पद्या, वर्तनी और एकपदी—ये मार्गके वाचक हैं (इनमेंसे पद्या और एकपदी शब्द पगडंडीके अर्थमें आते हैं।) पूः (स्त्रीलिङ्ग 'पुर्' शब्द), पुरी, नगरी, पत्तन, पुटभेदन, स्थानीय और निगम—ये सात नगरके नाम हैं। मूल नगर (राजधानी)-से भिन्न जो पुर होता है, उसे शाखानगर कहते हैं। वेश्याओंके निवास स्थानका नाम वेश और वेश्याजनसमाश्रय है। आपण, शब्द निषद्या (बाजार, हाट, दूकान)-के अर्थमें आता है। विपणि और पण्यवीथिका—ये दो बाजारकी गलीके नाम हैं। रथ्या, प्रतोली और विशिखा—ये शब्द गली तथा नगरके मुख्यमार्गका बोध करानेवाले हैं। खाईंसे निकालकर जमा किये हुए मिट्टीके ढेरको चय और वप्र कहते हैं। वप्र शब्दका केवल स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग नहीं होता। प्राकार, वरण, शाल और प्राचीर—ये नगरके चारों ओर बने हुए घेरे (चहारदिवारी)-के नाम हैं। भित्ति और कुड्य—ये दीवारके वाचक हैं। इनमें 'भित्ति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। एडूक ऐसी दीवारको कहते हैं, जिसके भीतर हड्डी लगायी गयी हो। वास और कुटी पर्यायवाचक हैं। इनमें कुटी शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथा कुट शब्दके रूपमें इसका पुँल्लिङ्गमें भी प्रयोग है। इसी प्रकार शाला और सभा पर्यायवाचक हैं। चार शालाओंसे युक्त गृहको संजवन कहते हैं। मुनियोंकी कुटीका नाम पर्णशाला और उटज है। उटज शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें होता है। चैत्य और आयतन—ये दोनों शब्द समान अर्थ और समान लिङ्गवाले हैं। (ये यज्ञस्थान, वृक्ष तथा मन्दिरके अर्थमें आते हैं।) वाजिशाला और मन्दुरा—ये घोड़ोंके रहनेकी जगहके नाम हैं। साधारण धनियोंके महलके नाम हर्म्य आदि हैं तथा देवताओं और राजाओंके महलको प्रासाद (मन्दिर) कहते हैं। द्वार्, द्वार और प्रतीहार—ये दरवाजेके नाम हैं। आँगन आदिमें बैठनेके लिये बने हुए चबूतरेको वितर्दि एवं वेदिका कहते हैं। कबूतरों (तथा अन्य पक्षियों)-के रहनेके लिये बने हुए स्थानको कपोतपालिका और विटङ्क कहते हैं। 'विटङ्क'

शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है। कपाट और अवर—ये दोनों समान लिङ्ग और समान अर्थमें आते हैं। इनका अर्थ है—किंवाड़। नि:श्रेणि और अधिरोहणी—ये सीढ़ीके नाम हैं। सम्मार्जनी और शोधनी—ये दोनों शब्द झाड़ूके अर्थमें आते हैं। संकर तथा अवकर झाड़ूसे फेंकी जानेवाली धूलके नाम हैं। अद्रि, गोत्र, गिरि और ग्रावा—ये पर्वतके तथा गहन, कानन और वन—ये जंगलके बोधक हैं। कृत्रिम (लगाये हुए) वन अर्थात् वृक्ष-समूहको आराम तथा उपवन कहते हैं। यही कृत्रिम वन, जो केवल राजासहित अन्त:पुरकी रानियोंके उपभोगमें आता है, 'प्रमदवन' कहलाता है। वीथी, आलि, आवलि, पङ्क्ति, श्रेणी, लेखा और राजि—ये सभी शब्द पङ्क्ति (कतार)-के अर्थमें आते हैं। जिसमें फूल लगकर फल लगते हों, उस वृक्षका नाम 'वानस्पत्य' होता है तथा जिसमें बिना फूलके ही फल लगते हैं, उस गूलर (आदि) वृक्षको 'वनस्पति' कहते हैं॥ १—१३॥

फलोंके पकनेपर जिनके पेड़ सूख जाते हैं, उन धान-जौ आदि अनाजोंको 'ओषधि' कहा जाता है। पलाशी, द्रु, द्रुम और अगम—ये सभी शब्द वृक्षके अर्थमें आते हैं। स्थाणु, ध्रुव तथा शङ्कु—ये तीन ठूँठ वृक्षके नाम हैं। इनमें स्थाणु शब्द वैकल्पिक पुँल्लिङ्ग है। अर्थात् उसका प्रयोग पुँल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें होता है। प्रफुल्ल, उत्फुल्ल और संस्फुट—ये फूलसे भरे हुए वृक्षके लिये प्रयुक्त होते हैं। पलाश, छदन और पर्ण—ये पत्तेके नाम हैं। इध्म, एधस् और समिध्—ये समिधा (यज्ञकाष्ठ)-के वाचक हैं। इनमें समिध् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। बोधिद्रुम और चलदल—ये पीपलके नाम हैं। दधित्थ, ग्राही, मन्मथ, दधिफल, पुष्पफल और दन्तशठ—ये कपित्थ (कैथ) नामक वृक्षका बोध करानेवाले हैं। हेमदुग्ध शब्द उदुम्बर (गूलर)-के और द्विपत्रक शब्द केविदार (कचनार)-के अर्थमें आता है। सप्तपर्ण और विशालत्वक्—ये छितवनके नाम हैं। कृतमाल, सुवर्णक, आरेवत, व्याधिघात, सम्पाक और चतुरङ्गुल—ये सभी शब्द सोनालु अथवा धनबहेड़ाके वाचक हैं। दन्तशठ-शब्द जम्बीर (जमीरी नीबू)-के अर्थमें आता है। तिक्तशाक-शब्द वरुण (या वरण)-का वाचक है। पुंनाग, पुरुष, तुङ्ग, केसर तथा देववल्लभ—ये नागकेसरके नाम हैं। पारिभद्र, निम्बतरु, मन्दार और पारिजात—ये बकायनके नाम हैं। वञ्जुल और चित्रकृत—ये तिनिश-नामक वृक्षके वाचक हैं। पीतन और कपीतन—ये आम्रातक (अमड़ा)-के अर्थमें आते हैं। गुडपुष्प और मधुद्रुम—ये मधूक (महुआ)-के नाम हैं। पीलु अर्थात् देशी अखरोटको गुडफल और स्रंसी कहते हैं। नादेयी और अम्बुबेतस्—ये पानीमें पैदा हुए बेंतके नाम हैं। शिग्र, तीक्ष्णगन्धक, काक्षीर और मोचक—ये शोभाञ्जन अर्थात् सहिजनके नाम हैं। लाल फूलवाले सहिजनको मधुशिग्रु कहते हैं। अरिष्ट और फेनिल—ये दोनों समान लिङ्गवाले शब्द रीठेके अर्थमें आते हैं। गालव, शाबर, लोध्र, तिरीट, तिल्व और मार्जन—ये लोधके वाचक हैं। शेलु, श्लेष्मातक, शीत, उद्दाल और बहुवारक—ये लसोड़ेके नाम हैं। वैकङ्कत, श्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल और व्याघ्रपाल—ये वृक्षविशेषके वाचक हैं। (यह वृक्ष विभिन्न स्थानोंपर टैंटी, कठेर और कंटाई आदि नामोंसे प्रसिद्ध है।) तिन्दुक, स्फूर्जक और काल (या कालस्कन्ध)—ये तेंदू वृक्षके वाचक हैं। नादेयी और भूमिजम्बुक—ये नागरङ्ग अर्थात् नारंगीके नाम हैं। पीलुक शब्द काकतिन्दुक अर्थात् कुचिलाके अर्थमें भी आता है। पाटलि, मोक्ष और मुष्कक—ये मोरवा या

पाडलके नाम हैं। क्रमुक और पट्टिका—ये पठानी लोधके वाचक हैं। कुम्भी, कैडर्य और कट्फल—ये कायफलका बोध करानेवाले हैं। वीरवृक्ष, अरुष्कर, अग्निमुखी और भल्लातकी—ये शब्द भिलावा नामक वृक्षके वाचक हैं। सर्जक, असन, जीव और पीतसाल—ये विजयसारके नाम हैं। सर्ज और अश्वकर्ण—ये साल वृक्षके वाचक हैं। वीरद्रु (वीर-तरु), इन्द्रद्रु, ककुभ और अर्जुन—ये अर्जुन नामक वृक्षके पर्याय हैं। इङ्गुदी तपस्वियोंका वृक्ष है; इसीलिये इसे तापस-तरु भी कहते हैं। (कहीं-कहीं यह 'इंगुवा' तथा गोंदी वृक्षके नामसे भी प्रसिद्ध है।) मोचा और शाल्मलि—ये सेमलके नाम हैं। चिरबिल्व, नक्तमाल, करञ्ज और करञ्जक—ये 'कंजा' नामक वृक्षके अर्थमें आते हैं। ('करञ्जक' शब्द भृङ्गराज या भंगरइयाका भी वाचक है।) प्रकीर्य और पूतिकरज—ये कँटीले करञ्जके वाचक हैं। मर्कटी तथा अङ्गार-वल्लरी—ये करञ्जके ही भेद हैं। रोही, रोहितक, प्लीहशत्रु और दाडिमपुष्पक—ये रोहेड़ाके नाम हैं। गायत्री, बालतनय, खदिर और दन्तधावन—ये खैरा नामक वृक्षके वाचक हैं। अरिमेद और विट्खदिर—ये दुर्गन्धित खैराके तथा कदर—यह श्वेत खैराका नाम है। पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, चञ्चु और गन्धर्वहस्तक—ये एरण्ड (रेड़)-के अर्थमें आते हैं। पिण्डीतक और मरुवक—ये मदन (मैनफल) नामक वृक्षके बोधक हैं। पीतदारु, दारु, देवदारु और पूतिकाष्ठ—ये देवदारुके नाम हैं। श्यामा, महिलाह्वया, लता, गोवन्दिनी, गुन्दा, प्रियङ्गु, फलिनी और फली—ये प्रियंगु (कँगनी या टाँगुन)-के वाचक हैं। मण्डूकपर्ण पत्रोर्ण, नट, कट्वङ्ग, टुण्टुक, श्योनाक, शुकनास, ऋक्ष, दीर्घवृन्त और कुटन्नट—ये शोणक (सोनापाठा)-का बोध करानेवाले हैं। पीतद्रु और सरल—ये सरल वृक्षके नाम हैं। निचुल, अम्बुज और इज्जल (या हिज्जल)—ये स्थलवेतस् अथवा समुद्र-फलके वाचक हैं। काकोदुम्बरिका और फल्गु—ये कटुम्बरी या कठूमरेके बोधक हैं। अरिष्ट, पिचुमर्दक और सर्वतोभद्र—ये निम्ब-वृक्षके वाचक हैं। शिरीष और कपीतन—ये सिरस वृक्षके अर्थमें आते हैं। वकुल और वञ्जुल—ये मौलिश्रीके नाम हैं। (बञ्जुल शब्द अशोक आदिके अर्थमें आता है।) पिच्छिला, अगरु और शिंशपा—ये शीशमके अर्थमें आते हैं। जया, जयन्ती और तर्कारी—ये जैत वृक्षके नाम हैं। कणिका, गणिकारिका, श्रीपर्ण और अग्निमन्थ—ये अरणिके वाचक हैं। (किसीके मतमें जयासे लेकर अग्निमन्थतक सभी शब्द अरणिके ही पर्याय हैं।) वत्सक और गिरिमल्लिका—ये कुटज वृक्षके अर्थमें आते हैं। कालस्कन्ध, तमाल और तापिच्छ—ये तमालके नाम हैं। तण्डुलीय और अल्पमारिष—ये चौंराईके बोधक हैं। सिन्धुवार और निर्गुण्डी—ये सेंदुवारिके नाम हैं। वही सेंदुवारि यदि जंगलमें पैदा हुई हो तो उसे आस्फीता (आस्फोटा या आस्फोता) कहते हैं। [किसी-किसीके मतमें वनमल्लिका (वन-वेला)-का नाम आस्फोटा या आस्फीता है।] गणिका, यूथिका और अम्बष्ठा—ये जूहीके अर्थमें आते हैं। सप्तला और नवमालिका—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अतिमुक्त और पुण्ड्रक—ये माधवी लताके नाम हैं। कुमारी, तरणि और सहा—ये घीकुँआरिके वाचक हैं। लाल घीकुँआरिको कुरबक और पीली घीकुँआरिको कुरण्टक कहते हैं। नीलझिण्टी और बाणा—ये दोनों शब्द नीली कटसरैयाके वाचक हैं। इनका पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग—दोनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। झिण्टी और सैरीयक—ये सामान्य कटसरैयाके वाचक हैं। वही लाल हो तो कुरबक और पीली हो तो

सहचरी कहलाती है। यह शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग—दोनोंमें प्रयुक्त होता है। धूस्तूर (या धत्तूर), कितव और धूर्त—ये धतूरके नाम हैं। रुचक और मातुलुङ्ग—ये बीजपूर या बिजौरा नीबूके वाचक हैं। समीरण, मरुवक, प्रस्थपुष्प और फणिज्जक—ये मरुआ वृक्षके नाम हैं। कुठेरक और पर्णास—ये तुलसी वृक्षके पर्याय हैं। आस्फीत, वसुक और अर्क—ये आक (मदार)-के नाम हैं। शिवमल्ली और पाशुपती—ये अगस्त्य वृक्ष अथवा बृहत् मौलसिरीके वाचक हैं। वृन्दा (वन्दा), वृक्षादनी—जीवन्तिका और वृक्षरुहा—ये पेड़पर पैदा हुई लताके नाम हैं। गुडूची, तन्त्रिका, अमृता, सोमवल्ली और मधुपर्णी—ये गुरुचिके वाचक हैं। मूर्वा, मोरटी, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी तथा पीलुपर्णी—ये मूर्वा नामवाली लताके नाम हैं। पाठा, अम्बष्ठा, विद्धकर्णी, प्राचीना और वनतिक्तिका—ये पाठा नामसे प्रसिद्ध लताके वाचक हैं। कटु, कटम्भरा, चक्राङ्गी और शकुलादनी—ये कुटकीके नाम हैं। आत्मगुप्ता, प्रावृषायी, कपिकच्छु और मर्कटी—ये केवाँछुके वाचक हैं। अपामार्ग, शैखरिक, प्रत्यक्पर्णी तथा मयूरक—ये अपामार्ग (चिचिड़ा)-का बोध करानेवाले हैं। फञ्जिका (या हञ्जिका), ब्राह्मणी और भार्गी—ये ब्रह्मनेटिके वाचक हैं। द्रवन्ती, शम्बरी तथा वृषा—ये आखुपर्णी या मूसाकानीके बोधक हैं। मण्डूकपर्णी, भण्डीरी, समङ्गा और कालमेषिका—ये मजीठके नाम हैं। रोदनी, कच्छुरा, अनन्ता, समुद्रान्ता और दुरालभा—ये यवासा एवं कचूरके वाचक हैं। पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, कलशि, धावनि और गुहा—ये पिठवनके नाम हैं। निर्दिग्धिका, स्पृशी, व्याघ्री, क्षुद्रा और दु:स्पर्शा—ये भटकटैया (या भजकटया)-के अर्थमें आते हैं। अवल्गुज, सोमराजी, सुवल्लि, सोमवल्लिका, कालमेषी, कृष्णफला, वाकुची और पूतिफली—ये वकुचीके वाचक हैं। कणा, उष्णा और उपकुल्या—ये पिप्पलीके बोधक हैं। श्रेयसी और गजपिप्पली—ये गजपिप्पलीके वाचक हैं। चव्य और चविका—ये चव्य अथवा वचाके नाम हैं। काकचिञ्ची, गुञ्जा और कृष्णला—ये तीन गुञ्जा (घुँघुची)-के अर्थमें आते हैं। विश्वा, विषा और प्रतिविषा—ये 'अतीस'के बोधक हैं। वनशृङ्गाट और गोक्षुर—ये गोखुरूके वाचक हैं। नारायणी और शतमूली—ये शतावरीका बोध करानेवाले हैं। कालेयक, हरिद्रव, दार्वी, पचम्पचा और दारु—ये दारुहल्दीके नाम हैं। जिसकी जड़ सफेद हो, ऐसी वचा (बच)-का नाम हैमवती है। वचा, उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी और शतपर्विका—ये बचके अर्थमें आते हैं। आस्फोता और गिरिकर्णी—ये दो शब्द विष्णुक्रान्ता या अपराजिताके नाम हैं। सिंहास्य, वासक और वृष—ये अड़ूसेके अर्थमें आते हैं। मिशी, मधुरिका और छत्रा—ये वनसौंफके वाचक हैं। कोकिलाक्ष, इक्षुर और क्षुर—ये तालमखानाके नाम हैं। विडंग और कृमिघ्न—ये वायविडंगके वाचक हैं। वज्रद्रु, स्नुक्, स्नुही और सुधा—ये सेहुँड़के अर्थमें आते हैं। मृद्वीका, गोस्तनी और द्राक्षा—ये दाख या मुनक्काके नाम हैं। वला तथा वाट्यालक—ये वरियारके वाचक हैं। काला और मसूरविदला—ये श्यामलता या श्यामत्रिधाराके अर्थमें आते हैं। त्रिपुटा, त्रिवृत्ता और त्रिवृत्त—ये शुक्ल त्रिधाराके वाचक हैं। मधुक, क्लीतक, यष्टिमधुका और मधुयष्टिका—ये जेठी मधुके नाम हैं। विदारी, क्षीरशुक्ला, इक्षुगन्धा, क्रोष्ट्री और यासिता—ये भूमिकूष्माण्डके बोधक हैं। गोपी, श्यामा, शारिवा, अनन्ता तथा उत्पल शारिवा—ये श्यामालता अथवा गौरीसरके वाचक हैं। मोचा, रम्भा और कदली—ये केलेके नाम हैं। भण्टाकी और दुष्प्रधर्षिणी—ये भाँटेके अर्थमें

आते हैं। स्थिरा, ध्रुवा और सालपर्णी—ये सरिवनके नाम हैं। शृङ्गी, ऋषभ और वृष—ये काकड़ासिंगीके वाचक हैं। (यह अष्टवर्गकी प्रसिद्ध ओषधि है) गाङ्गेरुकी और नागबला—ये बलाके भेद हैं। इन्हें हिंदीमें गुलसकरी और गंगेरन भी कहते हैं। मुषली और तालमूलिका—ये मूसलीके नाम हैं। ज्योत्स्नी, पटोलिका और जाली—ये तरोईके अर्थमें आते हैं। अजशृङ्गी और विषाणी—ये 'मेडासिंगी'के वाचक हैं। लाङ्गलिकी और अग्निशिखा—ये करियारीका बोध करानेवाले हैं। ताम्बूली तथा नागवल्ली—ये ताम्बूल या पानके नाम हैं। हरेणु, रेणिका और कौन्ती—ये रेणुका नामक गन्धद्रव्यके वाचक हैं। ह्रीबेरी और दिव्यनागर—ये नेत्रबाला और सुगन्धबालाके नाम हैं। कालानुसार्य, वृद्ध, अश्मपुष्प, शीतशिव और शैलेय—ये शिलाजीतके वाचक हैं। तालपर्णी, दैत्या, गन्ध, कुटी और मुरा—ये मुरा नामक सुगन्धित द्रव्यका बोध करानेवाले हैं। ग्रन्थिपर्ण, शुक और बर्हि (या बर्ह)—ये गठिवनके अर्थमें आते हैं। बला, त्रिपुटा और त्रुटि—ये छोटी इलायचीके वाचक हैं। शिवा और तामलकी—ये भुईं आमलाके अर्थमें आते हैं। हनु और हट्टविलासिनी—ये नखी नामक गन्धद्रव्यके बोधक हैं। कुटन्नट, दाशपुर, वानेय और परिपेलव—ये मोथाके नाम हैं। तपस्विनी तथा जटामांसी—ये जटामाँसीके अर्थमें आते हैं। पृक्का (या स्पृक्का), देवी, लता और लघु या (लशू)—ये 'असवरग'के वाचक हैं। कर्चूरक और द्राविड़क—ये कर्चूरके नाम हैं। गन्धमूली और शठी शब्द भी कचूरके ही अर्थमें आते हैं। ऋक्षगन्धा, छगलान्त्रा, आवेगी तथा वृद्धदारक—ये विधाराके नाम हैं। तुण्डिकेरी, रक्तफला, बिम्बिका और पीलुपर्णी—ये कन्दूरीके वाचक हैं। चाङ्गेरी, चुक्रिका और अम्बष्ठा—ये अम्ललोड़िका (अम्लिलोना)-के बोधक हैं। स्वर्णक्षीरी और हिमावती—ये मकोयके नाम हैं। सहस्रवेधी, चुक्र, अम्लवेतस और शतवेधी—ये अम्लबेंतके अर्थमें आते हैं। जीवन्ती, जीवनी और जीवा—ये जीवन्तीके नाम हैं। भूमिनिम्ब और किरातक—ये चिरात्तिक्त या चिरायताके वाचक हैं। कूर्चशीर्ष और मधुरक—ये अष्टवर्गान्तक 'जीवक' नामक ओषधिके बोधक हैं। चन्द्र और कपिवृक—ये समानार्थक शब्द हैं। (चन्द्रशब्द कर्पूर और काम्पिल्य आदि अर्थोंमें आता है।) दद्रुघ्न और एडगज—ये चकवड़ नामक वृक्षके वाचक हैं। वर्षाभू और शोथहारिणी—ये गदहपुर्नाके अर्थमें आते हैं। कुनन्दती, निकुम्भस्त्रा, यमानी और वार्षिका—ये लताविशेषके वाचक हैं। लशुन, गृञ्जन, अरिष्ट, महाकंद और रसोन—ये लहसुनके नाम हैं। वाराही, वरदा (या वदरा) तथा गृष्टि—ये वराहीकंदके वाचक हैं। काकमाची और वायसी—ये समानार्थ शब्द हैं। शतपुष्पा, सितच्छत्रा, अतिच्छत्रा, मधुरामिसि, अवाकपुष्पी और कारवी—ये सौंफके नाम हैं। सरणा, प्रसारिणी, कटम्भरा और भद्रवला—ये कुब्जप्रसारिणी नामक ओषधिके वाचक हैं। कर्वूर और शटी—ये भी कचूरके अर्थमें आते हैं। पटोल, कुलक, तिक्तक और पटु—ये परवलके नाम हैं। कारवेल्ल और कटिल्लक—ये करैलाके अर्थमें आते हैं। कूष्माण्डक और कर्कारु—ये कोंहड़ाके वाचक हैं। उर्वारु और कर्कटी—ये दोनों स्त्रीलिङ्ग शब्द ककड़ीके वाचक हैं। इक्ष्वाकु तथा कटुतुम्बी—ये कड़वी लौकीके बोधक हैं। विशाला और इन्द्रवारुणी—ये इन्द्रायन (तूँबी) नामक लताके नाम हैं। अर्शोघ्न, सूरण और कंद—ये सूरन या ओलके वाचक हैं। मुस्तक और कुरुविन्द—ये दोनों शब्द भी मोथाके अर्थमें आते हैं। त्वक्सार,

कर्मार, वेणु, मस्कर और तेजन—ये वंश (बाँस)-के वाचक हैं। छत्रा, अतिच्छत्र और पालघ्न—ये पानीमें पैदा होनेवाले तृणविशेषके बोधक हैं। मालातृणक और भूस्तृण—ये भी तृणविशेषके ही नाम हैं। ताड़के वृक्षका नाम ताल और तृणराज है। घोण्टा, क्रमुक तथा पूग—ये सुपारीके अर्थमें आते हैं॥ १४—७०½ ॥

शार्दूल और द्वीषी—ये व्याघ्र (बाघ)-के वाचक हैं। हर्यक्ष, केशरी (केसरी) तथा हरि—ये सिंहके नाम हैं। कोल, पोत्री और वराह—ये सूअरके तथा कोफ, ईहामृग और वृक भेड़ियेके अर्थमें आते हैं। लूता, ऊर्णनाभि, तन्तुवाय और मर्कट—ये मकड़ीके नाम हैं। वृश्चिक और शूककीट बिच्छूके वाचक हैं। ('शूककीट' शब्द ऊन आदि चाटनेवाले कीड़ेके अर्थमें भी आता है।) सारङ्ग और स्तोक—ये समान लिङ्गमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द पपीहाके वाचक हैं। कृकवाकु तथा ताम्रचूड—ये कुक्कुट (मुर्ग)-के नाम हैं। पिक और कोकिल—ये कोयलके बोधक हैं। करट और अरिष्ट—काक (कौए)-के अर्थमें आते हैं। वक और कह्व—बगुलेके नाम हैं। कोक, चक्र और चक्रवाक—ये चकवाके तथा कादम्ब और कलहंस—ये मधुरभाषी हंस या बत्तकके वाचक हैं। पतङ्गिका और पुत्तिका—ये मधुका छाता लगानेवाली छोटी मक्खियोंके नाम हैं और सरधा तथा मधुमक्षिका—ये बड़ी मधुमक्खीके अर्थमें आते हैं। (इसीको सरँगवा माछी भी कहते हैं।) द्विरेफ, पुष्पलिह, भृङ्ग, षट्पद, भ्रमर और अलि—ये भ्रमर (भौंरे)-के नाम हैं। केकी तथा शिखी—मोरके नाम हैं। मोरकी वाणीको 'केका' कहते हैं। शकुन्ति, शकुनि और द्विज—ये पक्षीके पर्याय हैं। स्त्रीलिङ्ग पक्षति-शब्द और पक्षमूल—ये पंखके वाचक हैं। चञ्चु और तोटि—ये चोंचके अर्थमें आते हैं। इन दोनोंका स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग होता है। उड्डीन और संडीन—ये पक्षियोंके उड़नेके विभिन्न प्रकारोंके नाम हैं। कुलाय और नीड शब्द घोंसलेके अर्थमें आते हैं। पेषी (या पेशी), कोष और अण्ड—ये अण्डेके नाम हैं। इनमें प्रथम दो शब्द केवल पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं। पृथुक, शावक, शिशु, पोत, पाक, अर्भक और डिम्भ—ये शिशुमात्रके बोधक हैं। संदोह, व्यूहक और गण, स्तोम, ओघ, निकर, व्रात, निकुरम्ब, कदम्बक, संघात, संचय, वृन्द, पुञ्ज, राशि और कूट—ये सभी शब्द 'समूह' अर्थके वाचक हैं॥ ७१—७८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशविषयक भूमि, वनौषधि आदि वर्गका वर्णन' नामक तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६३॥

तीन सौ चौसठवाँ अध्याय

मनुष्य-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं नाम-निर्देशपूर्वक मनुष्यवर्ग, ब्राह्मण-वर्ग, क्षत्रिय-वर्ग, वैश्य-वर्ग और शूद्रवर्गका क्रमशः वर्णन करूँगा। ना, नर, पञ्चजन और मर्त्य—ये मनुष्य एवं पुरुषके वाचक हैं। स्त्रीको योषित्, योषा, अबला और वधू कहते हैं। जो अपने अभीष्ट कामी पुरुषके साथ समागमकी इच्छासे किसी नियत संकेत-स्थानपर जाती है, उसे अभिसारिका कहते हैं।

कुलटा, पुंश्चली और असती—ये व्यभिचारिणी स्त्रीके नाम हैं। नग्निका और कोटवी शब्द नंगी स्त्रीका बोध करानेवाले हैं। (रजोधर्म होनेके पूर्व अवस्थावाली कन्याको भी 'नग्निका' कहते हैं।) अर्धवृद्धा (अधबुढ़) स्त्रीको (जो गेरुआँ वस्त्र धारण करनेवाली और पति-विहीना हो) कात्यायनी कहते हैं। दूसरेके घरमें रहकर (स्वाधीन वृत्तिसे केश-प्रसाधन आदि कलाके द्वारा) जीवन-निर्वाह करनेवाली स्त्रीका नाम सैरन्ध्री है। अन्त:पुरकी वह दासी, जो अभी बूढ़ी न हुई हो—जिसके सिरके बाल सफेद न हुए हों, असिक्नी कहलाती है। रजस्वला स्त्रीको मलिनी कहते हैं। वारस्त्री, गणिका और वेश्या—ये रंडियोंके नाम हैं। भाइयोंकी स्त्रियाँ परस्पर याता कहलाती हैं। पतिकी बहनको ननान्दा कहते हैं। सात पीढ़ीके अंदरके मनुष्य सपिण्ड और सनाभि कहे जाते हैं। समानोदर्य, सोदर्य, सगर्भ और सहज—ये समानार्थक शब्द सगे भाईका बोध करानेवाले हैं। सगोत्र, बान्धव, ज्ञाति, बन्धु, स्व तथा स्वजन—ये भी समान अर्थके बोधक हैं। दम्पती, जम्पती, भार्यापती, जायापती—ये पति-पत्नीके वाचक हैं। गर्भाशय, जरायु, उल्व और कलल—ये चार शब्द गर्भको लपेटनेवाली झिल्लीके नाम हैं। कलल-शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें आता है। (यह शुक्र और शोणितके संयोगसे बने हुए गर्भाशयके मांस-पिण्डका भी वाचक है।) गर्भ और भ्रूण—ये दोनों शब्द गर्भस्थ बालकके लिये प्रयुक्त होते हैं। क्लीब, शण्ड (षण्ढ) और नपुंसक—ये पर्यायवाची शब्द हैं। डिम्भ-शब्द उत्तान सोनेवाले नवजात शिशुओंके अर्थमें आता है। बालकको माणवक कहते हैं। लंबे पेटवाले पुरुषके अर्थमें पिचण्डिल और बृहत्कुक्षि शब्दोंका प्रयोग होता है। जिसकी नाक कुछ झुकी हुई हो, उसको अवभ्रट कहते हैं। जिसका कोई अङ्ग कम या विकृत हो वह विकलाङ्ग और पोगण्ड कहलाता है। आरोग्य और अनामय—ये नीरोगताके वाचक हैं। बहरेको एड और वधिर तथा कुबड़ेको कुब्ज और गडुल कहते हैं। रोग आदिके कारण जिसका हाथ खराब हो जाय, उसको तथा लूले मनुष्यको कुनि (या कुणि) कहा जाता है। क्षय, शोष और यक्ष्मा—ये राजयक्ष्मा (थाइसिस, टीबी या तपेदिक)-के नाम हैं। प्रतिश्याय और पीनस—ये जुकामके अर्थमें आते हैं। स्त्रीलिङ्ग-क्षुत्, पुँल्लिङ्ग-क्षव और नपुंसक-क्षुत शब्द छींकके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। कास और क्षवथु—ये खाँसीके नाम हैं। इनका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें होता है। शोथ, श्वयथु और शोफ—ये सूजनके अर्थमें आते हैं। पादस्फोट और विपादिका—ये बिवाईके नाम हैं। किलास और सिध्म—सेहुएँको कहते हैं। कच्छू, पाम, पामा और विचर्चिका—ये खुजलीके वाचक हैं। कोठ और मण्डलक उस कोढ़को कहते हैं, जिसमें गोलाकार चकत्ते पड़ जाते हैं। सफेद कोढ़को कुष्ठ और श्वित्र कहते हैं। दुर्नामक और अर्शस्—ये बवासीरके नाम हैं। मल-मूत्रके निरोधको अनाह और विबन्ध कहते हैं। ग्रहणी और प्रवाहिका—ये संग्रहणी रोगके नाम हैं। बीज, वीर्य, इन्द्रिय और शुक्र—ये वीर्यके पर्याय हैं। पलल, क्रव्य और आमिष—ये मांसके अर्थमें आते हैं। बुक्का और अग्रमांस—ये छातीके मांस (हृत्पिण्ड)-का बोध करानेवाले हैं। ('बुक्का' शब्द केवल हृदयका भी वाचक है।) हृदय और हृत्—ये मनके पर्याय हैं। मेदस्, वपा और वसा—ये मेदाके नाम हैं। गलेके पीछेकी नाड़ीको मन्या कहते हैं। नाडी, धमनि और शिरा—ये नाड़ीके वाचक हैं। तिलक और क्लोम—ये शरीरमें रहनेवाले काले तिलके अर्थमें आते हैं।

मस्तिष्क दिमागको और दूषिका आँखोंकी कीचड़को कहते हैं। अन्त्र और पुरीतत्—ये आँतके अर्थमें आते हैं। गुल्म और प्लीहा—बरवट (तिल्ली)-को कहते हैं। प्लीहा 'प्लीहन्' शब्दका पुँल्लिङ्गरूप है। अङ्ग-प्रत्यङ्गकी संधियोंके बन्धनको स्नायु और वस्नसा कहते हैं। कालखण्ड और यकृत्—जिगर या कलेजेके नाम हैं। कर्पर और कपाल शब्द ललाटके वाचक हैं। 'कपाल' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें आता है। कीकस, कुल्य और अस्थि—ये हड्डीके नाम हैं। रक्त-मांससे रहित शरीरकी हड्डीको कङ्काल कहते हैं। पीठकी हड्डी (मेरुदण्ड)-का नाम कशेरुका है। 'करोटि' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और यह मस्तककी हड्डी (खोपड़ी)-के अर्थमें आता है। पँसलीकी हड्डीको पर्शुका कहते हैं। अङ्ग, प्रतीक, अवयव, शरीर, वर्ष्म तथा विग्रह—ये शरीरके पर्याय हैं। कट और श्रोणिफलक—ये चूतड़के अर्थमें आते हैं। 'कट' शब्द पुँल्लिङ्ग है। कटि, श्रोणि और ककुद्मती—ये कमरका बोध करानेवाले हैं। (किन्हीं-किन्हींके मतमें उपर्युक्त पाँचों ही शब्द पर्यायवाची हैं।) स्त्रीकी कमरके पिछले भागको नितम्ब और अगले भागको जघन कहते हैं। 'जघन' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। नितम्बके ऊपर जो दो गड्ढे-से होते हैं, उन्हें कूपक एवं ककुन्दर कहते हैं। 'ककुन्दर' शब्द केवल नपुंसकलिङ्ग है। कटिके मांस-पिण्डका नाम स्फिच् और कटिप्रोथ है। 'स्फिच्' शब्दका प्रयोग स्त्रीलिङ्गमें होता है। नीचे बताये जानेवाले भग और लिङ्ग—दोनोंको उपस्थ कहा जाता है। भग और योनि—ये स्त्री-चिह्नके बोधक पर्यायवाची शब्द हैं। शिश्न, मेढ्र, मेहन और शेफस्—ये पुरुषचिह्न (लिङ्ग)-के वाचक हैं। पिचण्ड, कुक्षि, जठर, उदर और तुन्द—ये पेटके अर्थमें आते हैं। कुच और स्तन पर्यायवाची शब्द हैं। कुचोंके अग्रभागका नाम चूचुक है। नपुंसकलिङ्ग क्रोड तथा भुजान्तर शब्द गोदीके वाचक हैं। स्कन्ध, भुजशिरस् और अंस—ये कंधेके अर्थमें आते हैं। 'अंस' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग है। कंधेकी संधियों अर्थात् हँसलीकी हड्डीको जत्रु कहते हैं। पुनर्भव, कररुह, नख और नखर—ये नखोंके नाम हैं। इनमें 'नखर' और 'नख' शब्द स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य दो लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं। अँगूठेसे लेकर तर्जनीतक फैलाये हुए हाथको प्रादेश, अँगूठेसे मध्यमातकको ताल और अनामिकातक फैलाये हुए हाथको गोकर्ण कहते हैं। इसी प्रकार अँगूठेसे कनिष्ठिका अँगुलीतक फैले हुए हाथका नाम वितस्ति (बालिस्त या बित्ता) है। इसकी लंबाई बारह अंगुलकी होती है। जब हाथकी सभी अँगुलियाँ फैली हों, तब उसे चपेट, तल और प्रहस्त कहते हैं। मुट्ठी बँधे हुए हाथका नाम रत्नि है। (कोहनीसे लेकर मुट्ठी बँधे हुए हाथतकके मापको भी 'रत्नि' कहते हैं।) कोहनीसे कनिष्ठा अँगुलीतककी लंबाईका नाम अरत्नि है। शङ्खके समान आकारवाली ग्रीवाका नाम कम्बुग्रीवा और त्रिरेखा है। गलेकी घाँटीको अवटु, घाटा और कृकाटिका कहते हैं। ओठसे नीचेके हिस्सेका नाम चिबुक है। गण्ड और गल्ल गालके वाचक हैं। गालोंके निचले भागको हनु कहते हैं। नेत्रोंके दोनों प्रान्तोंको अपाङ्ग कहा जाता है। उन्हें दिखानेकी चेष्टाको कटाक्ष कहा जाता है। चिकुर, कुन्तल और वाल—ये केशके वाचक हैं। प्रतिकर्म और प्रसाधन शब्द सँवारने और शृङ्गार करनेके अर्थमें आते हैं। आकल्प, वेश और नेपथ्य—ये शब्द प्रत्यक्ष नाटक आदिके खेलमें भिन्न-भिन्न वेष धारण करनेके अर्थमें आते हैं। मस्तकपर धारण किये जानेवाले रत्नका नाम चूडामणि और शिरोरत्न है। हारके बीच-बीचमें पिरोये हुए रत्नको तरल कहते हैं।

कर्णिका और तालपत्र—ये कानके आभूषणके नाम हैं। लम्बन और ललन्तिका गलेमें नीचेतक लटकनेवाले हारको कहते हैं। मञ्जीर और नूपुर—ये पैरके आभूषण हैं। किङ्किणी और क्षुद्रघण्टिका घुँघुरूके नाम हैं। दैर्घ्य, आयाम और आनाह—ये वस्त्र आदिकी लंबाईके बोधक हैं। परिणाह और विशालता—ये चौड़ाई (पनहा या अर्ज) के अर्थमें आते हैं। पुराने वस्त्रको पटच्चर कहते हैं। संख्यान और उत्तरीय—ये चादर या दुपट्टेके अर्थमें आते हैं। फूल आदिसे बालोंका शृङ्गार करने या कपोल आदिपर पत्रभङ्ग आदि बनानेको रचना और परिस्पन्द कहते हैं। प्रत्येक उपचारकी पूर्णताका नाम आभोग है। ढक्कनदार पेटीको समुद्गक और सम्पुटक कहते हैं। प्रतिग्राह और पतद्ग्रह—ये पीकदानके नाम हैं॥ १—२९॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत मनुष्य-वर्गका वर्णन' नामक तीन सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६४॥

तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय

ब्रह्म-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—वंश, अन्ववाय, गोत्र, कुल, अभिजन और अन्वय—ये वंशके नाम हैं। मन्त्रकी व्याख्या करनेवाले ब्राह्मणको आचार्य कहते हैं। जिसने यज्ञमें व्रतकी दीक्षा ग्रहण की हो, वह आदेष्टा, यष्टा और यजमान कहलाता है। समझ-बूझकर आरम्भ करनेका नाम उपक्रम है। एक गुरुके यहाँ साथ-साथ विद्या पढ़नेवाले छात्र परस्पर सतीर्थ्य और एकगुरु कहलाते हैं। सभ्य, सामाजिक, सभासद और सभास्तार—ये यज्ञके सदस्योंके नाम हैं। ऋत्विक् और याजक—ये यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंके वाचक हैं। यजुर्वेदके ज्ञाता ऋत्विज्को अध्वर्यु, सामवेदके जाननेवालेको उद्गाता और ऋग्वेदके ज्ञाताको होता कहते हैं। चषाल और यूपकटक—ये यज्ञीय स्तम्भपर लगाये जानेवाले काठके छल्लेके नाम हैं। स्थण्डिल और चत्वर—ये दोनों शब्द समान लिङ्ग और समान अर्थके बोधक हैं। खौलाये हुए दूधमें दही मिला देनेसे जो हवनके योग्य वस्तु तैयार होती है, उसे आमिक्षा कहते हैं। दही मिलाये हुए घीका नाम पृषदाज्य है। परमान्न और पायस—ये खीरके वाचक हैं। जो पशु यज्ञमें अभिमन्त्रित करके मारा गया हो, उसको उपाकृत कहते हैं। परम्पराक, शमन और प्रोक्षण—ये शब्द यज्ञीय पशुका वध करनेके अर्थमें आते हैं। पूजा, नमस्या, अपचिति, सपर्य्या, अर्चा और अर्हणा—ये समानार्थक शब्द हैं। वरिवस्या, शुश्रूषा, परिचर्या और उपासना—ये सेवाके नाम हैं। नियम और व्रत—ये एक-दूसरेके पर्यायवाची शब्द हैं। इनमें 'व्रत' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें प्रयुक्त होता है। उपवास आदिके रूपमें किये जानेवाले व्रतका नाम पुण्यक है। जिसका प्रथम या प्रधानरूपसे विधान किया गया हो, उसे 'मुख्यकल्प' कहते हैं और उसकी अपेक्षा अधम या अप्रधानरूपसे जिसकी विधि हो, उसका नाम अनुकल्प है। कल्पके अर्थमें विधि और क्रम—इन शब्दोंका प्रयोग समझना चाहिये। वस्तुका पृथक्-पृथक् ज्ञान (अथवा जड़-चेतन या द्रष्टा-दृश्यके पार्थक्यका निश्चय) विवेक कहलाता है। (श्रावणीपूर्णिमा आदिके दिन)

संस्कारपूर्वक वेदका स्वाध्याय आरम्भ करना उपकरण या उपाकर्म कहलाता है। भिक्षु, परिव्राट्, कर्मन्दी, पाराशरी तथा मस्करी—संन्यासीके पर्यायवाची शब्द हैं। जिनकी वाणी सदा सत्य होती है, वे ऋषि और सत्यवचा कहलाते हैं। जिसने वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्यके व्रतको विधिवत् समाप्त कर लिया है, किंतु अभी दूसरे आश्रमको स्वीकार नहीं किया है, उसको स्नातक कहते हैं। जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, वे 'यती' और 'यति' कहलाते हैं। शरीर-साध्य नित्यकर्मका नाम यम है तथा जो कर्म अनित्य एवं कभी-कभी आवश्यकतानुसार किये जानेयोग्य होता है, वह (जप, उपवास आदि) नियम कहलाता है। ब्रह्मभूय, ब्रह्मत्व और ब्रह्मसायुज्य—ये ब्रह्मभावकी प्राप्तिके नाम हैं॥ १—११॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत ब्रह्मवर्गका वर्णन' नामक तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६५॥

तीन सौ छाछठवाँ अध्याय

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-वर्ग

अग्निदेव कहते हैं—मूर्धाभिषिक्त, राजन्य बाहुज, क्षत्रिय और विराट्—ये क्षत्रियके वाचक हैं। जिस राजाके सामने सभी सामन्त-नरेश मस्तक झुकाते हैं, उसे अधीश्वर कहते हैं। जिसका समुद्रपर्यन्त समूची भूमिपर अधिकार हो, उस सम्राट्का नाम चक्रवर्ती और सार्वभौम है तथा दूसरे राजाओंको (जो छोटे-छोटे मण्डलोंके शासक हैं, उन्हें) मण्डलेश्वर कहते हैं। मन्त्रीके तीन नाम हैं—मन्त्री, धीसचिव और अमात्य। महामात्र और प्रधान—ये सामान्य मन्त्रियोंके वाचक हैं। व्यवहारके द्रष्टा अर्थात् मामले-मुकदमेमें फैसला देनेवालेको प्राड्विवाक और अक्षदर्शक कहते हैं। सुवर्णकी रक्षा जिसके अधिकारमें हो वह भौरिक और कनकाध्यक्ष कहलाता है। अध्यक्ष और अधिकृत—ये अधिकारीके वाचक हैं। इन दोनोंका समान लिङ्ग है। जिसे अन्त:पुरकी रक्षाका अधिकार सौंपा गया हो, उसका नाम अन्तर्वंशिक[1] है। सौविदल्ल, कञ्चुकी, स्थापत्य और सौविद—ये रनिवासकी रक्षामें नियुक्त सिपाहियोंके नाम हैं। अन्त:पुरमें रहनेवाले नपुंसकोंको षण्ढ और वर्षवर कहते हैं। सेवक, अर्थी और अनुजीवी—ये सेवा करनेवालेके अर्थमें आते हैं। अपने राज्यकी सीमापर रहनेवाला राजा शत्रु होता है और शत्रुकी राज्य-सीमापर रहनेवाला नरेश अपना मित्र होता है। शत्रु और मित्र दोनोंकी राज्यसीमाओंके बाद जिसका राज्य हो, वह (न शत्रु, न मित्र) उदासीन[2] होता है। विजिगीषु राजाके पृष्ठभागमें रहनेवाले राजाको पार्ष्णिग्राह कहते हैं। चर, स्पश और प्रणिधि—ये गुप्तचरके नाम हैं। भविष्यकालको आयति कहते हैं। तत्काल और तदात्व—ये वर्तमान कालके वाचक हैं। भावी कर्मफलको उदर्क कहते हैं। आग लगने या पानीकी बाढ़ आदिके कारण होनेवाले

१. 'अन्तर्वंशिक'के स्थानमें 'अन्तर्वेश्मिक' नाम भी प्रयुक्त होता है।

२. रामोक्त नीतिके उपदेशानुसार विजिगीषुके सम्मुखवर्ती पाँच राज्य क्रमश: शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र होते हैं; आगे भी ऐसा ही क्रम है। दोनों पार्श्वगत राज्योंमें क्रमश: मध्यम तथा उदासीन होते हैं।

भयको अदृष्टभय कहते हैं। अपने या शत्रुके राज्यमें रहनेवाले सैनिकों या चोरों आदिके कारण जो संकट उपस्थित होता है, उसका नाम दृष्टभय है। भरे हुए घड़ेको भद्रकुम्भ और पूर्णकुम्भ कहते हैं। सोनेके गड़ुए या झारीका नाम भृङ्गार और कनकालुका है। मतवाले हाथीको प्रभिन्न, गर्जित और मत्त कहते हैं। हाथीकी सूँड़से निकलनेवाले जलकणको वमथु और करशीकर कहते हैं। सृणि और अङ्कुश—ये दो हाथीको हाँकनेके काममें लाये जानेवाले लोहेके काँटेका बोध कराते हैं। इनमें सृणि तो स्त्रीलिङ्ग और अङ्कुश पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग है। परिस्तोम और कुथ हाथीकी गद्दी और झूलके वाचक हैं। स्त्रियोंके बैठनेयोग्य पर्देवाली गाड़ीको कर्णीरथ और प्रवहण कहते हैं। दोला और प्रेङ्खा—ये झूला अथवा डोलीके नाम हैं। इनका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग होता है। आधोरण, हस्तिपक, हस्त्यारोह और निषादी—ये हाथीवानके अर्थमें आते हैं। लड़नेवाले सिपाहियोंको भट और योद्धा कहते हैं। कञ्चुक और वारण—ये कवच (बख्तर)-के नाम हैं। इनका प्रयोग स्त्रीलिङ्गके सिवा अन्य लिङ्गोंमें होता है। शीर्षण्य और शिरस्त्र—ये सिरपर रखे जानेवाले टोपके नाम हैं। तनुत्र, वर्म और दंशन—ये भी कवचके अर्थमें आते हैं। आमुक्त, प्रतिमुक्त, पिनद्ध और अपिनद्ध—ये पहने हुए कवचके वाचक हैं। सेनाकी मोर्चाबंदीका नाम व्यूह और बल-विन्यास है। चक्र और अनीक—ये नपुंसकलिङ्ग शब्द सेनाके वाचक हैं। जिस सेनामें एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े और पाँच पैदल हों, उसे पत्ति कहते हैं। पत्तिके समस्त अङ्गोंको लगातार सात बार तीन गुना करते जायँ तो उत्तरोत्तर उसके ये नाम होंगे—सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनीकिनी। हाथी आदि सभी अङ्गोंसे युक्त दस अनीकिनी सेनाको अक्षौहिणी* कहते हैं। धनुष, कोदण्ड और इष्वास—ये धनुषके नाम हैं। धनुषके दोनों कोणोंको कोटि और अटनी कहते हैं। उसके मध्य भागका नाम नस्तक (या लस्तक) है। प्रत्यञ्चाको मौर्वी, ज्या, शिञ्जिनी और गुण कहते हैं। पृषत्क, बाण, विशिख, अजिह्मग, खग और आशुग—ये वाचक पर्याय शब्द हैं॥ १—१६॥

तूण, उपासङ्ग, तूणीर, निषङ्ग और इषुधि—ये तरकसके नाम हैं। इनमें इषुधि शब्द पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों लिङ्गोंमें आता है। असि, ऋष्टि, निस्त्रिंश, करवाल और कृपाण—ये तलवारके वाचक हैं। तलवारकी मुष्टिको सरु कहते हैं। ईली और करपालिका (करवालिका)—ये गुप्तीके नाम हैं। कुठार और सुधिति (या स्वधिति)—ये कुल्हाड़ीके अर्थमें आते हैं। इनमें कुठार शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें होता है। छुरीको क्षुरिका और असिपुत्रिका कहते हैं। प्रास और कुन्त भालेके नाम हैं। सर्वला और तोमर गँड़ासेके अर्थमें आते हैं। तोमर शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनोंमें प्रयुक्त होता है। (यह बाण-विशेषका भी बोधक है)। जो प्रात:काल मङ्गल-गान करके राजाको जगाते हैं, उन्हें वैतालिक और बोधकर कहते हैं। स्तुति

* सेनामुख आदि विभागोंमें हाथी, रथ आदिकी संख्या जाननेके लिये यह नक्शा दिया जा रहा है—

सेना	पत्ति	सेनामुख	गुल्म	गण	वाहिनी	पृतना	चमू	अनीकिनी	अक्षौहिणी
हाथी और रथ	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
घोड़े	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७		
पैदल	५	१५	४५	१३५	४०५	१२१५	३६४५		१०९३५०

करनेवालोंका नाम मागध और वन्दी है। जो शपथ लेकर संग्रामसे पीछे पैर नहीं हटाते, उन योद्धाओंको संशप्तक कहते हैं। पताका और वैजयन्ती—ये पताकाके नाम हैं। केतन और ध्वज—ये ध्वजाके वाचक हैं और इनका प्रयोग नपुंसकलिङ्ग तथा पुँल्लिङ्गमें भी होता है। 'मैं पहले' 'मैं पहले' ऐसा कहते हुए जो योद्धाओंकी युद्ध आदिमें प्रवृत्ति होती है, उसे अहम्पूर्विका कहते हैं। इसका प्रयोग स्त्रीलिङ्गमें होता है। 'मैं समर्थ हूँ' ऐसा कहकर जो परस्पर अहंकार प्रकट किया जाता है, उसका नाम अहमहमिका है। शक्ति, पराक्रम, प्राण, शौर्य, स्थान (स्थामन्) सहस् और बल—ये सभी शब्द बलके वाचक हैं। मूर्च्छाके तीन नाम हैं—मूर्च्छा, कश्मल और मोह। विपक्षीको अच्छी तरह रगड़ने या कष्ट पहुँचानेको अवमर्द तथा पीडन कहते हैं। शत्रुको धर दबानेका नाम अभ्यवस्कन्दन तथा अभ्यासादन है। जीतको विजय और जय कहते हैं। निर्वासन, संज्ञपन, मारण और प्रातिघातन—ये मारनेके नाम हैं। पञ्चता और कालधर्म—ये मृत्युके अर्थमें आते हैं। दिष्टान्त, प्रलय और अत्यय—इनका भी वही अर्थ है॥ १७—२२ $\frac{1}{2}$ ॥

विश्, भूमिस्पृश् और वैश्य—ये शब्द वैश्यजातिका बोध करानेवाले हैं। वृत्ति, वर्तन और जीवन—ये जीविकाके वाचक हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—ये वैश्यकी जीविका-वृत्तियाँ हैं। ब्याज (सूद)-से चलायी जानेवाली जीविकाका नाम कुसीद-वृत्ति है। ब्याजके लिये धन देनेको उद्धार और अर्थप्रयोग कहते हैं। अनाजकी बालका नाम 'कणिश' है। जौ आदिके तीखे अग्रभागको किशारु तथा सस्यशूक कहते हैं। तृण आदिके गुच्छका नाम स्तम्ब है। धान्य, व्रीहि और स्तम्बकरि—ये अनाजके वाचक हैं। अनाजके डंठलोंसे होनेवाले भूसेको कडंगर और बुष कहते हैं। शमीधान्य अर्थात् फली या छीमीसे निकलनेवाले अनाजके अंदर उड़द, चना और मटर आदिकी गणना है तथा शूकधान्यमें जौ आदिकी गिनती है। तृणधान्य अर्थात् तीनाको नीवार कहते हैं। सूपका नाम है—शूर्प और प्रस्फोटन। सन या वस्त्रके बने हुए झोले अथवा थैलेको स्यूत और प्रसेव कहते हैं। कण्डोल और पिट टोकरीके तथा कट और किलिञ्जक चटाईके नाम हैं। इन दोनोंका एक ही लिङ्ग है। रसवती, पाकस्थान और महानस—ये रसोईघरके अर्थमें आते हैं। रसोईके अध्यक्षका नाम पौरोगव है। रसोई बनानेवालेको सूपकार, बल्लव, आरालिक, आन्धसिक, सूद, औदनिक तथा गुण कहते हैं। नपुंसकलिङ्ग अम्बरीष तथा पुँल्लिङ्ग भ्राष्ट्रशब्द भाड़के वाचक हैं। कर्करी, आलु तथा गलन्तिका—ये कठौतेके नाम हैं। बड़े घड़े या माटको आलिञ्जर एवं मणिक कहते हैं। काले जीरेका नाम सुषवी है। आरनाल और कुल्माष—ये काँजीके नाम हैं। वाह्लीक, हिङ्गु तथा रामठ—ये हींगके अर्थमें आते हैं। निशा, हरिद्रा और पीता—ये हल्दीके वाचक हैं। खाँड़को मत्स्यण्डि तथा फाणित कहते हैं। दूधके विकार अर्थात् खोवा या मावाका नाम कूर्चिका और क्षीरविकृति है। स्निग्ध, मसृण और चिक्कण—ये तीनों शब्द चिकनेके अर्थमें आते हैं। पृथुक और चिपिटक—ये चिउड़ाके वाचक हैं। भूने हुए जौको धाना कहते हैं। यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। जेमन, लेह (लेप) और आहार—ये भोजनका बोध करानेवाले हैं। माहेयी, सौरभी और गौ—ये गायके पर्याय हैं। कंधेपर जुआ ढोनेवाले बैलको युग्य और प्रासङ्ग्य तथा गाड़ी खींचनेवालेको शाकट कहते हैं। बहुत दिनोंकी ब्यायी हुई गायका नाम

वष्कयणी (बकेना) तथा थोड़े दिनोंकी ब्यायी हुईका नाम धेनु है। साँड़से लगी हुई गौको संधिनी कहते हैं। गर्भ गिरानेवाली गायकी 'वेहद्' संज्ञा है॥ २३—३३॥

पण्याजीव तथा आपणिक व्यापारीके अर्थमें आते हैं। न्यास और उपनिधि—ये धरोहरके वाचक हैं। ये दोनों शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। बेचनेका नाम है विपण और विक्रय। संख्यावाचक शब्द एकसे लेकर 'दश' शब्दके श्रवण होनेतक (अर्थात् एकसे अष्टादशतक) केवल संख्येय द्रव्यका बोध करानेके लिये प्रयुक्त होते हैं, अतः उनका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। जैसे—**एकः पटः, एका स्त्री, एकं पुष्पम्** इत्यादि; परंतु '**पञ्चन्**'से '**दशन्**' शब्दतकके रूप तीनों लिङ्गोंमें समान होते हैं। यथा—**दश स्त्रियः, दश पुरुषाः, दश पुष्पाणि** इत्यादि। इसी प्रकार अष्टादशतक समझना चाहिये। संख्यामात्रका बोध करानेके लिये इन शब्दोंका प्रयोग नहीं होता; अतएव '**विप्राणां शतम्**' इत्यादिके समान '**विप्राणां दश**' यह प्रयोग नहीं हो सकता। विंशति आदि सभी संख्यावाची शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थोंमें आते हैं तथा वे नित्य एक वचनान्त माने जाते हैं। (यथा संख्येयमें—**विंशतिः पटाः**। संख्यामात्रमें—**विंशतिः पटानाम्** इत्यादि। परंतु इनकी एकवचनान्तता केवल संख्येय अर्थमें ही मानी गयी है।) संख्यामात्रमें ये द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं (यथा दो बीस, तीन बीस आदिके अर्थमें—**द्वे विंशती, त्रयो विंशतयः**—इत्यादि)। ऊनविंशतिसे लेकर नवनवतितक सभी संख्याशब्द स्त्रीलिङ्ग हैं (अतएव '**विंशत्या पुरुषैः**' इत्यादि प्रयोग होते हैं)। 'पङ्क्ति'से लेकर शत, सहस्र आदि शब्द क्रमशः दसगुने अधिक हैं (यथा **पङ्क्तिः** (१०), **शतम्** (१००), **सहस्रम्** (१०००), **अयुतम्** (१००००) इत्यादि)। मान तीन प्रकारके होते हैं—तुलामान, अङ्गुलिमान और प्रस्थमान। पाँच गुंजे (रत्ती)-का एक माषक (माशा) होता है॥ ३४—३६॥

सोलह माषकका एक अक्ष होता है, इसीको कर्ष भी कहते हैं। कर्ष पुँल्लिङ्ग भी है और नपुंसकलिङ्ग भी। चार कर्षका एक पल होता है। एक अक्ष सोनेको 'सुवर्ण' और बिस्त कहते हैं तथा एक पल सुवर्णका नाम 'कुरुबिस्त' है। सौ पलकी एक 'तुला' होती है, यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। बीस तुलाको 'भार' कहते हैं। चाँदीके रुपयेका नाम कार्षापण और कार्षिक है। ताँबेके पैसेको 'पण' कहते हैं। द्रव्य, वित्त, स्वापतेय, रिक्थ, ऋक्थ, धन और वसु—ये धनके वाचक हैं। स्त्रीलिङ्ग रीति शब्द और पुँल्लिङ्ग आरकूट—ये पीतलके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। ताँबाका नाम—ताम्रक, शुल्ब तथा औदुम्बर है। तीक्ष्ण, कालायस और आयस—ये लोहेके अर्थमें आते हैं। क्षार और काँच—ये काँचके नाम हैं। चपल, रस, सूत और पारद—ये पाराके वाचक हैं। भैंसेके सींगका नाम गरल (या गवल) है। त्रपु, सीसक और पिच्चट—ये सीसाके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।* हिण्डीर, अब्धिकफ तथा फेन—ये समुद्रफेनके वाचक हैं। मधूच्छिष्ट और सिक्थक—ये मोमके नाम हैं। रंग और वंग—राँगाके, पिचु और तूल—रुईके तथा कूलटी (कुनटी) और मनःशिला—मैनसिलके नाम हैं। यवक्षार और पाक्य—पर्यायवाची शब्द हैं। त्वक्क्षीरा और वंशलोचना—वंशलोचनके वाचक हैं॥ ३७—४२॥

वृषल, जघन्यज और शूद्र—ये शूद्रजातिके

* अमरकोषमें इस श्लोकके 'त्रपु' और 'पिच्चट' शब्दको राँगेके अर्थमें लिया गया है तथा सीसकके नाग, योगेष्ट और वप्र—ये तीन पर्याय अन्य दिये गये हैं।

नाम हैं। चाण्डाल एवं अन्त्यज जातियाँ वर्णसंकर कहलाती हैं। शिल्पकर्मके ज्ञाताको कारु और शिल्पी कहते हैं (इनमें बढ़ई, थवई आदि सभी आ जाते हैं।) समान जातिके शिल्पियोंके एकत्रित हुए समुदायको श्रेणि कहते हैं। यह स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है। चित्र बनानेवालेको रङ्गाजीव और चित्रकार कहते हैं। त्वष्टा, तक्षा और वर्धकि—ये बढ़ईके नाम हैं। नाडिन्धम और स्वर्णकार—ये सुनारके वाचक हैं। नाई (हजाम)-का नाम है नापित तथा अन्तावसायी। बकरी बेंचनेवाले गडरियेका नाम जाबाल और अजाजीव है। देवाजीव और देवल—ये देवपूजासे जीविका चलानेवालेके अर्थमें आते हैं। अपनी स्त्रियोंके साथ नाटक दिखाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले नटको जायाजीव और शैलूष कहते हैं। रोजाना मजदूरी लेकर गुजर करनेवाले मजूरेका नाम भृतक और भृतिभुक् है। विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत, पृथग्जन, विहीन, अपसद और जाल्म—ये नीचके वाचक हैं। दासको भृत्य, दासेर और चेटक भी कहते हैं। पटु, पेशल और दक्ष—ये चतुरके अर्थमें आते हैं। मृगयु और लुब्धक—ये व्याधके नाम हैं। चाण्डालको चाण्डाल और दिवाकीर्ति कहते हैं। पुताई आदिके काममें पुस्त शब्दका प्रयोग होता है। पञ्चालिका और पुत्रिका—पे पुतली या गुडियाके नाम हैं। वर्कर शब्द जवान पशुमात्रके अर्थमें आता है (साथ ही वह बकरेका भी वाचक है)। गहना रखनेके डब्बेको या कपड़े रखनेकी पेटीको मञ्जूषा, पेटक तथा पेडा कहते हैं। तुल्य और साधारण—ये समान अर्थके वाचक हैं। इनका सामान्यतः तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग होता है। प्रतिमा और प्रतिकृति—ये पत्थर आदिकी मूर्तिके वाचक हैं। इस प्रकार ब्राह्मण आदि वर्गोंका वर्णन किया गया॥ ४३—४९ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्गका वर्णन' नामक तीन सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६६ ॥

तीन सौ सड़सठवाँ अध्याय

सामान्य नाम-लिङ्ग

अग्निदेव कहते हैं—मुनिवर! अब मैं सामान्यतः नामलिङ्गोंका वर्णन करूँगा (इस प्रकरणमें आये हुए शब्द प्रायः ऐसे होंगे, जो अपने विशेष्यके अनुसार तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त हो सकते हैं), आप उन्हें ध्यान देकर सुनें। सुकृति, पुण्यवान् और धन्य—ये शब्द पुण्यात्मा और सौभाग्यशाली पुरुषके लिये आते हैं। जिनकी अभिलाषा, आशय या अभिप्राय महान् हो, उन्हें महेच्छ और महाशय कहते हैं। (जिनके हृदय शुद्ध, सरल, कोमल, दयालु एवं भावुक हों, वे हृदयालु, सहृदय और सुहृदय कहलाते हैं।) प्रवीण, निपुण, अभिज्ञ, विज्ञ, निष्णात और शिक्षित—सुयोग्य एवं कुशलके अर्थमें आते हैं। वदान्य, स्थूललक्ष, दानशौण्ड और बहुप्रद—ये अधिक दान करनेवालेके वाचक हैं। कृती, कृतज्ञ और कुशल—ये भी प्रवीण, चतुर एवं दक्षके ही अर्थमें आते हैं। आसक्त, उद्युक्त और उत्सुक—ये उद्योगी एवं कार्यपरायण पुरुषके लिये प्रयुक्त होते हैं। अधिक धनवान्को इभ्य और आढ्य कहते हैं। परिवृढ, अधिभू, नायक

और अधिप—ये स्वामीके वाचक हैं। लक्ष्मीवान्, लक्ष्मण तथा श्रील—ये शोभा और श्रीसे सम्पन्न पुरुषके अर्थमें आते हैं। स्वतन्त्र, स्वैरी और अपावृत शब्द स्वाधीन अर्थके बोधक हैं। खलपू और बहुकर—खलिहान या मैदान साफ करनेवाले पुरुषके अर्थमें आते हैं। दीर्घसूत्र और चिरक्रिय—ये आलसी तथा बहुत विलम्बसे काम पूरा करनेवाले पुरुषके बोधक हैं। बिना विचारे काम करनेवालेको जाल्म और असमीक्ष्यकारी कहते हैं। जो कार्य करनेमें ढीला हो, वह कुण्ठ कहलाता है। कर्मशूर और कर्मठ—ये उत्साहपूर्वक कर्म करनेवालेके वाचक हैं। खानेवालेको भक्षक, घस्मर और अद्मर कहते हैं। लोलुप, गर्धन और गृध्नु—ये लोभीके पर्याय हैं। विनीत और प्रश्रित—ये विनययुक्त पुरुषका बोध करानेवाले हैं। धृष्णु और वियात—ये धृष्टके लिये प्रयुक्त होते हैं। प्रतिभाशाली पुरुषके अर्थमें निभृत और प्रगल्भ शब्दका प्रयोग होता है। भीरुक और भीरु—डरपोकके, बन्दारु और अभिवादक प्रणाम करनेवालेके, भूष्णु, भविष्णु और भविता होनेवालेके तथा ज्ञाता, विदुर और विन्दुक—ये जानकारके वाचक हैं। मत्त, शौण्ड, उत्कट और क्षीब—ये मतवालेके अर्थमें आते हैं (क्षीब शब्द नान्त भी होता है, इसके **क्षीबा, क्षीबाणौ, क्षीबाणः** इत्यादि रूप होते हैं)। चण्ड और अत्यन्त कोपन—ये अधिक क्रोध करनेवाले पुरुषके बोधक हैं। देवताओंका अनुसरण करनेवालेको देवद्र्यङ् और सब ओर जानेवालेको विष्वग्द्र्यङ् कहते हैं। इसी प्रकार साथ चलनेवाला सध्र्यङ् और तिरछा चलनेवाला तिर्यङ् कहलाता है। वाचोयुक्ति पटु, वाग्मी और वावदूक—ये कुशल वक्ताके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। बहुत अनाप-शनाप बकनेवालेको जल्पाक, वाचाल, वाचाट और बहुगर्ह्यवाक् कहते हैं। अपध्वस्त और धिक्कृत—ये धिक्कारे हुए पुरुषके वाचक हैं। कीलित और संयत शब्द बद्ध (बँधे हुए)-का बोध करानेवाले हैं॥ १—१०॥

रवण और शब्दन—ये आवाज करनेवालेके अर्थमें आते हैं। (नाटक आदिके आरम्भमें जो मङ्गलके लिये आशीर्वादयुक्त स्तुतिका पाठ किया जाता है, उसका नाम नान्दी है।) नान्दीपाठ करनेवालेको नान्दीवादी और नान्दीकर कहते हैं। व्यसनार्त और उपरक्त—ये पीड़ितके अर्थमें आते हैं। विहस्त और व्याकुल—ये शोकाकुल पुरुषका बोध करानेवाले हैं। नृशंस, क्रूर, घातक और पाप—ये दूसरोंसे द्रोह करनेवाले निर्दय मनुष्यके वाचक हैं। ठगको धूर्त और वञ्चक कहते हैं। वैदेह (वैधेय) और वालिश—ये मूर्खके वाचक हैं। कृपण और क्षुद्र—ये कदर्य (कंजूस)-के अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। मार्गण, याचक और अर्थी—ये याचना करनेवालेके अर्थमें आते हैं। अहंकारीको अहंकारवान् और अहंयु तथा शुभके भागीको शुभान्वित और शुभंयु कहते हैं। कान्त, मनोरम और रुच्य—ये सुन्दर अर्थके वाचक हैं। हृद्य, अभीष्ट और अभीप्सित—ये प्रियके समानार्थक शब्द हैं। असार, फल्गु तथा शून्य—ये निस्सार अर्थका बोध करानेवाले हैं। मुख्य, वर्य, वरेण्यक, श्रेयान्, श्रेष्ठ और पुष्कल—ये श्रेष्ठके वाचक हैं। प्राग्र्य, अग्र्य, अग्रीय तथा अग्रिय शब्द भी इसी अर्थमें आते हैं। वड्र, उरु और विपुल—ये विशाल अर्थके बोधक हैं। पीन, पीवन्, स्थूल और पीवर—ये स्थूल या मोटे अर्थका बोध करानेवाले हैं। स्तोक, अल्प, क्षुल्लक, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, दभ्र, कृश, तनु, मात्रा, त्रुटि, लव और कण—ये स्वल्प या सूक्ष्म अर्थके वाचक हैं। भूयिष्ठ, पुरुह और पुरु—ये अधिक अर्थके बोधक हैं। अखण्ड, पूर्ण और सकल—ये

समग्रके वाचक हैं। उपकण्ठ, अन्तिक, अभितः, संनिधि और अभ्याश—ये समीपके अर्थमें आते हैं। अत्यन्त निकटको नेदिष्ठ कहते हैं। बहुत दूरके अर्थमें दविष्ठ शब्दका प्रयोग होता है। वृत्त, निस्तल और वर्तुल—ये गोलाकारके वाचक हैं। उच्च, प्रांशु, उन्नत और उदग्र—ये ऊँचाके अर्थमें आते हैं। ध्रुव, नित्य और सनातन—ये नित्य अर्थके बोधक हैं। आविद्ध, कुटिल, भुग्न, वेल्लित और वक्र—ये टेढ़ेका बोध करानेवाले हैं। चञ्चल और तरल—ये चपलके अर्थमें आते हैं। कठोर, जरठ और दृढ़—ये समानार्थक शब्द हैं। प्रत्यग्र, अभिनव, नव्य, नवीन, नूतन और नव—ये नयेके अर्थमें आते हैं। एकतान और अनन्यवृत्ति—ये एकाग्रचित्तवाले पुरुषके बोधक हैं। उच्चण्ड और अविलम्बित—ये फुर्तीके वाचक हैं। उच्चावच और नैकभेद—ये अनेक प्रकारके अर्थमें आते हैं। सम्बाध और कलित—ये संकीर्ण एवं गहनके बोधक हैं। तिमित, स्तिमित और क्लिन्न—ये आर्द्र या भीगे हुएके अर्थमें आते हैं। अभियोग और अभिग्रह—ये दूसरेपर किये हुए दोषारोपणके नाम हैं। स्फाति शब्द वृद्धिके और प्रथा शब्द ख्यातिके अर्थमें आता है। समाहार और समुच्चय—ये समूहके वाचक हैं। अपहार और अपचय—ये ह्रासका बोध करानेवाले हैं। विहार और परिक्रम—ये घूमनेके अर्थमें आते हैं। प्रत्याहार और उपादान—ये इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। निर्हार तथा अभ्यवकर्षण—ये शरीरमें धँसे हुए शस्त्रादिको युक्तिपूर्वक निकालनेके अर्थमें आते हैं। विघ्न, अन्तराय और प्रत्यूह—ये विघ्नका बोध करानेवाले हैं। आस्या, आसना और स्थिति—ये बैठनेकी क्रियाके बोधक हैं। संनिधि और संनिकर्ष—ये समीप रहनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। किलेमें प्रवेश करनेकी क्रियाको संक्रम और दुर्गसंचर कहते हैं। उपलम्भ और अनुभव—ये अनुभूतिके नाम हैं। प्रत्यादेश और निराकृति—ये दूसरेके मतका खण्डन करनेके अर्थमें आते हैं। परिरम्भ, परिष्वङ्ग, संश्लेष और उपगूहन—ये आलिङ्गनके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। पक्ष* और हेतु आदिके द्वारा निश्चित होनेवाले ज्ञानका नाम अनुमा या अनुमान है। बिना हथियारकी लड़ाई तथा भयभीत होनेपर किये हुए शब्दका नाम डिम्ब, भ्रमर (या डमर) तथा विप्लव है। शब्दके द्वारा जो परोक्ष अर्थका ज्ञान होता है, उसे शाब्दज्ञान कहते हैं। समानता देखकर जो उसके तुल्यवस्तुका बोध होता है, उसका नाम उपमान है। जहाँ कोई कार्य देखकर कारणका निश्चय किया जाय, अर्थात् अमुक कारणके बिना यह कार्य नहीं हो सकता—इस प्रकार विचार करके जो दूसरी वस्तु अर्थात् कारणका ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। प्रतियोगीका ग्रहण न होनेपर जो ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु पृथ्वीपर नहीं है, उसका नाम अभाव है। इस प्रकार मनुष्योंका ज्ञान बढ़ानेके लिये मैंने नाम और लिङ्ग-स्वरूप श्रीहरिका वर्णन किया है॥ ११—२८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'कोशगत सामान्य नामलिङ्गोंका कथन' नामक तीन सौ सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६७॥

---

* जहाँ साध्यका संदेह हो अर्थात् जहाँ किसी वस्तुको सिद्ध करनेकी चेष्टा की जा रही हो—उसको 'पक्ष' कहते हैं तथा साध्यको सिद्ध करनेके लिये जो युक्ति दी जाती है, उसे 'हेतु' कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' (पर्वतपर आग है; क्योंकि वहाँ धुँआ उठता है)। यहाँ वह्नि साध्य, पर्वत पक्ष और धूम हेतु है।

तीन सौ अड़सठवाँ अध्याय

नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत प्रलयका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुनिवर! 'प्रलय' चार प्रकारका होता है—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक। जगत्में उत्पन्न हुए प्राणियोंकी जो सदा ही मृत्यु होती रहती है, उसका नाम 'नित्य प्रलय' है। एक हजार चतुर्युग बीतनेपर जब ब्रह्माजीका दिन समाप्त होता है, उस समय जो सृष्टिका लय होता है, वह 'ब्राह्म लय'के नामसे प्रसिद्ध है। इसीको 'नैमित्तिक प्रलय' भी कहते हैं। पाँचों भूतोंका प्रकृतिमें लीन होना 'प्राकृत प्रलय' कहलाता है तथा ज्ञान हो जानेपर जब आत्मा परमात्माके स्वरूपमें स्थित होता है, उस अवस्थाका नाम 'आत्यन्तिक प्रलय' है। कल्पके अन्तमें जो नैमित्तिक प्रलय होता है, इसके स्वरूपका मैं आपसे वर्णन करता हूँ। जब चारों युग एक हजार बार व्यतीत हो जाते हैं, उस समय यह भूमण्डल प्रायः क्षीण हो जाता है, तब सौ वर्षोंतक यहाँ बड़ी भयंकर अनावृष्टि होती है। उससे भूतलके सम्पूर्ण जीव-जन्तुओंका विनाश हो जाता है। तदनन्तर जगत्के स्वामी भगवान् विष्णु सूर्यकी सात किरणोंमें स्थित होकर पृथ्वी, पाताल और समुद्र आदिका सारा जल पी जाते हैं। इससे सर्वत्र जल सूख जाता है। तत्पश्चात् भगवान्की इच्छासे जलका आहार करके पुष्ट हुई वे ही सातों किरणें सात सूर्यके रूपमें प्रकट होती हैं। वे सातों सूर्य पातालसहित समस्त त्रिलोकीको जलाने लगते हैं।' उस समय यह पृथ्वी कछुएकी पीठके समान दिखायी देती है। फिर भगवान् शेषके श्वासोंसे 'कालाग्नि रुद्र'का प्रादुर्भाव होता है और वे नीचेके समस्त पातालोंको भस्म कर डालते हैं। पातालके पश्चात् भगवान् विष्णु भूलोकको, फिर भुवर्लोकको तथा सबके अन्तमें स्वर्गलोकको भी दग्ध कर देते हैं। उस समय समस्त त्रिभुवन जलते हुए भाड़-सा प्रतीत होता है। तदनन्तर भुवर्लोक और स्वर्ग—इन दो लोकोंके निवासी अधिक तापसे संतप्त होकर 'महर्लोक'में चले जाते हैं तथा महर्लोकसे जनलोकमें जाकर स्थित होते हैं। शेषरूपी भगवान् विष्णुके मुखोच्छ्वाससे प्रकट हुए कालाग्निरुद्र जब सम्पूर्ण जगत्को जला डालते हैं, तब आकाशमें नाना प्रकारके रूपवाले बादल उमड़ आते हैं, उनके साथ बिजलीकी गड़गड़ाहट भी होती है। वे बादल लगातार सौ वर्षोंतक वर्षा करके बढ़ी हुई आगको शान्त कर देते हैं। जब सप्तर्षियोंके स्थानतक पानी पहुँच जाता है, तब विष्णुके मुखसे निकली हुई साँससे सौ वर्षोंतक प्रचण्ड वायु चलती रहती है, जो उन बादलोंको नष्ट कर डालती है। फिर ब्रह्मरूपधारी भगवान् उस वायुको पीकर एकार्णवके जलमें शयन करते हैं। उस समय सिद्ध और महर्षिगण जलमें स्थित होकर भगवान्की स्तुति करते हैं और भगवान् मधुसूदन अपने 'वासुदेव' संज्ञक आत्माका चिन्तन करते हुए, अपनी ही दिव्य मायामयी योगनिद्राका आश्रय ले एक कल्पतक सोते रहते हैं। तदनन्तर जागनेपर वे ब्रह्माके रूपमें स्थित होकर पुनः जगत्की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार जब ब्रह्माजीके दो परार्द्धकी आयु समाप्त हो जाती है, तब यह सारा स्थूल प्रपञ्च प्रकृतिमें लीन हो जाता है॥ १—१५॥

इकाई-दहाईके क्रमसे एकके बाद दसगुने स्थान नियत करके यदि गुणा करते चले जायँ तो अठारहवें स्थानतक पहुँचनेपर जो संख्या बनती है, उसे 'परार्द्ध' कहते हैं*। परार्द्धका दूना समय

व्यतीत हो जानेपर 'प्राकृत प्रलय' होता है। उस समय वर्षाके एकदम बंद हो जाने और सब ओर प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होनेके कारण सब कुछ भस्म हो जाता है। महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी विकारों (कार्यों)-का नाश हो जाता है। भगवान्‌के संकल्पसे होनेवाले उस प्राकृत प्रलयके प्राप्त होनेपर जल पहले पृथ्वीके गन्ध आदि गुणको ग्रस लेता है—अपनेमें लीन कर लेता है। तब गन्धहीन पृथ्वीका प्रलय हो जाता है—उस समय जलमें घुल-मिलकर वह जलरूप हो जाती है। उसके बाद रसमय जलकी स्थिति रहती है। फिर तेजस्तत्त्व जलके गुण रसको पी जाता है। इससे जलका लय हो जाता है। जलके लीन हो जानेपर अग्नितत्त्व प्रज्वलित होता रहता है। तत्पश्चात् तेजके प्रकाशमय गुण रूपको वायुतत्त्व ग्रस लेता है। इस प्रकार तेजके शान्त हो जानेपर अत्यन्त प्रबल एवं प्रचण्ड वायु बड़े वेगसे चलने लगती है। फिर वायुके गुण स्पर्शको आकाश अपनेमें लीन कर लेता है। गुणके साथ ही वायुका नाश होनेपर केवल नीरव आकाशमात्र रह जाता है। तदनन्तर भूतादि (तामस अहंकार) आकाशके गुण शब्दको ग्रस लेता है तथा तैजस अहंकार इन्द्रियोंको अपनेमें लीन कर लेता है। इसके बाद महत्तत्त्व अभिमान स्वरूप भूतादि एवं तैजस अहंकारको ग्रस लेता है। इस तरह पृथ्वी जलमें लीन होती है, जल तेजमें समा जाता है, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें और आकाशका अहंकारमें लय होता है। फिर अहंकार महत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाता है। ब्रह्मन्! उस महत्तत्त्वको भी प्रकृति ग्रस लेती है। प्रकृतिके दो स्वरूप हैं—'व्यक्त' और 'अव्यक्त'। इनमें व्यक्त प्रकृतिका अव्यक्त प्रकृतिमें लय होता है। एक, अविनाशी और शुद्धस्वरूप जो पुरुष है, वह भी परमात्माका ही अंश है, अतः अन्तमें प्रकृति और पुरुष—ये दोनों परमात्मामें लीन हो जाते हैं। परमात्मा सत्स्वरूप ज्ञेय और ज्ञानमय है। वह आत्मा (बुद्धि आदि)-से सर्वथा परे है। वही सबका ईश्वर—'सर्वेश्वर' कहलाता है। उसमें नाम और जाति आदिकी कल्पनाएँ नहीं हैं॥ १६—२७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत प्रलयका वर्णन' नामक तीन सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६८॥

तीन सौ उनहत्तरवाँ अध्याय

आत्यन्तिक प्रलय एवं गर्भकी उत्पत्तिका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! अब मैं 'आत्यन्तिक प्रलय'का वर्णन करूँगा। जब जगत्‌के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापोंको जानकर मनुष्यको अपनेसे भी वैराग्य हो जाता है, उस समय उसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे इस सृष्टिका आत्यन्तिक प्रलय होता है (यही जीवात्माका मोक्ष है)। आध्यात्मिक संताप 'शारीरिक' और 'मानसिक' भेदसे दो प्रकारका

*इन अठारह संख्याओंमें यदि एकको भी गिन लें, अर्थात् एकके बाद सत्रह शून्य लगावें तो वर्तमान गणनाके अनुसार यह संख्या एक शंखके बराबर होती है और यदि एकके बाद अठारह शून्य लगाये जायँ तो यह संख्या महाशंखके बराबर होती है। यह शंख और महाशंख ही 'परार्द्ध' है।

होता है। ब्रह्मन्! शारीरिक तापके भी अनेकों भेद हैं, उन्हें श्रवण कीजिये। जीव भोगदेहका परित्याग करके अपने कर्मोंके अनुसार पुनः गर्भमें आता है। वसिष्ठजी! एक 'आतिवाहिक' संज्ञक शरीर होता है, वह केवल मनुष्योंको मृत्युकाल उपस्थित होनेपर प्राप्त होता है। विप्रवर! यमराजके दूत मनुष्यके उस आतिवाहिक शरीरको यमलोकके मार्गसे ले जाते हैं। मुने! दूसरे प्राणियोंको न तो आतिवाहिक शरीर मिलता है और न वे यमलोकके मार्गसे ही ले जाये जाते हैं। तदनन्तर यमलोकमें गया हुआ जीव कभी स्वर्गमें और कभी नरकमें जाता है। जैसे रहट नामक यन्त्रमें लगे हुए घड़े कभी पानीमें डूबते हैं और कभी ऊपर आते हैं, उसी तरह जीवको कभी स्वर्ग और कभी नरकमें चक्कर लगाना पड़ता है। ब्रह्मन्! यह लोक कर्मभूमि है और परलोक फलभूमि। यमराज जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों तथा नरकोंमें डाला करते हैं। यमराज ही जीवोंद्वारा नरकोंको परिपूर्ण बनाये रखते हैं। यमराजको ही इनका नियामक समझना चाहिये। जीव वायुरूप होकर गर्भमें प्रवेश करते हैं। यमदूत जब मनुष्यको यमराजके पास ले जाते हैं, तब वे उसकी ओर देखते हैं। (उसके कर्मोंपर विचार करते हैं—) यदि कोई धर्मात्मा होता है तो उसकी पूजा करते हैं और यदि पापी होता है तो अपने घरपर उसे दण्ड देते हैं। चित्रगुप्त उसके शुभ और अशुभ कर्मोंका विवेचन करते हैं। धर्मके ज्ञाता वसिष्ठजी! जबतक बन्धु-बान्धवोंका अशौच निवृत्त नहीं होता, तबतक जीव आतिवाहिक शरीरमें ही रहकर दिये हुए पिण्डोंको भोजनके रूपमें अपने साथ ले जाता है। तत्पश्चात् प्रेतलोकमें पहुँचकर प्रेतदेह (आतिवाहिक शरीर)-का त्याग करता है और दूसरा शरीर (भोगदेह) पाकर वहाँ भूख-प्याससे युक्त हो निवास करता है। उस समय उसे वही भोजनके लिये मिलता है, जो श्राद्धके रूपमें उसके निमित्त कच्चा अन्न दिया गया होता है। प्रेतके निमित्त पिण्डदान किये बिना उसको आतिवाहिक शरीरसे छुटकारा नहीं मिलता, वह उसी शरीरमें रहकर केवल पिण्डोंका भोजन करता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध करनेपर एक वर्षके पश्चात् वह प्रेतदेहको छोड़कर भोगदेहको प्राप्त होता है। 'भोगदेह' दो प्रकारके बताये गये हैं— शुभ और अशुभ। भोगदेहके द्वारा कर्मजनित बन्धनोंको भोगनेके पश्चात् जीव मर्त्यलोकमें गिरा दिया जाता है। उस समय उसके त्यागे हुए भोगदेहको निशाचर खा जाते है। ब्रह्मन्! यदि जीव भोगदेहके द्वारा पहले पुण्यके फलस्वरूप स्वर्गका सुख भोग लेता है और पाप भोगना शेष रह जाता है तो वह पापियोंके अनुरूप दूसरा भोगशरीर धारण करता है। परंतु जो पहले पापका फल भोगकर पीछे स्वर्गका सुख भोगता है, वह भोग समाप्त होनेपर स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पवित्र आचार-विचारवाले धनवानोंके घरमें जन्म लेता है। वसिष्ठजी! यदि जीव पुण्यके रहते हुए पहले पाप भोगता है तो उसका भोग समाप्त होनेपर वह पुण्यभोगके लिये उत्तम (देवोचित) शरीर धारण करता है। जब कर्मका भोग थोड़ा-सा ही शेष रह जाता है तो जीवको नरकसे भी छुटकारा मिल जाता है। नरकसे निकला हुआ जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनिमें ही जन्म लेता है; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ १—१८॥

(मानवयोनिके) गर्भमें प्रविष्ट हुआ जीव पहले महीनेमें कलल (रज-वीर्यके मिश्रित बिन्दु)-के रूपमें रहता है, दूसरे महीनेमें वह घनीभूत

होता है (कठोर मांसपिण्डका रूप धारण करता है और) तीसरे महीने शरीरके अवयव प्रकट हो जाते हैं। चौथे महीनेमें हड्डी, मांस और त्वचाका प्राकट्य होता है। पाँचवेंमें रोएँ निकल आते हैं। छठे महीनेमें उसके भीतर चेतना आती है और सातवेंसे वह दुःखका अनुभव करने लगता है। उसका सारा शरीर झिल्लियोंमें लिपटा होता है और मस्तकके पास उसके जुड़े हुए हाथ बँधे रहते हैं। यदि गर्भका बालक नपुंसक हो तो वह उदरके मध्यभागमें रहता है, कन्या हो तो वामभागमें और पुत्र हो तो दायें भागमें रहा करता है। पेटके विभिन्न भागोंमें रहकर वह पीठकी ओर मुँह किये रहता है। जिस योनिमें वह रहता है, उसका उसे अच्छी तरह ज्ञान होता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इतना ही नहीं, वह मनुष्यजन्मसे लेकर वर्तमान जन्मतकके अपने सभी वृत्तान्तोंका स्मरण करता है। गर्भके उस अन्धकारमें जीवको बड़े कष्टका अनुभव होता है। सातवें महीनेमें वह माताके खाये-पीये हुए पदार्थोंका रस पीने लगता है। आठवें और नवें महीनेमें उसको गर्भके भीतर बड़ा उद्वेग होता है। मैथुन होनेपर तो उसे और भी वेदना होती है। माताके अधिक परिश्रम करनेपर भी गर्भके बालकको कष्ट होता है। यदि माँ रोगिणी हो जाय तो बालकको भी रोगका कष्ट भोगना पड़ता है। उसके लिये एक मुहूर्त (दो घड़ी) भी सौ वर्षोंके समान हो जाता है॥ १९—२५॥

जीव अपने कर्मोंके अनुसार गर्भमें संतप्त होता है। फिर वह ऐसे मनोरथ करने लगता है, मानो गर्भसे निकलते ही मोक्षके साधनभूत ज्ञानके प्रयत्नमें लग जायगा। प्रसूति-वायुकी प्रेरणासे उसका सिर नीचेकी ओर हो जाता है और वह योनियन्त्रसे पीड़ित होता हुआ गर्भसे बाहर निकल आता है। बाहर आनेपर एक महीनेतक उसकी ऐसी स्थिति रहती है कि कोई हाथसे छूता है तो भी उसे कष्ट होता है। 'ख' शब्दवाच्य आकाशसे शरीरके भीतर छोटे-छोटे छेद, कान तथा शून्यता (अवकाश आदि) उत्पन्न होते हैं। श्वासोच्छ्वास, गति और अङ्गोंको टेढ़ा-मेढ़ा करके किसीका स्पर्श करना—ये सब वायुके कार्य हैं। रूप, नेत्र, गर्मी, पाचन-क्रिया, पित्त, मेधा, वर्ण, बल, छाया, तेज और शौर्य—ये शरीरमें अग्नितत्त्वसे प्रकट होते हैं। पसीना, रसना (स्वादका अनुभव करनेवाली जिह्वा), क्लेद (गलना), वसा (चर्बी), रसा (रस-ग्रहणकी शक्ति), शुक्र (वीर्य), मूत्र और कफ आदिका जो देहमें प्रादुर्भाव होता है, वह जलका कार्य है। घ्राणेन्द्रिय, केश, नख और शिराएँ (नाड़ियाँ) भूमितत्त्वसे प्रकट होती हैं। शरीरमें जो कोमल पदार्थ—त्वचा, मांस, हृदय, नाभि, मज्जा, मल, मेदा, क्लेदन और आमाशय आदि हैं, वे माताके रजसे उत्पन्न होते हैं। शिरा, स्नायु और शुक्रका प्रादुर्भाव पितासे होता है तथा काम, क्रोध, भय, हर्ष, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति, आकृति, स्वर, वर्ण और मेहन (मूत्रादिकी क्रिया) आदि जीवके शरीरमें स्वतः प्रकट होते हैं (ये दोष और गुण उसके अपने हैं)। अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, क्षुधा, तृषा, मोह, मात्सर्य, वैगुण्य, शोक, आभास और भय आदि भाव तमोगुणसे होते हैं। महामुने! काम, क्रोध, शौर्य, यज्ञकी अभिलाषा, बहुत बोलनेकी आदत, अहंकार तथा दूसरोंका अनादर करना—ये रजोगुणके कार्य हैं। धर्मकी अभिलाषा, मोक्षकी आकाङ्क्षा, भगवान् विष्णुमें पराभक्तिका होना, उदारता और उद्योगशीलता—इन्हें सत्त्वगुणसे उत्पन्न समझना चाहिये॥ २६—३६॥

चञ्चल, क्रोधी, डरपोक, अधिक बातूनी, कलहमें रुचि रखनेवाला तथा स्वप्नमें आकाश-

मार्गसे उड़नेवाला मनुष्य अधिक वातवाला होता है—उसमें वातकी प्रधानता होती है। जिसके असमयमें ही बाल सफेद हो जायँ, जो क्रोधी, महाबुद्धिमान् और युद्धको पसंद करनेवाला हो, जिसे सपनेमें प्रकाशमान वस्तुएँ अधिक दिखायी देती हों, उसे पित्तप्रधान प्रकृतिका मनुष्य समझना चाहिये। जिसकी मैत्री, उत्साह और अङ्ग सभी स्थिर हों, जो धन आदिसे सम्पन्न हो तथा जिसे स्वप्नमें जल एवं श्वेत पदार्थोंका अधिक दर्शन होता हो, उस मनुष्यमें कफकी प्रधानता है। प्राणियोंके शरीरमें रस जीवन देनेवाला होता है, रक्त लेपनका कार्य करता है तथा मांस मेहन एवं स्नेहन क्रियाका प्रयोजक है। हड्डी और मज्जाका काम है शरीरको धारण करना। वीर्यकी वृद्धि शरीरको पूर्ण बनानेवाली होती है। ओज शुक्र एवं वीर्यका उत्पादक है; वही जीवकी स्थिति और प्राणकी रक्षा करनेवाला है। ओज शुक्रकी अपेक्षा भी अधिक सार वस्तु है। वह हृदयके समीप रहता है और उसका रंग कुछ-कुछ पीला होता है। दोनों जंघे (ये समस्त पैरके उपलक्षण हैं), दोनों भुजाएँ, उदर और मस्तक—ये छः अङ्ग बताये गये हैं। त्वचाके छः स्तर हैं। एक तो वही है, जो बाहर दिखायी देती है। दूसरी वह है, जो रक्त धारण करती है। तीसरी किलास (धातुविशेष) और चौथी कुण्ड (धातुविशेष)- को धारण करनेवाली है। पाँचवीं त्वचा इन्द्रियोंका स्थान है और छठी प्राणोंको धारण करनेवाली मानी गयी है। कला भी सात प्रकारकी है—पहली मांस धारण करनेवाली, दूसरी रक्तधारिणी, तीसरी जिगर एवं प्लीहाको आश्रय देनेवाली, चौथी मेदा और अस्थि धारण करनेवाली, पाँचवीं मज्जा, श्लेष्मा और पुरीषको धारण करनेवाली, जो पक्वाशयमें स्थित रहती है, छठी पित्त धारण करनेवाली और सातवीं शुक्र धारण करनेवाली है। वह शुक्राशयमें स्थित रहती है॥ ३७—४५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'आत्यन्तिक प्रलय तथा गर्भकी उत्पत्तिका वर्णन' नामक तीन सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६९॥

तीन सौ सत्तरवाँ अध्याय

शरीरके अवयव

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठजी! कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश सभी भूतोंमें व्यापक है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः आकाश आदि पाँच भूतोंके गुण हैं। गुदा, उपस्थ (लिङ्ग या योनि), हाथ, पैर और वाणी—ये 'कर्मेन्द्रिय' कहे गये हैं। मलत्याग, विषयजनित आनन्दका अनुभव, ग्रहण, चलन तथा वार्तालाप—ये क्रमशः उपर्युक्त इन्द्रियोंके कार्य हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच इन्द्रियोंके विषय, पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, आत्मा (महत्तत्त्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति)—ये चौबीस तत्त्व हैं। इन सबसे परे है—पुरुष। वह इनसे संयुक्त भी रहता है और पृथक् भी; जैसे मछली और जल—ये दोनों एक साथ संयुक्त भी रहते हैं और पृथक् भी। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—ये अव्यक्तके आश्रित हैं। अन्तःकरणकी उपाधिसे युक्त पुरुष 'जीव' कहलाता है, वही निरुपाधिक स्वरूपसे 'परब्रह्म' कहा गया है, जो सबका कारण है। जो मनुष्य इस परम पुरुषको जान लेता है, वह

परमपदको प्राप्त होता है। इस शरीरके भीतर सात 'आशय' माने गये हैं—पहला रुधिराशय, दूसरा श्लेष्माशय, तीसरा आमाशय, चौथा पित्ताशय, पाँचवाँ पक्काशय, छठा वाताशय और सातवाँ मूत्राशय। स्त्रियोंके इन सातके अतिरिक्त एक आठवाँ आशय भी होता है, जिसे 'गर्भाशय' कहते हैं। अग्निसे पित्त और पित्तसे पक्काशय होता है। ऋतुकालमें स्त्रीकी योनि कुछ फैल जाती है। उसमें स्थापित किया हुआ वीर्य गर्भाशयतक पहुँच जाता है। गर्भाशय कमलके आकारका होता है। वही अपनेमें रज और वीर्यको धारण करता है। वीर्यसे शरीर और समयानुसार उसमें केश प्रकट होते हैं। ऋतुकालमें भी यदि योनि वात, पित्त और कफसे आवृत्त हो तो उसमें विकास (फैलाव) नहीं आता। (ऐसी दशामें वह गर्भ-धारणके योग्य नहीं रहती।) महाभाग! बुक्कसे पुक्कस, प्लीहा, यकृत्, कोष्ठाङ्ग, हृदय, व्रण तथा तण्डक होते हैं। ये सभी आशयमें निबद्ध हैं। प्राणियोंके पकाये जानेवाले रसके सारसे प्लीहा और यकृत् होते हैं। धर्मके ज्ञाता वसिष्ठजी! रक्तके फेनसे पुक्कसकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार रक्त, पित्त तथा तण्डक भी उत्पन्न होते हैं। मेदा और रक्तके प्रसारसे बुक्काकी उत्पत्ति होती है। रक्त और मांसके प्रसारसे देहधारियोंकी आँतें बनती हैं। पुरुषकी आँतोंका परिमाण साढ़े तीन व्याम बताया जाता है और वेदवेत्ता पुरुष स्त्रियोंकी आँतें तीन व्याम लंबी बतलाते हैं। रक्त और वायुके संयोगसे कामका उदय होता है। कफके प्रसारसे हृदय प्रकट होता है। उसका आकार कमलके समान है। उसका मुख नीचेकी ओर होता है तथा उसके मध्यका जो आकाश है, उसमें जीव स्थित रहता है। चेतनतासे सम्बन्ध रखनेवाले सभी भावोंकी स्थिति वही है। हृदयके वामभागमें प्लीहा और दक्षिणभागमें यकृत् है तथा इसी प्रकार हृदयकमलके दक्षिणभागमें क्लोम (फुफ्फुस)-की भी स्थिति बतायी गयी है। इस शरीरमें कफ और रक्तको प्रवाहित करनेवाले जो-जो स्रोत हैं, उनके भूतानुमानसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। नेत्रमण्डलका जो श्वेतभाग है, वह कफसे उत्पन्न होता है। उसका प्राकट्य पिताके वीर्यसे माना गया है तथा नेत्रोंका जो कृष्ण-भाग है, वह माताके रज एवं वातके अंशसे प्रकट होता है। त्वचामण्डलकी उत्पत्ति पित्तसे होती है। इसे माता और पिता—दोनोंके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये। मांस, रक्त और कफसे जिह्वाका निर्माण होता है। मेदा, रक्त, कफ और मांससे अण्डकोषकी उत्पत्ति होती है। प्राणके दस आश्रय जानने चाहिये—मूर्द्धा, हृदय, नाभि, कण्ठ, जिह्वा, शुक्र, रक्त, गुद, वस्ति (मूत्राशय) और गुल्फ (पाँवकी गाँठ या घुट्टी) तथा 'कण्डरा' (नसें) सोलह बतायी गयी हैं। दो हाथमें, दो पैरमें, चार पीठमें, चार गलेमें तथा चार पैरसे लेकर सिरतक समूचे शरीरमें हैं। इसी प्रकार 'जाल' भी सोलह बताये गये हैं। मांसजाल, स्नायुजाल, शिराजाल और अस्थिजाल—ये चारों पृथक्-पृथक् दोनों कलाइयों और पैरकी दोनों गाँठोंमें परस्पर आबद्ध हैं। इस शरीरमें छः कूर्च माने गये हैं। मनीषी पुरुषोंने दोनों हाथ, दोनों पैर, गला और लिङ्ग—इन्हींमें उनका स्थान बताया है। पृष्ठके मध्यभागमें जो मेरुदण्ड है, उसके निकट चार मांसमयी डोरियाँ हैं तथा उतनी ही पेशियाँ भी हैं, जो उन्हें बाँधे रखती हैं। सात सीरणियाँ हैं। इनमेंसे पाँच तो मस्तकके आश्रित हैं और एक-एक मेढ्र (लिङ्ग) तथा जिह्वामें है। हड्डियाँ अठारह हजार हैं। सूक्ष्म और स्थूल—दोनों मिलाकर चौसठ दाँत हैं। बीस नख हैं। इनके अतिरिक्त हाथ और पैरोंकी शलाकाएँ हैं, जिनके चार स्थान हैं। अँगुलियोंमें

साठ, एड़ियोंमें दो, गुल्फोंमें चार, अरत्नियोंमें चार और जंघोंमें भी चार ही हड्डियाँ हैं। घुटनोंमें दो, गालोंमें दो, ऊरुओंमें दो तथा फलकोंके मूलभागमें भी दो ही हड्डियाँ हैं। इन्द्रियोंके स्थानों तथा श्रोणिफलकमें भी इसी प्रकार दो-दो हड्डियाँ बतायी गयी हैं। भगमें भी थोड़ी-सी हड्डियाँ हैं। पीठमें पैंतालीस और गलेमें भी पैंतालीस हैं। गलेकी हसली, ठोड़ी तथा उसकी जड़में दो-दो अस्थियाँ हैं। ललाट, नेत्र, कपोल, नासिका, चरण, पसली, तालु तथा अर्बुद—इन सबमें सूक्ष्मरूपसे बहत्तर हड्डियाँ हैं। मस्तकमें दो शङ्ख और चार कपाल हैं तथा छातीमें सत्रह हड्डियाँ हैं। संधियाँ दो सौ दस बतायी गयी हैं। इनमेंसे शाखाओंमें अड़सठ तथा उनसठ हैं और अन्तरामें तिरासी संधियाँ बतायी गयी हैं। स्नायुकी संख्या नौ सौ है, जिनमेंसे अन्तराधिमें दो सौ तीस हैं, सत्तर ऊर्ध्वगामी हैं और शाखाओंमें छः सौ स्नायु हैं। पेशियाँ पाँच सौ बतलायी गयी हैं। इनमें चालीस तो ऊर्ध्वगामिनी हैं, चार सौ शाखाओंमें हैं और साठ अन्तराधिमें हैं। स्त्रियोंकी मांसपेशियाँ पुरुषोंकी अपेक्षा सत्ताईस अधिक हैं। इनमें दस दोनों स्तनोंमें, तेरह योनिमें तथा चार गर्भाशयमें स्थित हैं। देहधारियोंके शरीरमें तीस हजार नौ तथा छप्पन हजार नाड़ियाँ हैं। जैसे छोटी-छोटी नालियाँ क्यारियोंमें पानी बहाकर ले जाती हैं, उसी प्रकार वे नाड़ियाँ सम्पूर्ण शरीरमें रसको प्रवाहित करती हैं। क्लेद और लेप आदि उन्हींके कार्य हैं। महामुने! इस देहमें बहत्तर करोड़ छिद्र या रोमकूप हैं तथा मज्जा, मेदा, वसा, मूत्र, पित्त, श्लेष्मा, मल, रक्त और रस—इनकी क्रमशः 'अञ्जलियाँ' मानी गयी हैं। इनमेंसे पूर्व-पूर्व अञ्जलीकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सभी अञ्जलियाँ मात्रामें डेढ़-गुनी अधिक हैं। एक अञ्जलिमें आधी वीर्यकी और आधी ओजकी है। विद्वानोंने स्त्रियोंके रजकी चार अञ्जलियाँ बतायी हैं। यह शरीर मल और दोष आदिका पिण्ड है, ऐसा समझकर अपने अन्तःकरणमें इसके प्रति होनेवाली आसक्तिका त्याग करना चाहिये॥ १—४३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'शरीरावयवविभागका वर्णन' नामक तीन सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७०॥

तीन सौ इकहत्तरवाँ अध्याय

प्राणियोंकी मृत्यु, नरक तथा पापमूलक जन्मका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! मैं यमराजके मार्गकी पहले चर्चा कर चुका हूँ, इस समय मनुष्योंकी मृत्युके विषयमें कुछ निवेदन करूँगा। शरीरमें जब वातका वेग बढ़ जाता है तो उसकी प्रेरणासे ऊष्मा अर्थात् पित्तका भी प्रकोप हो जाता है। वह पित्त सारे शरीरको रोककर सम्पूर्ण दोषोंको आवृत कर लेता है तथा प्राणोंके स्थान और मर्मोंका उच्छेद कर डालता है। फिर शीतसे वायुका प्रकोप होता है और वायु अपने निकलनेके लिये छिद्र ढूँढ़ने लगती है। दो नेत्र, दो कान, दो नासिका और एक ऊपरका ब्रह्मरन्ध्र—ये सात छिद्र हैं तथा आठवाँ छिद्र मुख है। शुभ कार्य करनेवाले मनुष्योंके प्राण प्रायः इन्हीं सात मार्गोंसे निकलते हैं। नीचे भी दो छिद्र हैं—गुदा और उपस्थ। पापियोंके प्राण इन्हीं छिद्रोंसे बाहर होते हैं, परंतु योगीके प्राण मस्तकका भेदन

करके निकलते हैं और वह जीव इच्छानुसार लोकोंमें जाता है। अन्तकाल आनेपर प्राण अपानमें स्थित होता है। तमके द्वारा ज्ञान आवृत हो जाता है, मर्मस्थान आच्छादित हो जाते हैं। उस समय जीव वायुके द्वारा बाधित हो नाभिस्थानसे विचलित कर दिया जाता है; अत: वह आठ अङ्गोंवाली प्राणोंकी वृत्तियोंको लेकर शरीरसे बाहर हो जाता है। देहसे निकलते, अन्यत्र जन्म लेते अथवा नाना प्रकारकी योनियोंमें प्रवेश करते समय जीवको सिद्ध पुरुष और देवता ही अपनी दिव्यदृष्टिसे देखते हैं। मृत्युके बाद जीव तुरंत ही आतिवाहिक शरीर धारण करता है। उसके त्यागे हुए शरीरसे आकाश, वायु और तेज—ये ऊपरके तीन तत्त्वोंमें मिल जाते हैं तथा जल और पृथ्वीके अंश नीचेके तत्त्वोंसे एकीभूत हो जाते हैं। यही पुरुषका 'पञ्चत्वको प्राप्त होना' माना गया है। मरे हुए जीवको यमदूत शीघ्र ही आतिवाहिक शरीरमें पहुँचाते हैं। यमलोकका मार्ग अत्यन्त भयंकर और छियासी हजार योजन लंबा है। उसपर ले जाया जानेवाला जीव अपने बन्धु-बान्धवोंके दिये हुए अन्न-जलका उपभोग करता है। यमराजसे मिलनेके पश्चात् उनके आदेशसे चित्रगुप्त जिन भयंकर नरकोंको बतलाते हैं, उन्हींको वह जीव प्राप्त होता है। यदि वह धर्मात्मा होता है, तो उत्तम मार्गोंसे स्वर्गलोकको जाता है॥ १—१२॥

अब पापी जीव जिन नरकों और उनकी यातनाओंका उपभोग करते हैं, उनका वर्णन करता हूँ। इस पृथ्वीके नीचे नरककी अट्ठाईस ही श्रेणियाँ हैं। सातवें तलके अन्तमें घोर अन्धकारके भीतर उनकी स्थिति है। नरककी पहली कोटि 'घोरा'के नामसे प्रसिद्ध है। उसके नीचे 'सुघोरा'की स्थिति है। तीसरी 'अतिघोरा', चौथी 'महाघोरा' और पाँचवीं 'घोररूपा' नामकी कोटि है। छठीका नाम 'तरलतारा' और सातवींका 'भयानका' है। आठवीं 'भयोत्कटा', नवीं 'कालरात्रि' दसवीं 'महाचण्डा', ग्यारहवीं 'चण्डा', बारहवीं 'कोलाहला', तेरहवीं 'प्रचण्डा', चौदहवीं 'पद्मा' और पंद्रहवीं 'नरकनायिका' है। सोलहवीं 'पद्मावती', सत्रहवीं 'भीषणा', अठारहवीं 'भीमा', उन्नीसवीं 'करालिका', बीसवीं 'विकराला', इक्कीसवीं 'महावज्रा', बाईसवीं 'त्रिकोणा' और तेईसवीं 'पञ्चकोणिका' है। चौबीसवीं 'सुदीर्घा', पचीसवीं 'वर्तुला', छब्बीसवीं 'सप्तभूमा', सत्ताईसवीं 'सुभूमिका' और अट्ठाईसवीं 'दीप्तमाया' है। इस प्रकार ये अट्ठाईस कोटियाँ पापियोंको दु:ख देनेवाली हैं॥ १३—१८॥

नरकोंकी अट्ठाईस कोटियोंके पाँच-पाँच नायक हैं (तथा पाँच उनके भी नायक हैं)। वे 'रौरव' आदिके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन सबकी संख्या एक सौ पैंतालीस है—तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, असिपत्रवन, लोहभार, कालसूत्रनरक, महानरक, संजीवन, महावीचि, तपन, सम्प्रतापन, संघात, काकोल, कुड्मल, पूतमृत्युक, लोहशङ्कु, ऋजीष, प्रधान, शाल्मली वृक्ष और वैतरणी नदी आदि सभी नरकोंको 'कोटि-नायक' समझना चाहिये। ये बड़े भयंकर दिखायी देते हैं। पापी पुरुष इनमेंसे एक-एकमें तथा अनेकमें भी डाले जाते हैं। यातना देनेवाले यमदूतोंमें किसीका मुख बिलावके समान होता है तो किसीका उल्लूके समान, कोई गीदड़के समान मुखवाले हैं तो कोई गृध्र आदिके समान। वे मनुष्यको तेलके कड़ाहेमें डालकर उसके नीचे आग जला देते हैं। किन्हींको भाड़में, किन्हींको ताँबे या तपाये हुए लोहेके बर्तनोंमें तथा बहुतोंको आगकी चिनगारियोंमें डाल देते हैं। कितनोंको वे शूलीपर चढ़ा देते हैं। बहुत-से पापियोंको नरकमें डालकर उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाते

हैं। कितने ही कोड़ोंसे पीटे जाते हैं और कितनोंको तपाये हुए लोहेके गोले खिलाये जाते हैं। बहुत-से यमदूत उनको धूलि, विष्ठा, रक्त और कफ आदि भोजन कराते तथा तपायी हुई मदिरा पिलाते हैं। बहुत-से जीवोंको वे आरेसे चीर डालते हैं। कुछ लोगोंको कोल्हूमें पेरते हैं। कितनोंको कौवे आदि नोच-नोचकर खाते हैं। किन्हीं-किन्हींके ऊपर गरम तेल छिड़का जाता है तथा कितने ही जीवोंके मस्तकके अनेकों टुकड़े किये जाते हैं। उस समय पापी जीव 'अरे बाप रे' कहकर चिल्लाते हैं और हाहाकार मचाते हुए अपने पापकर्मोंकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार बड़े-बड़े पातकोंके फलस्वरूप भयंकर एवं निन्दित नरकोंका कष्ट भोगकर कर्म क्षीण होनेके पश्चात् वे महापापी जीव पुनः इस मर्त्यलोकमें जन्म लेते हैं॥ १९—२९ $\frac{१}{२}$ ॥

ब्रह्महत्यारा पुरुष मृग, कुत्ते, सूअर और ऊँटोंकी योनिमें जाता है। मदिरा पीनेवाला गदहे, चाण्डाल तथा म्लेच्छोंमें जन्म पाता है। सोना चुरानेवाले कीड़े-मकोड़े और पतिंगे होते हैं तथा गुरुपत्नीसे गमन करनेवाला मनुष्य तृण एवं लताओंमें जन्म ग्रहण करता है। ब्रह्महत्यारा राजयक्ष्माका रोगी होता है, शराबीके दाँत काले हो जाते हैं, सोना चुरानेवालेका नख खराब होता है तथा गुरुपत्नीगामीके चमड़े दूषित होते हैं (अर्थात् वह कोढ़ी हो जाता है)। जो जिस पापसे सम्पर्क रखता है, वह उसीका कोई चिह्न लेकर जन्म ग्रहण करता है। अन्न चुरानेवाला मायावी होता है। वाणी (कविता आदि)-की चोरी करनेवाला गूँगा होता है। धान्यका अपहरण करनेवाला जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसका कोई अङ्ग अधिक होता है, चुगुलखोरकी नासिकासे बदबू आती है, तेल चुरानेवाला पुरुष तेल पीनेवाला कीड़ा होता है तथा जो इधरकी बातें उधर लगाया करता है, उसके मुँहसे दुर्गन्ध आती है। दूसरोंकी स्त्री तथा ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेवाला पुरुष निर्जन वनमें ब्रह्मराक्षस होता है। रत्न चुरानेवाला नीच जातिमें जन्म लेता है। उत्तम गन्धकी चोरी करनेवाला छछूंदर होता है। शाक-पात चुरानेवाला मुर्गा तथा अनाजकी चोरी करनेवाला चूहा होता है। पशुका अपहरण करनेवाला बकरा, दूध चुरानेवाला कौवा, सवारीकी चोरी करनेवाला ऊँट तथा फल चुराकर खानेवाला बन्दर होता है। शहदकी चोरी करनेवाला डाँस, फल चुरानेवाला गृध्र तथा घरका सामान हड़प लेनेवाला गृहकाक होता है। वस्त्र हड़पनेवाला कोढ़ी, चोरी-चोरी रसका स्वाद लेनेवाला कुत्ता और नमक चुरानेवाला झींगुर होता है॥ ३०—३७ $\frac{१}{२}$ ॥

यह 'आधिदैविक ताप' का वर्णन किया गया है। शस्त्र आदिसे कष्टकी प्राप्ति होना 'आधिभौतिक ताप' है तथा ग्रह, अग्नि और देवता आदिसे जो कष्ट होता है, वह 'आधिदैविक ताप' बतलाया गया है। इस प्रकार यह संसार तीन प्रकारके दुःखोंसे भरा हुआ है। मनुष्यको चाहिये कि ज्ञानयोगसे, कठोर व्रतोंसे, दान आदि पुण्योंसे तथा विष्णुकी पूजा आदिसे इस दुःखमय संसारका निवारण करे॥ ३८—४० ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नरकादि-निरूपण' नामक तीन सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७१ ॥

तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय

यम और नियमोंकी व्याख्या; प्रणवकी महिमा तथा भगवत्पूजनका माहात्म्य

अग्निदेव कहते हैं— मुने! अब मैं 'अष्टाङ्गयोग'का वर्णन करूँगा, जो जगत्के त्रिविध तापसे छुटकारा दिलानेका साधन है। ब्रह्मको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान भी 'योग'से ही सुलभ होता है। एकचित्त होना—चित्तको एक जगह स्थापित करना 'योग' है। चित्तवृत्तियोंके निरोधको भी 'योग' कहते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मामें ही अन्त:करणकी वृत्तियोंको स्थापित करना उत्तम 'योग' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। ब्रह्मन्! 'नियम' भी पाँच ही हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। उनके नाम ये हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराराधन (ईश्वरप्रणिधान)। किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। 'अहिंसा' सबसे उत्तम धर्म है। जैसे राह चलनेवाले अन्य सभी प्राणियोंके पदचिह्न हाथीके चरणचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार धर्मके सभी साधन 'अहिंसा'में गतार्थ माने जाते हैं। 'हिंसा'के दस भेद हैं—किसीको उद्वेगमें डालना, संताप देना, रोगी बनाना, शरीरसे रक्त निकालना, चुगली खाना, किसीके हितमें अत्यन्त बाधा पहुँचाना, उसके छिपे हुए रहस्यका उद्घाटन करना, दूसरेको सुखसे वञ्चित करना, अकारण कैद करना और प्राणदण्ड देना। जो बात दूसरे प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर है, वह 'सत्य' है। 'सत्य'का यही लक्षण है—सत्य बोले, किंतु प्रिय बोले; अप्रिय सत्य कभी न बोले। इसी प्रकार प्रिय असत्य भी मुँहसे न निकाले; यह सनातन धर्म है। 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं—'मैथुनके त्यागको'। 'मैथुन' आठ प्रकारका होता है—स्त्रीका स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीड़ा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिपकर बातें करना, उसे पानेका संकल्प, उसके लिये उद्योग तथा क्रियानिर्वृत्ति (स्त्रीसे साक्षात् समागम)—ये मैथुनके आठ अङ्ग हैं—ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। 'ब्रह्मचर्य' ही सम्पूर्ण शुभ कर्मोंकी सिद्धिका मूल है; उसके बिना सारी क्रिया निष्फल हो जाती है। वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवताओंके आचार्य बृहस्पति तथा पितामह ब्रह्माजी—ये तपोवृद्ध और वयोवृद्ध होते हुए भी स्त्रियोंके मोहमें फँस गये। गौड़ी, पैष्टी और माध्वी—ये तीन प्रकारकी सुरा जाननी चाहिये। इनके बाद चौथी सुरा 'स्त्री' है, जिसने सारे जगत्को मोहित कर रखा है। मदिराको तो पीनेपर ही मनुष्य मतवाला होता है, परंतु युवती स्त्रीको देखते ही उन्मत्त हो उठता है। नारी देखनेमात्रसे ही मनमें उन्माद करती है, इसलिये उसके ऊपर दृष्टि न डाले। मन, वाणी और शरीरद्वारा चोरीसे सर्वथा बचे रहना 'अस्तेय' कहलाता है। यदि मनुष्य बलपूर्वक दूसरेकी किसी भी वस्तुका अपहरण करता है, तो उसे अवश्य तिर्यग्योनिमें जन्म लेना पड़ता है। यही दशा उसकी भी होती है, जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्वदेवके द्वारा देवता आदिका भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्यपदार्थ)-का भोजन कर लेता है। कौपीन, अपने शरीरको ढकनेवाला वस्त्र, शीतका कष्ट-निवारण करनेवाली कन्था (गुदड़ी) और खड़ाऊँ—इतनी ही वस्तुएँ साथ रखे। इनके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे—(यही अपरिग्रह है)। शरीरकी रक्षाके साधनभूत वस्त्र आदिका संग्रह किया जा सकता है। धर्मके अनुष्ठानमें लगे हुए शरीरकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये॥ १—१६ $\frac{1}{2}$ ॥

'शौच' दो प्रकारका बताया गया है—'बाह्य'

और 'आभ्यन्तर'। मिट्टी और जलसे 'बाह्यशुद्धि' होती है और भावकी शुद्धिको 'आभ्यन्तर शुद्धि' कहते हैं। दोनों ही प्रकारसे जो शुद्ध है, वही शुद्ध है, दूसरा नहीं। प्रारब्धके अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें हर्ष मानना 'संतोष' कहलाता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको 'तप' कहते हैं। मन और इन्द्रियोंपर विजय पाना सब धर्मोंसे श्रेष्ठ धर्म कहलाता है। 'तप' तीन प्रकारका होता है—वाचिक, मानसिक और शारीरिक। मन्त्रजप आदि 'वाचिक', आसक्तिका त्याग 'मानसिक' और देवपूजन आदि 'शारीरिक' तप हैं। यह तीनों प्रकारका तप सब कुछ देनेवाला है। वेद प्रणवसे ही आरम्भ होते हैं, अतः प्रणवमें सम्पूर्ण वेदोंकी स्थिति है। वाणीका जितना भी विषय है, सब प्रणव है; इसलिये प्रणवका अभ्यास करना चाहिये (यह स्वाध्यायके अन्तर्गत है)। 'प्रणव' अर्थात् 'ओंकार'में अकार, उकार तथा अर्धमात्राविशिष्ट मकार है। तीन मात्राएँ तीनों वेद, भूः आदि तीन लोक, तीन गुण, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीनों देवता प्रणवरूप हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, स्कन्द, देवी और महेश्वर तथा प्रद्युम्न, श्री और वासुदेव—ये सब क्रमशः ॐकारके ही स्वरूप हैं। ॐकार मात्रासे रहित अथवा अनन्त मात्राओंसे युक्त है। वह द्वैतकी निवृत्ति करनेवाला तथा शिवस्वरूप है। ऐसे ॐकारको जिसने जान लिया, वही मुनि है, दूसरा नहीं। प्रणवकी चतुर्थीमात्रा (जो अर्धमात्राके नामसे प्रसिद्ध है) 'गान्धारी' कहलाती है। वह प्रयुक्त होनेपर मूर्द्धामें लक्षित होती है। वही 'तुरीय' नामसे प्रसिद्ध परब्रह्म है। वह ज्योतिर्मय है। जैसे घड़ेके भीतर रखा हुआ दीपक वहाँ प्रकाश करता है, वैसे ही मूर्द्धामें स्थित परब्रह्म भी भीतर अपनी ज्ञानमयी ज्योति छिटकाये रहता है। मनुष्यको चाहिये कि मनसे हृदयकमलमें स्थित आत्मा या ब्रह्मका ध्यान करे और जिह्वासे सदा प्रणवका जप करता रहे। (यही 'ईश्वरप्रणिधान' है।) 'प्रणव' धनुष है, 'जीवात्मा' बाण है तथा 'ब्रह्म' उसका लक्ष्य कहा जाता है। सावधान होकर उस लक्ष्यका भेदन करना चाहिये और बाणके समान उसमें तन्मय हो जाना चाहिये। यह एकाक्षर (प्रणव) ही ब्रह्म है, यह एकाक्षर ही परम तत्त्व है, इस एकाक्षर ब्रह्मको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसको उसीकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रणवका देवी गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि हैं, परमात्मा देवता हैं तथा भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। इसके अङ्ग-न्यासकी विधि इस प्रकार है—'**ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः।**'—इस मन्त्रसे हृदयका स्पर्श करे। '**ॐ भुवः प्राजापत्यात्मने शिरसे स्वाहा।**' ऐसा कहकर मस्तकका स्पर्श करे। '**ॐ स्वः सर्वात्मने शिखायै वषट्।**'—इस मन्त्रसे शिखाका स्पर्श करे। अब कवच बताया जाता है—'**ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुम्।**' इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी अँगुलियोंद्वारा बायीं भुजाके मूलभागका और बायें हाथकी अँगुलियोंसे दाहिनी बाँहके मूलभागका एक ही साथ स्पर्श करे। तत्पश्चात् पुनः '**ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट्।**' कहकर चुटकी बजाये। इस प्रकार अङ्गन्यास करके भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये भगवान् विष्णुका पूजन, उनके नामोंका जप तथा उनके उद्देश्यसे तिल और घी आदिका हवन करे; इससे मनुष्यकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं। (यही ईश्वरपूजन है; इसका निष्कामभावसे ही अनुष्ठान

करना उत्तम है।) जो मनुष्य प्रतिदिन बारह हजार प्रणवका जप करता है, उसको बारह महीनेमें परब्रह्मका ज्ञान हो जाता है। एक करोड़ जप करनेसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, एक लाखके जपसे सरस्वती आदिकी कृपा होती है। विष्णुका यजन तीन प्रकारका होता है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। तीनोंमेंसे जो अभीष्ट हो, उसी एक विधिका आश्रय लेकर श्रीहरिकी पूजा करनी चाहिये। जो मनुष्य दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़कर भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है, उसे जिस उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है, वह सैकड़ों यज्ञोंके द्वारा दुर्लभ है। जिसकी आराध्यदेवमें पराभक्ति है और जैसी देवतामें है, वैसी ही गुरुके प्रति भी है, उसी महात्माको इन कहे हुए विषयोंका यथार्थ ज्ञान होता है॥ १७—३६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यम-नियम-निरूपण' नामक तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७२॥

तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! पद्मासन आदि नाना प्रकारके 'आसन' बताये गये हैं। उनमेंसे कोई भी आसन बाँधकर परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। पहले किसी पवित्र स्थानमें अपने बैठनेके लिये स्थिर आसन बिछावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा। सबसे नीचे कुशका आसन हो, उसके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो। उस आसनपर बैठकर मन और इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको रोकते हुए चित्तको एकाग्र करे तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगाभ्यासमें संलग्न हो जाय। उस समय शरीर, मस्तक और गलेको अविचलभावसे एक सीधमें रखते हुए स्थिर बैठे। केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे; अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टिपात न करे। दोनों पैरोंकी एड़ियोंसे अण्डकोष और लिङ्गकी रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाँघों)-के ऊपर भुजाओंको यत्नपूर्वक तिरछी करके रखे तथा बायें हाथकी हथेलीपर दाहिने हाथके पृष्ठभागको स्थापित करे और मुँहको कुछ ऊँचा करके सामनेकी ओर स्थिर रखे। इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करना चाहिये॥ १—५ $\frac{1}{2}$ ॥

अपने शरीरके भीतर रहनेवाली वायुको 'प्राण' कहते हैं। उसे रोकनेका नाम है—'आयाम'। अतः 'प्राणायाम'का अर्थ हुआ—'प्राणवायुको रोकना'। उसकी विधि इस प्रकार है—अपनी अँगुलीसे नासिकाके एक छिद्रको दबाकर दूसरे छिद्रसे उदरस्थित वायुको बाहर निकाले। 'रेचन' अर्थात् बाहर निकालनेके कारण इस क्रियाको 'रेचक' कहते हैं। तत्पश्चात् चमड़ेकी धोंकनीके समान शरीरको बाहरी वायुसे भरे। भर जानेपर कुछ कालतक स्थिरभावसे बैठा रहे। बाहरसे वायुकी पूर्ति करनेके कारण इस क्रियाका नाम 'पूरक' है। वायु भर जानेके पश्चात् जब साधक न तो भीतरी वायुको छोड़ता है और न बाहरी वायुको ग्रहण ही करता है, अपितु भरे हुए घड़ेकी भाँति अविचल-भावसे स्थिर रहता है, उस समय कुम्भवत् स्थिर होनेके कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है। बारह मात्रा (पल)-का एक 'उद्घात' होता है। इतनी देरतक

वायुको रोकना कनिष्ठ श्रेणीका प्राणायाम है। दो उद्धात अर्थात् चौबीस मात्रातक किया जानेवाला कुम्भक मध्यम श्रेणीका माना गया है तथा तीन उद्धात यानी छत्तीस मात्रातकका कुम्भक उत्तम श्रेणीका प्राणायाम है। जिससे शरीरसे पसीने निकलने लगें, कँपकँपी छा जाय तथा अभिघात लगने लगे, वह प्राणायाम अत्यन्त उत्तम है। प्राणायामकी भूमिकाओंमेंसे जिसपर भलीभाँति अधिकार न हो जाय, उनपर सहसा आरोहण न करे, अर्थात् क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें आरूढ़ होनेका यत्न करे। प्राणको जीत लेनेपर हिचकी और साँस आदिके रोग दूर हो जाते हैं तथा मल-मूत्रादिके दोष भी धीरे-धीरे कम हो जाते हैं। नीरोग होना, तेज चलना, मनमें उत्साह होना, स्वरमें माधुर्य आना, बल बढ़ना, शरीरवर्णमें स्वच्छताका आना तथा सब प्रकारके दोषोंका नाश हो जाना—ये प्राणायामसे होनेवाले लाभ हैं। प्राणायाम दो तरहके होते हैं—'अगर्भ' और 'सगर्भ'। जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम 'अगर्भ' है तथा जप और ध्यानके साथ किये जानेवाले प्राणायामको 'सगर्भ' कहते हैं। इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम होता है; उसीका अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान और वैराग्यसे युक्त होकर प्राणायामके अभ्याससे इन्द्रियोंको जीत लेनेपर सबपर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसे 'स्वर्ग' और 'नरक' कहते हैं, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं। वे ही वशमें होनेपर स्वर्गमें पहुँचाती हैं और स्वतन्त्र छोड़ देनेपर नरकमें ले जाती हैं। शरीरको 'रथ' कहते हैं, इन्द्रियाँ ही उसके 'घोड़े' हैं, मनको 'सारथि' कहा गया है और प्राणायामको 'चाबुक' माना गया है। ज्ञान और वैराग्यकी बागडोरमें बँधे हुए मनरूपी घोड़ेको प्राणायामसे आबद्ध करके जब अच्छी तरह काबूमें कर लिया जाता है तो वह धीरे-धीरे स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य सौ वर्षोंसे कुछ अधिक कालतक प्रतिमास कुशके अग्रभागसे जलकी एक बूँद लेकर उसे पीकर रह जाता है, उसकी वह तपस्या और प्राणायाम—दोनों बराबर हैं। विषयोंके समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ फँसी हुई इन्द्रियोंको जो आहूत करके, अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है, उसके इस प्रयत्नको 'प्रत्याहार' कहते हैं। जैसे जलमें डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलनेका प्रयत्न करता है, उसी प्रकार संसार-समुद्रमें डूबे हुए अपने-आपको स्वयं ही निकालनेका प्रयत्न करे। भोगरूपी नदीका वेग अत्यन्त बढ़ जानेपर उससे बचनेके लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानरूपी वृक्षका आश्रय लेना चाहिये॥ ६—२१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारका वर्णन' नामक तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७३॥

तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय

ध्यान

अग्निदेव कहते हैं—मुने! '**ध्यै—चिन्तायाम्**'—यह धातु है। अर्थात् 'ध्यै' धातुका प्रयोग चिन्तनके अर्थमें होता है। ('ध्यै'से ही 'ध्यान' शब्दकी सिद्धि होती है) अतः स्थिरचित्तसे भगवान् विष्णुका बारंबार चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। समस्त उपाधियोंसे मुक्त मनसहित आत्माका ब्रह्मविचारमें परायण होना भी 'ध्यान' ही है। ध्येयरूप आधारमें स्थित एवं सजातीय

प्रतीतियोंसे युक्त चित्तको जो विजातीय प्रतीतियोंसे रहित प्रतीति होती है, उसको भी 'ध्यान' कहते हैं। जिस किसी प्रदेशमें भी ध्येय वस्तुके चिन्तनमें एकाग्र हुए चित्तको प्रतीतिके साथ जो अभेद-भावना होती है, उसका नाम भी 'ध्यान' है। इस प्रकार ध्यानपरायण होकर जो अपने शरीरका परित्याग करता है, वह अपने कुल, स्वजन और मित्रोंका उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है। इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्ततक भी श्रद्धापूर्वक श्रीहरिका ध्यान करता है, वह भी जिस गतिको प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण महायज्ञोंके द्वारा भी कोई नहीं पा सकता॥ १—६॥

तत्त्ववेत्ता योगीको चाहिये कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यानका प्रयोजन—इन चार वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करके योगका अभ्यास करे। योगाभ्याससे मोक्ष तथा आठ प्रकारके महान् ऐश्वर्यों (अणिमा आदि सिद्धियों)-की प्राप्ति होती है। जो ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त तथा ध्यानमें सदा उत्साह रखनेवाला हो, ऐसा पुरुष ही 'ध्याता' माना गया है। 'व्यक्त और अव्यक्त, जो कुछ प्रतीत होता है, सब परम ब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है'—इस प्रकार विष्णुका चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरिको सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त तथा निष्कल जानना चाहिये। अणिमादि ऐश्वर्योंकी प्राप्ति तथा मोक्ष—ये ध्यानके प्रयोजन हैं। भगवान् विष्णु ही कर्मोंके फलकी प्राप्ति करानेवाले हैं, अतः उन परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये। वे ही ध्येय हैं। चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और आँख मींचते समय भी, शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें भी निरन्तर परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये॥ ७—११ $\frac{१}{२}$ ॥

अपने देहरूपी मन्दिरके भीतर मनमें स्थित हृदयकमलरूपी पीठके मध्यभागमें भगवान् केशवकी स्थापना करके ध्यानयोगके द्वारा उनका पूजन करे। ध्यानयज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध और सब दोषोंसे रहित है। उसके द्वारा भगवान्‌का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्यशुद्धिसे युक्त यज्ञोंद्वारा भी इस फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा आदि दोषोंसे मुक्त होनेके कारण ध्यान अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रमुख साधन और चित्तको वशमें करनेवाला है। इसलिये ध्यानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ और मोक्षरूपी फल प्रदान करनेवाला है; अतः अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन यज्ञ आदि कर्मोंका त्याग करके योगका ही विशेषरूपसे अभ्यास करे। पहले विकारयुक्त, अव्यक्त तथा भोग्य-भोगसे युक्त तीनों गुणोंका क्रमशः अपने हृदयमें ध्यान करे। तमोगुणको रजोगुणसे आच्छादित करके रजोगुणको सत्त्वगुणसे आच्छादित करे। इसके बाद पहले कृष्ण, फिर रक्त, तत्पश्चात् श्वेतवर्णवाले तीनों मण्डलोंका क्रमशः ध्यान करे। इस प्रकार जो गुणोंका ध्यान बताया गया, वह 'अशुद्ध ध्येय' है। उसका त्याग करके 'शुद्ध ध्येय'का चिन्तन करे। पुरुष (आत्मा) सत्त्वोपाधिक गुणोंसे अतीत चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ तत्त्व है, यह 'शुद्ध ध्येय' है। पुरुषके ऊपर उन्हींकी नाभिसे प्रकट हुआ एक दिव्य कमल स्थित है, जो प्रभुका ऐश्वर्य ही जान पड़ता है। उसका विस्तार बारह अंगुल है। वह शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्णका है। उसका मृणाल आठ अंगुलका है। उस कमलके आठ पत्तोंको अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य जानना चाहिये। उसकी कर्णिकाका केसर 'ज्ञान' तथा नाल 'उत्तम वैराग्य' है। 'विष्णु-धर्म' ही उसकी जड़ है। इस प्रकार कमलका चिन्तन करे। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं कल्याणमय ऐश्वर्य-स्वरूप उस श्रेष्ठ

कमलको, जो भगवान्‌का आसन है, जानकर मनुष्य अपने सब दु:खोंसे छुटकारा पा जाता है। उस कमलकर्णिकाके मध्यभागमें ओङ्काररमय ईश्वरका ध्यान करे। उनकी आकृति शुद्ध दीपशिखाके समान देदीप्यमान एवं अँगूठेके बराबर है। वे अत्यन्त निर्मल हैं। कदम्बपुष्पके समान उनका गोलाकार स्वरूप ताराकी भाँति स्थित है। अथवा कमलके ऊपर प्रकृति और पुरुषसे भी अतीत परमेश्वर विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करे तथा परम अक्षर ओंकारका निरन्तर जप करता रहे। साधकको अपने मनको स्थिर करनेके लिये पहले स्थूलका ध्यान करना चाहिये। फिर क्रमश: मनके स्थिर हो जानेपर उसे सूक्ष्म तत्त्वके चिन्तनमें लगाना चाहिये॥ १२—२६ $\frac{1}{2}$ ॥

(अब कमल आदिका ध्यान दूसरे प्रकारसे बतलाया जाता है—) नाभि-मूलमें स्थित जो कमलकी नाल है, उसका विस्तार दस अंगुल है। नालके ऊपर अष्टदल कमल है, जो बारह अंगुल विस्तृत है। उसकी कर्णिकाके केसरमें सूर्य, सोम तथा अग्नि—तीन देवताओंका मण्डल है। अग्नि-मण्डलके भीतर शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करनेवाले चतुर्भुज विष्णु अथवा आठ भुजाओंसे युक्त भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं। अष्टभुज भगवान्‌के हाथोंमें शङ्ख-चक्रादिके अतिरिक्त शार्ङ्गधनुष, अक्षमाला, पाश तथा अङ्कुश शोभा पाते हैं। उनके श्रीविग्रहका वर्ण श्वेत एवं सुवर्णके समान उद्दीप्त है। वक्ष:स्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और कौस्तुभमणि शोभा पा रहे हैं। गलेमें वनमाला और सोनेका हार है। कानोंमें मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं। मस्तकपर रत्नमय उज्ज्वल किरीट सुशोभित हैं। श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पाता है। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत हैं। उनका आकार बहुत बड़ा अथवा एक बित्तेका है। जैसी इच्छा हो, वैसी ही छोटी या बड़ी आकृतिका ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय ऐसी भावना करे कि 'मैं ज्योतिर्मय ब्रह्म हूँ—मैं ही नित्यमुक्त प्रणवरूप वासुदेवसंज्ञक परमात्मा हूँ।' ध्यानसे थक जानेपर मन्त्रका जप करे और जपसे थकनेपर ध्यान करे। इस प्रकार जो जप और ध्यान आदिमें लगा रहता है, उसके ऊपर भगवान् विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। दूसरे-दूसरे यज्ञ जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते। जप करनेवाले पुरुषके पास आधि, व्याधि और ग्रह नहीं फटकने पाते। जप करनेसे भोग, मोक्ष तथा मृत्यु-विजयरूप फलकी प्राप्ति होती है॥ २७—३५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ध्याननिरूपण' नामक तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७४॥

तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय

धारणा

अग्निदेव कहते हैं—मुने! ध्येय वस्तुमें जो मनकी स्थिति होती है, उसे 'धारणा' कहते हैं। ध्यानकी ही भाँति उसके भी दो भेद हैं—'साकार' और 'निराकार'। भगवान्‌के ध्यानमें जो मनको लगाया जाता है, उसे क्रमश: 'मूर्त' और 'अमूर्त' धारणा कहते हैं। इस धारणासे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। जो बाहरका लक्ष्य है, उससे मन जबतक विचलित नहीं होता, तबतक किसी भी प्रदेशमें मनकी स्थितिको 'धारणा' कहते हैं। देहके भीतर नियत समयतक जो

मनको रोक रखा जाता है और वह अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होता, यही अवस्था 'धारणा' कहलाती है। बारह आयामकी 'धारणा' होती है, बारह 'धारणा'का 'ध्यान' होता है तथा बारह ध्यानपर्यन्त जो मनकी एकाग्रता है, उसे 'समाधि' कहते हैं। जिसका मन धारणाके अभ्यासमें लगा हुआ है, उसी अवस्थामें यदि उसके प्राणोंका परित्याग हो जाय तो वह पुरुष अपने इक्कीस पीढ़ीका उद्धार करके अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्गपदको प्राप्त होता है। योगियोंके जिस-जिस अङ्गमें व्याधिकी सम्भावना हो, उस-उस अङ्गको बुद्धिसे व्याप्त करके तत्त्वोंकी धारणा करनी चाहिये। द्विजोत्तम! आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृतात्मिका—ये विष्णुकी चार प्रकारकी धारणा करनी चाहिये। उस समय अग्नियुक्त शिखामन्त्रका, जिसके अन्तमें 'फट्' शब्दका प्रयोग होता है, जप करना उचित है। नाड़ियोंके द्वारा विकट, दिव्य एवं शुभ शूलाग्रका वेधन करे। पैरके अँगूठेसे लेकर कपोलतक किरणोंका समूह व्याप्त है और वह बड़ी तेजीके साथ ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर फैल रहा है, ऐसी भावना करे। महामुने! श्रेष्ठ साधकको तबतक रश्मि-मण्डलका चिन्तन करते रहना चाहिये, जबतक कि वह अपने सम्पूर्ण शरीरको उसके भीतर भस्म होता न देखे। तदनन्तर उस धारणाका उपसंहार करे। इसके द्वारा द्विजगण शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापोंका विनाश करते हैं (यह 'आग्नेयी धारणा' है)॥ १—१०॥

तत्पश्चात् धीरभावसे विचार करते हुए मस्तक और कण्ठके अधोमुख होनेका चिन्तन करे। उस समय साधकका चित्त नष्ट नहीं होता। वह पुनः अपने अन्तःकरणद्वारा ध्यानमें लग जाय और ऐसी धारणा करे कि जलके अनन्त कण प्रकट होकर एक-दूसरेसे मिलकर हिमराशिको उत्पन्न करते हैं और उससे इस पृथ्वीपर जलकी धाराएँ प्रवाहित होकर सम्पूर्ण विश्वको आप्लावित कर रही हैं। इस प्रकार उस हिमस्पर्शसे शीतल अमृतस्वरूप जलके द्वारा क्षोभवश ब्रह्मरन्ध्रसे लेकर मूलाधारपर्यन्त सम्पूर्ण चक्र-मण्डलको आप्लावित करके सुषुम्णा नाड़ीके भीतर होकर पूर्ण चन्द्रमण्डलका चिन्तन करे। भूख-प्यास आदिके क्रमसे प्राप्त होनेवाले क्लेशोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर अपनी तुष्टिके लिये इस 'वारुणी धारणा' का चिन्तन करना चाहिये तथा उस समय आलस्य छोड़कर विष्णु-मन्त्रका जप करना भी उचित है। यह 'वारुणी धारणा' बतलायी गयी, अब 'ऐशानी धारणा'का वर्णन सुनिये॥ ११—१५॥

प्राण और अपानका क्षय होनेपर हृदयाकाशमें ब्रह्ममय कमलके ऊपर विराजमान भगवान् विष्णुके प्रसाद (अनुग्रह)-का तबतक चिन्तन करता रहे, जबतक कि सारी चिन्ताका नाश न हो जाय। तत्पश्चात् व्यापक ईश्वररूपसे स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभावका जप और चिन्तन करे। जबतक गुरुके मुखसे जीवात्माको ब्रह्मका ही अंश (या साक्षात् ब्रह्मरूप) नहीं जान लिया जाता, तबतक यह सम्पूर्ण चराचर जगत् असत्य होनेपर भी सत्यवत् प्रतीत होता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर यह सारा चराचर जगत्, प्रमाता, मान और मेय (ध्याता, ध्यान और ध्येय)—सब कुछ ध्यानगत हृदय-कमलमें लीन हो जाता है। जप, होम और पूजन आदिको माताकी दी हुई मिठाईकी भाँति मधुर एवं लाभकर जानकर विष्णुमन्त्रके द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक

अनुष्ठान करे। अब मैं 'अमृतमयी धारणा' बतला रहा हूँ—मस्तककी नाड़ीके केन्द्रस्थानमें पूर्ण चन्द्रमाके समान आकारवाले कमलका ध्यान करे तथा प्रयत्नपूर्वक यह भावना करे कि 'आकाशमें दस हजार चन्द्रमाके समान प्रकाशमान एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलोंसे परिपूर्ण है।' ऐसा ही ध्यान अपने हृदय-कमलमें भी करे और उसके मध्यभागमें अपने शरीरको स्थित देखे। धारणा आदिके द्वारा साधकके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं॥ १६—२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धारणानिरूपण' नामक तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७५॥

तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय

समाधि

अग्निदेव कहते हैं—जो चैतन्यस्वरूपसे युक्त और प्रशान्त समुद्रकी भाँति स्थिर हो, जिसमें आत्माके सिवा अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति न होती हो, उस ध्यानको 'समाधि' कहते हैं। जो ध्यानके समय अपने चित्तको ध्येयमें लगाकर वायुहीन प्रदेशमें जलती हुई अग्निशिखाकी भाँति अविचल एवं स्थिरभावसे बैठा रहता है, वह योगी 'समाधिस्थ' कहा गया है। जो न सुनता है, न सूँघता है, न देखता है, न रसास्वादन करता है, न स्पर्शका अनुभव करता है, न मनमें संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धिसे दूसरी किसी वस्तुको जानता ही है, केवल काष्ठकी भाँति अविचलभावसे ध्यानमें स्थित रहता है, ऐसे ईश्वरचिन्तनपरायण पुरुषको 'समाधिस्थ' कहते हैं। जैसे वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, यही उस समाधिस्थ योगीके लिये उपमा मानी गयी है। जो अपने आत्मस्वरूप श्रीविष्णुके ध्यानमें संलग्न रहता है, उसके सामने अनेक दिव्य विघ्न उपस्थित होते हैं। वे सिद्धिकी सूचना देनेवाले हैं। साधक ऊपरसे नीचे गिराया जाता है, उसके कानमें पीड़ा होती है, अनेक प्रकारके धातुओंके दर्शन होते हैं तथा उसे अपने शरीरमें बड़ी वेदनाका अनुभव होता है। देवतालोग उस योगीके पास आकर उससे दिव्य भोग स्वीकार करनेकी प्रार्थना करते हैं, राजा पृथ्वीका राज्य देनेकी बात कहते और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धनका लोभ दिखाते हैं। वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धिमें स्फुरित हो जाते हैं। उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषयसे युक्त उत्तम काव्यकी रचना होने लगती है। दिव्य रसायन, दिव्य ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, देवेश्वरोंकी कन्याएँ और प्रतिभा आदि सद्गुण भी उसके पास बिना बुलाये जाते हैं; किंतु जो इन सबको तिनकेके समान निस्सार मानकर त्याग देता है, उसीपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं॥ १—१०॥

अणिमा आदि गुणमयी विभूतियोंसे युक्त योगी पुरुषको उचित है कि वह शिष्यको ज्ञान दे। इच्छानुसार भोगोंका उपभोग करके लययोगकी रीतिसे शरीरका परित्याग करे और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवं ईश्वररूप अपने आत्मामें स्थित हो जाय। जैसे मलिन दर्पण शरीरका प्रतिबिम्ब

ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेके कारण शरीरका ज्ञान करानेकी क्षमता नहीं रखता, उसी प्रकार जिसका अन्त:करण परिपक्व (वासनाशून्य) नहीं है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है। देह सब प्रकारके रोगों और दु:खोंका आश्रय है; इसलिये देहाभिमानी जीव अपने शरीरमें वेदनाका अनुभव करता है। परंतु जो पुरुष योगयुक्त है, उसे योगके ही प्रभावसे किसी भी क्लेशका अनुभव नहीं होता। जैसे एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें पृथक्-पृथक्-सा प्रतीत होता है और एक ही सूर्य अनेक जलपात्रोंमें अनेक-सा जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा एक होता हुआ भी अनेक शरीरोंमें स्थित होनेके कारण अनेकवत् प्रतीत होता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत ब्रह्मके ही स्वरूप हैं। ये सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है; आत्मासे ही चराचर जगत्की अभिव्यक्ति होती है। जैसे कुम्हार मिट्टी, डंडा और चाकके संयोगसे घड़ा बनाता है, अथवा जिस प्रकार घर बनानेवाला मनुष्य तृण, मिट्टी और काठसे घर तैयार करता है, उसी प्रकार जीवात्मा इन्द्रियोंको साथ ले, कार्य-करण-संघातको एकचित्त करके भिन्न-भिन्न योनियोंमें अपनेको उत्पन्न करता है। कर्मसे, दोष और मोहसे तथा स्वेच्छासे ही जीव बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे ही उसकी मुक्ति होती है। योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करनेसे कभी रोगका भागी नहीं होता। जैसे बत्ती, तैलपात्र और तैल—इन तीनोंके संयोगसे ही दीपककी स्थिति है—इनमेंसे एकके अभावमें भी दीपक रह नहीं सकता, उसी प्रकार योग और धर्मके बिना विकार (रोग)-की प्राप्ति देखी जाती है और इस प्रकार अकालमें ही प्राणोंका क्षय हो जाता है॥ ११—१९ $\frac{1}{2}$ ॥

हमारे हृदयके भीतर जो दीपककी भाँति प्रकाशमान आत्मा है, उसकी अनन्त किरणें फैली हुई हैं, जो श्वेत, कृष्ण, पिङ्गल, नील, कपिल, पीत और रक्त वर्णकी हैं। उनमेंसे एक किरण ऐसी है, जो सूर्यमण्डलको भेदकर सीधे ऊपरको चली गयी है और ब्रह्मलोकको भी लाँघ गयी है; उसीके मार्गसे योगी पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है। उसके सिवा और भी सैकड़ों किरणें ऊपरकी ओर स्थित हैं। उनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओंके निवासभूत लोकोंमें जाता है। जो एक ही रंगकी बहुत-सी किरणें नीचेकी ओर स्थित हैं, उनकी कान्ति बड़ी कोमल है। उन्हींके द्वारा जीव इस लोकमें कर्मभोगके लिये आता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पाँच भूत तथा अव्यक्त प्रकृति—ये 'क्षेत्र' कहलाते हैं और आत्मा ही इस क्षेत्रका ज्ञान रखनेवाला 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। वही सम्पूर्ण भूतोंका ईश्वर है। सत्, असत् तथा सदसत्—सब उसीके स्वरूप हैं। व्यक्त प्रकृतिसे समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व)-की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारसे आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, जो उत्तरोत्तर एकाधिक गुणोंवाले हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमश: उन पाँचों भूतोंके गुण हैं। इनमेंसे जो भूत जिसके आश्रयमें है, वह उसीमें लीन होता है। सत्त्व, रज और तम—ये अव्यक्त प्रकृतिके ही गुण हैं। जीव रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हो चक्रकी भाँति घूमता रहता है। जो सबका 'आदि' होता हुआ स्वयं 'अनादि' है, वही परमपुरुष परमात्मा है। मन और इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है,

वह 'विकार' (विकृत होनेवाला प्राकृत तत्त्व) कहलाता है। जिससे वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य वाङ्मयकी अभिव्यक्ति हुई है, वही 'परमात्मा' है। पितृयानमार्गकी उपवीथीसे लेकर अगस्त्य ताराके बीचका जो मार्ग है, उससे संतानकी कामनावाले अग्निहोत्री लोग स्वर्गमें जाते हैं। जो भलीभाँति दानमें तत्पर तथा आठ गुणोंसे युक्त होते हैं, वे भी उसी भाँति यात्रा करते हैं। अठासी हजार गृहस्थ मुनि हैं, जो सब धर्मोंके प्रवर्तक हैं; वे ही पुनरावृत्तिके बीज (कारण) माने गये हैं। वे सप्तर्षियों तथा नागवीथीके बीचके मार्गसे देवलोकमें गये हैं। उतने ही (अर्थात् अठासी हजार) मुनि और भी हैं, जो सब प्रकारके आरामोंसे रहित हैं। वे तपस्या, ब्रह्मचर्य, आसक्ति, त्याग तथा मेधाशक्तिके प्रभावसे कल्पपर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्यलोकोंमें निवास करते हैं॥ २०—३५॥

वेदोंका निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्य-भाषण—ये आत्मज्ञानके हेतु हैं। समस्त द्विजातियोंको उचित है कि वे सत्त्वगुणका आश्रय लेकर आत्मतत्त्वका श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करें। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, जो वानप्रस्थ आश्रमका आश्रय ले चुके हैं और परम श्रद्धासे युक्त हो सत्यकी उपासना करते हैं, वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा विद्युत्के अभिमानी देवताओंके लोकोंमें जाते हैं। तदनन्तर मानस पुरुष वहाँ आकर उन्हें साथ ले जा, ब्रह्मलोकका निवासी बना देता है; उनकी इस लोकमें पुनरावृत्ति नहीं होती। जो लोग यज्ञ, तप और दानसे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त करते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमाके अभिमानी देवताओंके लोकोंमें जाते हैं और फिर आकाश, वायु एवं जलके मार्गसे होते हुए इस पृथ्वीपर लौट आते हैं। इस प्रकार वे इस लोकमें जन्म लेते और मृत्युके बाद पुनः उसी मार्गसे यात्रा करते हैं। जो जीवात्माके इन दोनों मार्गोंको नहीं जानता, वह साँप, पतंग अथवा कीड़ा-मकोड़ा होता है। हृदयाकाशमें दीपककी भाँति प्रकाशमान ब्रह्मका ध्यान करनेसे जीव अमृतस्वरूप हो जाता है। जो न्यायसे धनका उपार्जन करनेवाला, तत्त्वज्ञानमें स्थित, अतिथि-प्रेमी, श्राद्धकर्ता तथा सत्यवादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है॥ ३६—४४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समाधिनिरूपण' नामक तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७६॥

तीन सौ सतहत्तरवाँ अध्याय

श्रवण एवं मननरूप ज्ञान

अग्निदेव कहते हैं—अब मैं संसाररूप अज्ञानजनित बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये 'ब्रह्मज्ञान'का वर्णन करता हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ।' ऐसा निश्चय हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। घट आदि वस्तुओंकी भाँति यह देह दृश्य होनेके कारण आत्मा नहीं है; क्योंकि सो जानेपर अथवा मृत्यु हो जानेपर यह बात निश्चितरूपसे समझमें आ जाती है कि 'देहसे आत्मा भिन्न है'। यदि देह ही आत्मा होता तो सोने या मरनेके बाद भी

पूर्ववत् व्यवहार करता; (आत्माके) 'अविकारी' आदि विशेषणोंके समान विशेषणसे युक्त निर्विकाररूपमें प्रतीत होता। नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे 'करण' हैं। यही हाल मन और बुद्धिका भी है। वे भी दीपककी भाँति प्रकाशके 'करण' हैं, अत: आत्मा नहीं हो सकते। 'प्राण' भी आत्मा नहीं है; क्योंकि सुषुप्तावस्थामें उसपर जडताका प्रभाव रहता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें प्राणके साथ चैतन्य मिला-सा रहता है, इसलिये उसका पृथक् बोध नहीं होता; परंतु सुषुप्तावस्थामें प्राण विज्ञानरहित है—यह बात स्पष्टरूपसे जानी जाती है। अतएव आत्मा इन्द्रिय आदि रूप नहीं है। इन्द्रिय आदि आत्माके करणमात्र हैं। अहंकार भी आत्मा नहीं है; क्योंकि देहकी भाँति वह भी आत्मासे पृथक् उपलब्ध होता है। पूर्वोक्त देह आदिसे भिन्न यह आत्मा सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित है। यह रातमें जलते हुए दीपककी भाँति सबका द्रष्टा और भोक्ता है॥ १—७॥

समाधिके आरम्भकालमें मुनिको इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये—'ब्रह्मसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी तथा पृथ्वीसे सूक्ष्म शरीर प्रकट हुआ है।' अपञ्चीकृत भूतोंसे पञ्चीकृत भूतोंकी उत्पत्ति हुई है। फिर स्थूल शरीरका ध्यान करके ब्रह्ममें उसके लय होनेकी भावना करे। पञ्चीकृत भूत तथा उनके कार्योंको 'विराट्' कहते हैं। आत्माका वह स्थूल शरीर अज्ञानसे कल्पित है। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे धीर पुरुष 'जाग्रत्-अवस्था' मानते हैं। जाग्रत्के अभिमानी आत्माका नाम 'विश्व' है। ये (इन्द्रिय-विज्ञान, जाग्रत्-अवस्था और उसके अभिमानी देवता) तीनों प्रणवकी प्रथम मात्रा 'अकारस्वरूप' हैं। अपञ्चीकृत भूत और उनके कार्यको 'लिङ्ग' कहा गया है। सत्रह तत्त्वों (दस इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि)-से युक्त जो आत्माका सूक्ष्म शरीर है, जिसे 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है, उसीको 'लिङ्ग' कहते हैं। जाग्रत्-अवस्थाके संस्कारसे उत्पन्न विषयोंकी प्रतीतिको 'स्वप्न' कहा गया है। उसका अभिमानी आत्मा 'तैजस' नामसे प्रसिद्ध है। वह जाग्रत्के प्रपञ्चसे पृथक् तथा प्रणवकी दूसरी मात्रा 'उकाररूप' है। स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरोंका एक ही कारण है—'आत्मा'। आभासयुक्त ज्ञानको 'अध्याहत ज्ञान' कहते हैं। इन अवस्थाओंका साक्षी 'ब्रह्म' न सत् है, न असत् और न सदसत्रूप ही है। वह न तो अवयवयुक्त है और न अवयवसे रहित; न भिन्न है न अभिन्न; भिन्नाभिन्नरूप भी नहीं है। वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। इस बन्धनभूत संसारकी सृष्टि करनेवाला भी वही है। ब्रह्म एक है और केवल ज्ञानसे प्राप्त होता है; कर्मोंद्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती॥ ८—१७॥

जब बाह्यज्ञानके साधनभूत इन्द्रियोंका सर्वथा लय हो जाता है, केवल बुद्धिकी ही स्थिति रहती है, उस अवस्थाको 'सुषुप्ति' कहते हैं। 'बुद्धि' और 'सुषुप्ति' दोनोंके अभिमानी आत्माका नाम 'प्राज्ञ' है। ये तीनों 'मकार' एवं प्रणवरूप माने गये हैं। यह प्राज्ञ ही अकार, उकार और मकारस्वरूप है। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थभूत चित्स्वरूप आत्मा इन जाग्रत् और स्वप्न आदि अवस्थाओंका साक्षी है। उसमें अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारादिक बन्धन नहीं हैं। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द एवं अद्वैतस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ।

सर्वथा मुक्त प्रणव (ॐ) वाच्य परमेश्वर हूँ। मैं ही ज्ञान एवं समाधिरूप ब्रह्म हूँ। बन्धनका नाश करनेवाला भी मैं ही हूँ। चिरन्तन, आनन्दमय, सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि नामोंसे लक्षित परब्रह्म मैं ही हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है, वह ब्रह्म तुम हो'—इस प्रकार गुरुद्वारा बोध कराये जानेपर जीव यह अनुभव करता है कि मैं इस देहसे विलक्षण परब्रह्म हूँ। वह जो सूर्यमण्डलमें प्रकाशमय पुरुष है, वह मैं ही हूँ। मैं ही ॐकार तथा अखण्ड परमेश्वर हूँ। इस प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष इस असार संसारसे मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है॥ १८—२४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ब्रह्मज्ञाननिरूपण' नामक तीन सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७७॥

तीन सौ अठहत्तरवाँ अध्याय

निदिध्यासनरूप ज्ञान

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! मैं पृथ्वी, जल और अग्निसे रहित स्वप्रकाशमय परब्रह्म हूँ। मैं वायु और आकाशसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कारण और कार्यसे भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं विराट्स्वरूप (स्थूल ब्रह्माण्ड)-से पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जाग्रत्-अवस्थासे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं 'विश्व' रूपसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं आकार अक्षरसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं वाक्, पाणि और चरणसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग या योनि)-से रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कान, त्वचा और नेत्रसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं रस और रूपसे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सब प्रकारकी गन्धोंसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जिह्वा और नासिकासे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं स्पर्श और शब्दसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मन और बुद्धिसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं चित्त और अहंकारसे वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं प्राण और अपानसे पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं व्यान और उदानसे विलग ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं समान नामक वायुसे भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जरा और मृत्युसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शोक और मोहकी पहुँचसे दूर ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं क्षुधा और पिपासासे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शब्दोत्पत्ति आदिसे वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं हिरण्यगर्भसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं स्वप्नावस्थासे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं तैजस आदिसे पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं अपकार आदिसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं समाज्ञानसे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं अध्याहारसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सत्त्वादि गुणोंसे विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सदसद्भावसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सब अवयवोंसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं भेदाभेदसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सुषुप्तावस्थासे शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं प्राज्ञ-भावसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मकारादिसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मान और मेयसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मिति (माप) और माता (माप करनेवाले)-से भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं साक्षित्व आदिसे रहित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कार्य-कारणसे भिन्न ज्योतिर्मय

परब्रह्म हूँ। मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहंकाररहित तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदिसे मुक्त तुरीय ब्रह्म हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द और अद्वैतरूप ब्रह्म हूँ। मैं विज्ञानयुक्त ब्रह्म हूँ। मैं सर्वथा मुक्त और प्रणवरूप हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ और मोक्ष देनेवाला समाधिरूप परमात्मा भी मैं ही हूँ॥ १—२३॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ब्रह्मज्ञाननिरूपण' नामक तीन सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७८॥

तीन सौ उन्यासीवाँ अध्याय

भगवत्स्वरूपका वर्णन तथा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका उपाय

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! धर्मात्मा पुरुष यज्ञके द्वारा देवताओंको, तपस्याद्वारा विराट्के पदको, कर्मके संन्यासद्वारा ब्रह्मपदको, वैराग्यसे प्रकृतिमें लयको और ज्ञानसे कैवल्यपद (मोक्ष)-को प्राप्त होता है—इस प्रकार ये पाँच गतियाँ मानी गयी हैं। प्रसन्नता, संताप और विषाद आदिसे निवृत्त होना 'वैराग्य' है। जो कर्म किये जा चुके हैं तथा जो अभी नहीं किये गये हैं, उन सब (की आसक्ति, फलेच्छा और संकल्प) का परित्याग 'संन्यास' कहलाता है। ऐसा हो जानेपर अव्यक्तसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी पदार्थोंके प्रति अपने मनमें कोई विकार नहीं रह जाता। जड और चेतनकी भिन्नताका ज्ञान (विवेक) होनेसे ही 'परमार्थज्ञान'की प्राप्ति बतलायी जाती है। परमात्मा सबके आधार हैं; वे ही परमेश्वर हैं। वेदों और वेदान्तों (उपनिषदों) में 'विष्णु' नामसे उनका यशोगान किया जाता है। वे यज्ञोंके स्वामी हैं। प्रवृत्तिमार्गसे चलनेवाले लोग यज्ञपुरुषके रूपमें उनका यजन करते हैं तथा निवृत्तिमार्गके पथिक ज्ञानयोगके द्वारा उन ज्ञानस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करते हैं। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि वचन उन पुरुषोत्तमके ही स्वरूप हैं॥ १—६॥

महामुने! उनकी प्राप्तिके दो हेतु बताये गये हैं—'ज्ञान' और 'कर्म'। 'ज्ञान' दो प्रकारका है—'आगमजन्य' और 'विवेकजन्य'। शब्दब्रह्म (वेदादि शास्त्र और प्रणव) का बोध 'आगमजन्य' है तथा परब्रह्मका ज्ञान 'विवेकजन्य' ज्ञान है। 'ब्रह्म' दो प्रकारसे जाननेयोग्य है—'शब्दब्रह्म' और 'परब्रह्म'। वेदादि विद्याको 'शब्दब्रह्म' या 'अपरब्रह्म' कहते हैं और सत्स्वरूप अक्षरतत्त्व 'परब्रह्म' कहलाता है। यह परब्रह्म ही 'भगवत्' शब्दका मुख्य वाच्यार्थ है। पूजा (सम्मान) आदि अन्य अर्थोंमें जो उसका प्रयोग होता है, वह औपचारिक (गौण) है। महामुने! 'भगवत्' शब्दमें जो 'भकार' है, उसके दो अर्थ हैं—पोषण करनेवाला और सबका आधार तथा 'गकार'का अर्थ है—नेता (कर्मफलकी प्राप्ति करानेवाला), गमयिता (प्रेरक) और स्रष्टा (सृष्टि करनेवाला)। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, पराक्रम (अथवा धर्म), यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छ:का नाम 'भग' है। विष्णुमें सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं। वे भगवान् सबके धारक तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन रूपोंमें विराजमान हैं। अत: श्रीहरिमें ही 'भगवान्' पद मुख्यवृत्तिसे विद्यमान है, अन्य किसीके लिये तो उसका

उपचार (गौणवृत्ति)-से ही प्रयोग होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पत्ति-विनाश, आवागमन तथा विद्या-अविद्याको जानता है, वही 'भगवान्' कहलानेयोग्य है। त्याग करनेयोग्य दुर्गुण आदिको छोड़कर सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, परम ऐश्वर्य, वीर्य तथा समग्र तेज—ये 'भगवत्' शब्दके वाच्यार्थ हैं॥ ७—१४॥

पूर्वकालमें राजा केशिध्वजने खाण्डिक्य जनकसे इस प्रकार उपदेश दिया था—"अनात्मामें जो आत्मबुद्धि होती है, अपने स्वरूपकी भावना होती है, वही अविद्याजनित संसारबन्धनका कारण है। इस अज्ञानकी 'अहंता' और 'ममता'—दो रूपोंमें स्थिति है। देहाभिमानी जीव मोहान्धकारसे आच्छादित हो, कुत्सित बुद्धिके कारण इस पाञ्चभौतिक शरीरमें यह दृढ़ भावना कर लेता है कि 'मैं ही यह देह हूँ।' इसी प्रकार इस शरीरसे उत्पन्न किये हुए पुत्र-पौत्र आदिमें 'ये मेरे हैं'—ऐसी निश्चित धारणा बना लेता है। विद्वान् पुरुष अनात्मभूत शरीरमें समभाव रखता है—उसके प्रति वह राग-द्वेषके वशीभूत नहीं होता। मनुष्य अपने शरीरकी भलाईके लिये ही सारे कार्य करता है; किंतु जब पुरुषसे शरीर भिन्न है, तो वह सारा कर्म केवल बन्धनका ही कारण होता है। वास्तवमें तो आत्मा निर्वाणमय (शान्त), ज्ञानमय तथा निर्मल है। दुःखानुभवरूप जो धर्म है, वह प्रकृतिका है, आत्माका नहीं; जैसे जल स्वयं तो अग्निसे असङ्ग है, किंतु आगपर रखी हुई बटलोईके संसर्गसे उसमें तापजनित खलखलाहट आदिके शब्द होते हैं। महामुने! इसी प्रकार आत्मा भी प्रकृतिके सङ्गसे अहंता-ममता आदि दोष स्वीकार करके प्राकृत धर्मोंको ग्रहण करता है; वास्तवमें तो वह उनसे सर्वथा भिन्न और अविनाशी है। विषयोंमें आसक्त हुआ मन बन्धनका कारण होता है और वही जब विषयोंसे निवृत्त हो जाता है तो ज्ञान-प्राप्तिमें सहायक होता है। अतः मनको विषयोंसे हटाकर ब्रह्मस्वरूप श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये। मुने! जैसे चुम्बक पत्थर लोहेको अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार जो ब्रह्मका ध्यान करता है, उसे वह ब्रह्म अपनी ही शक्तिसे अपने स्वरूपमें मिला लेता है। अपने प्रयत्नकी अपेक्षासे जो मनकी विशिष्ट गति होती है, उसका ब्रह्मसे संयोग होना ही 'योग' कहलाता है। जो पुरुष स्थिरभावसे समाधिमें स्थित होता है, वह परब्रह्मको प्राप्त होता है॥ १५—२५॥

"अतः यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणजय, प्राणायाम, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाने तथा उन्हें अपने वशमें करने आदि उपायोंके द्वारा चित्तको किसी शुभ आश्रयमें स्थापित करे। 'ब्रह्म' ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह 'मूर्त' और 'अमूर्त' रूपसे दो प्रकारका है। सनक-सनन्दन आदि मुनि ब्रह्मभावनासे युक्त हैं तथा देवताओंसे लेकर स्थावर-जङ्गम-पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी कर्म-भावनासे युक्त हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदिमें ब्रह्मभावना और कर्मभावना दोनों ही हैं। इस तरह यह तीन प्रकारकी भावना बतायी गयी है। 'सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है'—इस भावसे ब्रह्मकी उपासना की जाती है। जहाँ सब भेद शान्त हो जाते हैं, जो सत्तामात्र और वाणीका अगोचर है तथा जिसे स्वसंवेद्य (स्वयं ही अनुभव करनेयोग्य) माना गया है, वही 'ब्रह्मज्ञान' है। वही रूपहीन विष्णुका उत्कृष्ट स्वरूप है, जो अजन्मा और अविनाशी है। अमूर्तरूपका ध्यान पहले कठिन होता है,

अतः मूर्त आदिका ही चिन्तन करे। ऐसा करनेवाला मनुष्य भगवद्भावको प्राप्त हो परमात्माके साथ एकीभूत—अभिन्न हो जाता है। भेदकी प्रतीति तो अज्ञानसे ही होती है"॥ २६—३२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ब्रह्मज्ञाननिरूपण' नामक तीन सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७९॥

तीन सौ असीवाँ अध्याय

जडभरत और सौवीर-नरेशका संवाद—अद्वैत ब्रह्मविज्ञानका वर्णन

अब मैं उस 'अद्वैत ब्रह्मविज्ञान'का वर्णन करूँगा, जिसे भरतने (सौवीरराजको) बतलाया था। प्राचीनकालकी बात है, राजा भरत शालग्रामक्षेत्रमें रहकर भगवान् वासुदेवकी पूजा आदि करते हुए तपस्या कर रहे थे। उनकी एक मृगके प्रति आसक्ति हो गयी थी, इसलिये अन्तकालमें उसीका स्मरण करते हुए प्राण त्यागनेके कारण उन्हें मृग होना पड़ा। मृगयोनिमें भी वे 'जातिस्मर' हुए—उन्हें पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण रहा। अतः उस मृगशरीरका परित्याग करके वे स्वयं ही योगबलसे एक ब्राह्मणके रूपमें प्रकट हुए। उन्हें अद्वैत ब्रह्मका पूर्ण बोध था। वे साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, तो भी लोकमें जडवत् (ज्ञानशून्य मूककी भाँति) व्यवहार करते थे। उन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर सौवीर-नरेशके सेवकने बेगारमें लगानेके योग्य समझा (और राजाकी पालकी ढोनेमें नियुक्त कर दिया)। सेवकके कहनेसे वे सौवीरराजकी पालकी ढोने लगे। यद्यपि वे ज्ञानी थे, तथापि बेगारमें पकड़ जानेपर अपने प्रारब्धभोगका क्षय करनेके लिये राजाका भार वहन करने लगे; परंतु उनकी गति मन्द थी। वे पालकीमें पीछेकी ओर लगे थे तथा उनके सिवा दूसरे जितने कहार थे, वे सब-के-सब तेज चल रहे थे। राजाने देखा, 'अन्य कहार शीघ्रगामी हैं तथा तीव्रगतिसे चल रहे हैं। यह जो नया आया है, इसकी गति बहुत मन्द है।' तब वे बोले॥ १—५॥

राजाने कहा—अरे! क्या तू थक गया? अभी तो तूने थोड़ी ही दूरतक मेरी पालकी ढोयी है। क्या परिश्रम नहीं सहा जाता? क्या तू मोटा-ताजा नहीं है? देखनेमें तो खूब मुस्टंड जान पड़ता है॥ ६॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! न मैं मोटा हूँ, न मैंने तुम्हारी पालकी ढोयी है, न मुझे थकावट आयी है, न परिश्रम करना पड़ा है और न मुझपर तुम्हारा कुछ भार ही है। पृथ्वीपर दोनों पैर हैं, पैरोंपर जङ्घाएँ हैं, जङ्घाओंके ऊपर ऊरु और ऊरुओंके ऊपर उदर (पेट) है। उदरके ऊपर वक्षःस्थल, भुजाएँ और कंधे हैं तथा कंधोंके ऊपर यह पालकी रखी गयी है। फिर मेरे ऊपर यहाँ कौन-सा भार है? इस पालकीपर तुम्हारा कहा जानेवाला यह शरीर रखा हुआ है। वास्तवमें तुम वहाँ (पालकीमें) हो और मैं यहाँ (पृथ्वी) पर हूँ—ऐसा जो कहा जाता है, वह सब मिथ्या है। सौवीरनरेश! मैं, तुम तथा अन्य जितने भी जीव हैं, सबका भार पञ्चभूतोंके द्वारा ही ढोया जा रहा है। ये पञ्चभूत भी गुणोंके प्रवाहमें पड़कर चल रहे हैं। पृथ्वीनाथ! सत्त्व आदि गुण कर्मोंके अधीन हैं तथा कर्म अविद्याके द्वारा संचित हैं, जो सम्पूर्ण जीवोंमें वर्तमान हैं। आत्मा तो शुद्ध, अक्षर (अविनाशी), शान्त,

निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही आत्मा है। उसकी न तो कभी वृद्धि होती है और न ह्रास ही होता है। राजन्! जब उसकी वृद्धि नहीं होती और ह्रास भी नहीं होता तो तुमने किस युक्तिसे व्यङ्ग्यपूर्वक यह प्रश्न किया है कि 'क्या तू मोटा-ताजा नहीं है?' यदि पृथ्वी, पैर, जङ्घा, ऊरु, कटि और उदर आदि आधारों एवं कंधोंपर रखी हुई यह पालकी मेरे लिये भारस्वरूप हो सकती है तो यह आपत्ति तुम्हारे लिये भी समान ही है, अर्थात् तुम्हारे लिये भी यह भाररूप कही जा सकती है तथा इस युक्तिसे अन्य सभी जन्तुओंने भी केवल पालकी ही नहीं उठा रखी है, पर्वत, पेड़, घर और पृथ्वी आदिका भार भी अपने ऊपर ले रखा है। नरेश! सोचो तो सही, जब प्रकृतिजन्य साधनोंसे पुरुष सर्वथा भिन्न है तो कौन-सा महान् भार मुझे सहन करना पड़ता है? जिस द्रव्यसे यह पालकी बनी है, उसीसे मेरे, तुम्हारे तथा इन सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंका निर्माण हुआ है; इन सबकी समान द्रव्योंसे पुष्टि हुई है॥ ७—१८॥

—यह सुनकर राजा पालकीसे उतर पड़े और ब्राह्मणके चरण पकड़कर क्षमा माँगते हुए बोले—'भगवन्! अब पालकी छोड़कर मुझपर कृपा कीजिये। मैं आपके मुखसे कुछ सुनना चाहता हूँ; मुझे उपदेश दीजिये। साथ ही यह भी बताइये कि आप कौन हैं? और किस निमित्त अथवा किस कारणसे यहाँ आपका आगमन हुआ है?'॥ १९॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! सुनो—'मैं अमुक हूँ'—यह बात नहीं कही जा सकती। (तथा तुमने जो आनेका कारण पूछा है, उसके सम्बन्धमें मुझे इतना ही कहना है कि) कहीं भी आने-जानेकी क्रिया कर्मफलका उपयोग करनेके लिये ही होती है। सुख-दुःखके उपभोग ही भिन्न-भिन्न देश (अथवा शरीर) आदिकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा धर्माधर्मजनित सुख-दुःखोंको भोगनेके लिये ही जीव नाना प्रकारके देश (अथवा शरीर) आदिको प्राप्त होता है॥ २०-२१॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! 'जो है' (अर्थात् जो आत्मा सत्स्वरूपसे विराजमान है तथा कर्त्ता-भोक्तारूपमें प्रतीत हो रहा है) उसे 'मैं हूँ'—यों कहकर क्यों नहीं बताया जा सकता? द्विजवर! आत्माके लिये **'अहम्'** शब्दका प्रयोग तो दोषावह नहीं जान पड़ता॥ २२॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! आत्माके लिये **'अहम्'** शब्दका प्रयोग दोषावह नहीं है, तुम्हारा यह कथन बिलकुल ठीक है; परंतु अनात्मामें आत्मत्वका बोध करानेवाला **'अहम्'** शब्द तो दोषावह है ही। अथवा जहाँ कोई भी शब्द भ्रमपूर्ण अर्थको लक्षित कराता हो, वहाँ उसका प्रयोग दोषयुक्त ही है। जब सम्पूर्ण शरीरमें एक ही आत्माकी स्थिति है, तो 'कौन तुम और कौन मैं हूँ' ये सब बातें व्यर्थ हैं। राजन्! 'तुम राजा हो, यह पालकी है, हमलोग इसे ढोनेवाले कहार हैं, ये आगे चलनेवाले सिपाही हैं तथा यह लोक तुम्हारे अधिकारमें है'—यह जो कहा जाता है, यह सत्य नहीं है। वृक्षसे लकड़ी होती है और लकड़ीसे यह पालकी बनी है, जिसके ऊपर तुम बैठे हुए हो। सौवीरनरेश! बोलो तो, इसका 'वृक्ष' और 'लकड़ी' नाम क्या हो गया? कोई भी चेतन मनुष्य यह नहीं कहता कि 'महाराज' वृक्ष अथवा लकड़ीपर चढ़े हुए हैं।' सब तुम्हें पालकीपर ही सवार बतलाते हैं। (किंतु पालकी क्या है?) नृपश्रेष्ठ! रचनाकलाके द्वारा एक विशेष आकारमें परिणत हुई लकड़ियोंका समूह

ही तो पालकी है। यदि तुम इसे कोई भिन्न वस्तु मानते हो तो इसमेंसे लकड़ियोंको अलग करके 'पालकी' नामकी कोई चीज ढूँढ़ो तो सही। 'यह पुरुष, यह स्त्री, यह गौ, यह घोड़ा, यह हाथी, यह पक्षी और यह वृक्ष है'—इस प्रकार कर्मजनित भिन्न-भिन्न शरीरोंमें लोगोंने नाना प्रकारके नामोंका आरोप कर लिया है। इन संज्ञाओंको लोककल्पित ही समझना चाहिये। जिह्वा '**अहम्**' (मैं)-का उच्चारण करती है, दाँत, होठ, तालु और कण्ठ आदि भी उसका उच्चारण करते हैं, किंतु ये '**अहम्**' (मैं) पदके वाच्यार्थ नहीं है; क्योंकि ये सब-के-सब शब्दोच्चारणके साधनमात्र हैं। किन कारणों या उक्तियोंसे जिह्वा कहती है कि ''वाणी ही '**अहम्**' (मैं) हूँ।'' यद्यपि जिह्वा यह कहती है, तथापि 'यदि मैं वाणी नहीं हूँ' ऐसा कहा जाय तो यह कदापि मिथ्या नहीं है। राजन्! मस्तक और गुदा आदिके रूपमें जो शरीर है, वह पुरुष (आत्मा)-से सर्वथा भिन्न है, ऐसी दशामें मैं किस अवयवके लिये '**अहम्**' संज्ञाका प्रयोग करूँ? भूपालशिरोमणे! यदि मुझ (आत्मा)-से भिन्न कोई भी अपनी पृथक् सत्ता रखता हो तो 'यह मैं हूँ', 'यह दूसरा है'—ऐसी बात भी कही जा सकती है। वास्तवमें पर्वत, पशु तथा वृक्ष आदिका भेद सत्य नहीं है। शरीरदृष्टिसे ये जितने भी भेद प्रतीत हो रहे हैं, सब-के-सब कर्मजन्य हैं। संसारमें जिसे 'राजा' या 'राजसेवक' कहते हैं, वह तथा और भी इस तरहकी जितनी संज्ञाएँ हैं, वे कोई भी निर्विकार सत्य नहीं हैं। भूपाल! तुम सम्पूर्ण लोकके राजा हो, अपने पिताके पुत्र हो, शत्रुके लिये शत्रु हो, धर्मपत्नीके पति हो और पुत्रके पिता हो—इतने नामोंके होते हुए मैं तुम्हें क्या कहकर पुकारूँ? पृथ्वीनाथ! क्या यह मस्तक तुम हो? किंतु जैसे मस्तक तुम्हारा है, वैसे ही उदर भी तो है? (फिर उदर क्यों नहीं हो?) तो क्या इन पैर आदि अङ्गोंमेंसे तुम कोई हो? नहीं, तो ये सब तुम्हारे क्या हैं? महाराज! इन समस्त अवयवोंसे तुम पृथक् हो, अतः इनसे अलग होकर ही अच्छी तरह विचार करो कि 'वास्तवमें मैं कौन हूँ'॥ २३—३७$\frac{१}{२}$॥

यह सुनकर राजाने उन भगवत्स्वरूप अवधूत ब्राह्मणसे कहा॥ ३८॥

राजा बोले— ब्रह्मन्! मैं आत्मकल्याणके लिये उद्यत होकर महर्षि कपिलके पास कुछ पूछनेके लिये जा रहा था। आप भी मेरे लिये इस पृथ्वीपर महर्षि कपिलके ही अंश हैं, अतः आप ही मुझे ज्ञान दें। जिससे ज्ञानरूपी महासागरकी प्राप्ति होकर परम कल्याणकी सिद्धि हो, वह उपाय मुझे बताइये॥ ३९-४०॥

ब्राह्मणने कहा— राजन्! तुम फिर कल्याणका ही उपाय पूछने लगे। 'परमार्थ क्या है?' यह नहीं पूछते। 'परमार्थ' ही सब प्रकारके कल्याणोंका स्वरूप है। मनुष्य देवताओंकी आराधना करके धन-सम्पत्तिकी इच्छा करता है, पुत्र और राज्य पाना चाहता है; किंतु सौवीरनरेश! तुम्हीं बताओ, क्या यही उसका श्रेय है? (इसीसे उसका कल्याण होगा?) विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें तो परमात्माकी प्राप्ति ही श्रेय है; यज्ञादिकी क्रिया तथा द्रव्यकी सिद्धिको वह श्रेय नहीं मानता। परमात्मा और आत्माका संयोग—उनके एकत्वका बोध ही 'परमार्थ' माना गया है। परमात्मा एक अर्थात् अद्वितीय है। वह सर्वत्र समानरूपसे व्यापक, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, जन्म-वृद्धि आदिसे रहित, सर्वगत, अविनाशी, उत्कृष्ट, ज्ञानस्वरूप, गुण-जाति आदिके संसर्गसे रहित एवं विभु है। अब मैं तुम्हें निदाघ और ऋतु (ऋभु)-का संवाद सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो—ऋतु ब्रह्माजीके पुत्र और ज्ञानी थे।

पुलस्त्यनन्दन निदाघने उनकी शिष्यता ग्रहण की। ऋतुसे विद्या पढ़ लेनेके पश्चात् निदाघ देविका नदीके तटपर एक नगरमें जाकर रहने लगे। ऋतुने अपने शिष्यके निवासस्थानका पता लगा लिया था। हजार दिव्य वर्ष बीतनेके पश्चात् एक दिन ऋतु निदाघको देखनेके लिये गये। उस समय निदाघ बलिवैश्वदेवके अनन्तर अन्न-भोजन करके अपने शिष्यसे कह रहे थे—'भोजनके बाद मुझे तृप्ति हुई है; क्योंकि भोजन ही अक्षय-तृप्ति प्रदान करनेवाला है।' (यह कहकर वे तत्काल आये हुए अतिथिसे भी तृप्तिके विषयमें पूछने लगे) ॥ ४१—४८ ॥

तब ऋतुने कहा—ब्राह्मण! जिसको भूख लगी होती है, उसीको भोजनके पश्चात् तृप्ति होती है। मुझे तो कभी भूख ही नहीं लगी, फिर मेरी तृप्तिके विषयमें क्यों पूछते हो? भूख और प्यास देहके धर्म हैं। मुझ आत्माका ये कभी स्पर्श नहीं करते। तुमने पूछा है, इसलिये कहता हूँ। मुझे सदा ही तृप्ति बनी रहती है। पुरुष (आत्मा) आकाशकी भाँति सर्वत्र व्याप्त है और मैं वह प्रत्यगात्मा ही हूँ; अतः तुमने जो मुझसे यह पूछा कि 'आप कहाँसे आते हैं?' यह प्रश्न कैसे सार्थक हो सकता है? मैं न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ और न किसी एक स्थानमें रहता हूँ। न तुम मुझसे भिन्न हो, न मैं तुमसे अलग हूँ। जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे लीपनेपर सुदृढ़ होता है, उसी प्रकार यह पार्थिव देह ही पार्थिव अन्नके परमाणुओंसे पुष्ट होता है। ब्रह्मन्! मैं तुम्हारा आचार्य ऋतु हूँ और तुम्हें ज्ञान देनेके लिये यहाँ आया हूँ; अब जाऊँगा। तुम्हें परमार्थतत्त्वका उपदेश कर दिया। इस प्रकार तुम इस सम्पूर्ण जगत्को एकमात्र वासुदेवसंज्ञक परमात्माका ही स्वरूप समझो; इसमें भेदका सर्वथा अभाव है ॥ ४९—५५ ॥

तत्पश्चात् एक हजार वर्ष व्यतीत होनेपर ऋतु पुनः उस नगरमें गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा—'निदाघ नगरके पास एकान्त स्थानमें खड़े हैं।' तब वे उनसे बोले—'भैया! इस एकान्त स्थानमें क्यों खड़े हो?' ॥ ५६ ॥

निदाघने कहा—ब्रह्मन्! मार्गमें मनुष्योंकी बहुत बड़ी भीड़ खड़ी है; क्योंकि ये नरेश इस समय इस रमणीय नगरमें प्रवेश करना चाहते हैं, इसीलिये मैं यहाँ ठहर गया हूँ ॥ ५७ ॥

ऋतुने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! तुम यहाँकी सब बातें जानते हो; बताओ। इनमें कौन नरेश हैं और कौन दूसरे लोग हैं? ॥ ५८ ॥

निदाघने कहा—ब्रह्मन्! जो इस पर्वतशिखरके समान खड़े हुए मतवाले गजराजपर चढ़े हैं, वही ये नरेश हैं तथा जो उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हैं, वे ही दूसरे लोग हैं। यह नीचेवाला जीव हाथी है और ऊपर बैठे हुए सज्जन महाराज हैं ॥ ५९ १/२ ॥

ऋतुने कहा—'मुझे समझाकर बताओ, इनमें कौन राजा है और कौन हाथी?' निदाघ बोले—'अच्छा, बतलाता हूँ।' यह कहकर निदाघ ऋतुके ऊपर चढ़ गये और बोले—'अब दृष्टान्त देखकर तुम वाहनको समझ लो। मैं तुम्हारे ऊपर राजाके समान बैठा हूँ और तुम मेरे नीचे हाथीके समान खड़े हो।' तब ऋतुने निदाघसे कहा—'मैं कौन हूँ और तुम्हें क्या कहूँ?' इतना सुनते ही निदाघ उतरकर उनके चरणोंमें पड़ गये और बोले— 'निश्चय ही आप मेरे गुरुजी महाराज हैं; क्योंकि दूसरे किसीका हृदय ऐसा नहीं है, जो निरन्तर अद्वैत-संस्कारसे सुसंस्कृत रहता हो।' ऋतुने निदाघसे कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मका बोध करानेके लिये आया था और परमार्थ-सारभूत अद्वैततत्त्वका दर्शन तुम्हें करा दिया' ॥ ६०—६४ ॥

ब्राह्मण (जडभरत) कहते हैं—राजन्! निदाघ

उस उपदेशके प्रभावसे अद्वैतपरायण हो गये। अब वे सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनेसे अभिन्न देखने लगे। उन्होंने ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त किया था, उसी प्रकार तुम भी प्राप्त करोगे। तुम, मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत्—सब एकमात्र व्यापक विष्णुका ही स्वरूप है। जैसे एक ही आकाश नीले-पीले आदि भेदोंसे अनेक-सा दिखायी देता है, उसी प्रकार भ्रान्तदृष्टिवाले पुरुषोंको एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखायी देता है॥ ६५—६७॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठजी! इस सारभूत ज्ञानके प्रभावसे सौवीरनरेश भव-बन्धनसे मुक्त हो गये। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस अज्ञानमय संसारवृक्षका शत्रु है, इसका निरन्तर चिन्तन करते रहिये॥ ६८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अद्वैत ब्रह्मका निरूपण' नामक तीन सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३८०॥

तीन सौ इक्यासीवाँ अध्याय

गीता-सार

अब मैं गीताका सार बतलाऊँगा, जो समस्त गीताका उत्तम-से-उत्तम अंश है। पूर्वकालमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उसका उपदेश दिया था। वह भोग तथा मोक्ष—दोनोंको देनेवाला है॥ १॥

श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन! जिसका प्राण चला गया है अथवा जिसका प्राण अभी नहीं गया है, ऐसे मरे हुए अथवा जीवित किसी भी देहधारीके लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा अजन्मा, अजर, अमर तथा अभेद्य है, इसलिये शोक आदिको छोड़ देना चाहिये। विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उनमें आसक्ति हो जाती है; आसक्तिसे काम, कामसे क्रोध और क्रोधसे अत्यन्त मोह (विवेकका अभाव) होता है। मोहसे स्मरणशक्तिका ह्रास और उससे बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिके नाशसे उसका सर्वनाश हो जाता है। सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे बुरे सङ्ग छूट जाते हैं—(आसक्तियाँ दूर हो जाती हैं)। फिर मनुष्य अन्य सब कामनाओंका त्याग करके केवल मोक्षकी कामना रखता है। कामनाओंके त्यागसे मनुष्यकी आत्मा अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिति होती है, उस समय वह 'स्थिरप्रज्ञ' कहलाता है। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रि है, अर्थात् समस्त जीव जिसकी ओरसे बेखबर होकर सो रहे हैं, उस परमात्माके स्वरूपमें भगवत्प्राप्त संयमी (योगी) पुरुष जागता रहता है तथा जिस क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखमें सब भूत-प्राणी जागते हैं, अर्थात् जो विषय-भोग उनके सामने दिनके समान प्रकट हैं, वह ज्ञानी मुनिके लिये रात्रिके ही समान है। जो अपने-आपमें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है। इस संसारमें उस आत्माराम पुरुषको न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न न करनेसे ही। महाबाहो! जो गुण-विभाग और कर्म-विभागके तत्त्वको जानता है, वह यह समझकर कि सम्पूर्ण गुण गुणोंमें ही बरत रहे हैं, कहीं आसक्त नहीं होता। अर्जुन! तुम ज्ञानरूपी नौकाका सहारा लेनेसे निश्चय ही सम्पूर्ण पापोंको तर जाओगे। ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको जलाकर भस्म कर

डालती है। जो सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता—ठीक उसी तरह जैसे कमलका पत्ता पानीसे लिप्त नहीं होता। जिसका अन्तःकरण योगयुक्त है—परमानन्दमय परमात्मामें स्थित है तथा जो सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला है, वह योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें तथा सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध आचार-विचारवाले श्रीमानों (धनवानों)-के घरमें जन्म लेता है। तात! कल्याणमय शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता॥ २—११ $\frac{१}{२}$ ॥

"मेरी यह त्रिगुणमयी माया अलौकिक है; इसका पार पाना बहुत कठिन है। जो केवल मेरी शरण लेते हैं, वे ही इस मायाको लाँघ पाते हैं। भरतश्रेष्ठ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरा भजन करते हैं। इनमेंसे ज्ञानी तो मुझसे एकीभूत होकर स्थित रहता है। अविनाशी परम-तत्त्व (सच्चिदानन्दमय परमात्मा) 'ब्रह्म' है, स्वभाव अर्थात् जीवात्माको 'अध्यात्म' कहते हैं, भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले विसर्गका (यज्ञ-दान आदिके निमित्त किये जानेवाले द्रव्यादिके त्यागका) नाम 'कर्म' है, विनाशशील पदार्थ 'अधिभूत' है तथा पुरुष (हिरण्यगर्भ) 'अधिदैवत' है। देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस देहके भीतर मैं वासुदेव ही 'अधियज्ञ' हूँ। अन्तकालमें मेरा स्मरण करनेवाला पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए अपने देहका परित्याग करता है, उसीको वह प्राप्त होता है। मृत्युके समय जो प्राणोंको भौंहोंके मध्यमें स्थापित करके **'ओम्'**—इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करते हुए देहत्याग करता है, वह मुझ परमेश्वरको ही प्राप्त करता है। ब्रह्माजीसे लेकर तुच्छ कीटतक जो कुछ दिखायी देता है, सब मेरी ही विभूतियाँ हैं। जितने भी श्रीसम्पन्न और शक्तिशाली प्राणी हैं, सब मेरे अंश हैं। 'मैं अकेला ही सम्पूर्ण विश्वके रूपमें स्थित हूँ'—ऐसा जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है"॥ १२—१९॥

"यह शरीर 'क्षेत्र' है; जो इसे जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'को जो यथार्थरूपसे जानना है, वही मेरे मतमें 'ज्ञान' है। पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (मूलप्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना और धृति—यह विकारोंसहित 'क्षेत्र' है, जिसे यहाँ संक्षेपसे बतलाया गया है। अभिमानशून्यता, दम्भका अभाव, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन, इन्द्रिय एवं शरीरका निग्रह, विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका न होना, जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग आदिमें दुःखरूप दोषका बारंबार विचार करना, पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें आसक्ति और ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही समानचित्त रहना (हर्ष-शोकके वशीभूत न होना), मुझ परमेश्वरमें अनन्य-भावसे अविचल भक्तिका होना, पवित्र एवं एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव, विषयी मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका अभाव, अध्यात्म-ज्ञानमें स्थिति तथा तत्त्व-ज्ञानस्वरूप परमेश्वरका निरन्तर दर्शन—यह सब 'ज्ञान' कहा गया है और जो इसके विपरीत है, वह 'अज्ञान' है"॥ २०—२७॥

"अब जो 'ज्ञेय' अर्थात् जाननेके योग्य है, उसका वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य

अमृत-स्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। 'ज्ञेय तत्त्व' अनादि है और 'परब्रह्म'के नामसे प्रसिद्ध है। उसे न 'सत्' कहा जा सकता है, न 'असत्'। (वह इन दोनोंसे विलक्षण है।) उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है। सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। सबका धारण-पोषण करनेवाला होकर भी आसक्तिरहित है तथा गुणोंका भोक्ता होकर भी 'निर्गुण' है। वह परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर विद्यमान है। 'चर' और 'अचर' सब उसीके स्वरूप हैं। सूक्ष्म होनेके कारण वह 'अविज्ञेय' है। वही निकट है और वही दूर। यद्यपि वह विभागरहित है (आकाशकी भाँति अखण्डरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है), तथापि सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त पृथक्-पृथक् स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है। उसे विष्णुरूपसे सब प्राणियोंका पोषक, रुद्ररूपसे सबका संहारक और ब्रह्माके रूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला जानना चाहिये। वह सूर्य आदि ज्योतियोंकी भी ज्योति (प्रकाशक) है। उसकी स्थिति अज्ञानमय अन्धकारसे परे बतलायी जाती है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य, तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है"॥ २८—३३॥

"उस परमात्माको कितने ही मनुष्य सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा अपने अन्तःकरणमें देखते हैं। दूसरे लोग सांख्ययोगके द्वारा तथा कुछ अन्य मनुष्य कर्मयोगके द्वारा देखते हैं। इनके अतिरिक्त जो मन्द बुद्धिवाले साधारण मनुष्य हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए भी दूसरे ज्ञानी पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। वे सुनकर उपासनामें लगनेवाले पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरसे निश्चय ही पार हो जाते हैं। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है, अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, जो मान-अपमानमें तथा मित्र और शत्रुपक्षमें भी समानभाव रखता है, जिसने कर्तृत्वके अभिमानको त्याग दिया है, वह 'निर्गुण' (गुणातीत) कहलाता है। जिसकी जड़ ऊपरकी ओर (अर्थात् परमात्मा है) और 'शाखा' नीचेकी ओर (यानी ब्रह्माजी आदि) हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षको अनादि प्रवाहरूपसे 'अविनाशी' कहते हैं। वेद उसके पत्ते हैं। जो उस वृक्षको मूलसहित यथार्थरूपसे जानता है, वही वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है। इस संसारमें प्राणियोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है—एक 'दैवी'—देवताओंके-से स्वभाववाली और दूसरी 'आसुरी'—असुरोंके-से स्वभाववाली। अतः मनुष्योंके अहिंसा आदि सद्गुण और क्षमा 'दैवी सम्पत्ति' है। 'आसुरी सम्पत्ति'से जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसमें न शौच होता है, न सदाचार। क्रोध, लोभ और काम—ये नरक देनेवाले हैं, अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे यज्ञ, तप और दान तीन प्रकारके माने गये हैं (सात्त्विक, राजस और तामस)। 'सात्त्विक' अन्न आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और सुखकी वृद्धि करनेवाला है। तीखा और रूखा अन्न 'राजस' है। वह दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाला है। अपवित्र, जूठा, दुर्गन्धयुक्त और नीरस आदि अन्न 'तामस' माना गया है। 'यज्ञ करना कर्तव्य है'—यह समझकर निष्कामभावसे विधिपूर्वक किया जानेवाला यज्ञ 'सात्त्विक' है। फलकी इच्छासे किया हुआ यज्ञ 'राजस' और दम्भके

लिये किया जानेवाला यज्ञ 'तामस' है। श्रद्धा और मन्त्र आदिसे युक्त एवं विधि-प्रतिपादित जो देवता आदिकी पूजा तथा अहिंसा आदि तप है, उन्हें 'शारीरिक तप' कहते हैं। अब वाणीसे किये जानेवाले तपको बताया जाता है। जिससे किसीको उद्वेग न हो—ऐसा सत्य वचन, स्वाध्याय और जप—यह 'वाङ्मय तप' है। चित्तशुद्धि, मौन और मनोनिग्रह—ये 'मानस तप' हैं। कामनारहित तप 'सात्त्विक' फल आदिके लिये किया जानेवाला तप 'राजस' तथा दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये किया हुआ तप 'तामस' कहलाता है। उत्तम देश, काल और पात्रमें दिया हुआ दान 'सात्त्विक' है, प्रत्युपकारके लिये दिया जानेवाला दान 'राजस' है तथा अयोग्य देश, काल आदिमें अनादरपूर्वक दिया हुआ दान 'तामस' कहा गया है। 'ॐ', 'तत्', और 'सत्'—ये परब्रह्म परमात्माके तीन प्रकारके नाम बताये गये हैं। यज्ञ-दान आदि कर्म मनुष्योंको भोग एवं मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। जिन्होंने कामनाओंका त्याग नहीं किया है, उन सकामी पुरुषोंके कर्मका बुरा, भला और मिला हुआ—तीन प्रकारका फल होता है। यह फल मृत्युके पश्चात् प्राप्त होता है। संन्यासी (त्यागी पुरुषों)-के कर्मोंका कभी कोई फल नहीं होता। मोहवश जो कर्मोंका त्याग किया जाता है, वह 'तामस' है, शरीरको कष्ट पहुँचनेके भयसे किया हुआ त्याग 'राजस' है तथा कामनाके त्यागसे सम्पन्न होनेवाला त्याग 'सात्त्विक' कहलाता है। अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न करण, नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा दैव—ये पाँच ही कर्मके कारण हैं। सब भूतोंमें एक परमात्माका ज्ञान 'सात्त्विक', भेदज्ञान 'राजस' और अतात्त्विक ज्ञान 'तामस' है। निष्काम भावसे किया हुआ कर्म 'सात्त्विक', कामनाके लिये किया जानेवाला 'राजस' तथा मोहवश किया हुआ कर्म 'तामस' है। कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें सम (निर्विकार) रहनेवाला कर्ता 'सात्त्विक', हर्ष और शोक करनेवाला 'राजस' तथा शठ और आलसी कर्ता 'तामस' कहलाता है। कार्य-अकार्यके तत्त्वको समझनेवाली बुद्धि 'सात्त्विकी', उसे ठीक-ठीक न जाननेवाली बुद्धि 'राजसी' तथा विपरीत धारणा रखनेवाली बुद्धि 'तामसी' मानी गयी है। मनको धारण करनेवाली धृति 'सात्त्विकी', प्रीतिकी कामनावाली धृति 'राजसी' तथा शोक आदिको धारण करनेवाली धृति 'तामसी' है। जिसका परिणाम सुखद हो, वह सत्त्वसे उत्पन्न होनेवाला 'सात्त्विक सुख' है। जो आरम्भमें सुखद प्रतीत होनेपर भी परिणाममें दुःखद हो वह 'राजस सुख' है तथा जो आदि और अन्तमें भी दुःख-ही-दुःख है, वह आपाततः प्रतीत होनेवाला सुख 'तामस' कहा गया है। जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस विष्णुको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। जो सब अवस्थाओंमें और सर्वदा मन, वाणी एवं कर्मके द्वारा ब्रह्मासे लेकर तुच्छ कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्को भगवान् विष्णुका स्वरूप समझता है, वह भगवान्‌में भक्ति रखनेवाला भागवत पुरुष सिद्धिको प्राप्त होता है"॥ ३४—५८॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'गीता-सार-निरूपण' नामक तीन सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३८१॥

तीन सौ बयासीवाँ अध्याय

यमगीता

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! अब मैं 'यमगीता'का वर्णन करूँगा, जो यमराजके द्वारा नचिकेताके प्रति कही गयी थी। यह पढ़ने और सुननेवालोंको भोग प्रदान करती है तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले सत्पुरुषोंको मोक्ष देनेवाली है॥ १॥

यमराजने कहा—अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अत्यन्त मोहके कारण स्वयं अस्थिरचित्त होकर आसन, शय्या, वाहन, परिधान (पहननेके वस्त्र आदि) तथा गृह आदि भोगोंको सुस्थिर मानकर प्राप्त करना चाहता है। कपिलजीने कहा है—'भोगोंमें आसक्तिका अभाव तथा सदा ही आत्मतत्त्वका चिन्तन—यह मनुष्योंके परमकल्याणका उपाय है।' 'सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टि तथा ममता और आसक्तिका न होना—यह मनुष्योंके परमकल्याणका साधन है'—यह आचार्य पञ्चशिखका उद्‌गार है। गर्भसे लेकर जन्म और बाल्य आदि वय तथा अवस्थाओंके स्वरूपको ठीक-ठीक समझना ही मनुष्योंके परमकल्याणका हेतु है'—यह गङ्गा-विष्णुका गान है। 'आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दु:ख आदि-अन्तवाले हैं, अर्थात् ये उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, अत: इन्हें क्षणिक समझकर धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, विचलित नहीं होना चाहिये—इस प्रकार उन दु:खोंका प्रतिकार ही मनुष्योंके लिये परमकल्याणका साधन है'—यह महाराज जनकका मत है। 'जीवात्मा और परमात्मा वस्तुत: अभिन्न (एक) हैं; इनमें जो भेदकी प्रतीति होती है, उसका निवारण करना ही परमकल्याणका हेतु है'—यह ब्रह्माजीका सिद्धान्त है। जैगीषव्यका कहना है कि 'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदमें प्रतिपादित जो कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य समझकर अनासक्तभावसे करना श्रेयका साधन है।' 'सब प्रकारकी विधित्सा (कर्मारम्भकी आकाङ्क्षा)-का परित्याग आत्माके सुखका साधन है; यही मनुष्योंके लिये परम श्रेय है'—यह देवलका मत बताया गया है। 'कामनाओंके त्यागसे विज्ञान, सुख, ब्रह्म एवं परमपदकी प्राप्ति होती है। कामना रखनेवालोंको ज्ञान नहीं होता'—यह सनकादिकोंका सिद्धान्त है॥ २—१०॥

"दूसरे लोग कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों प्रकारके कर्म करने चाहिये। परंतु वास्तवमें नैष्कर्म्य ही ब्रह्म है; वही भगवान् विष्णुका स्वरूप है—यही श्रेयका भी श्रेय है। जिस पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वह संतोंमें श्रेष्ठ है; वह अविनाशी परब्रह्म विष्णुसे कभी भेदको नहीं प्राप्त होता। ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता, सौभाग्य तथा उत्तम रूप तपस्यासे उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने मनसे जो-जो वस्तु पाना चाहता है, वह सब तपस्यासे प्राप्त हो जाती है। विष्णुके समान कोई ध्येय नहीं है, निराहार रहनेसे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है, आरोग्यके समान कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं है और गङ्गाजीके तुल्य दूसरी कोई नदी नहीं है। जगद्‌गुरु भगवान् विष्णुको छोड़कर दूसरा कोई बान्धव नहीं है।* 'नीचे-ऊपर, आगे,

* नास्ति विष्णुसमं ध्येयं तपो नानशनात् परम्। नास्त्यारोग्यसमं धन्यं नास्ति गङ्गासमा सरित्।
न सोऽस्ति बान्धव: कश्चिद् विष्णुं मुक्त्वा जगद्‌गुरुम्॥ (३८२। १४-१५)

देह, इन्द्रिय, मन तथा मुख—सबमें और सर्वत्र भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं।' इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन करते हुए जो प्राणोंका परित्याग करता है, वह साक्षात् श्रीहरिके स्वरूपमें मिल जाता है। वह जो सर्वत्र व्यापक ब्रह्म है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो सर्वस्वरूप है तथा यह सब कुछ जिसका संस्थान (आकार-विशेष) है, जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है, जिसका किसी नाम आदिके द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, जो सुप्रतिष्ठित एवं सबसे परे है, उस परापर ब्रह्मके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु ही सबके हृदयमें विराजमान हैं। वे यज्ञके स्वामी तथा यज्ञस्वरूप हैं; उन्हें कोई तो परब्रह्मरूपसे प्राप्त करना चाहते हैं, कोई विष्णुरूपसे, कोई शिवरूपसे, कोई ब्रह्मा और ईश्वररूपसे, कोई इन्द्रादि नामोंसे तथा कोई सूर्य, चन्द्रमा और कालरूपसे उन्हें पाना चाहते हैं। ब्रह्मासे लेकर कीटतक सारे जगत्‌को विष्णुका ही स्वरूप कहते हैं। वे भगवान् विष्णु परब्रह्म परमात्मा हैं, जिनके पास पहुँच जानेपर (जिन्हें जान लेने या पा लेनेपर) फिर वहाँसे इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता। सुवर्ण-दान आदि बड़े-बड़े दान तथा पुण्य-तीर्थोंमें स्नान करनेसे, ध्यान लगानेसे, व्रत करनेसे, पूजासे और धर्मकी बातें सुनने (एवं उनका पालन करने)-से उनकी प्राप्ति होती है"॥ ११—२० १/२ ॥

"आत्माको 'रथी' समझो और शरीरको 'रथ'। बुद्धिको 'सारथि' जानो और मनको 'लगाम'। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको 'घोड़े' कहते हैं और विषयोंको उनके 'मार्ग' तथा शरीर, इन्द्रिय और मनसहित आत्माको 'भोक्ता' कहते हैं। जो बुद्धिरूप सारथि अविवेकी होता है, जो अपने मनरूपी लगामको कसकर नहीं रखता, वह उत्तम पदको (परमात्माको) नहीं प्राप्त होता; संसाररूपी गर्तमें गिरता है। परंतु जो विवेकी होता है और मनको काबूमें रखता है, वह उस परमपदको प्राप्त होता है, जिससे वह फिर जन्म नहीं लेता। जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न और मनरूपी लगामको काबूमें रखनेवाला होता है, वही संसाररूपी मार्गको पार करता है, जहाँ विष्णुका परमपद है। इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) है, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूलप्रकृति) है और अव्यक्तसे परे पुरुष (परमात्मा) है। पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है, वही सीमा है, वही परमगति है। सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमें नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धिसे ही उसे देख पाते हैं। विद्वान् पुरुष वाणीको मनमें और मनको विज्ञानमयी बुद्धिमें लीन करे। इसी प्रकार बुद्धिको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें लीन करे"॥ २१—२९ १/२ ॥

"यम-नियमादि साधनोंसे ब्रह्म और आत्माकी एकताको जानकर मनुष्य सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न करना)—ये पाँच 'यम' कहलाते हैं। 'नियम' भी पाँच ही हैं—शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), संतोष, उत्तम तप, स्वाध्याय और ईश्वरपूजा। 'आसन' बैठनेकी प्रक्रियाका नाम है; उसके 'पद्मासन' आदि कई भेद हैं। प्राणवायुको जीतना 'प्राणायाम' है। इन्द्रियोंका निग्रह 'प्रत्याहार' कहलाता है। ब्रह्मन्! एक शुभ विषयमें जो चित्तको स्थिरतापूर्वक स्थापित करना होता है,

* इस 'यमगीता'का आधार 'कठोपनिषद्'का 'यम-नचिकेता-संवाद' है।

उसे बुद्धिमान् पुरुष 'धारणा' कहते हैं। एक ही विषयमें बारंबार धारणा करनेका नाम 'ध्यान' है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकारके अनुभवमें स्थिति होनेको 'समाधि' कहते हैं। जैसे घड़ा फूट जानेपर घटाकाश महाकाशसे अभिन्न (एक) हो जाता है, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त होता है—वह सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। ज्ञानसे ही जीव अपनेको ब्रह्म मानता है, अन्यथा नहीं। अज्ञान और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर जीव अजर-अमर हो जाता है"॥ ३०—३६॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यह मैंने 'यमगीता'[१] बतलायी है। इसे पढ़नेवालोंको यह भोग और मोक्ष प्रदान करती है। वेदान्तके अनुसार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिका होना 'आत्यन्तिक लय' कहलाता है॥ ३७॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यमगीताका कथन' नामक तीन सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३८२॥

तीन सौ तिरासीवाँ अध्याय

अग्निपुराणका माहात्म्य

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! 'अग्निपुराण' ब्रह्मस्वरूप है, मैंने तुमसे इसका वर्णन किया। इसमें कहीं संक्षेपसे और कहीं विस्तारके साथ 'परा' और 'अपरा'—इन दो विद्याओंका प्रतिपादन किया गया है। यह महापुराण है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-नामक वेदविद्या, विष्णु-महिमा, संसार-सृष्टि, छन्द, शिक्षा, व्याकरण, निघण्टु (कोष), ज्यौतिष, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि, मीमांसा, विस्तृत न्यायशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण-विद्या, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, वेदान्त और महान् (परमेश्वर) श्रीहरि—यह सब 'अपरा विद्या' है तथा परम अक्षर तत्त्व 'परा विद्या' है। (इस पुराणमें इन दोनों विद्याओंका विषय वर्णित है।) 'यह सब कुछ विष्णु ही है'—ऐसा जिसका भाव हो, उसे कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता। बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान और पितरोंका श्राद्ध न करके भी यदि मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णका पूजन करे तो वह पापका भागी नहीं होता। विष्णु सबके कारण हैं। उनका निरन्तर ध्यान करनेवाला पुरुष कभी कष्टमें नहीं पड़ता। यदि परतन्त्रता आदि दोषोंसे प्रभावित होकर तथा विषयोंके प्रति चित्त आकृष्ट हो जानेके कारण मनुष्य पाप-कर्म कर बैठे तो भी गोविन्दका ध्यान करके वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। दूसरी-दूसरी बहुत-सी बातें बनानेसे क्या लाभ? 'ध्यान' वही है, जिसमें गोविन्दका चिन्तन होता हो, 'कथा' वही है, जिसमें केशवका कीर्तन हो रहा हो और 'कर्म' वही है, जो श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किया जाय।[२] वसिष्ठजी! जिस परमोत्कृष्ट परमार्थतत्त्वका उपदेश न तो पिता पुत्रको और न गुरु शिष्यको कर सकता है, वही इस अग्निपुराणके रूपमें मैंने आपके प्रति किया है। द्विजवर! संसारमें भटकनेवाले पुरुषको स्त्री, पुत्र और धन-वैभव मिल सकते हैं तथा अन्य अनेकों सुहृदोंकी भी प्राप्ति हो सकती है, परंतु ऐसा उपदेश नहीं मिल सकता। स्त्री, पुत्र, मित्र, खेती-बारी और बन्धु-बान्धवोंसे क्या लेना है? यह उपदेश ही सबसे बड़ा बन्धु है; क्योंकि

१. इस 'यमगीता'का आधार 'कठोपनिषद्'का 'यम-नचिकेता-संवाद' है।

२. तद् ध्यानं यत्र गोविन्दः सा कथा यत्र केशवः। तत्कर्म यत्तदर्थीयं किमन्यैर्बहुभाषितैः॥ (३८३। ८)

यह संसारसे मुक्ति दिलानेवाला है॥ १—११॥

प्राणियोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है—'दैवी' और 'आसुरी'। जो भगवान् विष्णुकी भक्तिमें लगा हुआ है, वह 'दैवी सृष्टि'के अन्तर्गत है तथा जो भगवान्से विमुख है, वह 'आसुरी सृष्टि'का मनुष्य है—असुर है। यह अग्निपुराण, जिसका मैंने तुम्हें उपदेश किया है, परम पवित्र, आरोग्य एवं धनका साधक, दुःस्वप्नका नाश करनेवाला, मनुष्योंको सुख और आनन्द देनेवाला तथा भव-बन्धनसे मोक्ष दिलानेवाला है। जिनके घरोंमें हस्तलिखित अग्निपुराणकी पोथी मौजूद होगी, वहाँ उपद्रवोंका जोर नहीं चल सकता। जो मनुष्य प्रतिदिन अग्निपुराण-श्रवण करते हैं, उन्हें तीर्थ-सेवन, गोदान, यज्ञ तथा उपवास आदिकी क्या आवश्यकता है? जो प्रतिदिन एक प्रस्थ तिल और एक माशा सुवर्ण दान करता है तथा जो अग्निपुराणका एक ही श्लोक सुनता है, उन दोनोंका फल समान है। श्लोक सुनानेवाला पुरुष तिल और सुवर्ण-दानका फल पा जाता है। इसके एक अध्यायका पाठ गोदानसे बढ़कर है। इस पुराणको सुननेकी इच्छामात्र करनेसे दिन-रातका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। वृद्धपुष्कर-तीर्थमें सौ कपिला गौओंका दान करनेसे जो फल मिलता है, वही अग्निपुराणका पाठ करनेसे मिल जाता है। 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति'रूप धर्म तथा 'परा' और 'अपरा' नामवाली दोनों विद्याएँ इस 'अग्निपुराण' नामक शास्त्रकी समानता नहीं कर सकतीं। वसिष्ठजी! प्रतिदिन अग्निपुराणका पाठ अथवा श्रवण करनेवाला भक्त-मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है। जिस घरमें अग्निपुराणकी पुस्तक रहेगी, वहाँ विघ्न-बाधाओं, अनर्थों तथा चोरों आदिका भय नहीं होगा। जहाँ अग्निपुराण रहेगा, उस घरमें गर्भपातका भय न होगा, बालकोंको ग्रह नहीं सतायेंगे तथा पिशाच आदिका भय भी निवृत्त हो जायगा। इस पुराणका श्रवण करनेवाला ब्राह्मण वेदवेत्ता होता है, क्षत्रिय पृथ्वीका राजा होता है, वैश्य धन पाता है, शूद्र नीरोग रहता है। जो भगवान् विष्णुमें मन लगाकर सर्वत्र समानदृष्टि रखते हुए ब्रह्मस्वरूप अग्निपुराणका प्रतिदिन पाठ या श्रवण करता है, उसके दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम आदि सारे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस पुस्तकके पढ़ने-सुनने और पूजन करनेवाले पुरुषके और भी जो कुछ पाप होते हैं, उन सबको भगवान् केशव नष्ट कर देते हैं। जो मनुष्य हेमन्त-ऋतुमें गन्ध और पुष्प आदिसे पूजा करके श्रीअग्निपुराणका श्रवण करता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। शिशिर-ऋतुमें इसके श्रवणसे पुण्डरीकका तथा वसन्त-ऋतुमें अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। गर्मीमें वाजपेयका, वर्षामें राजसूयका तथा शरद्-ऋतुमें इस पुराणका पाठ और श्रवण करनेसे एक हजार गोदान करनेका फल प्राप्त होता है। वसिष्ठजी! जो भगवान् विष्णुके सम्मुख बैठकर भक्तिपूर्वक अग्निपुराणका पाठ करता है, वह मानो ज्ञानयज्ञके द्वारा श्रीकेशवका पूजन करता है। जिसके घरमें हस्तलिखित अग्निपुराणकी पुस्तक पूजित होती है, उसे सदा ही विजय प्राप्त होती है तथा भोग और मोक्ष—दोनों ही उसके हाथमें रहते हैं—यह बात पूर्वकालमें कालाग्निस्वरूप श्रीहरिने स्वयं ही मुझसे बतायी थी। आग्नेय पुराण ब्रह्मविद्या एवं अद्वैतज्ञान रूप है॥ १२—३१॥

वसिष्ठजी कहते हैं—व्यास! यह अग्निपुराण 'परा-अपरा'—दोनों विद्याओंका स्वरूप है। इसे विष्णुने ब्रह्मासे तथा अग्निदेवने समस्त देवताओं और मुनियोंके साथ बैठे हुए मुझसे जिस रूपमें सुनाया, उसी रूपमें मैंने तुम्हारे सामने इसका वर्णन किया है। अग्निदेवके द्वारा वर्णित यह

'आग्नेय पुराण' वेदके तुल्य माननीय है तथा यह सभी विषयोंका ज्ञान करानेवाला है। व्यास! जो इसका पाठ या श्रवण करेगा, जो इसे स्वयं लिखेगा या दूसरोंसे लिखायेगा, शिष्योंको पढ़ायेगा या सुनायेगा अथवा इस पुस्तकका पूजन या धारण करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त एवं पूर्णमनोरथ होकर स्वर्गलोकमें जायगा। जो इस उत्तम पुराणको लिखाकर ब्राह्मणोंको दान देता है, वह ब्रह्मलोकमें जाता है तथा अपने कुलकी सौ पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। जो एक श्लोकका भी पाठ करता है, उसका पाप-पङ्कसे छुटकारा हो जाता है। इसलिये व्यास! इस सर्वदर्शनसंग्रहरूप पुराणको तुम्हें श्रवणकी इच्छा रखनेवाले शुकादि मुनियोंके साथ अपने शिष्योंको सदा सुनाते रहना चाहिये। अग्निपुराणका पठन और चिन्तन अत्यन्त शुभ तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। जिन्होंने इस पुराणका गान किया है, उन अग्निदेवको नमस्कार है॥ ३२—३८॥

व्यासजी कहते हैं—सूत! पूर्वकालमें वसिष्ठजीके मुखसे सुना हुआ यह अग्निपुराण मैंने तुम्हें सुनाया है। 'परा' और 'अपरा' विद्या इसका स्वरूप है। यह परम पद प्रदान करनेवाला है। आग्नेय पुराण परम दुर्लभ है, भाग्यवान् पुरुषोंको ही यह प्राप्त होता है। 'ब्रह्म' या 'वेद स्वरूप' इस अग्निपुराणका चिन्तन करनेवाले पुरुष श्रीहरिको प्राप्त होते हैं। इसके चिन्तनसे विद्यार्थियोंको विद्या और राज्यकी इच्छा रखनेवालोंको राज्यकी प्राप्ति होती है। जिन्हें पुत्र नहीं है, उन्हें पुत्र मिलता है तथा जो लोग निराश्रय हैं, उन्हें आश्रय प्राप्त होता है। सौभाग्य चाहनेवाले सौभाग्यको तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य मोक्षको पाते हैं। इसे लिखने और लिखानेवाले लोग पापरहित होकर लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं। सूत! तुम शुक और पैल आदिके साथ अग्निपुराणका चिन्तन करो, इससे तुम्हें भोग और मोक्ष—दोनोंकी प्राप्ति होगी—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तुम भी अपने शिष्यों और भक्तोंको यह पुराण सुनाओ॥ ३९—४४॥

सूतजी कहते हैं—शौनक आदि मुनिवरो! मैंने श्रीव्यासजीकी कृपासे श्रद्धापूर्वक अग्निपुराणका श्रवण किया है। यह अग्निपुराण ब्रह्मस्वरूप है। आप सब लोग श्रद्धायुक्त होकर इस नैमिषारण्यमें भगवान् श्रीहरिका यजन करते हुए निवास करते हैं, अतः (आपको सर्वोत्तम अधिकारी समझकर) मैंने आपसे इस पुराणका वर्णन किया है। 'अग्निदेव' इस पुराणके वक्ता हैं, अतएव यह 'आग्नेय पुराण' कहलाता है। इसे वेदोंके तुल्य माना गया है। यह 'ब्रह्म' और 'विद्या'—दोनोंसे युक्त है। भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला श्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर सर्वोत्तम सार, इससे उत्तम सुहृद्, इससे श्रेष्ठ ग्रन्थ तथा इससे उत्कृष्ट कोई गति नहीं है। इस पुराणसे बढ़कर शास्त्र नहीं है, इससे उत्तम श्रुति नहीं है, इससे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है तथा इससे उत्कृष्ट कोई स्मृति नहीं है। इससे श्रेष्ठ आगम, इससे श्रेष्ठ विद्या, इससे श्रेष्ठ सिद्धान्त और इससे श्रेष्ठ मङ्गल नहीं है। इससे बढ़कर वेदान्त भी नहीं है। यह पुराण सर्वोत्कृष्ट है। इस पृथ्वीपर अग्निपुराणसे बढ़कर श्रेष्ठ और दुर्लभ वस्तु कोई नहीं है॥ ४५—५१॥

इस अग्निपुराणमें सब विद्याओंका प्रदर्शन (परिचय) कराया गया है। भगवान्के मत्स्य आदि सम्पूर्ण अवतार, गीता और रामायणका भी इसमें वर्णन है। 'हरिवंश' और 'महाभारत'का भी परिचय है। नौ प्रकारकी सृष्टिका भी दिग्दर्शन कराया गया है। वैष्णव-आगमका भी गान किया गया है। देवताओंकी स्थापनाके साथ ही दीक्षा तथा पूजाका भी उल्लेख हुआ है। पवित्रारोहण आदिकी विधि, प्रतिमाके लक्षण

आदि तथा मन्दिरके लक्षण आदिका वर्णन है। साथ ही भोग और मोक्ष देनेवाले मन्त्रोंका भी उल्लेख है। शैव-आगम और उसके प्रयोजन, शाक्त-आगम, सूर्यसम्बन्धी आगम, मण्डल, वास्तु और भाँति-भाँतिके मन्त्रोंका वर्णन है। प्रतिसर्गका भी परिचय कराया गया है। ब्रह्माण्ड-मण्डल तथा भुवनकोषका भी वर्णन है। द्वीप, वर्ष आदि और नदियोंका भी उल्लेख है। गङ्गा तथा प्रयाग आदि तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया गया है। ज्योतिश्चक्र (नक्षत्र-मण्डल), ज्यौतिष आदि विद्या तथा युद्धजयार्णवका भी निरूपण है। मन्वन्तर आदिका वर्णन तथा वर्ण और आश्रम आदिके धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अशौच, द्रव्यशुद्धि तथा प्रायश्चित्तका भी ज्ञान कराया गया है। राजधर्म, दानधर्म, भाँति-भाँतिके व्रत, व्यवहार, शान्ति तथा ऋग्वेद आदिके विधानका भी वर्णन है। सूर्यवंश, सोमवंश, धनुर्वेद, वैद्यक, गान्धर्व वेद, अर्थशास्त्र, मीमांसा, न्यायविस्तार, पुराण-संख्या, पुराण-माहात्म्य, छन्द, व्याकरण, अलंकार, निघण्टु, शिक्षा और कल्प आदिका भी इसमें निरूपण किया गया है॥ ५२—६१ ॥

नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक लयका वर्णन है। वेदान्त, ब्रह्मज्ञान और अष्टाङ्गयोगका निरूपण है। स्तोत्र, पुराण-महिमा और अष्टादश विद्याओंका प्रतिपादन है। ऋग्वेद आदि अपरा विद्या, परा विद्या तथा परम अक्षरतत्त्वका भी निरूपण है। इतना ही नहीं, इसमें ब्रह्मके सप्रपञ्च (सविशेष) और निष्प्रपञ्च (निर्विशेष) रूपका वर्णन किया गया है। यह पुराण पंद्रह हजार श्लोकोंका है। देवलोकमें इसका विस्तार एक अरब श्लोकोंमें है। देवता सदा इस पुराणका पाठ करते हैं। सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये अग्निदेवने इसका संक्षेपसे वर्णन किया है। शौनकादि मुनियो! आप इस सम्पूर्ण पुराणको ब्रह्ममय ही समझें। जो इसे सुनता या सुनाता, पढ़ता या पढ़ाता, लिखता या लिखवाता तथा इसका पूजन और कीर्तन करता है, वह परम शुद्ध हो सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त करके कुलसहित स्वर्गको जाता है॥ ६२—६६ $\frac{१}{२}$ ॥

राजाको चाहिये कि संयमशील होकर पुराणके वक्ताका पूजन करे। गौ, भूमि तथा सुवर्ण आदिका दान दे, वस्त्र और आभूषण आदिसे तृप्त करते हुए वक्ताका पूजन करके मनुष्य पुराण-श्रवणका पूरा-पूरा फल पाता है। पुराण-श्रवणके पश्चात् निश्चय ही ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। जो इस पुस्तकके लिये शरयन्त्र (पेटी), सूत, पत्र (पन्ने), काठकी पट्टी, उसे बाँधनेकी रस्सी तथा वेष्टन-वस्त्र आदि दान करता है, वह स्वर्गलोकको जाता है। जो अग्निपुराणकी पुस्तकका दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें जाता है। जिसके घरमें यह पुस्तक रहती है, उसके यहाँ उत्पातका भय नहीं रहता। वह भोग और मोक्षको प्राप्त होता है। मुनियो! आपलोग इस अग्निपुराणको ईश्वररूप मानकर सदा इसका स्मरण रखें॥ ६७ —७१ $\frac{१}{२}$ ॥

व्यासजी कहते हैं—तत्पश्चात् सूतजी मुनियोंसे पूजित हो वहाँसे चले गये और शौनक आदि महात्मा भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हुए॥ ७२ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'अग्निपुराणमें वर्णित संक्षिप्त विषय तथा इस पुराणके माहात्म्यका वर्णन' नामक तीन सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३८३ ॥

॥ अग्निपुराण सम्पूर्ण॥